

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

॥ श्री ॥
विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

११

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

पण्डितराजश्रीजगन्नाथविरचितः

रसगङ्गाधरः

'चन्द्रिका'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

(प्रथमाननम्)

संस्कृतभाष्याकार

मैत्रिलश्रीत्रिपकविदीक्षर-

पण्डित-श्रीवदरीनाथज्ञा

मुजफ्फरपुरस्थराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयस्य भूतपूर्वप्रधानाचार्य

हिन्दीभाषांशकार

व्याकरण स्याम साहित्याचार्य

प० श्रीमदनमोहनज्ञा

मुजफ्फरपुरस्थराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयस्य साहित्यप्रधानाध्यापक



चौखम्बा विद्याभवन

धोक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० न० १०६९, वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा बितरक)

घोक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

सर्वाधिकार सुरक्षित

सप्तम संस्करण १९९०

मूल्य ५०-००

ग्रन्थ प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर सेना

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

*

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए, जवाहरनगर, बंगलौ रोड

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष : २३६३९१

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
11



RASAGĀṄGĀDHARA

OF

PĀṆDITARĀJA JAGANNĀTHA

(First Ānan)

With

'Chandrika' Sanskrit & Hindi Commentaries

By

Pt. Badarinath Jha

&

Pt. Madan Mohan Jha



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(*Oriental Publishers & Distributors*)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 1069
VARANASI 221001
Telephone 63076

Seventh Edition
1990

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No 1129
VARANASI 221001

*

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
DELHI 110007
Telephone - 236391

प्रस्तावना

(प्रथम आनन)

अलङ्कार-शास्त्र

‘उपकारकत्वादलङ्कार सप्तममङ्गलम्’ इति याथावराय, (काव्यमीमासा)

‘उपकारक होने से अलङ्कार (शास्त्र) सप्तम अङ्ग (वंश) है ।

कविराज राजशेखर ने अपने ‘काव्य-मीमासा’ नामक ग्रन्थ के शास्त्र-निर्देशाध्याय में निम्न अलङ्कार-शास्त्र की चर्चा की है, यह कौन सा शास्त्र है ? उस शास्त्र की परिभाषा क्या हो सकती है ? यह सर्वप्रथम विचारणीय वस्तु है ।

विचार करने से विदित होता है कि उन विचार-पुत्रों को अलङ्कार शास्त्र कहते हैं, जो राजशेखर के कर्मनानुसार पञ्चदश विधा-स्थान^१ काव्य-पर्याय^२ का नामन करना है अर्थात् काव्यरूप-रस के लक्षण त्रिंशत् शास्त्र में किये गये हैं, उनका नाम अलङ्कार-शास्त्र है अथवा अधिक स्पष्ट रूप से मनसत के लिये यह कहा जा सकता है कि उन विचार-आशयनाओं का नाम अलङ्कार-शास्त्र है जिनके द्वारा काव्य की वास्तविकता, अच्छा और बुरापन स्पष्ट हो सके ।

इस शास्त्र को साहित्य शास्त्र भी कहते हैं यद्यपि संस्कृत साहित्य, हिन्दी साहित्य इत्यादि रम्य में ‘वाङ्मय’ रूप व्यापक अर्थ में भी साहित्यशब्द का प्रयोग होता है राजशेखर ने साहित्य शब्द का अर्थ ‘काव्य’ माना है^३, तथापि शाब्दिक के साथ प्रयुक्त साहित्यशब्द का तात्पर्य काव्यनियामक विषय ही समझा जाता है ।

अलङ्कारशास्त्र का प्रारम्भकाल

अलङ्कार विषय में विचार करने वाला सबसे प्राचीन निबन्ध ‘अग्निपुराण उपनिषद्’ होता है, उसमें शब्दाङ्कार, अर्थान्ङकार, विभाव और राशि आदि ने विवेचन किए गये हैं, भी अलङ्कार शास्त्र का मूल अग्निपुराण को ही मानना पड़ेगा । परन्तु इन विवेचनाओं को शास्त्र कहने का गौरव दण्ड, मामह आदि विद्वानों ने प्रदान किया, क्योंकि अग्निपुराण के बाद सबसे प्राचीन अलङ्कारविषयक निबन्ध इन्हीं महारत्नों को प्राप्त हुए और इन्होंने ही सर्वप्रथम काव्य के नियमन करनेवाली आलोचनाओं को अलङ्कारशास्त्र कहना प्रारम्भ किया ।

अलङ्कारशास्त्र के नामकरण का बीज

यद्यपि वक्त काव्य नियामक शास्त्र में अलङ्कारों के साथ-साथ रस, गुण, दोष आदि सभी काव्याङ्गों का निरूपण किया गया है, तथापि ‘अलङ्कार शास्त्र’ ही नाम बना पड़ा । इस प्रश्न का उत्तर कुछ विद्वान् यह दते हैं कि नाममय अलङ्कार शब्द ‘अलङ्किते अनेन’ इस कल्पवृक्ष से अनुमास आदि का बोधक नहीं, अपि तु ‘अलङ्कृति अलङ्कार’ इस मातृवृक्ष से दोष-व्यग और गुण-शुद्धकारादि प्रथम प्रयुक्त सौन्दर्य का बोधक है और इस सौन्दर्य के प्रतिपादक होने के कारण वक्त शास्त्र का व्यवहार ‘अलङ्कार-शास्त्र’ नाम से किया गया है । इस तर्क की पुष्टि ‘वामन’ के स्तम्भ से

१. सप्तविंशत्यनेनैवाप्येन पञ्चदश काव्य विधास्थानम्

२. ‘शब्दार्थबोधोऽथ सहभावेन विधा साहित्यविधा’

मा होती है। उन्होंने कहा है कि 'अष्टाङ्कार-मुक्त होने से नाव्य का ग्रहण (शान) करना चाहिये। सौन्दर्य को ही अलङ्कार कहते हैं। अलङ्कार पर भावसाधन होने से अलङ्कार-मुक्त है। कव्यस्युत्पत्ति मानकर इस शब्द का प्रयोग यमक उपमा आदि में भी होता है। वह सौन्दर्य कव्य से दास का त्याग और शुष्क अलङ्कार आदि के ग्रहण से उन्मत्त होता है।'^१

बलुत अलङ्कार शास्त्र के नामकरण का बीज यह प्रतीत होता है कि दण्ड, भामह मगोदर, रुद्र और नामन पञ्च तिन प्राचीन आचार्यों ने अलङ्कारशास्त्रसम्बन्धी प्रश्नों की रचना की वे सर के ध्वन्यमान अर्थ को वाच्यार्थोपकारक मानकर अलङ्कार-नोट में ही समाविष्ट किये। उन पर उन लोगों ने काव्य को ही सर्वप्रधान माना, फिर ता 'प्रधान के अनुसार व्यवहार हाते हैं, जैसे अन्य लोगों का आवाज रहने पर भी मल्लप्रधान नाम में 'मल्लप्रधान' पता व्यवहार होता है, इस सिद्धान्त के अनुसार उन लोगों के युग में प्रकृतशास्त्र का अलङ्कार-शास्त्र' यह नामकरण प्रमाणयुक्त ही था। बाद में 'ध्वन्यालोक' के निर्माता आनन्दवर्धन ने उनके युक्तियों से काव्य में ध्वन्यमान अर्थ की प्रधानता स्थापित कर दी, उदयचन्द्र भार्गी आचार्यों ने ध्वन्यमान अर्थों में रस आदि असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो के ही सर्वप्रधान होने की व्याख्या दी, उदनुसार स्थापित आज के युग में प्रकृतशास्त्र का नाम वरुक्त युक्ति में 'ध्वनिशास्त्र' अथवा 'रसशास्त्र' होना चाहिये, तर्मापि ऐसा हुआ नहीं, क्योंकि हम भारतीय सदा से रुद्रि के मत्त रहे, फिर यहाँ एववार ही उस भक्ति को कैसे मुक्त बैठते? पञ्च हम आज भी प्राचीन परम्परा के अनुरोध से काव्य निधामक प्रश्नों के विषय में 'अलङ्कार-शास्त्र' इसी नाम से व्यवहार करते हैं।

अलङ्कारशास्त्र में उत्तरोत्तर विकास

इस अलङ्कारशास्त्र में जितना गम्भीर आत्मचिन्तने की जाती है, उतनी अधिक मर्मसंज्ञिता उसमें उत्तरोत्तर उत्पन्न होती है और उसके फलमूर्त काव्य में भी अधिकाधिक उपादेयता समग्र होती है।

मात्र सभी समालोचक एक स्तर से हम बात को स्वीकार करते हैं कि अतिशय भाषा-साहित्य का उद्गमप्रदेश वह उत्कल वाङ्मय ही है जिसका साहित्य दर्शन है और अन्तःपुराणी साहित्यकारों के गम्भीरतम विवेचनाओं से प्रभा साहित्यशा की परम सीमा पर पहुँच चुका है। मात्र प्राचीन काल से आज तक सभी अलङ्कारिकों ने अपने-अपने निबन्धों में इस बात का मार्मिक विचार किया है कि 'विराटिक वाच्यो का सञ्चित उद्देश्यरूप काव्य' जिन-जिन शास्त्रों से सद्दर्शन के हृदयवर्जन करने में अधिक सज्जन होगा। स्पष्ट रूप से उनके विचारों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं —

(१) एक युग यह था, जब विविध-प्रतिपक्षिता सद-रचना को ही आलङ्कारिक श्रेण काव्य को मान्य मानते थे, और काव्य के शरीरगतानी शब्द तथा अर्थ में परिलिखित होने वाले

१ काव्य प्रकृतशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र, कव्यस्युत्पत्ति पुनरालङ्कार शब्दों समकालपरिचित कहेते। स दोषयुक्त अलङ्कारशास्त्रशास्त्रशास्त्र'। (अलङ्कारशास्त्र)

२ 'प्रधानेन हि स्वदेशेन मरुति, मल्लप्रधानेति'।

३ 'टीटियाना काव्य'। (कामर.)

अलंकारों को ही काव्य में चमत्कार का कारण बतलात थे। मामह आदि कतिपय विद्वानों की दृष्टि वाच्य से आगे तक गई और उन्होंने व्यङ्ग्य अर्थ को देखा—समज्ञा—परन्तु उस व्यङ्ग्य अर्थ को भी उन्होंने वाच्य का ही पोषक माना, अतः एव उनके मतानुसार व्यङ्ग्य मा अलङ्कार—श्रेणी में ही रह गया, उससे ऊपर नहीं उठ सका। रुद्रट आदि आचार्यों ने यद्यपि रस भाव आदि पदार्थों को भी ब्रूँट निकाला, तथापि उनमें भी अपने साहित्यिक पूर्वजों का सस्कार अनुवर्तमान था, जिससे उन्होंने वाच्यार्थ का पोषक मान कर रस भावादि को भी 'रसवत्' 'श्रेय' आदि अलङ्कारों की ही श्रेणी प्रदान की।

(२) बाद में अलङ्कार—जगत् का दूसरा युग आया जब अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य इन तीनों श्रुतियों से अतिरिक्त व्यञ्जनाश्रुति की स्थापना करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा वाच्य और लक्ष्य से भिन्न व्यङ्ग्य अर्थ अनेक प्रकार के बादबिबाद के बाद सुदृढरूप में सिद्ध कर दिया गया और वही व्यङ्ग्य अर्थ विश्रान्तिधाम होने के कारण सर्वप्रधान समज्ञा गया, तथा उत्तम-सुदृढ ध्वनिकाव्य का कारण कहलाया। इस मध्यकाल में आनन्दवर्धन के स्वारस्य के अनुसार मम्मट आदि आलङ्कारिकशिरोमणि वस्तु, अलङ्कार और रस इन तीनों प्रकार की ध्वनियों को काव्य का आत्मा मानने लगे।

(३) इसके अनन्तर आज वट युग भी उपस्थित है, अब उक्त तीनों ध्वनियों को काव्यात्मा न मानकर केवल रसरूप ध्वनि को ही विद्वज्जन काव्य की आत्मा कहने लगे हैं। तात्पर्य यह हुआ कि उत्तरोत्तर अन्तस्तल की गवेषणा करता हुआ आलङ्कारिकों का हृदय चरम विश्रान्तिस्थान रस को पाकर ही सुमसन्न हो सका।

उपर के विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्वसाहित्य के अमरदास सस्कृत साहित्यकारों की मर्म-गवेषिणी दृष्टि उत्तरोत्तर ताल्पिक आलोचना करने में सफल हुई।

अलङ्कारशास्त्र की यह मामिक आलोचनाप्रवृत्ति पण्डितराज गणनाथ तक आकर विश्रान्त हो गई। इनके बाद आज तक किसी ने समग्र काव्याङ्गों पर सर्वमान्य आलोचनात्मक निबन्ध की सृष्टि नहीं की। यद्यपि आज भी सस्कृत का अलङ्कारशास्त्र सर्वथा नवीनता से हीन नहीं है, तथापि इतना ठो मानना ही पड़ेगा कि रसगङ्गाधर की श्रेणी में आने योग्य निबन्ध की रचना न फिर हुई और न आगे ही होने की आशा है।

रसगङ्गाधर

आलोचना अलङ्कारशास्त्र का प्राणमूल है, अतः अलङ्कारशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों में उत्कृष्टता और अपरुष्टता के शरत्सम्भ-विवेचन करने के लिये सबसे पहले इसी बात पर ध्यान देना होगा कि किन ग्रन्थ की आलोचना-प्रवृत्ति ऐसी है ?

इस दृष्टिकोण से विचार करने पर 'रसगङ्गाधर' सर्वश्रेष्ठ अलङ्कार-ग्रन्थ सिद्ध होता है, क्योंकि रसगङ्गाधर का जिन भाग उपलब्ध है और उसमें अलङ्कारशास्त्र का जो विषय प्रतिपादित हुआ है, वह पूर्व के निबन्धों की अपेक्षा अति विशद है और अभ्यासि, अतिव्यासि आदि दोषों से रहित प्रतिपादन शैली के द्वारा रियर किया गया है तथा बादयुग के अनुकूल मन्वन्व्याय की भाषा में वर्णित हुआ है, जिससे अब अलङ्कार क्षेत्र में जिस किसी की बुद्धि हल्की वस्तु समझ कर मविष्ट नहीं हो

सक्ती। इस दाय का सबसे बड़ा वैशद्य यहाँ है कि इसने सभी विषयों की अन्तर्भूतता को व्यक्त करने में उम्र भर का जीवन व्यतीत करने के लिए उतना मुहिमा भा नहीं थी क्वेचि माय व सभी निबन्ध पत्रबद्ध व फर्निमाण में निपुणताम विद्वत् भा गिने गिनत अणुओं में उत उन गाँवों व सभी अतिमात्रों की समीक्षा नग्न वगैरे करने व न्य प्रकृतियों की परिभाषाओं से क्या सभी प्रतिशय विषय एवं अवगत होते हैं / यहाँ तो फिर मान्यभारत स्वयं कृत में उही विषयों को विचार करने का चयन क्या करने ?

दूसरी अमुविधा दूर या कि प्राचीन साहित्य निबन्धकारों के समय में बहुत विषय ध्ये से अतिक्रमण रूप हा सबसे निपात नग्न हो सर थे । अने वामन आदि के समय में धर्मिक रूप रण नहीं हो पाया था। फिर तादृश विषयों की चयन आलोचना उन निबन्धों में कम हो सकना थी। बहुत विषय ध्ये होत हैं जो विकासकार व शिक्षाशास्त्रकार अथवा अवगत परिवर्तनों में नाता प्रकाश का परिचयिता का अनुभव कर लेने के बाद हा पूरा परिनिष्ठित हाउं है

बाबुओं की विद्वानों अथि सृष्टि हाउं है अन्तर्भावगत में गुणधर्मों की गवेषणा मानविक उदाहरणों के समान में रहने से उतना ही आसक्त वमां ममुखा हाता है । ध्या होता समुचित और स्वाभाविक भी है । अन्तर्गत अनेक प्रकृत व लक्षणों व न्य ध्ये रहने पर हा लक्षणधर्मों मनुष्य विचारों का अवसर प्राप्त हाता है । अत एव उदाहरणों में बह एत सिद्ध व हा मान विशा गया है कि 'उत्तरोत्तर मुनि मनोमयूः हैं'।

संग्रहण में ये सभी सुविधाएँ जुगुं गः । नाशय स्वयंसेवक अतः मुनि से लेकर अन्तर्गत वधन, अन्तर्गत अदि उव व विद्वानों ने काव्य व नाशयुक्त अिन उरुओं की गवेषणा की, वे बादि प्रतिशयिताओं के मानविक लक्षणों के बाद मिद्वानों हातर पण्डितताम अवगत से प्राप्त आचार्यों के निबन्धों में पूरा परिनिष्ठित हा मुने ध । अत उन उरुओं के स्वाधन में अन्तर्गत का अन्तर्गत गणै करना पका, वक्त पूर्ववत् पत्र विषयों में म भिन्न परिभाषा करना ही उनके किये अर्थात् रहा, जिसका उहोंने बहुत ही सुन्दर और सकल रीति से उदाहरण दिया है । दूसरी पुष्टि करने के लिए मैं उदाहरण देना आवश्यक नहीं समझता, अधिकारमातः सङ्घट्ट पाठन प्रद व अन्तर्गत करने पर स्वयंसेवक उत का उदाहरण का अनुभव करेंगे ।

विषयप्रतिपादनशैली

संग्रहण की प्रकृत अन्तर्गत बहुत हा माशक है । वन्धव वस्तु का अन्तर्गत ध्ये नग मुने मन्त उदा साध-साध मनुष्य अन्तर्गत का द्वारा विचार गया है । अन्तर्गत किता अन्तर्गत का याका भी अवगत नहीं रह जाया है । उदाहरणों में मैं अिन उदाहरण हातर उदाहरण का वन्दनीय विषय का सकार्य करना पका है । अवगत अन्तर्गत का उदाहरण मय उदाहरण का अन्तर्गत टोकरणों की मन्त हा जाया है, उत अन्तर्गत मन्तर्गत में नहीं हाता ।

'काव्यप्रकाश' में मन्त प्रकृत व दोर अन्तर्गत मन्तर्गत में हीम उदा है । उम दाय का प्रतिपादनशैली उतनी उचित और लक्ष्य है, कि अन्तर्गत टोकरणों के हातर पर ना उन मन्त की दुन्दरता ही ज्ञान की उतनी नहीं बनी रही, अन्तर्गत टोकरणों की अन्तर्गत विचारों की अन्तर्गत अन्तर्गत से और अधिक अन्तर्गत हा मुष्टि हुई । मन्त बह अन्तर्गत वही मन्त साध है,

इसका अनुभव काव्यप्रकाश के मर्मवैय पाठक स्वयं कर सकते हैं, जब काव्यप्रकाश के उद्धरण देकर प्रस्तुत प्रस्तावना का काव्यवर्णन व्यर्थ है।

रसगङ्गाधर का प्रतिपादनशैली इन दोषों से सर्वथा निर्मुक्त है। यद्यपि इस ग्रन्थ की शैली में नव्यन्याय के दृढ़ की (अवच्छेदकतावच्छिन्न से युक्त) भाषा अपनाई गई है, जिसमें नव्यन्याय से संबंधा परिचय नहीं रहने वाले अन्य-व्यक्तियों को आपाततः यह ग्रन्थ कठिन प्रतीत होता है, तथापि यह कठिनता भिन्न प्रकार की वस्तु है, इसके रहने पर भी उक्त दोषों का प्रसङ्ग नहीं आता। वस्तुतः इस कठिनता का अनुभव नव्यन्याय की शैली से परिचित पाठकों को होगा भी नहीं है।

कुछ लोग यहाँ यह प्रश्न उठा सकते हैं कि साहित्य ग्रन्थ में नव्यन्याय की भाषा अपनाई ही क्यों भाषा, जिसमें केवले नव्यन्यायवाचक पाठक इस ग्रन्थ के रसगङ्गाधर से परिचित रहें? मैं समझता हूँ कि इसका उत्तर उन वादयुग से पूटना चाहिये, जिसमें बिना उस भाषा को अपनाये या उस शैली का अनुसरण किये, किन्ना का निरन्ध्र पण्डितमण्डली को प्रश्न कमीटी पर जरा उतर ही नहीं सकता था सरल साहित्य का वह एक बज ही विशिष्ट वादयुग या उन युग में एक, दूसरे का उद्गम करने के लिये मूल बाधे क्या रहता था यदि किन्ना के ग्रन्थ में भाषागत अथवा शैलीगत किन्ना विषयवस्तु योगी भी शिथिलता आ जाती थी तो अविश्वसनीय प्रतिपादी उमको डुकाड़े डुकाड़े करके डूब फेक देते थे, फलतः लेखक को कीर्ति के बदले अकीर्ति का हाथ आती था। अब पण्डितगण को विवश होकर उस प्रकार की प्रौढ़ भाषा और शैली का ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि प्रतिपादियों के प्रहार से बचने के लिये वही एक रास्ता था।

इस प्रकार का भाषा तथा शैली को अपनाने का दृष्टा कारण यह भी रहा होगा कि इस ग्रन्थ के निर्माण से पूर्व साहित्यशास्त्र को उनी भाषा और शैली के अभाव के कारण, प्रौढ़ पण्डित शैली से देखते थे और किन्ना को वह पश्चिमाशास्त्र नवभाषा ही नहीं था, सभी उस पर अधिकारी होने का दावा करते थे, अतः प्रौढ़ पण्डितों और साहित्यशास्त्र में अपनी शक्ति रखने लगे थे, यह स्थिति साहित्यमर्मोपनिषत्कारण से सत्य नहीं हुई, अब उन्नीयानानवस्था का इस ग्रन्थ में उम प्रौढ़शैली को अपनाया। उनका उद्देश्य पूर्ण भी हुआ। इन ग्रन्थ के निर्माण हो जाने के बाद अन्धकारशासक एक जगह हुए ही गये। अब इस शास्त्र में साहाय्य सम्प्रदायों का प्रवेश ही ही नहीं सकता। प्रौढ़ पण्डितों के लिये भी अब यह शास्त्र हीन दृष्टि में देखने योग्य नहीं समझा जाता है। इस शास्त्र पर वे ही विद्वान् दावा कर सकते हैं, जो इससे अधिक अधिकारी हैं। मेरी तो यहाँ तक धारणा है कि बिना उन शैली को अपनाये विषय का पण्डितशास्त्र विवेक ही नहीं, किन्ना आभान पाठकों को अधिक सम्बन्ध से होगा।

विषयो का स्पष्ट और तलस्पर्शी विश्लेषण

पण्डितगण ने रसगङ्गाधर में विषयों का जेता स्पष्ट और नव्यन्याय विश्लेषण किया है, वेसा अन्य अन्धकार-ग्रन्थों में किन्ना दुर्लभ है। इस ग्रन्थ में नित्त विषय को पकना है, उसका मूल्य मानो पाठकों के सामने स्था कर दिया है। इस बात का अर्थ करने के लिये इन ग्रन्थ का रसविरूपण देखिये। अन्धकारग्रन्थ के मत की व्याख्या काव्यप्रकाश में मर्मवैय ने और रसगङ्गाधर ने पण्डितगण ने भी की है, परन्तु रसगङ्गाधर के अध्ययन के बिना काव्यप्रकाश मात्र के

अध्ययन से क्या उस मंत्र का स्वरूप स्पष्ट होता है? मन्त्रायक का मंत्र तो कान्यप्रकाश में और अधिक अस्पष्ट है। 'स्वगतत्वेन रस का बोध नहीं हो सकता' इतना कहकर 'प्रवास' मौन हो जाता है। 'क्यों नहीं स्वगतत्वेन रस का बोध हो सकता है?' इस स्वामात्मिक जिज्ञासा की शान्ति करने के लिये कुछ लिखना प्रकाशकार को आवश्यक नहीं मनीत हुआ। किन्तु पण्डितराज पाठकों की जिज्ञासा को समझते थे, उन्होंने स्वगतत्वेन रसप्रतीति न हो सकने का कारण भात्मिक शक्तों में विशदरूप से लिखा है।

'नवो रसो के रति आदि ९ स्थायीभाव हैं' इतना सभी आल्कारिक लिखते हैं, मम्मटभट्ट ने भी लिखा है, परन्तु नया ये स्थायीभाव हैं? ये ही क्यों स्थायीभाव हैं? व्यभिचारीभाव (हर्ष आदि) भी स्थायी क्यों नहीं रह सकते? इन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिये रसगङ्गाधर का अध्ययन आवश्यक होगा, अन्यथा स्थायीभावों के विषय में स्पष्ट ज्ञान होता असम्भव है।

गङ्गाधरस के दो भेद हैं, सयोग और वियोग इतना सभी कहते हैं और साहित्य से योद्धा भी सन्धि रखने वाले सभी लोग जानते भी हैं, परन्तु सयोग और वियोग से यहाँ क्या विभिन्न है इस बात की किसी ने भी नहीं लिखा, फिर यदि साधारण पाठक सयोग का अर्थ सामानाधिकरूप्य (एक जगह रहना) और वियोग का अर्थ वैधिवरूप्य (भिन्न स्थान पर रहना) समझें, तो इसमें क्या क्या दोष?

वस्तुतः सयोग और वियोग पद के अर्थ यहाँ सामानाधिकरूप्य तथा वैधिवरूप्य नहीं विदित है, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय, तो मानावस्था में जो एक शय्यासीन दम्पति में भी वियोग माना जाता है, परन्तु एक जगह नहीं रहने पर भी यान आदि के न रहने पर परस्पर प्रेम की वर्तमानता दशा में जो सयोग वर्णित होता है, वह असंगत हो जायगा, अतः सयोग तथा वियोग पद से यहाँ वे विचलितियाँ विभिन्न हैं, वस्तुतः 'सयुक्त हूँ' और 'विद्युक्त हूँ' इस तरह की कृति होती है। यह है रसगङ्गाधर का विन्येषण।

किन्तु भिन्नाया भाव, पाठकों को पद-पद पर रसगङ्गाधर में पण्डितराज का विषय विन्येषण पाण्डित्य परिष्कृत होगा, अन्वय प्रवरण में पण्डितराज की यह विन्येषणवानुशी और अधिक स्पष्ट हुई है। परन्तु उस प्रवरण से प्रस्तुत भाग का संबंध नहीं है, अतः उस प्रवरण का विवेचन द्वितीय भाग की प्रस्तावना में ही देखिये।

पद-रचना-संबन्धी अनुपम भात्मिक विचार

कवि काव्य की अगम्य शक्ति ठीक है, परन्तु उस शक्ति अर्थ का भी अन्वय शारिरधानीय पद-रचना (शब्द) ही है अतः काव्य में पद-रचना का भी एक स्वतंत्र महत्त्व है। वाच्य-सम्बन्ध काव्य में ही काव्य का प्रमुख लक्ष्य माना गया है, उसके लिये विवेकों की अविशुद्ध कल्पना के अन्वय-रसों में पद-रचना ही प्रथम है। यदि सर्वप्रथम सामने आनेवाली पद-रचना ही श्रोता के मन की अस्पष्ट नहीं बर सतीये, तब उसके आगे बढ़कर अर्थ समझने की चेष्टा ही क्यों करेगा? अतः कवि में पद-रचना-शौचण सर्वाधिक सम्प्रेक्षित है। अन्वय-प्रश्नों में कहा हुआ है—'अन्वय आदि अस्पष्टता ही बुरा है, वस्तुतः कवियों की अर्थरहित शब्द तथा शिष्ट की श्रुति है। इस को शौचण्य बरते हैं, अर्थश्रुति ही वस्तु नहीं है।' अतिशय

१. 'रस-विन्येषण' का अर्थ यहाँ है। अतः विचार श्रुति का अर्थ 'श्रुति-श्रुति' है ॥

आचार्यों ने तो पद-रचना को यहाँ तक गौरव प्रदान किया कि उसी को काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया ।^१ मध्यकालिक आचार्यों ने भी उत्तरात्तर उत्तरा महत्त्व अधिक ठहराया है । पदम्भूक्त ही और निम्न प्रगणोक्तिनी हैं—

किंवा कवितया राजन् ! किंवा वनितया तथा ।

पदविन्यासमात्रेण मनो नापहृत यथा ॥^२

अपि च—

‘अविदितगुणापि सत्कविमणितिः कर्णेषु यमति मधुधाराम् ।

अनवगतपरिमलापि च दृश हरति मालती-माळा ॥’

‘उक्त कविता अथवा वनिता से क्या प्रयोजन जो पद विन्यास (चरणन्यास तथा पद-रचना) मात्र से मन को नहीं हर लेती ।’ एवम् ‘गुणज्ञान न होने पर भी सत्कवियों की उक्त कानों में मधुधारा बरसाती है । ठीक ही है—सौरभ का अनुभव न होने पर भी दूर से ही मालती माळा दृष्टि को हरण करती ही है ।’

किन्तु व्याकरण के जटिल नियमों से बद्ध इस सस्कृत भाषा में मधुर-रसों के अनुकूल केवल मधुर पदों का ही गुणन कठिन ही नहीं, अपितु एक प्रकार से असम्भव सा ही है । इस उक्ति से सस्कृत भाषा में रचना करने वाले पाठक धयगर्भ नहीं, सप्रभ दृष्टि से भेरे कथन पर विचार करें । टर्ग, झप्, सयोग आदि को छोड़ कर कल्प, विप्रलम्भ आदि कोमलरस रसों में केवल कोमल पदावली की रचना कितनी कठिन है, इस बात को वे ही समझ सकते हैं, जो स्वयं वादुश रचना करने का प्रयास कभी किये हाने । देखिये—पूर्वकालिक अर्थ पद पद पर आता है, और बहों के लिये अनुशिष्ट ‘रत्ना’ प्रत्यय ऐसा है कि मधुराक्षर-युक्त इच्छन् धातु को भी ‘दृष्ट्वा’ ‘कृत्वा’ इत्यादि कटुतरूप में परिषद का देता है ।

यदि उपसर्ग जोड का ‘ल्यप्’ के रूप में उसको लाते हैं, तबपि दो व्यञ्जनों का सवोग अनिवार्य ही रहेगा । इसी तरह हलन्त धातु से ‘ल’ ‘तुमुन्’ आदि प्रत्यय करने पर भी कष्टाभरता सामने आती है, कहने का तात्पर्य यह है कि सस्कृत भाषा में केवल मधुर बर्णों की रचना करना साधारण कवियों का काम नहीं है । अमरक के समान महाकवि—शिनका एक-एक पद्य ही मधुरों के समान माना जाता है—भी इस विषय में स्थान-स्थान पर सर्वथा असफल हो गये हैं । आचार्य मम्मट मर भी शृङ्गार रस के उद्धारण में उन पद्यों की उद्भूत करने के कारण पदरचना के औचित्य से अपरिचित से ही प्रतीत होते हैं । क्योंकि अमरक के एक पद्य^३ की

१ ‘रीतिरात्मा काव्यस्य’ ।

२ ‘अमरककवेरेक पत्र प्रबन्धशतावली’ ।

३ शून्य वासपृष्ठ त्रिलोच्य दायनादुत्थाय किञ्चिच्छने
निद्राभ्याजनुपागतस्य सुचिर निरंघ्यं पत्युमंभम् ॥
विश्वम् परिसुम्ब्य अनपुनकामाशोस्य गण्टस्यन्तो
लज्जानप्रमुगी प्रियेण हम्ना बाण विर चुम्बिता ॥

इस पद्य में—उपसर्ग, किञ्चिच्छने, निद्रा, निरंघ्यं पत्युमंभम्, विश्वम्, परिसुम्ब्य, लज्जा—
मत्र, इत्यादि पद माधुर्य के विरुद्ध हैं ।

अध्ययन से क्या उस मत का स्वरूप स्पष्ट होगा है? मद्दनायक का मत ठा काव्यप्रकाश में और अधिक व्यक्त है। 'स्वगतत्वेन रस का बोध नहीं हो सकता' इतना कहकर 'प्रकाश' मीन हो जाता है। 'क्यों नहीं स्वगतत्वेन रस का बोध हो सकता है?' इस स्वाभाविक जिज्ञासा की दान्ति करने के लिये कुछ लिखना प्रकाशकार को आवश्यक नहीं मनीत हुआ। किन्तु पण्डितराम पाठकों की जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने के लिये स्वगतत्वेन रसप्रतीति न हो सकने का कारण मार्मिक दृष्टि में विवादरूप से लिखा है।

'नदो रसो के रति आदि ९ स्वायीभाव हैं' इतना सभी आधुनिक टिप्पणियों में, मम्मटमट ने भी लिखा है, परन्तु क्यों ये स्वायीभाव हैं? ये ही क्यों स्वायीभाव हैं? व्यभिचारीभाव (हृषं आदि) भी स्वायी क्यों नहीं कहलाते? इन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिये रसगङ्गाधर का अध्ययन आवश्यक होगा, अन्तर्गत स्वायीभावों के विषय में स्पष्ट ज्ञान होना आवश्यक है।

रसगङ्गाधर के दो भेद हैं, सयोग और वियोग इतना समी करते हैं और ललित्य से योग भी संबंध रखने वाले सभी लोग जानते ही हैं, परन्तु सयोग और वियोग से यहाँ क्या विनिश्चित है इस बात की किसी ने भी नहीं लिखा, फिर यदि साधारण पाठक सयोग का अर्थ सामानाधिकार्य (एक जगह रहना) और वियोग का अर्थ वैयविचर्य (भिन्न स्थान पर रहना) समझे, तो इतने उनका क्या दोष?

परन्तु सयोग और वियोग पद के अर्थ यहाँ सामानाधिकार्य तथा वैयविचर्य नहीं विनिश्चित हैं, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय, तो मानानुसार में जो एक शय्यासीन इच्छा में भी वियोग माना जाता है, एवम् एक जगह नहीं रहने पर भी मान आदि के न रहने पर परस्पर प्रेम की वर्तमानता दशा में तो सयोग विनिश्चित होता है, वह असंगत हो जायगा, अतः सयोग तथा वियोग पद से यहाँ वे निश्चितियाँ विनिश्चित हैं, यथावत् 'उद्युक्त हैं' और 'विद्युक्त हैं' इस तरह की बुद्धि होती है। यह है रसगङ्गाधर का विनिश्चय।

किन्तु गिनना अन्य, पाठकों को पद-पद पर रसगङ्गाधर में पण्डितराम का विषय विश्लेषण पण्डित्य परिष्कृत होगा, अन्तर्गत प्रकरण में पण्डितराम की यह विश्लेषणानुसारी और अधिक स्पष्ट हुई है। परन्तु उन प्रकरण से प्रस्तुत भाग का संबंध नहीं है, अतः इस प्रकरण का विवेकन द्वितीय भाग की मन्तावना में ही देखिये।

पद-रचना-संबन्धी अनुपम मार्मिक विचार

यद्यपि काव्य की आत्मा अज्ञान अर्थ है, परन्तु उम अज्ञान अर्थ का भी आधार शरीरभक्तौष पद-रचना (शब्द) ही है अतः काव्य में पद-रचना का ही एक स्वतंत्र महत्त्व है। वाक्य-संज्ञित एवमेष वा एक काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना गया है, उसके लिये विनेतों की अभिमुख करने-काले काव्य-रत्नों में पद-रचना ही प्रथम है। यदि सर्वप्रथम सम्झने आनेवाली पद-रचना ही श्रोत्र के मन को अकृष्ट नहीं कर सकेगी, तब उसमें आगे बढ़कर अर्थ समझने की चेष्टा ही क्यों करेगा? अतः यदि पद-रचना-शैली अर्थाधिक सम्पन्न है। अन्तर्गत प्रयोगों में कहा हुआ है—'रूपक आदि अन्तर्गत तो बड़ा है, परन्तु रचना का अन्तर्गत गुण तथा तिब् की प्रगति है। इस की सामान्य कहते हैं, अर्थानुगति ऐसी रचना नहीं है।' अतिमात्र

१ 'रूपक आदि अन्तर्गत तो बड़ा है, परन्तु रचना का अन्तर्गत गुण तथा तिब् की प्रगति है। इस की सामान्य कहते हैं, अर्थानुगति ऐसी रचना नहीं है।' अतिमात्र

वाचार्थों ने वो पद-रचना को यहाँ तक गौरव प्रदान किया कि उसी को काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया, १ मध्यकालिक वाचार्थों ने भी उत्तरात्तर जसका महत्त्व अधिक ठहराया है। पत्रन्मूलक ही और निम्न भासोक्तियाँ हैं—

किंवा कवितया राजन् १ किंवा धनितया तथा ।

पदविन्यासमात्रेण मनो नापहत यथा ॥ १

अपि च—

‘अविदितगुणापि मत्कविमणितिः कर्णेषु वमति मधुघाराम् ।

अनवगतपरिमलापि च दृश हरति मालती-भासा ॥ १’

‘उक्त कविता अथवा कविता से क्या प्रयोजन जो पद विन्यास (चरणन्यास तथा पद-रचना) मात्र से मन को नहीं हर लेती।’ पत्रन् ‘गुणगम न होने पर भी सृष्टियों को ठीक कानों में मधुघारा बरसाती है। ठीक ही है—मौरम का अनुभव न होने पर भी दूर से ही मालती भासा दृष्टि का हरण करती ही है।’

किन्तु व्याकरण के जटिल नियमों से बड़ इस सख्त भाषा में मधुर-रसों के अनुकूल केवल मधुर पदों का ही गुणल कठिन ही नहीं, आगुत एक प्रकार से अतन्मय सा ही है। इस ठीक से सख्त भाषा में रचना करने वाले पाठक पढ़ाये नहीं, सुझन दृष्टि से मेरे कथन पर विचार करें। टवर्ग, झप्, सयोग आदि को छोड़ कर बहण, १४प्रत्यय आदि कोन्यतम रसों में केवल कोमल पदावली की रचना कितनी कठिन है इस बात को वे ही समझ सकते हैं, जो स्वयं शाहश रचना करने का प्रयास कभी किये हाने। देखिये—पूर्वकालिक अर्थ पद-पद पर आता है, और वहाँ के लिये अनुशुद्ध ‘स्वयं’ प्रत्यय ऐसा है कि मधुराक्षर-युक्त इच्छन्त धातु को भी ‘दृष्ट्वा’ ‘कृत्वा’ इत्यादि कृद्धारूप में परिष्कृत कर देता है।

यदि वचनार्थ जोड़ कर ‘व्यर्थ’ के रूप में उभरती भाव है, तथापि दो व्यक्तियों का मयोग अनिवार्य ही रहेगा। इसी तरह इच्छन्त धातु से ‘क’ ‘तुमुन्’ आदि प्रत्यय करने पर भी कष्टापरता सानने आती है, कहने का कारण यह है कि सख्त भाषा में केवल मधुर वर्णों की रचना करना साधारण कवियों का काम नहीं है। अनन्तक के सनान मधुराक्षरि—विनका एक-एक पर ही प्रवर्णों के सनान माना जाता है—भी इस विषय में स्थान-स्थान पर सर्वथा असफल हो गये हैं। वाचार्थ मन्त्र मत् भी मधुराक्षर रस के उदाहरण में उक्त पदों की वर्द्धन करने के कारण पदरचना के औचित्य से अतिरिक्त में ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि अनन्तक के एक एक को

१ ‘रीतिगाना काव्यस्य ।

२ ‘अनन्तकवेरेक पत्र प्रवचनशावते’ ।

३ ‘गन्ध वसतृह विलोचन शपनादुत्थाय किञ्चिच्छनै

निशान्यामनुगन्तस्य सुचिर निर्वर्णं पलुमुत्तम् ॥

विश्वम् परिचुम्ब्य त्रतपुनकामान्तेव मष्टरदनी

एवब्रानप्रमुनी प्रियेण ह्यमता बाण चिर चुम्बिता ॥

इस पद में—उत्थाय, किञ्चिच्छनै, शनैर्निद्रा, निर्वर्णं पलुमुत्तम् विश्वम्, परिचुम्ब्य, एवम्—
नम, इत्यादि पद माधुर्य के विरुद्ध हैं ।

उन्होंने शृङ्गाररस के उदाहरण में उद्धृत किया है, जिसमें बहुतेरे पद माधुर्य गुण के प्रतिकूल हैं। इस बात तो यह है कि अन्दर शास्त्र प्रणेता आनाया ने माधुर्य गुण के लिये 'उवर्गहीन, सयुक्तसर रहित' इत्यादि रूप से वर्णों की गणना अनव्य की है, परन्तु अर्थ में उत्तर। निर्वाह वे स्वयं भी नहीं कर सके हैं।

इस प्रसङ्ग पर अधिक विस्तृत विचार करने की आवश्यकता नहीं है, अलङ्कारशास्त्र को कोई भी पुस्तक उठाये उसमें मसुर रसों के उदाहरणरूप से आये हुये कृतिष्व पद्य ही ऐसे मिलेंगे, जो सर्वथा निरिद सयुक्ताश्रयादि से रहित होकर निर्वाच सिद्ध हों।

प्रायः प्राकृत साहित्य के महयोग से मस्कृत के कवियों ने भी जब पदरचना विषयक इन मार्मिका को अपनाया तब पद-रचना में अधिक ध्यान दिया जाने लगा। मार्मिक विद्वान् देखेंगे कि मगध-भट्ट के समय में सरहल भाषा को गधुर रचना के विषय में जितना विचार किया गया तदपेक्षया साहित्यदर्पण के निर्माण-काल में उसके विचार कुछ अधिक होने लगे। अत एव स्वयं साहित्यदर्पणकार विचरणाप के द्वारा अथवा तत्समाकालिक अन्य कवियों के द्वारा रच हुए मस्कृत के पद्य अधिक कलित परावली से अलङ्कृत हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ का काल वह था जब सरहल साहित्य से सुन्दर-सुन्दर अदा की लेकर समृद्ध होती हुई ब्रजभाषा (हिन्दी) पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी थी सत् सूर, तुलसी और 'सतनाम' के निर्माता विद्याराम्यन द्वारा हिन्दी कविता अधिक प्रकृति हो उठी थी। हिन्दी भाषा में तत्सम शब्दों के द्वारा अन्वय को लय तथा गुण बना लेने का बड़ी रचना शक्ति थी, जिसमें विद्याराम्यन की रचना में महान् सीमा ही प्राप्त हुआ। विद्याराम्यन का मरनेका पद्य भाषा इस बात का उदाहरण हो सकता है। वे दृष्टि प्रति, गात्र, कर्कश और रसों आदि शब्द मस्कृत शब्दों के स्थान में क्रमशः बीठि दुहि, गग, करवस और परस आदि उद्भय शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिससे मूल सरहल शब्दों के द्वारा रचे गये पद्यों की जपेक्षा उन तत्सम शब्दों के द्वारा बनाये गये पद्यों में कुछ गुना माधुर्य बढ़ गया है इस बात को कौन सन्देह नहीं मानेगा। पण्डितराज विद्याराम्यन की कविताओं से पूर्ण परिचित व अतः उन पर विद्याराम्यन की कामलङ्कण-पदावली का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।

यह मानना होगा कि पहले जैसे प्राकृत भाषा के सहयोग से सरहल की पद-रचना में अधिक ध्यान दिया जाने लगा था वैसे पण्डितराज के समय में हिन्दी साहित्य का भी मसुर प्रभाव सरहल पद-रचना पर पड़ा होगा। जब हिन्दी के कवि शृङ्गार-वरण आदि रसों में तदनुकूल मधुरवर्ण योजना वा यथोचित निर्वाह करते हैं और तद्द्वारा रसाभिषेक का प्रसार होता है, तब समृद्ध भाषा में ही यह नियम शिथिल होकर जबकि अलङ्कार-धर्या में हा पचा रहे—प्रयोग में नहीं वा मरे—तब सर्वोत्तम प्रतिभासम्पन्न पण्डितराज की वैसे मत्त हो सकता, अत एव सरहल साहित्य के सभा विषयों का अपने विचार निर्या पर बसने वाले पण्डितराज ने रस-बद्धाधर में पद-रचनाविषयक नियमों का दृढ़ किया है और शृङ्गार आदि रसों में मयुक्ताश्रय विषयक बहुत से नवीन नियमों का आविर्भाव किया है। उससे स्वयं से परिचित होने के लिये पाठक को रसप्रदायक का उक्त प्रकरण दमना चाहिये।

१. 'गठि न पन्त समान दुति बनक, अनक से बात।

भूएन नः वरवम लणन पर विद्वाने गात।

पण्डितराज प्रतिभाशाली विद्वानों में चुम्बक हैं, अब एक उन्होंने सस्कृत साहित्य में पदरचनासम्बन्धी तादृश सामिक विचार को नम दिया जिसके सामने हिन्दी के दोषकों को भा निम्न होना पड़ा है, किन्तु वर्षों के अनंतर किम के जाने से कट्टा ब जाती है इसके विषय में जिस मार्मिक विचार को पण्डितराज ने प्रस्तुत किया है, वह किसी भी भाषा के साहित्य में नहीं है।

पण्डितराज वाग्देवताज्ञान सम्मन् के समान फल निवर्तनार्थ में हा प्रवीण नहीं थे, प्रस्तुत स्वरचित उदाहरणों में उन विषयों का अनुवचन भा पूर्णरूप से करने थे, मधुर रचना के ऐसे ऐसे उदाहरणों ने रसगन्धार में क्ला बर दिने है जिनमें प्रतिस्त्री किसी भी तरह दोष नहीं मिलता सकता।

अनुप्रास की छटा

वैसे ही अनुप्रास समक आदि शब्दालङ्कारों का विधान समा जाण्डकारिकां न अपने-अपने निष्कर्षों में किया है और सस्कृत कवियों ने स्थान-स्थान पर उनका प्रयोग भी किया है, परन्तु पण्डितराज के समय में ब्रजभाषा कवियों के द्वारा विशेष बनाधुरीछन्दों में पदानुप्रास का बहुत ही आकर्षक प्रयोग होने लगा था इस अनुप्रास का प्रयोग प्राचीन स ज्ञ काव्या में नहीं हुआ हो, यथा वात महा कुरुत ए। यह उक्त प्रयोग सफल रूप में पाया जाता है। परन्तु पण्डितराज के समय में विशुद्ध भाषाभाषा कुलमः पदानुप्रास का एक निगल ही छटा दील पठना है इस प्रकार शिष्यराज छन्द में भा इस अनुप्रास का प्रयोग शूद्राचार्य आदि ने भी किया है, परन्तु पण्डितराज का शिष्यराज में इस अनुप्रास का लोकांतर प्रयोग हुआ है।

अवधानी छन्द में जिन तरह का अनुप्रास होता है ठीक उसी तरह अनुप्रास का प्रयोग हिन्दी भाषा के अनुप्रास आदि अन्य छन्दा में भा है और उस प्रयोग में हिन्दी के कवियों की अधिक सफलता भी मिली है। किन्तु पण्डितराज उस चमत्कार को सस्कृत में बिना हाये कैसे रखते। उन्होंने भी स्थान-स्थान पर उन तरह के अनुप्रासों का परिपक्व प्रयोग किया है। कवियों का शाराश यह है कि सनमन्विक हिन्दी कवियों की कविताओं में प्रयुक्त इस अनुप्रासको से प्रभावित होकर ही पण्डितराज ने सस्कृत में उत्तम प्रयोग प्रारम्भ किया वह बात सत्य है, परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि पण्डितराज अपना प्रतिभा से उनमें और अधिक परिपक्व लाये।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पण्डितराज के हा एक पद्य में श्वेतरा को शब्दाल चमत्कार अवश्य मिलेगा। तात्पर्य यह कि उनकी कविताओं में अद्भुत चमत्कार के साथ-साथ शब्दाल अतिशय भा काई न था अवश्य होता है और उनका शब्दा आवश्यक भी है, क्योंकि उसी के

१ कम्पूरिकाविक्रमालि * विधाव साधन ' इत्यादि (पृ० २६१-६२)

२ 'कुलसा विभक्ति अनुप्रासना अनुप्रासना कर्तव्यं, निवृत्त कविसौ निताचर न लाभि' ' वागी जीवि आचन का ला सनमारन '। दण नद बीचन की साधन का रनिया ॥'

३ नितरा विधाय निवृत्त म बन रामे चम निर्वानान ' (पृ ३०३)

४ 'तवासन्न गत यदि पतति कथन्नुप्रास, तदा मान शानकनवपदलाभाध्यविन्दु ॥' (शूद्राचार्य)

५ 'बन्धुसामिन्नुक्तवाण्डकभन्धावधोप्रास्य' (टि आनन)

द्वारा पहले विनेयों का आकर्षण होता है। कवि-प्रतिमा का प्रधान आधार भी शब्द ही है। अतः एव काव्यलक्षण III मी पण्डितराज ने 'शब्दकाव्य है' इस पर पूरा जोर लगाया है।

जो कोई शब्द अमलकार पर बल देने वाले कवि को 'शब्दकवि' कहकर एक तरह से बसकी निन्दा करता है, वह वास्तविक विचार न करने के कारण ही ऐसा करता है। अर्थचमत्कार से दृश्य केवल शब्द चमत्कार होते ही निन्दास्पद हो, परन्तु अर्थचमत्कार के साम रहने वाला शब्द-चमत्कार सोने में सुन्ध का काम करता है।

सामयिक प्रभाव

पण्डितराज का आविर्भाव मुगल बादशाहों के विलासमय काल में हुआ था, वे स्वयं भी दिल्ली दरबार में रहकर बहुत कुछ इन विलासों का अनुभव करते थे, अतः स्थान-स्थान पर उनकी कविताओं में मुगल राजधानी के विलासमय चित्र स्पष्ट झलकते दीख पड़ते हैं। रसभास प्रकाश में बहुनायक विषयक रति का उदाहरण देकर पण्डितराज लिखते हैं कि 'एक अनुपम सुन्दरी कहीं मे आ रही थी मार्ग में बहुरेरे मनचले युवक उनके सौन्दर्य तथा यौवन से बर्षाभूत होकर उसके पीछे लग गये, परन्तु नयनमुख के अलगाव कुछ भी उनको हाथ नहीं लगा, उसकी मधुरवाणी सुनने के लिए भी वे तरसते ही रहे, अन्त में उस नायिका का निरास स्थान भी आ पहुँचा, वह अपने भवन में प्रवेश करने लगी अब बेचारे वे युवक क्या करते? रास्ते पर खड़े ही गये, उनके मन में हो रहा था कि यदि वह अपने श्रीगुरु से जाने की आज्ञा भी दे देती, तो हम उम आधा को ही परम लाभ मानकर अपनी सेवा को सर्वक ममत्त माने, वह चतुर नायिका उनके मनोभावों को मनस रहती थी, पर तब अनुगमन रूप उनके परिश्रम को स्मरण से उसके हृदय में कण्ठा उमड़ आई और उसने मुख से तो नहीं परन्तु उन सबों की ओर एक नजर देखकर एक तरह से जाने की आज्ञा दे दी' १।

इसी तरह उस समय मुगलशाहीय विलासी लोग धर में कबूतरी की जोड़ी पालने थे, वह मुगल शाही की प्रमुख विनोद की चीज थी। आज भी उम सम्प्रदाय के लोग प्रायः उम परम्परा को निभा रहे हैं। पण्डितराज ने उन कबूतरी की जोड़ी पर भी एक मार्मिक कविता लिखी है ३।

अन्य अलङ्कार ग्रन्थों से रसगङ्गाधर में सैद्धांतिक विशेष

सैद्धांतिक दृष्टि में भी अन्य अलङ्कार ग्रन्थों की अपेक्षा रसगङ्गाधर में अनेक विशेषताएँ हैं। जैसे—काव्यप्रकाश में शब्दार्थ युगल को काव्य माना गया है, रसगङ्गाधर में शब्दमात्र को। काव्यप्रकाश काव्य में गुण तथा अलङ्कारों का रहना आवश्यक बतलाता है, पर रसगङ्गाधर ऐसा नहीं कहता। काव्यप्रकाश काव्य के प्रति प्राकृत, निपुणता और अभ्यास इन तीनों को कारण कहता है, पर रसगङ्गाधर प्रतिभाभाव को काव्य का कारण मानकर अदृष्ट एवं व्युत्पत्ति-अभ्यास को स्थान भेद से प्रतिभा का कारण बतलाता है। काव्यप्रकाश के उत्पन्न उत्पन्न, प्रथम और अन्त्य से काव्य के तीन प्रकार होने हैं, साहित्यदर्पण के अनुसार अथम भेद भी नहीं होता, उत्तम की

१ 'भवन करुणावती विसन्ती गमनापालवचनमालसेषु।' (पृ ३२९)

२ 'अथ कुतश्चिदागच्छन्त्या' इत्यादि (पृ ३४०)

३ 'निरुद्धय गान्तीं तरसा कपोरीं कृजकरोतस्य पुरो ददाने।.....' (पृ २८०)

और मध्यम दो ही भेद होते हैं, परन्तु रसगङ्गाधर के हिमाव से उत्तमोत्तम, उत्तम मध्यम तथा अधम भेद से काव्य के चार प्रकार माने जाते हैं।

अन्य सभी अष्टकार-ग्रन्थों में दान, दया, युद्ध और धर्म इन चार उपाधियों के भेद से उदाहरण स्वरूपी मात्र के चार भेद मानकर और रस के ही चार प्रकार प्रतिपादित हुये हैं, किन्तु रसगङ्गाधर का कथन है कि शृंगार रस के समान वीर रस के भी बहुत ही सकते हैं। और उद्गुम्भार युक्ति परन्तु उदाहरण देकर सञ्जीव, पाण्डित्यवीर और वल्मीक ने चार भेद अधिक वसमें प्रतिपादित हुये हैं।

सभी प्राचीन आलंकारिक निबन्धगुणों को रसमात्र धर्म मानते हैं, किन्तु निबन्धरत्न रसगङ्गाधर में मञ्जु खड्गन मण्डन के बाद गुणों को शब्द, अर्थ, रस और रचना इन चारों के धर्म स्थिर किये गये हैं।

प्राचीन सभी अष्टकार ग्रन्थों में भावज्ञान के समान पृथक् भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाव-संश्लेषा की धनियों की व्यवस्था की गयी है, किन्तु रसगङ्गाधर में ये धनियों की भावधर्म में ही गणना कर दी गई है और गणार्थना के लिये दी गई युक्तियाँ भी बड़ी मार्मिक हैं।

सभी अन्य निबन्ध रसमात्रादि को अष्टाव्ययकर्मव्यय ही मानते हैं, परन्तु रसगङ्गाधर कालविशेष में रसमात्रादि को भी सत्त्वगुणमन्वय्य वत्माना है।

द्वितीय आगत में और भी बहुत से सैद्धान्तिक मतभेद हैं, जो द्वितीयमान की भूमिका में दिखाने गये हैं।

रसगङ्गाधर का एक असाधारण वैशिष्ट्य

इन अनन्त जीवमय समार में नर-वेह दुर्लभ है और नर-वेह प्राप्त होने पर ही विद्वान् होना दुर्लभतर है इसी प्रकार विद्वान् होने पर ही कवि होना दुर्लभ है और कवि हो जाने पर कवि (प्रतिभा) शाली होना तो परम दुर्लभ है^१। शब्दा के बरदपुत्र पण्डितराय में इन सभी दुर्लभ गुणों का समन्वय समाविष्ट था। वे अपने युग के महाभाव होने के साथ-साथ विभुत्वकी विद्वान् और प्रतिभाशाली महाकवि भी थे।

किसी भी अन्य अष्टकार-निबन्ध-निर्माता में वल सभी गुण वम मात्रा में नहीं थे, जिस मात्रा में कि पण्डितराय में थे। अर्थात् सम्पत्प्रद विद्वान् बहुत बड़े अर्थ में, अष्टाव्ययत्व का ज्ञान उनमें महान् था, परन्तु वे कवि नहीं थे, अतः उन्हें अपने प्रति अष्टकार-निबन्ध काव्यप्रकाश में उदाहरण के लिये परमुखादेशी होना पड़ा। शायद वही कारण था कि काव्यीय विविध वस्तुओं के विद्वाने भेद में बुद्धि से स्फुरित होने पर भी उदाहरणसाव से उन्होंने नहीं लिखे। साहाय्यदर्पणकार विश्वनाथ ने कवि अपने को अष्टाव्यय-मात्रा-वारविशामिनी-मुक्ता की उपाधि से विभूषित किया है और यत्र-तत्र 'इदं मम' काङ्कर स्वनिमित्त पद्यको उदाहरण के रूप में वन्दित भी किये हैं, तथापि विद्वान् लोग उन्हें अष्टाव्यय के समान प्रतिमाशाली महाकवि नहीं मानते, क्योंकि यदि उनमें अष्टाव्यय की कवि-कला होती, तो वे अपने कवि-कला-सहित 'साहाय्यदर्पण' में एक ही पद्यों को उदाहरण के रूप में क्यों रखते? अन्य अष्टकार ग्रन्थों में भी प्रायः परकीय उदाहरण ही लिखे गये हैं।

१. 'नारयण दुर्लभं लोके विद्या तथा ह्युर्लभं। कविश्च दुर्लभ एव कल्पितश्च ह्युर्लभः ॥'

किंतु एक पण्डितराज ही इस जग में जन्मादमृत हैं। उनकी प्रतिष्ठा है कि 'काली का जन्म देनेवाला मृग पुण्यो का यथ-ग्रहण नहीं करता। मे दस रसगङ्गाधर में एक भी परकीय पद्य उदाहरण के रूप में नहीं लिखूँगा'। इस प्रतिष्ठा की पूर्ति ठ-होने भूल ही की है। एक से एक सुन्दर स्वनिर्मित पद्य उदाहरण से मशूर्ण रसगङ्गाधर में उपस्थित किये ॥। वे पद्य भिन्न-भिन्न प्रसंग पर भिन्न भिन्न रसों से ओत प्रीत हैं, रसगङ्गाधर में आये हुए ऐसे पद्यों की संख्या भी बहुत बड़ी है, यद्यपि उन पद्यों में से कतिपय पद्य पण्डितराज के अल्प काव्य तथा स्तोत्र ग्रन्थों में भी ढा चुके हैं, तथापि ऐसे भी इलोक कम नहा है जो पण्डितराज के भी अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होतें। इस दृष्टिकोण से देखने पर रसगङ्गाधर अलंकारशास्त्र के निबन्धराट् होने के साथ साथ एक सुन्दर मुक्तक कविताओं का सप्रहारमक काव्यग्रन्थ भी है।

प्रकृत पुस्तक के कतिपय प्रधान विषयों का विस्तृत विवेचन —

काव्य-प्रयोजन

मन्दबुद्धि का भा प्रकृति निष्प्रयोजन नहीं होत।^१ इव ज्ञाय के अनुसार प्रयो के प्रारम्भ में प्रयो नवकथन की राति प्रचलन है। अत एव काव्य लभणताओं में भी लक्षण करने से पहले काव्य प्रयानन के प्रतिपादन करने की आवश्यकता है पण्डितराज ने मा रसगङ्गाधर में इस परम्परा की रक्षा की है अर्थात् १०१० में भी का म क प्रयोजन दिखलाए है परन्तु मधुर में उनकी अपेक्षा मम्मट और विश्वनाथ के काव्यमकारा तथा माण्डव्यादरण म इसक विषय में कुछ अधिक लिखा है। इन्ही ताना आचार्यों के दृष्टान्तों का विवेचन इस प्रकरण में करना है।

सबसे पहले यह समझ लेना चाहिये कि इन ग्रन्थों में वा काव्य प्रयोजन का उल्लेख कैसे है इनमें दो तरह के प्रयोजन हैं। कुछ तो काव्य निर्माण के और कुछ काव्याध्ययन के।

या, अर्थ, व्यवहारमान, अनर्थ निवृत्ति, परम सुरा और कानासम्मित उपदेश इन काव्य प्रयोजनों का उल्लेख मम्मट ने किया^२ है। इनमें प्रथम, अर्थ और अर्थनिवृत्ति ये तीन काव्य निर्माण के प्रयोजन हैं तथा व्यवहारमान और उपदेश ये दो काव्याध्ययन के प्रयोजन हैं, अर्थात् 'परमसुख' रूप प्रयोजन दोनों का ही संकल्प है। अन्य पाठकों के समान काव्य निर्माता भा बनने काव्य के पाठक होते हैं, अत वाक्याध्ययनन्य सुख ता उहें मिलता है। साथ-साथ काव्य निर्माण पशुक्त भी एक प्रकार का सुख उन्हें मिलता है, वाच्यनिर्माण से वा सुख प्राप्त होता है, उसका अनुभव काव्यनिर्माताओं को ही ही सदाता है, पाठकों की चाहिये कि इन सुखानुभव का भी यत्न करें।

इसके बाद नन्दर आता है दर्पणकार विश्वनाथ का। उन्होंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस पुरुषार्थचतुष्टय की सुरापूर्वक प्राप्ति को काव्य प्रयोजन कहा^३ है तथा काव्य से इन प्रयोजनों

१ 'निर्माय नूननसुराणरुणरुण काव्य मयात्र निहित न परस्य किञ्चित्' (१० ६)

२ 'प्रयोद्धमनुदिश्व न मन्वाऽपि प्रवर्तते ।'

३ 'काव्य यज्ञमेऽयंष्टी व्यवहारविदे सिनेतरक्षतये ।

सत्य परनिर्वृतये वान्तप्रामिमतयोपदेशपुरी ॥'

४ 'चतुर्वर्ग-कल प्राप्ति, सुखादत्यभियापयि । कल्यादेव बतलेन तत्स्वरूप निरूप्यते ॥'

प्रति देखे होगी इस प्रसङ्ग में बहुत सी युक्तियाँ भी बरलाई ह, उन युक्तियों का द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ये प्रयोजन काव्य के निर्माता और अर्थात् दार्ता के लिये बराबर हैं।

पण्डितान ने काव्य प्रयोजन के संबंध में कवच एक पक्ति लिखा है, जिसमें यश, परम अन्नद और गुरु राजा तथा दंबता आदि की प्रमन्नता ये काव्य प्रयोजन बनलये गये^१ हैं, ये सभी प्रयोजन काव्य निर्माण के ही दो सन्तरे हैं, बाल्याध्ययन के नहीं। यह बात दूसरी है कि इन प्रयोजनों की सिद्धि के लिये लोगों की प्रवृत्ति काव्य निर्माण की ओर हाथ और काव्य के निर्माण के लिये उसका अध्ययन आवश्यक होगा।

बहुधा इन प्रयोजनों का सम्बन्ध लोगों का काव्य के निर्माण और अध्ययन की दिशा में प्रवृत्त कराने के लिये उस प्रकार का एक प्रयोजक उपायमात्र है जिस तरह का विकेताजी का सीरी के चमकीले डुकुनों के विषय में कृत्यों के प्रति यह कथन होता है कि 'बट अच्छ मोती हैं, मकर खरीद लीजिये'। परमायं काव्य का प्रयोजन रसास्वाद-मूलक आनन्दनिर्वाण है। यद्यपि लोग कौर्ति आदि के लिये भी काव्य निर्माण करते ही हैं तथा जीविका आदि के लिये भी काव्य पढ़ते ही हैं, तथापि वे सब काव्य के अन्य साधारण प्रयोजन नहीं हो सकते क्योंकि कौर्ति आदि के लिये अनेक रास्ते हैं और जीविका आदि के लिए भी विविध उपाय बिय जा सकते हैं। इन सब गौण प्रयोजनों का लक्ष्य बनाकर काव्य का लिखना-पढ़ना सबया सरल भी नहीं होता। कान्ने का अभिप्राय है कि रसास्वाद करने-कराने के लिये लिखा गया काव्य ही पूर्ण सफल हो सकता है, परमुरसास्वाद के लिये लिखा गया बाल्याध्ययन ही बाल्याधिक अध्ययन करा जा सकता है।

काव्य

काव्य पदार्थ का विवेचन करने से पूर्व कवि-शब्दाय का विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि व्याकरण के अनुसार काव्य पद का अर्थ होता है 'कवि का कर्म' अथ कविशब्दाय का शान विना करार्ये काव्यपदार्थ का शान नहीं बगला जा सक्ता।

अच्छा ही हम पहले यही विचार करें कि कवि किसे करते हैं? शब्द स्वारस्य के अनुसार किसी वस्तु के वर्णन करने वाले को कवि कहते हैं क्योंकि काव्यमीमांसा में 'कवु बर्णे' शब्द से कवि पद की सिद्धि मानी गई है^२। कुछ लोगों का कथन है कि 'कवु बर्णे' शब्द से कवि शब्द सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि 'कवु' पदार्थोपध है, अतः 'कवु शब्दे' शब्द से कविपद की सिद्धि नहीं चाहिये। यदि यही अनुपपत्ति ठीक हो, तथापि अर्थ में कवे अथिक् अन्तर नहीं होगा क्योंकि तदनुसार भी किसी विषय का कहने वाला ही कवि पद का अर्थ होता है। कोप में कवि पद का अर्थ पण्डित किया गया^३ है। अतः योग तथा कृति दोनों की समन्वयात्मक दृष्टि से

१ 'कीर्तिपरमाहादगुम्तामदेवतामसादावनेकमये'वनकस्य काव्यस्य शत्यादि' (५०८)।

२ गुणवचनद्राष्टयादिभ्य क्मपि च इति 'थञ्'।

३ 'अधिसास्वदश्च कावु बर्णे इत्यस्य शानो काव्यकार्यो सन्' (काव्यमीमांसा)।

४ 'सखान् पण्डित कवि' (अमर)।

विचार करने पर यह सिद्ध हुआ कि किसी वस्तु का वर्णन प्रतिपादन करने वाले विद्वान् को कवि कहा जा सकता है।

कवि पद के इसी मूल अर्थ के अनुसार वेदार्थ के वर्णनित्वा सर्वत्र परमात्मा को कवि कहा गया है।^१ इसके बाद लौकिक भाषा के द्वारा रामचरित के वर्णन करने वाले वाल्मीकि को 'मादि कवि' की पदवी दी गई। तदनन्तर महाभारत तथा पुराणों के रचयिता वेदव्यास कवि कहलाये हैं। इस तरह भाषा पुगणपुत्र तक सभी (सुन्दर अथवा असुन्दर) वर्णन करने वाले विद्वानों में कवि पद का प्रयोग होता रहा, अत एव रामनीति विषयो के प्रतिपादक शुकाचार्य को भी कवि सहा दी गई^२ है।

किन्तु पुराणपुत्र के बाद वर्णनित्वा मात्र को कवि कहने की प्रथा समाप्त हो गई। अब चमत्कविपुत्र वर्णन करने वाले विद्वान् को ही कवि कहा जाने लगा अर्थात् अब उस विशिष्ट वर्णनित्वा को कवि पद की अधिकारी समझा जाने लगा, जिसके चमत्कारमय वर्णन को सुनकर सहृदय श्रोताओं के मातस में परमानन्द की हविर् बौचिरी उठने लगती थी। इसीलिये छन्दोबद्ध ग्रन्थ लिखने पर भा स्मृतिकारों (मनु, पाश्चवल्क्य आदि) को कवि कहलाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका।

यद्यपि ज्ञान के विद्वान् कवि की बहुत तरह की परिभाषायें बनाते हैं—जैसे कवि कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में किसी का कथन है कि—'कवि सृष्टि के सौन्दर्य का भर्त्सक है। वह एक पेशा फन है, जिसके द्वारा सृष्टि का सौन्दर्य देखा जाता है। कवि सौन्दर्य का उपयोग करता है, और जब सम्पत्त हो जाता है, तो उसके अल्पकाल्य में उसकी सम्पत्ता का कुछ प्रभाव सहृदय जनों को मिल जाता है। वह प्रकृत ही काव्य है। तात्परेषा और कवि में अन्तर है। तत्रपरेषा सतिष्क का निरासी है और कवि हृदय का हृदय मनुष्यमात्र के है। पर कुछ तो हृदय के मर्म को समझे ही नहीं, कुछ समझते तो हैं, पर उनकी वाणी में इतनी शक्ति नहीं होती कि वे उसे प्रकट कर सकें। कवि हृदय की बातें भी समझता है और उसे कह भी सकता है। साधारणजन और कवि में यही अन्तर है इत्यादि।' परन्तु कवि पद को इस तरह की सभी व्याख्याओं का आधार नहीं पूर्वोक्त कवि पद का स्वरसिक अर्थ है वह समझना कुछ कठिन नहीं है।

वस्तु, यह भी दुर् कवि की बात, अब देखना यह है कि कवि का कर्म क्या है? कवि क्या करता है जिसको काव्यपद व्यक्त करता है? इसका उत्तर साधारणतया स्पष्ट है कि किसी विषय का चमत्कविपूर्ण श्रोताओं को मुग्ध कर देने वाला—वर्णन ही कवि का कर्म है। वर्णन यद्यपि अर्थ का होता है, परन्तु वह शब्द के रूप में ही होता है, अत यह कहना होगा कि वह शब्द ही कवि का कर्म है।

यद्यपि कवि शब्दों को नहीं मझता, अपितु उनका कठिन सुम्पनमात्र को रचता है, तथापि कठिन सुम्पन से युक्त वह पदार्थही कवि कार्य कहलाती है, जैसे घटनिर्माणकर्ता कुम्भकार का कार्य पट कहलाता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि जिस किसी विषय का चमत्कारी, श्रोतजनहृदयकारी, वर्णन जिन शब्दों से द्वारा किया जाता है, वे शब्द काव्य ही हैं।

१ 'कविर्गनीषो परिभू स्वयम्' (शुक्लजलु संहिता म ४० म ८)

२ 'उज्ज्वला मार्गव कवि' (अमर)

यह तो हुआ काव्य का सामान्य रेखाचित्र । अब विवेचनीय यह है कि किस किसने अपनी प्रतिभारूप तुलिका से रत्न भरकर उस रेखाचित्र का कौशा रूप तैयार किया है । अभिप्राय यह है कि काव्य के उक्त साधारण लक्षण में परिवर्तन-परिबर्धन करके मित्र मित्र आचार्यों के द्वारा आज तक कितने प्रकार के काव्यलक्षण तैयार हुये हैं, यहाँ इस प्रकार का विवेच्य विषय है ।

अब तक प्रायः निम्नलिखित आचार्य महान काव्यलक्षणकार हुये हैं । (१) अग्निपुराणकार, (२) दण्डी, (३) रुद्रट, (४) वामन, (५) आनन्दवर्धन, (६) मोक्ष, (७) मम्मट, (८) वाग्भट, (९) पोष्यवर्ष (१०) विश्वनाथ, (११) गोविन्दठाकुर और (१२) पण्डितराज आत्राय ।

अब यहाँ क्रमशः इन्हीं आचार्यों के काव्यलक्षणों को चर्चा सञ्ज्ञे में की जायगा ।

(१) 'अभाङ्ग अर्थ को सञ्ज्ञे में प्रकट कर देने वाली पदावली काव्य है' यह लक्षण अग्निपुराण में किया गया है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि वक्तव्य विषय को सुन्दर उद्ग से मनिपादित करने वाला नया-तुला पदसमूहात्मक वाक्य का काव्य कहलाता है । सञ्ज्ञे पद का लक्षण में समावेश करने से लक्षणकार का अभिप्राय यह कि व्यर्थ पदों का आद्यन्त काव्य में नहीं होना चाहिये । अग्निपुराण का निर्मायकाल यद्यपि निश्चित नहीं है, तथापि इतना निश्चित है कि उपलब्ध काव्यलक्षणों में सब से प्रथम लक्षण यही है ।

(२) आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श नामक निबन्ध में आ काव्यलक्षण किया है, उसे अग्निपुराण के लक्षण से भिन्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'इष्ट अर्थ से व्यवच्छिन्न (नयी-तुली) पदावली काव्य का शरीर है' यह जो उनका लक्षण है, उसमें अग्निपुराणलक्षणगत 'सञ्ज्ञेराद्' और 'वाक्यम्' इन दो पदों को केवल हटा दिया गया है, जो वस्तुतः व्यर्थ ही थे । कारण यह कि व्यवच्छिन्न तथा 'पदावली' इन दोनों पदों से ही उक्त दोनों पदों के अर्थ निकल जाते हैं । दण्डी का काल अनुमान के आधार पर छोटी राजाब्दी माना जाता है ।

(३) इसके बाद आचार्य रुद्रट ने काव्यलक्षण में एक महान् परिवर्तन उपरिष्ठ किया । अब तक जो केवल वाक्य को काव्य कहा जाता रहा, वह उनकी गवेषणात्मक स्वतन्त्रतुलिका में ठीक नहीं आया अतः उन्होंने उसमें अर्थ को भी जोड़ दिया अर्थात् वे शब्द तथा अर्थ दोनों का काव्य कहने लगे । ताल्पर्य यह कि उनके विचार से सम्मिलित शब्दार्थ-युक्त ही काव्य सिद्ध हुआ । विचार करने से उनका कथन बहुत सुन्दर प्रतीत होता है, क्योंकि काव्य पद का मूलमूल अर्थ जो कवि की कृति है, उसके अनुसार अर्थ को भी काव्य मानने में किस तरह की आपत्ति नहीं होती, कारण यह है कि वाक्य की तरह उसका अर्थ भी वस्तुतः कवि की ही कृति होती है अर्थात् काव्य में कथित अर्थ वास्तविक नहीं होते, वरन केवल कल्पना-युक्त रहते हैं इतिहासप्रसिद्ध पदार्थों को भी कवि अपने उद्ग से नवीन रूप में ही उपस्थित करता है । मास की वागवदना, बालिदास की शकुन्तला और भीमार्जुन की दमयन्ती ऐतिहासिक नायिकायें होकर भी वास्तविक से संबंधा मित्र हैं । मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि वाल्मीकि के राम-लक्ष्मण और कृष्ण-पार्थिव (वेदव्यास) के कृष्ण-अर्जुन भी

१ 'सञ्ज्ञेराद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली । काव्यम् ।'

२ 'शरीर तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।'

३ ननु शब्दार्थो काव्यम् ।

वास्तविक उनसे बहुत कुछ भिन्न हो है। प्रकरण (जो एक रूपक का श्रेय है और जिसके पात्र ऐतिहासिक नहीं होते) के पात्रों में यह बात अधिक स्पष्ट रूप से समझी जा सकता है प्रवृत्ति के 'मालतीमाधव' में बंशिन मालती तथा माधव आदि और शूद्रक (१) के 'शुद्धकांडक' में बंशिन बसन्तसेना एवम् चारुदत्त आदि का तो इतिहास से गौर सम्बन्ध नहीं है, अतः अगुणा उन पात्रों को तो कठिनाति मानना पड़ेगा, फिर अभी उद्यन्व स इतिहास प्रसिद्ध पात्रों व विषय म भा यह समझना अनुचित नहीं हो सकता, कि वे कवि के ही गढ़ हुवे होंगे हैं। काव्यजनक अमृत ससार में कवि ही श्रेय होता है उसके फलस्वरूप के मुनासिब ही अमृत को बन जाकर पड़ता है, यह लिखकर बालकृष्णकिशोरोत्तमि आचर्यवचनार्थ ने भी शब्दमणि पदार्थों का मानस होने की बात की उक्ति की है अतः हरद का शब्दार्थयुक्त-काव्यनावाद निम्नान्त तर्कमूलक है इसमें कौन सन्देह नहीं। इनका समय अनुमानन वाचन से पूर्व का माना जाता है।

(४) इसक अनन्तर अशुद्धाचारक वामन ने काव्यरत्न के विषय में कुछ और नवीन बात कहा। उन्होंने कहा कि अशुद्ध रहने के कारण काव्य भाषा है, और 'मल्लहार कहते हैं सौन्दर्य को, इत तरह उनके बचन का स्पष्ट उचितार्थ यह हुआ कि सौन्दर्ययुक्त होने के कारण काव्य का प्रत्यक्ष वर्णना लक्ष्य है अब विश्वासता यह उठती है कि राज्य में सौन्दर्य का कारण क्या हो सकता है ? इसका उत्तर वामन यह देते हैं कि दोषों के त्याग और गुण तथा अशुद्धियों के प्रत्यक्ष वर्णन से काव्य में यह सौन्दर्य उत्पन्न होगा है, अतः पर अन्त में उन्होंने काव्य-रक्षण क सम्बन्ध में कहा है, कि यह काव्य शब्द शुद्ध तथा अशुद्धता से समस्त शब्दार्थयुक्त का वाचक है।

गुणाद्वारहीन शब्दार्थयुक्त में प्रयुक्त वाच्य पर ही उन्होंने स्पष्टार्थक माना है। उनके बचन का आशय यह होता कि अमृत गुणाद्वार युक्त शब्दार्थसमूह को ही काव्य कहना चाहिये, परन्तु प्राचीन आचार्यों ने जब केवल शब्दार्थसमूह की काव्य कहा, तब से काव्य पर शब्दार्थयुक्त में रुढ़ हो गया, अतः आज भी जोस केवल शब्दार्थयुक्त को ही काव्य कहा करते हैं। शब्दार्थक शब्दार्थ प्रथम में 'कश्चित् सादृशी है' के समान कश्चित् शब्दार्थक ही समझनी चाहिये, वामन का समय वामन शब्दार्थी के पूर्वार्थ से पूर्व का माना जाता है।

(५) अर्थिनार्थ प्रवर्तक अशुद्धवचन ने कवि स्पष्ट शब्दों में काव्यरत्न कहा लिखा है। काव्य का रक्षण करना उम्मा उद्देश्य भी नहीं था, अर्थ का रक्षण करना या उनका उद्देश्य था। इसकी पूर्ति उन्होंने स्व ही की है। व्यक्तिविक्रम के लेखक मतिमत्त को छोड़कर प्राय सभी अन्तःशरमारी भाष्यकारिक बहुत अर्थों में उनके अनुयायी ही हैं। अतः प्रकृत में कहना यह है कि काव्य का रक्षण न लिखकर भी अशुद्धवचन ने 'शब्दार्थयुक्त ही काव्य है, केवल शब्द नहीं' इस सिद्धान्त में अपना सम्पत्ति प्रकट की है, क्योंकि मल्लहार एक स्थान पर धन्यालोक में वे लिखते हैं कि 'काव्य का शरीर शब्दार्थसमूह है'। इनका समय वामन शब्दार्थी का उत्तरार्थ समझा जाता है।

१ 'आगे काव्यमसारे कविरेव प्रजापति । यथाग्ने राक्षसे विद्व तस्यैद परिवर्तते ॥'

२ 'काव्यं शब्दार्थयुक्तम्' । ३ 'सौन्दर्यदत्तशुद्ध' ।

४ स दोषगुणाद्वारहनादानाम्भावम् ।

५ काव्यशब्दार्थयुक्तमशुद्धवचनो शब्दार्थयुक्तम् ।

६ मत्तया तु शब्दार्थयुक्तवचनो युज्यते । ७ 'शब्दार्थशरीर वाच्य काव्यम्' ।

(६) इसका बाद सस्कृत के समय अनुरागी, मस्कृत का कव्यक अवयव अनेक कमनीय निबंधों के निर्माता धाराधिराज भोज का समय आता है। यद्यपि उन्होंने काव्यरक्षण पर कामका अगती लेखनी नहीं चलाई, तथापि काव्य प्रशंसा के प्रसङ्ग पर अनेक प्रसिद्ध निबंध 'साम्प्रती कण्ठारण' में एक पद्य लिखकर काव्यरक्षण के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त किया है। हम पर का भाव यह है कि दोषरहित, गुणरहित, अस्कारों से अक्षुब्ध और सरस काव्य को इनाने वाला कवि कृति के साथ गुण को माँगना है।^१ इस उक्ति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे भी शब्दार्थ गुण को काव्य मानते हैं। शब्दों के शब्दभाव को काव्य मानने पर 'सरस' विशेषण सर्वथा सगुण नहीं हो सकता, कारण? रसका केवल शब्द में साम्यात्मन्व्य नहीं होता। और 'अस्कारों से' हम बुबनन से शब्दार्थद्वारा तथा अर्थार्थद्वारा दोनों ही उनके विरहित शत होते हैं। यदि शब्दभाव में उन्हें काव्यत्व अभिमत होता तो अस्कारों का समावेश क्यों करते? अर्थार्थद्वारा शब्द को अस्कार नही कर सकी। इनका काव्य ग्याहवी शताब्दी का उत्तमार्थ माना जाता है।

(७) उन अस्कार प्रयोगों में सबसे अधिक प्रचलित काव्यप्रकृत के लेखक रामदेवता के अग अस्कार शब्दान्त्य मन्मत् का उदय हुआ। इन्होंने काव्यरक्षण में शमन का अनुवर्तन किया परन्तु गुण तथा अस्कारों का समान स्थान काव्य में इन्हें समुचित प्रतीत नहीं हुआ अर्थात् काव्य में गुण का रहना इनके विचार से अनार्यिक समथा तथा और अस्कार का होना आनुपत्रिक स्पष्ट व्यक्त यह हुआ कि अस्कार के राने पर काव्य की संरचना इन्हें माँगी हुई है, किन्तु उनके स्पष्ट न रहने पर भी काव्यत्व इन्हें स्पष्ट है। उन शब्दों दोषरहित और गुण सहित शब्दार्थ को काव्य कहा और अस्कार के विषय में कहा कि अधिकतर स्थानों में अस्कार का रहना अवश्यक है पर कहीं यदि स्पष्ट अस्कार न माँगे ठाँ कोई हानि नहीं।^२

एक बात और यद्यपि मन्मत् ने काव्यरक्षण में रस की चर्चा नहीं की तथापि उनके विचार से काव्य में रस का सर्वोच्च स्थान है, यह बात काव्यप्रकाश के अन्य अर्थों से सिद्ध होती है। यद्यपि किन गुणों का रहना काव्य में उन्होंने आशयपूर्ण बतलाया है, उनको व सार शब्दों में रसक अर्थ मानते हैं।^३ इनका आविर्भाव काल ग्याहवी शताब्दी निर्दिष्ट है।

(८) मन्मत् के बाद वसा शताब्दी में एक शम्भु नाम के आचार्य हुए, जिनका वाग्मन्मत् नामक ग्रन्थ है। उनके युग तक आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि का श्वासता कर दी थी, ध्वनियों में भी रस आदि असंख्यकमव्ययों की प्रधानता निश्चित हो चुकी थी, अब इहों वामन तथा मन्मत् दोनों के मतो की जोड़ कर एक नवीन काव्यरक्षण का निर्माण कर दिया, जिसका स्वरूप यह है कि 'गुण अस्कार, रीति और रस से युक्त तथा दोषरहित अच्छे शब्दार्थों का समूह काव्य है।'^४

(९) इसके अनन्तर चन्द्राचोक नामक निबंध के निर्माता 'दीपवर्ध' उपाधि से मूचित अर्देश का अवसर आया। इनके पूर्व भावी आचार्यों के द्वारा जिनके काव्यरक्षण निरूपित

१ निर्दोष गुणवत् काव्यमलकरौल्लूहत् । रसान्वित कवि कुर्वन् काव्यं प्रोत्तन्व विन्दति ॥

२ 'उदयोः शब्दार्थो सगुणानल्लुनी पुन कवि'

३ 'ये रसत्यादिगुणो धमा सौर्वन्दव इवात्मन । उक्तवहेनस्तेस्तु चाम्यतया गुणा ॥

४ 'गुणाकाररीरसोपेत साधुनान्द्यसन्दर्भ काव्यम्।'

हुये थे, उन सभी तत्वों को इन्होंने काव्यरक्षक ॥ समाविष्ट कर दिया और 'दोषहीन गुण, अलङ्कार, लक्षण, रीति, रस तथा श्रुति शब्द समस्त उपादानों से परिपूर्ण वाणी को काव्यसिद्ध किया' १।

परन्तु इनके लक्षणों में बहुत परासों का समावेश हो जाने के कारण अन्यथी अतिव्याप्ति भाँटि दासों की सहा अधिक हो सकती है और यह लक्षण अनुपम भी नहीं हो सकता जब इसमें लक्षण न मानकर काव्यरक्षकों का सप्ताहक वाक्यवाचक माने तो अधिक उपयुक्त होगा । इनका समय भी सरस्वती शतिका की उत्तरार्ध ही है ।

(१०) इसके अन्तर काव्य-अङ्ग में कुछ नवीन सन्देश केन्द्र साहित्यद्वयगत विज्ञानाय अत्राय दुये । इन्होंने अग्निपुराणकार से लेकर धर्मयुवर्ष तक के आचार्यों में जो उत्तरोत्तर नया काव्यरक्षक तैयार किया था उसकी काट छोट कर सज्जित कर दिया और काव्य में केवल रस मान लादि असंख्यकृत कहे जानेवाले नवजायों का रहना आवश्यक समझा । अलङ्कार उनके विचारानुसार केवल लक्षण के कारण हैं—स्वरूपायत्क नहीं । इसी तरह दास केवल अक्षरों के हट्ट ह—स्वरूपविषयक नहीं । यह विचार उनका ठीक सा है । अलङ्कारहीन होने पर भी मनुष्य में मनुष्यता की दान नहीं होतो और काण्ठादि दोषों के रहने पर भी मनुष्य मनुष्यत्व की नहा लेता । अत इन्होंने रसात्मक वाक्य^२, को वाक्य कहा और रस^३ पर से अस्वादिगोप रस, रसामास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावसमास और भावसरलता इन सभी अस्वादिगोपमभ्युपगौ का समग्र लिखा । यद्यपि विरचनाय वा यह लक्षण सरवा अभिन्न नहीं है । इनमें बहुत पहले मौंडारमि नामक एक आचार्य ने अपने अलङ्कारवृत्त में 'रसादिमत् वाक्य' का काव्य कहा था, तथापि आदि से अलङ्कार का बोध कराकर अलङ्कार का भी स्थान उन्होंने इसके समकक्ष ही मान लिया था, जिसका स्पष्टीकरण करते हुये केदार मिश्र ने अलङ्कारशेखर में लिखा है कि रस अथवा अलङ्कार दोनों में से किसी एक के रहने पर वाक्य काव्य कहा जाता है । परन्तु विरचनाय को अलङ्कार रस का समकक्ष नहीं कहा, अत इन्होंने अपने लक्षण में अलङ्कारबोधक आदि शब्दों को स्थान नहीं दिया । विरचनाय का समय चौदहवीं शताब्दी निर्णय सा है ।

(११) इसके बाद अन्तर आता है गोविन्द टंडुल का । यद्यपि ये मूलकार नहीं हैं, तथापि काव्यकारों पर लिखा हुआ इनका 'मदीय' दृष्ट अंश में मौलिद्वारा रखा है, अत यह आलंकारिक भाष्य में इतनी शक्ति कायी मूलकार से बन गया है ।

इन्होंने काव्यरक्षकशोच काव्यरक्षक का विशेषण करते हुए लिखा है कि 'परमि सम्पत् रसहीन और रस अलङ्कार से भी रहित शब्द अर्थ को काव्य मानते हैं, परन्तु उनको यह मानना अनुचित नहीं है, क्योंकि ॥ तथा अलङ्कार ये दोनों पदार्थ काव्य में चरस्वारकनक है, फिर यदि इन दोनों में से एक भी न रहे, तब चरस्वार कहाँ से आवेगा और कहाँ चरस्वार ही नहीं हो उसे काव्य कहेगे ही कैसे ? कारण यह है कि काव्य में चरस्वार ही स्वार है । अत यह मानना अचित होगा कि सरल स्वर में मूले ही अलङ्कार की अवेद्या नहीं हो, पर नीरस स्वर में अलङ्कार का

१ 'निर्लेष गुणात्कारलक्षणीवृत्तिमात्रं परमं काव्यम्' ।

२ 'वक्त्र रसात्मक काव्यम्' ।

३ 'रसादिमत् वाक्य काव्यम्' ।

रचना आवश्यक है।' पद्य इसके बचने में भाग लेता है। किन्तु इसे जो केवल मिति ने कहा है। गोविन्द ठक्कर मेंकि माहाण से और उनका समय साहित्यका सन्तान का उच्छ्वास निर्वन्धन है।

(१२) इसके अनन्तर ही रसगद्गायक न मिनाता पण्डितराज जगन्नाथ का काव्य बना है। इन्होंने काव्यभ्रमण का आरम्भ किया है और उसने सन्तान में जो कुछ भावना काव्य बना है वे सब प्रकृत पुस्तक में देखा जा सकती हैं, अब उनका काव्य यहाँ विषयवश समझकर नया किया जाता है, जिहासुओं को प्रथम में वे अपने देखनी चाहिये

अब इस प्रकार के उल्लास-भाव में मुनेयट करना है कि-प्रारम्भ में सौन्दर्यपूर्ण अथवा सौन्दर्यरहित सभी वर्णना का काव्य बना गया था। बाद में सौन्दर्यपूर्ण वर्णन का काव्य बनाने लगा, पर अजब तक काव्य का कार्य प्रारम्भ नहीं किया था। सर्वप्रथम अन्वयगुण में काव्य का स्वरूप बन गया। प्रत्येक अनुगत सन्दर्भमें शब्दों में प्रयोजन करनेवाले शब्द काव्य समझे जाने लगे। प्रथम तब यह शब्दमात्र काव्यतावाद बना हुआ कि प्रकृत के शब्दों में शब्दाशयकल्पना का प्रारम्भ हुआ, जो मन्त्रों में तब प्रारम्भ रहा। सौन्दर्य का कारण यह है कि विषय में इन शब्दों में आकर्षण में शब्दों का प्रयोग आदि शब्दों में आकर्षण का कारण समानरूप में गुण तथा अकार का मानने पर आकर्षण मन्त्रों में अकार का प्रयोग किया और गुण तथा गुणव्यञ्जक शब्दों का प्रयोग माना काव्य में शब्दों में ही अकार का प्रयोग मन्त्रों में प्रयोग आनन्दों के प्रयोग नानरूप में आकर्षक समझा जाता रहा

विश्वनाथ ने समय में अकार पुनः काव्यभ्रमण का प्रारम्भ किया। प्रथम शब्दमात्र का काव्य मना जाने लगा, अर्थ को काव्यभ्रमण से अछिन्न कर दिया गया। स्वयं गुण में अकार गुणभ्रमण का स्थान भाग्यसा ही गया अथवा प्रथम समझा जाने लगा कि गुणभ्रमण काव्य में रहना ही अर्थात् अकार के पर वे यदि न भी हैं, तब भी शब्दविषय का काव्य बहोत में बाधा नहीं हो सकती। इस समय में दोनों पर जो कुछ दिया दिखता है वह तात्पर्य यह है कि अकार रत्न पर भी शब्दविषय का काव्य बनाने में लोगों को आकर्षण नहीं रही। प्राचीन मायनाश में इन सब निरिच्छाओं के आगमन का प्रधान दण्ड यह हुआ कि विश्वनाथ तथा उनके समकालीन अन्य विद्वान् काव्य में सौन्दर्य का कारण एकत्रित रस को मानने लगे। यद्यपि नया मूल्य चाहिये कि प्रथम काव्य एकत्र अकारभ्रमणों का समग्र अर्थ है

यदि वस्तु अकार और रसादिरूप विषय धर्मियों का अन्वेषण तथा सौन्दर्य विश्वनाथ से बहुत पूर्व ही आन्वेषण के प्रयोग द्वारा ही हुआ था परन्तु अकारभ्रमण में अन्वेषण का प्रवेश विश्वनाथ से पहले किनी नहीं कराया है। धर्मियों में भा केवल रस का काव्य का

१ नन्दनकराटिन्यासि, सारकारविवेकानुसन्धानदिनि न १०, पृष्ठ ५५-५७-
 इन्नेतदुक्त-अन्वेषणमात्राशब्दाया कल्पित वरिचर तुगात्कारिरेड न कल्पितानि,
 नशाञ्जलार्कनाय, अन्वेषण चाकारभ्रमणैः एते विप्रानाम्। नैरेडपरतु गात्कारिरेड अन्वेषण
 मेंनेति अत्र पद्या। यद्यपि परबन्धनौत्ते तुगात्कारिरेडिनि न काव्य-रत्न, यत्र रसादिर
 अकारेण रस चत्कारहेतु। तथाच यत्र रसादीनात्मक्येन न तत्र सुखात्कार्येषा। नैरेते तु
 र्दरे न सुखात्कारिरेड सारविकिर्लक्षणकार स्वयं। चन्कारसात्त्विकं चत्कारिरेड सुखा
 अकार्येषा।'

आत्मा मानकर वस्तु तथा अलंबारूप ध्वनि की विद्वाना ने गद्य बना दिया। पण्डितराव ने केवल रस को काम्यसीन्दर्य का लक्षण न मानकर सभी ज्यों (वाच्य, दृश्य और अदृश्य) को सीन्दर्य का स्वरूप घोष करण माना है, अन्य अर्थ में पण्डितराव विद्वाना का ही समर्थन करते हैं।

काव्य कारण

एक प्रकरण में मुझ मिल हिन्दू आचार्यों के मनों के आधार पर यह विना काना है कि काव्य का कारण क्या है ?

अच्छा तो पहले वह समझिये कि काव्य-कारण के विषय में प्रधानतया विद्वानों का मत है। हर्ष, वासना और पण्डितराव आदि केवल प्रथमा को काव्य का कारण मानते हैं और हन्ना, वाग्मते और पीयूषनरं आदि प्रथमा, सुश्रुति और अम्बास इन तीनों को काव्य का कारण बताते हैं। काव्यमौल्यसत्त्वात् राजजेतर इति विषय में इन सभी से कुछ मिल ही मत करते हैं।

अब मेरे उनक विचारों की सज़न में यहाँ उपस्थित करता हूँ जिससे पाठक उन सब विचारों का समालोचनामय दृष्टिकोण से बदलर जाना मत निश्चिन्त कर हवें।

हम्मी का कथन है कि 'स्वाभाविक प्रथमा, प्रचुर और दोषहीन वाच्य-अवयव अर्थात् सुश्रुति द्रव्य परिपूर्ण अम्बास-अम्बास पुन पुन काव्य बनाते रहना ये सब काव्यमत्त्वात् अर्थात् काव्य की उत्पत्ति के कारण हैं'।

इसके आगे उगटोंने एक बात और कही है, वह यह है कि 'पूर्वजन्म की रासना के गुणों से सब अद्भुत प्रथमा यदि न भी हो, तथापि वाच्यप्रवच-अम्बास सुश्रुति और वन अम्बास अम्बास के द्वारा सेवित वाग्मिणी सेवकों पर कुछ अनुग्रह अवश्य ही करनी है'।

॥ उचितों से हम्मी का अधिभाव थोड़ा मान पाना है कि उक्त काव्य के प्रति प्रथमा, सुश्रुति और अम्बास ये तीनों कारण हैं पर सत्प्रत्यय काव्य प्रथमा के उभाव में भी केवल सुश्रुति और अम्बास से बन लएगा है।

१२२ देवका दक्षि (प्रथमा) को ॥ कारण मानते हैं और दक्षि का विवेचन रस प्रकर करते हैं—

'नितली मातर हान पर समानि-व (सकल प्रकाय) इन में अनेक प्रकार के कार्य सुरित होते हैं और दोषर कात्त प्रदानना बुद्धिवाचर होने लगी है, उक्तों 'दक्षि कहते हैं'।

इसके आगे पुन ने लिखते हैं कि 'अम शाक के दो मेर हैं—एक लहन अम्बास स्वभाव-लहर, ना ईदर मरुत अम्बास अद्भुत कव्य टाठों ह और दूसरी लषाच-अम्बास उल्लस की जानेमारा, भी

१ नैसर्गिका च प्रथिमा कृत च बहु निर्मातृ ।

अमन्दर-अभिधायाजया कारण काव्य-सम्पद ।'

२ न विद्यते पर्यथ पूर्वजन्मनामुगनुबान्धय तमानन्द-मुन्य ।

अवन कनेन च वागुतासिद्धा श्रुत नरोत्तम कनमनुम्बु ॥'

३ 'मनसि सदा दृष्टमाधिमि विस्तुर' ननेवपाडमिधेवत्य ।

अन्तिष्टमि पदमि च विमानि पस्तमती दक्षि ॥'

व्युत्पत्ति से उत्पन्नित होये है^१ इस कथन में यह आशय व्यक्त है कि प्रतिभा दो प्रकार की होती है, एक अदृश्यवन्त और दूसरी व्युत्पत्ति-वन्त ।

इनके बाद वासन ने भी केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना है । उनका कथन है कि 'कवित्व का जो मूलमार्ग है ।

उससे आगे चतुर्धर काव्यप्रकाशकण सम्मत वे पुन दृष्टी के कारणवत्वाद को अपनाया । वे काव्यप्रकाश में लिखते हैं कि 'प्रति (प्रतिभा) और श्लोकान्तरहार, शास्त्राध्ययन तथा काव्य परिचक्षण आदि से उत्पन्न निपुणता (व्युत्पत्ति) एवम् सम्पन्न अर्थात् काव्य के निर्माण तथा समालोचनना से शिक्षा प्राप्त कर अननुपार अभ्यास से तैयारी ही समिपित रूप से काव्य के कारण है ।' अन्तर्गत ही इस उक्ति में दृष्टी की उक्त उक्ति से नवानना केवल इतनी है कि व्युत्पत्ति और अभ्यास की व्याख्या सुचारुतर से कर दी गई है ।

वाग्देव इस मत में थिरते हैं कि— प्रतिभा काव्य का कारण है, व्युत्पत्ति मूल है और अभ्यास काव्यरचना में प्रगति लाता है^२ । इसका स्पष्ट अभिप्राय यह होता है कि काव्य की उत्पत्ति केवल प्रतिभा पर ही व्युत्पत्ति उसमें सौन्दर्य लाती है और अभ्यास से शीघ्र काव्य तैयार होगा है । कथन हुआ फिर कर तैयारी को वाग्देव कारण मानते हैं ।

शाम्भुवर्षाभा वाग्देव की बात को ॥ इत्यान्त के साथ दुहराते हैं । उनका कथन है कि— 'व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से एक प्रतिभा उनी तरफ काव्य के प्रति हेतु है, जिस तरह वृत्तिका और शब्द के सहयोग से गीत लता के प्रतिभा^३ ।' इसका भी अभिप्राय वही होता है कि जैसे लता का बीज उगारक, वृत्तिका पीतक और 'यत् सवर्षकं काव्यं है, वैसे ही कविता का प्रतिभा उगारक, व्युत्पत्ति पीतक और अभ्यास सवर्षक कारण है ।

अब वरिष्ठ राज इस प्रसङ्ग पर कहते हैं कि काव्य का कारण केवल प्रतिभा ही और प्रतिभा के उत्पन्न से दा तात्पर्य है, कहीं देवता अथवा महापुरुष आदि को सम्मन्त्रा से उत्पन्न अदृष्ट और कहीं विष्णुव्युत्पत्ति-अभ्यास^४ ।

अब वरु भा एव विवरणयोग वस्तु है कि प्रतिभा क्या चीज है ? इसके रूप के विषय में भी उक्त आधावी है । परन्तु देवता सम्भेद है । इत्या के हिसाब से 'प्रतिभा' का अर्थ एक प्रकार की बुद्धि है । यही शब्द उल्लेख प्रतिभा की व्याख्या नहीं की है, तथापि प्रतिभा से विन दो विशेषता का उल्लेख जग है उनसे उनका उक्त अभिप्राय स्पष्ट होता है । अन्तर्गत एक अर्थ प्रतिभा का विशेषण 'निर्दिष्ट' कहा है और दूसरी व्याख्या 'पूर्वज्ञानाप्रधानप्रतिभा' । ये दोनों

१ सङ्गीतशास्त्र में भी दिशा वर्तन उत्पन्नित वृत्तवर्षाव्युत्पत्तिका अन्तर्गत प्रस्ताव ।

२ कवित्वमय बीज प्रतिभासम्पत्तौ कवित्वं हि । काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्याप्यन स्यात् ॥

३ 'शक्तिनिपुणता श्लोकशास्त्रकान्त्यवैभवात् । काव्यव्युत्पत्तिश्चाऽभ्यास इति हेतुमदुद्धरे ॥'

४ 'प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु निष्पन्नम् । व्युत्पत्तिरुत्पत्त्याऽभ्यास इत्यादिकवित्वरूपा ॥'

५ 'प्रतिभायै शशाङ्कासम्पत्तौ कविता प्रति उत्पद्यते व्युत्पत्त्यवैभवात् ॥'

६ 'तस्य (काव्यस्य) ॥ कारणं कवित्वं केवला प्रतिभा । तस्याप्यन हेतुः कविदेशदेवतामहापुरुष इत्यन्वयमदृष्टम् । कवित्वं नित्यमव्युत्पत्तिरुत्पत्त्यवैभवात् यतो ।'

ही विशेषण-वर्णन-प्रतिमा का अर्थ अदृष्ट अथवा सम्कार विशेष विद्या नाम—तब मगड नहा हाउ, क्योँक अदृष्ट पुरुष प्रथम ने उत्पन्न किया जाना है, फिर वह नैसर्गिक-स्वाभाविक रूप ही मकड है ? सगरर भी अनुभवजन्य होने से पुण्य प्रयाग-सम्पन्न हा है, स्वाभाविक न है, और वट वासना रूप हो है, वासना गुणानुवन्धी नहीं, अब वट मानना पड़ेगा कि प्रथमा या अर्थ नहीं यदि हा अभीष्ट है ।

पद की ही प्रतिभापरपथायाशक्ति बुद्धि है; हा सचना है, अदृष्ट अथवा सम्कार नहा, क्योँकि द्वितीय मेर उलानशक्ति की उन्हाने चरचित्तजय माना और व्युत्पत्ति स अदृष्ट अथवा सम्कार का उत्पत्ति विद्वज्जन सिद्धान्त-सम्मत नहा है, बुद्धि गुण-का व्युत्पत्ति स उत्पत्ति अनुभवसिद्ध और सिद्धान्तानुसूय भा है ।

वामन ने प्रतिमा की व्याख्या शब्दत की है और प्रतिमा का अर्थ सस्कार माना है^१ ।

सम्मत ने भी कामन की व्याख्या की है उ ही शब्दों में दुहराया है, अउ उनके मत से भी प्रतिमा का अर्थ सस्कार ही सिद्ध होता है ।

राजमठ और दीक्षुपत्रों ने न तो प्रतिमा की शब्दत कुछ व्याख्या की है और न सद्गुणा विशेषण उसमें बोधा है, जिससे यह शक हो सक कि वे प्रतिमा का क्या अर्थ मानत थे ।

पण्डितराज प्रतिमा की व्याख्या में लिखते हैं कि 'जिनसे काव्य इन सन ऐसे शब्दों का उपस्थिति प्रतिमा है^२ ।' इस व्याख्या स सिद्ध होता है कि पण्डितराज के विचार से भी प्रतिमा एक प्रकार की बुद्धि का ही नाम है ।

प्रतिमा की यह व्याख्या उस आत्मनोक्ति स भी समर्थित होती है जिसमें 'उस बुद्धि विशेष का प्रतिमा कहा गया है, जिसके द्वारा मैं नह सज्ज पैदा हो^३ ।'

ये ती बुधे उन आन्वयों के मत अब यदि मैं इन मतों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालता हूँ, तो पण्डितराज का ही मत सबसे तथ्य-पूर्ण प्रतीत होता है, क्योँकि काव्य बनाने में कवि को सुन्दर शब्दों तथा अर्थों की योग्यता ही तो करनी पती है और यह काम बुद्धि-विशेष से ही हो सकता है । एकचन्दनादिके समान अदृष्ट से वह भिन्न रूप में प्राप्त नहीं होता और न गुणात्वरूप सस्कार से ही बन सकता है । हा यह बात मानने योग्य अवश्य है कि हमारी नवनवीन्येपशाक्तिनी बुद्धि के प्रति अदृष्ट और सस्कार कारण हो सकते हैं ।

काव्यकारण के विषय में राजेश्वर ने काव्य-मीमांसा में बहुत सुन्दर और विचार विचार किया है जो मैं पहले भी कह चुका हूँ, अब मैं यहाँ पठकों के ज्ञानवैशेष के लिये संक्षेप में उनके विचारों को उपस्थित कर देना अच्छा समझता हूँ ।

१ 'कविराजस्य बीज प्रतिमानम्' की व्याख्या में वामन लिखते हैं कि 'कविराजस्य बीज सम्कार विशेष वद्विच्छ' ।

२ 'शक्ति कवित्तन्वीनरूप सस्कार विशेष, या किता शब्द न प्रसरेय, प्रसृष्ट वा उपहसनी यम् स्यात् ।'

३ 'सा (प्रतिमा) च काव्यप्रटनानुकूलशब्दाद्योपरिचरति ।'

४ 'बुद्धिर्नवनवीन्येपशाक्तिनी प्रतिमा मता ।'

काव्यमीमांसा के विचार इस प्रकार हैं —

‘काव्यकर्म में कवि की ‘समाधि’ सर्वोत्कृष्ट व्यापार करती है, यह श्यामदेव का मत है। समाधि मन की पराधना को कहते हैं। समाधिव्यवृत्त अर्थों को देखता है। ‘अभ्यास’ काव्य कर्म में सबसे बड़ा साहायक है, यह गङ्गल का मत है। उपाहार काव्य-निर्माण मयास को अभ्यास कहते हैं। अभ्यास मन में सर्वोत्प्रेरक हो सकता है और वह सब विषयों में मनुष्य की अतिक्रमण बना देता है।

वाग्यर (रावरीखर) का मत है कि समाधि मानस और अभ्यास बाध प्रयत्न है, ये दोनों ही मिलकर शक्ति को प्रकट करते हैं और इन दोनों से प्रकट की गई शक्ति ही काव्य का कारण है। यह शक्ति प्रविया और व्युत्पत्ति से बहुत दूर की वस्तु है। शक्ति प्रतिभा और व्युत्पत्ति को उत्पन्न करती है। शक्तिशाली का ही कुछ भागिन होता है और शक्तिशाली ही व्युत्पन्न होता है। शब्द-समूह, अर्थ-समूह, अलङ्कारवत्त और शक्तिशैली सब इसी तरह की अन्य कवितापेक्षित विषयों को जो हृदय में झटका दे, उसी को प्रविया करते हैं। प्रतिभा होने से शिथिल सामने की वस्तु भी श्रोत्र के समान ही रहती है और प्रविमायाक्रिया के शिथिल अर्थों से दूर ही वस्तु की अल्पक के समान ही जाती है।

यह प्रतिभा दो प्रकार की होती है—एक कारवित्री और दूसरी मानवित्री। इन दोनों में प्रथम पुन हीन प्रकार की होती है—सहजा, जाहाना और औपदेशिक। ये दोनों कवि के उपकारक होने में कारवित्री कदाकाली है। भावुद-सहृदयों का अकार करने वाली प्रतिभा मानवित्री कहलाती है। महा कवि के अम तदा अभिप्राय का शान करती है। कवि-व्यपार वृद्ध अर्थों के चरित्रे सफल होता है, अन्यथा वह निष्फल हो जाता है।

कितने सुन्दर है काव्यमीमांसा के ये विचार ? पाठकों को पूर्वोक्त नदों की प्रवेशा इन विचारों में अवश्य नूतनता प्रतीत होगी। इस प्रसङ्ग के और भी बहुतेरे नदों विचार इस पन्थ में किये गये हैं, जिनको मे वही किरदार-अर्थ से उद्धृत नदों कर सका हूँ। जिदालों की उक्त प्रन्थ का अध्ययन करना चाहिये।

रम

रस पर कुछ कहने से पूर्व इत्यकाव्य की उत्पत्ति के विषय में दो शब्द कह देना आवश्यक

१ ‘काव्यकर्मिकि कवे समाधि नर भावप्रयते’ इति श्यामदेव । मन्म ध्याप्रता समाधि । समाहित चित्तमर्मान्तर उपपत्ति । ‘अभ्यास’ इति मङ्गल । अविच्छेदन शी-नमभ्यास । स हि सर्व गामो सर्वत्र निरतिशय कौशलभाषत । समाधिगन्तर प्रकृतो नखररभ्यास । वायुभाषि शक्ति-मुद्रासथत । ता कन्त कन्वे हेतु’ इति वाग्यरीय । विप्रमथिथ (दूरवर्तिनी) सा प्रतिभा व्युत्पत्तिभ्याम् । शक्तिकर्तुके हि प्रतिभा व्युत्पत्तिकर्मणी । उत्कृष्ट प्रतिभापि दातव्य व्युत्पत्तन । वा शब्दप्राममर्थसार्थम-दु-र-व-मुक्तिमार्गमन्वदपि तथाविधमथिदय प्रतिभावसथति ह-प्रिया । अर्थविभय पदार्थसार्थपरिभेद इव, प्रतिभावत पुनरप्यकोर्यत्र प्रत्यय इव । सा हि भा कारवित्री भाववित्री च । कवेर्यकुलाग्र कारवित्री । साऽपि विविधा सहजाऽऽहावाप्येदिकी । भावकतया कुशांग भाववित्री । सा हि कवे अमममिभावथ भावयति । तथा सन्तु कन्ति कवेव्याहारतः अन्यथा सोऽपवेडी स्यात् ’ (का-व्यामगाथा)

है, क्योंकि दृश्यकाव्य के माध्यम से ही मुझे रस का विवेचन करना है और ऐसा इसलिए करना है कि दृश्यकाव्य के द्वारा ही रस का अनुभव स्पष्ट से किया ज्ञान कराया जा सकता है।

हादिक अलन्कारविरह के चरम बच्चों के खेल-कूद ही दृश्यकाव्य की उत्पत्ति के मूल हैं। बच्चे जब किसी श्व वस्तु की प्राप्ति करते हैं अथवा जब उनके किसी व्यक्ति का जिस किसी तरह निवारण होता है, तब उनके हृदय में आनन्द की बाट सी आ जाती है, उस आनन्द का बड़ी रात को वे अपने छोटे हृदय-सरोवर में केन्द्रित नहीं कर पाते। फलतः वह आनन्द हृदय से बाहर आकर उनके उड़-अड़ में फूट पड़ता है—और वे उड़-कूद मचाने लगते हैं, आनन्द के इस प्रदर्शन में उन आनन्दित बच्चों में सहानुभूति रखने वाले दूसरे बच्चे भी सम्मिलित हो जाते हैं। बच्चों का यह आनन्द-प्रदर्शन (उड़-कूद) बड़े अभिभावकों को भी हँसिका ही प्रतीत होता है।

जब लोगों ने इन तरह के आनन्द-प्रदर्शन के दर्शन से अपना मनोरञ्जन होने देखा, तब कुछ वागवक्ता और कल्पनाशील हृदय वालों ने इस मनोरञ्जनक साधन का अनुकरण करके मनोरञ्जन करने की परिपाटी चलाई। पीछे उस युग के कवियों ने इस सम्बन्ध में कुछ और अधिक सोचकर यह तय किया कि यदि इन अनुकृत उड़-कूदों के साथ तबल-तबली बजानी भी रहे तो शीशों का और अधिक मनोरञ्जन हो सकता है। इन निष्कर्षों के अनुसार वे अतीत अथवा वर्तमान कल्पित किंवा सत्य घटनाओं को प्यबद्ध करके उनका अनुकरण करने-कराने लगे जो प्रस्तुत मूल अनुकरण से अधिक रोचक निम्न हुआ। आरंभ या उसी तरह के अनुकरणानुसार प्यबद्ध खेल शीशों में यत्र तत्र दृष्टिोत्पन्न होते हैं।

उन्हीं अनुकरणों का नाम पीछे आकर 'अभिनय' पड़ा। जिस पर पश्चात् अनेक पुलकें छिपी गईं, उसके अनेक भेद (आङ्गिक, वाचिक आदि) किये गये। इस तरह हमें मानना पड़ता है कि उन्हीं अभिनयों के विकसित रूप आज के दृश्यकाव्य (नाटक, ड्रामा आदि) हैं।

मारम्भ में उदाहोह वाले मिथिल जन उन अभिनयों से आनन्दान्वित होकर यह सोचने के लिये मन्त करण के द्वारा विवश किये गये कि नटकीर्ण वस्तुओं में वह कौन सी वस्तु है जिसमें यह आनन्द छिपा रहता है।

उन तर्कशील मानवों की गवेषणा का विषय वह आनन्द ही साहित्यिक परिभाषा में 'रस' कहा जाता है, क्योंकि व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार 'रस' शब्द का अर्थ होता है वह वस्तु-विशेष जिसका आस्वादन किया जा सके^१।

बहुत कुछ सोचने विचारने के बाद उन तर्कशील मनुष्यों ने पहले यह तय किया कि नट अथवा नटी को अभिनय करते देख कर जिस प्रेमी अथवा प्रेमिका का स्मरण दर्शकों को हो जाता है और उन स्मृतिपदाङ्क प्रेमी-प्रेमिकाओं के बार-बार अनुसंधान करने से एक प्रकार का आनन्द अनुभूत होने लगता है, वह प्रेम का आत्मक साहित्यिक परिभाषा में विभाव ही 'रस' है। तदनुसार कुछ दिनों तक यह स्थूल सिद्धान्त प्रचलित रहा कि 'आस्वाद्यमान विभाव ही रस है'^२।

कुछ दिनों के बाद लोगों की विचार-धारा में परिवर्तन हुआ, उक्त सिद्धान्त असंगत मनीत

१ 'रस्यते = आस्वाद्यते इति रस' । २ 'मान्यमानो विभाव एव रस' ।

होने लगा, क्योंकि ज्ञान परिवर्तित विचार-धारा वाले आलोचकों ने सोचा—यदि आत्मन विधान ही उस रूप हो तब उस आत्मन विधाव स्थानीय नम में रति आदि के अनुकूल चेतनाओं के नहीं रहने पर भी उसके दर्शन से आनन्द का अनुभव होना चाहिये परन्तु वह होता नहीं, अतः विभाव रस नहीं है भयान उसकी ने चेतने अर्थात् अनुभाव ही रस है जो पुन पुन मात्मान हान् आनन्द देता है । इस विचार के अनुसार यह सिद्धान्त आपानत विवर हुआ कि 'पुन पुन अनुमथाप्रमाण अनुभाव ही रस है' ।

इस विचार से कुछ समय के लिए लोगों ने मन में कुछ पिपी परन्तु अग उत्तर लोगों को इस विचार में दृष्टि मनीत होने लगी और लोगों की तन्वेषणात्मिका बुद्धि नवीन सिद्धान्त को प्रकट करने के लिए उदयना गयी ।

यह सिद्धान्त ने उपन्योव का कारण यह हुआ कि लोगों की दृष्टि आत्मन विभाव को चित्त दृष्टियों पर पड, उन पर दृष्टि पडन ही उन्हें भाव होने लगा कि ये चित्तदृष्टियाँ ही आत्मन-दशादिनी हैं—विभाव अपवा उनकी चेतने गदा क्योंकि 'त अपवा नगी जाना प्रकार की प्रमाणीय चेतनाओं का प्रदर्शन करके भी तब तक दर्शकों का आनन्दानुभूति नों करा पाने जब तक कि वे प्रमा की हव, आवेग आदि चित्तदृष्टियों का सफ़्त प्रदर्शन नहीं करते जब उन विचारकों ने यह विवर दिना कि पुन पुन अनुमथा का द्वारा न्यमिचारी भाव (दार्शनिक चित्त वर्तिका) ही 'स रूप में परिणत' पाते हैं ।

इस तरह उक्त लोगों सिद्धान्तों का तब क्रमिक विकास हो चुका तब उन मना पर आलोचनायें होने लगी और आलोचना करने पर विदित हुआ कि विभाव अनुभाव और न्यमिचारीभाव इन तनों में से निगमन किसी एक को आत्मन-दशादिन मानना ठीक नहीं, क्य कि वस किमा में समवीय रूप-माधुरी-वेदुर-नद को देख कर ही आनन्द का अनुभव होता है, जो किसी नाटक में नद के अद्विज अमिलनी को देख कर दर्शन मुग्ध हो उठते हैं एवम् किसी नाटक में नद के द्वारा किया गया प्रलोभायों का खिर चित्रण ही लोगों को चमकृत करता है । अतः यह मानना उचित है कि 'रत तीनों भावों में जो नही चमकारी हा वही वही रस है और चमत्कार-हीन हाने पर कोर भी रस नहीं' ।

इसने पर भी विद्वानों की तन्वेषणात्मक बुद्धि विरव गयी हुई, रस-विषयक धरणा का प्रम जारी ही रहा जिससे यह ज्ञात हुआ कि विभाव और अनुभाव की अर्था निरवृत्त्यात्मक न्यमिचारीभाव प्रधात है और अमने प्र रात सात्र तसाई रोष भव निरव्य, सुगुप्सा और निर्वर ये अद भाव प्रधात है, क्योंकि इन आद्यों में से एक-एक भी देखा है, जो मिश्र मिल नाटकों में आदि से अन्त तक मनीत होता रहता है । त्रैसे-ध्वर रस प्रधात नाटक में रति और कृत्व प्रधात नाटक में शोक आदि । अन्य हर्ष, स्मृति आदि ऐमे ज्ञात हुये, जो कभी अनुभूत होते थे, कमा नहीं ।

इस अनुभव के आधार पर उन विद्वानों ने भावों का नाम स्थायी रसा को नाटक मर में प्रदीयमान ये । इसी तरह वे भाव न्यमिचारी कहलये जो कभी कभी अनुभूत होते थे ।

इस प्रकार विद्वानों को स्वाभाविकों का ज्ञान हुआ तब उन्हीं के आधार पर नन लोगों

१ 'अनुभावलया' । = 'न्यमिचारी तथा तथा परिष्कारित' ।

३ विद्यु व पत्र चमत्कारी स पर रस, अथवा त्रयोद्वि न' ।

ने रस की नौ भागों में विभक्त कर दिया। तदनुसार उसके बाद से आज तक शूद्रा, वीर, वरुण, हास्य भगवानक, रौद्र बीभत्स अद्भुत और शान्त ये नव-विध रस सर्वसम्मत होकर प्रचलित हैं। परन्तु रस विभाग क हो जाने पर फिर विद्वानों के मध्य 'रस क्या है?' यह प्रश्न विकट रूप में उभरिष्ठ हुआ, क्योंकि उस वर्णकरण के अनुसार पूर्वोक्त रसस्वरूपबोधक चारों ही मत तथ्यहीन प्रतीत होने लगे।

विद्वानों की वह प्रतापि निष्कूल सत्य थी, कारण यह कि एक ही वस्तु अनेक रस का विभाव हो सकती है, जैसे व्यथ, वीर रौद्र और भगवानक तीनों रसों का विभाव हो सकता है। इसी तरह अनुभाव भी अनेक रसों का एक हो सकता है जैसे अनुभाव, शूद्रर, करुण और भगवानक ये तीनों ही रसों के अनुभाव हैं।

व्यभिचारीभाव भा नियमित नहीं हैं, निम्ना आदि व्यभिचारीभाव शूद्रर, वीर, करुण तथा भगवानक इन सभी रसों के पेशक होते हैं।

अब सोचिये कि रस स्थिति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव इन तीनों में से किसी एक को (चाहे वह चमत्कारी हो अथवा अचमत्कारी) रस कैसे माना जा सकता है, क्योंकि जब ये अनेक रसों में समानरूप से देखे जाते हैं, तब इनमें से एक एक से किसी निश्चित रस को अभि-वर्तक माना हो सकती, अब लोगों ने स्थिर किया कि—'विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव "न तानो का समूह रस है"।' इस सिद्धान्त के अनुसार अब तक दोष का प्रसङ्ग ही नहीं उठ सकता, क्योंकि विभावादि त्रिक में से एक एक भले ही अनेक रस साधारण ही, पर "न तीनों का समूह भिन्न भिन्न रस का भिन्न भिन्न निश्चिन्ना हा रहेगा, अब अब नियत रस की अभिव्यक्ति सम्भव है।

इस न बाद ही मध्यशास्त्रपणेता भरतमुनि का आचिर्भाव हुआ, उन्होंने अब तक जो रस का स्वरूप अभिषेक के द्विकोने में हृष्ट-उष्टर कूल रहा था, उसे निश्चित स्थान पर बैठा कर रस की एक पेशी सुस्पष्टविध परिभाषा बनाई कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग, अर्थात् मिश्रण से स्थायीभावी रसरूप में परिणत हो गया है' १।

सात्ययं यह है कि 'जैसे मोहन विशेषण नमक, तेल आर मसाले आदि नानाविध वस्तुओं से बने हुए व्यञ्जनों क साथ मिलाकर मात जाते हैं और व्यञ्जनों के मिश्रण में मात में एक विशेषण आस्वाद का अनुभव करते हैं वैसे ही विद्वज्जन भाषों (विभावादिशी) और अभिनयों से सम्पन्न स्थायीभावों का आस्वादन करते हैं' ३।

यह सिद्धान्त के मूल में वह समालोचना काम करती है जिसके द्वारा यह विरिष्ठ होता है कि रसि आदि उक्त आठों चित्तवृत्तियों—को नाटक भर में प्रतीयमान होने के कारण स्थायीभाव कहलाती हैं—को विभाव उल्लेख करते हैं, अनुभाव उन आठों वृत्तियों से उत्पन्न होते हैं और व्यभिचारीभाव यदा-कदा उनके साथ रह कर उन्हें पुष्ट करते हैं। अब विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव उनके उपकरणभाव हैं, प्रधान से चित्तवृत्त्यात्मक आठों भाव ही हैं, वे ही अभिनय

१ 'विभावादयश्च समुदिता रसा, २ 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति ।'

३ 'यथा बहुदृश्ययुनैव्यन्वेर्वदुभियुंयम् । आस्वादयन्ति मुञ्जाना मत्त मत्तविदो जना ॥

भावाभिनयसंज्ञानु स्थायिभावस्तथा युषा । आस्वादयन्ति मनसा वरमान्नाट्यरसा मृता ॥

दं अन्वयदादक ह, और कही जाय। मारा का अभ्यास नम सम्बन्ध करते हैं कि ता उर्जा का रम मानना सुविधुक्त है। विमान, अनुभव और व्यभिचारमारा को पूर्व-वृत्त अथवा अनुचित रूप में रस मानना सुविधान अथ सम्बन्धित है।

इस उपरान्त रस के विषय में भारतीयों की उक्त प्रथम का प्रयोगमूल मानव सम्बन्ध व्यापक आत्मिक है। म लोकात्, सुकु, मानव्यत और अभिनव के ये चार आचार्य परममय क प्रथम व्याख्याकार हुए। यद्यपि अभिनवकृत 'न चारक मरम' वान आचार्यों के व्याख्यायक आत उपरान्त महा टीके, उत्कर्ष काव्यप्रकाश आदि साक्षात्कार प्रथा में उनका मना का अनुवाद नामाग्नीध्रवृत्त विशय मारा है किन्तु वह अनुमान किया जा सकता है कि विना गुण में उन जांचियों के द्वारा रचित नामाग्नीध्र के व्याख्या प्रथ उपरान्त हो गए।

उक्त चारों आचार्यों ने सम्बन्धी मानवमूल का भिन्न-भिन्न व्याख्या की है। १। आचार्यों में महात्मता का वर्णन पर प्रथम आचार्य का प्रथम किया गया है, एक तो उन आचार्यों का रसात्मक बोध क्या है? अर्थात् उनके का अर्थ प्रथम म है 'अच्छ, अनुभव' - इन्द्र, आदि उनमें प्रथम का काल ही 'न हाता' - 'अथ उपर रस पर कि कि म क हूँ अनुभव होता है, वह वस्तु रस म रता है' 'अथ उपर रस पर कि कि म क हूँ अनुभव होता है, वह वस्तु रस म रता है' 'अथ अनुभव का अर्थ है कि विना गुण में'।

इन चारों ही मतों का समन्वय उनके मारा आचार्यों के मारा म न कृत्य की रानी अन्ता व्याख्या में किया है।

(१) प्रथम आचार्य 'म लोकात्' न क्या है कि रस वस्तु अनुभव रसात्मक में ही रहता है, परन्तु म आदि अनुभवों में भा रस आदि के आचार्य के बोध के मारा म कने है इनके मत के अनुसार रस का अर्थ 'मानविकक रति है सुक ५' (न) 'रस है अर्थात् रूप में होता है जो प्रत्यक्षानुभव' और 'सुखित्वात्' के अन्तर्गत मानने में उपरिष्ठ 'विनाप्युक्त' अर्थ में सौक्य तथा मानने में अनुभवित्त आचार्य के अर्थ प्रथम माना गया है। इतनी व्याख्या भीमात्मक के अन्तर्गत माना गया है।

(२) द्वितीय व्याख्याकार 'अथ उपर सुक' का अर्थ का मत ठाक नरा गया। इनके मत में मयगतान विद्यात्मक आचार्य और सुइत्यमान के चार प्रकार के मान प्रतिष्ठ हैं। 'वद रान ही है', 'वद रान है और 'वद रान है ही' ये तीनों अर्थ सम्यग्मत हैं। इन तीनों मतों में प्रथम 'वद रान न हात' का 'वद रान अनिरक्त अन्य विना के रान राने का' और 'वद राने का' का रान न 'गुणे का' अन्तर्गत होता है। इहा विद्यात्मक का अर्थ उपोपव्यवहार, अन्योपव्यवहार तथा अन्वयव्यवहार का अर्थ है।

'वद रान ही है' का अर्थ क उत्तरकालिक वाचकन से पूर्वकाल में होने वाले यह रम है। वाद के रान को निश्चित मानते हैं। 'वद रान है वा नहीं' यह प्रकार के अनधिकारक विवेकप्रदायकही अर्थ को मयगतान करते हैं। यह रम के अर्थ है 'वद रान' के अर्थ का सार्वभौमिक मान करते हैं।

परन्तु अभिनव के मत का उपरान्त भी उसमें यह रम है। अर्थात् अर्थ का अर्थ है, वह उक्त चारों मतों से भिन्न है, वह सभी तरह का अर्थ है। अर्थ उपर का अर्थ निम्न में वाद का उपर 'वद रान है' अर्थात् रूप से होता है।

एतदृश के दान के द्वारा नर को राम आदि सम्यक् होने पर अभिनव विपुल नर व कौशल में स्वाधीनता के बरतण कार्य और सहकारी अथवा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव कृति होने पर भी स्वाभाविक प्रतीत होने लगे हैं और तब सद्दय ममानिक रामादि वृत्त होकर विषय रति की अनुमिति नर में वर एतदृश जैसी अनुमिति का नाम रस है। रस नर व अनुभव वस्तु रस अनुकार्य में ही रहता है, परन्तु उत्तम आम्बादेन अनुमिति द्वारा सान्निध्यों का हाना है अतः सामाजिकों में रस है' ऐसा व्यवहार भा विश्व नाम है। रस इस मन में अनुभवात्मक सिद्ध हुआ। इसका मूल व्यावहारिक से मनापिन मन्ना जाता है।

(३) भरतमूत्र के तृतीय व्याख्याकार भद्रनाथक को यह मन भी पसन्द नहीं आया। उन्होंने कहा—वाक्य के उल्लास होते हैं अथवा मानना और मोगक व रसने से प्रथम व्यापार के द्वारा वाक्य के वाक्यार्थ प्राप्त होते हैं। द्वितीय व्यापार से रस, साक्षात् आदि व्यापार पर साधारण कर दिये जाते हैं अर्थात् व्यक्तित्वोपभोग—राम व सीताए आदि से रहित होकर केवल भावनायिका आदि के रूप में उपस्थित करना पड़ेगा तब ही और मुख्य व्यापार के अन्तर्गत रस का अनुभव होता है। परमात्मत आनन्द में विषय ही मोग है अतः वही रस है। इस मन्त्रक अनुसार रस सामाजिकों में रहता है जो मन्त्रक नाम आत्मसाक्षात्काररूप है। यह मन्त्रक अनुसार अनुभव कहलाता है।

(४) भरतमूत्रक व अनुभव व्याख्याकार आचार्य अभिनवराज का मन रस के विषय में सर्वथा मान्य है, अतः वह मन्त्रक भी आज तक मन्त्रक मन्त्रक नामके अधिन है। उन्होंने मन्त्रक के मन में भी दास दिखाना कर कहा कि विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारीभावों में अन्तर्गत अर्थात् व्यभिचारीभाव के द्वारा दास रति आदि स्वाधीनता रस है, इस मन के अनुभाव सामाजिकों का हाना में वास्तविक रूप से स्थित अपना रति आदि विवृत्तियों ही रस रूप का मन्त्रक है, रस रस मन के अनुभाव शब्द है, पर शब्द एतद्वर भी सामान्य रूप है जैसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यमन्त्रक शब्द होकर भी सामान्य रूप है।

बृहन्नरीन विद्वानों का बदन है कि वाक्य-व्यवहार अथवा मन्त्रक दान से विभावद्वि के हान हो जाने पर सद्दय पुरव व्यञ्जनकृति के द्वारा रामादिक सौन्दर्यरति का मन करते हैं तदनन्तर सद्दयप्रतिष्ठाना पुन पुन अनुभवान रूप वास्तविक वास से सान्निध्यों उभय शोभाओं का अन्तर्गत आनन्दकृत ही मन्त्रक है, निरुत्तम कदाचित्क आत्मा में हान में शरीर व समान अनिर्वचनीय रति आदि स्वाधीनता उपभोग ही जाते हैं और उन्का सद्दयों को उन्तर्वचन के साथ अनुभव होता है वही रति आदि का नाम रस है।

अन्य विद्वान् कहते हैं कि राम आदि की रत्नादि रस करने के लिये व्यञ्जना की आवश्यकता पड़ती है न अनिर्वचनीय रति आदि की कल्पना कर ली व्यञ्जनकृति है। अथिलेण मन्त्रकों को वहा आदि से सीता आदि की रत्नादि राम आदि में अनुमिति होती है और तदनन्तर उक्त भावना मन्त्रक दोर से अपने जो रस आदि समन्वये बाटे सद्दयों में एक धन उपभोग होता है कि 'सामाजिक रतिवाला राम हूँ' इसी अर्थ का रस समन्वय चाहिये।

इस तरह रस के विषयमें ११ मन्त्रों का उन्मुख वर्णनराजन अपने रसमन्त्र में किया है और प्रथम तीन मन्त्रों को छोड़ कर उेष नौ मन्त्रों में मन्त्रक का समन्वय भा विवृत है। परन्तु

लेख्य, गुरु, मन्नायक और अभिनयगुरु के मर्तों से मित्र मर्ता भी क्या अथवा नहीं दोस्र पत्नी, अतः मुझे ऐसा मान्य पड़ता है कि कर्णभरण न खरुम् उन मर्ता का आचिचार अपनी मखर मरिमा के द्वारा किना है ।

रसों की सरया के सम्बन्ध में मी नाना मन-वेद हे अथक लोग पूर्वोक्त नौ रस मानते हैं । किन्तु कुछ लोग ऐसे भा हैं जो शान्त रस नहीं मानते विशेषकर गान्ध में उतको असम्भव कहते हैं ।^१

मनूयुत केवल कला रस को ही मानते हैं और अन्य रसों को रसा के विरुद्ध कहते हैं । धाराधराधीन भाव केशव शृङ्गार का हार गत कहते हैं और अन्य रसों में मन्त्रमन्त्रि का वेत्तुय दूक कहते हैं । भागवत परिचय अन्वय के रस मान के अन्य रसों का प्रामाण्य करते हैं ।^२

अग्निपुराण में रस का विचार कुछ भिन्न हो सका का उल्लेख होता है । उनमें कहा गया है कि विद्वान्तराज के द्वारा आ करके लम्ब परब्रह्म प्रतिपत्ति हुआ है उसमें महान् मानन्द रिचमान है । वह आनन्द किम किमी समय पर प्रकट गत है । उनी आनन्दामिच्छिकी की वेत्तुय चमकार और रस कहते हैं । उस आनन्दामिच्छिकी का प्रथम प्रकार का अङ्कुर है उस अङ्कुर का अभिमान (ममता) उत्पन्न होता है जिम मन्ना म समयत विगोकी आशङ्क है उसी मनता मे राग (मन) उत्पन्न होता है । वही रसि व्यामचारामावा को समानता से पुष्ट होकर शृङ्गार रस कहलाती है । रसों के तात्पर्य अदि अनेक मिर हैं । वहा रसि सम्वादि गुणों के मसर से राग, ताडयता, गद भी मकोच इन चार रूपों में परिष्कृत होता है । उनमें राग से शृङ्गार की उद्भवात् से रसि का, गद से नीर का जो तक्वेच मे शोभस की उत्पत्ति होती है । अतः स्वभाव से चार ही म हैं किन्तु अनन्तर शृङ्गार से दस, रीद्र से कल्प, नीर से अरुण और धामन से भगन्क की सृष्टि हुआ गया गत के मभाररूप निवद से शान्त की सृष्टि हुई ।^३

१ 'शान्तस्य धामसन्ध्यवन्तश्च तदसमवायुः अष्टाशेव रसा नाम्ये च शान्तस्तत्र युज्यते ॥

२ 'एको रस कल्पेन च निमित्तमेवाद् भिन्नान् पूर्वकू पूर्वगशाशयते विषयान् ।

आवनतुदुदुद-राङ्गमयान् विकारानभो यथा सल्लिमेव च तत्समन्म ॥'

३ 'शृङ्गारकारकापाद्भुजरीद्राह्व-बीभमन-लभपालकज्ञानतान्म ।

आन्नासुदुर्द्वारान् सुधयो वय तु शृङ्गारकेव रसनाद् रसमामनाम ॥'

'नीरसुगादियु च येर रसप्रसिद्धि सिद्धा कुगादियु चतक्युवदात्रिमार्ति ।

एक गदानुगातक्युवदात्रिमार्तिवितुमेव परिश्रमा न ।'

४ 'रस सारक्षयकार स्वैकाभ्यनुभवः । तच्छमकारमारते सर्ववाय्दनुजो रस ॥

रसाद्दुदुदुमेवाह कृती नारायणा रसन् ॥'

५ अत्र ब्रह्म परम सनातनमत्र विदुन् । वदन्त्येवु वदन्त्येक चन्द्र्य ज्योतिरीदवरन् ॥

अनन्द सद्गन्तुस्य व्यच्यो स वदावन । व्यक्ति सा तस्य चैतन्यधमत्कारसाहया ॥

आधत्तस्य विकारो य साङ्कार इति सृष्ट । तयोऽभितानस्तपद भमास भुवनवपन् ॥

अभिमानान् रति ॥ च परिषयगुपुषी व्यभिचदाशामान्यच्छृङ्गार इति गोदते ॥

गुण

इस प्रकरण में मुने निम्नलिखित चार गुणों का विवरण करना है। (१) गुणों की संख्या (२) गुणों का नाम्य में स्थान और (३) गुणों का लक्षण ।

(१) गुण-निरूपण-परक-भारों को प्रधानतया दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, एक प्राचीन का मत, दूसरा नवीन का मत । नवीन-मत में गुणों की संख्या निश्चित हो गई है परन्तु प्राचीन मत में इनका सरवा सरवा अविश्लेषित है ।

प्राचीन मत में प्रथम आदिश्वार भरत ने श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, शोभ, सुकुमारता, अर्थव्यक्त उदारता और वाग्मि ये दस गुण माने हैं^१ ।

अतिपुराणकार ने श्लेष, आत्मत्व, साम्प्रदाय, सीमापूर्व उदारता, समता और वैशिकी के साथ दशगुण^२ माधुर्य सविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढि और सामयिकत्व ये छ अर्धगुण^३ परम प्रसाद, सीमाव्यवस्था उदारता पाक और राग ये छ उभय गुण-अर्धार्थ शब्द और अर्ध व्यक्तियों के गुण^४ प्रसाद उच्चोत्तम गुण कल्पये ॥

वामन ने प्राचीन मत के अनुसार गुणों का विवरण विशेषतः किया है । प्राचीन मतों में सबसे अधिक प्रचार इहाँ के मत का हुआ, अतएव परवर्ती मन्त्र आदि आचार्यों ने इहाँ के मत का जन्म अपने अपने मतों में किया है । इनके हिसाब से गुणों की संख्या बीस है, जिनमें दस शब्द गुण और दस अर्धगुण हैं। जो नाम दस शब्दगुण के हैं, वे ही अर्धगुणों के भी होते गये हैं, किन्तु अज्ञान से भेद बर दिष्ट गये हैं । वे नाम हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य सुकुमारता, अर्थ व्यक्त, उदारता, शोभ, वाग्मि और समता^५ । प्रकृत पुस्तक में वामन के मत का बहुत सुन्दर निरूपण किया गया है ।

मीरगाज ने वामन के दस शब्दगुणों के अतिरिक्त उदारता ऊर्ध्वता, प्रेमान्, सुशब्दय, सुश्रुता, गन्धारता, विरार, सदोष अतिक्रम, भाविक, गति, राशि, रक्ति और प्रौढि के बीसद्वय गुण मानकर श्लेषी संख्या चौबीस कर दी है^६ ।

सुमेधे चर्ममत्तो ह्यभाषा अप्यनेव ॥ १३३३-वाविशिशे संत्वरीरपोषत्र ॥
 सत्तादिगुणसन्धानाज्जाकन्वे परमहमन । शान्ताञ्जनवि श्वाशो रौद्रस्मैदव्यात्रमावते ॥
 बीरोज्जवृम्भन सर्वोचमूषमिस इच्छेत् । श्वाशो रौद्रान्मावते क्षातो रौद्रान्मावते रस ॥
 बीराचवाद्भुतनिर्घटि स्यात्स्वीभ्रस्तान्कानक । श्वाशो रौद्रान्मावते क्षातो रौद्रान्मावते रस ॥
 वामनस्तद्व्युत्पत्तयः ॥ १३३३-कुरारता । स्थमाग्नि विना स्थामान् रागो भाति नीरता ॥

१ 'श्लेष प्रसाद समता समाधना पूर्वभोज परसोत्रुमायन ।

अर्थस्य च व्यक्तिकरता च काचित्थ कान्वास्यगुणा दर्शते ॥' (नाट्यशास्त्र)

२ श्लेष नाट्य-व्यक्तयाम्ये सीमापूर्वसुकुमारता । मध्येव यौक्तिक्य चरित सुष्ठु चम्पक्य समथा ॥

३ माधुर्य सविधान च वामनपरमुदारता । प्रौढि सामयिकत्व च उदारता च चकारति ॥

४ तस्य प्रसाद शोभस्य वयासस्वमुदारता । पाको राग इति प्राधि च्च मयज्ञा मपञ्चिता ॥

५ श्लेष प्रसाद समता माधुर्य सुकुमारता । अर्थव्यक्तिकुमारता वाग्मिउदारताचमुदारता ॥

६ श्लेष प्रसाद समता माधुर्य सुकुमारता । अर्थव्यक्तिकुमारता वाग्मिउदारताचमुदारता ॥

इसके अतिरिक्त दण्डा, वाग्मत् और वीर्यवर्ष ने भी गुण पर लेजनी चलाए हैं परन्तु इनके मतों में कोई खास नवीनता नहीं है। दण्डी और वाग्मत् तो भरत मूल के एक तरह से अनुना मात्र हैं। वीर्यवर्ष ने भरत के गुणों में से कान्ति का शृङ्गार-रस में और कर्णव्यक्ति को १ लिपे गुण में गतार्थ मानकर उनकी सख्य दश में बटाकर आठ कर दी है।

इस प्रकार इन प्राचीनों में गुणों का सख्या में ही मतभेद नहीं है, अपितु ^{गण का भी} परस्पर बहुत अधिक मत-भेद है। फलतः वही कान्ता पन्ना है कि इन आचार्यों के सम ^{विषय उन} सख्य में पूर्ण विचार नहीं किया गया एक ने दृशो क कथन को निष्पक्ष समझनेवाला नहीं ^{चला-सुख-} जिसके मन में जब जा बात आठ, उन्नी का उमने जान ग्रथ में लिखा दिया, जिसका रूप हुआ कि इनके समय तक गुण के विषय में अराजकता की भा अभ्यसि बना रहा।

गुण के विषय में नवम मत के आधिपत्यक प्रथम आचार्य भामह हुए। इन्होंने प्राचीन ^{रचना उस} की अत्यधिक समझोचना करके विवर किया कि गुण तीन हैं—जोष, मसारा और माधुर्य। ^{की अस्वादि- अग्नि के}

भामह ने त्रिगुणवाद का स्थापन ही किया, परन्तु ^{आ मूल का पूर्ण} प्रचार हुआ धर्म में। मम्मट ने प्राचीनों के कथित गुणों को त्रयोपमावस्थ कुछ का ^{रसि और गुणामूल} अरचना तथा कुछ को वैचित्र्य मात्र रूप प्रमाणित कर दिया और शेष का इन्टा तीनों गुणों में ^ग दिया। तब से आज तक इनी त्रिगुणवाद का प्रचलन है। पण्डितगण ने भी गुणों का सख्या के ^{व और} में मम्मट का अनुगमन ही किया है।

(२) काव्य में गुणों का क्या स्थान है इसके विषय में रामन तथा भाम का कथन है कि 'काव्य सुरती के रूप के तुल्य है, क्योंकि जैसे युवता का रूप शील पान्तिव्य आदि अच्छे गुणों में अच्छे-अच्छे अलंकारों के योग से अधिक आकर्षक होता है, वैसे ही काव्य भी माधुर्यदिगुणों में अनुमास तथा उपमादि अलंकारों के सम्बन्ध से अधिक शक्तिर होता है, परन्तु गुणहीन पौनःपुन्यहीन नायिका के शरीर के समान है, उस स्थिति में नव-विषय अलंकार भी असीतिकर जाते हैं।' इसमें यह सिद्ध होता है कि काव्य में गुण अलंकारों की अपेक्षा अधिक अपेक्षित वस्तु है।

भोज ने इस बात को और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है। वे कहते हैं—'सालकार होने पर भी गुणहीन काव्य सुनने योग्य नहीं होता। क्योंकि गुण और अलंकार का योग में गुण का योग प्रधान है।'।

बोद्धव्यं शब्दार्थोक्तिव्य भेदात्प्रयत्नं शृङ्गारमत् । तद्वत्समाधि सौन्दर्य च गाम्भीर्यमथ । वस्तुतः ।
 मस्यैर सभन्तः च भाविकान् नतिवन्था । रानरक्तिन्था नीति स्याद्वि ।
 (सरस्वतीकण्ठामर)

- १ सुवर्णरथ रूपमङ्गलान्य म्बदते शुद्धगुण तदप्यत्र ।
- विहितमपय निरन्तराभि म्बदत्कारविकल्पनाभि ॥
- वदि भवति वचश्च्युत गुणोभ्यो वपुरिष यौवमबन्धमइनाथा ।
- अपि अनदयितानि दुर्भंगल निवन्तमलंकार्यानि सधयन्ते ॥
- २ अण्डनमपि अन्य न काव्य गुणवर्जितम् । गुणवोक्तव्योन्मुखो गुणाकारयोगयो ॥

काव्यशास्त्र आदि में भी काव्य में अक्षरों की अपेक्षा गुणों की मुख्यता स्थावर शैलीके वे कहते हैं कि गुण सांगत्य रस को लक्षण बनाते हैं और अक्षरकार रस ब्रह्म

माचीरी
प्राचीन म
प्राची
सुकुमार
अभि
काव्यगुण
मसाद,
नौनों के

उत्प्रेचन से यह लिखव इतरण ॥ काव्य में गुणों वा रसान अलंकारों से ऊपर और रसादि अलंकारों से नीचा है

उनके लक्षण व सवन्त में भी गिदानी का ऐकमत्व नहीं है । भरत दोषों का निरूपण है कि इन दोषों के विपरान जो कुछ वस्तु है वे गुण हैं १ ।

सांगत्य कहते हैं कि काव्य में विपुल शोभा को चमकने वाली वस्तु शब्द गुण है १ । यशस विनी वस्तु वा उच्छ्वस शानेवाणी चा । अर्धगुण है २ । और 'शब्द तथा अर्ध' शब्द रस तो हा वह शब्दायोमेव गुण है ३ । का अर्थ है कि जो वस्तु विचित्र रचना का माण हो, वह गुण है ४ । वाचन करते हैं शोभा नामक धम गुण है ५ ।

उके अन्तर पर गदा उपपन्न दुः खि चर शब्द और अर्थ को उल्लेख बनाने वाले पदार्थ विशेष और उल्लेख भी हैं जब इन दोनों में भेद क्या है ?

उत्तर में वाचन ने कहा कि काव्यशोभा में अमदाक अर्थ गुण है और उच्च शोभा को अर्थ गुण माने व ले परम अलंकार है १ ।

रसु आनन्दजनकं इति भाषितम् । अथवा नाराद के अनुसार रसादि अक्षयकम्यक्यों की रसना स्थापित हो जाने पर गुण के विषय में लोगों का मत बदला और मम्मट ने कहा कि शब्द शोभा आदि के समान काव्य में उद्धोभूत रस (अस्वच्छकम्यक्यकार) के उच्छ्वस धर्म गुण है । यह गुण काव्य में अवलम्बित-अर्थात् अन्तर रहने वाले है ८ । रस कथन से गुणाङ्कार में अर्थ भेद भा सिक हो जाया—अर्थात् रस के धर्म और वाच्य में नियमन रहनेवाले गुण और शब्दाय के धर्म तथा अनियमित रूप में रहनेवाले अलंकार हैं । एतन्मूलक ही ध्वनिकारानुवादियों का मत कथन है कि शब्द तथा अर्थ वाचन के शरीर हैं, रस आदि आत्मा हैं, गुण शूरा आदि के सतत हैं, शोष बाल आदि के तुल्य हैं और अलंकार कंकणुष्णलादीनों के सदृश हैं ९ ।

यह तो दुःख गुण के सामान्य लक्षण का बात, अब विशेष लक्षण की ओर चलिये । माचीरी के गुणों के उपपन्न हो जाने के बाद निम्न सिद्धिवाद की स्थापना नवीनों ने की उसके अनुसार भाष्य, शील और प्रसाद ये जो तीन नाम गुणा के रखे गये, उसके मूल में कौनल-कठोर

- १ 'गुणा विपर्यय दयात्' । २ 'य काव्य मरदां लक्षणागनुगुणाति असी गुण' ।
- ३ 'उच्चमानस्य प्रन्देन यस्य वस्यसि वस्तुन । उच्छ्वसमावृच्छर्षी गुण इत्यभिधीयते ॥'
- ४ 'शब्दायां उच्छ्वसः शो नान्मोदवगुण स्मृत ।'
- ५ 'एते वैदभमागस्य प्राणा दश गुणा स्पृष्टा ।' (काव्यादर्श)
- ६ 'काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा ।' (अलंकारसूत्र)
- ७ 'काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा' तदविशयदेवतरस्तलकरा ।
- ८ 'ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शीर्षदिव स्वाध्याय उच्छ्वसहेतवस्ते स्वरचन्द्रियतयो गुणा ॥'
- ९ 'काव्यस्य शब्दायो शरीर रसादिश्चात्मा, गुणा शीर्षादिक, अलंकारा वस्तुकुण्डलादिव ॥'

और सद्यर्पक यह रचना की विविधता है, यह समझ कर कुछ लोग गुणों को रचना-वृत्ति ही मानने लगे ।

परन्तु आगे चलकर जब यह विभाग दिया गया कि शृङ्गार, कण्ठ और शान्तरसों के लिये कोमल, वीर, रौद्र और नीमस रसों के लिये कठोर तथा सभी रसों के लिये सङ्गत रचना आवश्यक है, तब इन रचनाओं से युक्त रसों के आस्वादन से मन पर पड़ने वाले प्रभाव का भा अन्वेषण किया गया, जिससे यह निश्चय हुआ कि कोमल-रचना-युक्त-रसास्वादन से चित्त द्रुत होता है, कठोर-रचना-युक्त-रसास्वादन से चित्त जदीस होता है और सङ्गत-रचना-युक्त-रसास्वादन से चित्त विक्राम्य होता है ।

कुछ और अधिक सम्मीर आन्वेषण करने पर यह भी ज्ञान हुआ कि चित्त पर एक प्रकार के प्रभावों को टाँपने वाली रचनायें नई हैं वरन् रस हैं, क्योंकि विकृत रस में विकृत रचना उभर कर ही प्रभाव नहीं डाल पाती । फलतः यह निर्णय हुआ कि कोमल रसों में रहनेवाली अज्ञान रता हा माधुर्य, कठोर रसों में रहने वाली उदीपकता ही ओज है और सुष्केन्दन में अग्नि के समान धीन चित्त को व्याप्त करने वाली विक्रमकता ही प्रसाद है ।

रत तरह यह सिद्ध हुआ कि गुण वस्तुतः रस-भेद हैं परन्तु आरों के द्वारा 'यह रचना मधुर है' इत्यादि व्यवहार भी होते हैं ।

पण्डितराज के विचार से दुर्लभ हींसि और विक्रम ये चित्तवृत्तियाँ ही क्लम माधुर्य, आत्र और प्रसाद गुण हैं, रत उनके प्रयोजक हैं, अन प्रयोनकता सङ्ग से रस में भा से गुण रहने वाले हुए स्व पर 'रस मधुर है' इत्यादि व्यवहार किये जाते हैं । एक वान उन्होंने और कही है, वह यह कि जिस तरह रस गुणों के प्रयोनक होते हैं, उमा तरह शब्द, अर्थ और रचना भा, अन उनमें ना प्रयोनकता सङ्ग से वे गुण रहने ही हैं, फिर व्यवहार के द्वारा 'शब्द मधुर है', 'रचना मधुर है' इत्यादि व्यवहार को सिद्ध करने का प्रयास अर्थ है ।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ सैङ्ग ब्राह्मण थे । इनका पिता का नाम पेरुमट्टर अथवा परमभट्ट था । इनकी जन्मी लक्ष्मी नाम से प्रसिद्ध थी । इनके पिता पेरुमट्टर अर्थात् विद्वान् थे । उन्होंने इन्द्रेन्द्रभिषु नामक किसी सन्यासी से वेदान्तशास्त्र का, महन्त नामक विद्वान् से न्यय तथा वैशेषिक दर्शन का, सुन्दरदेवोपाध्याय से पूर्वमीमांसा का और शेषवारेस्वर पण्डित से व्याख्यान महाभाष्य का अध्ययन किया था । इतना ही नहीं, इन शास्त्रों में भिन्न भेदादि शास्त्रों में भी वे परम प्रवीण थे ।

पण्डितराज ने अपने सर्वविधाविशाख पिता में ही सब विषयों का अध्ययन किया, परन्तु अपने पिता के गुरु शेषवारेस्वर से भी प्रायः कुछ पढा था, ऐसा माना जाता है, क्योंकि 'महाभा

१ '...तैत्तिह्युपाखरसेन पण्डितजगन्नाथेन' (आसफगिनास का आरम्भ)

२ 'त नन्दे पेरुमट्टरस्य' (१० ३) ३ प्राणाभरण में

४ लक्ष्मीकान्त महाशुक्ल' (५० ३) ५ 'श्रीमद्दशाने द्भिषु' इत्यादि (५० ३)

६ रसगगाधर के 'सर्वविधाधर' पद से सूचित होता है ।

कुचमर्दन' नामक अपने ग्रन्थ में शब्दितराज ने अपने गुरु के रूप में उनका स्मरण किया है ।

शब्दितराज स्वयं भी सन शास्त्रों में प्रगाढ शब्दित थे, विशेष कर दर्शन और साहित्यशास्त्र पर इनका अद्भुत अधिकार था । इस बात की पुष्टि रसकदांबर में रथान-स्थान पर व्यक्त किये गये विचारों से होती है, अथ इसकी पुष्टि ॥ छिये प्रयाग्यान्तर की आनन्दवक्रता प्रतीत नहीं होती ।

शब्दितराज अपने गुरु के विद्वानों में सर्वाधिक माध्यशाही समझे जा सकते हैं, क्योंकि ये युवावस्था में ही अपनी विमलविद्या के प्रभाव से उन्कालीन बहदशाह शाहजहाँ के हुमा-राज हुए गये और उन्होंने 'शब्दितराज' की उपाधि प्राप्त कर उन्हीं के आश्रय में अपनी युवावस्था को सुसूचक बिताये । शाहजहाँतम्य दाराशिकोह का वर्षान शब्दितराज ने अपने 'मगदाभारत' नामक शिष्य में किया है, अथ दाराशिकोह की कृपा-कथा में भी इनके जीवन का कुछ अंश अतीव हुमा या जेसा भी लोगों का अनुमान है ।

स्थितिकाल

बहु निश्चित है कि शब्दितराज शाहजहाँ के दरबार में बहुत दिनों तक रहे और शाहजहाँ के दिवस में इतिहात पतागमा है कि १६२८ ई० में उसका साम्याधिक हुमा और १६५८ ई० में अपने पुत्र औरजनेर के द्वारा वह कैद कर लिया गया तथा १६६६ ई० में मर गया अथ बहु निश्चित होता है कि शब्दितराज का भी स्थितिकाल नहीं है । हाँ, बहु सम्भव है कि शाहजहाँ के मरण के बाद भी शब्दितराज अपनी स्थिति से इस भूतक को कुछ समय तक न्याय करते रहे हों ।

किंवदन्तियाँ

शब्दितराज के विषय में अनेक तरह की किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं और सभी किंवदन्तियाँ कुछ अंशों में मि-म होने पर भी बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं, अथ उन किंवदन्तियों में उष्य अवश्य होगा देखा मेरा व्यक्तिगत विश्वास है

कुछ लोगों का कथन है कि शब्दितराज अछयन के बाद आरम्भ में जबपुर आये और वहाँ उन्होंने एक पाठशाला स्थापित की और वही दिल्ली से आये हुए किस्ती खानी की, मुसलमानों के मन्त्रहवी प्रयोगों की शीघ्र उन्कर विवाद में पराल कर दिया । अब बहु कानी जयपुर में छोटकर दिल्ली गया तब बादशाह के आने उसने शब्दितराज की बड़ी मर्ता की । बादशाह काजी के मुख से शब्दितराज की मर्ता सुनकर मसूम हुमा और शब्दितराज को दिल्ली कुल किया ।

विशालतम्य दिल्ली दरबार में बादशाह के हुमामान बन हुए शब्दितराज विभी धन-कन्या पर आसक्त हो गये और बादशाह की अनुकम्पा से उस यवनी प्रगरी के धार परणि-ग्रहण करने में भा समर्थ हुए । इस तरह रहने के अपनी युवावस्था बादशाह के आश्रय में ही सुसूचक बिताई । परन्तु इह होंने पर उस यवन प्रयोगों को साथ देवर ने काशी चले गये । किन्तु काशी में अथ दक्षिण आदि विद्वानों ने 'यवनी-सप्तर्षि-दूषित कट कर इनका बहुत अपमान किया और नविच्युत भी कर दिया ।

१ अमरदुर्गशब्दितराजराजम् (मनीरगानुचमदन)

२ 'दिल्ली-वन्दना विनायकवने नील नवान नय' (माहिनीविवात)

काशी में पवित्रतराज अपने को पवित्र सिद्ध करने के लिये यज्ञ-उत्तर पर सब से ऊपर की सीढ़ी पर बैठाकर उत्कृष्ट रचित स्वकीय पत्रों से (जिनका संग्रह यज्ञावहरी नाम से प्रकाशित है) गंगा की स्तुति करने लगे । आपकी स्तुति से गंगा भी उत्सन्न होकर मति पत्र पर एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ती हुई बारनवीं पत्र पर आपके निकट पहुँच गई और यवनकन्या छद्मि आप गंगा नर के पावन गठ में समाविरण हो गये ।

ईशानु काशापत्नी पण्डित-गण्डक पण्डितराज के इस चमत्कार की देखकर चकित हो गये और उसी दिन से सभी पण्डितराज की स्तुति करने लगे ।

कुछ लोग कहते हैं कि—बादशाह की छुप से बहुत सम्पत्ति राकट पण्डितराज धने-मत्त हो गये, यौवनकर में उस सम्पत्ति ने पुराहुति का काम किया, उनकी विवेक-न्योति छुप हो गई और वे अन्ध होकर निज्जी यवन-तस्वी पर आसक्त हो गये । परन्तु कुछ ही समय के बाद इस यवनी की मृत्यु हो गई । उसके मरण से पण्डितराज के हृदय पर कभी बोध लगा, दिलीपी भी वहाँ अभिप प्रतीत होने लगी, अतः वे दिलीपी छोड़ कर काशी चले आये किन्तु काशी में भी उन्हें शान्ति नहीं मिली, अयसी का विरह तो उन्हें सदा ही रहा था, साथ ही साथ काशी के पण्डितों ने भी उन्हें सताता आरम्भ कर दिया । यवनी उत्सर्ग की रात छुप कर काशी के पण्डित शान-शांत में रक्का अनादर करने लगे । अन्त में पण्डितराज अपने जीवन से उन्नत गये और यवनी की उमरगी हुई यज्ञा की धारा में स्व निर्मित यज्ञावहरी का पाठ करते हुये दू-पदे-दूब मरे ।'

एक किंवदन्ती यह भी है कि—'इन्द्रादत्तार में एक दिन काशी के यज्ञ-उत्तर पर पण्डितराज अपना यवन-मेघवी को बगल में दबाये छोड़े थे और उनकी शुकल शिखा छुड़िया से जीधे छटक रही थी, कुछ बल से दबा था । शरीर उन्नत उन्नत से अल्पवदीक्षित उसी घाट पर खान करने के लिये आये और एक कूद का देसा मिच्छ आचरण देल कर कूद गये —

'किं निश्चय्य शीघ्रे शीघ्रे यथास त्वमागतो मृत्यां ?'

'इत शीघ्र यम में नर मृत्यु शिर पर लटक रही है—एत तरह निश्चय्य होकर क्या तो रह हो ?'—यव भी तो विषय-भोग से मूल मोदी, कुछ ईश्वर का चिन्तन करो ।

इस पंचारा को छुनकर पण्डितराज ने अब मुल निकाल कर उगली और देखा, उस कर्ण पर पंचाम कर दीक्षित की सत्य कद गये —

'अथवा सुत शोषोया निच्छे जाह्नवी भवत ॥'

'अथवा आप सुत से शोषे, क्योंकि आपके निकट में गंगा भी नतीमान है ?'

कुछ लोग इससे भी कुछ मित्र तरह की किंवदन्ती कहते हैं । उक्तका सारांश यह है कि 'शांतक्या में ही अल्पवदीक्षित मिच्छ राया अवशिष्ट की कशी से उन्हें व्यपार से आये । कारण यह था कि बादशाह के दरबार में मुन्ता लोग अक व्यपार नरोत ता अक्षीय करते हुये कहते थे ॥ 'अतः लोग आस्तनिक छत्रिप लगी है, क्योंकि परसुताम भी वे अब इक्षीय वार इत पृथिवी को निःशक्ति बना टाका, उन आदके पूर्वक कचे कीते ? इतारे यह कि अरवी माता शांत से मचीन है' ।

यह आक्षेप जयपुर नरेश को बरानर सम्पत्ता था, परन्तु इन आक्षेपों का कोई उपयुक्त उत्तर मजहब नहीं पड़ता था, अतः वे निम्न एसे शक्तिशासक विद्वान् के अन्वेषण में थे, जो उन आक्षेपों का उत्तर दे सके। पण्डितराज में उन्हें का मुकुन्दपुरा प्रसिद्धा उपाधि पड़ी, उनसे उन्होंने एक आक्षेपों की बात कही। पण्डितराज न उन मुकुन्दपुरा का प्रसिद्धा था, इतने बाद पण्डितराज जयपुर लखे गये। जयपुर अन्तर्गत वाग्भट्टराज ने कर्ना के अन्तर्गत आक्षेप का उत्तर दे में कभी दे सकता है, परन्तु द्वितीय आक्षेप के उत्तर देने के लिये मुकुन्दपुरा का अध्ययन करना आवश्यक होगा इस पर जयपुरनरेश ने आक्षेप में रख कर पण्डितराज को करना पड़ने का आदेश दिया। जब पण्डितराज ने अरबी का अध्ययन कर लिख कर जयपुरनरेश उन्हें दिल्ली के शाही दरबार में ले गये। वहाँ जाकर पण्डितराज ने प्रथम आक्षेप का उत्तर यह दिया कि 'पण्डितराज ने मुकुन्दपुरा का निष्कर्ष किया' इस लालची का यह उत्तर नहीं था सत्यता कि एक भी क्षणिक नहीं बना, क्योंकि यदि वैसा अस माना जाय तो २२ या २३ वर्षीय बाल विद्या ही जायगी—अर्थात् प्रथमवार में ही जब मर शक्तिय माय जा जुने तब फिर क्षणिक आये ही कहाँ से जो फिर फिर उन्हीं के पुत्रों को निराश्रित किया अतः यह मानना होगा कि अधिकतर क्षणिक बरानर तो २२ वर्षीय भा ३६ वर्ष की आयु की २३ वर्षीय शक्तिय गणनाओं के पुत्र हैं।

दूसरे आक्षेप के उत्तर में उन्होंने यह कहा कि 'मुकुन्दपुरा का हृदास' नामक पुस्तक में लिखा है 'मुकुन्दपुरा को लिखने से सत्रया शक्तिय आक्षेप बना नाशिव यह उनका धर्म है'

इस वाक्य से सिद्ध होता है कि इस प्रत्येक निम्नार्थ से पूर्व 'मुकुन्दपुरा का कोई धर्म था और धर्म भाषा के बिना नहीं हो सकता, अतः यह भी सिद्ध है कि हिन्दुओं का कोई धार्मिक भाषा की और यह भाषा संस्कृत से अनिश्चित तो नहीं लगती, अतः यह यह निष्कर्ष हो जाता है कि अरबी से संस्कृत भाषा माधुन्य है।'

इन बातों को सुनकर गुणप्राहा राजशाह शाहमहा परम प्रसन्न हुआ और पण्डितराज को अपने यहाँ आदरपूर्वक रख लिया।

इन किर्तानियों से जो तब निम्नार्थ हैं, वे ये हैं—पण्डितराज का राजशाह के दरबार में प्रवेश जयपुर मठाराज के द्वारा हुआ। वहाँ पण्डितराज ने किसी धरती पर आसक्त होकर वक्तो अपनी प्रेम्णा बनाया। अन्तिम अवस्था में वे वह काशी में अन्धकारीदिन आदि दिग्गजों से सम्मानित हुये। पण्डितराज किसी धरती सुन्दरी या आसक्त के इस वक्त की पुष्टि उन्दी के बनाने काठिन्य पदों से भी होती है।

- १ 'धरती नवनीतकोमलाहो, नक्शाये यदि नीपठे कदापि ।
अनीतमेव साधु भन्ते ॥ उनी धरतीना विनोदहेतु ॥
न याने गमालि नना नादि राज्, न विष्टेषु चित्त मदीय कदापि ।
इय सुगनी मन्नाबन्धनहस्ता, एतद्वा कुरुक्षेत्रगतीकरोतु ॥
इत्थुन्निमुनि' से । याने पुष्पवन्तम् ।

अप्ययदोक्षित और पण्डितराज

कुछ लोग कहते हैं कि पण्डितराज अप्ययदाक्षिण के समकालीन नहीं थे, क्योंकि दीक्षित जी के आधुनिक नीलकण्ठ दोक्षित अपने 'नीलकण्ठ-विजयकव्यू' में लिखते हैं कि 'यह नीलकण्ठ विजयकाव्य कलियुग के ४७३८ वर्ष यातने पर लिखा गया है।'

यह समय ईसवी सन् १६३६ के लगभग होता है, जो शाहजहाँ का राज-काल था। अब यह सिद्ध होता है कि नीलकण्ठ दाक्षिण ही पण्डितराज के समकालीन थे न कि उनके विनामह-प्राता अप्ययदोक्षित।

पण्डितराज अप्ययदोक्षिण के समकालीन नहीं थे इसमें दूसरी युक्ति यह हो जाती है कि— 'दीक्षिताक्षिण के पुत्र शेषशेखर पण्डितराज के पिता के गुरु थे और शेषशेखर के छात्र थे मट्टोजि दीक्षित, जो अप्ययदोक्षिण के समकालीन थे, और पण्डितराज अपने पिता के गुरु के पिता के काल में होने वाले दीक्षित के समकालीन जैसे ही सन्ने हैं। और जब ये दोनों विद्वान् समकालीन थे ही नहीं, व इन दोनों में परस्पर विरोध का काल भी निश्चय ही है इत्यादि।'

परन्तु गम्भीर विचार करने पर इन दोनों का समकालीनत्व सम्भव नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन दोनों के समकालीन होने में किशोरावस्था के साथ साथ बहुत कुछ प्रमाण भी मास होता है, जैसे— 'सिद्धान्तशेखरप्रश्न' के कुम्भजोषनाले मन्त्रापत्रों में एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि 'शत्रुले द्वाब्ज (अप्ययदाक्षिण आदि) के दूरधरत्व्य भूगर्भ से पुस्त्रीही मट्टादिदाक्षिण ने भरी तथा में बिना सोच-समझ पण्डितराज का श्लोक कह दिया था, जिसका धेयनिधि पण्डितराज ने उनका (भ्रातृदाक्षिण का) मन्त्राभा का कुम्भजोषनाले के सत्वे कर दिखाया, अर्थात् उनके मनोरमा नामक प्रश्न का खण्डन कर दिया था अप्ययदाक्षिण आदि (मट्टादिदाक्षित के समर्थक) देखने ही रह गये।'

दुष्यन्तुःशत्रुर्ग्रहप्रह्वणाम्बिष्ट गुरुरादिणा,

यन्मलेच्छेत्त वचाऽविचिन्त्य सदासि प्रीदेऽपि महेजिना।

तस्मात्पापतमेव धैर्वनिधिना यस्त व्यसृत्वात् कुचम्,

निर्वैद्यस्य मनोरमाववरायकव्यप्ययाद्यान् दिशतान् ॥

इत पद्य से निम्न होता है कि मट्टादिदाक्षिण, अप्ययदोक्षित और पण्डितराज एक काल में ही इस धरा को सुशोभित कर रहे थे।

‘स तरनि निरपुण्यैस्तत्र किं ते महत्तन्म् ।

यदि हि यत्नकन्या पापिनी मा पुनीहि,

तदिह तत्र महत्त तन्महत्त महत्तम् ॥

यवनी रमणी विपद यमनी, यमनीयतया नवनोत्तयया ।

उहि-रुहि-नचोऽमृतपूर्णमुखी स मुखी जगदीह यदङ्कवया ॥’

१ ‘अष्टत्रिंशदुपस्कृतस्य आनाधिकचतुसहस्रेषु ।

कठिवर्षेषु गतेषु प्रथितं किञ्च नीलकण्ठविजयोऽयम् ॥’

एक दूसरा भी श्लोक इस प्रसंग पर उद्धृत करने योग्य उपलब्ध है जिसका सारांश है कि—
‘अप्यदीक्षित अपने जीवन के ७२वें वर्ष के पूर्वार्ध में विद्वज्जिह्व ब्राह्मण करने के उद्देश्य से पृथ्वी के चारों ओर अग्रण करते हुए मृष्टेजिदीक्षित आदि एकछत्र विद्वानों को विजय किया और उस प्रसिद्ध पण्डितराज ब्रह्मगुप्त (जो पहले जतिच्युत किये गये थे) का उद्धार कर दिया । फिर ७२ वर्ष के उत्तरार्ध में विद्वज्जिह्व याग करके चिदम्बरम् क्षेत्र में सभी सृजकों के सामने ब्रह्मज्योति को प्राप्त कर लिये ।’

बहुते दिक्षजिता यथा परिवारं सर्वे बुधा निजिता

मृष्टेजिह्वसुता, स पण्डितराजगणायोऽपि निस्वारिवः ।

पूर्वैर्धे, चरमे, द्विसप्ततिसप्तत्याम्बुस्य सद्बिबक्षित-

याजी यथा चिदम्बरे स्वममप्यु ज्योतिः सता पश्यताम् ॥

इस श्लोक के अनुसार भी पण्डितराज, अप्यदीक्षित और मृष्टेजिदीक्षित का समकालीनत्व सिद्ध होता है ।

बत रही एक दोनो विरोधी युक्तियों की, पर उनका समन्वयन भी कठिन नहीं है, क्योंकि अग्रण युक्ति के द्वारा पण्डितराज अप्यदीक्षित के भ्रातृ-पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित के समकालीनत्व सिद्ध किये गये हैं, यदि यह बात मान ली जाय, तबपि पण्डितराज और अप्यदीक्षित ॥ उनकालीनत्व में कोई बाधा नहीं होती अर्थात् यह सम्भव है कि ‘नीलकण्ठ-विजय’ के निर्माणकाल तक अप्यदीक्षित जीवित रहे हों । युवक पौत्र की देखने वाले वृद्ध आज भी सर्वथा सुखी नहीं हैं, उस युग में तो लोग अधिक दीर्घायु होते थे और नीलकण्ठ दीक्षित तो अप्यदीक्षित के अपना पौत्र भी नहीं बरन् भ्रातृ-पौत्र थे, फिर तो यह सर्वथा सम्भव है कि ३० वर्ष के भ्रातृ-पौत्र के समय में ७२ वर्ष के विद्वान्ब्राह्मण पर्वमान रहा हो ।

द्वितीय युक्ति का समाधान भी वही तरह किया जा सकता है—अर्थात् मृष्टेजिदीक्षित और अप्यदीक्षित समकालीन थे, यह बात निर्विवाद है और मृष्टेजिदीक्षित क्षेत्रप्रीकृत्य के ज्ञान थे, एव क्षेत्रप्रीकृत्य-जो पण्डितराज के पुत्र थे—उनके पुत्र थे, फिर पण्डितराज और अप्यदीक्षित की समकालीनता में उल्लेख करने का कोई अवसर ही नहीं है । हाँ, रत्नों बात अवश्य है कि जब पण्डितराज युवक रहे होंगे, तब दीक्षित जी वृद्ध हो गये होंगे, अब पर द्राविक, महाराष्ट्र और तैलङ्ग इन सह्याय, जगदियों ने लक्ष्मी सरस्वती तथा उनके द्वारा पण्डितराज की जातिम्युक्ति की बात भी संगत होती है ।

स्वभाव

पण्डितराज का स्वभाव मूलतः उग्र था, वे कष्ट सत्य को भी अनायास व्यक्त करने में सन्तुष्टि नहीं होते थे । एक समय किसी ने पण्डितराज को अपनी कविता सुनाना चाहा । पन्थु उन्होंने कविता सुनने के पहले ही यह कह दिया—‘मित्र ! यदि आप पूर्ण रसिक होने के कारण पूरे हुए पाश के रस की मधुरता के गर्व को खर्च कर देने में समर्थ बन्दों

के मर्मों हैं, तब तो मेरे सामने झूठ से अपनी कविता पढ़िये, अन्यथा यदि आप उस तरह की वाणी के प्रयोग न हों तो रञ्जित पासावरण के समान अपनी कविता को हृदय से बाहर मत ढ़ीरिये।^१

विशाल ने पण्डितराज के स्वभाव में अधिमान को शू-शू कर भर दिया था। इनकी गर्वोच्छिर्ण सत्कृत समाज में प्रसिद्ध हैं। वे कहते हैं—दुनियाँ में कविता करने वाले बहुत लोग हैं, परन्तु शूरीकापाक अर्थात् अत्यन्त मधुर वाणी का आचार्य मैं ही हूँ, इस पद के अधिकारी होने का सामान्य दूसरे को कहीं? शू कितनी बड़ी गर्वोच्छि है विनी चाविका के वर्णन में आप करते हैं—बह नायिका मेरी कविता के समान? मनोहर है? खर को अभिन्दक करने की शैली निराली छग है? आपकी कविता से जिन्हें आनन्द का अनुभव नहीं होगा उन्हें आप यादित सूदक करते हैं।^४

उन स्वभाव के कारण ही पण्डितराज प्रसिद्धि से प्रसिद्धि विद्वानों की उच्छिर्णों में दोष दिखाने में नहीं शूकते। अप्यपरीपिन से तो पण्डितराज का स्वाभाविक विरोध ही था, अह यदि उनके प्रत्यो को सम्बन्ध न होने दुराग्रहपूर्वक किया है ही उनका अनुचित नहीं, क्योंकि शिरोभिनी का सम्बन्ध सभी करते हैं। परन्तु जिन आनन्दवधन, मग्गट आदि विद्वानों का स्थान-स्थान तब आपने। मारर से स्वरण किया है, उनके बचनों में भी वन-वन दोष-दोषने में आप शर नहीं आने हैं।

धर्म और अन्तिम काल

पण्डितराज ने श्वापि स्थान-स्थान प्र सभी देवताओं का स्वरण बहुकरूप में किया है, श्वापि आप मथानतवा वैश्व धर्म के अनुभवों के देना श्वापि लोग ह। आपके जीवन का अन्तिम मरिभय समय काशी अथवा मथुरा में व्यतीत हुआ।^५

- १ निपणि यदि मामिच्छेऽसि मित्रमालम्बयामदम्
शूरीकापाकमुपशुभ्रिपदपीहारीदेषुगणां गिराम् ।
काव्य उहि सखे सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशां,
नो शेरदुःकलमारमना कुामिन स्वावहृदिमां कृमा ॥
- २ 'ब्रामूछाद्वलसाशोर्मश्वधकपितादा व कृणावशोषे',
वापन्त सन्ति वाव्यप्रणयनपदस्ते विशङ्क वदन्तु ।
शूरीकामध्यनिर्यन्मसुषारसजरीमाशुरोमाम्पमाश्व,
वाचामाचार्यताया पदमनुभवितु शोऽस्ति धन्यो वदन्तु ॥'
- ३ 'सा मामकीनकविउेव मनोऽभिरामा
रामा कदापि हृदवांमम मापवाति ।'
- ४ 'शुव वे बीकन्नाऽव्यहह सुतका मन्दमखयो,
न देशमानन्द जनवति जयश्राव-प्रसिद्धि ।'
- ५ 'सम्प्रत्यधकशामनस्य नगरे तत्र पर चिनक्यै'
पर पाठ मामिनीविलास के कुछ पुस्तकों में है और कुछ पुस्तकों में तो—
'सम्प्रत्यधकशामनस्य मधुपुरीमध्ये हरि सेव्ये' देखा पाठ है ।

पण्डितराज के ग्रन्थ

- १—अमृतसहस्री—इसमें यमुनाजी की स्तुति की गई है। यह काव्यमाला में मुद्रित हो चुकी है।
- २—आसफ़विलास—इसमें नवान् आसफ़ों का वर्णन किया गया है। काव्यमाला में इसकी कुछ पदिकाएँ ही प्रकाशित हुई हैं।
- ३—करणाळहरो—इसमें विष्णु की स्तुति है। यह काव्यमाला में मुद्रित है।
- ४—चित्रमोमांसाखण्डन—इसमें अणुशब्दोत्पाद्य चित्रमोमांसा का खण्डन है। यह भी काव्यमाला में प्रकाशित हो चुका है।
- ५—जगदाभरण—इसमें शब्दनदीतन्त्र द्वारा चिकोह का वर्णन है। यह भी काव्यमाला में मुद्रित है।
- ६—सीदूपलहरी—यह भी काव्यमाला में तथा अन्यत्र भी मुद्रित है, इसका प्रसिद्ध नाम गणपहरी है।
- ७—प्राणाभरण—यह तेषात्तरेण प्राणधारण का वर्णनपरक खण्डनाम्न है। काव्यमाला में इसका प्रकाशन हो चुका है।
- ८—प्राणिनीविलास—इसके अनेक सन्दर्भ हो चुके हैं, इसमें पण्डितराज की पुस्तक कविताओं का समूह है।
- ९—प्रभोरमाकुचमर्दन—यह भद्रोद्दिष्टोक्त कृत मनोरमा ग्रन्थ का उपनम है, यह 'हरिदास संहृत ग्रन्थमाला' काशी में प्रकाशित है।
- १०—यमुनावर्णन—यह ग्रन्थ जान शक मात्र नहीं हुआ, केवल रसगणपर में वर्णित कतिपय अंशों से इस ग्रन्थ ग्रन्थ का पता चला है।
- ११—लक्ष्मीछहरी—इसकी स्तुति परक यह पुस्तक काव्यमाला आदि में छप चुकी है।
- १२—रसगंगाधर—यह ग्रन्थ पाठक के हृदयों में है, पण्डितराज की कीर्ति इसी पर निर्भर है। परन्तु खेद है कि पण्डितराज का यह ग्रन्थरत्न अपूर्ण ही उपलब्ध होता है।

ग्रन्थ जगन्नाथ

संस्कृत साहित्य में प्रयत्ननिर्माण करने वाले ग्रन्थ ११ जगन्नाथ नामधारी पण्डितों का भी पता चलता है। परन्तु इनमें एक भी पण्डितराज जगन्नाथी नहीं हुये। उनके बनाने ग्रन्थ वैसागणित, सिद्धान्तधारा, सिद्धान्तकौस्तुभ, निवाहधर्माण, अतन्द्रार्थिक नाटक, अन्वयविशेषाद्य, सप्तपत्र, अद्वैतार्थ, समुदायकरण, अरभ्यविलास और अन्वयिण्य आदि हैं।

रसगङ्गाधर के संस्करण

यह रसगङ्गाधर का प्रथम संस्करण जयपुर से काव्यमाला द्वारा हुआ। परन्तु उस संस्करण में कुछ पुस्तक की माति न होने से तथा ग्रन्थ की अति दुर्लभा से स्थान-स्थान पर अनुद्विग १६ ग।

तदनन्तर द्वितीय सम्स्करण बासी से महामहोपाध्याय गंगाधरशास्त्री जी के तत्त्वावधान में प्रकाशित हुआ। उक्त सम्स्करण में कतिपय स्थलों पर महामहोपाध्याय जी की टिप्पणियाँ विशेष महत्त्व रखती हैं।

इसके बाद ज्योतिषशास्त्री कविशिरमोणि पण्डितवर मधुरानाथ जी महोदय सज्जित सरला टीका सहित, उन्हीं के तत्त्वावधान में सुसम्पादित सम्स्करण भी विद्वज्जनों के सामने आ चुका है।

मनुष्य सम्स्करण के गुण-दोषों का विवेचन पाठक ही करेंगे। मैं आशा करता हूँ कि प्रकाशक जी उदारता और संप्रयत्न से यह सम्स्करण पाठक का अवश्य मनुष्य करेगा।

रसगङ्गाधर की टीकायें

अन्य अष्टाङ्गर-ग्रन्थों पर अनेकानेक टीका-टिप्पणियाँ लिखी गईं परन्तु अष्टाङ्गर शास्त्र के धरम चूतान्तमू इस ग्रन्थपाठ पर आज तक बहुत कम विद्वानों ने टिप्पणी लगाई। प्रायः इसका निदान ग्रन्थ की अत्यधिक जटिलता ही है।

रसगङ्गाधर पर वैद्यावरण शिरोमणि नागेश मठ की सबसे प्राचीन टीका उपलब्ध होती है। प्राचीनत्व होने के कारण इस टीका का महत्त्वावकाश है, परन्तु वस्तुतः यह टीका नहीं टिप्पणी मात्र है, क्योंकि यह सन्निहित है। अधिकतर स्थानों में मूल का रस नहीं किया गया है। वहाँ कहीं मूल का स्पष्ट किया भी गया है, वहाँ भी प्रायः मूल का उल्लेख ही किया गया है जो सर्वत्र समुचित भी नहीं है। इससे ऐसा भान होता है कि इस टीका के द्वारा पण्डितराज का दोषोद्घाटन करना ही नागेश मठ का उद्देश्य था। फिर भी इस एतद् टीका के द्वारा पाठकों को कुछ लाभ अवश्य हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। मधुरानाथ जी मठ ने अपनी मूर्धिका में नागेश मठ टीका के बहुत से दोषों का संप्रह किया है।

मठ जी की यह एतद् टीका पाठकों के लिये बहुत ही उपकारक सिद्ध हुई है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु अति हासिल होने के कारण यह भी ग्रन्थ फिर-फिर से अदेक्षित टीका की बनी की पूर्ति नहीं कर सकी।

रसगङ्गाधर का हिन्दी अनुवाद ५० श्री पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी जी ने बहुत अच्छा किया है। चतुर्वेदी जी का यह प्रयास बहुत ही न्याय्य है। यद्यपि मठ जी ने अपनी मूर्धिका में यत्र-तत्र इसकी आलोचना की है; मैंने भी एक आध अगह अपनी टीका में इस विषय का निर्देश किया है। परन्तु सर्वांग में विचार करने पर अनुवाद उपादेय है, इसमें किसी को विमर्शित नहीं हो सकती। इस अनुवाद का उद्देश्य है हिन्दी भाषा के विद्वानों को रसगङ्गाधर का साक्षात्कार कराना, इस उद्देश्य की निम्न सीमा आना हम अनुवाद से हुई है, किन्तु संस्कृत के विद्वानों को इस अनुवाद मात्र से संतोष नहीं होगा, क्योंकि इसके साथ मूल नहीं है और कहीं कहीं 'अवच्छेदकतामय भाषा' का 'वाक्य का सार निकालना कष्ट' अनुवाद करना भी छोड़ दिया गया है।

'रुचिरा' संस्कृत-हिन्दी टीका

प्रस्तुत ग्रन्थ माग में कविश्रेष्ठ प० बदरीनाथ झा जी की संस्कृत टीका प्रकाशित हुई है, यह टीका बहुत ही सुन्दर है, इसमें भरत शब्दों के द्वारा ग्रन्थ के अर्थ को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। यह टीका अधिक विस्तृत है और न अधिक संक्षिप्त ही। मुझे विश्वास है कि इस टीका से शिक्षित प्रसन्न होंगे और मध्यम कोटि के विद्वान् भी इस टीका के आधार पर अपने प्रकार इस ग्रन्थ का अध्ययन अध्यापन कर सकेंगे। परीक्षाओं छात्रों के लिए तो यह टीका अत्यधिक उपालेय है।

'कविश्रेष्ठ जी' की संस्कृत टीका के साथ-साथ मेरी हिन्दी टीका यत्र तत्र कुछ विस्तृत हो गई है, जिसका कारण-वैसा करने का मेरा दुरायह नहीं वरन् बटिल विषयों को अधिक से अधिक सरल बनाने का प्रयासभाव है। मेरा विश्वास है कि इस विस्तृत विवरण से पाठकों की प्रशंसा के रहस्यों को समझने में जो सुविधा होगी, यह संक्षिप्त विवरण से नहीं। मैंने राष्ट्रभाषा की पवित्र रखने का भरसक यत्न किया है, तथापि जो गूटि रह गई हो, उसकी सूचना पाठक मुझे दें ताकि अग्रिम संस्करण में इसका समीक्षण किया जा सके।

एक बात और यह कि वहाँ-वहाँ मुझे ममालोचक का रूप धारण कर मूलकार के विरुद्ध मा लिखना पड़ा है। परन्तु वह विरुद्ध आलोचना नहीं तक ठीक हुई है इसका निर्णय विद्वान् पाठक ही करेंगे। हिन्दी भाषा में भी मैंने ग्रन्थ-ग्रन्थि-विमोचन का प्रयास सर्वत्र ही किया है सफलता अथवा असफलता का निर्णय करना तो मेरा काम नहीं, वह विद्व पाठकों का ही कर्तव्य होगा।

उपकार

रसगङ्गाधर को हिन्दी टीका लिखने में मुझे सबसे बड़ी सहायता पूज्यवर कविश्रेष्ठ प० भी बदरीनाथ जी झा की संस्कृत टीका से मिली है। हिन्दी टीका लिखने एवं मेरी स्वाहृष्टि पाठि ही प्रकाशक श्रीदोष ने झा जी की संस्कृत टीका मेरे पास भेज दी थी। इसे एक सुयोग ही कहना चाहिये। यदि उनकी टीका मेरे पास न होती, तो मुझे हिन्दी टीका लिखने में इतनी सुविधा नहीं होती, यह एक निश्चित सत्य है।

कहीं, कहीं—यदि मैंने एक बहुत बड़ा है—आप से मेरा मत-मेरु भी हुआ है। यद्यपि उचित तो यह था कि मैं अपनी टीका लिखने से पूर्व आप से मिलकर एकत्रावृत्ता कर लेता, परन्तु समयान्तर के कारण ऐसा नहीं हो सका। अस्तु यदि उन मतभेद-स्थलों में मेरे मत सत्य हों, तो उसका अर्थ भी आप गुरुजनों की ही माया है और यदि मेरे मत सत्य नहीं हो, तो उसका दोष मैं हूँ, एवम् उस स्थिति में मैं इस धृष्टता से लिखे आदरणीय 'गुरुवर' से क्षमा माया हूँ।

उत्तराखण्ड में दूसरा स्थान है प० श्री प्रहलाद शर्मा जी चतुर्वेदी के अनुवाद का। उनकी अनुवाद से भी मुझे खान-खान पर अत्यधिक सहायता मिली है। इस पुस्तक की मूलिका के विपक्षितेयन भाग की तो आधार-भित्ति उनकी मूलिका ही है।

उत्तराखण्ड में सम्माननीय मधुरानाथ जी मंड का नाम भी स्तुति करने योग्य है। आपके सम्पादित रसगङ्गाधर और उसकी 'संख्या' टीका से भी मुझे अधिक सहायता मिली है, विशेषतः मूलिका लिखने में तो आन्धी मूलिका अधिक सहायक हुई है।

कृतज्ञता-घापन

बिन्-बिन् महानुभावों की कृतियों से मैं इस टीका के प्रणयन में आभाषित हुआ हूँ उनके प्रति मैं बिन् शब्दों में कृतज्ञता घापन करूँ, वे शब्द बड़े नहीं मिलते। शब्दों के द्वारा कृतज्ञता प्रकाशन एक प्रयास है। वास्तविक कृतज्ञता-घापन तो हृदय से होना है, अथ आन महानुभाव में। मूल पर सभी हार्दिक कृतज्ञता स्वीकार करें, यही मेरी बिन् प्रार्थना है।

इस कृतज्ञता घापन के प्रसन्न पर मैं अष्टिवर बाबू अयकृष्णदास जी गुप्त, अन्वय 'चौखम्बा एस्टेट सीरीज' तथा 'चौखम्बा विद्यामण्डल' बनारस को भी नहीं मूल सकता, जिनके सहजतैःमन्त्र से मुझे इस टीका के निर्माण का सुप्रसन्न प्राप्त हुआ।

अन्त में अपने अहर्निश ऐतही बन्धु १० श्री रामचन्द्र जो शा के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशन करना मैं अपना घापन कर्तव्य समझता हूँ, जिनके सौहार्द से मेरा सवन्त्र एक कार्य काय से हुआ।

शुक्रदिना }
सं. १०१३ }

विनीत—
मदनमोहन शा

विषय-सूची

विषया	पृष्ठाङ्का	विषया	पृष्ठाङ्का
मङ्गलाधरगादि	१	शुद्धारद्वैविध्यम्	१५०
काव्यलक्षणम्	५	कल्प	१५६
काव्यप्रकाशोक्तलक्षणे आशेष	१५	शान्त	१५६
साहित्यद्वयलक्षणो आशेष	२६	संज्ञ	१६०
प्रतिमाया एव कार्णिकारथता	२७	बरी	१ १
काव्यस्य चतुर्विध्यम्	२७	अभ्युत्	१८०
उत्तमोत्तम लक्षणम्	११	उत्त प्रकाशोदाहरणे आशेष	१७९
उत्तम लक्षणम्	६६	दास्य	१८३
मध्यम लक्षणम्	७६	मयानक	१८६
अधम लक्षणम्	७८	श्रीमय	११
प्रकाशोद्भूतद्वय कटाक्ष	८१	रमाना सख्यानियम	१९३
रसस्वरूपम्	८७	रमाना विरोधाविरोधचिन्ता	१९३
रसस्यैकादश भेदा	१००	रमदोषा	२०६
भरतसुत्रस्याष्टमा व्याख्यानम्	१२८	गुणनिरूपणम्	२२०
रसाना नवधा उच्यते	१३३	गुणनिरूपणे स्वमतम्	२२८
शान्तस्य रसव्यवस्थापनम्	१३३	गुणनिरूपणे वामनादीना मतम्	२२९
रासलक्षणम्	१४१		
शौकलक्षणम्	१४१	शब्दगुणाना लक्षणम्	
करणाविप्रलम्भस्याद्यत. करणेऽद्यतश्च		इष्टव	२३९
शुद्धारे भन्तनांश	१४२	प्रसाद	२३०
निर्वेद	१४३	व्यमता	२३१
शोध	१४४	माधुर्यम्	२३२
उत्साह	१४७	सुकुमारता	२३३
विश्रम	१४५	अर्थव्यञ्जि	२३४
हस्य	१४५	उदारता	११
मयम्	११	शोच	२३६
सुगुप्ता	१४६	कान्तिः	२३६
दिग्वादिस्वरूपम्	११	समाधि-	२३७

विषयाः	पृष्ठाङ्काः	विषयाः	पृष्ठाङ्काः
अयंगुणानां लक्षणम्		मति	३०३
श्लेषः	२३८	व्याधि	३२४
प्रमादः	२४०	त्राम	३०६
समता	"	सुप्तम्	३०७
मायुष्यम्	२४१	विवोध	३१०
सुकुमारता	२४२	अमय	३३३
अर्धव्यक्तिः	"	अवाहित्यम्	३३५
बदारता	२४३	उग्रता	३३६
भोज	२४४	उन्माद	३३८
कान्ति	२४८	मरगम्	३३९
समाधि	"	वितर्क	३४२
अयं तैषां त्रिष्वेवान्तर्माव	२५१	विषादः	३४४
गुणानां स्पष्टिका रचना	२५६	आत्मस्यम्	३४७
रचनाया वर्जनीयम्	२६१	आवेग	३४८
तत्र विशेषतो वर्जनीयम्	२७३	जडता	३४९
भावस्वन्निरूपणम्	२८९	आलस्यम्	३५१
भावलक्षणम्	२९३	अमूया	३५४
हर्षः	२९८	अपस्मारः	३५७
स्मृति	२९९	अपठता	३५८
भोका	३०४	निर्वेद	३६१
मोहः	३०६	व्यभिचारिणा मरुया	३६४
दृष्टि	३०८	रमानामः	३६५
शङ्का	३०९	भावशान्ति	३७०
ग्लानिः	३१०	भावोदयः	३७८
दैन्यम्	३११	भावमन्धि	३८०
चिन्ता	३१४	भावशङ्कता	३८१
मद	३१६	अलक्ष्यक्रम-वनेरि कश्चित्कल्पक्रमः	३९४
अमः	३१८	वर्गरचनादीनां रसामिष्यभक्तवः	
गर्व	३२०		
निद्रा	३२२	विरागम्	४०३

उदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

श्लोका	पृष्ठाङ्का	श्लोका	पृष्ठाङ्का
अकुरुष्व ! मृषामाया	३२५	क्षमापणैकपदयो	३८०
अकुरुष्वहृदय	३३८	खण्डितानेत्रकञ्जलि	३९१
अभरद्युतिरस्त्वप्लवा	३१५	गणिकाऽत्रामिळमु	२१०
अपहाय सकल	१५६	गाडभाडिङ्गप सकला	३१२
अपि बहूळ दहनञ्जलि	१००	गुह्यमप्यगता मया	११
अपि षष्ठी गिरा	१०९	गुरमप्ये कमलाङ्गी	२१३
अवाचिन सुख	२४६	चराचर जगज्जाल	१८०
अयि पवनरथाणा	३४९	चिन्तामोडितमानसी	२५९
अयि मन्दस्मित	२८१	तन्मन्तु मन्दहसित	३००
अडका फणिताव	२००	तपस्वतां मुनेर्वक्त्राद्	२४१
अवधी दिवसावसान	२९९	तल्पगतापि च सुतनु	४५
अवाप्य मङ्ग तनु	३३७	ता उमाकतस्त्वान्ति	२५३
अहिपत्रत ! वापा	३५९	मुक्तामनालोक्य निज्जा	१०९
आ मूलाद्भ्रमसानो	३२१	तृष्णारोळ विडोचने	३५५
आपानैव विद्या गिता	२८९	दुहितस्य पुगालतु	३४०
आर्लापु केडारमलेन	३२६	दुरानमस्कधर	३०३
आविर्मत्ता यद्बहि	१५३	धनुर्विदलनप्यनि	१६२
आ माय सलिलनो	२८०	न कपोतकपोतक	१०१
इपमुक्तामिता मुलस्य	२८०	नसैविदारिवान्त्राण्य	१८६
इक्षिता कवरीभर	२०२	न भव न च राज्य	३६३
उल्लाप कुलकपट्टे	६४	नयनान्बलावमर्श	१५४
उपसि प्रतिपक्ष	३८६	नवीप्युक्विकतघौवन	१६०
एभिषिपोषविपपै	२८६	वारिकेळजकक्षार	३८५
एववादिनि दुवर्षी	३९४	मिलिळ जगदेव	३१४
औग्निद्द दा० वरुड	५५	नितिल्यां रजनी	३५२
कडितकुलिशाघाता	२००	नितरा हितपाथ	३२०
कस्तुरिकाविलक	२८५	नितरा पुरुषा सरोध	२२२
काळागुरदव सा	१९२	नितान्त घौवनोन्मथा	२०५
किं इमस्तव बीरता	२२१	निपठद्वाप्यसरोध	३४०
किमदिदमधिक	१६४	निस्त्रय यान्ती	३०९
कुत्तकडगमुगान्त	३०५	निमाणे यदि मामिको	२५१
कुपुण्ड्रीकृतकादण्ड	१९५	निर्वासयन्ती धृति	३८९
कुत्र शैव धनुर्विद	२५४	परिहरनु धरा फणि	१०८

श्लोकाः	पृष्ठाङ्कः	श्लोकाः	पृष्ठाङ्काः
पाप हन्त मया	३८२	विधाय सा मद्दना	३१९
प्रयुद्गता सविनय	३९९	विधिवन्नियया	३०९
प्रमोदमरुद्भिन्दि	२३४	विरहेण विकलद्वया	३००
प्रसङ्गे गोपाना	२३५	वीक्ष्य वक्ष्मि विपक्ष	३७९
महरविरतौ मध्ये	७३	स्वल्पस्त सपति क्षण	३७१
प्रसङ्गज्वरमस्य	२३८	यानप्राश्चित्यारथैव	३७१
मन धम्मिभ्य वीसरायो	५२	ज्ञतेनोपायाना कथ	३६७
मवन करुणाशरी	३९९	ज्ञयिता शबलशयने	३१०
मास्करसुनावस्तं	३७४	शयिता शयिषेऽप्यनी	३८
भुक्त्वाहित प्रकृतयो	३७२	शुण्डादण्ड कुण्डली	३०७
भुक्त्वापन्नं गृहीता	३७०	शून्य चासगृह	२८७
मधुरतर समयमान	३७०	शून्यममरुतलादु	१८६
मधुरसान्निधुर हि	३३८	शोकातपार्श्वविक्रिते	१८४
मलयानिकुला	१५६	सदाऽयानुपश्राना	२६६
मा कुर्वन् करा कराम्ने	३३०	सन्तापयामि हृदय	३०८
मिश्रात्रिपुरनेत्राय	७९	सपदि विलयमेतु	१७५
मुञ्चसि नाथापि स्य	३७८	सरसिजवनवन्तु	२७५
यथा यथा तामरया	३६६	सर्वेऽपि विस्मृतिपथ	३७५
यद्वधि दयितो विलो	३५०	सानुरम्भा सानुकम्पा	२७६
यदि कश्मल सा	३६१	साम्बिन्दुपुष्पाश्रया	१६७
यदि मा मियिष्येद्	३४९	सा मदानामनवृद्धि	३३३
यस्योद्दामद्विवालि	१६६	साहकारपुरापुरा	२६६
यौवनोद्गमनितान्त	३८०	सुरस्रोतस्विन्ध्या	१५८
यौ दानान्देवान्दद्या	१७३	सुराङ्गनामिराविक्रष्टा	१५६
राघवविरहवशात्का	६०	स्वर्गनिर्गतनिरमोक्त	२३८
कोल्था विहितमिन्धु	३४८	स्वेदाभुसान्द्रकण	२३३
कोटालकावलिबल	२७४	हतकन मया चनाम्तर	३१२
वक्षोज्ञाय शशिना	३३४	हरि रिता हरिर्माता	२४१
यचने तव यत्र	२०८	हरिणाप्रेक्षणा यत्र	२६८
याया निर्मलया सुधा	२९१	हरिमागहतमाकर्ष्य	३५८
याचो माहात्मकी	१५३	हीरस्फुटद्रदनशुभि	२७५
विपत्ता नि दृष्ट	२४१	हृदय कृतवीवकानु	३२५

रत्तगंगाधरे प्रमापका

(प्रथमानने)

अप्यचदीक्षित	४८	भरतमुनि	१९२
अग्निवदुताशायंपादा	१००,३९५	आगतम्	१९०
अलङ्कारनाकर.	२४८	अम्मम्मह	९६
आनन्दवर्धनाचार्यं	३९५	महाकवि (भाष आदि)	८०
कल्याणकहारा	१५९	महाभारतम्	१८२
काम्यप्रकाश	५१,५०	दमुलावर्णनम्	७६
काम्यप्रकाशादीकाकारा	२३३	धातुवा महान	४०४
गीतगोविन्दम्	२३६	रत्नावली	"
गीता	१८०	गनाधरम्	"
चित्रमीमासा	४८	ज्योतिर्विवेककृत्	५८
जपदेव	२१६	शाङ्गदेव	१८५
ध्वनिकारादय	१०	श्रीधरमहाशुभ	१६९
पञ्चलहर्षं	४०६	मन्त्रीतरनाकर	४०
महानायक	१०१	साहित्यदर्पण	२६



॥ श्रीः ॥

रसगङ्गाधरः

‘चन्द्रिका’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः



प्रथममन्त्रम्

स्मृतापि तरुणानप कर्णया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनूत्विषा वक्षयिता शर्तैर्विद्युताम् ।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमाषम्बिनी,
मदीयमनिचुम्बिनी भवतु काऽपि कादम्बिनी ॥ १ ॥

पुष्करिणी गौरी-गङ्गाधरताम्रवापिनी तपसा ।
मायाविद्यानाथी प्रणम्य कर्णानिधी पितरौ ॥
प्रभूहृदङ्कणतक-शोभ प्रतिभाप्रभासहसायु ।
तन्वी स्मृतिरपि मस्या विद्याय ता भारतीमल ॥
नित्य व्रजे विलसती सितगितिग्रहमी नमस्यता शम्भत् ।
रसगङ्गाधरविवृति बंदरीनाथेन चन्द्रिका श्रियते ॥

अथ साहित्यपदार्थानामास्वीक्षिणीप्रथितपथेन यथायथ सूक्ष्मममीक्षया परीक्षक-
प्रीणावता प्रसादाय, प्रतिपक्षम्भमान्धनमसावसादाय च तैलङ्गणितराजो जगन्नाथ-
महं कमपि नूनन प्रबन्धमारम्भमाणस्तत्समाप्तिप्रचारादिप्रतिबन्धकान्तरायमन्त्रनि-
द्यानये श्रुतिश्रोत्रिनेतिकर्तव्यताक मङ्गलमाचरन् शिष्यान् विदिष्य शिक्षयित्
निबन्धानि—स्मृतापीति ।

सादर करना है अपित, नत प्रगति पुष्प प्रमु पद पर ।

मह नव आरम्भ सकन हो, है यही याचना लघुतर ॥

अथमन्त्रि में प्रतिबन्ध उपस्थि करने वाली मन्त्रविन विन्-नाथार्थों के प्रश्नन की
प्रथमता से प्रबन्धन विद्वज्जन परंपरा प्रप्त महत्त्वोक्त पद की रचना करने हैं—‘स्मृतापि’—
इत्यादि ।

ये स्मृतिगत विषय होकर भी (न कि दृष्टि किता दृष्टिगत स्वरों वा विषय होकर ही) मनुष्यों

स्मृता स्मरणविषयीकृताऽपि (किमुत स्मर्यमाणा, दृष्टा स्पृष्टा वा न तु दृष्टं व दृष्टिद्वारा स्पृष्टं वा) मृणा मनुष्याणाम्, (मर्वेषा, न तु कस्यचिदेकस्यैव) तरुण प्रौढ तीव्रमिति यावत् आतप दिनकरद्योत तत्त्वेनाध्यवसितमाधिभौतिकादिसन्नापम्, करणया निजनैसगिकजोवानुकम्पया, हरन्ती नाशमन्ती (न पुनर्हंतवती हरिष्यन्ती वा) तथा—अबहुपुरा अनैश्र्यंस्तनुना वपुषा खिष कान्तदां याता, तास्तयोला, तासा विद्युता वपुलाना तत्त्वेनाध्यवसितानामाभीरपामभ्रुषा, शतैर-शैकपातसङ्घर्षाभि (वस्तुनस्तत्सङ्घर्षाभाभिस्ताभि) बलपिता परिचुता, तथा—कालिन्दगिरिनन्दिन्या ममुनाया, तटे तीरे (वृन्दावने विद्यमानान्) सुरद्रुमान् मन्वाराविदेवबुक्षान् हरिपियापरपर्यायितया कवम्बपावपान् वा, यथा-तट एव सकलान्निनापपूरकत्वात् सुरद्रुमस्तम्, अबलम्बने स्वविनासाधिष्ठानतयाऽऽश्रयति तच्छीला काऽप्यनिबन्धनीयत्वेन प्रसिद्धकादाम्बिन्या विलक्षणा, काश्मिनी मेघमाला तत्त्वेनाध्यवसिता शृङ्गाराधिष्ठापुदैवतभीकृष्णमूर्ति, मदीमगतेर्भामकीतबुद्धे, घुम्बिनी विषयीभूता मवत्वित्ययं ।

तथा च प्रकाशो द्योत आतप 'नीपप्रियक-वटम्बास्तु हरिप्रिय' 'काश्मिनी-मेघमाला' इत्यमर । इह 'यद्यपि विशत्वाद्या सदैवत्वे सर्वा सङ्घर्षमसङ्घर्षयो ॥' इत्यमरानुगामनन सङ्घर्षावाचकस्य धनशब्दस्यैकवचनान्तत्वमेव प्राप्तम् किञ्चनैक-शान्तसङ्घर्षाविवक्षाया 'सङ्घर्षार्थं द्विवहृत्वे स्त' इति तस्यैवानुशिष्टे 'सार्धं मनोरथ-सार्थैरथ धूर्तं । नास्ता', 'वृत्तात्पदा भूमिभूता सहस्रं' इत्यादिवद् बहुवचनान्तत्व प्रयुक्तम् । अत एव 'दासीना सुवुमारीणा द्वे शठे समलङ्कृते ॥' 'हर्षस्थान-सहस्राणि शोकस्थानशतानि च ॥' इत्यादयो भाववत-भारतप्रयोगा सङ्गच्छन्ते । न चैव तदनुशासने सदापदोपादानवैयर्थ्यप्रसङ्ग तस्य द्वित्ववद्वृत्तानवच्छिप्रशतत्वसङ्घर्षा-तदवच्छिन्नवैयर्थ्येण सार्धवयस्य व्यवस्थापनात् । सङ्घर्षाया आश्रयद्वारा बलपन-श्रियाया कर्तृत्वमिति कर्तरि कृतीया । अत्रेदे कृतीपेति कश्चित् । वस्तुतस्त्वेतादृश-म्यलेपु शतशब्दस्तन्नेण सङ्घर्षाया सङ्घर्षयाना च वाचक इति सङ्घर्षेयित्वैवात्रापि कर्तृता, विद्युत्प्रिष्ठगतत्वसङ्घर्षाविशिष्ट-तत्कर्तृवचनयनस्यैव प्रतीतिश्च । बलपितेत्यत्र बलप करोतीत्यर्थे णिच्, तदन्ताच्च क्त ।

के (न कि विन्ती एव व्यक्तिके) तीव्र आतप (आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक त्रिविध ताप) को दया में हर गयी है, जो क्या अन्य नहीं होने वाली शरीरप्रथा से युक्त (न कि धुगभर चमकने वाली) विद्युन्माला से वेष्टित है और जो वद्विन्दन्या-समुना के तीरे (वृन्दावन) के सुरलक (करम्ब) को (विलाम के लिये) आश्रयण कर वर्तमान रहती है, वह प्रसिद्धातिरिक्त धनपय (धनस्थान भीकृष्णवद्वी की मनोहर मूर्ति) केरी मति को चुम्बने वाली बने—सदा तप मजुन मूर्ति का दान मुझे होता रहे ।

मन्मार्थ यह है कि जो मेघमाला प्रसिद्ध है, वह वेगने पर ही व्यतिरिक्त के शर को दान करती है, उमके परिशुष करने वाली बिच्छी क्षामपुर है, पनुगाण के करम्बतक उमका आश्रयन भी नहीं है, अथेन होने से उमने क्या की सम्भवता भी नहीं, इन सब कारणों से यदि की 'आभिन् मेघमाला यह नहीं अर्पित कृष्णमूर्ति हो सकती है । एही व्यतिरिक्त को सृष्ट करने के लिए

अथ स्वोक्तेरपादेयतमत्व द्योतयितुं गुरुवन्दनापदेशेन विद्याजन्मदशमो परिशुद्धि पद्यद्वयेन प्रतिपादयति —

श्रीमज्जानेन्द्रभिक्षोरधिगतसकलब्रह्मविद्याप्रपञ्च,
काणादीराक्षपादोरपि महानगिरो यो महेन्द्रादवेदीत् ।
देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासन जैमिनीय,
शेषाङ्कप्राप्तशेषामलभणिनिरभूत् सर्वविद्याधरो य ॥ २ ॥
पापाणादपि पीयूष स्यन्दते यस्य लीलया ।
त वन्दे पेरुभट्टाञ्च लक्ष्मीकान्त महागुरुम् ॥ ३ ॥

आसप्तत्वेन त्रिविधसन्नापस्य वितुत्वेन वत्सववरवणिनीनाम्, कादम्बिनीत्वेन श्रीकृष्णमूर्त्तेश्रोपमेयानां निगरणद् भेदेऽभेदाध्यवसानान्मिकाऽतिशयोक्तिः । प्रतिष्ठा कित् कादम्बिनो क्षणमङ्गणोत्कान्तिभिर्विद्युत्सतामिर्वष्टिता जडतया सुतरां कारुष्यविरहिणी, दर्शनादेव दृष्टिद्वारा स्पर्शनादेव वा केषाचित् स्वावच्छिन्नाकाश- तमे विद्यमानानामेव श्रोत्रमिहिराणप हरति । इयन्त्वातपसन्नापहारित्वादिसाध्य- भागपि पूर्वव्रतपादितप्रकारैस्त्वद्विभजेति व्यतिरेकः । स्मृताऽपीत्यपिना दर्शनाद्यर्षा- पादनादयोपति । तट एव मुरद्रुम इति पक्षे रूपकञ्च । तत्र मिथोनिरपेक्षान्यामयोप- तिष्पकाम्या सङ्कीर्णो व्यतिरेकोऽतिशयोक्तिं पुष्पानीनि तयोरङ्गाङ्ग-भावेन सङ्करोऽ- तङ्कार । रूपकालिशयोक्तेरतिरिक्तानङ्कारत्वेनाङ्गीकारस्ववर्षाचामरोचक जनयतीत्य- वसने प्रतिपादयिष्याम । नियतिकृतनियमरहिताम्' इत्यादिवच्चोपमेयवैलक्षण्य- समर्पकविशेषणैरेवोपमान-नाम्ययोरावापाद् व्यतिरेकसता न दुर्घटा । कालिन्दीकूल- स्थलवैधुर्पात् कालिकाया, वर्णवैपरीत्याद् राधायाश्च कादम्बिनीत्वेनाध्यवसानं तु दुरवमानमेव ।

अपि कैमुतिकन्यायेन दर्शनादेर्गधिकृतापापनोदकत्वम्, तापस्य सारुष्यमसहनीय- त्वद्वारेण स्वरयाऽपनयनीचितीम् करणयेतिनापोपशमवस्य बुद्धिपूर्वकत्व-सार्वत्रिकत्वे, शत्रुप्रत्ययोदाहरणस्य वर्तमानकालित्वेन स्पृहणीयतमत्वम्, नृणामिति बहुवचन साकस्यमुखेनाम्यतो व्यतिरेकम् तनुत्विडमङ्गुरता त्रिधातीपताम्, विद्युत्त्वेन पोपनि- तम्बिनीनां निगरणमद्वितीयतीन्द्रयंसाभ्राज्यम्, शनैरित्येकदृष्ट्यादिव्यवच्छेदद्वारा प्रसिद्ध- वैजायम्, बलयिनेति समोगस्याक्षणिकत्वेन मुषमाऽतिरेकम्, कालिन्दीकूलनितिष्प- पादपादलम्बिता भ्वेतरव्यतिरेकम्, श्रीकृष्णमूर्त्तं कादम्बिनीत्वाध्यवसानं सद्य- फम- वानार्हताशोमोत्कर्षो, मतेरभून्तया बुन्दनकर्मत्वासम्मवात् तच्चुम्बन नियतविषय- विषयिभावसम्बन्धम्, भवत्विति जोत्तकार प्रार्थनाम् समस्त सन्दर्भं कविसमवेन श्रीकृष्णविषयकरतिभाव च व्यनक्ति । पृथ्वी छन्द ॥ १ ॥

कवि ने 'कादम्बिनी' का विनाश 'काऽपि' बना है । जगत् इत श्लोक में व्यतिरेक अङ्कार है और सन्नाप, गोपिवर्ण, तथा कृष्णमूर्ति, जो यहाँ उभये हैं, उनका कर्मणं भाव, विपु, कादम्बिनी रूप अगमनों से निगरण होने के कारण व्यतिशयोक्ति अङ्कार भी है । इन दोनों अङ्कारों के परस्पर सापेक्ष रहने से सङ्कर नामक त्वांश अङ्कार होता है । (नक्षत्रों से होने वाले व्यन्धनों का शान संभूत टीका से बरता आदि ।)

य (पेरमट्ट) श्री सरस्वती, तद्वाभ्यासी ज्ञानेन्द्रस्तमामा त्रिभु मन्यामी, तस्मादुपाध्यायात्, अधिपतो ज्ञात पठित इति यावत्, मकन इत्सो बहुविद्याया वेदान्तस्य प्रपञ्चो विम्वरो येन तादृश । तथा य, महेंद्रात् तदात्मविदुष, काणादो कणादेन प्रोक्ता वैशेषिकरूपा अपि च—आक्षपादो अक्षपादेन गीतमेत प्राप्तः न्यायतक्षणा महनगिरो गम्भीरार्थकवाणी, अवेदीत्-अज्ञापीन् पपाठेति यावत् । तथा य स्मरहरस्य शिवस्य नगरे काश्याम् देवात् खण्डदेवनामत्रपण्डितादेव (तनु यत कुतश्चित्) जैमिनीय जैमिनिना प्राक्त दासन पूर्वमीमासादभंतगाम्भ्रम् अध्यगी-ष्ठापाटीत् । तथा य जेप इत्यञ्जो नामैकदेशतया चिह्न धम्य स जेपाञ्च तस्माच्छे-पदीरेश्वरकोविदान् प्राप्ता लक्ष्या ज्ञात इत्यनर्थात्तरम् जेपस्य पत्रज्ञाने जमला निर्दूपाणा मणितयो व्याकरणमहाभाष्यरूपगिरा येन तथाभूत त्तु, सर्वविद्याधर सर्वासा चतुर्दशानामष्टादशाना वा विद्याना धारकोऽभूत् ।

किञ्च मस्य कीलया शिक्षणवेष्टया पक्षे समीहया, पापाणादपि जहत्वेन जस्मर-तुन्यादपि (मत्त किमुत कुतश्चन विद्ग्यान्) पक्षे प्रस्तरादपि, पीयूष माधुर्येणामृ-ततुल्य काव्यम् पक्षेऽमृतम् ध्वनन्ते प्रादुर्भवति, पक्षे स्रवति । त तश्चया नत्राम्भ्या भातु पक्षे रमाया वास्य वल्लभम् परमदृष्टाव्य पेरमट्टनामानम् मफाल जगन-सर्वविद्यासिद्धिपान्त्र्य पक्षे रक्षणेन श्रेष्ठम् गुर पितर पक्षे महनीय विष्णुम्, उन्नेजि-बादयामीत्यर्थम् ।

इह श्रीगद्यस्य सरस्वतीवाचकत्वे श्रीश्र ने तश्चीश्र पन्थी इति श्रुति, 'श्रीलक्ष्मीरमण नीमि' इत्यादय प्रयोगात् प्रमाणम् । तस्य बहुवचनवाचकता केनचित् कल्पितैव प्रमाणातुपनम्भात् । एवमेव गद्यस्य त्रिविधार्थकत्वमप्यप्रतिबन् । सत्यमामा मपेतिवत् खण्डदेवी देवपदेन बोध्यते । जेपोपाद्ये धांष्टपादो सत्वेऽप्यौ-चियाद् बीरेश्वरस्य ग्रहणम् । अधिगनविद्यानामुपादान तु जमजिडम् त्तं प्राग्वेदान्तस्य सर्वाग्ने व्याकरणस्य कोषाशानात् ।

गुरो सर्वविद्याऽधिगन्तृनाया स्वग्निम् सर्वाणामपि तामा मद्भक्ति, तथा

प्रत्यकार गुरान्त—यान वै भते विद्या तथा जमवर्तो वा परिगुहि को दिग्ने ई—
'श्रीमद्वान' इत्यादि ।

श्रीमान् 'शनेन्द्र' नामक संवायो मे त्रिद्विने सम्य ब्रह्मविद्या वा विम्वर वेदान्तज्ञान (लघुन वा उभ शान वा ज्ञान यदा विज्ञेय ई) प्राप्त त्रिदा, कश्च तथा गौतम जी (अर्थबुद्ध नेने मे) गम्भार इत्येयो (वैदिकिक नर व्याकरणेन) 'महेंद्रासी' से मज्ज, 'महेंद्रेश्वर' से जे देवान्त-ज्ञान (पूर्वमीमासा) काजा ने रहकर यदा श्रीप देव उन्नेश्वरी तारदर कीर्तन से द्वावकन्य दन्त्यन्ति नै निर्मल इत्येयो (महाभाष्य) अस्मिन् वं, इय प्रकार से सब विद्याओं के ध्यान करने वाले हुए ।

जिनकी लोड-देखने के और इच्छा से वाचना—द्वय, अब य वाचनात्मक ज्ञान मुझे भी अनुद भव न अनुपादुद मरण कश्च इय रहा ई—वास्तुतः हो रहा है, उन जेन यथा दिग्ने देवों के प्रत्यक्ष लक्षणजन (लक्ष्मी जम्भी मेरी इत्या के एति अथवा विष्णुच) 'पेरमट्ट' नामक मरण—इय मुन्नेव—जिन्की क मे प्रणम करण है ।

स्वयन्वयस्य मुविवायं विहितत्वेन श्रेयस्त्वम् । सूचयन्—

निमग्नेन कलैः शैवेतनजलधेरन्तरुदर, मयोन्नीतो लोके ललितरम्यङ्गाधरमणि ।
हरश्चलध्वान्तहृदयमधिरुदो गुणवतामलङ्कारान् सर्वानपि मन्त्रितगवन्ति रचयन् ॥

स्वपाण्डित्यश्रयं मुखेन स्वोत्तरेरपादयतमत्वम् स्वयन्वनीयरचनोद्भवयो पापाण-पीडुप-
श्वतादात्म्यप्रदयोगेन स्वस्य विगय स्वरचनायाश्चमत्कारकत्वं च, अपिनाऽप्यापत्ति-
शरवचनेन परत्र तत्सौकर्यातिशय लीलायावस्यैव तावत्सम्पादकत्वेन गुरारुद्गुण-
मन्त्रितयानिना, तथा वन्दनीचिनी कं मुख्यम् ।

पूर्वमिम् पद्ये यद्यकानुप्रासमसृष्ट काव्यलिङ्गम्, परस्मिन्प्रवर्षापत्ति-काव्यानिङ्गो-
पसृष्टता नपामोकिरतिशयोक्तिर्वाङ्मद्वार, प्रमेण मन्त्रगज्जुष्टुप च ह्यम् ॥ २-२ ॥

मदनमनुष्यान्मेव गम्भीरतया जलधि समुद्रस्तस्य, अन्तरुदरम् उदर-
मन्मन्मन्मन इति यावत् क्लेशैर्विश्रुमिर्दुं छै (नखनायासम्) नितरामत्यस्त मालेन
(मन्वोपदेव प्रविष्टेन) मया जगदायेन लोके मत्संयुक्ते, उर्वर्चं नीत उद्भूत
उपमानीन इत्यनर्थात्परम्, ललितो निर्दूषणत्वेन गुणालङ्कारोपहितत्वेन वा सुवरो
रम्यङ्गाधरम्यमायाऽप्य प्रबन्ध एव स्फुटप्रदायप्रतिश्रावकत्वेन मणि, गुणवता वै-
श्याभूता (नखनहृदयानाम्) हृदय चित्त यज्ञश्च, अदिरुद प्रविष्ट आरुद्रश्च अन्त-
र्याल मानसिक साहित्यपदार्थविषयकाञ्चानम् ज्ञानराजिक तमश्च, हरश्चपनयन्,
सर्वानपेयान् (ननु कतिपयानेव) अलङ्कारान् जगद्धारमन्त्रिषादकान् प्रथान्
भूषणानि च, मन्त्रित स्वयमेव भ्युना गवोऽप्याधारण्यमदो येषा तादृशान्, रचयन्
करोन्वित्यर्थम्)

यौ मन्मथो मे श्रद्धेयिदामन्तरुदरं का वान क्वा क्व मन्मथनवा गन्मथो मे श्रद्धेयिदामान्तौ
अपिपदा को मुक्ति कर्त्तुं ट, 'गवेगो' इत्य क्रियात्वं मे वैशेषिक तथा व्याकरणेन यो कर्त्तुं
मन्मथ म किं मन्मथ ट् टिआ इत्य विशेष को अतिव्यक्त वरने हे और गुण को सर्वनिष्ठागिन
बनटा कर उनने केमकी शिष्य अने म श्री उन विगमो के मन्मथ को व्यक्त करने हे । इनी तरह
अने मे पारान के मन्मथ कविता मे शेष के मन्मथ या मन्मथं पर गने म निवच पव
मदना कविता मन्मथरागिदम के मुक्ति कर्त्तुं हे । मन्मथ पव म 'मन्मथ उवा अनुप्रास' इन
दोनों मन्मथद्वारों मे मन्मथ काव्यलिङ्ग अन्तरुदर और द्वितीय पव म वाच्यिङ्ग मे ललित अति-
संश्लिष्ट अलङ्कार हे ।

अने उच्यते यौऽनुना काने हे—'मिथम्वेन' इत्यादि ।

मने (साहित्यिक पद्यों के) अनुविम्बनरूप समुद्र के अन्तर्गत में बटे दुओं से न कि
अमानम, निरुदर मन्मथोचर—न कि योत्र सा दक्षिण क्षेत्र, मन्मथ में पुन 'रत्नपद्मार्थ' रूप सुन्दर
मणि को निरूपण हे । इस तरह निकली गई यह (रम्यपद्मार्थ रूप) मणि, गुणितों के हृदयों
में दक्षिण क्षेत्र आन्वयिक अन्वय (साहित्यशास्त्रविषयक अज्ञान) को हटा काटी हुई, सभी
कान्मथो (अन्तर्गतमन्मथो विदग्धो मन्मथ आमुष्यो) को सर्वरहित कर दे । तात्पर्य यह हे कि—
मने तब सोच-व्यवहार करे इत्य अर्थ को लिख हे, यह अलङ्कार यन्मो मे मणिश्लेष हे, इससे साहित्य-
शास्त्रीविषयक मन्मथ अज्ञान धारणाएँ दूर हो जायेंगी, अन् सादर्य जब इस अर्थ को अने हृदयों में
स्थान अर्पण देंगे, इन अन्वयरत्न के प्रभाव से और-और अलङ्कार अर्थ जगव हो जायेंगे । मन्मथ

इत्य स्वप्नस्य प्राचीनैरगताथैव प्रतिपाद्य नवीनैरपि स्वसजातीयद्रव्यान्तरैर-
वशापैव प्रतिपादयति—

परिष्कुर्वन्त्वर्थान् सहृदयधुरीणा कतिपये,
तथाऽपि क्लेशो मे कथमपि गताथो न भविता ।
तिमीन्द्रा सङ्क्षोभ विदधतु पयोषे पुनरिमे,
किमेतेनायामो भवति विफलो मन्दरगिरे ॥ ५ ॥

अथ परेषामपि रत्नोद्धारिणा ममुद्राम्बन्तरे चित्त मन्नेन दुष्प्रत्यासंरद्वृत्तौ
मणिमंहीयसा वस्तस्वतमास्व स्वैतरभुवपानि स्वापेजया हीनवाम्नीनि करोतीति
प्रतीते रूपकानुप्राणिता समासोक्तिरनुकार । अन्तर्भावस्य द्विरपादान विशिद्
विच्छित्ति विश्चिदत्ति । सम्पूर्ण मन्दमैत्र सुविन्ध्य विहितोऽय प्रबन्ध परमोपा-
सङ्काप्रबन्धेभ्य सर्वयोत्पृष्ट इति वदनाऽभिधेयेषुपृष्टय प्रकाशयते । गुणवत्रामित्यनेन
'मदुक्तिश्चेदनामंदयनि सुधोभूय मुद्धिय', किमन्या नाम स्वादननपुरपातादरभरं ॥
इति पद्यार्थाय प्रतिपाद्यते । अस्तद्द्वारेषु गर्भस्य चित्तवृत्तिविशेषान्तरनाम्नोऽयदया
उदयसमस्यासन्नवेक निरस्तुजनाप्यत्वम् । एषपत्तिनि प्राप्यन् प्राप्यताया मोद् ।
शिखरिणी छन्द ॥ ४ ॥

कतिपये कतिचन (भूयासाऽपि) सहृदयधुरीणा सचेतना प्रवरा, अर्थात्
बाह्यवशास्त्रीयपदार्थान्, परिष्कुर्वन्तु स्वप्रणिमानुरूप मयेष्ठ (प्रव्यान् एषदन्तु)
विवचयन्तु । तथाऽपि तेषा विवेचनेनापि, मे मम क्लेश एतद्द्रव्यरचनामपाम, कथ-
मपि केनापि प्रकारेण (ईषदाप) गताथोऽन्यथानिदप्रयाजनक, न भविता नैव
भविष्यति, इमे तीर्तुं श्यमाणा, तिमीन्द्रा महामत्स्या, पुनर्भूय, पयोषे नागरस्य,
सङ्क्षोभ मुहुपरतने सम्यगालादनम्, विदधतु कुर्वन्तु, एतेन तिमोन्द्रास्नाननेन,
मन्दरगिरेर्मन्दापनस्य, आयामो रत्नोद्धाराय ममुद्रामन्दनपरिधम, कि विफलो व्यर्थो
भवति ? अस्तु न नवनीत्यर्थः ।

सन्दर्भ से वह बात निकली कि इस निम्न में जब निम्नो को अनेक बहुत कुछ मन्दा है, वह
कहने है ।

वहाँ वह अर्थ प्रतीत होता है कि—किमी ने बड़े कष्टों से मनुष्य में लीला लगा कर वह नयी
निकली, प्रौढनी ने उसे हार में मूँ ब कर अपने घरकष्ट पर खरप किना और उसकी एतिस प्रती
के समने सब सुवन्दनिमित्त क्लेशप्रती की प्रसा हीन हो गई । इसलिये इस रूप में स्वकतुनगति
समासोक्ति अर्थर है ।

इसद्वारे में मूर्ख मने अनेक बहुत कुछ एतिस अर्थ का परिष्कार करें—एतव वस्तु-वस्तु का
सहित वस्तु का विवेचन करने रहें, एतु उन एतेने ने विवेचन से मेरा कल—एतव-एत-
निदान में होने कथ्य मन-किती तरह, एतुर्थ-निदान-मन ही ही मन्दा । ये एतु हीन होने
कथ बने-बने कल्प एतु की सुख करते हैं, ली करे, सन्तु इत्ये कथ मन्दरकष्ट का मन-मन्द-
प्रस-निपठ होता है । वहाँ बड़े मन्मो के क्लेश-मन से रत्नोद्धार स्व प्रवेदन की सिद्धि नहीं
होने के कारण एतेने की निकलने कथ मन्दापठ का मन्दकथ्य विपठ नहीं होता, वहाँ यह
अन्य विधानों के विवेचनी हैं सही-सिद्धा-निर्णय-अन-प्रवेदन की सिद्धि न होने के कारण,

स्वपाण्डित्यप्रकर्षं प्रकाशयन्नेतत्प्रबन्धस्य मन्वातीत्यव्यतिरेकं प्रदर्शयति—
 निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूप, काव्यं भयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चिन् ।
 किंसेव्यते मुमनसा मनसाऽपि गन्ध, कस्तूरिकाजवनशक्तिभृता भूमेण ॥ ६ ॥
 'सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्योतु श्रोता प्रवर्तते । शास्त्रादीं तेन वक्ष्यन् सम्बन्धं तत्र
 योदत ॥' इत्यभिदुक्तोक्तोपरिघोषस्य प्रकाशाय प्रतिबानीते—
 मननतरितीर्णविद्याऽर्णवी जमघ्नायपण्डितनरेन्द्र ।
 रसगङ्गाधरनाम्नी करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम् ॥ ७ ॥

इह यथा विभीन्द्रास्फालनेन रत्नोद्धरणरूपप्रयोजनान्निपत्या कथमपि मन्दरस्य
 भयात्तो न निष्कततो वति, तथैव साहित्यपदापनामितरविद्वत्परिष्कारेण सिद्धान्ता-
 बधारणालक्षणप्रयोजनसिद्धया कथमपि समेतद्व्यन्तरचनान्ममो यतामो न भविष्य-
 तीति दाक्ष्यायंताम्यस्य गम्यत्वात्, सत्त्वयावर्त्यकव्यैवोन्नपशाधाररूपस्य 'न
 भविता' 'किं भवति' इति सन्धेदेन वाक्यद्वये द्विविधोऽप्य प्रतिबन्तूपमाऽनङ्कार ।
 नत्वर्थान्तरव्यास, वाच्यार्थयो सामान्यविशेषभाव-कार्यकारणभावपोरमावात् ।
 नन्वेति भविष्यत्सामान्यबोधकलुटोऽप्रयोगेण स्वतुल्यकाले कियतामेतादृशप्रब-
 ष्चरवात्सामाना विचक्षणाना सद्भावस्य सम्भवेऽप्यपि सर्वथा तदसम्भव सूच्यत इति
 केचित् । गिद्धरिणी छन्द ॥ ५ ॥

उदाहरणानुरूप ध्वनिगुणालङ्कारादिलक्ष्यत्वयोग्यम्, नूतन नवीन शानिनीविना-
 साद्य काव्यम्, मन्वा निर्माय रचयित्वा, जम रसगङ्गाधरे परत्यान्वस्य, किञ्चिदीप-
 दपि 'उदाहरणम्' न निहितं नैव निबद्धम् । कस्तूरिकाजवनशक्तिभृता कस्तूर्युतनदन-
 सामर्प्यमाणा, भूमेण, मुमनसा कुमुमाना, गन्ध परिमल, मनसाऽपि (कि पुनर्नामि
 कथा) किं सेव्यते उपादीमते ? अपि नैत्यर्थ ।

अत्र पूर्ववत् प्रतिबन्तूपमाऽनङ्कार । कस्तूरिकाभूतैस्तुल्यत्वात् तज्जननशक्तिभृतेषु
 कथन स्वस्व भाववपेक्षितपद्योत्पादनदामत्वम् समस्तवाक्यार्थेऽत्र परेषा साहित्यस्य
 कारणा परकीयोदाहरणब्रह्मणात् तदभावम्, उत जातमन्तोम्य, एतद्व्यन्त्यस्य
 तद्व्यन्त्येनो विलक्षणभावमवयति । वसन्ततिलक छन्द ॥ ६ ॥

साहित्यनिर्माण—किं एक दुन प्रब के निम्ने-र्जे होवे वात्र मेर एन नी किरी तरह व्यर्थ नहीं,
 अपिनु मर्त्त । मर्त्त है' ऐसा वाक्यार्थ गम्यमान है और 'न भविता, नत्व किं भवति' इन दोनों से
 एक ही सत्ता का भाव्य रूप धर्म दो धारणों में निर्दिष्ट है, अतः प्रतिबन्तुपाय अङ्कार होता है ।

अन्य निम्ने में अने निम्न में विद्यमान विदेश का दिव्यजन कराने है—'निर्माय' इत्यादि ।
 इन निबन्ध में उदाहरणों के अनुगुण ध्वनि-गुण अलंकारों के पिताम हैसा तस्य होना चाहिये
 नैसा—काव्य बसाकर मने उच्यतेत किञ्च है, दूसरे का कुछ भी नहीं लिखा, (शीक ही है) जो
 कस्तूरी की सदि वर सक्त है वह मृा क्या क्या मनम भी किनी पृष्मौरम की सेवा करने की
 कामना करता है ? वहाँ जो पूर्ववत् अनिबन्तुपाय अङ्कार समझना चाहिये ।

'नन्वृती जो धारण करने वाला' ऐसा न केवल 'कस्तूरीजनन की शक्ति को धारण करने वाला' इस
 कथन में समझ-समझ-काव्य-निर्माण-साधर्म और समस्त वाक्यार्थ से अन्य अङ्कार-अन्य-निर्माणों
 में सर्वदा उदाहरणों के धारण करने के कारण उन कवित्तत्त्विक वा जगत् जगत् होता है, उन व्यन्ध
 से भी अन्य-विशेषादिवा अने अने तथा तत्काल यन्मापेयवा सज्जन सन्ध में वैशेष्य व्यक्त होता है ।

स्वप्रबन्धस्य प्रचारमाशक्ति—

रसगङ्गाधरनामा सन्दर्भोऽपि चिर जयतु ।

किञ्च कुलानि कवीना निसर्गसम्यञ्चि रञ्जयतु ॥ ८ ॥

मननमेव पारनायकत्वेन तरिनीं तथा तीर्थं प्राप्तपार विद्या एव गाम्नीयेण
कुस्तारतया वाष्णवं समुद्रो येन स जगतामश्रामो पण्डितानां नरेन्द्र पण्डितनराणा-
मिन्द्र पण्डितेषु नरेन्द्र इव पण्डितश्चासी नरेन्द्रो नरश्रेष्ठ पण्डितराजपरानिधानो वा,
इमा रसगङ्गाधरनाम्ना काव्यस्य (तदङ्गानामलङ्कारादीनां च) सीमागा विचार
उद्देगलक्षणपरिष्ठा यत्र तादृशी रचना कुतुहेन कुदूहलेन (न तु बलेन)
करोतीत्यर्थं ।

इह रूपकमनुभासश्चातङ्कार । पूर्वार्धेन प्रयत्नपण्डितविहितत्वेन प्रबन्धस्वोपादेय-
त्वम् काव्यमीमांशामित्यनेन विषय प्रयोजनं च कुतुहेनेत्यनेन स्वस्वतादृशप्रत्यरचनेऽ-
पि स्तेसाभावाद्द्वारेण पाण्डित्यातिरेकञ्च व्यज्यते । आर्या छन्द ॥ ७ ॥

रसा एवास्वाद्यत्वेन गङ्गा तस्यां धर प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसमन्वयेन धारकः,
यद्वा रसानां प्रतिपाद्यत्वेन गङ्गाधर अङ्कुर इव रसगङ्गाधर इति नाम यस्य, तादृश
अथ बुद्धिगोचरीकृत सन्दर्भं पञ्चाङ्गवाक्यरूपो ग्रन्थः, चिरमनल्पकाल, जयतु सर्वेभ्य
साहित्यग्रन्थेभ्य उल्लेख्यतया वर्तताम् । किञ्च तथा निसर्गात् स्वभावात् (न तु
ध्यायात्) सम्यञ्चि सत्काव्यविरचन-विशेषनव्यसन्नितया समीचीनानि, शब्दानां
काव्यस्य निर्मातृणां विवेचकसहृदयविदुषा च कुलानि बुन्दानि रञ्जयतु साहित्य-
निदानानिष्कर्षोद्यतेतानन्दमवित्यर्थं ।

अत्र धमकमलङ्कार । वाक्यस्य पञ्चाङ्गानि तु—'विषयो विषयवर्षैव पूर्वपक्ष-
स्तमोत्तरम् ॥ निर्णयश्चेति पञ्चाङ्ग शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥' इत्यनेन महत्त्ववर्णन-
यितानि । 'सहृदयान् पण्डित कवि' इत्यमरानुशासनात् कविशब्दस्य विद्वद्भावक-
त्वमपि । कुलपदस्यात्र वगपरत्वेन तु चिन्त्यमेव, तद्वगपरम्पराया वैदुष्य प्रमाणा-
भावाद् रञ्जयतु इत्यन्तर्हत्वात् । आर्या छन्द ॥ ८ ॥

ग्रन्थ ने अरम्भ में अनुबन्धव्युत्पत्त्य (प्रतिपाद्य विषय, उक्त विषय से गांध प्रत्येक सन्बन्ध,
प्रयोजन और अधिकारी) काव्य कहना चाहिए अन्यथा तब ग्रन्थ के अर्थजन में टोपी का महत्त्व
नहीं हो सकती, ऐसा निदान है । अब प्रकृत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय क्या है ? इसको सूचना देने
के माध्यमार्थ ग्रन्थकार अपना तथा अपने ग्रन्थ का नाम निर्देश करते हैं—'मननचरि'
इत्यादि । निमित्त मननरूप (विद्या समुद्र से धर न जाने की शक्ति राजने के कारण) लोका से
उत्पन्न राजने के कारण विद्या-रूप-समुद्र को धर कर दिया है, वह पण्डितराज 'जगन्नाथ' दौन्द से
(न कि अयम से) काव्य-विवेचनय 'रसगङ्गाधर' नामक-निबन्ध को रचना करण है । यहाँ
'मननचरि' इत्यादि विशेषण से ग्रन्थकार-मन-वीर-वाण्डित्य सूचित होता है, निमित्त तथेति उक्त
में उदादेश्य व्यक्त होती है, 'काव्यमीमांशम्' इस धर से विषय तथा प्रयोजन की सूचना मिलती है ।
अङ्कार यहाँ रूपक तथा अनुपम है ।

मन्त्रर स्वशुभ ग्रन्थ के प्रति अपनी सम्मानना प्रकट करने हैं—रसगङ्गाधर इत्यदि ।
'रसगङ्गाधर' (रसस्य गङ्गा को धरण करने बला, अथवा रस के विषय में ज्ञात-रिच के साथ)

तत्र तावन् काव्यनक्षत्रसूत्रप्रवतारयति—

तत्र कीर्ति-परमाह्लाद-गुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकरस्य काव्यस्य व्युत्पत्तेः कविसहृदययोराद्यशयकतया गुणालङ्कारादिभिन्निरूपणीये तस्मिन् विशेष्यताऽदृष्टेदक तदिदतरभेदबुद्धौ साधन च तल्लक्षण तावद्विरूप्यते--

तत्र विकोपिते शून्ये । वीरियं परमाह्लादो वेदान्तरमन्पकं न्यत्वेनाद्वितीय मानन्द गुरुरा राजा देवताया च प्रसाद स्तुतिविरचनाकलनाभ्या प्रसन्नता चादियेषा तानि तादृशान्देवानि प्रजाजानि फलानि मन्त्र नत् तयोक्तम्, तथाभूतस्य काव्यस्य वक्ष्य-माणतक्षणक-विक्रमोवशेषस्य, व्युत्पत्तेर्गुण्यनक्षत्र-तद्विषयक विशेषज्ञानस्य इवे काव्यवर्तुं महृदयस्य तद्व्यासाद्विभुष, परमावश्यकतया निरामयभिनन्दनेन गुणा माधुर्यादय, अलङ्कारा अनुप्रासोपयाऽऽवयवाद्यो येषा तादृशै रमशान्प्रभृतिभिर्हेतुभि, निरूपणीये उद्देशलक्षणपरिभाषिषिवेचनीये, तस्मिन् काव्ये, विशेष्यताऽदृष्टेदक काव्यविहाया 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्' इति शब्दबोधावशिष्यताया, अन्वयैरमन्तानानिप्रसक्तौ धर्म, च तथा, तदितरभेदबुद्धौ 'काव्य काव्यनेम्यो भिन्न रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दत्वात्' इति भेदानुभिनी, साधन हेतुभूत, तस्य काव्यस्य सक्षण तावदादौ निरूप्यते प्रतिपाद्य विवेच्यत इत्यर्थ । इह तत्रेति तावद्वि-षयन इत्यनेन सम्बद्धम् । प्रथमकारिकायैव व्यहृतराज-कान्तासिन्धिनोपदेशानो-वादानन् कीर्ति-परनिर्बुत्पो वध्यत, धनप्राप्ते यानप्रसादजन्यत्वेन, प्रत्यक्षपुत्रेण गुरुरेताप्रसादाभावात्वेन प्रतिपादनम् । तथा चोक्त काव्यप्रकाशे--

'काव्य यज्ञोत्सङ्घने व्यवहारविदे विवेतरक्षणये ।
सद्य परनिर्बुत्तये कान्तासिन्धिनोपदेशायुजे ॥' इति ॥

अथैव अनुबंगं प्राप्तेरप्यनर्थाव ।

मानक यह निरन्तर विरक्त तत्क विन्दी बने, नवील्लुट होकर रहे और अन्वयत मनोहर मननच में ही ठहरे कविता (काव्यकर्तुं तस्य काव्यलोपक-नोपिरी) के समानों का अनुपमन बना रहे । योत्सङ्घनिष्पु कुराप्रती दुर्बलो का मनोरन्धन बने ही इम प्रत्य से न ही पर ओ सत्ता गुणादी हीये, उनके इत्ये तस प्रत्य के रूपयन से अवश ही सुखी हीगा, यह बात वही 'सिन्धुसुन्दर' इम कविपुत्र विशेषण से अभिव्यक्त होती है । अन्वय यहाँ समक है ।

अथ प्रथमकारिकाव्यलक्षण की अज्ञानता करते हैं—'तत्र कीर्ति' इत्यादि । यत्र, लोकोत्तर काव्य, गुरु, राजा और देवताओं की प्रशंसा, प्रशंसा जनेक निम काव्य के प्रयोजन हैं, उन काव्य को व्युत्पत्ति (निद्रुता-रूप-नद्विषयक-विशिष्ट-ज्ञान) यदि, (शान्तिभिर्भागा) और सहृदय (कान्ता-नन्द का अनुभव करने वाला) के छिने अर्थन आवश्यक है । इन्होंने यहाँ काव्यलक्षा का निरूपण करने हैं । यदि यहाँ व्याप यह श्रुति करें कि कविमहदत्तों को काव्यज्ञान करने के छिने यहाँ काव्यलक्षा निरूपण की क्या आवश्यकता थी ? क्योंकि गुण, अलङ्कार, रस, मय आदि से ज्ञान से ही ही काव्य का ज्ञान होगा, फिर उन्हीं कवियों का निरूपण पहले करना चाहिये इसका उत्तर यह है कि गुण, अलङ्कार आदि के निरूपण के बाद जो 'काव्य गुणविभू, हेमा ज्ञान होगा—कहे कराया जयगा, यह एक एक नहीं हो सकता, जब तक कि काव्य का ज्ञान न हो गया । यदि आप यहाँ ऐसा करते ! तो मैं कहूँगा कि एक ज्ञान में काव्य विशेष है, और गुणदि विवेका अ-

काव्य लक्षणति—

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ॥ १ ॥

उदीपकृद्दशितदिशा कविसहृदययो काव्यप्रयोजनभेदो यथायथमवधार्य । कवे-
कवित्व न तदनुभवप्रयोजकम्, किन्तु सहृदयत्वमेव । आवश्यकताशब्दस्य ताघनमस्म-
द्भ्रसमञ्जसामुरमिदिष्यनेऽवलोकनीयम् । द्वितीयेनादिपदेन रसभावाद्यष्टकस्य ग्रहणम् ।
निरूपण हि शब्दबोधानुकूलो व्यापार उद्देश-लक्षण-परीक्षाह्य । तस्मिन्निति
सप्तम्यर्थो निष्ठन्वम् । केषाचिन्मते प्रकारस्यापि विशेष्यताऽवच्छेदकत्वत्वीकारात्
काव्यासाधारणधर्मस्य तल्लक्षणस्य काव्ये प्रकारत्वेऽपि तन्निष्ठविशेष्यतावच्छेदकत्व-
मक्षुण्णमवधारणीयम् । काव्यलक्षणज्ञानस्यैव तत्र प्रवृत्तिप्रयोजकत्वेन तद्विषयकेच्छीम-
विषयताऽवच्छेदकत्वं च तस्यैवावधारणम् ।

रमणीयस्य स्वज्ञानद्वारक-विलक्षणधर्मकारणतया सुन्दरस्यार्थस्य वाच्यलक्ष-
व्यङ्गधान्यनमस्य, प्रतिपादको बोधक शब्द काव्य काव्यपदेन व्यपदेश्य इति
शब्दार्थ । रमणीयार्थप्रतिपादकत्वे नति शब्दावमिति तावत्तक्षणम् । तत्र रमणी-
यस्यानुरागाद्यर्थस्य व्यञ्जके कटाक्षनिक्षेपाद्यर्थविव्याप्ति धारयितु विशेष्यदलम् ।
अत्राचमत्कारवार्थबोधके 'घटमानप' इत्यादिवाक्येऽतिप्रसङ्गनिरासाद्यर्थप्रसंग्य रमणी-
यत्वविशेषणम् । रमणीयार्थनिरूपितस्य वाचकत्वस्य निवेजे तादृशाथव्यङ्ग्ये, व्यङ्ग्य-

'काव्यम्' ऐसा ज्ञान पहले से रहता आवश्यक है, कारण ? यदि विशेष्य स्वयम् अमिद्ध-ज्ञान रहेगा
तब हमने विशेषण नहीं लगाया जा सकता और 'काव्यम्' इस विशिष्ट ज्ञान में काव्यत्वविशेषण-
ज्ञान (जो नाश है) का अधिका है, अतः 'काव्य गुणारिम्' इस ज्ञान में विशेषणावच्छेदक (जो
मनस्य मन विषय होने में इत्यादि-उद्देश्य भी है) का अर्थात् 'रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम्'
काव्यत्व का निरूपण करने करते हैं । पहले उद्युत निरूपण करते का दूसरा कारण यह भी है कि
विभी पत्र वन्तु से विना दूसरा वन्तु में भेद रहता है, इसका समझना व्यवहार के लिए उपयोगी
है, हम भेद-ज्ञान के बिना कोई व्यवहार फल ही नहीं सकता, मान छोड़िये कोई जड़ही 'जो घट
तथा पट न व है भेद नहीं समझना' अगर व्यवहार में प्रवृत्त हो तो क्या होगा ? घट का कार्य पट
से भिन्न पट का कार्य पट से भिन्न लगाए । अब यह बात स्पष्ट हो गई कि 'विभी पत्र वन्तु में परनि-
रूपित समान वन्तुओं में भेद है, यह समझना आवश्यक है । यह नियम काव्य के सम्बन्ध में भी लागू
होगा अतः काव्य अतिरिक्त मरुत पदार्थों से भिन्न है ऐसा ज्ञान अत्यन्त अर्थात् है, अथवा लोग
काव्यान्तर्गत वं घटों में दूँदने लग जयें और काव्य में इतरभेद-ज्ञान, प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भव नहीं,
कारण ? काव्य अमूर्त वन्तु है, फिर अगत्या उस ज्ञान के लिए अनुमान प्रमाण की जरूरत होती होगी,
जैसे—'काव्य काव्येतरम्मान् भिन्नम्'—काव्य काव्यातिरिक्त वन्तु से भिन्न है, क्यों ? 'रमणीयार्थ-
प्रतिपादक-शब्दत्वम्'—रमणीय, अर्थ, का प्रतिपादक, करने शब्द, ये शब्द, उद्देश्य, चेतने, से परे, देते,
दिया जगता अर्थात् सब जगह इतर भेदानुमिति में उद्युत ही हेतु होता है, इस लिये भी प्रथम
परव्यवस्था निरूपण की आवश्यकता समझनी चाहिये ।

वाच्य उद्युत के स्वरूप पहले है—'रमणीय' इत्यादि ।

अर्थ का प्रतिपादन करने वाला—अर्थात् जिस शब्द से रमणीय अर्थ का बोध हो, वह
शब्द काव्य है । इस उद्युत में यदि 'शब्द' शब्द नहीं बचे, अर्थात् 'रमणीय' अर्थ का प्रतिपादन करने
वाला ही वह काव्य है इत्यादि ही उद्युत करें, तो रमणीय अनुमान रूप अर्थ को व्यक्त करने वाला
शब्द इत्यादि-निरूपण भी काव्य हो सकता, अतः 'शब्द' का निवेदन उद्युत में किया गया है । अर्थ

लोकचिद्वैचित्र्येणार्थनिष्ठाया रमणीयताया अव्यवस्थानाद् व्यवस्थितिमाचष्ट—

रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानयोचरता ।

नन्दाह्लादनिक्रम लोकोत्तरत्व सातिशय निरतिशय वा ? आद्ये तत्रिवेशेषु बहु-
विधानामानन्दानां पूर्ववत् सङ्ग्रहेणानुगम, द्वितीये तु ब्रह्मानन्दस्यैव तत्र प्रह्लादनु-
पत्तिरित्यतो लोकोत्तरत्व निर्दिष्टम्—

लोकोत्तरत्व चाह्लादगतमत्रमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवमाक्षिणो जातिविशेषः ।

इत्यस्य निवेशे च तथाविधार्थवाचके शब्देऽप्यापि विरयितुं तदुभयसाधारणस्य
प्रतिपादकत्वस्य प्रवेशः । रमणीयशब्दप्रतिपादके व्याकरणशैलिव्याप्तौ परिहर्तुं चार्थस्य
प्रवेशाऽवश्यम् ।

अकारस्वर्यकः । लोकोत्तरस्यालोकिवस्य, आह्लादस्यानन्दस्य, जनकमुत्पादक
पशुज्ञान, तद्गोचरता तत्रिरूपिनविषयतारूपाऽर्थाऽनिष्ठा रमणीयतेत्यर्थः ।

आह्लादगत आनन्दनिष्ठ, अमत्कारत्व विस्मयवक्षण-चित्तविस्तारारामकाशुत्तिष्ठम-
विशेषोपर पर्यायो नामान्तर यस्य सत्त्वा, तथा अनुभव महदवसमभवेन प्रत्यक्ष
चर्यागमकण साक्षी प्रमाण यस्मिन्स्वयाभुगम, जातिविशेषो विलक्षणतामानन्दम् । अनु-
भवमाक्षिकत्वकदनेन 'सचेतसामनुभव प्रमाण तत्र केवलम्' इति दर्शनदर्शिनस्तत्र
प्रत्ययेनरप्रमाणविरहो बोध्यते । तथा चान्येषामानन्दानामेतादृशानोकोत्तरत्ववैभुगमं
सङ्ग्रहोत्तुमशक्यत्वात् दोषः ।

यै रमण्य विह्वला लुगने का चक्षु, अस्मीति-अर्थ-बोधक 'धर्मानव' इत्यदि माधुर्य भावको मे
काव्यत्व का निगम समथना चाहिये । वाचक, लक्षक, व्यङ्ग्य वे लो गीत प्रथम वे शब्द माक्षिक-
शब्द मे म्हीलन हुए है, वे तीनों ही काव्य कहला सकन है, यदि उनसे अर्थ (वाच्य अथवा लक्ष्य
किंवा व्यङ्ग्य) रमण्य हो, इमो अर्थ ही सूचित करते वे शिथे लक्ष्य मे 'वाचक अथवा व्यङ्ग्य'
मे बदलत मामान्य 'प्रतिपादक' पद कहा गया है । रमण्य शब्द के प्रतिपादक मे व्याकरा के
मे शब्द है, उनमे काव्यत्वप्राप्ति मे ही रमण्य इत्यर्थ 'अर्थ' वा विरयन समथना चाहिये ।

अर्थ मे रमणीयता क्या हो सकती है ? यदि अर्थ कोई अर्थ लयना ही अर्थ मे रमणीयता है,
तो मे कहूंगा कि वाचक अर्थको ठेक है, परन्तु यह रमणीयता अन्वयस्तिर होषी, अथवा ? शब्दमेद से
यह ही अर्थ किमी को अर्थ और किमी को मुरा लाना सक्ता है, अथ प्रत्यक्ष अन्वयिण बोधना
का निर्वचन करने है—'रमणीयता' व इत्यदि ।

जिनके ज्ञान मे लोकोत्तर (अतीतिक) आनन्द उदय्य हो, वह अर्थ रमण्य है ।

अथ प्रश्न यह उठता है कि लोकोत्तर अन्वय किमर्थो कहेंगे ? अर्थान् अन्वयता लोकोत्तरत्व
यदि आनन्द (जिससे बड़ा दूसरा या अन्वय ही मथना हो, रमण्य) विरहित अर्थो, उव
लोकोत्तर करने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि अर्थमेद-अर्थमेद से विरहित अन्वय लोकोत्तर
सिद्ध हो अथवा, जिससे अन्वयस्था नहीं हो रहेगी । यदि अन्वयन लोकोत्तरत्व निरतिशय
(जिससे बड़ा दूसरा अन्वय न हो) विरहित अर्थो, तो अन्वयन के अर्थो लोकोत्तर (काव्य-
अन्वय, जिसको निरन्तरक होने मे कारण अन्वयन महोदर होने पर ही हमने किन मथना गया है)
संग्रहीन नहीं हो सकेगा, किमका समग्र करना ही इन अर्थो का मुख्य उद्देश्य है, रमण्य इन
दोनों से विरह्य लोकोत्तरत्व का निर्दिष्ट करने है—लोकोत्तरत्व' इत्यदि । करने का उद्देश्य
यह है कि यहाँ का लोकोत्तरत्व सातिशय, निरतिशय, कुछ नहीं, अन्वय, अन्वय रमण्य अन्वय मे

नन्वीदृश लोकोत्तरत्वमत्कार को जनयतीत्याकाङ्क्षायामाह—

कारण च तदवच्छिन्ने भावनाविशेष पुनः—पुनरनुसन्धानात्मा ।

आह्लादे लोकोत्तरत्वनिवेशस्य फल दर्शयति—

'पुत्रस्ते जात' 'धन ते दाम्यामि' इति वाक्यायंघीजन्याह्लादस्य न लोकोत्तरत्वम्, अतो न तस्मिन् वाक्ये काव्यत्वप्रसक्ति ।

धस्त्वर्थे । तदवच्छिन्ने भवत्कारत्वरूप-लोकोत्तरत्वभाष्यवच्छिन्नेऽलौकिकाह्लादे, पुन पुनरनुसन्धाने काव्यायंस्य भूयो भूय समानविषयक स्मृतिविशेष आत्मा स्वरूप धस्य, तादृशो भावनाविशेषस्तु कारणमित्यर्थे । इह न्यायनयोक्तभावनाऽऽख्यसत्कारस्य व्ययच्छेदाय पुनरित्याद्युपात्तम् । काव्यायंस्य निरन्तरस्मरणेनैव लोकोत्तराह्लादो जन्यते नत्वम्यादृशायंसंज्ञानमात्रं धेत्याशय । केचित् तार्किका 'हीवृत्तभावनाया स्मृत्कारात्मकत्वेन ज्ञानजन्यत्वात् पुनः—पुनरनुसन्धानादात्मा यस्येति व्यधिकरणबहुश्रीहिरि-हेत्यपि वदन्ति ।

प्रसक्तिरापत्ति । यद्यप्येतद्वाक्यद्वयायंज्ञानेनापि कश्चिन्नानन्दो जन्यत एव, किन्तु तवानन्दाय प्रागुक्तभावनाविशेषजन्यत्वाभावात्लोकोत्तरत्वस्य विरहेण रमणीयायंति-पादकरवविधुरतया नैतद्वाक्यद्वये काव्यनसणानिव्याप्तिरित्यभिप्रेमिन्धि ।

रहने बाह्य एक जातिविशेष है, चमत्कारत्व किमवा दूसरा नाम है, सद्दर्थों का अनुभव ही इस जाति की सत्ता में प्रमाण है, अर्थात् जिन जिन आनन्द में सद्दर्थों को 'लोकोत्तर, लोकोत्तर' ऐसा अनुभव हो, वही आनन्द लोकोत्तर है । साहित्यदर्पणकार विचयनाय ने भी इस प्रसङ्ग में कहा है— 'सचेतसामनुभव प्रमाण तत्र केवलम्' अन् अन्वयम्भा की शक्ति नहीं हो सकती है ।

पूर्वोक्त लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि करने का कारण का निर्देश करने है—'कारणं च' इत्यादि । चमत्कारत्वापरिषय लोकोत्तरत्व जाति से अवच्छिन्न परिचित अज्ञान विहित लोकोत्तर आनन्द में पुन पुन अनुसन्धानरूप अर्थात् धारावाहिक, भावनाविशेष शाब्दबोधभारत-अनुभव ही कारण है । सार यह समझना चाहिये कि जब हम किसी काव्यवाक्य को सुनते हैं, तब शक्ति हमरादि जो शब्दबोध को सामग्री मानी गयी है, तदनुसार पहले वाच्यार्थ बोध होता है, तदुत्तर यदि वह व्यङ्ग्य अर्थ रहा, तो व्यङ्ग्य सृष्टि द्वारा उमका बोध होता है, जो सद्दर्थों की अष्टा कल्पना है, अन् सद्दर्थमगल बाह-आर एव बोध को वर्णित धारणे है, जिनके लिए पुन पुन वन शब्दों की पडते हैं इस तरह समग्र की गयी वन बोधधारा सद्दर्थों की आत्मा में पूर्वोक्त लोकोत्तर आनन्द को उत्पन्न करती है । जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ नहीं रहता, वहा विच्छेद वाच्यार्थ की तादृश बाधधारा (भावना) ही आनन्द की सृष्टि करती है ।

आनन्द में लोकोत्तर-रीतिशेष लक्षणों का फल कहने है—'पुत्रस्ते' इत्यादि । यद्यपि 'तुम्हारे घर में छान्दा पैदा हुआ' 'तुम्हारे मैं धन दूंगा' इन वाक्यों से होने वाली भावना भी आनन्ददायिनी है, तथापि ये वाक्य काव्य नहीं हो सकत, क्योंकि इन वाक्यार्थों की अदरता से होने वाला आनन्द लोकोत्तर नहीं है, सद्दर्थों को एव आनन्द में लोकोत्तरत्व की प्राप्ति नहीं होती । बृह लक्षण में यद्यपि 'सन्धः' वह ध्वनिकल्पना प्रयोग किया गया है, तथापि वह ध्वन्य भन्दा विरहित नहीं है, अन् मधुपन काव्य का यह स्वरूप हुआ कि 'जिन शब्द अथवा जिन शब्दों के अर्थ की भावना करने से किसी अदौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, उसको अथवा उनको 'काव्य' कहते हैं' ।

अथ काव्यलक्षणनिष्कर्षं क्रमेण प्रपञ्चयति—

इत्थं चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादक-शब्दत्वम्, यत्प्रतिपादि-
तार्थत्रिपयकभावनात्वं चमत्कारजनकताऽवच्छेदकं तत्त्वम्, स्वविशिष्टजनक-
ताऽवच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति
फलितम् ।

इत्यममुना प्रकारेणोक्तार्थसिद्धौ सत्या, चमत्कारस्य लोकोत्तराह्लादस्य जनिका
या भावनाकाव्यार्थविषयकपुन-पुनरनुनयान् तस्मात् विषयो धोऽर्थ, तस्य प्रति-
पादकत्वे सति शब्दत्व काव्यत्वमिति फलितमिति नवत्रान्त्वय । अस्मिन् प्रथमलक्षणे
प्रागुक्तं ज्ञानपदं विहाय भावनापदप्रवेगस्य प्रयोजनं किमिति चेत्, श्रूयताम्—यत्र
कस्यचित् पुंसं सामश्रीवलेन काव्यार्थविषयकं तदितरावमत्कार्यविषयकं चैकमेव
समूहान्धवनात्मकं ज्ञानं जायेत, तत्र तदितरवाक्यार्थस्यापि चमत्कारजनक-तन्तुव-
त्तमेव—काव्यार्थविषयकज्ञानीयविषयनाऽऽश्रयत्वेन तत्प्रतिपादकपदोक्ते काव्यवदवाक्ये-
ऽपि काव्यत्वं तदितरवाक्ये प्रमज्जेत । भावना निवर्तते तु तस्या स्मृतिविशेषरूपत्वेन
समूहान्धवनात्मकत्वविरहाद् विषयान्तरस्य तज्ज्ञानं प्रवेगापम्भवात्तं दोषः । पुन-
पुनरनुनयानस्य हि युगादनेकविषयकनाया फलवतोऽपि सामग्रामवलनासम्भव-
कथ-
ञ्चिन् दालनीया । सत्कारस्यापि क्वचिन् समूहान्धवत्वमन्यत्र व्यवस्थापितमिति
तदुदादानात्तं दोषनिस्तारः ।

अत्र सव्यं न्याय ही दीर्घी मे काव्यलक्षणा वा परेणा काले ह—‘चमत्कारजनक’ इत्यादि ।
चमत्कार (लोकोत्तर आनन्द) को कल्पन करने वाला जो भावना (ज्ञानधारा) समवा विषय
(जिनकी भावना ही वह) को अर्थ, स-निष्ठात्क शब्द वा नाम हुआ काव्य और लक्षणा शब्दत्व
का काव्यत्व । इन प्रथम परिष्कृत लक्षण में ज्ञानपद न कह कर ज्ञानधारा—वाचक-भावना—पद क्यों
कहा गया, इन शब्दों का समाधान निम्नलिखित समझना चाहिये : कथा-कली भागवत-विरपक
ज्ञान-नामग्री से होने वाला ज्ञान अकस्मात् विद्वान्परोक्षोपक सामग्री के जुट जाने से उदासीन
बन्तु को भी विषयक बना देता है—अर्थात् ज्ञानत्व तथा उदासीन—दोनों का एक ही ज्ञान हो जाना
है, ऐसे ज्ञान को समूहान्धमन ज्ञान कहते हैं, अब आप कथना कीजिये कि—जहाँ ‘शून्यं वाम-
गृहम्’ इत्यादि काव्यार्थ-विषयक-चमत्कारकारी ज्ञान में उदोषजनक-समरधान से अत्यन्त अर्थ भी
भासित हो गया, वहाँ काव्यार्थ-विषयक होने के नाते चमत्कार-जनक-ज्ञान का विषय घटत्य अर्थ
भी हुआ, अब हम घटत्य अर्थ का उल्लेख करने वाला ‘घट’ इत्याकाक शब्द में भा काव्यत्व
प्राप्त हो लगेगा, उन्हीं काव्यताप्रतिष्ठा हेतु के लिए ज्ञान पद न कह कर भावना पद कया गया
है । भावना पद काले पर आगिन दमलिये जहाँ हुई कि एक बार मने ही उदोषजनक के जुट जाने
से ज्ञानार्थ विषयक ज्ञान घटत्य अर्थ भासित हो गया वन्तु काव्यार्थ विषयक ज्ञानधारा में उन्हीं
भासित होना अभिमत है, ‘गण ? अस्मान् जुने वाला उदोषक धराधर जुटा रहेगा, देमो
मन्मथता महा की जा सकता है । यदि कोई वारी ऐसा दुराग्रह करे कि—हा, महाएव, जव-जव
काव्यार्थविषयक ज्ञान हुआ तब-तब, उदोषक जुटगा ॥ रहा, उदासीन घटत्य अर्थ उन ज्ञान में
भासित होना हो गया, तब ही भावना पद-निवेश में आ निम्नार महा, जव ‘वत्-विशदितार्थ’
इत्यादि द्वितीय परेष्कृत लक्षण करने की आवश्यकता हुई, लिये वारी का एक दुराग्रह भी दूर हो
गया, कहने का आशय यह है कि—‘शून्यं वामगृहम्’ इत्यादि काव्य वाक्य तथा ‘घट’ इन दोनों

अत्रापि लक्षणैः प्रतिव्याप्ते यंत्रप्रतिपादितेत्यादिना द्वितीय लक्षण विहितम् । तथा-
हि—यत्र कर्मचित् वाक्यवाक्यार्थविषयिण्य निरन्तरोत्पद्यमानतया धारावाहिनी
स्मृतिविशेषरूपा भावना जायते तत्र चमत्कारजाकभावनाविषयीभूताना महोपादेव
समानाकाराणा तथा वाक्यार्थाना प्रनिपादकत्वात्सरूप तादृशवाक्यकदम्बके वाक्य-
लक्षणातिव्याप्ति स्पष्टैव । तत्र हि सर्वेषां तादृशवाक्याना चमत्कारानाधायकत्वात्
काव्यत्वं न कस्यापि सम्मतम् अपित्वेकस्यैव तेषु कस्यचिदित्यापत्तिरेपितुमपि न
शक्या । येन यादृशानुपूर्वीमता शब्देन, प्रतिपादिते बोधिते, अर्थे निष्ठा वृत्तमती, या
विषयता तत्रिरूपिणा या भावनानिष्ठा (तद्) विषयिनासम्बन्धेनावच्छेदकम्, तादृ-
शानुपूर्वीमत्त्वं काव्यत्वमिति लक्षणार्थं । तथा च प्रकृतवाक्यसमूहरेपसदस्य चमत्कार-
जनकत्वविरहात् तादृशानुपूर्वीमत्त्वाभावात्प्रतिव्याप्ति । आनुपूर्वी तु तद्वर्णनर-
हस्यत्वेन धावणप्रत्ययविषयताऽवच्छेदको धर्मः ।

अस्मिन्नपि लक्षणे यदादिपदप्रतिपाद्याना प्रचारतया शाब्दबोधे विषयीभावाद्
वृत्तिज्ञानाधीनतसदुपस्थितौता कारणत्वनापेक्षणाद् गौरवम्, यत्तच्छब्दयोग्यव्यभिचारा-
र्थकतायाऽनुगुणश्च रूपेण दुरतिरमिति स्वविशिष्टेत्यादिना तृतीय लक्षणमभिहितम् ।
अत्र हि मसर्गविधया ग्राममानाना तदर्थानामुपस्थिते शाब्दबोधेऽपेक्षणात्प्रथमम्,
यत्तच्छब्दविरहादननुगमाभावश्च व्यक्तमवसीयते । स्वशब्दस्फूर्तात्तोऽपि वैशिष्ट्यपद-
कार्षोपस्थापकत्वेनानुगतार्थक एव । स्वशब्देनान चमत्कारत्वस्य ग्रहणम् । तथा च
स्वविशिष्टा चमत्कारत्वावच्छिन्नजन्यनानिर्दिष्टा या भावनानिष्ठा जनकता, (भाव-
नायामर्थस्य विषयतासम्बन्धेन विनोपणात्) तदवच्छेदको योऽर्थः, तदप्रतिपादकत्व
सम्बन्ध, तेन सम्बन्धेन चमत्कारत्वविशिष्टत्वे सति शब्दत्व काव्यत्वमिति
पर्यवसितम् ।

शब्दोऽसि प्रतिपादित-अर्थ-विषयक-भावना ये एक होने पर भी वाक्य शब्द प्रतिपादितार्थ-विषयक
भावनात्वं, पर 'पट' इत्यादि उदासीन शब्द-प्रतिपादितार्थविषयक भावनात्वं एक नहीं, भिन्न है ।
इस स्थिति में चमत्कार-जनकता वा अवच्छेदक (परिचायक) काव्य शब्द-प्रतिपादितार्थविषयक
भावनात्वं ही ही भवता है, इतना नहीं, क्योंकि—जिसका जो धर्म अन्य (अपदेश में न रहने
काल) और अनतिरिक्त (अधिक देश में न रहने काल) होता है, वही धर्म समता अवच्छेदक
हो सकता है, उदासीन 'पट' इत्यादि शब्द-प्रतिपादितार्थ-विषयक-भावनात्वं शब्द 'पट' इत्यादि
शब्द-प्रतिपादितार्थ-विषयक भावना पर भी है, जहाँ चमत्कार-जनकता नहीं है, जो वर अधिक
देशगुण (अतिरिक्त) धर्म होने से चमत्कार-जनकता वा अवच्छेदक स्फूर्तात्तत्वं स्पष्ट न नहीं
होगा, फिर द्वितीय लक्षण के विचार से एक शब्द में व्यपत्ति नहीं हुई । किन्तु इस द्वितीय लक्षण में
भी एक नहीं व्यपत्ति यह दर्शित हो जाती है कि—यह लक्षण एक ही और तब पर में पटल है,
द्वितीया कथे अननुगत है—अर्थात् कोई एक निश्चित नहीं है, जो तादृश काल पर-परिद लक्षण
भी अननुगत होगा, फिर लक्षण करने का उद्देश्य (अनुगम करना) भिन्न नहीं हो मरेगा, दूसरी
बात यह है कि वाक्य-अनुगम-लक्षण एक ही होने में गौरव भी होगा, अर्थात् लक्षण को लक्षण
होना चाहिये, जो नहीं होगा, इसलिए 'स्वविशिष्ट-जनकता' इत्यादि तृतीय लक्षण का चमत्कार
सम्बन्ध कादिने । तृतीय पर-परिद लक्षण का लक्षण 'चमत्कार-जनकता' का लक्षण, जो
न कता है, न काल, लक्षण पर-परिद ही, जो गौरव किंवा अननुगम की लक्षण जाती रही । वही

इत्थ स्वकीय काव्यलक्षण प्रतिपाद्य काव्यप्रकाशकृतस्तत् खण्डयितुमुपक्रम्य तत्र प्रथम विशेष्यदलेभ्रंशस्य निक्षेपमाक्षिपति—

यत्तु प्राञ्च — 'अदोषो सगुणो नालङ्कारो ब्रह्मार्थो काव्यम्' इत्याहुः । तत्र विचार्यते—शब्दार्थयुगल न काव्यशब्दलाच्यम् मानाभावात् काव्य-मुच्चैः पठ्यते 'काव्यादर्थोऽवगम्यते' काव्य श्रुतम्, अर्थो न जात 'इत्यादि विश्वजनीनव्यवहारत प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च ।

तादृशचमत्कारत्वव्यवस्थामानाधिकरण तदेव काव्य' 'काव्य मित्याश्रुतगतमिति-विपननाऽवच्छेदकप्रमाऽऽस्थादविशेषजनकनाऽवच्छेदकतया वा सिद्ध जानिषिनेपहपमु-पाधिरूप वा लक्ष्यनाऽवच्छेदकमिति व्याख्यातार ।

लक्षणमिदं जगन्नाथस्य न सर्वथा स्वोक्तम् 'सलोपाद्राक्ष्यमित्याद्यंन्यवच्छिन्ना पदा-वनी । काव्यम्' इत्यानेयेन, काव्यमुपक्रम्य 'शरीर' तावदित्याद्यंन्यवच्छिन्ना पदावली' इति दण्डिभट्टेन च प्रतिपादनात् । खण्डनन्तु केचनगद्दवृत्तिकाव्यत्वाङ्गीकारनिर-सनप्रसङ्गेन पुरस्ताद् व्यतीमन्नियति ।

तुना वक्ष्यमाणाऽऽदि सूच्यते । प्राञ्च काव्यप्रकाशकारा । जाह्नवियप्रमेगा-न्वय । विचार्यते युक्तप्रत्युत्त्वमिति शेष । विश्वेभ्य सर्वभ्यो जनेभ्यो हिनां विश्व-जनीनो व्यवहार । प्रत्युतोक्तवैपरीत्ये । एवकार शब्दार्थमात्रस्य व्यवच्छेदक ।

प्राचीने तादृशार्थमयस्य काव्यत्वमङ्गीक्रियत इति न मोक्षनम्, यत् शब्दार्थयो काव्यत्वस्य ज्ञापक किञ्चिदपि प्रमाण नीपलभ्यते । किञ्चार्थस्य कष्टनात्वाद्यभिप्राय-जन्योच्चारणलक्षणपाठायोक्तत्वेन 'काव्यमुच्चैः पठ्यते' इत्यादिरूप, अर्थस्यापि काव्य-

लोकोपलव वा पर्यायवाची चमत्कारत्वं जातिविशेष माना गया है, जो, यद्यपि सामान्यमन्वय (समवाय) में चमत्कार—लोकोत्तर आनन्द में ही रह सकता है, काव्य में नहीं तथापि प्रत्येक 'स्वविशिष्टजनकनाऽवच्छेदकार्थ-प्रतिपादकता' रूप परम्परा सम्बन्ध से काव्य में रहेगा । यद्यपि यह सम्बन्ध कृन्ना अवश्य है, तथापि सम्बन्ध लक्ष्य घटक नहीं कहलाया, इसलिये अब तक होंने का इसमें नहीं व्यभिचन हो सकता, ऐसा समझना चाहिये । इस सम्बन्ध में स्वपद से चमत्कारत्व का प्रमाण जानना चाहिये, समवाय सम्बन्ध से लक्षणित होया चमत्कार, उसकी (तद्विरुद्धि) उत्पन्नता रहेगी भावना (ज्ञानधारा) में, उन जनकता में किन्पि विषया-सम्बन्धाच्छिन्न अवच्छेदकता रहेगी काव्यार्थ में, अर्थात्—विषया सम्बन्ध से काव्यार्थ भी भावना में प्रकार होता है, अतः वह (काव्यार्थ) भी भावनाच्छिन्न उत्पन्ना का अवच्छेदक होगा—अतः, काव्यार्थ का प्रतिपादक होगा शब्द, अतः तादृश प्रतिपादकता सम्बन्ध में स्व (चमत्कारत्व) शब्द में रहेगा । इसी तरह से लक्षण वा समन्वय जाना चाहिये ।

अब पण्डितराज स्वसम्मत काव्यलक्षण-निर्माण कर देने के बाद प्राचीन भावार्थ का किसे सर्व वाद-लक्ष्यों के अन्त-अन्त में सर्व-सर्व काव्य-वाच्यता सम्बन्ध वृत्त लक्ष्यता ही निर्धारित है—'यत्तु प्राञ्च' इत्यादि । काव्य-वाच्यता ने 'द्वैतनिर्णय' गुण तथा अलन यति काव्य-युगल' को काव्य माना है, हा, अलद्वार का अग में इनकी छट लक्ष्यों चयन का कि-वहीं-कहीं स्पष्ट अलद्वार नहीं रहने पर भी और अल के रहने पर शब्दार्थयुगल का काव्य कहा जा सकता है, परन्तु पण्डितराज स्वशास्त्र के विचार से यह लक्ष्यता हीक नहीं है, क्या ?

प्रतिपक्षिपक्षमुपक्षिप्याक्षिपति—

व्यवहार शब्दमात्रे लक्षणयोपपादनीय इति चेत्, स्मादस्येवम्, यदि काव्यपदार्थतया पराभिमते शब्दार्थयुगले काव्यशब्दशक्ते प्रमापक दृढतर किमपि प्रमाण स्यात् । तदेव तु न पश्याम ।

ननु तत्र कथं प्रमाणाभाव, प्रमाणान्तरविरहेऽपि काव्यप्रकाशकारादिप्राचीनो-
क्तेरेव प्रमाणत्वादित्यत आह—

विमतवाक्य त्वश्रद्धेयमेव ।

पदायत्वेन पृथक् तद्वृत्तेखानहत्वात् काव्यादयोऽवगम्यते इत्यादिरूप, अर्थस्य ध्वना-
सम्भवात् काव्यपदायत्वेनैव सङ्घाहत्वाच्च काव्यं श्रुतम् अर्थो न ज्ञात इत्यादि-
रूपश्च सर्वानुमती व्यवहारो नोपपद्यत । अर्थाचीनमते तु प्रमाणान्तराभावेऽपि, शब्द-
मानस्य काव्यत्वाम्बुपगमने ऋतुमवन्ती तद्व्यवहारोपपत्तिरेव प्रमाणीभवतीति तत्त्वम् ।

व्यवहार काव्यमुच्ये पत्रने इत्यादिशब्दप्रयोगरूप । लक्षणया अवयवात्म-
विभावरूपशक्त्यसम्बन्धसूत्रवगणकृत्या । पराभिमते काव्यत्राशाकारादिसम्भते ।
काव्यशब्दशक्ते काव्यपदनिष्ठाभिप्राया । प्रमापक ज्ञापकम् । तदेव शब्दार्थोभयसक्ति-
प्राहक प्रमाणमेव ।

यथा पूर्वं पञ्चाला इत्यादी समस्तपञ्चातदेशवाचकानां पञ्चालादिद्वन्द्वानां तदे-
कदेश लक्षणया प्रयोग लघ्वेवोक्तव्यवहारेषु शब्दार्थोभयवाचकस्य काव्यशब्दस्य स्वार्थ-
वक्ष्ये शब्दमात्रे लक्षणया स्वीकारण व्यवहारानामुपपत्ति स्यादित्यपि वक्तुं न
शक्यम्, काव्यपदनिष्ठाया शब्दार्थोभयनिरूपितानिष्ठाया ग्राहकस्य वस्यचिदपि प्रमा-
णत्वानुपलम्भादिति तात्पर्यम् ।

अनुपपत्तिप्रवृत्तन तन्मतनिराकरणपरैरस्माभिर्मन्दाकारमेव कथं प्रमाणत्वेन विश्व-
सनीयमिति भावः ।

परन्तु 'शब्दार्थ-युगल' को काव्य मानने में भी प्रमाण नहीं । श्रुत्यु 'काव्य और से पदा जा रहा
है, काव्य में अर्थ समझा जाता है, काव्य श्रुत अर्थ ज्ञान ॥ दो सवा' इत्यादि सार्वजनिक व्यवहार
में त्रिणिप्र प्रकार का शब्द ही काव्य मित्र होता है, अर्थ नहीं, क्योंकि 'शब्द और अर्थ' दोनों को
काव्य मानने पर एक व्यवहार नहीं बन सकता—अब तु यदि अर्थ भी काव्य होता तो क्या पाठ
बैत सम्भवं ही सकता, अर्थ का भा काव्य का शब्द अर्थ जाने पर काव्य से अर्थ का समझना भी नहीं
बन सकता, और अर्थ के ही काव्य का अर्थ भी समझने नहीं बन सकता, और शब्दमात्र को ही
काव्य मानना ही है 'शब्द-अर्थ' दोनों को नहीं ।

यदि आप कहे कि—वही व्यवहार क हिये काव्य पद का प्रयोग किया गया हो, वही लक्षणा-
वृत्ति में काम लिया गया है, यह तु एक व्यावहारिक वाक्यों में काव्यपद का साधुप्रयोग है,
शब्दार्थ-युगल-वाचक काव्यपद का प्रयोग लक्षणावृत्ति में द्वारा केवल शब्द में ही हो सकता है,
नेत्र समान-पाठ-देश-सार पाठान्तर शब्द का प्रयोग 'पूर्व लक्षणा' इत्यादि स्थलों में देश के
एक भाग में ही लक्षणा न होता है, इस तर्क का उत्तर लक्षणावृत्ति यह देना है कि—आपका यह
(लक्षणा द्वारा काम लक्षणा वाक्य) कथन तब सही हो सकता है, जब आप किसी एक प्रमाण से
एक शब्द का दे कि काव्यपद का श्रुत (काव्य) अर्थ 'शब्द और अर्थ' दोनों ही हैं । परन्तु ऐसा
नहीं हो सकता है कि एक शब्द का ही दो अर्थ हों ।

हरहरनि—

हरर चामति काश्यपशब्दस्य शब्दायंगुणलक्षणाहाके प्रमाणे प्रागुक्ताद्
शब्दहारत शब्दविशेषे सिद्धयन्ती शक्ति को नाम निवारयितुमीष्टे ?

एतत्प्रसङ्गे विनिगमनाविरहादुभयत्र शब्दायंगो काश्यपशब्दस्य स्वीकृता यत्र
निराकरोति—

एतेन विनिगमनाऽभावादुभयत्र शक्तिरिति प्रत्युक्तम् ।

पदवक्तिगणनाद्यटे—

तत्रैव शब्दविशेषस्यैव काव्यपदायत्वे सिद्धे, तस्यैव लक्षण वक्तुं युक्तम्,
न तु स्वकारिपदस्य काव्यपदायत्वं ।

इत्य प्रतिपक्षिकाव्यस्याभेदपक्षेनाश्रमाप्येन । प्रागुक्ताद् काव्यमुपार्थं पञ्चने
इत्यादिकात् । शब्दविशेषे रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दमात्रे । को नाम ईद वक्तिवत् ।
इष्टं भवतीति ।

इदमुच्यते—'शक्तिग्रह व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद् शब्दहारतत्र ।

काव्यस्य शेषाद् विप्लवेदंनि नातिष्ठत निद्वारदस्य वृद्धा ॥'

इति शक्तिविद्वान्नादिह व्याकरणादिशक्तिग्रहकप्रमाणान्तरानुपलम्भेऽपि पूर्व
कविना व्यवहार एव काव्यपदस्य शब्दमात्रमतिग्रह प्रमाणम् तस्यापि शक्तिग्रह-
कोटावुल्लङ्घात् ।

एतेन पूर्वोक्तप्रवहाराख्यनिगमनस्युच्यते । एतत्प्रसङ्गानिनी वृत्तिविनिग-
मना । प्रत्युक्तं शिद्धतम् ।

शक्तु प्रवर्तितव्यवहारैर्दृष्टवा काव्यपदस्य शब्दविशेषमात्रे शक्तिरिच्छारिता, तदा
गादुनाभ्यमानवद्वेषेव काव्यस्य लक्षण कथयितुमुचितम्, न पुन शब्दायंगोपवृत्तीति
मारम् ।

इति शब्द-शब्दे किं प्रमाणं तत्र तथा इतिहासः हीनः कथं अथ एत- एत- को तदा मानने ।
मर्तु आकारं मन्त्र वा यत्र वा शब्दायंगुण-को शब्द- इत्य- होने में -मा- है । हा, शब्द
ही-ही-मा- मानना-ह, शब्द- अथ-के-शब्द-को-वादी-के-इ-को-मा, शब्द-को-वादी-ह,
मा-के-मा-के-विश-ह-इ-उ-के-शब्द-को-ही-मा-के-म-ह- ।

इत-तर-अ-कि- 'शब्द-गी-मा' दोनों-में-काव्य-का-अभिप्राय-ही-नि-द-करने-का-
कोई-प्रमाण-नहीं-है, त-व-पूर्व-का-व्य-शब्द-मात्र-प्रमाण-ही-शब्द-मात्र-में-सिद्ध-होने-वाला-काव्य-शब्द-
र-ने-को-कौन-सक-सक-है ।

इ-मा-ही- 'शब्द-मान-को-काव्य-मानने-है-कोई-विशेष-शक्ति-नहीं-है, इ-म-वि-श-श-अ-अ-
दोनों-को-काव्य-मानने-आदि-है' इ-म-म-का-मा-उ-तर-ही-मा-ह-है, क्योंकि-इ-म-को-के-काव्य-
मानने-में-पूर्व-का-लौ-किक-व्यवहार-के-विनिगमन- (अ-क-उ-उ-र-गी-नी-शक्ति)-वर्तमान-है ।

इ-म-उ-उ-र-शक्ति-अ-क-उ-उ-र-शब्द-के-ही-काव्य-सिद्ध-ही-जाने-कर-त-द-नु-मा-र-अ-क-उ-उ-र-का-
उ-उ-र-क-व-ना-लक्षण-है, ॥ कि-जानी-अ-उ-उ-र-के-काव्य-स्य-में-कवि-शब्द-के-यु-उ-उ-र-उ-उ-र-
उ-उ-र-

स्वमत इदमित्नु प्रसङ्गाबाह—

एषैव च वेदपुराणादिलक्षणेष्वपि गतिः । अ यथा तत्रापीय दुरवस्था स्यात् ।

प्राचीनमत पुनरापाद्यावति—

यत्वास्वादोद्बोधकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम्, तत्र शब्दे चार्थे चाविशिष्ट-
मित्याह, स न, रागस्यापि रसव्यञ्जकतायां ध्वनिकारादिसकलालङ्कारिकसम्मत-
त्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्तेः । किं बहुना, नाट्याङ्गानां गर्वेषामपि प्रायशस्तया-
त्वेन तत्त्वापत्तिदुर्वारैव ।

एषैव च शब्दविशेषमानवृत्तित्वस्वीकृतिरेव । इतिरुपायः । आदिपदेनेतिहासप्र-
भृतिपरिग्रहः । अन्यथा वेदत्वादेरपि शब्दार्थोभयवृत्तित्वस्वीकारे । दुरवस्थातत्तद्व्य-
वहारविरोधापत्तिः ।

'वेद उच्ये पद्यते' वेदादर्थोऽवगम्यते' 'वेद श्रुत, अर्थो न ज्ञात' इत्यादितत्त-
द्वचनहारेभ्यो वेदपुराणादिसंज्ञानामपि शब्दविशेष एव शक्तिमवधार्य शब्दविशेषमान-
वृत्त्येव वेदादिलक्षणं लिख्यम् । शब्दार्थोभयवृत्तित्वलक्षणनिर्माणे तु काव्यवद् व्यवहार-
विरोधः स्फुट एवेत्याशयः ।

एतच्च स्वर्गविशेषजनकताऽवच्छेदकजातिभेदकफलोद्देश्य भ्रमाजन्मप्रयत्नविषय-
वाक्यपरम्परा शब्द तद्भूतिप्रत्यय जाति । अन्यत्रव्याख्या एव वेदत्वादिकात् ।
इत्यादिसन्दर्भेण काव्यप्रकाशविवरणे विस्तरणं प्रपञ्चितम् ।

आह्वारिण्येन द्युतिवत्यन्वेति । अवशिष्टं तुल्य साधारणमिति यावत् । रागस्य
सङ्कीर्तानुशासरोक्त-भेदस्वरविशेषस्य भेदत्वादिसञ्ज्ञकस्य । गीतशब्दानां रसव्यञ्जकता
ध्वनिकृता दृतीयोद्बोधने दक्षिता । लक्षणोपत्त्वापत्तेः रागस्यापि रसव्यञ्जकतयाऽऽस्वा-
दोद्बोधकत्वलक्षणलक्ष्यताऽवच्छेदकान्तरत्वेन तत्र काव्यलक्षणातिम्यात्त्वापत्तेः । सर्वेषां
नाट्याङ्गानां मरत्तोक्तानामालोचकरणाङ्गहासदीनाम्, प्रायशो बाहुल्येन, तेन कल्प-
यितुं तदभावीऽपि । तथात्वेनास्वादोद्बोधकत्वेन । तथात्त्वापत्तिः नाम्यस्याति-
व्याप्तिः ।

रसम को पुर करने के लिये प्रसङ्ग-वाह विषयान्तर की चर्चा करते हैं—'एषैव च' इत्यादि ।
वेद, पुराण, इतिहास, प्रभृति के लक्षणों के सम्बन्ध में भी यही कथन करना होगा, अर्थात् इन सबों
का लक्षण भी शब्द विशेष-मात्राधि ही बनाना चाहिये । अन्यथा वहाँ भी इसी तरह की गड़बड़ी
होगी, कहे के वा सार्वभूत है कि—यदि उच्यते-ममूह को वेद आदि मानेंगे तो 'वेद और स पदा
जाना है, वेद से अर्थ समझा जाना है, वेद ज्ञान, अर्थ समझ में नहीं आया' इत्यादि व्यवहार विरुद्ध
हो जायेंगे ।

वहाँ मंगल-मन-सामर्थक कुछ छोड़ एक और जरीन ठकें उपस्थित करते हैं । उनका कथन यह
है—काव्य उमरों करना चाहिये जिसने रस का उद्देश्य होता हो, जिससे महदर्थों के श्लोविक
आहार प्राप्त होता हो और उस आहार को देने की शक्ति शब्द और अर्थ दोनों में समानरूप से है,
अन 'शब्द और अर्थ' दोनों को काव्य कहना न्यायपात है । पण्डितधर का कथन है—आजका यह
तर्क ठीक नहीं । यदि रस को उद्बुद्ध करने वाली को भी चीज उमरों काव्य माना जाय तो राग को
भी काव्य मानना पड़ेगा, क्योंकि ध्वनिकार 'मानन्दवर्धन' आदि सभी साहित्यिक यन्त्रियों ने राग को

प्राथमिक मतान्तर निरस्यति—

एतेन रसोद्गोचरमभर्वन्स्त्रैवात्र लक्ष्यत्वमित्यपि परास्ताम् ।

उक्तमतानि पुनर्विकल्पोपन्यासेन दूषयति—

अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्त शब्दार्थयोर्व्यासन्नम् ? प्रत्येकपर्याप्तं वा ? नाद्यः, 'एको न द्वौ' इति व्यवहारस्येव 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इति व्यवहार-
स्यापत्तेः । न द्वितीय, एकस्मिन् काव्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः ।

'अलौकिकास्वादसर्वेषु काव्यस्य प्रधानप्रयोजनत्वेनामिदुक्तोक्तोत्तरद्वयपञ्चकत्वमेव
नाभ्यत्व वक्तुं युक्तम् । आरवाहव्यञ्जनना च क्वचिच्छब्दे क्वचिदर्थे क्वचिन्वोभयपदे-
त्यनायासा शब्दाद्यर्थोरेव काव्यत्वसम्पत्पान्त्वम्, न पुन शब्दमात्रे' इति केपाविन्-
रामसङ्गतम्, आन्वाहव्यञ्जकत्वमात्रस्य रसव्यञ्जनेषु रानेषु कतिपयेषु नास्याञ्जेषु
चातिप्रसक्त्यात् । न चेष्टाऽपत्ति, तेषामुपदेशादिप्रयोजनान्तरानुत्पादकत्वादि-
त्याकृतम् ।

एतेन रागादिव्यतिपत्सङ्गेन । रसोद्गोचरसामर्थ्यं व्यञ्जना, तच्च सम्भवदर्थोऽप्यसत्-
मित्युपगोरेव काव्यत्वम् । लक्ष्यत्वं काव्यत्वस्येति शेष । अपिवा पूर्वमतसंग्रहः ।

प्रवृत्तिनिमित्त शययताञ्जन्तेदकम्, 'वाच्यत्वे सति, वाच्यवृत्तित्वे सति, वाच्यो-
पस्थितिप्रकारत्वम्' इति सत्त्वलक्षणस्यान्यत्रामिद्वानात् । व्यासक्त व्यासन्नवृत्ति एक-
मेवोभय व्याप्य तिष्ठन् । प्रत्येकमेवस्मिन्नेवस्मिन् वाच्ये वाच्ये च पर्याप्त पर्याप्ति-
सम्बन्धेन विद्यमानम्, न तुमयवृत्ति । आद्यन्दो विरुत्पर्याक । नाद्य पक्ष सङ्गत इति
शेष, स च काव्यत्वस्य शब्दाद्योन्नयनानुत्पन्नप्रतिपादक । द्वितीयस्तु प्रत्येकपर्याप्त-
त्वप्रतिपादनः ।

एतद्वचक माना है । यदि अथ कहे कि—राग की जो काव्य भाव देने में अपत्ति ही क्या है, जो
सुन्दरि—रसव्यञ्जक होने में यदि किसी को काव्य माना जाय, तो फिर राग भाव को ही काव्य भाव
नेने से हटकारा धीरे ही मित्र कदना, काव्य के कितने अर्थ (नृत्य, वाद्य, वैश्व सामग्री, आदि)
है सभी को काव्य मानना पड़ेगा, जो किसी को भी हट नही हो सक्ता ।

दूसरी कारण से 'ने रसोद्गोचर में सम्बन्ध हो—जिसमें सहृदयी का आत्मानन्द कायत्र हो वहे—
वही काव्यरक्षण का लक्षण है, यह कदत भी स्पष्टित समझना चाहिए ।

'शब्द और अर्थ दोनों काव्य नहीं हैं' इस सिद्धान्त में सम्बन्ध में परिष्कार कुछ और तरीक
शक्ति बढताने हैं—'अपि च' इत्यादि । इस सन्दर्भ का भाव यह है कि किसी सुन्दरप में ही
रहने वाला धर्म व्यासन्नवृत्ति बढताना है—जैसे दिव्य, बहुत्व आदि, और एक में रहने काला धर्म
कहलाया है, प्रत्येक पर्याप्त तैने मनुष्यत्व आदि । अथ विचार यह करना है कि काव्य-पद-प्रवृत्ति-
निमित्त (काव्यत्व) किस कौटि का धर्म है ? शब्दार्थ मनुह में रहने वाला, व्यासन्नवृत्ति ? किंवा
शब्द और अर्थ में रहने वाला, प्रत्येक पर्याप्त ? अर्थान् शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य
कहलाने हैं, अथवा प्रत्येक पृथक्पृथक् ? यदि अथ प्रथम पक्ष को कबूल करने हैं, तब तो जैसे 'एक, दो
नहीं है, अठ, दस-पन्नीस नहीं है' ये सब व्यवहार होने हैं—अर्थात् एक में दो का भेद जानने हैं, दोके
जादव प्रत्येक एक को दो नहीं कह सकतै, जमी तरह 'स्टोक काव्य नहीं है' ऐसा व्यवहार होने लगेगा,
अर्थान् स्टोक काव्य को अथ काव्य नहीं कह सकतै, क्योंकि काव्य, काव्य वा एक अवसर मात्र है । यदि
द्वितीय पक्ष को मताने हैं, तब भी एक ही स्टोक में 'यहाँ दो काव्य हैं' ऐसा व्यवहार होने लगेगा,

प्रत्येकवृत्तिघर्मावच्छिन्नानुयोगितानिरूपकस्य, व्यासज्यवृत्तिघर्मावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकस्य तु भेदस्येष्टत्वात् 'एको न द्वौ इति व्यवहार 'घटो न घटपटौ' इत्यादि-व्यवहारवद् यथा भवति तथैव प्रकृते काव्यत्वस्य शब्दार्थोभयव्यासज्यवृत्तितया स्वीकारे श्लोकवाक्यात्मकशब्दमात्रपर्याप्तिविरहाच्छ्लोकावाक्यत्वावच्छिन्नानुयोगिताक—तादृशशब्दार्थोभयत्वावच्छिन्नप्रतियोगितान्भेदस्य सुवचत्वेन श्लाकवाक्य न काव्यम्' इति व्यवहारो भवेत् । शब्दमात्रपर्याप्त्यङ्गीकारे तु भेदीयप्रतियोगिताऽवच्छेदकानुयोगिताऽवच्छेदकगोरैवयाद् घटो न घट' इत्यादिनप्र तथा व्यवहारस्यापत्तिः । शब्दे चार्थे च प्रत्येकमपि काव्यत्व पर्याप्त्या वर्तते इत्यस्याने पुन साध्यातो पृथक् काव्यत्वम् अर्थात् च पृथक् तदादाय सर्वाभिमत एकस्मिन्नपि वाक्ये काव्यद्वयमिदम्' इति व्यवहारस्यापत्तिः । न चैतावता का क्षतिरिति वाच्यम्, तादृशस्थले 'नैक काव्यम्' इत्याकारकोत्तरकालिकवाद्यग्रहविरहात् एक काव्यम् इति प्रमाऽऽम्भप्रतीत्युच्छेदापत्तेरिति भावः ।

महामहोपाध्यायगोकुलनाथचरणस्तु— यद्यप्यर्थो न क्विक्रम तथाऽपि प्रथम प्रकारस्येवात्र कर्माभिधोयते । अम्यथा शब्दनित्यनावादे मीनिना लिखित्वा शापिते च शब्देऽपि कविक्रमत्व न स्यात् । तथा च विनियमनाविरहादप्यविशेषावदद शब्द इव शब्दविशेषावरुद्धोऽर्थोऽपि लोकोत्तरचमत्कारव्यञ्जकतया काव्यमिरपुनयो प्राध्यायेन निर्देशः । काव्य शृणोति इति व्यवहारस्त्वर्थार्थिऽपि शब्दबोधार्थकभ्रूणोति-नोपपादयितुं क्षमते 'आत्मा श्रोतव्य इतिवत् । तत्तु शरीर तावदिष्टार्थं-व्यवच्छिन्ना पदावली इति वचनम् तत्र व्यवच्छेद समुच्चय एव न त्यवच्छिन्नत्वम्, विनियमनाविरहात् । 'रसवच्छेदार्थोभयत्व वाच्यलक्षणम् । तत्र बीतादावतिव्याप्ते-धारणायार्थं, अभिनेयावधारणाय शब्दोऽप्युपात्तः ।' इत्याहुः ।

नारेशमट्टस्तु— यदि त्वास्वादव्यञ्जकत्वस्याप्युभयत्राप्यविशेषाच्चमत्कारिवाद्य जनकज्ञानविषयताऽवच्छेदकप्रथमवस्वरूपस्यानुपहसनीयवाच्यलक्षणस्य प्रकाशाद्युत्सलक्षयताऽवच्छेदकस्योभयवृत्तित्वाच्च 'काव्य पठितम् भूत काव्यम् बुद्ध काव्यम्' इत्युभयविधव्यवहारदशनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्त व्यासज्यवृत्तिः । अत एव वदन्त्या-देरममवृत्तित्वप्रतिपादनं 'तदघोत इत्यादिसूत्रस्थो भयवान पनकलि' मट्टच्छ्रुत् ।

अर्थात् शब्दभाग को रकर ण्क वाच्य और अर्थभाग को रकर दूसरा काव्य नरहायगा, इत्यपत्ति ता का नहा म्त्तः, कारण ? इत्यपत्ति बरने से एक वष में होने गाठी 'यह एक वाच्य है' इने प्रमातक भनाति ना वच्छेद हो जायगा । 'यह प्रतीति प्रमातक नहीं है' यह भी अर्थ नहा यह ररन, क्वो के लव उत्तरकाल में वाप जान नहा होता, तब हम प्रतीति को अर्थ कैम माना जा सवना है ।

१. तथा च 'उपधीन गदं । विमर्थमुमात्प्यर्थो निर्दिहयेने । न सोऽधीन व त्ययोः । दन्तु वन्द-धा ऽप्यमौ । नैनयोरात्रद्वय ममावय । भवति हि कश्चिन् सन्धाठं पठति न वति, तदा कश्चिद् वति, न च सन्धाठं पठति ।' इति भाष्यम् । 'यो हि र्थं प्रत्यनधीने, स न स्वरूपऽऽजस्य वति । यं च स्वरूपो वति, सोऽवयवमपान इति भावः । नैनोरिति—अर्थकनेधो वेदनमभिधेयम्, न तु स्वरूपमाप्र-वदनम् । तत्र परेशात्म्यभिचारदर्शनादुभयोपादानमित्यर्थं सन्धाठमिति—मर्थनिरपत्तं स्थाप्याय प-न-वर्ष ।' इति च उत्तरदीर्घः ।

पर्यवसित निगमयति—

तस्माद् वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणम्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता ।

लक्षणयाऽन्यतरस्मिन्नपि तत्त्वाद् 'एको न ॥ इतिवन्न उदापति । उतानुपहसनीय-
काव्यलक्षण प्रकाशोक्त निवृत्तिम् । एवमाम्बादादौ वैनक्षत्रनिवेगादुक्तलक्षणद्वयमपि
निर्वाप्रमिति नान्यमतमपि दुष्टमित्युच्यते नर्हस्यु तथा । इत्याचक्षते ।

म० म० गङ्गाधरजारिविषयस्तु— 'जनेदगवद्येयम् तदवोषी घञ्मापी' मद्योप
गुणान् काव्यम्' इत्यादिपु प्रदर्शिताना दोषाभावगुणालङ्काराणा काव्यसामान्य-
लक्षणोद्देश्यताऽवच्छेदकोटिप्रवेशो नास्त्येव । उद्देश्यता पुन शब्दार्थयोरेव, न तु
शब्दमात्रे, शब्दनाशे कविसरम्भयोचरत्वाभागेन सोपान्यवर्णनानिपुणकविकर्मनामा
उभयभाष्यविशेषात्, कव्युच्चारणकर्मताया मध्ये कविममकेनरसबोधोपपिकसामग्री-
नष्टनविषयकज्ञानकर्मताया अर्थ मत्वात् । अर्थपदेन काव्यमध्यय्यङ्गभाष्यमन्वि-
विषयमपि विवक्षाया मन्वेत्कालङ्कारिकैस्त्रितयनिरूपणेनावश्यमप्युपगन्तव्यतया
मन्विषयमपि व्यङ्ग्यस्य निरुक्तज्ञानकर्मतया काव्यन्वस्य दुर्वास्त्वात् ।

इत्य च कविकर्तृकरलविषयकज्ञानोपपिकसामग्रीसङ्घटनविषयकज्ञानविषयक
शब्दार्थयोरेनुगत काव्यत्वम्, अर्थस्य व्यञ्जयन्वे तु शब्दस्य महकारिता' 'अर्थोऽपि
व्यञ्जयन्ने सहकारितया मत ।' इत्युक्तिरिदोभयस्यापि निरुक्तसामग्रीघटकताया
सुपपादत्वान् इत्य न नास्याङ्गाना काव्यत्वापत्ति, तस्य कविकर्तृकरनिरुक्तज्ञानविषय-
ताना भावान्, विषयान्तरव्यापननामाजिकमनसा तद्विषयान्निमुष्परिहारापूर्वक
काव्यार्थमावना—प्रवणनासम्पादकत्वेन रसोद्बोध प्रति परम्परया प्रयोजकत्वेऽपि
प्रदमितमामग्रीघटकताया अभावाच्च ।

उ एवार्थदोषाणामर्थगुणानामर्थानिष्काराणामर्थशक्तिमूलकध्वनीना च निरूपण-
गुणपद्ये । गन्धनाश्व काव्यत्वे तद्गतानामेव दोषगुणालङ्कारध्वनीना निरूपण-
स्वीचिन्त्ये भूयसामर्थगताना तेषा निरूपणस्याप्रसक्त्या तद्विरूपणस्योन्नतप्रतापत्वा-
पत्ते । न च तेषामुलमाद्यन्यदकाव्यपदार्थप्रवेशाभावेऽपि रसोपयोगितामात्रेण
निवृत्त्यनुपपद्य इति काव्यम्, काव्याङ्गनिरूपण प्रतिज्ञाय तेषा निरूपणम्यालङ्कारा-
पत्तेर्दुस्ममाधानत्वात् । प्रत्युत त्वदापादिप्रकारेण सास्याङ्गाना निरूपणोपताऽऽपत्तै-
न्वन्मन एव दोषत्वान् । एव च 'काव्य श्रुतम्' इत्यादिप्रतीतीनामपि श्रुत्वादेर्य-
मन्दोभयवृत्तिताया महामाव्यकारादिनिरुक्तत्वेन 'ऋच षठि' इत्यादिप्रतीतीनामिद
वाक्यमेव ।

एतेन 'काव्य रसात्मक काव्यम्' इति शब्दमात्रे काव्यसामान्यलक्षणयोगिता
प्रतिज्ञानात्, स्वयमेवाप्रे—'दृश्यश्रव्यविभेदेन पुन काव्य द्विधा मतम्' इत्यनिरूपण

इतिवे वेद, ज्ञान, (श्रुति, दर्शन श्रुति) और पुराणों के लक्षणों की तरह काव्य का लक्षण
की शब्दनिष्ठ ही होना चाहिये । अर्थात् शब्दमात्र को काव्य मानना चाहिये, शब्द-अर्थ दोनों को
नहीं । यद्यपि महामाव्य-शब्द 'श्रोतुलभाय ताव्यम्', महावैपकारण 'नापेत्तद्वृत्त' और महानदोषाव्यम
'हाभरणा' ने निम्न-लिख युक्तियों से शब्द-काव्यत्ववाद का समर्थन कर शब्दार्थ-सुगुण्य के काव्यत्व

इत्य मम्मटमदुक्तकाव्यलक्षणघटक विशेष्यदल निरस्य विशेषणदलमपि निरसितु-
मुपक्रमते—

लक्षणे गुणालङ्कारादिनिवधोऽपि न युक्त, 'उदित मण्डल विधो' इति
काव्ये दूत्यभिमारिकाविरहिण्यादिसमुदीरितेऽभिसरणविधिनिषेधजीवनाभावा-
दिपरे 'गतोऽस्तमर्क' इत्यादौ चाव्याप्त्यापत्ते ।

पूर्वापरविरोधमप्यनाकलयन् दपणग्रन्थोऽपि तज्जातीयो ग्रन्थभित्त्य एवेति
सहृदया विभावयन्तु ।' इति व्याहरन्ति ।

तदेतद्विहितमपि समासेन प्रदक्षितमस्माभि साहित्यमीमासाया काव्यलक्षण-
निरूपणप्रसङ्गेन ।

शास्त्र स्मृतिदर्शनादि । एवकारोऽर्जनिहृत्व व्यवच्छिनत्ति । इह वक्तव्य प्रागुक्तमेव ।

लक्षणे काव्यसामान्यलक्षणे । प्रथमेनादिपदेन दोषाभाव मध्यमेन सहचरीप्र-
भृति, चरनेण च बलमासक्तिप्रभुष परामृश्यते । उदित मण्डल विधो इति चन्द्र-
बिम्बकर्तृकौदवक्रियाऽर्थकम् । दूत्याद्युदीरितशब्दानामभिसरणविध्यादिभिर्व्यङ्ग्यं
सहृ यथासहृयमन्वय । तथा चामिसरणस्य विधिर्व्यङ्ग्यो दूत्या, निषेधोऽभिसारि-
काया, जीवनाभावश्च विरहिण्या 'गतोऽस्तमर्क' इति च सूर्यकर्तृकास्तज्जमनायं-
कम् । अव्याप्त्यापत्तिश्च तयोर्गुणालङ्काराभावात् ।

यदि काव्यसामान्यलक्षणे समुपलब्ध सात्वत्कारस्य शब्दायंयोनिवेष्येत, तर्हि उदित
मण्डल विधो' इति वाक्यस्य दूत्या नायिका प्रत्यभिहितस्याभिसार कुविनि व्यञ्जक-
तया, अभिसारिकया दूती प्रति कथितस्य तमसा च्चबादिदानीं कथमभिसरिष्यामि'
इति व्यञ्जकतया, विरहिण्योदीरितस्य 'वियोगवेदनाया बाहुत्येन मम जीवनमधुनाऽस-
म्भवि' इति व्यञ्जकतया च काव्यरवेन सर्वमम्मतस्यापि गुणालङ्कारवैधुर्मातत्व न
स्यादित्यव्याप्ति स्पष्टैव । एव 'गतोऽस्तमर्क' इत्यादावपि प्रकरणवैलक्षण्येन तत्त-
दप्यव्यञ्जकत्वेऽपि गुणालङ्कारविरहात् काव्यत्वस्याव्यप्तिरापद्येत । तस्मात्प्र सामान्य-
लक्षणे गुणालङ्कारनिवेन समुचित । न वा दोषाभावनिवेशोऽपि, तथा सति हि
'म्यत्कारो ह्यमेव मे मदरस' इत्यादिपद्ये तत्तदर्थव्यञ्जकतया ध्वनिकारादिभिरु-
त्तमकाव्यत्वेनाभ्युपगतोऽपि द्विधा विधेयाविमर्शदोषस्येति काव्यत्वस्यापि स्याद-
व्याप्तिरिति तात्पर्यम् ।

को स्थिर क्रिया है, तथापि मैं ग्रन्थ विस्तारण्य से वहाँ सब युक्तियों का उल्लेख नहीं करना हूँ ।
विद्यासूत्रों को संस्कृतटीका से उनका ज्ञान करना चाहिये ।

इस तरह मम्मटके लक्षणों में विशेष्य दल का उल्लेख हो चुका, अब विशेषण दल का उल्लेख
करने के लिये लिखते हैं—'लक्षणे गुणालङ्कार' इत्यादि । मम्मट ने जो नान्यलक्षणा में 'शब्दार्थ'
के साथ समुप, लालङ्कार और नदोष से तीन विशेषण लक्षणों हैं, वे भी ठीक नहीं । क्योंकि यदि
गुण और लालङ्कार के रहने पर ही काव्य कहलावे, तो 'उदित मण्डल विधो' (चन्द्रमण्डल उदित
हुआ) और 'गतोऽस्तमर्क' (सूर्य अस्त हुआ) वे सब वाक्य गुण तथा अलङ्कार से रहित होने के
कारण काव्य नहीं कहे जा सकेंगे । यदि आप पूर्ण वि—इन वाक्यों को काव्य मानने ही क्यों है ?
इनको काव्य माना ही क्यों, यह जरूरी तो है नहीं, फिर अगर वे वाक्य कहलायें, तो क्या हानि है ?

प्रदीपकरास्तु—'नीरखे स्फुटालङ्कारविरहिणि न काव्यम्, यतो रसादिरलङ्कार-
रथ इव चमत्काररेतु । तथा च यत्र रसाधीनाभवस्थानम्, न तत्र स्फुटातङ्कारा-
पेक्षा । अत एव ध्वनिकारेणोक्तम्—'अत एव रसानुगुणार्थविशेषनिबन्धनमलङ्कार-
विरहेऽपि छायाऽतिशय पुष्पाति ।' इति, तस्मात् सात्त्विकारत्वमात्र न विशेषणम्,
किन्तु स्फुटालङ्काररसान्वतरवत्वम् ।' इत्युच्यते ।

परे तु गुणालङ्कारयोः काव्ये सर्वत्र स्थितिरावश्यकी, तदभावे विच्छिन्नविशेषा-
नाद्यानात् काव्यत्वमेव दुर्बलम्, एतस्य तत्त्वबोध्यत्वात् । अन्यथा चित्रवृत्तान्तवर्ण-
नपरामितिहासमायावाचमपि तेषामपत्तिः । अत एव 'नहि कवेरिति वृत्तमात्रवर्णनेना-
त्मनाम, इतिहासादेरेव तस्मिन्ने' इति ध्वनिकारेणोक्तम् । लोकदृष्टान्तस्व-
लौकिके काव्यवस्तुनि सर्वथा नोपयुज्यते । अन्यथा लोकविच्छेदा दुःखकारणेभ्योऽपि
काव्ये सुसोत्पत्तिर्नोपपद्येत । 'किमाचारिनिमित्तकारणनाशेऽपि स्वरूपकार्यनाशा-
भावश्च लोकप्रतिकूलो नोपपद्येत । गुणसत्तया रससत्ताऽप्यवसात् शक्यैव, व्याप-
कत्वात् । 'नहि प्राणिमन्तो देशा इति वक्तव्ये क्षीरार्धिमन्तो देशा' इति केनाप्यु-
च्यते' इत्यादि कस्यचिदुक्तिस्तवाग्रहनिबन्धनैव, उपपादकैर्बुधात् । अन्यथा नीमा-
सकाङ्क्षीकृताऽर्थापत्तिविह्वलीभवति । शब्दापयोगुणवत्ता तु व्यङ्ग्यपञ्चकभावेन
'गुणवृत्त्या पुनस्तेषा वृत्ति शब्दापयोगिता' इत्यभिवृत्तौते । निगुणशब्दापयो
काव्यलक्षणाव्याप्तिस्त्विदं, 'अचलस्थितयो गुणा' इत्यभिधानात् । अलङ्कार-
स्वत्तुतोऽपि चमत्कारक, स्फुटम् सुतराम्, 'न कान्तमपि निर्युध विभाति धनिता-
ऽननम्' इति प्रतिपादनात् । किञ्च मन्त्रोऽप्यार्यकत्वेन तस्यास्फुटत्वे तस्य च दिवसि-
तप्रतीत्यप्रतिबन्धकत्वे पर्यवमानाददोषत्वमपि काव्यसाध्यान्वयसंगतवत्कार्य-
विशेषणमुचितमेव । तथाच 'व्यङ्कार' इत्यादौ षडहपङ्कपाप्यर्थनीतिरनित्यत्वमङ्कलि-
समाहा कवीयान् विद्येयानिमयो विवक्षितो रसादिभिः प्रविद्यन्ति तिरोहितवाकिक-
त्वेन नेष्ट इति सत्र काव्यत्वाव्याप्तेरसम्भव । 'तद्वन्वयेव दृष्ट काव्यम्' इत्यादि
व्यवहारविषय 'त्वाननुनासने रुचयुग पत्रावृतम्' इत्यदौ तु तादृशव्यङ्ग्यबोधन-
वन्तकारव्यतिरेकाद् दोषस्य तिरोधानविरहादकाव्यत्वमित्येव इत्याह ।

इतः उत्तर यह है कि—चमत्कारी व्यवय सर्व (जो काव्य का जीवन माना गया है) उन यहाँ है
शत्रु वम यन्त्रों को काव्य कैसे नहीं मानें ? अर्थात्—कत तोनों यान्तों में प्रथम नास्य को जब छोड़ें
दूती बोलती है, तब 'चौदनी बरस रही है, मार्ग साट दिखाई देता है, अब बरि जुम्मे वा म्म नरों,
म्म शैरु से तुन स्त्री-म्भर करने के छिडे सकुवेठ स्थान पर जा सकती हो' यह व्यङ्ग्य सर्व छात
होता है । उनी वाक्य को जब अभिसारिका स्वयं बोलती है, तब 'चन्द्रमा के इन मन्त्र प्रकाश में
सथे स्थान तक कैसे जाऊँ ? दूर से भी देस का छाग मुझे सहचान छेने, फिर तो मेरो सब प्रतिग्र
निष्ठो में मिळ जायगी यह आशय स्पष्ट प्रतीत होता है । यदि वह काव्य विरहिणी के मुख से
निकलता है, तब यदीपक इस अन्विका को देखकर पिर-वेदना अत्यधिक बढ़ रही है अतः अब मेरा
मरण निश्चय है' यह व्यङ्ग्य विदिन होता है । कितनी वाक्य से भी स्पष्ट भेदप्रयुक्त असत्य व्यङ्ग्य
मरण होता है, जैसे चरदावों को 'अब गाथो को रोको', दूर जाने वाले इमिर्नो को 'अब जाने नहीं
जाना चाहिये' दिस कर धुप में चलने वालों को 'अब छाप नहीं है' भासिकों को 'अब सम्झा को

पुनरासद्गुण समावधानि—

न चेदमकाव्यमिति शक्यं वदितुम्, काव्यतया पराभिमतस्यापि तथा वक्तुं शक्यत्वात् । काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव । गुणत्वालङ्कारत्वादे-
रननुगमाच्च । दुष्ट काव्यम्' इति व्यवहारस्य बाधकं विना लाक्षणिकत्वा-
योगाच्च ।

इदम् 'उदितं मण्डलं विद्यो' इति वाक्यम् । अकाव्यं गुणालङ्कारहीनत्वात् ।
चमत्कारित्वं चमत्कार ।

ननु 'उदितम्' इत्यादौ गुणालङ्कारस्यैवादेव्याप्तिरिष्टैवेति चेत्, मंत्रम्, यत्र च-
मत्कारित्वेव काव्यतया प्रधानं साधनम् । तान्तु गुणालङ्कारापेक्षया भूयसीमेव त्रिविधं
'यज्ञ-धर्म-साधनम्' । तच्च वस्तुस्वरूपमिहापि पर्याप्त्येवेति कुत काव्यत्वाव्याप्तिः ।
अन्यथा परं प्रकाशकारादिगुणालङ्कारवृत्तत्वाद् यत् किञ्चित् काव्यमित्यङ्गी-
क्रियते, तदस्मात्परि व्यवस्थापरकविरहादकाव्यमित्युच्येत । तस्माच्चमत्कार
एव प्राधान्येन तत्र प्रबोधप्रबोधोपार्थम् । इत्येव चमत्कारेतिहास्यनुव्यवसोमगान्तयाऽ-
काव्यत्वमित्येव वक्तुं न युक्तम् । किञ्च गुणानामलङ्काराणां च प्राचीननवीनमतभेदे-
नानियमाद् गुणत्वमलङ्कारत्वं न सम्भवतीति कथं तयोः काव्यत्वक्षणे प्रवेशः स्यात् ।

यदि च 'रसवृत्तत्वे सति रसोपभोगित्वम्' गुणत्वम्, 'संश्लेषार्थान्यतरवृत्तित्वे सति
परम्परया रसोपकारकत्वम्' अलङ्कारत्वं धानुगतमित्युच्यते, तर्हि सन्तर्पणोपरिहा-
दोपाविति विशेषणाद् दोषामात्र एव काव्यत्वाद् 'दुष्ट काव्यम्' इति सर्वजनी-
नव्यवहारस्यानुपपत्तिरेवापत्तिः प्रतिपत्तव्या । न च 'दुष्ट काव्यम्' इत्यत्र काव्य-
वदस्य गुणालङ्कारमात्रवत्त्वेन काव्यसदृशं संश्लेषार्थोभये तदक्षणेत्यपि वक्तुं युक्तम्,
काव्यत्वक्षणे दोषामात्रनिवेशो वनवत्प्रमाणावरहेण मुख्यार्थान्वयबाधलक्षण-लक्षणा-
कारणैर्ध्रुवैर्लक्षणाया अस्मन्मवात् । अधिकमिह वक्तव्यं तु प्रागुक्तमेव ।

व्यामना करनी बाटिये' इत्यादि अर्थ-ज्ञान होता है । अतः इन वाक्यों को काव्य मानना
भावश्यक है ।

मन्त्र-दोषाकार महोदय ने यहाँ भी शब्दों की प्रविष्टि युक्तियों का विवरण देकर बहुत कुछ
सम्बन्ध-रस का अर्थ-ज्ञान की है, जिसकी जिज्ञासुजन मन्त्र-दोषाकार देकर मन्त्रों ।

'दुष्ट काव्यम्' इति एवमात्र किमी तरह नहीं कह सकते, कारण ? काव्य के जीवन-भूत
चमत्कार के रहने पर भा यदि मात्र उन वाक्यों को काव्य कहा मानेंगे तो अत्र किम काव्य मानेंगे,
उन्मत्तों भी दुर्गम काव्य मानने के लिये तैयार नहाने होंगे । काव्य एतन्ना में गुण और अलङ्कार के
निवेश को अन्तर्गत सिद्ध करने का यह भी दूसरा कर्षण कारण है कि—एतत्त्व और अलङ्कारत्व का
अनुगमन नहीं है—अर्थान् आज तक यह निश्चित नहीं हो गया कि एतत्त्व और अलङ्कार क्या हैं,
किन्तु 'मिथ्या-मिथ्या अलङ्कारिक' उनकी मिथ्या-मिथ्या संख्या मानना है । उन स्थिति में अनुगमक
एतन्ना में उनका निवेश अनुचित है, क्योंकि जो स्वयम् अनुगमन (अनिश्चित) है, व दुर्गम को
अनुगत (निश्चित) नहीं बना सकते । यदि आप 'रस में रह कर जो शायद रस को एतत्त्व करे
वह गुण है और जो दुष्ट अर्थों में रह कर परम्परया रस का उदाहरण करे, वह अलङ्कार है' उन
तरह गुण और अलङ्कारों का अनुगमन कर दिखायें, तब भी 'दोषरहित' करने में अनुचित हा है,

शरीरमनन पुनरासङ्ग विराकरानि—

न च सयोगाभाववान् वृक्ष मयोतीतिवदक्षमेदेन दोपरहित दुष्टमिति व्यव-
हारे वाचकं नास्तीति वाच्यम्, मूले महीच्छो विहङ्गममयोगी न शावारम्
इति प्रतीतेरिवेद पक्ष पूर्वार्थे कायमन्त्राद्धे तु न काव्यमिति स्वस्मदाहिना
विश्वजनानानुभवस्य विगृहादव्याप्यवृत्तिनाया अपि तस्ययोगान् । शौगादिव-
दात्मधर्माणा गुणाना ऋगादिवदुष्कारकाणामनङ्काराणा च शरीरभटव काम
पक्षश्च ।

स्वरवाहित स्वरविरम्य । विश्वजनानानुभवस्य स्वरावापुङ्गवत्वम् ।
अपि पूर्वोक्तानुवृत्तं समुच्चिनोति । नस्य दापाभावस्य । अयोगात्मकत्वान् ।

यथा तारिका वृक्षस्य मूलावच्छेदन पक्षिमया गाथा वच्छेदन तदभाव उपपन्न
पक्षिमयागाथाव तथास्याप्यवृत्ति मन्वाना पक्षिमयागाथाव पक्षिमयागाथाव
इति व्यवहरन्ति तथैव प्रकृतं राज्य यत्रिच्छिद्रेगावच्छेदन दापस्य तन्निवृत्त्या
वृत्तं दोषाभावस्य च सम्प्रवादव्याप्यवृत्ति दापाभावनादाय । दुष्टत्वम्
इति व्यवहार सम्प्रवृत्तवृत्ति न काव्यदनुपपत्तिरिति चेत् स्यादस्य यदि तत्र न इह
दाप्यं पुत्रावच्छेदेन (दापविरहात्) काव्यं उत्तरार्धवच्छेदन तु दापवृत्त्या)
व्याप्यं इति सर्वत्रोक्तानुभव म्यात् । य एव तु नाप्यवसायन । नहि कथमप्यस्य
वृत्तव दापाभावस्य स्वाकर्तुं शक्यम् । तस्यास्याप्यवृत्तित्वाभावे वा कथं दापज्ञान
उपपद्यते । अथ यदि काव्यस्य सामान्यवक्षण दापाभावात्पनिवृत्तं विना कथं
निवेद्यं काव्यसामान्यतात्पर्येण दुष्ट काव्यम् इति व्यवहार उपपाद्यते तदा मया
सावद्वाराविति विरोधाद्भवमेव शब्दाभयानोपपन्न इति दापवृत्तस्य एव । तस्मात् —
यथा गीतादयो गुण लोकात्मनिष्ठा हास्यदयश्चातङ्कारा गरीरनिष्ठा न तु
गीताभूता, तथा माधुर्यादयो गुणा काव्यस्य रमनिष्ठा अनुपामपमात्तदभ्या
तद्गारावच्छेदापनिष्ठा न तु तद्रूपा एवेति व्याप्यवृत्तस्य काव्यस्य मयात्वादि
विपयानुपपत्तिरिति तात्पर्यम् ।

स्वीकि एतत् नै 'यत् काव्यं दुष्टं' इति चेत् व्यवहार होता है । अतएव काव्यस्य 'दुष्ट' इति नै महा
अपि तेषामिति नै भा एतत् नै होता है । यदि भा कवे कि—दोषवहित च काव्यं का प्रयोग
तुम् नै, गीतं है—अतएव निर्वीच वाचक काव्यं च की मया नै नै एतत् नै, तो च भा एतत्
नै, काट्टा मुत्कार्यतय, सुत्कार्यं तै मन्त्र, इति अथा प्रयोग (नै एतत् नै के काट्टा नै
नै नै) नै विना एतत् नै हो नै नै मन्त्रो ।

'अपे' इम विरोधा को सन्त मिद्ध काले के डिरे प्राव नो नै एव और मान दुष्टि ही है,
काल को सन्त करन है 'न च सयोगाभाववान्' दुष्टदि । पूर्ववत् काले नै कथन नै कि वेने
एव ही तय के मूळ देश में वधि प्रकृति का गती और एतत् देश में एतत् अभाव पर एतत् है,
अर्थात् रूप की नय में एही वेष हो और एतत् पर वह नै बेट्ट है तय 'सयोगाभाववान्' का नै
(सयोगवहित वृक्ष सयोग वृक्षा है) इमा व्याहार होता है, यही एव एतत् नै कथन अन्वये
के दोषवहित (काव्य) और दुष्ट (अव्य) वृष्टयम् । एतत् इह कथन नै एतत् नै नै नै,
कवे कि 'मू' मन्त्रो विहङ्गममयोगी न शावारम् (रूप तय में एही है और शाव नै नै

पर्यन्ते विश्वनाथकृत काव्यलक्षणमाधिपति—

यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न, वस्त्वलङ्कार-
प्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः । न चेष्टाऽऽपत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्या-
कुलीभावप्रसङ्गार् । तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पत्तनभ्रमणानि कविभिर्विणि-
तानि, कपिबालादिविलसितानि च । न च तत्रापि कथञ्चित् परम्परया रस-
स्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम्, ईदृशरसस्पर्शंभ्य 'गोश्रलति' भूमो धावति' इत्या-
दावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात् । अर्थमात्रस्य विभादानुभावव्यभिचार्यन्तम-
त्वादिति दिक् ।

वस्तुनस्त्वलङ्काराणामुपसृकारकत्वेऽपि शब्दार्थाव्यतिरेकस्य ध्वनिकाराद्यङ्गी-
वारान्न शरीरघटकस्थानुपपत्तिः । समाधानान्तरमपि प्रागुक्तरीत्या विधेयम् ।

रसवद् रसादिव्यञ्जक काव्यमिति शेषः । यस्त्वलङ्कारप्रधानानां प्राधान्येन
वस्तुव्यञ्जकानाम् पन्थिअ 'ण एत्थ' इत्यादीनाम् प्राधान्येनालङ्कारव्यञ्जकानाम्
'महिनासहस्सभरिए' इत्यादीनां च अकाव्यत्वापत्ते रसादिव्यञ्जकत्वाभावात् ।
सम्प्रदाय पारम्परिक समुदाचारः । आकुलीभाव उच्छेदः । तथा चेत्यादिना सम्प्र-
दायस्य प्रदर्शनम् । जलस्य प्रवाहो निपत्तन नीचैर्नमनम् उत्पत्तनमुष्णैर्गमनं च ।
कपीना बालानां वानाकानां च विलसितानि क्रीडाशब्देष्टा वा । आदिपदेन पक्षिप्र-
भृतीनां परिग्रहः । तत्रापि जलप्रवाहादिवर्णनेष्वपि । यथाकथञ्चित् परम्परया
स्वन्यञ्जकविभावादिप्रतिपादकत्वेन । एषा सम्बन्धः । अतिप्रसक्तत्वेनातिव्याप्तत्वेन ।
अप्रयोजकत्वाप्रिफलत्वात् । अर्थमात्रस्य सर्वेषामेव पदार्थानाम् ।

रसादिव्यञ्जकवाक्यमात्रस्य काव्यत्वाङ्गीकारे काव्यत्वेन सर्वानुमतेष्वपि वस्तु-
मात्रस्यालङ्कारमात्रस्य वा व्यञ्जनेषु वाक्येष्वव्याप्तिः । तदापत्तेरभ्युपगमे तु प्राचीन-

वेनो न्कारमिक प्रतीति म्म एतेनो को होती है, अन सवोग को अव्याप्यवृत्ति माना है, तरन्तू यदि
'यह पद पूर्वार्ध में काव्य है और उत्तरार्ध में नहीं' प्रतीति होनी रहनी, तो काव्यत्व को भी
अव्याप्यवृत्ति मान सकते थे, सो होना नहीं । अर्थात् अव्याप्यवृत्ति पदार्थ ही एक आधार पर अशभेद
से कही रहना, कहीं नहीं भी रहना, जैसे, एक संयोग । जो पदार्थ अव्याप्यवृत्ति है, (जैसे अश्वत्थ) वह
तिस में नेक जेथे अब रहेगा, तब सम्पूर्ण आधार में ही, नहीं सो कहीं नहीं, अन एक दृष्टान्त के
सुगारिक 'दीप-महित दुष्ट' यह व्यवहार नहीं हो सकता है । एक वान और है—जिमके कारण शुण
तब अलङ्कार काव्यलक्षण में प्रविष्ट नहीं हो सकते । वह यह है कि जिम तरह शूरा पर बीरगा
प्रभृति आत्मा के धर्म हैं, शरीर में नहीं रह सकते, जैसे ही शुण भी काव्यात्मा रस के धर्म हैं,
शब्द और अर्थ (जो काव्य के शरीर है) में नहीं रह सकते हैं और जिम तरह अलङ्कार (शर आदि)
शरीर को शीघ्रन करने सठी पीये है शरीर के अस्वयव नहीं, जगो तरह काव्यालङ्कार, अनुभास,
उत्सा इभुनि काव्य-शरीर-उत्सार्थ को अलङ्कृत करने माने है, अन उसके (शरीरम्वानौप शब्द
अर्थ न) अस्वयव नहीं हो सकते हैं ।

अब पण्डितराज, दर्पेन्द्र विश्वनाथकृत काव्य-लक्षण की शब्दनात्मक समीक्षा करते हैं—'यत्तु'
इत्यादि । 'विश्वनाथ' ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है, उनके अनुसार काव्य में रस का
रहना निरान्त आवश्यक है, उसके बिना कोई वाक्य काव्य नहीं कहा जा सकता । परन्तु इनका एक

इत्य काव्यस्य लक्षण निरूप्य कारण निरूपयति—

तस्य च कारण कविगता केवना प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुसुलशब्दा-
योपस्थितिः। तद्गत च प्रतिभात्व काव्यकारणताऽवच्छेदकतया सिद्धो जाति-
विशेष उपाधिरूप वा सण्डम्।

सम्प्रदायस्योच्छेद । तद्वक्ष्ये तेषु विभावादिश्रारकरतादिगम्बन्धकल्पनाया तु
'गोश्रनति' इत्याद्यचमत्कारकवाक्येष्वतिव्याप्ति स्यादिति सारम् ।

इह वाच्यतास्य काव्यत्वाङ्गीकारे पुरस्तात् प्रतिपादितानि दूषणान्वय्याकलनीयानि ।
शास्त्रिचरणान्तु—'प्रकृते रसरूपेण परिणस्यमानरत्यादिविषयकसंस्कारोद्बोध-
कताया असावैत्रिकत्यादिव प्रौढि, विशिष्टवाक्यार्थाना रमतास्यमंकत्वाभावे तत्ता-
मश्रीयत्कोद्बोधकताया अभावात् । यत्र त्वास्ति तत्तास्यमंकत्वम्, तत्रासंपादिष्यत एव
विशिष्टबोधजननमुद्येन चकारातिवम् । यथाऽऽह—

'नद्वावपचेद् विभावादेर्दोरेकस्य वा भवेत् ।

ज्ञातित्यन्यममासोपे तदा दोषो न विद्यते ॥' इति ।

एवञ्च जलप्रवाहादिवर्णनेऽभ्युक्तरीत्या महावाक्यार्थद्वारा वा रसोद्बोधकत्वस्य
सत्त्वात् काव्यत्वस्य न क्षति ।' इति व्याजह ।

तस्य काव्यस्य । चस्त्वयंक । कविगता कविसमवेता । केवना तन्मानम्, न
तु स्युत्वत्पन्त्यासावपि । प्रतिभा नव-नवोन्मेषगानिनी बुद्धि, 'प्रज्ञा नवावोन्मेष-

कथन युक्तिगत नहीं है। कारण ? यदि वनका कथन मान लिया जाय, तब फिर काव्यों में
वस्तु-वर्णन अथवा अलङ्कार-वर्णन ही मुख्य है—अर्थात् 'पथिक' मात्र सम्प्रभसि, महिलापहस्र-
प्रतिने' इत्यादि स्वच्छे में वहाँ कण्ठ वस्तुन्यय तथा अलङ्कारन्यय का बोध ही परत्वात्क
है—ये सब काव्य, काव्य नहीं कहला सकेंगे । ये सब वाक्य काव्य नहीं ही हैं, ऐसी इष्टापत्ति तो
नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा इष्टापत्ति करने पर महाकवियों की चिरवाह से आने वाली व्याव-
हारिक परम्परा पथिक ही आयगी । उन लोगों ने समय-भ्रमण पर जल के प्रवाह, वेग, धन,
बन्धन और भ्रमण एवं बन्दरी और बाटखों की कीर्तियों का वर्णन अपने में किया है । क्या आप
उनको अस्मय्य कहेंगे ? यदि आप कहें कि नहीं जी, हम उनको अस्मय्य क्यों कहेंगे, वे सब काव्य हैं
और इनलिए काव्य हैं, कि उनमें रस का स्पर्श है, क्योंकि वे सब परिण वस्तु किनी न किनी रस
के वर्णन विनाप ही तो रहते, फिर रस का सम्बन्ध तो हो ही गया । इसका उत्तर पथिकता
कहने है—वाहनी, ऐसा रस-स्पर्श भी क्यों काव्य कहलाने का कारण हो सकता है । यदि हाँ, तो
फिर 'गोश्रनति, सुगो धावति' (बैठ चढता है, सुग दौड़ता है) ये सब वाक्य क्यों नहीं काव्य
कहलाने ? जब कि किसी तरह रसमय्य वहाँ भी हो सकता है । कहने का तात्पर्य यह है कि संगीत
की गानी वस्तु ही विनाप-अनुभव अथवा व्यभिचारिमान ही सफली है, फिर तो दुनिया के सभी
वाक्य काव्य कहलाने लग जायें । जहाँ रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानना युक्तिगत नहीं ।
म० म० गङ्गाधर शास्त्रीजी ने वहाँ भी पथिकता के मत का खण्डन किया है, उनकी विचारद्वैती
संस्कृत टीका में देखनी चाहिये ।

पूर्वोक्त टीके में काव्यलक्षण निरूपण कर देने के बाद पथिकता काव्यधारण का निर्देश करते
हैं—'तरय च कारणम्' इत्यादि । यम्य यदि प्राचीन आचार्यों ने 'शक्ति' नियुग्ता और

आनिनी प्रतिभो' ते ।' इति प्राच्योक्ते सा प्रतिभा । काव्यस्य घटनाया रचनाया अनुकूलस्य जनक इ शब्दार्थोमयस्य उपस्थिति स्मृतिश्रंतिरिति स्फूर्तिरिति यावत् । अनुकूलत्वान्तमुप' । इति विशेषण वा । तद्गत प्रतिमानिष्ठम् । स्वविषयकज्ञानसमवायित्वसम्बन्धेन काव्यप्रति समवायेन प्रतिभा कारणमिति कार्यकारणभावात्मकानुकूल-तकमूलकात् 'स्वविषयकज्ञानसमवायित्वसम्बन्धावच्छिन्नकाव्यत्वावच्छिन्नवार्तानिष्पिना समवायसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतिभानिष्ठा कारणता विश्वदमविच्छिन्ना, कारण-तात्वात् घटनिष्ठकार्यतानिरूपितदण्डनिष्ठकारणतावत् इत्यनुमानात् पिठ प्रमाणित, 'नित्यत्वे तत्पनेकममेतत्त्वम् इति जानिलक्षणसमवयाच्च जातिरि २ । उपाधित्व-स्य त्यागे जातित्वस्य चाङ्गीकारे तत्र बीजगुणलम्भाधोलघटत्ववत् सखण्डोपाधिरूप वा प्रतिभात्वम् । तस्य च नवनवोन्मेषशासित्ववैशिष्ट्यादखण्डत्वासम्भवाद् 'अखण्डम्' इति पाठस्त्वसङ्गत एव ।

काव्ये प्रतिभामात्रस्य कारणत्व तु न विचार्यहम्, अनुपहसनीयकाव्यत्वावच्छि-
कार्यतानिरूपितकारणताया दण्डचक्रादित्यायेन प्रत्येक प्रतिभाप्रभृतिवु चिन्त्यपि स्वीका-
रस्यापरिहायत्वात् । तथा चाहु आस्त्रिण—अत्र प्रतिभा कारण तत्र व्युत्पत्तस्तु
विभूषणम् । भृषोत्पत्तिकृदभ्यास ॥' इति क्रमेण विशिष्टकाव्य प्रति त्रितयस्यैव साम-
ग्रीषटवतावाव एवोपपन्न । शक्तिर्हि द्विविधा उत्पादिका व्युत्पादिका च । आद्यया
पदसङ्घातस्य योजनेऽपि द्वितीयस्या अभावे विनेयसमवेदविलक्षणवाक्यार्थधियाशान्म-
वेन लोकोत्तरवर्णनानपुष्यस्य कविगतभ्यामावाद् विशिष्टकविकर्मतायास्तत्त्व एव
सम्भवात् । तत्र द्वितीयैव निपुणता नाम । अभ्यासो लोकीतरत्व प्रत्येवोपमुग्यते ।
तथा च लोकोत्तरवर्णनानिपुणताविशिष्टवधिपर्मरूप काव्य प्रति त्रितयस्यैव सामग्री-
षटकत्वमुचितमेव !' इति ।

अभ्यास' इन मीनों को काव्य के प्रति कारण माना है । परन्तु शिष्टतराव देना नहीं मानने, के
करने हैं—बैतल प्रतिभा ही काव्य का कारण है और प्रतिभा कहने है—वाक्यनिर्माण के लिए जो
शब्द तथा अर्थ अनुकूल, उपयुक्त हों, जिनमें वाक्य निर्माण हो सके, उनकी उपस्थिति हो, अर्थात्
काव्यनिर्माण के लिये उहाँ जिस शब्द की और जिस अर्थ की आवश्यकता हों, वहाँ तत्काळ उसका
उपयोग हो जाता प्रतिभा है । कौशकार ने भी नवनवोन्मेषशास्त्रियों बुद्धि को प्रतिभा कही है । प्रतिभा
में रहने वाला प्रतिभात्व एव जाति विशेष है, जिसकी सिद्धि के अग्रह में निम्नलिखित तर्कों
समझनी चाहिये—जाति की सिद्धि दो प्रकार से होती है, किसी किसी जाति की सिद्धि अनुगता-
कार (एक तरह की) प्रतीति से होती है, जैसे घटत्व आदि जाति की सिद्धि सब घटों में होने वाली
'घट घट' इन तरह वा पदकार अथवा प्रतीति से होती है और किसी-किसी जाति की सिद्धि
अनुमान से होती है, जैसे द्रव्यत्व आदि जाति वा । अब हमें यह पार करना है कि प्रत्यक्ष
प्रतिभात्व जाति की सिद्धि कैसे होगी ? अगर यह है कि अनुमान से अर्थात् रस (वाक्य) विषयक-
ज्ञान-समवायित्व-सम्बन्ध से वाक्य के प्रति समवाय सम्बन्ध से प्रतिभा कारण है, इन कारणकारण भाव के
सिद्ध हो जाने पर तत्काल अनुमान (जिसका आधार संस्कृत टीका में लिखित है) प्रतिभात्व
जाति की सिद्धि होगी । आचार्य यह है कि सभी कारणार्थों किसी न किसी धर्म से अतिष्ठत हुआ
करती है, अतः प्रतिभा में रहने वाली कारणता भी किसी धर्म से अतिष्ठत अवश्य होगी और यह

काव्यकारणीभूताया प्रतिभाया कारणमाह—

तस्याश्च हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्, क्वचिच्च विलक्षणन्युत्पत्तिः काव्यकरणाभ्यासौ ।

इदं पुनरिहावगन्तव्यम्—केचन मनसि सदा सुममाद्यिनि विस्फुरणमनेकधाऽ-
मिधेयस्य । अक्लिष्टानि पदानि च विमान्ति यस्यामसौ शक्तिः । इत्यभियुक्तोक्त
शक्तिशब्दव्यपदेश्य कवित्वबीजभूत भावनामय वासनास्वरूप वा देवताप्रसादादिजन्य
संस्कारविशेष काव्यकारणीभूतप्रतिभात्वेनोत्पद्यन्ते । तथा च प्रणिधानसहकृत
चेनसि यो सटित्पदबुद्ध्यते क्लिष्टपदपदार्थगोचर संस्कार सा प्रतिभा विद्वदादि-
पदप्रवृत्तिनिमित्तम् । इति तदीयमाख्यानम् ।

परे तु—असौ कविरम् विषय घटयस्विति सारस्वतेच्छास्वरूप देवताप्रसादमेव
शक्तिमभिधाय तत्त्वेनाभिधत्ते । अपरे तु देवताप्रसादादिजन्यमदृष्टमेव प्रतिभामभ्यु-
पगत्य कवित्वस्य निमित्ततयाऽवस्यते ।

तत्र नाद्य पक्ष क्षोदक्षम संस्कारस्य तादृश्यस्मृत्यात्मकस्फूर्तिमानजनकत्वेन
काव्य प्रत्यजनकत्वान् प्रज्ञा नवनवान्मेषशक्तिनी प्रतिभोच्यते इति कौशानुनासन-
विरोधाच्च । न वा द्वितीय, तादृशदेवतेच्छाया कालादिवत्साधारणकारणत्वना-
साधारणकारणतया परिगणनानुपपत्तेः । नापि तृतीय, कार्यमात्र प्रत्यदृष्टस्यापि
साधारणकारणताया एव सबसम्मतत्वात्, अदृष्टस्य प्रतिभाकारणताया वक्ष्यमाण-
त्वेन काव्य प्रत्ययवासिद्धेर्दुःकारत्वाच्च ।

तस्मादुल्लिखितकाशाहाम्यत्र काव्यघटनानुकूलपदपदार्थविषयकशक्तिस्फूर्तिवपुषु
बुद्धिविशेषमेव प्रतिभापदार्थं काव्यजनकतया निश्चिन्वन्त्यवाच्यम् ।

तरया प्रतिभाया क्वचित्तु सञ्चर । महापुरुषा विबुलतपोमाहात्म्यभाजं निद्व-
पुरुषप्रसादोऽनुग्रह इत्यनर्थान्तरम् । आदिपदेनाप्रतपस्याप्रभृते परिग्रह । अदृष्ट
पुष्यम् । विलज्जना नानाविधनोकवृत्त-शास्त्र-काव्यनिहासप्रभृतिपर्यालाचनप्रसूता,
व्युत्पत्तिनिपुणता विविष्टज्ञानमिति यावत् । विलक्षण काव्यज्ञशिक्षाप्रयोज्य ।
काव्यस्य करणे निर्माणेऽभ्यास पौनपुन्येन प्रवृत्तिश्च हेतुरिति वाप ।

क्वचित् देवताऽऽदिप्रसादजयादृष्टमेव, क्वचित् पुनर्व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यामेवो-
त्पादिना प्रतिभा काव्य जनयतीति सारम् ।

धर्म प्रतिभात्व मे अनिर्दिष्ट ही नहीं सत्ता । क्वचिदहं अहं वह शब्द दर्शित्व की जा सकता है
कि—उक्त अनुमान मे जिन प्रतिभात्व की निर्दिष्ट हुई, वह जगतिरूप है, धर्ममात्र नहीं हमने क्या
प्रमाण ? इनका उत्तर यह है कि उक्त प्रतिभात्व को धर्ममात्र मानने से उभया अनल धर्म, अनल
प्रागभंग और अनल सृष्टि मानने पड़ेगे, क्योंकि धर्मरूप से वह प्रतिभात्व अनित्य ही होगा । हमी
गौरव को सब से प्रतिभात्व को नित्य ज्ञान मान लें हैं, ऐसा मान लेंगे छ कोई क्षण दुई ही नहीं
और लक्षण हुआ, भी लाभ अलग । अथवा प्रतिभात्व को जानि न मन कर नैऋत्यव क ऐसे
मन्त्र वशि ही मान लें ।

काव्यकारणीभूत प्रतिभा का क्या कारण है, इसका अब विचार करना है—‘तस्याश्च हेतुः
इत्यादि । प्रतिभा के कारण हैं—एक तो, किसी देवता अथवा दिनी महात्मा पुरुष की प्रमत्तता

अदृष्टादीनां स्वातन्त्र्येण प्रतिमा प्रति कारणत्व व्यवस्थापयति—

न तु त्रयमेव, बालादेस्तौ विनाऽपि केवलान्महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्तेः ।

दक्षितस्य व्यभिचारस्य वारणभागाद्बुध निरस्यति—

न च तत्र तयोजन्मान्तरीययो कल्पन वाच्यम्, गौरवान्मानाभावात्
कायस्यान्यथाऽप्युपपत्तेश्च ।

त्रयमदृष्ट व्युत्पत्तिरभ्यासश्च कारणमिति शेषः । तौ व्युत्पत्त्यभ्यासाः । प्रसादपद
तज्जन्याददृष्टपरम् । प्रतिभोत्पत्तेर्दंशनादिति शेषः ।

अप भाव —प्रतिभात्वावच्छिन्न प्रत्यदृष्टस्य व्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च कृपारणिमणि-
न्यायेनैव कारणता अन्यथा वर्णपुरप्रभृतीनां^१ बाल्य एव व्युत्पत्त्यभ्यासवैधुर्येऽपि प्रति-
भोत्पत्तेर्दंशनाद् व्यभिचार स्यात् । पृथक्कारणत्वे तु कार्यताऽवच्छेदककोटावध्यवहितो-
त्पत्त्वतिवेत्तेन व्यभिचारो वाग्योयः ।

नागेशमट्टास्तु— विलक्षणवितयजन्यप्रतिभा चातिविलक्षणा, तज्जन्य वाच्य
चातिविलक्षणमवेति न दोगः इति वदन्ति ।

तत्र महापुरपादिप्रसादमात्रात् प्रतिभोत्पत्तित्पत्तेः । तयोर्भ्युत्पत्त्यभ्यासयोः । तस्मि-
न्नेव बालेऽप्यस्मिन्कल्पमनि विद्यमानयोः । कल्पनमनुमानम् । न चेति वाच्यमित्यनेनानु-
पत्तम् । गौरव सादृशानुमानविघातेन । मानाभावस्तत्त्वितयस्य समुदितस्य कारण-
तायाम् । कार्यस्य प्रतिभायाः । अन्यथाऽपि केवलाददृष्टेनापि ।

१। उत्पन्न मायविशेष और इन्द्रा—विलक्षण (विविध लोकाचार, शास्त्र, वाच्य इतिहास, इधुनि के
पर्यालोचन से होने वाली) व्युत्पत्ति (निरुपना विशिष्ट धान) और पुन पुन वाच्य बनाने का
अभ्यास—अर्थात् किसी में देवता या महात्माओं की कृपा से मननतोन्नेपराष्टिनी बुद्धिरूपा प्रतिभा
उत्पन्न होती है और किसी में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से प्रतिभा उत्पन्न होती है, दोनों ही प्रतिभाओं
का कार्य यह होता है कि वाच्यभास प्रकाशित हो उठती है—उक्त प्रतिभाजन्य व्यक्तिकाच्य-निर्माण
करने में सफल सिद्ध होता है ।

प्रतिभा के प्रति अदृष्ट, पृथक् और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास, पृथक् कारण है, सम्मिलित नहीं, इसी
बात को युक्ति से साज करने हैं—‘न तु त्रयमेव’ इत्यादि । कहने का भाव यह है कि अदृष्ट, व्युत्पत्ति,
अभ्यास ये तीनों मिलकर प्रतिभा को उत्पन्न करने हैं, देसी मात्र नहीं है, अरिपु पूर्वोक्त रीति से
कहाँ अदृष्ट सत्त्व तथा प्रतिभा का उत्पन्नक होता है, और कहीं व्युत्पत्ति तथा अभ्यास मिलकर
प्रतिभा की सृष्टि करते हैं । यदि तानों मिलकर ही प्रतिभा की सृष्टि करें, तब तो किसी बातक
में महापुराणों के ज्ञानात्र से जो प्रतिभा उत्पन्न होती देखी गई है, (चरि वर्णपुर के निरय में इन
इन तरह की विवरणों हैं) वहाँ उक्त कार्यकारणभाव व्यभिचरित हो जायगा, अर्थात् निम्न शब्दे ने
कभी व्युत्पत्ति नहीं बनार्ह, अभ्यास नहीं किया फिर भी हमने केवल महापुराण कृता ही प्रतिभा उत्पन्न
हो गई, हमने सम्मिलित कारणतादी के विचार से कारण ने विना ही कार्य हुआ, इसी को व्यभिचार
कहते हैं ।

अदृष्ट अदि समुचित कारणतादी द्वारा उक्त व्यभिचार-कारण के लिये उपस्थित किये गये
समाधान का मान्य बन हैं—‘न च तत्र तयो’ इत्यादि । जहाँ कहीं कार्यके व्युत्पत्ति-अभ्यास

१. पदार्थपरिष्कार्य मुख्य वर्णपुरस्य गुणे प्रमथ शीघ्र-त्वेनान्तेनाङ्गुल्यध प्रवेक्ष्य मयो विलक्षण
वर्तिनाऽस्तिविविधविविधेति जनशुक्तिः ।

उत्तरपक्षस्यास्य विवृणोति—

लोके हि बलवता प्रमाणेनागमादिना सति कारणतानिर्णये पञ्चादपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणाय जन्मान्तरीयमन्यथाऽनुपपत्त्या कारण घर्माघर्मादिकल्प्यते । अन्यथा तु व्यभिचारोपस्थित्या पूर्ववृत्तकारणतानिर्णये भ्रमत्वप्रतिपत्तिरेव जायते ।

यथा नास्तिकग्रन्थेषु मङ्गलाभावेऽपि समाप्तिदर्शनादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणाय जन्मान्तरीय उन्मङ्गलमनुमीयते तथैव कविकर्णपुरादिवातेष्वपि साम्प्रतिकव्युत्पत्त्यन्यासयोरिहोऽपि प्रतिभोत्पत्तिदशनाज्जन्मान्तरीया व्युत्पत्त्यन्यासावनुमेयाविति व्यभिचाराभावात् त्रयाणा समुदिताना कारणताया सिद्धिरिति पूर्वपक्षाय ।

जन्मान्तरीयव्युत्पत्त्यन्यासयोरिहानुमितौ गौरवम् । तथा मङ्गलसमाप्त्यो कार्यकारणभाव प्रमाणान्तरसिद्ध इति तत्र क्वचिदुपस्थितव्यभिचारवारणाय मङ्गलानुमानमार सोद्विष्यो भवति, प्रकृते तु कार्यकारणभाव एव प्रमाणाभाव इति तद्गौरवमसहनीयमेव । किञ्च यदि व्युत्पत्त्यन्यासो विनाऽऽप्तात् क्वचिदपि प्रतिभा नोन्पद्येत, तर्दानापथ्या तत्कल्पनमौचित्यो च्युन्वेत् । न तु तथा, प्रकृत एव व्यभिचारस्य स्फुटत्वात् । एतावतैव कार्यानुपपत्तिरेवात्र मानमित्यपि न वक्तुं शक्यम् । तस्मान् कुतो व्युत्पत्त्यन्यासयोरिह कल्पना, कथं वा समुदिताना त्रयाणा कारणतेरुत्तरपक्षस्य तात्पर्यम् ।

लोके सर्वत्र प्रकृतेरस्यतेषु । भाग्यं श्रुति तवावय स्मृतीनिहासप्रभृतम् । प्रमाणस्य बलवत्त्वं श्रुत्यादिरूपत्वात् । अन्यथा बलवत्तरयुत्यादिप्रमाणहेतुककारणतानिर्णयाभावे तु । पूर्ववृत्ते प्राग्जाते कारणताया निर्णये निश्चयात्मनज्ञान । भ्रमत्वस्य प्रतिपत्तिः प्रतीतिः । एवकारस्तादृशनिर्णयस्य प्रामाण्यव्यावृत्त्या कार्यानाङ्ककत्वं सूचयति ।

के दिना अष्टमात्र से प्रतिभा उत्पन्न होनी थीकनी है, वहाँ भी अष्टमात्र से प्रतिभा नहीं हुई है, परितु अष्ट, व्युत्पत्ति, अन्वय इन तीनों से ही यद्यपि हमने इन जन्म में व्युत्पत्ति तथा अन्वय नहीं किये, तथापि जन्मान्तर [पूर्वजन्म] में अवश्य किये हीये, ऐसी कथना करेंगे, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्वजन्मत व्युत्पत्ति तथा अन्वय की निश्चि अनुमान प्रमाण से ही तो करेंगे और अनुमिति-सामग्री को चुनने में गौरव होगा । दूसरी बात यह कि—इन तीनों को सम्मिलित रूप में प्रतीना के प्रति कारण मानने में प्रमाण नहीं है । यदि आप कहें कि प्रमाण है क्यों नहीं, कार्यानुपपत्ति भी तो एक प्रमाण है—अर्थात् तीनों को कारण दिना माने कार्य होता नहीं, अत्र तीनों को कारण मानिये ? परन्तु यह दृष्टौ भी सत्य नहीं, कारण जब अष्टमात्र से कार्य होने देखने है, तब कार्यानुपपत्ति प्रमाण वा यहाँ अवसर ही नहीं है ।

यस्य भाषो वा हा स्पष्टकरा कर्ते हे—'लोके हि' इत्यादि । नास्तिह ग्रन्थो में मज्ज के विना समाप्ति हो जाने से उपदिश व्यभिचार-कारण के लिये जैसे आचार्यों ने जन्मान्तरीय मङ्गल की कल्पना करने में होने का गौरव को स्पष्ट माना है, उन्नी तरह वहाँ जन्मान्तरीय व्युत्पत्ति एवं अन्वय की कथना करने में ही गौरव होगा, उन्थी सद्गना चाहिये । हाँ, दूसरा तो अपने खोज निष्कर्ष परन्तु वहाँ यह स्पष्ट नहीं हो सकना क्योंकि वेदादि प्रकृत प्रमाणों से जब किनी कार्य के

तत्र मतान्तर निराकरोति—

नापि केवलमदृष्टमेव कारणमिन्यपि शक्यं वदितुम्, कियन्तश्चिन् कालं काव्यं कर्तुंमशक्नुवत् कथमपि सञ्जातयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयो प्रतिभायां प्रादुर्भावस्य दर्शनात् ।

यदि ध्युयादिप्रमाणं वायनारणमावेजघारिते क्वचिद् व्यभिचार आपतति, तर्हि तत्र तादृशप्रमाणानुरोधेनोपस्थितव्यभिचारवाग्याय जन्मान्तरीयकारणानुमान-विधानगौरवमगत्या मृष्यत । तादृशप्रमाणविरहे तु तादृशकार्यकारणभावज्ञानस्यैव भ्रमात्मकत्वमङ्गीकृत्यत इति सम्प्रदाय । प्रकृते तु प्रमाणाभावान्नैव तदनुमिति रिति माय ।

नापीति वदितुं शक्यमित्यनेनाश्वेति । केवलपद स्पष्टार्थम्, एवकारोपादानात् । कारणं प्रतिभा प्रतीति शेष । अदृष्टं पुण्यम् पापस्य प्रतिबन्धकत्वात् । अपि प्रागुक्त-पलस्य समुच्चायकं । काव्यकरणेऽस्तिव्युत्पत्त्यभ्यासयोर्विरहेण प्रतिभानुदयात् । कथमपि केनापि तादृशविद्वदविरतसहवासादिना प्रकारेण । व्युत्पत्त्यभ्यासयो सतीरिति शेष ।

अदृष्टाभावेऽपि क्वचित् व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यामेव प्रतिभोत्पत्तेरपलम्भेन व्यभिचारात् सर्वा प्रतिभा प्रत्यदृष्टमेव कारणम् विन्दु व्युत्पत्त्यभ्यासावपि । किञ्च यदादृष्टमेव कारणं स्यात्, तर्हि तत्र व्युत्पत्त्यभ्यासोत्पत्ते प्रागपि कदाचित् प्रतिभा प्रादुर्भूय काव्य जनयदित्यभिप्राय ।

प्रति कोई वाक्य निश्चित है। चुरा रहता है और किता। स्वतः देखिए पर हम वायनारणमात्र में व्यभिचार (राता) के बिना भी उर्ध्व हो जाता था राता के रहने पर वा वाक्य था न हीने), उपस्थित होता है तब अस्या (कथों के बदादि मिथ्या नटा है मन्) । जन्मान्तरीय कारण की कथना की जाती है, परन्तु जहाँ बदादि प्रमाण का वाक्यकारणभाव निश्चित नटा हुआ है किञ्च मय हम अपर एक प्रकार के वाक्यकारण भाव को मान रहे हैं, वहाँ यदि पाठे किता जगह व्यभिचार भावितेन होता है, तब यहा मगता जाता है कि इन लोको का कार्यकारणभावज्ञान सही नहीं था, भ्रम वा भ्रान्त 'नद्वय समाप्ति के प्रति कारण' के मना कार्यकारणभाव बदादिनि, अतः नद्वयस्य में व्यभिचार हीने देकर नाभिक्त-वृत्त-जन्मान्तरस्य मद्रत का कथना का जाती है, यहा तो प्रतिभा प्रति अदृष्टादि-प्रत्यय की कारणता वेदादिबोधित नहीं अतितु मन्कथित है, अतः हम जगह व्यभिचार उपस्थित होने पर जन्मान्तरीय व्युत्पत्ति, अभ्यास को कथना नहा की जा सकती है वरन् समुचित कारणताज्ञान भ्रम है—कार्यजनन में अमस्य है, यही माना जायगा ।

अब अदृष्टमात्र कारणतासद का निराकरण करण है—'नापि' इत्यादि । यदि कोई कहे कि व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को पृथक् कारण मानने की आवश्यकता ही क्या है ? अदृष्टमात्र को सब जगह प्रतिभा के प्रति कारण मान लीजिये तो मो भा ठीक नहीं, कारण ? कतिपय अनुभव में भी देखने में आते हैं, जो अदृष्ट पाठ तक वाक्य बनाना नहीं जानते, पर कुछ समय के बाद जब किसी तरह व्युत्पत्ति तथा अभ्यास ही जाता है, तब उनमें प्रतिभा उत्पन्न हो जाती है, वे वाक्यनिर्माण करने लगते हैं अर्थात् यहा अदृष्ट के अभाव में भी वरन् व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से प्रतिभा की उत्पत्ति देखते हैं, अब उन दोनों का भी पृथक् प्रतिभा के प्रति कारण मानना उचित है ।

तनाप्यागङ्गा खण्डयति—

तत्राप्यदृष्ट्याङ्गीकारे प्रागपि ताम्या तम्याः प्रमत्ते ।

भूतोऽत्राग्निवैशिनो मतमुपन्यस्य निरस्यति—

न च तत्र प्रतिभाया प्रतिबन्धकमदृष्टान्तर कल्प्यमिति वाच्यम्, तादृशाने-
कस्य रगतादृष्टद्वयकल्पनापेक्षया क्लृप्तव्युत्पत्त्यभ्यामयोरेव प्रतिभाहेतुत्वकल्पने
लाभवान् । अतः प्रागुक्तसरणिरेव ज्यायसी ।

तत्रापि किञ्चिन्कालानन्तरोपप्रव्युत्पत्त्यभ्यासोत्तरवाद्यमानप्रतिभोऽप्यभावात् ।
अदृष्टस्याङ्गीकारे कारणत्वेनेति शेषः । ताम्या व्युत्पत्त्यभ्यासान्नाम । तस्या
प्रतिभाया । प्रसक्तोऽप्यस्यापत्तेः ।

ननु तादृशस्यैव तत्र दृष्टेऽदृष्टे निष्कलेवेति तैर्नैव प्रतिभा जल्पते न तु व्युत्पत्त्य-
भ्यामाभ्यामिति चेत्, तदाऽदृष्टस्य तत्र जन्मन प्रभृत्येव विद्यमानतया व्युत्पत्त्यभ्यामा-
त्यत्ते पूर्वमपि प्रतिभोऽप्यतिरापद्यत इत्यदृष्टमात्रस्य कारणत्व दुर्बलमेवेति तात्पर्यम् ।

न चेति वाच्यमित्यनेनानुपक्तम् । तत्र व्युत्पत्त्यभ्यासप्राक्कानिकादृष्टहेतुकप्रतिभो-
त्पत्ती । अदृष्टान्तरमन्यदृष्टत्वं पापकम् । कल्प्य प्रतिभाजुत्पत्तौनुमेयम्, प्रत्यक्षविषय-
त्वान् । एकमदृष्ट प्रतिभोत्पत्ती माघकम्, अपर च बाघकमित्यदृष्टद्वयम् । व्युत्पत्त्य-
भ्यामयो क्लृप्तात्वे च प्रतिबन्धकादृष्टनिवर्तकत्वेन । एवमदृष्टद्वयकल्पनाभ्यावृत्ति-
परः । माघवत्त्वव पक्षे प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावकल्पनाभावात् । प्रागुक्ता नरणि स्वचि-
ददृष्ट स्वचित्त्व व्युत्पत्त्यभ्यासी प्रतिभाया कारणमित्येव स्वीकारात् ज्यायसी श्रेया
दोषवैधुर्वात् ।

तत्रैव व्युत्पत्त्यभ्यासगत प्राक् प्रतिभाया उदाहरणादृष्टस्य मत्त्वमिति प्रतिबन्धका-
दृष्टस्य मत्त्वात् तद्व्युत्पत्तिरिति चेत्, तर्हि तदीनादृष्ट-तत्रप्रतिबन्धकत्वना कल्पनागौर-
वमेव दृग्गम् । मत्तात्पर्ये तु व्युत्पत्त्यभ्यासी पुनः क्लृप्तावेव, तद्वैतना केवल कल्पना-
येति लाभवम् । तस्माददृष्टस्य व्युत्पत्त्यभ्यासमयोऽत्र कृत्कारणनिमित्तत्वादेन दृष्टोऽव प्रतिभा
प्रति कारणत्वमिति प्रागुक्तमेव मुक्तमिति मारम् ।

यदि अत्र कश्चिद् किं अदृष्ट ही है वह दुर्गोऽपि न भोग्यो न, तिर वहा (वहा भार
हुयुक्ति, अस्मान्मत्र तस्मैऽपि न विना ही) अदृष्ट नही है इनमें क्या प्रमाण ? मैं कहूँ कि वहा
भा अदृष्ट है, तबसे प्रमाण तब होना है, तो वह दृष्ट ही प्रमाण नही, क्योंकि यदि वहाँ
अदृष्ट था और तबसे प्रमाण तब ही, तो अदृष्ट ही तब प्रमाण से परत वहाँ वह अदृष्ट
प्रमाण को क्यों प्रमाण का दिन ? अदृष्ट तथा प्रमाण से पूर्व व क्यों कल्प बनाये में प्रमाण
रहे ? अर्थात् 'तद्विना न हि यो ददनन्तर' के दिन व से अदृष्टप्रमाण प्रमाण ही वह प्रतिभोऽपि
माननी रहेगा ।

यदि अत्र कश्चिद् किं दिन प्रमाण में कुछ दिनों के बाद प्रतिभा देवने न भोग्य है, उनमें परसे
कोई वहा अदृष्ट था, तबसे प्रतिभा का वदरि के कुछ दिनों के लिये रोज रस था, किन्तु तब
वम दुर्गुट के होने पर कुछ अदृष्ट ने अन्त का न किया, प्रतिभा तबसे हुई, इन तरह अदृष्ट मात्र
को प्रतिभा के प्रति कारण मानने में कोई अदृष्ट नही ही न परसे, सर्व अदृष्ट तथा प्रमाण को
कारण को शेष में प्रमाण से क्या लाभ ? इतना वहा वहा है कि—अदृष्ट तथा प्रमाण होने पर
३ २० ग०

न येवमन्यदृष्टमात्रोत्पत्तिप्रतिभास्यते व्युत्पत्त्यभ्यासरूपनरत्तारणामावेऽपि प्रतिभा-
लक्षणकार्योत्पत्तिदंगनाद् व्यतिरेकव्यभिचार म्यादेवेत्यत आह—

तादृशादृष्टस्य तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च प्रतिभागत वैलक्षण्य कायताऽव-
च्छेदकम्, अतो न व्यभिचार ।

मन्वयापि मिश्रयोर्द्वयो प्रतिभयोर्द्वे काव्ये प्रति पृथक्कारणत्वे मिथो व्यभिचार
आपत्तेदेवेत्याचष्टे—

प्रतिभात्व च कविताया कारणताऽवच्छेदकम्, प्रतिभागतवैलक्षण्यमेव वा
विलक्षणकाव्य प्रतीति नात्रापि स ।

प्रतिभावृत्तिवैलक्षण्यमदृष्टाव्यवहितोत्पत्तिप्रधानत्व व्युत्पत्त्यभ्यासाव्यवहितोत्-
पत्तिप्रधानत्व च ।

अदृष्टाव्यवहितोत्पत्तिप्रधानत्वप्रतिभात्वावच्छिन्न प्रत्यदृष्ट कारणम् व्युत्पत्त्य-
भ्यासाव्यवहितोत्पत्तिप्रधानत्वप्रतिभात्वावच्छिन्न प्रति ॥ व्युत्पत्त्यभ्यासौ कारणमिति
कार्यताऽवच्छेदकयोटावच्छेदवहितोत्पत्तिप्रधानत्वनिवेत्ताददृष्टोत्पत्तिप्रधानत्वाया व्युत्पत्त्यभ्यासौ न
कारणमिति व्युत्पत्त्यभ्यासयोरभावेऽपि प्रतिभाया उत्पत्तौ नैव व्यभिचार
इत्यभिप्रायः ।

अत्रापि द्वितीयपरिमाण प्रतिभाकाव्यकार्यकारणभावेऽपि । स व्यभिचार ।

प्रतिभात्व हि काव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकतयैव सिद्धमत
काव्य प्रति प्रतिभा कारणमिति सामान्यकारणैव कार्यकारणभाव । तथा सति
यदि व्यभिचार आपद्यते तर्हि पूर्वोक्त वैलक्षण्यमादाय विलक्षणकाव्य प्रति विलक्ष-
णप्रतिभा कारणमित्येव त्रिनोपाकारेण कार्यकारणभावगबलमन्य व्यभिचारो वारणीय
इत्याकृतम् ।

ही काव्य बनाने का प्रयत्न ही है, इसलिये अनेक जगहों पर दो-दो (अर्थात् अणु अणु)
अणु मानने की चेष्टा प्रतिभत्पत्ति को रोक देने वाले दुरदृष्ट के नाश करने के लिये आप जिन
व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की कल्पना करने हैं—जिनके आवरण से प्रतिबन्धक दुरदृष्ट नष्ट हो जाता
है, उन्हीं (व्युत्पत्ति और अभ्यास) को कारण मान लेना समुचित है—अर्थात् प्रतिबन्धक अणु को
हटाने के लिये जब अणुओं की व्युत्पत्ति और अभ्यास की कल्पना करनी हो पड़ती है, तब एक
प्रतिभेत्पादन अणु और एक प्रतिभेत्पत्ति-प्रतिबन्धक अणु इन दो-दो अणुओं को मान कर व्यर्थ
गौरव मार को देने से क्या लाभ ? अतः पूर्वोक्त मार्ग (अर्थात् अणु को दूर कर और व्युत्पत्ति-अभ्यास
को दृष्ट प्रतिभा के प्रति कारण मानना) ही श्रेष्ठ है ।

अब यहाँ एक दृष्टावृत्ति है कि जब आप प्रतिभा के प्रति अणु को अणु और व्युत्पत्ति-अभ्यास
को अणु कारण कहने हैं—अर्थात् दो कार्यकारण मानने हैं, तब दोनों कार्यकारण भावों में
व्यतिरेक व्यभिचार होगा, क्योंकि कारण दो हैं और कार्य एक, ऐसी स्थिति में अणु के बिना
व्युत्पत्ति-अभ्यास से और उनसे बिना अणु से प्रतिभा होगी । दूसरा उक्त यह है कि—अणु के
बाद होने वाली प्रतिभा के प्रति अणु और व्युत्पत्ति-अभ्यास के बाद होने वाली प्रतिभा के प्रति
व्युत्पत्ति-अभ्यास को कारण मानना ही श्रेष्ठ अभीष्ट—अर्थात् जैसे कारण दो है, जैसे कार्य भी दो है
ही, एक नहीं, अतः व्यभिचार की उद्भा समाप्त हो गई ।

अथ पूर्वकार्यकारणभावे व्यभिचारमापाद्यापनुदति—

न च मतोरपि व्युत्पत्त्यभ्यामयोर्यत्र न प्रतिभोत्पत्ति तन्वान्वयव्यभिचार इति वाच्यम्, तत्र तयोस्तादृशदलक्षण्ये मानाभावेन कारणताऽवच्छेदकानवच्छिन्नत्वात् ।

ननु व्युत्पत्त्यभ्यासनिष्ठ बलक्षप्यमदृष्टासहवृत्तमेव वक्तव्यम् तच्चात्र तयोरस्त्येवेति कुतो व्यभिचार इत्यस्त्वे पक्षान्तरमुपादत्ते ।

पापविशेषस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वकल्पनाद्वा न दोषः ।

इह विकल्पार्थक—वास्तव्योपादानेन बल्पद्वयमुपस्थाप्यते । तत्र प्रथमं कल्प प्रसङ्गादेवोपात्त प्रकृतानुपयोगित्वात् । यद्वा साधान्यस्मेन कार्यकारणभावप्रदर्शनमप्यावश्यकमेव प्रयोर्विशेषेण कार्यकारणभाव तयो सामान्येनापि इति न्यायात् ।

कारणतात्वेऽपि कार्याभावो ह्यन्वयव्यभिचारः स चात्र व्युत्पत्त्यभ्यासात्मककारणतात्वेऽपि प्रतिभारूपकार्यानुत्पत्तेः प्रसक्त इति चेन्न यथा प्रतिभानिष्ठ बलक्षप्य कार्यताऽवच्छेदकम्, तथैव व्युत्पत्त्यभ्यासनिष्ठमपि तच्च बलक्षप्यमिह व्युत्पत्त्यभ्यासोपपत्ति स्यात् तदा प्रतिभा प्रायतैव न जायते प्रतिभेति कारणताऽवच्छेदकावच्छिन्नत्वाभावादवतोऽव्युत्पत्त्यभ्यासयोरोदासीनतया नत्नत्वे प्रतिभाऽनुदपस्य व्यभिचाररूपत्वाभावादिति भावः ।

अब कहते हैं कि—अच्छा भाई, वहाँ तो आपने व्यभिचार-रूप में पिष्ट शक्या, परन्तु अब तो वहाँ ही (अदृश्य और दृश्य-अभ्यास) प्रतिभा में काव्यरूप एक कार्य होगा, तब फिर वह व्यभिचार स्थित हो जायगा। वहाँ ममाधान दो प्रकार से हो सकता है—? एक तो यह कि जैसे काव्य रूप कार्य एक मानते हैं, जैसे प्रतिभारूप कारण को भी एक ही मान लेंगे—अर्थात् कारण (प्रतिभा) में अदृश्यत्व तथा व्युत्पत्ति-अभ्यासव्यत्य विशेष नहीं देकर 'काव्य के प्रति प्रतिभा कारण है' इस तरह एक ही सामान्य कार्यकारणभाव बनायेगि निम्नका एक कारण यह हुआ कि काव्य-निर्माण के लिए प्रतिभा चाहिये, वह प्रतिभा कैसे बनी? किमसे बना? इस प्रश्नका को आपस्यता नहीं, अब प्रतिभाओं में कार्य (काव्य) एक सा ही होगा। २ दूसरा ममाधान पूर्वोक्त रीति में कार्य को भी दो बना देना है—अर्थात् अदृश्य प्रतिभा के लिए जोसे वाले विच्छेदा काव्य के प्रति अदृश्य प्रतिभा और व्युत्पत्ति-अभ्यास-अभ्यास प्रतिभा के बाद होने वाले विच्छेदा काव्य के प्रति व्युत्पत्ति-अभ्यास-अभ्यास प्रतिभा को कारण मान लेंगे में व्यभिचार दो सम्भावना जाती रहनी।

इस प्रसङ्ग में एक बात और विचरणीय यह रह जाती है कि—बहुत मनुष्य ऐसे भी देखने में आते हैं, जो जीवन भर व्युत्पत्ति और अभ्यास करने रहे, परन्तु उनमें प्रतिभा उत्पन्न नहीं हुई, काव्य बनाने का सामर्थ्य उनकी अपूर्ण हो रह गई। अब सोचिये कि वहाँ कारण के रहने पर भी कार्य क्यों नहीं हुआ? और जब किसी भी हेतु में कारण के रहने पर कार्य नहीं हुआ, तब अन्वय व्यभिचार क्यों नहीं हुआ? उत्तर दोनों का एक है कि—विच्छेदा व्युत्पत्ति अभ्यास को ही हम प्रतिभा के प्रति कारण मानते हैं, फिर अब जहाँ सामान्य समके रहने पर भी प्रतिभा नहीं देखते, वहाँ ममाधान चाहिये कि हम व्युत्पत्ति-अभ्यास में वह विच्छेदता नहीं हुई और जब कारण कार्य कुछ भी नहीं हुआ, तब व्यभिचार कैसा?

ननु तर्हि प्रतिबन्धकादृष्टाभावस्य कारणताकल्पनादेव गौरवमित्यत आह—
प्रतिबन्धकाभावस्य च कारणता समुदितशनत्यादिनयहेतुतावादिन शक्ति-
मात्रहेतुतावादिनश्चाविशिष्टा ।

हेतुप्रदर्शनेनोक्तमर्थं द्रव्ययति—

प्रतिवादिना मन्त्रादिभि कृते कतिपयदिवसव्यापिनि वाक्स्तम्भे विहिता-
नेकप्रबन्धस्यापि कवे काव्यानुदयस्य दशानात् ।

तत्र तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासत प्रतिभोत्पत्तौ । पापविशेषस्य दुरदृष्टस्य । दोषो
व्यभिचारः ।

सत्यपि व्युत्पत्त्यभ्यासात्मके कारणे तत्र दुरदृष्टस्य प्रतिबन्धकस्य तद्भावादेव
न प्रतिभोत्पत्तिर्भवतीति तान्वयव्यभिचार इति भावः ।

अविशिष्टा तुल्या ।

प्रतिबन्धकादृष्टाभावस्य कारणत्वकल्पनं न नवीनम् यन्मे गौरवाय कल्पेत, अवि-
तु शक्तिव्युत्पत्त्यभ्यासाना समुदिताना कारणस्य वदद्भिर्भवंद्भिरपि कल्पतीयमेव प्रति-
बन्धकसमर्थाभावस्य कायमात्र प्रति कारणताया सर्वमिद्वान्तसिद्धत्वादित्याशयः ।

कवेर्विहितेत्यादिविशेषण प्रतिभाऽऽदिकारणमवधानप्रत्यायकम् ।

यत्रानेकवाक्यानि रचिनवतोऽपि कवे कृद् प्रतिवादी स्वकीयमन्त्रादिप्रभावेण
कियतो दिवसान् यावद् वाच स्मभ्यन करोति, तत्र तत्कवेरेकमपि वाक्यं तदा
नात्यघटे, कवित्वप्रतिभाप्रभृतिकारणाना मद्भावेऽपि प्रतिबन्धकस्य मन्त्रादिजन्यादृष्टस्य
सत्त्वादिनीहापि यदि प्रतिबन्धकमनिधानान कार्यं न जायते तर्हि न किञ्चिदमुत-
मित्यभिप्रायः ।

व्युत्पत्ति-अभ्यास-एत-वैलक्षण्यं वा निर्वचनं अममभूत् है, अन् पशानर कहने है—'पाप-
विशेषस्य द्रव्यादि । कृते वा आशय यह है कि व्युत्पत्ति-अभ्यास के रहने पर भी प्रतिभा उत्पन्न
नहीं हो तो, बड़ा कोई विदित प्रकार का पाप (दुरा अदृष्ट) प्रतिबन्धक था, अन् कारण विशेष
(व्युत्पत्ति-अभ्यास) के रहने पर भी प्रतिभा उत्पन्न नहीं हुई ।

यदि जान करें कि—एत एतद् प्रतिबन्धक वाप के अभाव को कारण मानने में गौरव होगा,
ता हमका उत्तर पण्डितराज यह देने है कि यह गौरव कुछ हा नहीं नरकसे महता एतदा है क्योंकि
प्रतिबन्धकाभावकी कयमात्र वे प्रति सामान्य कारण माना गया है, अन् यह गौरव, शक्ति सातो
इवट्टे कारण मानने वाले मगट वे मत में भी दुनियात हा है ।

इत्यादि समुदिन हतुनादी के मत में भी प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानना क्यों आवश्यक
होगा ? हमका स्पष्टाकरण यन्त है—'प्रतिवादिना' इत्यादि । ऐसा देखने में आता है कि ज पूरे
प्रतिभाशान्त है, अनेक उत्तम वाक्य बनाकर कवि ने प्रतिष्ठित पर पर अभिधिक हा मुका है, नर
भो तब कुछ बाल के टिपे वाक्य बनाने में अमममर्थ हो जाता है, जर रोदे ताँ'अ प्रोदिवादी एतदा
वागे को मन्त्रक से स्तम्भित कर देता है, अब मोपिये कि ऐसा क्यों होता है ? प्रतिभा हमने है
ही, फिर हमसे वाक्य क्यों नहीं बनता ? अगत्या प्रतिपदिहृन्-मन्त्र-प्रयोग को प्रतिबन्धक मानना
पडेगा, अन् प्रतिबन्धक सामान्याभाव को कारणता बरे मन् (प्रतिभाभात्र वाक्य के प्रति कारण है,
हन् एतु) में और अन्के मन् (इत्यादि समुदिन एतदनावाद) में भी व्युत्पत्ति है ।

इत्य काव्यस्य कारण निरूप्य प्रकारान् व्याहरति—

तद्योत्तमोत्तमोत्तममध्यमाद्यमभेदाच्चतुर्धा ।

तत्र प्रथम प्रकार मूत्रेण लक्षयति—

शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम् ॥२॥

‘क्षणाद्यटक्पदवृत्त्यभिदधाति—

कमपीति—चमत्कृतिभूमिम्, तेनातिगूढस्फुटव्यङ्ग्ययोनिरामम् । अपराङ्ग-
वाच्यमिदं व्यङ्ग्यं न स्यापि चमत्कारितया तद्गारण्यम्—गुणीभावितात्मानो-
विति स्वापेक्षया व्यङ्ग्यप्राधान्याभिप्रायकम् ।

तत् काव्यम् उत्तमात्तमम् उत्तमम्, मध्यमम् अधमं च नि चतुर्विधमित्यं ।

यत्र काव्ये, शब्दा वाचक, ज्यां वाच्यम् गुणीभावितात्मानौ व्यङ्ग्यप्राधान्याऽ-
प्रधानाहृतस्वरूपौ कमपि चमत्कारातिपदाधानेनानिर्वचनीय प्रथममर्थम् अभिव्यङ्क्तौ
व्यञ्जनाया बोधयत, तत् काव्यमाद्यनुत्तमोत्तम भवनीत्ययम् । एतदेव ध्वनिकाव्यमन्यैर-
मिहितम् ।

तथा च ध्वनिग्रन्थ —

‘यत्रार्थं शब्दो वा तमर्थमुपमर्जनीहृतस्वार्थौ ।

व्यङ्क्त, वाच्यविशेषं स ध्वनिरिति मूरिति कथित ॥’ इति ।

भूमिराश्रमस्तदुत्पादनात् । अतिगूढादिपदमनुन्दरव्यङ्ग्यस्वाप्युपलक्षणम् । निरासी
व्यावृत्ति । अपरादिपदश्च मन्दिग्धमाधान्य-तुल्यप्राधान्य-वाच्यवाञ्छितव्यङ्ग्यपानाम-
प्युपलक्षात्कम् । इति विशेष्यतापस्यापक, तद्विशेष्यमेव स्वापेक्षयेत्यादिप्रतिपाद्यम् ।
स्वशब्दोव्यङ्ग्यप्राही । गुणीभावितत्वादिविशेषणेनाप्यतिगूढव्यङ्ग्यधादीना निरास
सम्भवतीति सूचयितुं द्वयो सहैवास्ति ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकाराष्टकेऽप्य लक्षणस्य नानिव्याप्ति, अतिगूढव्यङ्ग्य-स्फुट-
व्यङ्ग्या-मुन्दरव्यङ्ग्येषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारानाशयकत्वात्, तेषु ततोऽप्यविष्टेषु
च प्रकारेषु व्यङ्ग्यस्य शब्दापेक्षया प्राधान्यस्य विरहात् । अपराङ्गव्यङ्ग्यादिषु
कतिपयेषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारजनकत्वान्न प्रथमानेनैव निर्वाह इत्याशयम् ।

इत नरक से अस्वर्ग के निरन्तर कर देने के बाद काव्य के भेदों को करते हैं—‘लक्ष’
इत्यादि । जिन काव्य के मन्त्र में इनकी विवेचना की गई है, इन काव्य के नर भेद हैं ।
१. उत्तमोत्तम २. उत्तम, ३. मध्यम और ४. अधम ।

द्विमें इत्त और अत्त (वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य) दोनों जगने को लक्षण (व्यङ्ग्य) बनकर
किनी (चमत्कारजनक आद्य प्रथम) अर्थ को अभिव्यक्त करे—अथवा वृत्ति द्वारा मन्त्रके,
वसे ‘उत्तमोत्तम’ काव्य कहे ह

लक्षणा वाक्य में ‘चित्ति’ शब्दों का उल्लेख करने हैं—‘कमपीति चमत्कृतिभूमि’ इत्यादि इन
लक्षणा में ‘कमपि’ पर स चमत्कारजनक होने के कारण प्रथम अर्थ विहित है, अतः द्विमें व्यङ्ग्य
अथवा गूढ (छिपा हुआ) जगता अथवा नष्ट (वाच्यम्) हो वह काव्य उत्तमोत्तम नहीं हो
सकता, क्योंकि ऐसे व्यङ्ग्य चमत्कारजनक नहीं रहने हैं । अन्दर व्यङ्ग्य का भी बरा इतनी विवेचना

१. वाच्यरहित लक्ष्यव्यङ्ग्यद्वयेऽपि सदाहकम् । अन्यथा तन्व्यङ्ग्यजनकत्वेन व्यङ्ग्यकथयाम्यति ॥

प्रतिज्ञाश्रुत्य स्वोय पञ्चमुदाहरति—

उदाहरणम्—

वञ्चिन्नवदपुवृत्तान्त वणपति—

'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान् ।

दयिता दयिताननाम्बुज दरमीलश्रयता निरीक्षते ॥'

अत्र व्यङ्ग्य निदिशति—

अनालम्बनस्य नायकस्य, सविधस्यनाक्षिप्तस्य रह्यस्थानादेऽहोपनयनस्य च

अहो अद्भुतम्, सविधे दयितस्य सन्निधौ दयिताऽपि प्रणयिच्छस्त्रीजननिवन्त्राद्
मोगावासस्य विविकत्वादनुरागाद्दुरोत्पत्तञ्च हनमयनाऽपि मनारयान स्वहृदि
विद्यमानान् नानाऽऽवारकदीहादिपथकाग्निनापान्, सफलीकर्तुं शरिणाद्ययितु तदनु
रूपमाशरितुमिति यावत् जनीश्वरा त्रपासाध्यसातिरक्षेणाममया दयिता जाता
वामतदीव सम्प्रति मम प्रीत्यै नवादाप्रिया इत्युक्त प्रियमी नायिका दरमीलमीलनी
श्रीश्लोकपनाङ्कुरेण सहकुचता नयन लाक्षण मर्यादाऽदृशो मनी दयितस्य परिचयवचन
विश्वप्रणयोदञ्चनान् त्रियस्य आननाम्बुज मुलकमल निरीक्षत वल विलासत न
तु बुम्बितुमालिङ्गितुमाघ्रातु कोपत्रमत, नापि नयन नितरा निमीलयति न वा
तादृङ्निरीक्षणान् विरमनीत्यय ।

इह सविधसायनरूपकारणस्य सखेऽपि मनारयसफलीकरणलक्षणकायानुद्गमाद्
विरोपोक्तिमहोशब्द प्रकाशयति । विद्यागिनेर उच्यते ।

ये सप्रयना चाहिर । अराह (अर्थात् विना दूरे अर्थ वा अह) और वाक्य मेइवह (अर्थात् विना
विना वाच्य अर्थ की सिद्धि अलम्बन हो) व्यङ्ग्य भा वनत्वपर्यन्तक हात है, अत इम मे ने वनक
की प्रश्न न हो जब, इमदिने उच्छा में 'मने क्व गीत वनक' का गया है जिसका अर्थव यह है
कि उच्य और अर्थ (वाक्यादि) से व्यङ्ग्य में प्रधानता होना चाहेव, न अराहप्रमृते व्यङ्ग्यो ने
अर्थो हाता अर्थात् व मव व्यङ्ग्य स्वव गीत रहत है, अत व (ताहम व्यङ्ग्य वा) वाक्य भा
वचनेचन नहीं ॥ उच्यत है ।

अत्र 'मिनाय नूतनमुदाहरणमुच्यते' इत्य प्रतिष्ठा ने अनुष्णर दिग्गताय व्यङ्ग्येन एव उच्यतेचन
वाक्य के उदाहरणस्य में प्रस्तुत वरत है—'शयिता' इत्यादि । नवरतु अने विधान ७ मनव मोई
है, एतत् अर्थव है कि वर अने मनोऽऽ मनारथो क्व मरत वमने ने अनवरे है—वह शहरी
तो वरत कुछ है, किन्तु उच्छा और मय ने उछ इम प्रकार दशा गया है, 'मयन व' कुछ व
वही, इम स्थिति में विधान की अभिप्राये नी पूने महा ह' वना, दर स्वय निह ह, मि ना
वा अभिप्राय की दयिता है, प्रियता है, हा क्यों नहीं, केछि वित्त व ना वा वना मद्भ्य मेरी
के छिने, अपीतिव नदी, अनेतु नातिवर्षक हा हाता है । इमन वरतक यह नहीं समने कि वर वरत
एते ने वरत में मुर्दा भा वना है, वह वरतर विधान के मुच्यमल व' द' हा है, पूने क्व,
कटिचन कने क्व मद्भ्य भ' ही उछ न ही पर दग्ने न वह मित नहा हाती, ही, उच्य दग्ने
में की कुछ विच्छाया अत्य है, उच्य रहने पर भा उच्छा उच्छुक्त अर्थो सर्वव विचारित नहा,
वरत कुछकुछ मुर्दा दुई भा रहत ह । वहाँ 'वह' पर मनारयस्यकारण व रहने पर न मनारय
उच्यस्य कार्य ने अनारक्य विच्छाति स्थितार क्व प्रकाशित कया है ।

विभावस्य, तादृशनिरीक्षणोद्देशादेरनुभावस्य, त्रपौत्सुक्यादेश्च, व्यभिचारिणः सयो-
गाद् रतिरभिव्यज्यते ।

नन्वालम्बनादीनि तत्र किस्वस्वाधीत्याकाङ्क्षायामाह—

आलम्बनादीनां स्वरूपं वक्ष्यते ।

अत्र नायिकेच्छानिवेषस्यैव प्रधानव्यङ्ग्यतामाह बुद्ध परिहरति—

नच 'वद्यपि शयितः स्यात्, तदाऽस्थानेन चुम्बेयम्' इति नायिकेच्छाया एव
व्यङ्ग्यत्वमेवेति वाच्यम्, मनोरथान् सफलीकर्तुमसमर्था' इत्यनेन मनोरथा-
सर्वेभ्यो हृदि तिष्ठन्तीति प्रतीतेः स्वशब्देन मनोरथवादेन मनोरथत्वाकारेण
तादृशेच्छाया अपि निवेदनात् ।

रह एकान्तम्, तथा च यदि यन् स्थानमेकान्तं न स्यात्, तदा साऽत्रपापार-
वचनात् तत्र नायकस्य क्षमीये कथमपि न शयीतेति नायकक्षमीपक्षयान्वाद्याऽनुपपत्त्या
तस्यानर्थाकाङ्क्षा कल्पते । निरीक्षणे तादृशत्वधीयन्मुकुलीकृतनेत्रकत्वम् । नमनेय-
मीनेन सञ्जा, निरीक्षणेन चोत्सुक्यं सूच्यते । यथैव आलम्बनाविधिं महं स्यादि-
नायक्ये रते नन्वभ्य । रतिश्चात्र नायकालम्बना नायिकाऽऽद्यथा, तस्याऽन्वेह परिरोपेण
निरीक्षास्य च प्रवृत्तत्वेन सम्भोगशृङ्गाररसरूपता ।

इह नायिकानिष्ठाने स्थायिभावस्य नायकस्थानालम्बनविभावेन, एकान्तस्थान-
स्पोहीपविभावेन, मुकुलीकृतनेत्रनिरीक्षणसंज्ञानुभावेन, नञ्जीम्बुकस्थान्या
व्यभिचारिनावाम्या च सम्बन्धान् प्राधान्येन सम्भोगशृङ्गाररसास्वात्, भाष्यवाचक-
पोस्तु गुणीभाव एवेति भूतरामुत्तमोत्तमत्वमस्य काव्यस्य शिद्धपतीत्यादाय ।

वक्ष्यते पुरस्तादस्मिन्नेवान्ते 'एकमेवा स्थायिभावानात्' इत्यादि सम्दर्भेण ।

अथ नायकः । दायित इति जाग्रतो सञ्जा-प्रत्यानिङ्गानादिनीत्यां सन्धय । इति
शब्दो नायिकेच्छाऽकारपरामर्शकः । एवकारः प्रागुक्तव्यङ्ग्यव्यावर्तकपरः । स्वशब्देने-
त्यस्य विवरणं मनोरथपदेनेति ।

अथ यन् प्रथमवारं इत्येव मे होने वाले उस व्यङ्ग्य की दरशाने हैं, शिम्के बल पर पर स्त्रीके
उत्तमोत्तम काव्य का उदाहरण होता है—'सञ्जा' इत्यादि । यहाँ नायिकेच्छा-रति या, आलम्बन-
विभक्तिके वाच्य है, अत्रानुसन्धनरूप-कीचन-विभाव, रति-शब्दों के समीपस्थान से व्यक्तित्व होता
है, नायिका-की-के-आयक-मुग्ध-निरीक्षणरूप अनुभाव भी वाच्य ही है, लज्जा तथा भोक्तृस्वरूप-
व्यभिचारी भव कमल नयन-गज-दर सीतल और निरीक्षण से व्यक्त होते हैं । इन सब भावों के
संयोग से नायक-विभक्त-नायिका-निष्ठ-रति (संघर्षो भाव) व्यङ्ग्य होता है, जो परिपुष्ट होने से
सम्भोग शृङ्गार, रस, रूप है—सद्भव पाठकों का आभास है । यहाँ वह वह व्यङ्ग्य भावना वयत्करी
है तथा इन्द्र अर्थ गीत है, अथ उत्तमोत्तम काव्य का उदाहरण शयितं इत्येव ।

अलम्बन, उदाहरण, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभावों के स्वरूप आगे (इन्हीं
जनन में) करेंगे ।

इस श्लोक में नायिका का इच्छाविशेष ही प्रधान व्यङ्ग्य क्यों नहीं है ? इन शब्दों का उक्त
रहित है—'न च यद्यपि शयितः' इत्यादि । शब्दों को भावों का अभिप्राय है कि इन वचनों में
'रति' शब्द नायिका स्वरूप भाव से नायक के मुँह को बाहर निकाल देता है—'न च यद्यपि शयितं है,

पुनराशङ्क्य समाधत्ते—

न च मनोरथपदेन मनोरथत्वाकारेण सामान्येच्छाया अभिधानेऽपि, 'चुम्बेयम्' इति विषयविशेषविशिष्टेच्छात्वेन व्यङ्ग्यत्व किं बाधकमिति वाच्यम्, चमत्कारो न स्यादित्यस्यैव बाधकत्वात् ।

अङ्गपस्य हि प्रकारान्तरेणापि वाच्यत्वे चमत्कारोत्कर्षजननेन गुणोभावान्न प्राधान्यमिति भाव । तदेवाह—

नहि विशेषाकारेण व्यङ्ग्योऽपि सामान्याकारेणाभिहिताऽर्थ सहृदयानां चमत्कृतिमुत्पादयितुमीष्टे, कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वेनालङ्कारिके स्वीकारात् ।

नायिकाया सश्रीड सस्पृह च नायकमुखनिरीक्षणैर्न मूर्तोल्लिखिताकारिवेच्छैवात्र प्राधान्येन व्यज्यत इति कस्यचिन्मतम्, अयुक्तमेव, यत् सर्वेषां मनोरथानां नायिकाया वृद्धि सद्भावो मनोरथान् मफलीनर्तुमनीभरेत्यनेन विशेषेण भूष्यते, तथा च मनोरथ-चुम्बनविषयकेच्छयो सामान्यविशेषभावादयमिच्छाविशेषोऽपि मनोरथपदेनेच्छात्वरूपसामान्यधर्मप्रकारकप्रतीतिगोचर इति एवेति वाक्यपददोषोत्तरात्प्रमत्तारविशेषानाधानात् प्रधानमिति सारम् ।

विषयविशेषचुम्बनम् । चमत्कारपद सदतिशयपरम्, यत्किञ्चिच्चमत्कारस्य ततोऽपि सम्भवात् । अन्यथा वाच्यप्रधानभेदस्य काव्यत्वानापत्ति, चुम्बनेच्छाया इत्यादिना द्वितीयहेतुप्रदर्शनानवकाशश्च ।

सामान्यधर्मैरेच्छात्वेनानेच्छाया वाच्यत्वेऽपि, विशेषधर्मेण चुम्बनेच्छात्वेन व्यङ्ग्यत्व कृतो न स्यादित्यपि धक्तुं न युक्तम्, इच्छाया अभिधाबोध्यत्वेनोत्तमकाव्यत्वसम्पादकस्य चमत्कारानतिशयस्यैव ततोऽनुदयादित्यर्थम् ।

हि यत् । विशेषान्तरेण विशेषधर्मावच्छिन्नत्वेन । अभिहितोऽभिधावृत्त्या बोधितो वाच्य । चमत्कृतिस्तदुत्कर्षम् । इष्टे क्षमते । कथमपि केनापि प्रकारेण वाच्यवृत्तिरभिधा, तथाऽनालिङ्गितस्याबोधितस्य । एवमशब्दो वाच्यव्यवच्छेदकः ।

जिससे 'यदि यह (नायक) मो गया हो, तो मैं इसका मुझ 'चुम्बेयम्' इत नरह की नायिका की इच्छा व्यक्त होती है, फिर इस व्यक्त की प्रधान मानकर वहाँ काव्यरसज्ञ का समन्वय करना चाहिए, पूर्वोक्त रतिरस व्यक्त की प्रधान मानकर नहीं । ममाधान का अर्थ यह है कि नायिका की एक इच्छा यहाँ व्यक्त हो ही नहीं सकती, क्योंकि 'नायिका अपने मनोरथों को मरठ करने में अमर्ष है' यह बात हम पर में वर्णित है, जिससे यह सूचित होगा है कि नायिका ने इत्य में सब मनोरथ वर्तमान हैं और चुम्बन की इच्छा भी एक तरह का मनोरथ ही है—जो सामान्य रूप से मनोरथ पर का वाच्य अर्थ ही होगा है, फिर व्यक्त कैसे होगा ?

यदि आप कहें कि मनोरथ पद से सामान्य इच्छा के वाच्य होने पर भी चुम्बनविषयक इच्छा (की विशेष) वाच्य हुई नहीं, फिर हमसे व्यक्त होने में क्या बाधा है ? इसका ममाधान यह है कि—चमत्कार नहीं होगा—व्यौक्तिक आनन्द की अनुभूति नहीं होगी—रस, यही बाधक है ।

इस पर यदि आप पूछें कि आपके कहने ही से चमत्कार नहीं होगा ? या हमने न होने में कुछ दुःख भी है ? इस पल्ल के उत्तर में अन्वकार करते हैं कि मैं ही ऐसा नहीं करता, अनिष्ट

ननु कथमपि वाच्यवृत्त्यनातिङ्गतस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारोत्पादकत्वाम्यपग्मे यदेवोच्यते, तदेव व्यङ्ग्यम् । यथा तु व्यङ्ग्यम्, न तयोच्यते ।' इति मम्मटनटोक्ते पर्यायोक्तातद्वारे वाच्यस्यैव व्यङ्ग्यत्वे चमत्कारिताऽनुपपत्तिरित्यरत्ने पूर्वोक्तमङ्गलस्य हेत्वन्तर व्याहरति—

चुम्बनेच्छाया रत्यनुभावतयैव सुन्दरत्वेन सदव्यजने चुम्बेयम्' इति शब्दबलाच्चुम्बनेच्छावत्चमत्कारित्वाच्च ।

सातङ्कारिका हि—

'काङ्क्षोपरयोधर इवातिवरा प्रकाशो नो गुर्नरोरोस्त्वन इवातिवरा निगूड ।

अयो गिरानपिहन पिहितश्च कश्चिन् मीमायमेति मरहृदवपुदुचान ॥'

इत्यभिप्रेक्ष्योक्तेभ्यंजनावृत्तिमानवोच्यस्यायं चमत्कारोत्कर्षाधायकत्व मन्वन्ते । प्रकृते तु चुम्बनेच्छाया इच्छात्वेन मनोरथपदवृत्त्यभिधया बोधितत्वान्न चमत्कारि-प्रकर्षोत्पादकत्वमित्याहुनम् । एतच्च सूटथ्यङ्गपरपगुपीभूतव्यङ्ग्यप्रकारनिरूपणे, पञ्चमोन्लासे, रमदोषनिरूपणे सप्तमोन्लासे च वाच्यप्रकाशे स्फुटम् ।

रतिपद तन्म्यायिकशृङ्गारपरम् । एवकारस्नदितरप्रकारव्यावृत्तिमुचरु । सुन्दरत्वेन चमत्कारविधायकत्वेन । तच्छब्देन रतिरेतुकशृङ्गारस्य परामर्श । 'चुम्ब-यामि' इति पाठस्तु भ्रान्तिमूलक, विजयासङ्गते । शब्देत्यादे दान्दन्त्यप्रतीतिविषय-भूतेच्छावदित्यर्थ ।

यदा रतिस्वयिक शृङ्गार प्रधानतया व्यञ्जने, तदैव तदनुभावेन व्यञ्ज-मानायाश्चुम्बनेच्छायाश्चमत्कारोत्कर्षजनकत्वम्, इतरथा तु शब्दबोधप्रसोचरी-भूततादुगेच्छानो बलशब्धाभावान्न तत्त्वम् अत शृङ्गारस्यैव नयात्वमिति ध्वनि-मागंप्रवर्तकै सिद्धान्तितत्वात् । इति मन्दर्मेज सप्तम्येहातङ्कारनिरूपणे स्फुटीकरित्यति रण्यकृत् ।

व्यङ्ग्यार शास्त्र के सभी मन्त्रों के एक स्वर में ली व्यङ्ग्य को चमत्कारी स्वाकार कहा है, जो किसी तरह भी अभिधावृत्ति का स्वयं न करे, जो जो पदों मास्यस्वर से भी वाच्य हो चुका है, वह विशेष रूप में व्यङ्ग्य होने पर भी मन्दर्मेज के मन्त्र चमत्कार को उत्पन्न नहीं कर सकता— अभिधावृत्ति मानो वह छत्र का रोग है, जिनमें छू जाते पर स्वयं व्यङ्ग्य भी अन्वय हो जाय और हमको चमत्कारजनक शक्ति नष्ट हो जाती है ।

नापिका को इच्छा को ज्ञान व्यङ्ग्य न मानकर रति के स्थान, व्यङ्ग्य मानने में इन्हीं युक्ति भी देने हैं—'चुम्बनेच्छाया' इत्यादि चुम्बनेच्छ रति (प्रेम) का फल है, यदि रति न हो, तो चुम्बनेच्छा हो ही नहीं सकती, यदि किसी कारण में ही हो उत्तम मोन्व नहीं रहेगा, रति के अनुभाव (कार्य) रूप में अब हमको प्रतीति होती है तभी वह अच्छी लगती है, इस स्थिति में यदि यहाँ रति व्यङ्ग्य न हो तब, चुम्बनेच्छा व्यङ्ग्य होवर ही उनी तरह अचमत्कारी होगी, जिस तरह 'चुम्बगा' इस मन्त्र से अभिहित होने पर वह अचमत्कारी होगी है । जो रति को प्रधानतया व्यङ्ग्य होना आवश्यक है, उसके अभिव्यक्त हो जाने के बाद यदि उनी के अनुभावका से एक इच्छा भी अभिव्यक्त हो, तो कोई आपत्ति नहीं

इत्तमिच्छाया प्राधान्यं प्रकृत्या निरन्तरं तज्जाया अपि परेषामनुपपत्त्या ता निराकरोति—

एव त्रयाज अपि न प्राधान्येन व्युत्पन्नम्, अनुवाद्यताञ्चच्छेदकत्वा प्रतीताया तस्या मुख्यवाक्यार्थत्वायोगात् ।

पुनरपरयाञ्जाया समादधति—

न च दरमीलप्रयनात्त्वविशिष्टनिरीक्षण विधेयमिति नानुवाद्यताञ्चच्छेदकत्वं तस्या इति वाच्यम्, एवमपि नयनगतदरमीलनस्य तत्कार्यत्वेऽपि दरमीलप्रयनात्त्वविशिष्टनिरीक्षणस्य रतिमात्रकार्यत्वात् ।

एव चमत्कारविशेषानुत्पादकत्वेन । अपि पूर्वोक्तेच्छान्ताह । अङ्गत्वेन व्यङ्ग्यत्वस्येष्टस्यात् । प्राधान्येनेति । अनुवाद्यताञ्चच्छेदकत्वम् । तस्या त्रयाजम् । मुख्यवाक्यार्थत्वायोगात् प्राधान्येन वाक्यनात्मविषयनात्मन्वन्धानावात् ।

एवमिह इत्स्यादित्येन यद्यपि सञ्जा व्यञ्जने तद्यार्थि तस्या न प्राधान्यम्, यद्यपि दरमीलप्रयनात्त्वमुद्दिश्य निरीक्षण विधीयते इति निरीक्षणनिष्ठविधेयतादिकृति-तोद्देश्यताया उन्विक्षेपनिष्ठताया अचच्छेदकत्व सञ्जाया उद्देश्यविशेषणीभूताया ह्युद्देश्यताञ्चच्छेदकत्वा प्रतीयमाया सञ्जाञ्च न विधेयीमवितुमर्हति । न चानिधेयी-भूताञ्चमत्कार्योपपन्नविशेषणतायाप्रसिद्धि मन्वति । न वा तदनाश्रयार्थि तस्याचर प्राधान्यमिति मन्वति ।

उत्पन्न वैशिष्ट्य नामाभाषिकरूपेण । तस्याम्बसाया । एवमपि सिद्धित्वं विधानार्थि । तत्कार्यत्वेऽपि त्रयाजस्येति । भावगत्वेन त्रयाजभूताना व्यावृत्ति ।

इदमुच्यते—दरमीलप्रयनात्त्वविशिष्टनिरीक्षणस्य विधानेन यद्यपि सञ्जाया विधेयतादिरिच्छितेन नयनपरिमितनेन व्यङ्ग्यत्वा नोद्देश्यताञ्चच्छेदकत्वम्, तद्यार्थि तस्या प्राधान्यं दुर्कृतमेव, इतो नयनपरिमितनेन सञ्जाञ्चमिति तेनैव सकारणी-भूता सञ्जा व्यञ्जने समस्तन नयनपरिमितनविशिष्टरूपेण विधेयत तु स्यन्तेभूता रतिरेव सूचयन्तु शक्यते इति सर्वतोमुख पार्यन्ति प्राधान्यं सञ्जाया न मन्वति ।

‘एषा’ ही इम एष मे प्रयत्न सङ्घर्ष है’ इन जो वा सञ्जन करते है—‘एषं त्रयाजम्’ इत्यदि । किन्तु किन्ती वा मत्र है कि वही जिसे को उद्देश्य मुकुटित वाता हुई इन त्रयिभेदेना से को एषा सङ्घर्ष होती है, एषी को प्रयत्न सङ्घर्ष मत्र वा इम एषा है मे उद्देश्य सङ्घर्ष सङ्घर्ष करनी चाहिये । एतन्व एष मत्र एषी, एषी के वही त्रयिका को उद्देश्य इम वा मत्रिणा का विषय किना गया है और उन उद्देश्यभूत कोरेका का विवेका है ‘एतन्व उद्देश्यम्’—‘मुकुटित नेरी को मुकुटित वाता हुई’ जिन्से एषा अभिप्रेत होती है, इन प्रकार से एषा वा मत्रिणे उद्देश्यग-बन्धुत्वं (उद्देश्य विवेका) स्य मे होती दोगली है, फिर वह एषा, प्रयत्न सङ्घर्ष होने से मन्वति है । अर्थात् जो एष विधि रहता है, एषी मे सङ्घर्ष का सङ्घर्ष होता है और सङ्घर्षभूत स्य ही मत्र सङ्घर्ष करतला है, का एषा किन्ती एष मत्र सङ्घर्ष मे मत्र का मन्वति है ।

एते एषा को हि एषा को प्रयत्न सङ्घर्ष न मन्वते मे मन्वते जो मुक्ति हो है, एष मत्र एषा एषा है, एते इन एषा का मत्र उद्देश्य-सङ्घर्ष स्य मे मन्वते होता है, एषी को इन मत्र मानते है, इन दो दरमीलप्रयनात्त्व विधि निरीक्षा को विधेय मत्र का विवेका-सङ्घर्ष (विधेय

ननु मीलन्यनास्वमानन विधेयमास्ताम्, तथा च समप्रविधेयदलव्यङ्ग्यतया
त्रयाया प्राधान्यमक्षतमेवेत्याशङ्का निराकरोति—

त्रयाया एव मुख्यत्वेन व्यङ्ग्यत्वे निरीक्षणोक्तेरनतिप्रयोजनकत्वापत्ते ।

ननु विधेयकोटी विशेष्यविशेषणभाव विपर्यय निरीक्षणविरिष्टपन्मीलन्यनास्व-
नेन निरूप्येकरणीयम्, तथा चेह विधेयविशेष्यावव्यङ्ग्यत्वेन त्रयाया प्राधान्य स्यादे-
वेत्याशङ्का निरस्तयति—

वाच्यवृत्त्या रतेरनुभावे निरीक्षणे त्रयाया अनुभावस्य दरमीलनस्येव,
शरङ्गनया तस्या तस्या अपि गुणीभावाप्रत्ययौचित्यात् ।

यद्यत्र त्रयाप्राधान्यस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वव कवेरनियत स्यात्, तर्हि स निरीक्षण-
परं नोपाददीत, ईधन्यननिर्मालनेनैव तदमीष्टस्य त्रयाव्यङ्ग्यस्य सिद्धे अधिको-
पादानस्य निष्कनत्वापत्तेः । रते कार्यत्वेन तद्व्यङ्ग्यक निरीक्षणमप्युपाददानेन
नयिता प्राधान्येन रतेरेव व्यङ्ग्यतया बोधिता । तस्यान्नात्र त्रयाया प्राधान्येन
व्यङ्ग्यत्वस्य बोधनायेपन्मीलन्यनास्वस्य विशेषणत्वमिप्राय ।

वाच्यस्य बोधिका वृत्तिव्यापारोऽभिप्रा तथा वाच्यवृत्त्या । अनुभावत्व लोके
तत्प्रापत्तेन । तस्या रती । तस्यास्त्रयाया । गुणीभावोऽप्राधान्यम् । प्रत्यय प्रतीति ।
अभिधावृत्त्या यथा रतेरनुभावो निरीक्षण प्राधान्येन, त्रयाया अनुभावो नयनेप-

विशेषण) = य में ही उनका मूल श्लोकार करने हैं—अर्थात् वह निरीक्षण देमा है, जिनमें तेज
कुछकुछ मुकुटित हो रहे हैं, वही वक्ता का अभिप्राय है, अब तो उन्हा को प्रधान व्यङ्ग्य मानने में
कोई आपत्ति नहीं उठ सकती । इसका उत्तर यह है कि हम तरह उन्हा को अप विशेषकोटि में न
आ सकते हैं, परन्तु तब भी वह मुख्य नहीं हो सकती क्योंकि जेमें का कुछकुछ मुकुटित हान्य,
यह ही उन्हा का कार्य ही, किन्तु निरीक्षण उसका कार्य नहीं हो सकता, वह तो रति (वेन) का
कार्य है फिर प्रधान-विधेय-निरीक्षण में अभिधक होने वाला रति को प्रधान न मान कर,
विधेय विशेषण-मूल-नय-र-मीलन से व्यक्त होने वाली उन्हा को प्रधान मानना युक्तिमत्त
नहीं होगा ।

इसके बाद भी यदि आप यह प्रमाणित करें कि इन निरीक्षण की भी विधेय नहीं मानेंगे, अर्थात्
निरीक्षण करने वाली भाषिका को बद्धेय बनाकर दरमीलनवन्तत का ही प्रधान करेंगे, फिर तो
प्रधान-विधेय-व्यङ्ग्य होने के माने उन्हा प्रधान होगी । इन प्रमाण का उत्तर यह है कि—हाँ
सही । आप बाद में बड़े नियुक्त है, इन तरह उन्हा को प्रधान बना सकते हैं, परन्तु बनाना नहीं
करिये कारण । यदि इन तरह से उन्हा को ही प्रधानतया व्यक्त करना करि की अभिमत होता,
तो कपि निरीक्षण की बात ही नहीं बजाने, केवल इनका ही कहने कि 'जोनों को मुकुटित कर रही
है', उन्हा को अभिव्यक्ति ही तानन्नाय से ही हो चली, जहाँ उन्हा को प्रधान मानने में 'देसती
है' वह कथन निरर्थक ही नहीं होगा कथन बाधक भी होता है, अब रति को ही प्रधान व्यङ्ग्य
मानना चाहिये, उन्हा को नहीं ।

उन्हा को गौ व्यङ्ग्य मानने में ही औचित्य की रक्षा भी होता है इसी बात को स्पष्ट करते
हैं—'वाच्यवृत्त्या' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि रति का कार्य 'दिग्गता' और उन्हा का कार्य
'श्लोको को कुछ कुछ मुकुटित करना' दोनों वाच्य हैं, जिनमें रति का कार्य 'दिग्गता' प्रधान है और
उन्हा का कार्य 'आलो को कुछकुछ मुकुटित करना' गौण है, अब आप सोचिये कि इन दोनों कार्य

द्युत्पत्तिनिमित्त किञ्चिद्दिनक्षणमुदाहरणान्तर दर्शयति—

यथा वा—

उत्तमोत्तमकाव्यस्योदाहरणमिति योजना । नायको वयस्य व्याहरति, स्वयं वा विमृशति—

'गुरुमध्यगता मया नताङ्गी, निहता नीरजकोरवेण मन्दम् ।

दरकुण्डलताण्डव नतभ्रूलतिक भामवलोक्य घूर्णिताऽऽमीत् ॥'

निमीलनन्तु तदङ्गत्वेन प्रत्याप्यते तथैव व्यञ्जनयाऽपि रत प्राधान्येन, त्रयायाम्तदङ्गत्वेन प्रत्यायनमेवास्मिन् हनरया भावप्रधानमाख्यात सत्त्वप्रधानानि नामानि' इति पास्कमिद्वान्निविरोधो दुरवगायो भवेदिति तात्पर्यम् ।

गुरुणा भ्रूम्रभ्रु- ग मध्यगता नत्रिवटस्यानोपविष्टा, नताङ्गी शालीनतीचित्यान् नतनावयवा मा मया नीरजकोरवेण नमलमुकुलेन मन्द शर्ननिभृतमिति यावत्, निहता नितरा ताडिता दरमोषण कुण्डलस्य ताण्डव नटन, यत्र, तद् यथा स्यात्, तथा किञ्च नताऽप्यानखलीकरणजन्यमन्युना नञ्नीभृता भ्रूलतिका यत्र तद् यथा स्यात्, तथा चकित भ्रुस्त्रादिमात्रिष्यान्माय साध्यमय च माम् अबलोक्य (घृष्ट । किमेव गुरुजनमध्य खलीकरोषि इति मनसैवोपालभमाना) घूर्णिता भ्रान्ताऽऽमीदित्यर्थः ।

निघानस्य भाग्येन कुण्डलताण्डवस्येपत्त्व गुरुमध्य निघानेन भ्रूनमन चोरपाघन इति हनुमन्मुद्रावन ताव्यलिङ्गालङ्कारो मालभारिणीच्छन्दश्च ।

इह दुविदग्ध ! किमिदं रक्षति विधेय गुरुजननिवटेऽपि विहितवानसि' इति वन्द्यव्यञ्जनपुष्कर नायकविषमवोऽमर्षो व्यभिचारिभावो वाच्यवाचकापहायाऽधिकच- मत्कारिणया प्राधान्येन व्यञ्जन इत्यस्यात्तमकाव्यत्वम् ।

ये व्यक्त होने के कारण—रति तथा एतज में विगतो प्रधान होना उचित है । उक्त व्यक्त है कि वाच्यकवि ने निम्नका कार्य प्रकृत है, व्यङ्ग्यकवि ने उन कार्य से व्यक्त होने वाला वह कार्य प्रधान और वाच्यकवि में निम्नका वचन गीत है । व्यङ्ग्यकवि ने उन कार्य से अभिव्यक्त होने वाला वह कारण गीत ही वडा मनुष्य है, क्या अब रति का प्रधान और उच्चा को गीत होने में कुछ अर्थ क्या का मन्त्रा है ? नहीं, अर्थात् वाच्यकवि में अब निगीहण प्रधान है, तब व्यङ्ग्यकवि में उन निगीहण से अभिव्यक्त रति प्रधान होगी और वाच्यकवि में गीत—नदन—गन—रत—मौलन से व्यक्त होने वाली वता व्यङ्ग्यकवि में भी गीत ही रहेगी ।

पूर्वोक्त उदाहरण रस (गम्येन शृङ्गार) का दिया गया था, अब भाव (हर्ष आदि व्यभिचारी- भाव) का उदाहरण देना है—'गुरुमध्यगता' इत्यादि । नायक अपने मित्र से कह रहा है मया पश्य मन में भोच रहा है—मम, नन्द इति गुरुजनों के बीच बैठो हुई तथा शालीनता के प्रकट होने के लिये नम्रुगी, प्रिया को मैंने धारे से—अर्थात् टोपों की ओरसे बचाकर पन् कमल घटिया से मार दिया । (मार करने के बाद) अपने शिर्षक इष्टि से मुझे देखा और फिर दूसरी तरफ घूम गई—नुच देर लिया । यद्यपि गुरुजनों के मध्य में बैठी हुई मनीषा उल्लङ्घमिनी का प्रति का और देयता शालीनता का किरीचो ध पर वह बेचारी करे तो क्या ? प्रति महोदय के अमामदिक अचरण से वह धुम्भ हो उठा था—उमने हृदय में अनर्थभाव आया उठा था, अब रति पर एक निर्द्वन्द्व इष्टि करने के लिये वह विवश हो गई, फिर भी उसे अपनी शालीनता—मर्षा का ध्यान था, अतएव वह

तदेवावष्टे—

अथ 'धूम्रिताऽऽसीन्' इत्यनेन 'अममीदयकारिन् । किमिदमनुनितं वृत्त-
शान्तिम्' इत्ययं संवलितोऽप्यर्षवर्णाविश्रान्तिवामत्वात् प्राधान्येन व्यज्यते ।
न च शब्दोऽप्यंश गुणः ।

पुन किञ्चिद्विलक्षणमुदाहरणान्तरं दर्शयन्—

यथा वा—

अचिरप्रनल्पत्पतिकनयोदवनुवृत्त कश्चिद् वक्ति—

'तत्पगताऽपि च सुतनु श्वासासङ्गं न या सेहे ।

सम्प्रति मा हृदयगतं प्रियपाणि मन्दभाक्षिपति ॥'

सर्वान्तो विगिष्ट वैगिष्ट्य चाङ्गाङ्गिभावः, तथाहि—वस्तुरूपव्यङ्ग्यपस्थानप
प्रति पौषकत्वेनाङ्गत्वम् । विश्रान्तिवामत्व पाद्यन्तिकास्काटवियपत्वम् । तत्रामर्षे ।
अर्षो वाच्यो वस्तुत्वरूपव्यङ्ग्यपञ्च । गुणोऽङ्गमप्रधानमिति पावन । पूर्वोदाहरणे
व्यङ्ग्यपस्य वाच्यपामिषवैव शायान्य दर्शितम्, इह तु वस्तुरूपव्यङ्ग्यपामिषसमाप्तीनि
वैगम्यमीक्षणगीयम् ।

या नवोदवनु सुतनु सुन्दरी नितरा कोमलाङ्गी, अथ एव नन्ये केनिमित्तमप्य-
नव्याया, एतामपि कथञ्चन सहचरोसहस्रानुरोपेण यथितानि च (वा वर्षा बहि-
म्विनाया) श्वासस्य पत्युतिश्वासस्य आसङ्गमोपन्यम्पर्कम् (वा कपोपगृहणादी-
नाम्) न सेहे नैव ममर्षं (किन्त्वङ्गानि समकोचयत बहिःपससार वा) सा (संव,
न स्वम्या) सम्प्रति प्रियविदेगपात्रापूर्वरात्राविदानी, हृदयगतं ममङ्गेन प्रियेण हृदये

मत्त ममत्त वृत्तकर न देव मर्षो, न वा लयने ममर्षं को हा स्तर म् म प्रवृत् नर म्क, वमका
देवना देमा हुआ, जिनसे कान के कुटल थोड़ा नाच वऽ थोड़ा झुल्लूँ नाचा हो ग्य—अर्थात्
उमके इन दर्शन-आहार को बलि के अतिरिक्त कोई जान भी न मन्त्र । यहाँ प्रहार-गत-मान्य-कथन
से कुल्ल-नर्तन का अयना तथा गुरुत्वों के मध्य में उम प्रहार के होने से झूठता का नवीनत्व
कन्त्र किने मान है, अतः हेतुहेतुमद्भावमूलक का अन्वय स्पष्टार वाच्य है ।

इस श्लोक में 'धूम्रितागोद्-पुग मर्ष' इम उक्ति से ये अविचारित-अमानदिक काम करनेवाले ।
उनमें यह अनुचित कार्य क्यों किया' इम अर्थ म तुल्य ममर्ष (व्यधिकारीभाव) प्रधान रूप से कश्चि-
म्वन होता है । यहाँ वस्तु अन्वय के न रहने पर भी उक्त अन्वयत्व हा क्यों प्रधान होगा, इम
दृष्टा को निरुक्ति के लिये उक्त प्रधानता में कारण का निवेश करना है—'वैगम्यविगमिप्रामत्तार' ।
अथय वह है कि ममर्षों में उक्त वस्तुत्वत्व को अन्वय बना कर उली हुई अन्वयत्व पर्यवसान
में उक्त अन्वयत्व के अन्वय में ही विग्रह्य होगा है, अतः वह अन्वयत्व हा प्रधान है । ममर्ष
व्यवहार में वाच्य से ही अन्वयार्थ में प्रधानता दिखतायी गया थी और इम दिग्ग उदाहरण में
वाच्य में म वस्तुत्व अन्वयार्थ दोनों की अन्वय अन्वयत्व का प्रधानता कही गई है ।

अन्वयकार पुन उक्तोक्त का अर्थ वा हो एक और विच्छेदा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, वह विच्छे-
ण क्या है ? इम विच्छेदा की शान्ति अथिभ ममर्ष से होगी । विमन्त्र पति करी हूँ देव में जाने
के लिये तैयार बैठ है, उम अन्वयव्यतिक्रम अयोध कथ का वृत्तान्त प्रत्ययऽपि' इम एव में बर्णित
है । एव का अर्थ निश्चिन्त है—ये अतिक्रमवृत्तौ सुन्दरी, वन-व्यथिनी (सहचरियों के अनुरोध

उदाहरणमिदं विवरीतुमवतरणिका षण्ति—

इदञ्च पद्य मन्त्रिमित प्रबन्धगतत्वेन पूर्णसाकाङ्क्षमिति दिङ्मात्रेण व्याख्यानमेव निर्दिशति—

या नववधू पत्यङ्कुशयिता श्वासस्थासङ्गमात्रेणापि मङ्कुचदङ्गलतिवाऽभून्, सा, सम्प्रति प्रस्थानपूर्वरज्या प्रवत्स्यत्पतिका प्रियेण सशङ्केन समर्पित हृदि पाणि नववधूजातिस्वाभाव्यादाक्षिपति, परन्तु मन्दम् ।

वर्षासि निहित प्रियस्य पाणि करम्, मन्द भाविविरहात्सुखं दर्शनं (न तु प्रागिव हरसैव) आक्षिपति नवोदा—जातिस्वभावात् स्वस्थान प्रापयत्यपसारयतीत्यर्थः । काव्यलिङ्गात्कार उपगोतिश्छन्दश्च ।

इह श्वासेन सहावश्यक प्रियस्यान्वय पदार्थकदेशतया दुष्यति । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्य-भावाद्यभावेन गतसञ्चलस्य पीनरक्तस्य च सहृदयानां हृदयं बुनोति ।

अयं तल्पगतेत्यादिश्लोको यद्यपि जयन्नाथपर्ण्डिनराज्रचिते मामिनीविलासामि-पत्रबन्धे नवोदाप्रकरणे पठित इति तत्प्रकरणपटकश्लोकान्तरसम्बद्धतया पूर्वं व्याख्या-तुमसक्योऽपि किञ्चिद् व्याख्यायन इति सारम् ।

पत्यङ्कु छटनादिशेषः । श्वासाभ्यासहनादेशाङ्गलनासङ्कोचः । आगङ्गाक्षेपपदयो-राङ्गीपदयकः । प्रवत्स्यन् विदेश गमिष्यन् पतिर्यस्या सा प्रवत्स्यत्पतिका । स्वभाव एव स्वानाव्यम् साहाय्यादिगणस्याकृतिगणतया तदन्तर्गते सर्ववेदादिगणे स्वभाव-शाब्दस्य पाठ नरपवित्वा गुणवचनग्राह्यादिभ्यः कर्त्तव्यं च' इति पाणिनीयमूत्रेण स्वार्थे ष्यञो दिघानाद् रूपं साधनीयम् । नववधूना जातेर्नववधूत्वस्य स्वामाख्याभि-सर्गान् । प्रियस्य पाव्यपणे दाङ्का प्राग्वत् सरनसनिवारणपलायन्युदे । आक्षेपस्य मान्यर्पे प्रवत्स्यत्पतिकात्वोचिता सत्वरमाविप्रयोगाद् मीतिरूपपादिका ।

से) पत्र पर मोई हुई थी, पति के श्वास के ईप्सत्स्यर्कको भी (अस्तिगुनादि की बात ही क्या ?) नहीं सह सकती थी—अर्थात् पति के श्वास के लगने से भी अग्नी को मिचोड़ने लगती थी, वही मन्त्रिति (पति के विदेश जाने की पूर्ण रजनी में) हृदय पर रक्ते हुए इच्छित पति के हाथ को भावितिरहाण्ड से धीरे धीरे (न कि पूर्ववत् इन्प्रिय से) हटा रही है । वहाँ 'मन्त्रिति' पद के अर्थ से आश्रय-गत मान्य भी उपपत्ति की जाती है, अत्र 'वाव्यच्छिन्न' अल्यार है ।

यह पद्य पण्डितरत्न-रचित—'मामिनीविलास' नामक प्रबन्ध का है, अत्र इसका सम्बन्ध दूसरे पदों से भी है, इसलिये यद्यपि इस पद्य की व्याख्या पूर्णतः से नहीं की जा सकती, तथापि दिगा-प्रदर्शन के अनिप्रिय से कुछ-कुछ व्याख्या कर दी जाती है ।

जो बात पद्य के अर्थरूप में लिखी गई है उसीको प्रत्यक्ष अरुनी भाषा में कहते हैं—'या नववधू' इत्यादि कहने का अर्थभाव यह है कि—नवोदाओं ने हृदय में पति के प्रति प्रेम नहीं रहना है, अपना कथ प्रेम रहना है, ऐसी बात नहीं है प्रेम तो कथि ही रहना है, परन्तु हम प्रेम के माथ लान और अथ का अर्थ भी मिले रहने हैं, जो स्वाभाविक भी है अथ वे (नवोदाएँ) पति के काम जाने में दिव्यिचनी रहती हैं, लेकिन मन्त्रियों मीचगानी कर उन्हें पति की शय्या पर मुटा-कर ही टोपनी हैं । इस तरह वे पति की शय्या पर पड़ी अवस्था रहती हैं पर कुछ मिली-गानी तो

उपादानसङ्गतये व्यङ्ग्य प्रकटयति—

अत्र शनैः स्वस्थानप्रापणात्मना मन्दाक्षेपेण रत्यास्य स्थायी सत्कथ-
कृतया व्यज्यते ।

ननु रत्यादीनां स्थायिनामन्वय सर्वरसलक्ष्यत्रयव्यङ्ग्यताया एव व्यवस्थापना
रिह रते मलक्ष्यक्रमतया व्यङ्ग्यत्वमनङ्गुतमित्यतोऽभिदधाति—

उपपादयिष्यते च स्थाय्यादीनामपि सत्कथक्रमव्यङ्ग्यत्वम् ।

अत्र तल्पेत्यादिपठे । शनैर्नै तु धेवेन । स्वस्थान प्रापणमात्मा स्वरूप यस्येति
बहुव्रीह । एतेन रमसनिवारणामाव सूचित । आक्षेपे मान्द्य रतेरनुभव प्रणय-
मद्भाव एव सत्य सम्भवात् । रते स्थायिनोपादानाद् रसरूपत्व प्रतीयते । सलक्ष्य-
क्रमत्वेन रतिव्यङ्ग्यस्येह पूर्वोदाहरणद्वयाद् विशेष ।

उपपादयिष्यते रमनिरूपणप्रकरणेऽर्थात्तन्ने मयेति ज्ञेय । तथाहि—यत्र प्रकर-
णस्य स्पष्टार्थापकतया हुनतर प्रतीयमानैर्विभावादिभि सहृदयानामभितृष्टीय रसपक्षी-
माहादयना रत्यादीनां प्रतीतिर्जायते, तत्र बाध्यव्यङ्ग्यप्रतीत्यो कार्यकारणभावेन
कल्पितस्यापि पूर्वापरीभावरूपस्य क्रमव्याशुतरमाश्रितया सम्यग् लक्षयितुमशक्यत्वेता-
स्यस्यक्रमत्वम् । अत्र तु प्रकरणास्यास्पष्टापकतया विभावादीनां प्रतीतादेव विलम्बेन

मर्त्यरूपाति जो वृत्त बाह्य रहन हैं वनमे वे मम्मिलिन नहीं होनी, स्थिति यह ही जाना है कि पति
के कामों का लाना भा उन्हें अमय सा प्रतीति होना रहना है, फिर अगर पति उनके दृष्टो पर हाथ
रखना चाहें तो उनको वे असोदाय केन बदलाव कर सक्ती हैं, वरु यह होना है, कि पति पति
माशुय उनके अग्रो पर हाथ रना, तभी वे उन दृष्टो को हयकर दूर पक देना है, इना गरु म-
दमतिरों को राने आरा तथा म्मगलनाको के बीच में झुलती रहना है परन्तु जब वर राग आनी है,
मिमके प्रभात में पति महादय चले जावेंगे, तब स्थिति बहुत कुछ बदल जागी है, म्म मनिम रात
में पति सदाई होकर भा वृत्त माहम से काम रने के ठिब कृतमङ्ग से ही जान है, परन्तु जब प्राय
साहम से काम रने का अदसर नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उधर नवशुजों की दमन मनोवृति भा पदने
कैनी नहीं रह जाती, वे मोचना है क्या अब भा ये निषोण लम्बा और कब मेरा पाछा नहीं
छोडेगे । यदि ऐसी बात हुई, तब तो क्या अवर्थ होगा, न जाने कब फिर उनसे (पति स) भेट हो,
गही, आज किनी गरु म्म या लम्बा को अपने पास पकाने नहीं दुंगा, इस तरह व नशोरावे प्रमाण
के पूर्वे राना में सदाई हाकर हा पति का शय्या पर आनी है, फिर भा जब पति के हाथ उनके हृदय
पर पडते हैं तब वे एक बार कुछ चीक लगी है, और पति के हाथों को भा अपने हृदय पर से अलग
करस करती है । हाँ इतना अन्तर अवस्य रहना है कि आज पति के हाथों को दूर हयन में षड
येग नहीं रहना जो और दिनों में रहता था, अर्थात् नवशु-जाति-अभाव से बढ होने के जाने के
हाथों को हयती नकर है, परन्तु धीरे-धीरे ।

यहाँ 'मन्दाक्षिपति' का वाच्यार्थ है धीरे-धीरे अपने रवान पर रल देना, मिनम रतिनामक
स्थायीभाव (जो लम्बेगशुद्धार के रूप में परिणत हो जगा है) सत्यवक्रम होकर अभिव्यक्त होना है,
क्योंकि रति के निज हाथ या धीरे धीरे हयान सम्भव नहीं है ।

यदि यहाँ कोई यह उदाहरण करे कि आजकल सभी अलङ्कारिक कानाओं ने तो रति आदि स्थायी
भावों को अलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ही माना है, फिर आप यहाँ रति को सत्यवक्रम व्यङ्ग्य क्यों और
कैसे कहते हैं ? इनी प्रश्न में अन्वतर लिखत है—'उपपादयिष्यते च' इत्यादि । अर्थात् स्थायी-
भाव भी क्यों और कैसे सत्य-क्रम-व्यङ्ग्य हो जात है, यह बात जानी कही गइगी, तात्पर्य यह है

अन्य काव्यप्रकारस्य स्वकपोनकल्पितत्व परिहृतं प्राचीनमतसंवाद दर्शयति—
अमुमेव च प्रभेद ध्वनिमामनन्ति ।

अथ निश्शेषच्युतचन्दनम् इत्यादिपद्यं ध्वनित्वस्यापनार्थमप्यप्यदीक्षिताबलम्विता
व्याख्यानपद्धतिं दूषयितुमुपपादयति—

यन्नु चित्रमीमांसायामप्यप्यदीक्षिते 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इति पद्य
ध्वन्युदाहरणप्रसङ्गे व्याख्यातम्—'उत्तरीयकर्षणेन चन्दनच्युतिरित्यन्यथा-
सिद्धिपरिहाराय निश्शेषग्रहणम् । ततश्चन्दनच्युते. स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन
सम्भोगचिह्नोद्घाटनार्थं तदग्रहणम् । स्नाने हि सर्वत्र चन्दनच्युति स्यात्,
तव तु स्तनयोस्तत् उपरिभाग एव दृश्यते इयमाश्लेषकृतेव ।

रत्यादिप्रतीतावास्वादपदवीप्रापकसामग्रीसवलनविलम्बात् क्रमस्य सम्यग् मझ्या, तत्र
रत्यादीनामपि सलक्ष्यक्रमत्वम् । यथा प्रकृतश्लोके—'सम्प्रति' इति शब्देन पूर्वापरसम्ब-
न्धसन्धेन तस्या नववधूमावे पूर्वमन्यादृश सञ्चोच भासीन्, सम्प्रति तु क्रमेण स्नान-
तयाऽन्यादृश एवाभूत् इत्याद्यर्थस्य विलम्बेन प्रत्यायनाद् रत्यादि प्रतीतेविलम्बितया
सलक्ष्यक्रमत्वम् ।

परे तु— वाच्यायतास्यग्राहकप्रकरणस्यास्पष्टार्थकत्वे वाच्यप्रतीतावेव विलम्बेन
रत्यादिव्यङ्ग्यप्रतीतेन सलक्ष्यक्रमत्वम् । व्यङ्ग्यार्थतास्यग्राहकप्रकरणस्यास्पष्टार्थ-
कत्वे तु गूढव्यङ्ग्यवचनकारोदयविलम्बात् सहृदयवैमुख्येनोत्कर्षव्याघात एवेति कुतो
रत्यादिव्यङ्ग्यस्य सलक्ष्यक्रमता' इति व्याहरन्ति ।

अमुमुत्तमीत्तरूपम् । अभ्यासायकस्यापि मतैरुपसर्गयोगाद् स्वीकारार्थं नत्वम् ।
ध्वनिकारप्रभृतय इति शेष । व्यङ्ग्यस्य वाच्यवाचकापेक्षयाऽपि क्वचनकाराभावात्कत्वे
ध्वनिकारप्रभृतय प्राचीनाचार्या य ध्वनिमाचक्षते, स एवायम्, न तु दूतन कश्चिन्
प्रकार इति भावः ।

किं प्राचीन मन्त्री आचार्यं श्यामाभावां को अमलद्वयक्रम-व्यङ्ग्य मानने है, इनका आशय है कि
यद्यपि श्यामीभावो-रमो वा प्रनाति के पूर्व विभाव जादि की प्रतीति अन्तर माननी पडेगी, क्योंकि
उन दोनों प्रनातियों में कार्य-कारणभाव है, विभावदि-प्रतीति कारण है, और रमतिदि-प्रतीति, कार्य,
अतः उन दोनों में पूर्वपरिणय (अतः शब्द वा) भाव अवश्य है, परन्तु मध्य के समय अनियुक्त होने
के कारण उनका वह क्रम (पूर्वपर भाव) नहीं लक्षित नहीं होगा, जैसे जब हम कमल के सौ पत्तों
को एक के ऊपर एक के प्रमाण से रखकर उनमें मुँह की चुभाने हैं, तब यद्यपि एक के बाद ही दूसरे
पत्ते में होट होता होगा, पर मुझ रोमा ही प्रतीति जाना है कि एक ही बार सब पत्तों में होट हो गया ।
इसके विरुद्ध परिश्रमना वा यवन है कि नहीं, श्यामाभावा अमलद्वय-क्रम-व्यङ्ग्य है, पर तब जाद
नहीं, जहाँ प्रवरण स्पष्ट रहता है, वहाँ विभावदि-प्रनाति में विलम्ब नहीं होगा और मङ्गलों को
देना ही भाव होगा है कि ध्वन माध ही विभावदि तथा एकाभाव को प्रनाति हो गई, और जहाँ
प्रवरण स्पष्ट नहीं रहता वहाँ तो विभावदि का प्रतीति में ही अतिविलम्ब हो जाता है, फिर वहाँ
क्रम लक्षित क्यों नहीं होगा ? अर्थात् श्यामीभाव भी दोनों प्रकार के होते हैं, वही मलद्वय-क्रम-
व्यङ्ग्य और वही अमलद्वय-क्रम-व्यङ्ग्य, प्रकृत पद्य में प्रकरण स्पष्ट नहीं है अतः यहाँ का रतिव्य
श्यामीभाव संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ही है । ध्वनिकार आनन्दवर्धन का भी वही सिद्धान्त है ।

काम्य के द्वयी (उत्तरीयय) भेद को प्राचीन आचार्य ध्वनि काम्य करने हैं ।

तथा 'निर्मृष्टरागोऽधर.' इत्यत्र ताम्बूलग्रहणविलम्बात् प्राचीनरागस्य किञ्चिन्मृष्टतेत्यन्यथासिद्धिपरिहाराय 'निर्मृष्टराग इति रागस्य निरशेषमृष्ट-
 वोक्ता । पुनः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन सम्भोगविहोदघाटनाय 'अधर'
 इति विशिष्य ग्रहणम् । 'उत्तरोष्ठे सरागेऽधरोष्ठमात्रम्य निर्मृष्टरागता चुम्बनक-
 त्वं ।' इत्यादिना 'इदमपि ध्वनेरुदाहरणम् ।' इत्यन्तेन सन्दर्भेण 'तटादिघटिता
 वाक्यार्थाः स्नानव्यावृत्तिद्वारा सम्भोगाङ्गानामाप्लेपचुम्बनादीना प्रतिपादनेन
 प्रधानव्यङ्ग्यव्यञ्जने साहायकमाचरन्ति ।' इति ।

'निरशेषच्युतचन्दन स्नततट निर्मृष्टरागोऽधरो

नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकितता तन्वी तवेय तनु ।

मिथ्यावादिनि । हृति । बान्धवजनस्याज्ञातपीडाऽऽगमे ।

वापी स्नातुमितो गताऽसि, न पुनस्तस्यापमस्यान्तिकम् ॥'

इत्ययं पूर्णं श्लोकोऽन्यथाकथं च । नायकमानेतु प्रहिता तमुपभुञ्ज्य समायाता
 दूतीमुद्दिश्य स्नानकार्यप्रकाशनद्वारा सम्भोग प्रकाशयन्त्या विदग्धोत्तमनायिकाया
 चकारिण्यम् । नयि ! मिथ्यावादिनि, 'मर्यादादनेनापि नायको नायात्' इति
 मूषामापिणि । बान्धवजनस्य 'बान्धवो बन्धुमित्रयोः' इति हेमकोशाद् मद्रूपस्य मित्र-
 जनस्य अज्ञात स्वार्थान्वयतयाऽर्थाविवर्तितं पीडाऽऽगम क्लेशप्राप्तियुग्मा, तथाभूते ।
 इति । सन्देहाहारिणि ! (न तुः सखि ! नापि यथाहं वादिनि नैऋत्यरागाकर्तृत्वात्)
 इतो मदन्तिकात्, स्नातु सलिलाङ्गोहनं कर्तुम्, वापी दीर्घकाम्, गताऽसि, अधमस्य
 नितरामनुचितचरणाप्रीचस्य, तस्य नायकस्य, अन्तिक समीप तु पुनः, न गताऽसि ।
 (यत्) तव स्ननयोर्वलोजयो, तट प्रान्तसमदेश उपरिभागो वा निरशेष यथा
 स्नान् तथा च्युत गलित चन्दन श्रीखण्ड धुमृण वा यतस्तादृशमस्ति । तथा—अधरो
 निम्नोष्ठ, निरशेष यथा स्यात्तथा (न त्वीपत्) मृष्ट प्रक्षालितो रागस्ताम्बूलरम-
 रक्तिमा यस्य, तादृशोऽस्ति । तथा—नेत्रे नयने, दूर प्रान्तभागेऽप्यन्त वा मनञ्जने
 कञ्जसरहिते स्न । तथा—इय पुरोलक्ष्यमाणा तनुर्दृश्यन्ति तन्वी (सद्य
 स्नाता) कोमला, पुलकितता जातरोमाञ्चा चास्तोत्यर्थः ।

प्रसिद्ध अलङ्कारिक 'अमरशब्द' ने 'चित्रगोमती' नामक अपने निबन्ध में 'निरशेषच्युत-
 चन्दनम्' इन पद्य को ध्वनिकारण का उदाहरण माना है और उसमें ध्वनिकारण का सिद्धि करने
 के लिये उस पद्य की व्याख्या अपने दृष्ट से की है, परन्तु उनकी व्याख्या 'पठितराज' को अभिमत
 नहीं, अतः 'पठितराज' 'दीक्षित' के मत का लक्षण करने के लिये पहले उनके मत का उदाहरण
 करने हैं—'यस्य' इत्यादि । किसी निरक्षिणी नायिका ने एक दूती को दूर स्थित अपने मिथिल को
 बुला छाने के लिये भेजा, किन्तु वह दूती स्वयम् उसने सम्भोग करते लौट आई और नायिका के
 पाम आकर धूम्रुठ बाने बनाने लगी कि—'तुम्हारा नायक लाख अनुनय-विनय करने पर भी नहीं
 आया' इत्यादि । चतुर नायिका को अमल बाग समझ में आ गई, परन्तु वह उन बात को मृष्ट कैसे
 कहे, अतः उन नायिका ने स्नान साधारण वाक्यार्थों के द्वारा उन बात की व्यक्त किया, इसी प्रसङ्ग
 पर 'निरशेषच्युतचन्दनम्' यह पद्य 'अमरशब्द' में कहा गया है (सन्तुर्न पद्य संस्कृत टीका में देखना
 चाहिए) अर्थात् इसका यह है कि—वे धूम्रुठ बोलनेवाली दूती ! तू अपने बान्धव को (नेरी) पीका

उत्तरीयवसनसङ्घर्षणादपि स्नानयोश्चन्दनच्युति सम्भवतीति तत्परिहाराय—
 निशेषेत्पुक्तम् । तथा च निशेषे चन्दनच्युति उत्तरीयवसनसङ्घर्षणात् सम्भवति,
 किन्तु सम्मर्दनबहुलात् सम्भोगादेव । तथाऽपि निशेषे चन्दनच्युते प्रक्षालनप्रधानान्
 स्नानादपि सम्भव इति तृतीय स्नानसाधारण्य निवारयितुं—तत्पदमुपात्तम् । तेन तु
 स्नानीपरिदेस एव चन्दनच्युति सम्भोगादेव न तु स्नानादिनि सम्भोगस्य व्यञ्जनम् ।
 एव ताम्बूलमसण्णे विलम्बादपि पूर्वरागस्य म्लानि सम्भवतीति—निरित्युपसर्ग
 उपात्त । तथा च ताम्बूलमसण्णविलम्बाद् रागस्यात्यन्तम्लानिर्नोपपद्यते, अपि तु
 सम्भोगादेवाधरपानप्रधानान्, 'कामिनामधरास्वाद् सुत्तादतिरिच्यते' इति काम-
 यास्त्रानुशासनात् । तथाऽपि रागात्यन्तम्लाने स्नानादपि सम्भव इत्यासाधारण्य
 सम्पादयितुमपरपदस्योपादानम् । तथा चोत्तरीयस्य चुम्बन कामरास्त्रप्रतिबन्धनमित्य-
 धरमात्रस्य रागात्यन्तम्लानि सम्भोगादेवेति तद्व्यञ्जनम् । आदिपदप्रतिपाद्यन्तु नेत्रयो-
 रञ्जनात्यन्तराहित्य तनोस्तानव पुलकितत्व च । तथा धाञ्जनग्रहणविलम्बात् स्नानाच्च
 नेत्रयो विश्वदेवाञ्जनराहित्य सम्भवति, न स्वत्यन्तमिति नेत्रयोरत्यन्ताञ्जनराहित्येन
 सम्भोगमात्रजन्येन तद्व्यञ्जनम् । एव तनोस्तानव पुलकितत्व च कार्यान् स्नानादपि
 विश्वदेव सम्भवति, न तु प्रभूततन्मीदृशमित्येतत् सम्भोगमात्रजन्यमित्येतोऽपि तद्व्य-
 ञ्जनम् । दूरसम्बन्धस्यात्यन्तवाचकत्वं व्यक्तम्, प्रान्ताभाग इति तु मानसिकोऽर्थः ।
 'सटादिघटिता' इत्यादि 'आचरन्ति' इत्यन्त वाक्य निर्गमितार्थबोधकम् । वाक्यार्था
 निशेषेत्त्वादीना विशेषणवाक्यानामर्था । आदिपदेन सुरतसम्मर्दसङ्ग्रह । प्रधान-
 ष्यङ्गुष सम्भोग साहायक सहायस्य कर्म—उपकरणम् ।

क्यों नहीं समझ सकी—उसके दिल में जो बेदना है—उसको नहीं जान सकी, अर्थात् तू हम भयन
 'नायक' के पास न जाकर बावरी नहाने पड़ी गई । यह बात तेरी चेष्टाओं से स्पष्ट सूचित हो
 रही है, देखो, तेरे स्नों के छत्र का भाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है, नीचे के होठ की छाड़ी
 (हाम्बूलफूल) विलडुल नष्ट हो गई है, नेत्र अत्यन्त भयन रहित हो गए हैं और दुर्बल यह तेरा
 शरीर रोमाञ्चयुक्त हो गया है यह तो हुई इस पर की सामान्य व्याख्या, अब 'दोहिन' की विशिष्ट
 व्याख्या सुनिये—उनका भयन है कि स्नों का चन्दन वर के सपर्य से भी मिट सकता है, तो
 नहीं मन्त्रा जाय इमदिये नायिका के मिदने का विशेषण 'सर्वथा' कहा, जिससे यह सूचित होगा
 है कि चन्दन का सर्वथा मिट जाना मर्दन के बिना वर के सपर्य मात्र से सम्भव नहीं । हमी तरह
 स्नान से भी चन्दन को मिटने की सम्भावना थी, हम सम्भावना को हर करने के लिये चन्दन का
 विशेषण 'उपर भाग का' कहा, जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्नान से यह नहीं हुआ है
 क्योंकि स्नान से जब चन्दन मिटता, तब समय स्थान का, पर देखा चन्दन तो स्नान के ऊपरी भाग
 में ही मिया दे देमा आडिशन से ही हो सकता है । हमी प्रकार ताम्बूळ गाये बहुत देर हो जाने से
 भी होठ की छाड़ी नष्ट हो जा सकती है, परन्तु वहाँ तो नहीं है, यह स्पष्ट करने के लिये ताम्बूळ
 नाम का विशेषण 'विलडुल' कहा, अर्थात् ताम्बूळ गाये बहुत देर हो जाने पर भी होठ की छाड़ी
 विलडुल नष्ट नहीं हो सकती 'अत्यन्त कुछ पीकी हो जाय, हमी तरह स्नान से भी यह छाड़ी न
 नहीं हुई है हम बात को सूचित करने के लिये 'अपर' पद कह दिया, जिससे यह सिद्ध होगा है कि
 यह छाड़ी का विनाश चुम्बन से ही हुआ है स्नान से नहीं क्योंकि स्नान से यदि छाड़ी नष्ट होती
 तो छत्र तथा नीचे दोनों ही छाड़ी का, न केवल निचके होठ का ही, चुम्बन से तो देमा सम्भव है,

पश्यति—

तदेतदलङ्कारशासतस्त्वानवबोधनिबन्धनम् प्राचीनसकलग्रन्थाविरुद्ध-
त्वादुपपत्तिविरोधाच्च ।

प्राचीनग्रन्थस्य काव्यप्रकाशस्य सन्दर्भविरोध इत्यितुमुपन्यस्यति—

तथाहि पञ्चमोऽङ्गासशेषे—'निश्चेषेपेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यव-
नादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति यत्प्राञ्च स्नानकार्यत्वे-
नोपात्तानोति नोपपद्ये गव प्रनिबद्धानीत्यनैकान्निकानि ।' इति काव्य-
प्रकाशकृतोक्तम् ।

इह स्नानात् सम्भोगाच्च सम्भविनोऽपि स्तनचन्दनच्युनिप्रभृतिपदार्था निरावि-
ष्टापर्यन्तम् प्रमहिम्ना सम्भोगमात्रजन्यत्वेन प्रत्याख्यमाना प्रतिपादयिष्यमाणैर्नाम-
पदार्थनोपलक्षणमाणा प्राधान्येन सम्भोगमेवावगमयन्त काव्यस्य ध्वनित्व सम्पादय-
न्तीत्याहूतम् ।

उपपत्तिपूर्तिरौचित्यनिर्यान्तरम् ।

गमकतया—अनुमितिहेतुत्वेन । कारणान्तरतोऽपि—स्नानरूपकारणादपि । उपभोग
एव प्रतिबद्धानि—भवद्रमिमते द्रुमीकृत मन्मोगरूपसाध्यव्याप्यानि । अनैकान्निकानि—
स्नानमाधारत्वेन व्यभिचारितानि । भस्मिन्नेव पक्ष स्नानजन्यत्वेवादीयमानस्याप्य-
न्दव्युनिर्हि मन्मागात् स्नानाच्च सम्भवन्ती न मन्मोगव्याप्या तस्मात् कुतस्तया
व्यभिचारिण्या सम्भोगो-नुभावु शक्य इति सम्भोगावगमनाय व्यङ्गनायक्तिरनुपेयैवेति
तदुपस्थापय ।

चन्दनच्यवनादीना सम्भोगव्यभिचारित्व प्रतिपादयताऽमुना ग्रन्थेन सह सम्भोग-
व्याप्यस्य प्रतिपादयतो दक्षितचित्रमौमासाग्रन्थस्य विरोध स्फुटोऽवधारणीय ।

क्योंकि ऊपर की ओर का चुम्बन क्रमशः ही में निश्चित है ।' वहाँ से लेकर 'यह भी च्युति का उदाहरण
है' वहाँ तक के सन्दर्भ में 'दीक्षित' ने यह मित्र किया है कि 'ऊपर भाग' आदि पदों से शुरू तक
वाक्यों के जो अर्थ हैं, वे सम्भोग के अर्थ—आतिशय, चुम्बन आदि के अर्थ या प्रतिपादन के
द्वारा मुख्य अर्थ (सम्भोग) की अभिव्यक्ति करने में सहाय्य प्रदान करते हैं । सारांश यह है कि
इस तरह की शक्ति से यह स्पष्ट ही साफ है कि दूरी के अर्थों में परिचित होने का ये विकार
गमक के साथ किये गये सम्भोग में ही उत्पन्न हुए हैं, दूर से किसी तरीके से नहीं ।

अब पण्डितराज 'दीक्षित' पूरे पूर्वोक्त विवेचन का सन्दर्भ करते हैं—'तदेतदलङ्कार' इत्यादि ।
'दीक्षित' का उक्त विवेचन अनमिलना का सूत्रक है, अर्थात् वे अलङ्कार वाक्यों के अर्थ को नहीं
समझते, स्नान ईसा करते हैं, क्योंकि उनका उक्त विवेचन प्राचीन सब अर्थों से तथ्य युक्तियों से
विरुद्ध है ।

प्राचीन ग्रन्थ से विरोध दिखाने के लिये 'काव्यप्रकाश' का उद्धरण देने हैं—'तथाहि पञ्चमो
शासरोपै' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि 'च्युति (निन्देयच्युति इत्यादि) श्लोक में जो मन्मोगरूप
अर्थ व्यङ्ग्य माना जाता है, कान्ते ज्ञान के लिये व्यङ्गनाभिव्यक्ति की आवश्यकता नहीं है, अनुमान से
ही उस अर्थ का ज्ञान ही संभव है' इस मत से चन्दन दमक में सम्भोग कहते हैं कि सम्भोग का
ज्ञान अनुमान से ही होता, यदि श्लोक में उक्त चन्दनच्युति प्रभृति सम्भोग व्याप्य होने—अर्थात्

काव्यप्रकाशस्यैव पुन स्वलान्तर विरोधप्रकाशनाथंमुपादत्ते—
तथा तत्रैव तेन—

‘भ्रम धम्मिज ! वीसत्थो सो सुणओ अब्ब मारिओ देण ।
गोलाणइकच्छनिकुडगवासिणा दरिअसीहेण ॥’

तत्रैव—काव्यप्रकाशपञ्चमोस्लास एव । तेन—मम्मटप्रद्वेन—

भ्रम धामिक ! विश्वस्त स शुनकोऽय मारितस्तेन ।

गोदानदीकच्छनिकुडगवासिना दृप्तसिहेन ॥ इति सस्कृतच्छाया ।

पुष्पावचयाय स्वसद्भूतनिकेतनीभूतगोदावरीतीरनिकुञ्ज प्रति प्रयाणाभिमुखस्य कल्पवित्त् स्वरहस्यप्रकाशसङ्कपा वारणाय कस्याश्चन पुश्चत्या भणितिरियम् । धामिक ! हे धर्मात्मन् ! विश्वस्त सविश्वास स्वैरमिति यावत् न तु प्राग्बत् सत्रासम्, भ्रम क्लृप्तमान्यवचेत् (मद्गृहपरिसरे न तु गोदावरीतीरे) सञ्चर । यत् स स्वत्प्रात्य-हिकत्रासस्य हेतुतया प्रसिद्धं शुनक आ कुचकुर, अद्य—मस्मिन्नहनि तेन बुर्वान्ततया सर्वत्र प्रसिद्धेन प्रायस्त्वया केवलमज्ञातेन, गोदानद्या गोदावरीसरित्, कच्छनिकुञ्जे तीरस्थलतामण्डपे, वासिना मान्दिकनिवसनशीलेव न स्वकस्मादागत्येन, दृप्तोऽन प्रसङ्ग जीवजीवनापहरणदर्पितेन, सिहेन केसरिणा, मारिनी हत इत्यर्थं । जघन-विपुला छन्दः ।

अत्र प्राप्तशरणीभूतस्य शुनो विनाशोपन्यासेन धामिकस्य गृहपरिसरे भ्रमण-विधानं वाच्यम् । शुनोऽपि मीरोऽनस्य गोदावरीतीरनिकुञ्जे सिंहसङ्कापप्रतिपादनेन भ्रमणनिषेधस्तु वस्तुतः पुश्चत्या वक्ष्या वैशिष्ट्येन अङ्गुष्ठ । विशेषविचारस्त्व-स्नदीमध्वन्यालोकवीक्षितावासोचनीयः ।

सम्भोग से ही वे सब (चन्दनच्युति आदि) होने वाले रहने, सो तो हैं नहीं, क्योंकि सम्भोग से अतिरिक्त कारणों से भी वे हो सकते हैं, जैसे इसी पथ में उनकी स्नानरूप कारण का कार्य कहा गया है, इसलिये चन्दनच्युति शरीर सम्भोग के व्यभिचारी (उनके बिना भी होने वाले) हैं, जन् उन हेतुओं से सम्भोग की अनुमिति नहीं हो सकती । यहाँ इस सन्दर्भ को उद्घृत करने का तात्पर्य है कि सम्भोग चन्दनच्युति प्रभृति की सम्भोग, स्नान आदि अनेक कारणों से होने वाला साधारण पदार्थ मानने है और आप (जीश्विन) बताते हैं, उसको सम्भोग मात्र से होने वाला असाधारण पदार्थ । अतः मम्मट के ग्रन्थ से अथवा विवेचन विरुद्ध हुआ ।

प्राचीन ग्रन्थ से ‘दीक्षित’ मत में पढ़ने लगे विरोध की दृष्ट करने से ठिठे पुन काव्यप्रकाश के ही दूसरे स्थल को उद्घृत करने है—‘तथा सत्रैव तेन’ इत्यादि । ‘भ्रम धम्मिज !’ इत्यादि श्लोक संलक्षकमञ्जनि (वसुव्यङ्ग्य) का उदाहरण है । किसी व्यभिचारिणी नायिका ने गोदावरी नदी के तटनी किमी कुञ्ज को अपना सनेन-स्थान बना रखा था, परन्तु कोई एक धार्मिक पुरुष वहाँ नित्य पथ चुनने के लिये गया करता था, जन् उस व्यभिचारिणी ने जाने शरीर विहार में बाधा पानी देण कर हम धार्मिक से कहा—हे धर्मपुरुष ! अब आप विरतमपूर्वक (न कि पद-जैने उरते हुए) धर्मिये (पूछ चुनने के लिए मरे घर के अल-मण्डल न कि गोदावरी तट पर फिरने रहिये) क्योंकि यिन पुत्रे का भय बराबर बना रहता था, उसको गोदावरी नदी के अलप्राय प्रदेश की शारी में बसने न-न (न कि अकस्मात् आवे हुये) मत् सिंह ने मार डाला । शरीर पर है कि घर के पास कुचे

इत्यादी लिङ्गजलिङ्गज्ञानरूपेणानुमानेन व्यक्ति गतार्थमतो व्यक्ति-
विवेककृतो मत प्रत्याचक्षणेन व्यभिचारित्वेनासिद्धत्वेन च सन्दिह्यमाना-
दपि लिङ्गाद्व्यञ्जनमभ्युपगतम् ।

लिङ्ग पक्षसत्त्व-मपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टोऽनुमानस्य हेतु, तज्जन्म
यल्लिङ्गान साध्यस्य ज्ञान, तदेवानुमानम् । व्यक्तिव्यञ्जना । व्यक्तिविवेककृतस्तार्कि-
कमतानुयायिनो महिममदृश्य । प्रत्याचक्षणेन छण्डयता । अभ्युपगतमङ्गीकृतम् ।
तेनेत्यभ्युपगनमित्यनेन मन्वदम् ।

अयमाशय — 'गोदायरीतीरनिकुञ्ज शमीरधमणायोग्यम्, सिंहवत्त्वात्' इत्य-
नुमिनिरेवात्र धमणनिषेधनक्षण व्यङ्ग्य गोचरयितुमलम्, कृत व्यञ्जनाया स्वीकारे-
णेति महिममदृश्य मत काव्यप्रकाशकारस्तादृशहेतोर्व्यभिचारित्वमसिद्धत्वं च प्रदर्शय-
च्छण्डयन् । तथाहि—व्यभिचारित्वेन स्पर्शदोषान्मुक्तो मीरोरपि शीरस्वभावस्य
गुर-प्रभुनिदेश-प्रियाऽनुराग-निषिद्धामसम्भावनाऽऽदिपारवश्येन सिंहाधिष्ठानेऽपि
स्थाने गमनस्य दर्शनाऽङ्गी व्यभिचार, तत्र सिंहमद्भावस्य प्रत्यक्षाधिप्रमाणासिद्धत्वेन
पुश्चत्तुच्चारितत्वादप्रमाणोभूताऽस्वाभाव्यमात्रवेचनया चासिद्धत्वमिति द्विधा दुष्टेन
हेतुनाऽनुमिते सर्वपाऽमम्भव । व्यञ्जनापक्षे तु व्यभिचारिण सन्देहगोचरादपि हेतो-
निर्वापो व्यङ्ग्यार्थावगम, तत्र व्याप्याऽनुसन्धानानपेक्षत्वात् । तथा च प्रकृते हेतोर-
व्यभिचारित्वप्रदर्शनप्रयासान् काव्यप्रकाशेन मह विवेक स्फुट एव बोध्य ।

से भी बरतेबाने परिष्करी 'अथ अप फेले से भी गोदा के कुज में मन जाइये, क्योंकि वहाँ सिंह
रहना है, यदि ज्ञाने का दुम्माहम कर्जिएगा, तो प्राप्ति से हाथ धोना पड़ेगा । इन तरह से वहाँ
ज्ञान का विधान (धर्म) बाध्य है और अनान-निषेध (मन धर्म) व्यङ्ग्य, यह व्यञ्जनावादी का
मत है, परन्तु लिङ्ग-हेतु से लिङ्गी-साध्य का ज्ञान-ही अनुमान है—उत्पत्ते व्यञ्जना को गतार्थ
(व्यर्थ) करने वाले व्यक्तिविवेककार महिममदृश्य का कथन है कि वहाँ 'अनान-निषेध का ज्ञान करने
के लिये व्यञ्जना का स्वीकार व्यर्थ है, क्योंकि 'गोदायरी तटवर्ती कुज कुत्तों से बरते बालों के ज्ञान
करने योग्य नहीं है, क्योंकि वहाँ सिंह है' इस अनुमान से ही उत्पत्त (अनान-निषेध का) ज्ञान
हो ही आया । व्यक्तिविवेककार के इन मत के खण्डन के प्रसङ्ग में काव्यप्रकाशकार कहते हैं कि
एक अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ के हेतु (सिंह का रहना) में व्यभिचारित्व-अभ्युपगमित्य
तथा असिद्धत्व का सन्देह है अतः स्पष्ट-दोष में बधने वाला धार्मिक यदि बोर हो तो कुत्तों से बरकर
भी सिंह से नहीं बरेगा अथवा बरते रहने पर भी गुरु अथवा प्रभु को आज्ञा, प्रेयसी के अनुराग
तथा निषिद्धाम को आर से सिंहेयुक्त स्थान में भी जा सकता है, इसलिये उक्त हेतु में व्यभिचारित्व
(अनानभावमद नाभ्यरहित पक्ष में रहने का) सन्देह है और 'गोदायरी तट पर सिंह है' इतका
निष्पत्ति कैसे होगा ? इस तो उक्त धार्मिक ने देखा नहीं, पुँकली नायिका का कपन तो प्रमाण नहीं
हो सकता वह झूठ कहती हो ऐसा भी सम्भव है, अत उक्त हेतु में अनेक का संशय है, यदि आप
पूछें कि व्यञ्जनावादियों की भी तो 'सिंह है' इन वक्ति से ही अनान-निषेध का ज्ञान होता है, तो
कैसे ? इतका उत्तर यह है कि व्यञ्जनावादियों को 'सिंह है' यह वक्ति सत्य है किन्ना निष्पत्ति इन बात
की खोज नहीं करनी पड़ती, क्योंकि व्यङ्ग्य करने में व्यङ्ग्य का सत्य होना अनाधारण (व्यभि-
चारी) होना आवश्यक नहीं माना गया है और अनुमान में हेतु का बला होना आवश्यक माना
गया है । अब स्पष्ट हो गया कि सन्दिह्य तथा साधारण व्यक्त से भी व्यक्ति का प्रतिपादन करने वाले

विरोधे ध्वनिकर्तुरपि यतसवाद दर्शयति—
इत्यमेव च ध्वनिकृताऽपि प्रथमोद्द्योते ।
तदेवाचष्टे—

एव च व्यञ्जकानां साधारण्य प्रतिपादयता प्रामाणिकानां ग्रन्थं सहासा-
धारण्य प्रतिपादयतस्तव ग्रन्थस्य विरोध स्फुट ।

ननु व्यञ्जकानां साधारण्योऽपि व्यञ्जनमभ्युपगच्छद्भिः प्राचीनग्रन्थनारैरसाधारण्ये
तेषां तत् सुतरामभ्युपगतमेवेति व्यञ्जकासाधारण्य एव व्यञ्जन प्रतिपादयतो मद्ग्रन्थस्य
तद्ग्रन्थं सह नास्ति विरोध इत्यतोऽस्त्वेरपर्याप्तिविरोधव्यवधानं रूपान्तर क्रमेणोप-
पादयति—

किञ्च यदिद निश्शेषेत्याद्यन्तरवाक्यायानां वापीस्नानव्यावृत्तिद्वारेण

अभ्युपगतमिति ध्वन्यालोक इति च शेष ।

वाक्य—व्यञ्ज्यार्थयो र्वरूपभेदप्रदर्शनप्रसङ्गेन ध्वनिकारोऽप्यत्र ध्वनिचारामिद्धि-
द्वयितादपि सिद्ध्यन्त्यावस्थाद्वेतोर्व्यञ्ज्यस्य भ्रमणनिषेधस्यावगम स्वीचकारेति तदपि
हेतोरव्यभिचारित्वसम्पादकेनाप्यव्ययदोषितस्य प्रकृतप्रयासेन विरुद्धमेवेत्यभिनिष्ठ ।

एवमुक्तप्रकारेण । व्यञ्जकानां चन्दनव्यवनादीनाम् । साधारण्य व्यञ्ज्याव्याप्य-
त्वव्यभिचारित्वमिति यावन् । ग्रन्थं काव्यप्रकाशादिभिः । तव ग्रन्थस्य चित्रमीमा-
साया ।

प्रामाणिक—प्राचीनग्रन्थेषु व्यभिचारिणाऽपि हेतुना व्यङ्ग्यस्य प्रतीत प्रतिपादिता,
त्वया पुन प्रकृते व्यञ्जकहेतुनामव्यभिचारित्वसम्पत्तये महीयान् प्रयास प्रियत इत्येतां
एवंवा प्राचीनपद्यप्रतिकूलत्वात्प्रामाणिकतयोपेक्षणीयमेव व्याविति सारम् ।

अवान्तरवाक्यानि श्लोकरूपमहावाक्यघटकानि निश्शेषेत्यादिवाक्यानि, तेषामर्थानि
निश्शेषचन्दनव्यवनादयः । व्यावृत्तिव्यवच्छेद इत्यनर्थान्तरम् । सम्पाद्यते कियते त्वयैति
शेष । व्यञ्ज्यस्य सम्भोगस्य । उपायत्व प्रयोजनता ।

इस प्रकार ग्रन्थ से अमन्दिम्ब तथा अन्तर्धारण व्यञ्जक से ही अभिव्यक्ति का मर्मरस करने वाला
दोक्षित-ग्रन्थ विरुद्ध है ।

दूसरी प्रकार ध्वन्यालोककार राजानक 'अजन्तवर्धनाचार्य' ने भी ध्वन्यालोक के प्रथम श्लोक में
कहा है, अर्थात् उन्होंने भी 'अम धम्मिअ' इस वचन में साधारण तथा सन्दिग्ध व्यञ्जक व्यंग्य का होना
नीकार दिया है, अर्थात् ध्वन्यालोक-ग्रन्थ से भी दोक्षित का वक्त निश्चयन विरुद्ध होता है ।

इस प्रकार से यह बात स्पष्ट हो गई कि व्यञ्जक चन्दनगुनि आदि की साधारणता (व्यङ्ग्य तथा
सन्दिग्ध वस्तुओं से सम्बन्ध रखना) के प्रतिपादन करने वाले अन्तर्धारण आदि के ग्रन्थों में व्यञ्जक
की अन्तर्धारणता (व्यङ्ग्यमात्र में सम्बन्ध रखना) का प्रतिपादक अथवा दोक्षित का ग्रन्थ विरुद्ध
व्यञ्जक है ।

यदि आप करें कि जब साधारण व्यञ्जक में भी व्यंग्य का होना प्रकृतकार आदि प्राचीन आचार्यों
को अभिमत है, तब अन्तर्धारण व्यञ्जक से अन्तर् धारणा होना ही सुतराम वचन श्लोकों का अभिमत विरुद्ध
होता है, फिर ही अन्तर्धारण व्यञ्जक से व्यङ्ग्य का होना (जो दोक्षित का अभिमत है) विरुद्ध नहीं
होता । अन्तर् ध्वनितराम सुक्तिविरोध दिखलाने हैं—'किञ्च यद्विदम्' इत्यादि । यद्विदराम

व्यङ्ग्यासाधारण्यं सम्पाद्यत, तत् किमर्थमिति पृच्छाम । व्यङ्ग्यस्य व्यञ्ज-
नार्थमिति चेत्, न, व्यञ्जकगतासाधारण्यस्य व्यञ्जनानुपायत्वात् ।

तदेव व्यभिचारस्यलमुदाहरति—

'ओष्णिद्द दौर्बल्यं चित्ता अलसत्तण सणीससिअम् ।

मह मदभाइणीए केर सहि ! तुह वि परिभवद ॥'

प्रवृत्तोपादानमुपपादयति—

इत्यादौ साधारणानामेवौन्निद्रयादीना ध्वन्नादिर्विशिष्टवशादर्थविशेष-
व्यञ्जकताया अभ्युपगते ।

व्यञ्जकाना वाक्यार्थानामव्यभिचारित्वसम्पादनार्थमियानय प्रयासस्तयाऽपि
विफल, व्यभिचारिभिरपि तैर्व्यञ्जनस्य शतशोऽनुभववदिति भाव ।

'ओष्णिद्द चिन्ताऽलसत्त्वं' सनिश्चसितम् ।

मम मन्दभागिन्या कृते सखि । त्वामपि परिभवति ॥' इति सस्कृतच्छाया ।

कामुकान्तके प्रहिता स्वयमेव तमुपमुष्य तद्वियोगेन व्याकुलीभवन्ती सखी प्रति
विदितसकलरहस्याया कस्याश्चन नायिकाया उक्तिरियम् । अयि, सखि ! मन्द
बौध्ननफनानिकृष्टब्राह्मी भागो भागपेयमस्त्यस्यमिति मन्दभागिनी हीनभागा,
तस्या मम कृते मदर्थम्, ओष्णिद्द निद्राराहित्य प्रजागर इति यावत्, दौर्बल्य दुर्ध-
सता, चिन्ता विषयानुष्णानम् सनिश्चसित निश्चयासखिह्वम, अलसत्वमानस्य च
त्वामपि परिभवति षोडशतीत्यर्थं ।

तथा च 'अर्थे कृतेऽप्यय तावन् तादर्थ्यं वर्तने द्वयम्' इति कोशसार, 'भागो
रूपाद्यंके शोक्ते भागवेदकदेशयो इति विश्वश्र । अर्थो छन्द । काव्यप्रनाशसम्भवे
पाठे तु चतुर्ष्वरणेऽहेत्यधिकशब्दसमावेहेन मानात्रयाधिष्याद् गीतिशब्द ।

आदिनेनादिपदेन दौर्बल्यप्रभृतीना द्वितीयेन च प्रतिपाद्याया सख्या सग्रह ।
अर्थविशेष कामुकोपभोग ।

दोषितजी से पूछने ह कि आप जो 'अर अग का चन्दन सर्वथ मि' गवा है' इत्यादि वाच के वाक्यों
के अर्थों को वागम्यान में सङ्गत नहीं होने वाले वगकर केवल व्यङ्ग्य (सम्भोग) के ही सङ्ग होने
वाले (असाधारण) बनाने हैं, सो क्यों ? व्यङ्ग्य को अभिव्यक्ति हो सके हमलिये ? यह उत्तर ठीक
नहीं, क्योंकि व्यङ्ग्य का असाधारण होना अर्थात् व्यङ्ग्य वस्तु व्यङ्ग्यमात्र से सम्बन्ध रखे और किसी
से नहीं, इन बात का होना आवश्यक नहीं है ।

'व्यङ्ग्य का असाधारण होना आवश्यक नहीं है' इसको पुष्ट करने के लिये उस तरह का उदाहरण
दिलेलाते हैं, जहाँ साधारण व्यङ्ग्य से व्यङ्ग्य हुआ है—'ओष्णिद्द' इत्यादि । नायक से स्वयं
सम्भोग करके आर्ष दुर्द्ध दूती की चेष्टाओं को देख कर उसने नायिका कही है—हे सखि ! मुझ
अभागो के लिये तुम भी जागरण, दुर्जन्य, चिन्ता, आलस्य और दम घूटना, ये सब पीया दे रहे हैं
अर्थात् मेरा दुर्भाग्य मेरा प्रवृत्त है जिससे मैं स्वयं तो दुःख भोग ही रही हूँ, माय-माय मेरे लिये तुमने
भी कष्ट भोगना पड़ा है ।

यहाँ जागरण आदि व्यङ्ग्यक पदार्थ सर्वथ साधारण है, अर्थात् सम्भोग, वियोग, रोग प्रभृति
कतिपय कारणों से हो सकते हैं, फिर भी इन (जागरण आदि) व्यङ्ग्यों से दूती का सम्भोग व्यङ्ग्य

नन्वसाधारण्यस्य व्यञ्जानानुपयोगित्वेऽपि क्वचित्पुनस्तस्य सति समवे कथन कथम-
मङ्गतमित्यरचेदेषान्तरमाह—

प्रत्युतासाधारण्यस्य व्याप्यपरपर्यायस्यानुमानानुकूलतया व्यक्तिप्रति-
कूलत्वाच्च ।

व्यञ्जनासाधारण्य पुनरपरा निराकरोति—

अथ तदादिघटितत्वेऽपि न निश्शेषेत्यादिवाक्यार्थानामसाधारण्यम्, मलि-
लाद्रवमनकरणप्रोञ्छनादिनाऽपि तत्सम्भवादिति चेत्, तर्हि वापीस्तानव्या-

अत्रोद्भिदाघोषा रोगात् प्रियतमविमोक्षाच्चापि सम्भव इति रोग-विमोगीभ्य-
साधारण्यत्वेऽपि क्वचन ज्ञानरहस्याया निभूततर्जनपरामा नायिकाया, प्रतिपाद्याया
पूर्वमनेकघादुष्टदुष्टषेष्टाया सख्याञ्च वैशिष्ट्यात् तत्कामुकोपमोगो व्यज्यत इत्या-
चार्यैरङ्गीकृतम् । तच्चोद्भिदाघोषा व्यञ्जकानामसाधारण्यविरहादमङ्गत स्यादित्य-
साधारण्यस्य व्यञ्जानानुपयोगित्व निश्चीयत इत्याशयः ।

प्रत्युत्पत्तौत्तर्जपरित्यायकमप्ययम् । व्याप्यत्वेनामित्यस्य व्यापकामावाधिकरणा-
वृत्तित्वं स्यात् । यदि व्यञ्जकानामपि हेतूनामनुमितिहेतुदद् व्याप्यत्वरूपमसाधारण्य
मवेत्, तर्हि अतो व्यञ्जकस्य सुतरामनुमितिरेव स्यात्, तथा व्यञ्जनाया आनर्पक्य-
मिति व्यञ्जनासाधारण्यप्रतिपादनस्य व्यञ्जनोच्छेदवक्षण विपरीतमेव फलमापद्येत,
तस्मात्साधारण्य व्यञ्जकानामुचितमिन्वमिसन्धिः ।

होश है, एका सभी आघातों ने माना है । यद्यपि आप वहाँ वह प्रश्न उठा सकते हैं कि भाई ! अब
जगत्पण अदि देते पदार्थ हैं, जो सम्भोग, वियोग, रोग सबसे हो सकते हैं, सब उनसे सम्भोग ही
क्यों ब्यर्थ हुआ ? इनका समाधान यह है कि सोलने वाली नादिका और प्रतिपाद्य दूनी में कुछ
देमो विच्छेदा है, जिस पर गौर करने से सहृदयों के मन में सम्भोगरूप अर्थ अभिव्यक्त हो उठता
है । अर्थात् कहने वाली नादिका का मुख तमनमदा सा है, बाणी रुझ है, जो सम्भवेदनायक नहीं
हो सकना इसी तरह दूनी के मुख पर मय की छाया है उसकी कुछ चेष्टाएँ अनेक बार पहले पक्की
का चुकी हैं, इन सब विच्छेदानुओं पर ध्यान देने से स्पष्ट भाव्य हो जाता है कि दूनी अर्थात्पिनी
है और नमिन्ना उसे प्रच्छेदन में तर्जना दे रही है । इनका मध्य स्नेह पर दूनी के (नादिका के
पथ के साथ) सम्भोगरूप आराध को समझने में किमो सहृदय को विच्छेद कैसे हो सकना है ? इन
तरह से यह मित्र हुआ कि व्यञ्जक का अनाधारण हीना ब्यर्थ होने का छाया वह नहीं है, किन्तु
बला और प्रतिपाद्य का वैशिष्ट्य ही उनका नियामक है ।

यदि आप बर्हे कि सर्वत्र अनाधारण्य व्यञ्जन का अयोगी भूले ही न हो परन्तु अद्वैतियोग में
अगर व्यञ्जक अनाधारण हो तो उमदा प्रतिपादन कर्तव्य क्यों होगा ? इसी अर्थ को ध्यान में
राखर प्रत्यक्षर दोषान्तर का उल्लेख करने हैं—‘प्रत्युत’ इत्यादि । कहने का तात्पर्य यह है कि
कहीं भी अनाधारण्य व्यञ्जन का उदयोगी नहीं हो सकता, किन्तु अद्वैत ही होगा, क्योंकि
अनाधारण्य अर्थात् व्यञ्जक अर्थ का व्यञ्ज्य अर्थ मात्र से सम्बन्ध रहना अस्तिरूप ही मित्र होगा,
फिर तो उम अर्थों से विरिद्ध, व्यञ्जक रूप हेतु से व्यञ्ज्य का अनुमान ही हो सकता है व्यञ्जन
नहीं, सारांश यह कि इस प्रकार मानने पर व्यञ्जनावृत्ति का उच्छेद ही हो जायगा जो व्यञ्जनासारी
दीक्षित को भी अभिमत नहीं हो सकता है ।

वन्नेन क पुरुषार्थः ? एकत्रानैकान्तिकत्वस्येव बहुध्वनैकान्तिकताया अपि ज्ञाताया अनुमितिप्रतिकूलत्वाद् व्यक्त्यप्रतिकूलत्वान्ध ।

नन्विहैव श्लोके 'तदन्तिकमेव रन्तु गताऽमीनि प्राधान्येनाद्यमपदेन व्यन्यते' इत्येवकारपठितवान्यमुन्तिषद्भिर्मभट्टमट्टयेंदेव व्यञ्जकानामसाधारण्य सूचितम्, तदेव मयाऽपि बापोस्तानव्यावर्तनमुक्तेनोक्तम्, न तु नूतन किञ्चिदिति मनसि कृत्या-निघत्ते—

अपि चात्र हि तदन्तिकमेव रन्तु गताऽमीति व्यङ्ग्यशरीरे तदन्तिकगमन रमणरूपफलाशङ्केतिद्वय घटकम् । तत्र तावत् तदन्तिक गताऽमीत्यणस्य

प्रथम आदिशब्दोऽपररागम्लान्यनिघवादीन्, द्वितीयस्तु जलकिन्दुपातादीन् सङ्गुल्लुति । सवितेनार्द्रं वितन्म यद् धमन. तत्करण यस्य यत्र वा, 'तत्तादृश प्रोच्छन्न वस—प्रभृत्यङ्गानाम् । 'वापीस्तानव्यावर्तनेनेत्यन प्राक् 'तटाद्युपादानान्' इति शेष । पुरुषार्थं पुरुषोत्तमफलम् । व्यभिचारस्य तयाऽपि जायत्कत्व फलमात्रे हेतु । 'ज्ञाताया' इत्यत्र 'जाताया' इति पाठस्तु कस्यचिच्चित्त एव व्यभिचारस्य ज्ञानम्येव (न तु स्वरूपतः) व्याप्तिव्यवधिघटकतयाऽनुमितिप्रतिबन्धकत्वात् ।

तटाद्युपादानेन वापीस्तान व्यावर्त्य निश्चेदेत्यादिवाक्यायांता कामुकोपभोगा-साधारण्य सन्निपादयिपतस्तवाभोष्टगिद्भिर्दुर्घटं, तेषा स्तनतटात्पन्नचन्दनच्यवनादो-नामार्द्रवसनकरणकप्रोच्छन्नादिभिरपि जननसम्भवात् कामुकोपभोगमात्रजन्यत्ववैधुयेण व्यभिचारस्य जागरूकनवासाधारण्यस्य प्रतिष्ठानामसम्भवाद् । इत्य च मयाऽनेकेषु, तथा कुत्रचिदेकत्रापि स्थले दृष्टोऽपि व्यभिचारोऽनुमिने प्रतिबन्धक इतीह हेतोर्व्य-भिचारितया स्वमने व्यङ्ग्यबोधविरह एवावघेन । मगने तु वैदङ्गनिकबोधे हेतु-साधारण्यस्याप्रतिबन्धकत्वात् अतिरिति तात्पर्यम् ।

अपि चेति खण्डनप्रकारान्तरत्वसूचकम् । शरीरमाकार स्वरूपमिति यावत् । पटक तदन्तर्बति ! त्वन्मन इत्यनेन स्वमने तद्व्यङ्ग्यताया सूचयते ।

यदि आप कहें कि 'नि शेषेष्वनुचन्दनम्' इन शब्दों में उपरिभाषाचक्र तद आदि शब्दों में उचित भाष्यों का अर्थ यपरि ऐसा है जो म्यान प्रकृति में नहीं उभर सकते, तथापि वे अनाधारण नहीं हैं क्योंकि मन्मोगनात्र से होने वाले नहीं हैं, क्योंकि गीते काठे से पौष्ट देने पर भी मन्मंश उपर भाग मात्र का चन्दन मिट सकता है, और जब वे अनाधारण नहीं होंगे, तब अनुमान की बात उठ नहीं सकती, इसके उत्तर में हम प्रश्नकर्ता से यह पूछना चाहेंगे कि जब आप 'अपरभाषा को चन्दन सर्वथा मिट गया है' इत्यादि व्यञ्जक वाक्यार्थ को अनाधारण नहीं बनना चाहते अर्थात् गीते काठे से पौष्टने पर भी होने वाले हो मानने हैं, तब बापा-स्तान में वे नहीं हो सकते ऐसा कहकर क्या लाभ उठाये ? क्योंकि जैसे एक मध्यम पर व्यभिचारिण होना, सम्भोग से भिन्न कारण से सम्बन्ध रखना, अनुमान के प्रतिवृत्त और व्यञ्जन के अनुकूल है, वैसे ही अनेक स्थानों पर व्यभिचारिण होना भी । अतः चन्दन मिटने का सम्बन्ध मन्मंशे रहने लांघिते, किन्तु से उसके सम्बन्ध को विच्छिन्न करने का प्रयास व्यर्थ है ।

दीक्षित-आ-संग-असङ्ग में अब एक दूसरी युक्ति सम्भवार देते हैं—'अपि चात्र' इत्यादि, 'नि-शेषेष्वनुचन्दनम्' इस कथन से यह व्यङ्ग्य होगा है कि 'तु' (इति) उसके नाम रत्न करने गई

त्वन्मते व्यङ्ग्यत्वं दुरुपपादम्, त्वदुक्तरीत्या विशेषणवाक्यार्थानां निश्चेपेत्यादिप्रतिपाद्यानां वाच्यार्थं वापीस्नाने बाधितत्वात् वाच्यकक्षागतप्रधानवाक्यार्थीभूतविधि-निषेधप्रतिपादकाम्या 'गता' 'न गता' इति शब्दाभ्यां विरोधिलक्षणया निषेधस्य विधेश्च प्रतीतेरुपपत्तेः ।

ननु तदन्तिकगमनाद्यस्यात्र बाधितत्वेन तदगम्यत्वेऽपि व्यञ्जनाविधत्त कुतो नेत्यत आह—

न हि मुख्यार्थं बाधेनोन्मीलितेऽर्थे व्यक्तित्वेद्यतोचिता ।

त्वदुक्तरीत्या विशेषणवाक्यार्थानां तदादिघटितत्वेन सम्भोगासाधारण्यमित्येव रूपया । वापीस्नाने तेषां बाधितत्वं सम्भोगासाधारण्यादेव । वाच्यकक्षायामभिव्येककोटी गती प्राप्ती प्रधानवाक्यार्थीभूतो वापी स्नातुमिनो गताऽसि तस्याधमस्यान्तिक पुनर्न गताऽसि इति वाक्यापयो क्रमेण प्रधानीभूतौ यो विधि-निषेधी 'तयो प्रतिपादकाम्या बाधकाम्या गता न गता इति शब्दाभ्यां विरोधिलक्षणया 'उपकृत बहु तत्र किमुभ्यम् इत्यादिषु वैपरीत्यलक्षणमन्वयमूलकलक्षणसंज्ञाया, क्रमेण (गतेत्यनेन) निषेधस्य (न गतयेनेन) विधेश्च प्रतीतेरिति सम्बन्धः ।

यदि त्वदभिमत निश्चेपेत्यादिवाक्यार्थानां सम्भोगमात्रजन्यत्वं स्यात्, तदा वापीस्नानजन्यत्वाभावात् । तत्र तेषां बाधितत्वमिति विपरीतलक्षणया गतेत्यनेन गति-निषेधस्य न गतेत्यनेन कतिविधेश्च प्रतीति तन्पुनरव्यञ्जनया पुन प्रयोजनस्य सम्यक्त्वस्य केवलस्य प्रतीति स्यादिति तदन्तिकमेव रन्तु गताऽस्योति सम्पूर्णवाक्यप्रतिपाद्याधम्य व्यङ्ग्यत्वमममममेव । मन्मते नु विशेषणवाक्यार्थानां सम्भोगासाधारण्याभावाद् वापीस्नानेऽपि बाधितत्वविरहेणात्र लभ्याया प्रमरणाभावात् समस्तवाक्यार्थस्य व्यङ्ग्यत्वमक्षतमेति तेषामसाधारण्य विशेषणवाक्यार्थानां दुरुपपादनेवेत्याहुतम् ।

उन्मीलिते तदगमया बोधिते । व्यक्तित्वेद्यता व्यञ्जनाविधत्ता ।

मुख्यार्थं बाधेनोन्मीलितेऽर्थे व्यक्तित्वेद्यतोचिता । यस्मात् व्यञ्जनाविधत्तव्यवधानेन न भवति तस्मान् तदन्तिकगमनाद्यस्य व्यङ्ग्यत्वममममीति तात्पर्यम् ।

धी ! 'तम व्यङ्ग्य मे दी भद्र इ । उनके से एक अक्ष ह । 'उमर नाम गई धी' यह और दूसरा अक्ष है 'रम' ज पदस्य है । अब दाहिनी की व्याख्या के अनुसार 'उनके पास गई धी' यह अक्ष व्यङ्ग्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी व्याख्या के अनुसार 'निश्चयच्युतचन्दन' इत्यादि वाक्यों का जो मुख्य अर्थ है 'वप्रा में स्नान करने गई धी, तम अक्ष के पत्र नहीं' यह बाधित है अर्थात् स्नान में नहीं लग सकता । अब अगत्या 'मु-यार्थवाधे तदभुक्त' इत्यादि रीति से यहाँ विपरीत लक्षण करनी पड़ेगी, जिससे वाक्यदोष में वहाँ 'नहीं गई धी' है वहाँ 'गई धी' अर्थ होगा, और जहाँ 'गई धी' है, वहाँ 'नहीं गई धी' अर्थ होगा, अन्वय वाच्य अर्थ सहज ही नहीं हो सकेगा और जब लक्षणवृत्ति से ही 'उमके पत्र गई धा' यह अक्ष ज्ञात हो जायगा, तब उम अक्ष को व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता है ।

यदि उम वदे कि लक्ष्य (लक्षणवृत्ति से समय में आ जाने वाला) अर्थ व्यङ्ग्य क्यों नहीं हो सकता है ? हम उक्त कथ संशोधन करते हैं—'महि मुख्यार्थ' इत्यादि । तत्त्वं यद् दे साहित्ये लक्ष्य में औचित्य की रक्षा आवश्यक मानी गई है । 'अनौचित्यादने नान्यदसम्भ्रत्य धारण्य' वरा

उदाहरणप्रदर्शनीकमयं द्रवयति—

यथा—'अहो ! पूर्णं सरो यत्र सुठन्त- स्नान्ति मानवा ।' इत्यत्र कर्तृ- विशेषणानुपपत्त्यधीनोद्भासे पूर्णत्वाभावे ।

नन्वेवमपि कामुकोपभोगरूपस्य द्वितीयादास्य व्यञ्जनावोच्यत्व त्वज्ञतमेवेत्याक्षेपं समादधाति—

अथ तदन्तिकगमनस्य रक्षणवेद्यत्वेऽपि रमणस्य कलाशस्य लक्ष्यशक्ति- मूलध्वननवेद्यत्वमव्याहृतमेवेति चेत्, 'अधमत्वमप्रकृतत्वम्, तच्च जाल्या

शुष्ककल्प तडाग निन्दत कस्यचिद् अणित्तिरियम् । यत्र यस्मिन् सरसि सुठन्त इतस्तत्र परिवर्तमाना न तु स्नानोचितजलाभावेन निमङ्क्नु वाक्नुवन्त, मानवा, स्नान्ति, तादृगभिदम्, अहो भवमुत्, पूर्णं सत्तितैररिक्त सर सरोवरमस्तीत्यर्थं । कर्तृणा स्नानकर्तृणा विशेषणस्य खेठनस्यानुपपत्त्यधीन सरम पूर्णत्वेऽन्वयानुपपत्त्या जनिन उल्लासा साक्षणिको बोधो यस्य, तादृशे पूर्णत्वाभावे रिक्तत्वे न व्यञ्ज- नेति शेष ।

'सुठन्त' इति विशेषणपदार्थस्य पूर्णपदवाच्यार्थेऽन्वयस्य बाह्यारतक्षणया प्रत्या- यमान पूर्णत्वाभावो यथा व्यञ्जना अभ्यप्रतीतिविषयो न भवति, तथैव प्रकृत नवदु- त्तव्यङ्ग्यप्रथमाशोऽपि न भवेदिति भाव ।

अमुमेवार्थं चित्रमीमासाच्छब्दने—'एव च तटादिघटिताना वाक्पार्याना मुह्यार्थ- वापीस्नानपक्षे बाधितत्वाद् विरोधितक्षणया 'वापी स्नातु न गताऽसि, किन्तु तदन्ति- कम् इति प्रतिपत्तौ विभक्तितव्यापारेण यथा—'अहो ! पूर्णं सरो यत्र सुठन्त स्नान्ति मानवा इत्यत्र 'सुठन्त इति विशेषणस्य मुख्येऽर्थेऽनुपपत्त्या विरुद्धोऽर्थो भासमा- मोऽपि न व्यङ्ग्य । इति सन्दर्भेण पण्डितराज स्वयं स्फुटीकरार ।

लक्षणवेद्यत्वेऽपि विपरीतलक्षणान्यदोषविषयत्वेऽपि । रमण कामुकोपभोग । लक्ष्यस्य बोधिका शक्तिवृत्तिलक्षणा मूल यस्य तादृग ध्वनन लक्षणामूला व्यञ्जना ।

गया है । और किसी भी शक्ति से समझ में आ जाने वाले वस्तु अर्थ को पुनः व्यञ्जना से समझें यह अनुचित नया अर्थ है । अन लक्षण से समझ गया 'उसके पास गई थी' यह अर्थ व्यञ्जना से समझने योग्य नहीं रह जाता है, अर्थात् व्यङ्ग्य नहीं हो सकता है ।

लक्षा—'यथा—अर्थ व्यञ्जय नहीं कहलाता, इस बात को उदाहरण दिखलाकर इष्ट करते हैं— 'यथा—'... इति । अहो ! सरोवर अधिक भरा हुआ है, जिसमें मनुष्य डोढ़ने हुए स्नान करते हैं, जो जहाज जल से पूर्ण रहेगा उसमें लोग खेटीं हुए स्नान नहीं करते, अपितु दुश्चिन्तों लगाते हैं, और यहाँ स्नानकर्ता का विशेषण 'डोढ़ने हुये' कहा गया है, जिससे सरोवर का विशेषण जो कहा गया है 'भरा हुआ' उमका अर्थ बाधित हो जाता है अर्थात् उसका अन्वय 'डोढ़ने हुए' के साथ नहीं बैठता, अन पूर्ण पर को पूर्णत्वाभाव (नहीं भरा हुआ) में विपरीत लक्षण करनी पड़ती है, इस स्थिति में जैसे 'सरोवर पूर्ण नहीं है अर्थात् शुष्क है' यह अर्थ लक्ष्य ही कहलाना है, व्यङ्ग्य नहीं, वैसे ही दीप्ति की रोश से 'उसके समीप गई थी, 'जलने नहीं' यह अर्थ विपरीत लक्षण के विषय हो जाने से व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता है ।

अब यदि यहाँ अर्थ करें कि 'उसके पास गई थी' यह अर्थ लक्षण से ज्ञान हो जाने के कारण व्यङ्ग्य नहीं हो सकता, न ही 'रमण' जो परलोक होने से मुख्य है—अर्थात् लक्षणामूला व्यञ्जना से

कमणा वा भवति । तत्र जात्याऽप्यकर्णं नोत्तमनायिका नायकस्य वदति' इत्यादिना सन्दर्भेण भवतेवार्थापत्तिवेद्यताया स्फुट वचनात् ।

ननु द्रुतीसम्भोगस्यार्थापत्तिवेद्यत्वेऽपि व्यञ्जनावेद्यत्वमपि स्यादिति को दोष इत्यत आचष्टे—

अनन्यत्वभ्यस्य च शब्दाद्यताया अस्वीकृते ।

चित्रमीमासाग्रन्यसवादाय चत्तीत्यस्य स्थाने वदतीति पाठ एव निहित । उक्त-जातिकनायिकाया अपृष्टजातिपनायकेऽनुरागानौचित्यतः तन्नायिकायास्तत्पयना-नौचित्यम् । आदिशब्देन नापि स्वापराधपर्यवसायद्रुतीसम्भोगादिहीनकर्मातिरिक्तेन कमणा । तादृश द्रुतीप्रेषणात् प्राचीन सर्वं सोदमेवेति नौढाटनाहम् । अन्यथा स्वय द्रुतीसम्भेपणानुपपत्तेः । इत्यादि पुरस्ताम्भूलेऽप्युपदेक्ष्यमाण चित्रमीमासाप्रकरण परामृष्यत ।

अप्यव्यदीक्षितमने रमणरूपफलादास्यापि व्यङ्ग्यत्व न सम्भवति, किन्त्वर्थापत्ति गम्यत्वमेव यतस्तदुक्तरीत्या रमण विना नायकाद्यमत्वस्यान्यथानुपपत्त्यां तेनार्थापत्त्यैव स्वोपपादकं तद् बोध्यत न तु व्यञ्जनया तत्प्रत्याख्यते । तथाहि—जात्या नायकस्याधमत्वमनयोत्तमनायिकयाऽनौचित्याद् दुर्वचमेव, द्रुतीसम्भेपणानुपपत्तेस्तस्मात् पुरातनानामपराधाना सोढत्वाच्च तैरप्यधमत्व दुरपपादमेवेत्यनापत्त्या द्रुतीसम्भेपणोत्तरकालिक द्रुतीसम्भोगतक्षणमेव कामानुसामनगाहित नायकस्य कर्म तदुपपादक मागूयन इति स्फुटतरे गदीयसन्दर्भाद्येऽर्थापत्तिवेद्यत्वमेवात्र व्यङ्ग्यस्येत्यभिप्रायः ।

'अनन्यत्वभ्यो हि शब्दाद्य इति सिद्धान्तेन प्रकृते द्रुतीसम्भोगस्यार्थापत्तिबोध्यत्वे न्यलभ्यत्वाद् व्यञ्जनावोध्यत्व न स्यादित्यर्थः ।

व्यङ्ग्य होगा ही और वसी मुन्य व्यङ्ग्य को लेकर हम श्लोक में चर्चिताव्य का उल्ला मत्पदित करेंगे । यह भी ठीक नहीं, क्योंकि आपने ही 'चित्रमीमासा' में उन अर्थ को भी 'अधापत्ति' प्रमाण से समझने की बात कही है । यदि कोई पूछे कि कैसे ? तो सुनिये—'चित्रमीमासा' में उसने कहा 'अधम का मतलब है अधः और अधः कोई दो ही तरीके से हो सकता है, जति से अधम बर्मे में । अध सोचिये कि प्रकृत श्लोक में जो नायिका ने नरक के छिपे अधम शब्द का प्रयोग किया है, वह किस आशय से ? आति से अरुण ममज्ञर अधम कर्म से ? उतर स्पष्ट है कि बर्मे में ही अरुण ममज्ञर एक प्रयोगनायिका ने किया होगा, क्योंकि उतम नायिका किसी भी हालत में अपने पति को आति से हीन होने के मान अरुण नहीं समझ सकती और न उसके चरन अधम ही कह सकती' इत्यादि । अब जरा गहरापणा गौर करें कि 'रमण' 'अधापत्ति' से कात होगा वा नहीं ? मैं कहना मतलब होगा, क्योंकि नायिका अधम कर्म के चरन नायक को अधम समझने लगी वह कर्म दूरप्रेषण से पूर्णकाल का नहीं हो सकता अन्यथा द्रुती को वह भेजने ही नहीं, पठन दूता के भेजने के बाद का जो अन्वय है, उसी में नायक के द्वारा बिये गये किसी कुर्म को लक्ष्य कर नायिका नायक को अधम कह रही है यह निश्चय है फिर तो अधम कहने से अर्थव्यतिरिक्त नायक का वह द्रुतीसम्भेपण-रूप-कुर्म अर्थात् लक्ष्य ही हो जायगा ।

यदि आप कहें कि 'रमण' अर्थात्प्रेषण होकर भी व्यञ्जनावेद्य क्यों नहीं कहलियेगा ! इमका उत्तर प्रत्यक्ष देने हैं—'अनन्यत्व' इत्यादि । 'अन्य किसी जी बुकि से जो समझ में नहीं आ सकता

नन्वार्थापत्तेर्व्यतिरेकव्याप्तिश्चैव चारिताध्यान् प्रमाणान्तरत्वस्य तार्किकादि-
मिरनभ्युपगमाद् वृत्तित्वामावाच्चात्र सम्भोगस्य तद्व्यतिरेकव्यतिरेकत्व निर्विघ-
नेवेत्याशङ्कामभ्युपगम्य प्रकारान्तरेण निरस्यति—

अपि च यथाकथञ्चिदङ्गीकुरु वाऽत्र व्यञ्जनाव्यापारम्, तथापि न त्वेष्ट-
मिद्धि, वाच्याना निश्शेषच्युतचन्दनस्तनतटत्वादीनामवमत्वस्य च त्वदुक्त-
रीत्या प्रकारान्तरेणानुपपद्यमानतया दूतीसम्भोगमात्रनिष्पाद्यत्वेन गुणीभूत-
व्यङ्ग्यत्वप्रसङ्गात् ।

उपसहरति—

एव चोपपत्तिविरोधोऽपि स्फुटतर एव ।

यथाकथञ्चिदर्थान्तरतिरिक्तत्वाभावादित्योकारेण । तव विशेषणवाक्यार्थासाधार-
व्यञ्जनादिन । इष्टस्य प्राधान्येन दूतीसम्भोगव्यञ्जकतया प्रकृतकाव्ये ध्वनित्वस्य न
सिद्धिः । त्वदुक्तरित्यासाधारण्येन । प्रकारान्तरेण दूतीसम्भोगातिरिक्तेन कर्मणा
जात्या वा । गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वस्य वाच्यमिद्धपञ्चव्यङ्ग्यत्वस्वरूपस्य प्रसङ्गादापत्तेः ।

सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वोऽपि त विना वाच्यावमत्वादेरनुपपत्त्या तदुपपादकत्वेन
व्यङ्ग्यत्वस्य वाच्यसिद्धयङ्ग्यतया गुणीभूतत्वादस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेव न तु ध्वनित्व
भवदभिमतमिति तात्पर्यम् ।

एवमुक्तरित्या विशेषणवाक्यार्थासाधारण्येन काव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वप्रसङ्गे च ।
उपपत्तिविरोधो गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिः, काव्यप्रकाशकाराद्यनुरोधत्यागभ्रापिना
सूच्यते दूषणम् ।

हो, उनी को किमी शब्द का अर्थ मानना चाहिये' ऐसा नियम है । अतः अन्य अर्थापत्ति प्रमाण से
छान्य समझ में आने दोष उक्त 'रमण' शब्द का व्यङ्ग्य अर्थ नहीं हो सकता है ।

यदि आप कहें कि 'अर्थापत्ति' तो कोई पृथक् प्रमाण नहीं है, नैयतिकों ने उसको अनुमान में
ही गतार्थ किया है, फिर उनको पृथक् प्रमाण मानकर उनमें किसी अर्थ को समझने का बात करना
बन्धन प्रमाण सा है, अतः 'रमण' को व्यङ्ग्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है, तो परिन्दराज इन
तर्कों को स्वीकार कर दूसरे तरीके से दीक्षित मत का सफटन करत हैं—अपि 'च' इत्यादि कहने का
तात्पर्य यह है कि यदि 'रमण' किसी तरह व्यङ्ग्य हो सकता है, यह बात मान भा ली जाय तथापि
आप को इतिहास नहीं हो सकती, अर्थात् यह पद्य घनिकाव्य वा उदाहरण नहीं हो सकेगा, क्योंकि
'सन्तों के ऊपर भाग का चन्दन मिट्टा, निचले श्रेष्ठ का ही रत्न उज्ज्वल तथा सत्य का अथम होना'
ये सब जो वाच्य अर्थ हैं, वे आपके हिमाव से केवल दूता सम्भोग से ही हो सकत हैं, क्योंकि
आदि से नहीं और वह दूती-सम्भोग वाच्य नहीं, व्यङ्ग्य है, अतः यह सिद्ध हुआ कि उक्त व्यङ्ग्य
ही वाच्य अर्थ को मङ्गल बनाने वाला है फिर वह व्यङ्ग्य वाच्य अर्थ को अनेक गौण हो जयगा,
अतः यह पद्य 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक मध्यम काव्य का उदाहरण होगा, 'ध्वनि' नामक उत्तम
काव्य का नहीं ।

इस तरह से दीक्षित के मत में युक्तिविरोध भी है, अतः उनका मत अमान्य है ।

इत्यमत्राप्यव्यदोक्षितदर्शितदिता सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वमपास्य काव्यप्रकाशाद्यु-
रोधपरवश स्वमतेन पुनरपरया स्थापयितुमुपक्रमते—

तस्माद् वाच्यार्थसाधारण्यमेवोचितमतिविदग्धनायिकानिरूपिताना विशेष-
णवाक्यार्थानाम् ।

न हि विदग्धा नायिका स्फुटतर वक्तु शक्नुयाद्ब्रह्ममिति वाच्यव्यङ्ग्यधोमय-
साधारण्यमेवोचित विशेषणवाक्यार्थानामिति सारम् ।

सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वोपपत्तये स्वयं तत्पद्य विवृणोति—

तथाहि—अपि बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे । स्वार्थंपरायणे । स्नानका-
लातिक्रमभयवशेन नदी—मदीयप्रिययोरन्तिकमगल्वेव, वापी स्नातुम्, इतो मद-
न्तिकात् गताऽसि, न पुनस्तस्य परवेदनानभिज्ञतया दुःखदातृत्वेनाघमस्यान्ति-

तस्मात्साधारण्याङ्गीकारे प्रागुक्तदोषापातात् । वाच्यार्थे वापीस्नाने साधारण्य-
मेव, न तु व्यङ्ग्यसम्भोगमात्रव्याप्यत्वम् । विदग्धा सहृदया, तथा च द्वेष्ये पदे
पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु इति नयेन व्यङ्ग्यसम्भोगवाच्यवापीस्नानयो साधारण्या एव
तदुक्तैरौचित्यम् न तु पामरनारीवचन स्पष्टतरार्थाया । निरूपिताना बोधिगता
कथिताना वा ।

स्वार्थंपरायण इत्यनेन बान्धवव्याजिमस्वाद्यनपनिनाशंकयनम् । नद्या नायिका
प्रियस्य च दूरस्थमया तदागतकागमे वापीगमे य स्नानकालातिक्रमो हेतु । इय
इत्यस्य विवरण मदन्तिकादिति । व्यङ्ग्यसम्भोगस्यागूढतापरिहाराय परत्याद्यधमत्व-
सम्पादकापादानम् । वाच्यता गता स्नानाद्यर्थे स्थिता, बहुत्र भूयासो ये युवजना,
तेभ्यस्तत्सम्बन्धिनी वा या त्रया तत्र युवत्या सज्जा, तस्या पारवश्यात् । अस्तव्ये
स्वच्छयुगले लभन सम्बद्ध आ करूपोश्रमायो यस्य, तादृश स्वस्तिकीकृतमधर्म-
मुकुलीकृत च यद् मुजलतायुगल तेनेति सम्बन्ध । मुहुरामर्शो स्वन्तदौघत्य हेतु ।
एव—त्रयापारवश्याम् । त्रयापारवश्य त्वरामा मूलम्, त्वरामूलवञ्च सम्बन्ध शालना-
भाव । तथा—निर्मुष्टराग । भात्रस्येनाद्गुलिससंगव्यवच्छेद । क्षीतेति भावप्रधान-
निर्वेश । तानव कामलता कार्श्य च । व्याख्यानपर्यवसानसूचक इति शब्द । एवमुक्तं
प्रकारं । तस्या वक्तव्या नायिकाया । गूढ साधारण्यधीशालिजवावेद्य तात्पर्यमाद्यो

इमल्लिये यह समझना चाहिये कि अति चतुर नायिका के मुख से निकल हुए 'निशेपप्यु-
त्पन्नम्' इत्यादि विशेषणों का अर्थ ऐसा ही होना चाहिये जो वाच्य अर्थ (वापीस्नान) और व्यङ्ग्य
अर्थ (सम्भोग) दोनों में साधारण हो अर्थात् दोनों में लग सके, न कि ऐसा जो केवल व्यङ्ग्य
सम्भोग में ही लगे ।

अब जिससे एक दोषों का अन्वय न हो, तथा यह वचन चिन्ताय वा उदाहरण हो सके, ऐसी
व्याख्या एक इन्तज की प्रतिपाद करने है—'तथाहि' इत्यादि । 'दो अर्थ वाच्य पदों से सम्बन्ध
को सूचित करना चाहिये' इस नियम के अनुसार 'चतुर नायिका दूरी से बहती है—'हे इति' ।
वही स्वाधिनी हो, तभी तो मुझ जैसी सगरी के दिल में बहती हुई पीछा का कुछ भी ख्याल न कर
जाने स्नान-समय के चूक जाने के भय से मेरे शिव वे पाम नहीं गई, न नदी बिनारे हो गई (क्योंकि
यह भी दूर था) और सीधे मेरे पास से वापी पर स्नान करने पड़ी गई । दूसरे की पीछा को (जानने

कम् । यतो निःशफच्युतचन्दनं स्तनयोस्तटमेव नीर स्थलम्, वापीगतवहु-
लयुदजन-त्रपापारवश्यादसद्वयलग्नाप्र-स्वस्तिकीकृत-भुजलतायुगलेन तटस्यै-
वोद्यततया मुहुरामर्शात् । एव त्वरया सम्यगक्षालनेनोत्तरोष्ठी न निर्मुष्टराग ,
अधरस्तु तदपेक्षया गण्डूपजल-रदनशोधनाङ्गुल्यादीनामधिकसम्मर्दभावह-
तीति तथा । किं च—सम्यगक्षालनेन नेत्रे जलमात्रसंसर्गात् दूरमुपरिभाग
एवानञ्जने । शीतवशात् तानवाच्य तव तनु पुलकिता, इति । एव तस्या
विदग्धाया गूढतात्पर्यैवोक्तिरुचिता, अन्यथा वैदग्ध्यमङ्गापत्ते ।

एव साधारणेष्वेपु वाक्यार्थे मुख्यार्थे बाधाभावात् तात्पर्यार्थस्य भट्टित्य-
नाकलनात् कुतोऽत्र लक्षणाऽवकाश । अनन्तर च वाक्यार्थप्रतिपत्तेर्वक्तृबोद्ध-
व्य-नायकादीना वैशिष्ट्यस्य प्रतीतौ मत्यामघमपदेन स्वप्रवृत्तिप्रयोजको दु ख-
दानुत्वत्पो घर्म साधारणात्मा वाच्यार्थदशयापराधान्तर-निमित्तक-दु ख-
दानुत्वरूपेण स्थितो व्यञ्जनाव्यापारेण दूतीसम्भोगनिमित्तक-दु खदानुत्वा-
कारेण पर्यवस्यतीत्यालङ्कारिकमिद्धान्तनिष्कर्ष ।

यस्या इति बहुव्रीहि । उक्तोर्गूढतात्पर्येणैव वीज वैदग्ध्यमेव । अत एवोक्तेरगूढार्थकत्वे
तद्मङ्गलप्रसङ्ग । मुख्यार्थवाधविरहे विशेषणवाक्यार्थानामुपयमाधारण्य हेतु । एव
मुख्यार्थवाधविरहाल्लक्षणाया अप्रसङ्गे । मुख्यार्थे वापीस्नाने । अनन्तर वाच्यार्थबोधो
त्तरम् । वक्त्री विदग्धोत्तमनायिका वाङ्मया पुञ्जली दूती, वाकुप्रभृतिभ्रादिपदेन
प्रतिपाद्यते । त त्पर्यार्थस्य वक्त्रीसमवेतेच्छाविषयीभूतलक्ष्यार्थस्य इति ध्वञ्जनाव्यापा-
रेण विनाऽज्ञाकननादानुपस्थिते । स्वप्रवृत्तिप्रयोजक स्वोच्चारणकारणीभूत । अपरा-
धान्तर तीव्रविरहवेदनेपेक्षाऽऽदिरूपा अन्येऽपराधा निमित्त यस्य, तादृश दु खदानु-
त्वम् । तच्च दु ख वाच्यप्रतीतावपराधान्तरनिमित्तक, व्यञ्जघप्रतीतौ तु निषिद्धदूती-
सम्भोगनिमित्तक भावते । आलङ्कारिकमिद्धान्तनिष्कर्ष इत्यनेन स्वमतस्य इडिमा
सूच्यते ।

इदमाकृतम्—इह पामरीवद् विदग्धोत्तमनायिकाया व्यतनरायैकवाक्योपादाना-
मनीचित्याद् विशेषणवाक्यार्थाना सम्भोगासाधारण्ये ध्वञ्जघप्रतीतिरुपासीष्टसिद्धेर
भावात्, तेषा सम्भोगस्नानयोस्तृतीयया साधारण्यमेवोचितम् । जघमत्वमन्पादकध-
र्मोऽपि दु खदानुत्वरूप एव प्रतीतुं युक्तं, वाच्यव्यञ्जघकक्षयोरन्वयानुकूल्यान् । पदार्थो-

दुःख (मी) न जानकर दुःख देने वाला मेरा वह नावक भी अंधन ही है (अन्यथा तुलने के लिए तुझे
भेजने की अनुरोध ही नहीं पड़नी) तू उन अंधन ने पान नहीं गई बरन स्नान करते -ली गई वह
बाल तेरी चेहरे में ही भुचिन हो रही है । देगे तेरी छानी में चन्दन ज्यों वा त्यो बना हुआ है
पर स्नानों के उपर भाग ना चन्दन सर्वश मिट गया है और ऐसा इमलने हुआ ॥ कि वारी पर
बहुतेरे पुसक स्नान करने रहे होंगे, अत लूटे लूटा के मारे अने मुडे हुये हाथों को कन्धे पर
रखकर बैठने से स्नानों को मला होगा, निम्ने उंचे स्नान के उपर भाग पर हो मपर्य" ही मना,
निम्नभाग में नहीं, इनी तरह शीघ्रता से ठीक से न धो सकने के कारण उपर के होठ की लाली
दुःख-दुःख रानी गरी परन्तु नीचे भा होठ उपर होठ की अनुरोध गफिक हुन्हे ना चउ, वां स्वच्छ
करने की कष्टुडी आदि के सर्वथा लगने से सर्वथा स्वच्छ हो गया और ठीक से नहा हो नाने के

पूर्वोक्तनीत्यैव पुनरप्यदीक्षितोक्तमधमपदायव्याख्यानमपि दूषयति—

एतेन—'अधमत्वमपकृष्टत्वम्, तच्च जात्या कर्मणा वा भवति । तत्र जात्याऽपकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वक्ति । नापि स्वापराधपर्यवसायि—दूतीस-

पस्थितिकाल एव वाच्याधन्विमबाधग्रहवंधुर्याच्च न विपरीतलक्षणा । किन्तु स्थानपक्षी यथाच्यापं प्रतीती वाच्यमात्रविदामर्वासाया प्रकरणादिपर्यालोचनेन काव्यार्थभावना-प्रसाधितधिया सम्भोगपक्षीयोऽर्थं प्राधान्येन वैयञ्जनिकप्रतीतिपदवीमचतरन् चमत्कारातिरेकसम्पादकत्वात् काव्यमिदमुत्तमोत्तमीकुर्वन् ध्वनिध्वेन व्यपदेशयति । दीक्षित-दीक्षिता विद्या तु ग्रन्थोपपत्तिविरोधो बज्जलेपायित एव ।

एतेन विदग्धोत्तमनायिकाया कामुकापराधरूपदूतीसम्भोगस्य सखीसमक्ष स्पष्ट-मुष्ठापटयितुमल्पन्तमनहत्वेन, महश्चितदिशा व्यञ्जयमर्यादपर्यव तद्बोधनीयत्वित्ये च । अधमेत्यादिभिन्नमीमासाग्रन्थो दीक्षितस्य । जात्याऽधमत्व द्विजातिभिन्नानाम्, मर्मणा तु द्विजातीनामपि । नायिकाया उत्तमत्वमुच्चकुलोत्पन्नत्वेन निरव्यतया प्रकृत्या च । जात्यपकथकपने नायिकाया नीचकुलोत्पन्नापकानुरागानांचित्यादुत्तमत्वमङ्गप्रसङ्ग । स्वस्य नायिकाया अपराधपर्यवसायी दुःखोत्पादकत्वेनापराधरूपो यो दूतीसम्भोगो नायकस्य दूतीशर्मकोपभोग आदित्येया तानि यावन्ति हीनान्यपकपंप्रयोजकानि कर्माणि, तेभ्योऽतिरिक्तेन मित्नेन । प्राचीन दूती प्रेषणात् पूर्वकाले विहितम् । इतरव्याप्त्याऽधमत्वप्रयोजककर्मन्तरव्यवच्छेदेन । इतिशब्द प्रकृतविचारपर्यवसानम्, दिक्छब्दस्तदभिन्नकोटिसम्भावना च सूचयत ।

भारण ही आँखों में नल का ही सराग हो गया (भङ्गिलों का नहीं) इसलिये ऊपर-ऊपर का ही बज्जल भिन्न सका (भीतर का नहीं) इसी तरह अधिक टण्ट पड़ने से दुबला, पतला पैरा शरीर रोमाञ्जित हो गया है ।' इस प्रकार चतुर नायिका की वक्ति ऐसी ही होगी चाहिये, जिसका अभिप्राय छिपा हुआ हो, अन्यथा उसकी चतुरता ही नष्ट हो जायगी । इसी तरह से जब इन शायकों के अर्थ माधारण (स्नान, सम्भोग आदि अनेक कारणों से होने वाले) होंगे, तब मुख्य (स्नान करने से लिये जाना) अर्थ बाधित नहीं होगा बल्कि वा तात्पर्य च से समझने में नहीं आवेगा, जहाँ लक्षणा का प्रसङ्ग ही नहीं उठ सकेगा । वाच्य अर्थ के ज्ञान हो जाने पर जब बोलने वाली नायिका जिसके प्रति यह पद्य कहा जा रहा है, उस दूती, जिसको दुःखाने के लिये दूती को भेजा गया था, उस नायक तथा वक्तव्य की दिग्दर्शिताओं पर ध्यान दिया गया अर्थात् वह वाच्य-अर्थस्य सदृश्य सोचेंगे कि यह नायिका विदिग्धी है, दूती स्नेहप्रनायिणी है, इस तरह पतिकता प्रेयसी को उपेक्षा करने वाला नायक भी व्यक्तित्वागी होगा और नायिका को उक्ति भी अनेक अर्थों में युक्त है, अगर स्नान को ही मान लें तो भी तो फिर इस तरह के दो-दो अर्थ वाले पदों के प्रयोग करने को क्या आवश्यकता थी ! इत्यादि तब सदृश्यों के मन्त्रित्व में य' बात जायगी कि हमने जो 'नायिका माधारण' द्वारा देने के कारण ही नायक का अधम बह रही है' पना वाच्य अर्थ समझा है, वह ठीक नहीं है बरन्स कोई विशेष ब्रह्म नायिका को नायक ने किया है, जहाँ वह नायक को अधम बह रही है, परन्तु वह विशेष ब्रह्म कौन सा हो सकता है ! इस तरह त्रिगाम्या उत्पन्न होने पर व्यञ्जनावृत्ति से द्वारा यह सा होता है कि नायक ने इस दूती से मन्त्रण किया है जिसका ज्ञान हो जाने से नायिका को दुःख हो रहा है और साथ ही कुछ श्लेष भी, जहाँ पर नायिका पतिकता होकर भी वक्ति के प्रति कुछ बरतना प्रयोग कर रही है, अधम बह रही है । यही अलक्षारवाच्य अर्थों के मिश्रण का सार है ।

म्भोगातिरिक्तेन कर्मणा । तादृश च दूतीसम्भ्रेषणात् प्राचीन सोढमेवेति नोद्धा-
टनार्हमितीतरव्यावृत्त्या सम्भोगरूपमेव पर्यवस्यति । यदुक्तम्, तदपि निर-
स्तम्, विदाघोत्तमनायिकाया सखीसमक्ष तदुपभोगरूपस्य स्वनायकापराधस्य
स्फुट प्रकाशयितुमर्तितमामनीचित्येन प्राचीननामेव मोढानामप्यपराधानाम-
सह्यतया दूती प्रति प्रनिषिपादयिषितत्वादिति दिक् ।

दूतीसम्भोगात्मकनायकापराधस्य स्फुटाध्याने नायिकाया वैदग्ध्यमङ्गप्रसङ्गात्
पूर्ववदधमपदमप्यसाधारणस्य तस्य व्यञ्जनमेवेति सारम् ।

महाभद्रोपाध्यायगङ्गाधरशास्त्रिणस्तु—‘इदमत्र दीक्षिताकृतम् । बाष्पसिद्धपङ्क-
(व्यञ्जय) रूपमध्यमवाच्यता तर्ज्व यत्र व्यञ्ज्यार्थोपस्कृतं बाष्प चर्चणाविभ्राम-
घाम, न तु व्यञ्ज्यार्थान्तरौपकारकमपि । यथा त्वर्षकोदाहृते—‘राधवविरह-’
इत्यादिपद्ये । ‘कुप्यन्ति’ इति कोपस्यैव व्यञ्ज्यार्थोपस्कृतस्य प्राधान्यम्, न तु तेनाप्य-
न्यद् ध्वन्यते ।

यत्र तु बाष्पायंतावच्छेदकमेव स्वरूपेणानुपपन्नं व्यञ्ज्य स्वोपपादकतया न्यग्-
भावयति, यथा—‘गच्छाम्यध्वृत ।’ इत्यादि पद्ये, ‘आमन्त्रणमङ्गिसूचित-’ इति
सूचनपदायंतावच्छेदकस्याध्वृतादिपदध्वननीयार्थमन्तर्भाव्यैव विराडाह्लाशाब्धधीपर्य-
वसायित्वम्, तत्र विशिष्टबोधोयप्राधान्याविरहेऽपि कविसरम्भपर्यवसानभूमितासामा-
न्यात् पूर्वप्रदक्षितस्वरूपकत्व न हीयते ।

अन्यथा ‘स नास्ति कश्चिद् विषय’ इत्यादि प्रकाशदक्षितदिशा सामाजिकप्रति-
भामात्रकल्पनीमव्यञ्ज्यविरहामम्भवेन सर्वस्यैव काव्यम्य मध्यमकाव्यदत्त एवोदाहर-
णीयताऽऽपत्तेः । अत एवाह—‘प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति’ इति । प्राधान्यं चानार्थं
न तु शाब्दम्, तस्य प्रवृत्त्यादावौदासीन्यात् ।

एवञ्च प्रकृतैःधमपदव्यञ्जनीय-सम्भोगसम्भावकतामात्र उपयोऽप्यभाषाणां स्तनतटा-
दिपदघोस्पर्शानां गुणीभावेऽपि सम्भोगस्यावाच्यतया लक्षणाफलत्वेनालक्षणीयतया च
स्वतन्त्रिप्रकारकदुबोधप्रमिपालक्षणाप्रधान्यसद्भावेन तत्प्रयुक्तमुत्तमत्व कौ विचारयेत् ।

अन्यथा भवदुःखेतिगदिसावपि वारीयमनोपपादकतामात्रेण गुणीभूतव्यञ्ज्यत्व
कथं निवारणीयम् । प्रत्युत भवदप्रदक्षितक्रम एव दोषो दुर्वारो वारीयमनस्य बाष्प-
त्वान् । सम्भोगस्य तु व्यञ्ज्यत्वेन वैपरीत्यात् ।

उक्तं नीति से ही दीक्षित द्वारा की गई अधम पद की व्याख्या में दोष दिखाने हैं—‘पूतेन-’
इत्यादि । ‘अधम पद का अर्थ अदृश्य-हीन है और अदृश्यता मनुष्य में दो तरह से आ सकती है—
एक जाति द्वारा दूसरा कर्म द्वारा, अर्थात् हीन जाति के होने से कोई हीन हो सकता है, अथवा ज्ञान
कर्म करने से हीन हो सकता है । उन दोनों में अदने नायक की वातिमूलक हीनता का उत्पन्न
नायिका ज्ञान पर नहीं हो सकती है । अब रही कर्ममूलकहीनता, वह अनेक प्रकार की हो सकती
है, कारण ? हीन बनने का उक्त कर्म विविध हैं, परन्तु उन सब कर्मों में से दूती-सम्भोगप्य हीन कर्म
करने का अदने नायक को ही उत्तम नायिका हीन अधम करती है, वह भी हमलिये कि दूती-
सम्भोगप्य हीनकर्म, दुमा-फिरा कर नायिका का अदना ही अपराध सिद्ध हो जाता है, इस तरह के
हीन कर्म करने वाले नायक को उत्तम से उत्तम नायिका को भी लीज वह बैठे हैं—कि उन तुम
में कोई खाम दुर्गुण है, एवं न तुम्हारा नायक तुम जैसी सुन्दरी दुलीना को छोड़कर एक गाथारा
५ २० ग०

एव प्रथम प्रकारमुत्तमोत्तम निरूप्य द्वितीयमुत्तम लक्षयति—

यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारण तद् द्वितीयम् ।

सक्षणवाक्य एवकारनिवेशस्य फलमाह—

वाच्यापेक्षया प्रधानीभूत व्यङ्ग्यधान्तरमादाय गुणीभूत व्यङ्ग्यमादावाति-
व्याप्तिवारणायवधारणम् । तेन तस्य ध्वनित्वमेव ।

यदि तु नायिकाविधान्तिभूमिताया सम्भोग एव कल्पनेन परिहरिष्यसि, तर्हि व्यङ्ग्यतामनपह्ल्यं तु प्यतु भवान् । अत एव च नाय काव्यलिङ्गस्य विषय, उपपाद्योपपादकयोश्चयोरपि व्यङ्ग्यत्वात् । तटादिपदाधाना केवलाभिधाबन्धेनोपस्थि-
ताना स्नानसम्भोगाधारणत्वेन विदग्धनायिकासंसिष्टचनिश्चयव्यङ्गनीयावधारणाना
पुलकितेत्यत्र तथाविधविरोधस्य च व्यङ्ग्यताया दुरपह्लवत्वात् ।

यत्तु सम्भोगस्य स्नानतटाद्यवधारणव्यङ्गनीयत्वाम्पुगमेऽनुमानप्रकारात्—पाति-
तया व्यङ्ग्यताव्यापारनैरर्थव्ययमेव माद्यारण्येन भोद्यविषयतोपपादनम्, तत् प्रकाशपञ्च-
मोत्पलासोपपदासिद्धिसाध्यमरणादेरिव स्तनतटादिमानचन्दनप्यवनादेरपि प्रमाणप्रति-
पन्नताविरहेणाप्रमितस्यानुमापकतानङ्गीकारेण व्याप्तिपरामर्शोऽज्ञाने अनपेक्ष्य, प्रतिभा-
मागद्योत्पत्ताया अनुभवसिद्धत्वेन च न किञ्चित् । इतरथा 'उक्त निश्चल । इत्यादावपि
नित्पन्वत्वेनाश्रस्तताया अनुमेयत्वस्यैवापत्तेरिति निपुणतरमालोचनीयम्' इत्याह ।

यत्र यस्मिन् काव्ये । अप्रधान व्यङ्ग्यधान्तरापेक्षया वाच्यापेक्षया च गुणीभूतम् ।
एवकारोऽवधारणे, तेन न कथमपि प्रधानमित्यर्थं । द्वितीयमुत्तम काव्यम् ।

यस्मिन् काव्ये वाच्यापेक्षया व्यङ्ग्यधान्तरापेक्षया च गुणीभूतो न तु प्रधान
व्यङ्ग्यार्थं स्वज्ञानद्वारा चमत्कारस्य जनको भवति, तद् द्वितीयमुत्तम वाक्यमित्यर्थं ।

प्रधानीभूत गुणीभूतमिति च व्यङ्ग्यस्यैव विशेषण न विरुद्धम्, वाच्य—व्यङ्ग्यधा-
न्तरूपनिरूपकभेदात् । तेन द्वितीयकाव्यलक्षणासम्बन्धेन, तस्यापरव्यङ्ग्यधाङ्गभूतव्य-

द्वीपार आगत है । और वैसे कर्म भी जो दूती को भेजने में पहले हुए थे वे सब सही लिए गए
थे, अन वे अर बाटने योग्य रह ही नहीं गए, हम लिए और सब कर्मों के छत्र जाने से नायक का
दूतीसम्भोगरूप हीन कर्म ही दृश्य सिद्ध होता है, जिसमें एक अथवा रिक्त होकर नादिगा उसकी
अभय कहने लगी है' इत्यादि जो टीका ने कहा है, वह पूर्णतः स्पष्ट सुक्ति में ही सम्बन्धित है,
क्यों के चतुर तथा एतन् भादिज्ञ सम्मियों के समूह में ही वस (दूती) के साथ विषय पर सम्भोगरूप
रूपने नायक के आराध को स्पष्ट करने, यह वरम अनुचित है, अन यह भयभ्राना नादिग कि सही लिए
गए नायक के पुराने आराध ही आत नायिका के मन में निमी कारण में अनष्ट हो उठे है, जिसमें
नायिका उन अपराधों को ही दूती के सामने बोल उठी ।

इस तरह से काव्य में प्रथम भेद 'उत्तमोत्तम' का निश्चय कर चुकने के बाद अर काव्य में
द्वितीय भेद 'उत्तम' का लक्षण बतलाने है—'यत्र' इत्यादि । जिस काव्य में अर्थ अनर्थक होकर ही
चमत्कार का कारण हो, है द्वितीय 'उत्तम' नामक काव्य कहलाना है, अर्थात् उर्मी का अर्थ
वाच्यार्थ ही अपेक्षा तथा अन्य व्यङ्ग्यार्थ का अर्थ ही गीत हो—विभी भी अर्थ में मुख्य नहीं हो—
पिर भी चमत्कारजनक हो, वह 'उत्तम' काव्य है ।

उत्पत्ताक्य में 'अप्रधान होकर ही' इस आधारण-निर्णय का निवेश क्यों किया गया हमका यह
दिखाते हैं—'वाच्यापेक्षया' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि यदि उक्त आभरण नहीं करेंगे, न

चमत्कारकारणमिति निवेशस्य प्रयोजन प्रतिपादयति—

लीनव्यङ्ग्य-वाच्यचित्रानिप्रसङ्गवारणाय चमत्कारेत्यादि ।

ङ्ग्यस्य, ध्वनिस्वमुत्तमोत्तमत्वमेव, न तूत्तमत्वम्, व्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्यात् ।

एवञ्चोदस्य निवेशाभावे यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानं सच्चमत्कारकारणं तद् द्वितीयमित्येव लक्षणं स्यात् । तथा मति— अयं स रसनोत्कर्षो रीनस्ननविमर्दनं । नाम्भूत्स्वजनस्पर्शा मीवोविससनं कर ॥ इत्यादिध्वपराङ्गव्यगथोदाहरणेषु शृङ्गाररूपव्यगथस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्येऽपि प्रधानीभूतव्यङ्ग्यचकरणरसापेक्षया प्राधान्यात्लक्षणसमन्वयेनातिव्याप्तिः स्यात् । एवञ्चोदस्य निवेशे तु तस्य सर्वथाप्राधान्यं विवक्षितमिति शृङ्गारव्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्यात्लक्षणसंगमनाभावात्प्रतिव्याप्तिः ।

न चात्र वाच्यस्यैव शृङ्गारापेक्षया द्योकोत्कर्षकतया प्राधान्यादेवकारनिवेशेऽप्यतिव्याप्तिः स्यादेवेति वाच्यम व्यङ्ग्यरसापेक्षया वाच्यवस्तुन प्राधान्यं निबध्नतश्चमत्कारोत्कर्षस्य मद्भावे प्रमाणाभावात्, प्रदीपोद्घोतयो शृङ्गारस्यैव करणोत्कर्षकताऽभिधानाच्च वाच्यापेक्षया शृङ्गारस्यैव प्राधान्यात् ।

शृङ्गारपदन्तत्र शृङ्गाररसस्याभिभावरतिपरम्, रसस्यापरिच्छिन्नात्मकतया पराङ्गत्वामम्भवान् । प्रधानीभूतकरणरममादाय ध्वनित्वम्, गुणीभूत शृङ्गारस्यापिरतिमादायचापराङ्गव्यङ्ग्यरूपगुणीभूतत्वं चेत्याकलनीयम् ।

लीनव्यङ्ग्यमस्फुटव्यङ्ग्यं गुणीभूतव्यगथस्य काव्यतृतीयभेदस्य प्रभेदः । वाच्यचित्रमयांल्लूरोपन्तुनमविवक्षितव्यङ्ग्यं चित्राख्यं चतुर्थमधमकाव्यम् । नत्र व्याप्यस्य सर्वथाऽप्राधान्यात् द्वितीयकाव्यनभणानिव्याप्तिः स्यादतश्चमत्कारकारणमिति निवेशिनम् ।

‘व्यङ्ग्यं प्रधानं होवर चमत्कारज्जक हो’ यही लक्षणं होगा, और एसा लक्षण होने पर वहाँ का व्यङ्ग्य वाच्य अर्थ में प्रधान और मुख्य व्यङ्ग्य के गौण होगा, वहाँ उक्त लक्षण का अनिव्याप्ति हो जायगी, जैसे ‘अयं स रसनोत्कर्षो, रीनस्ननविमर्दनं । नाम्भूत्स्वजनस्पर्शा, मीवोविससनं कर ॥’ इन अवरोधव्यङ्ग्य नायक मध्यम काव्य के उदाहरण में (जहाँ शृङ्गार तथा कर्ण दोनों रस व्यङ्ग्य हैं, परन्तु आन्वनन नायक की शृङ्गा ही जने में कर्ण मुख्य और शृङ्गार लक्ष्यभा गौण है) वाच्य में प्रधान होने पर भी शृङ्गार रूप व्यङ्ग्य कर्ण से भी गौण है, जब उक्त लक्षण के संपादन हो जाने से वह उल्लेख उत्तम (द्वितीय भेद) काव्य कर्णत्वे लगेगा । जब ‘अवधारण’ का निवेश किया गया है । निवेश करने पर तौष नहीं हुआ, क्योंकि वन निवेश में वह व्यङ्ग्य मिश्रलक्षण है कि जो व्यङ्ग्य विमो से प्रधान न हो—मध्य में गौण ही है, और वहाँ का शृङ्गार कर्ण में गौण होने पर भी वाच्य से प्रधान है । इन प्रकार में शृङ्गार प्रधान कर्ण पर से रति तथा रोक्य स्थयीमान ममज्ञाना चाहिये अन्यथा रसों के निदान दृष्टि में अपरिच्छिन्न पूर्ण घनानन्दस्वरूप माने जाने के कारण वनमें गौणप्रधानभाव अमान होगा ।

अब लक्षणगत व्यङ्ग्य में जो चमत्कार का कारण हो’ ऐसा विशेषण दिया गया है, वनका प्रयोजन करने है—‘लीनव्यङ्ग्य’ इत्यादि । वाच्यचित्र काव्यों में व्यङ्ग्य लीन रहना है अर्थात् वाच्य वनकाव्य आदि के चमत्कार में वनका चमत्कार तिरोहित हो जाता है, पल्लव व्यङ्ग्य में चमत्कार नहीं रहता, मन् वन काव्यों में वह लक्षण नहीं आता है, जब चमत्कार कारण नहीं करने पर लक्षण वनमें भी बना जायगा हमल्लि ‘चमत्कार कारण’ करते हैं । कुछ लोग वहाँ की मूल पंक्ति में लीन

द्वितीय काव्यमुदाहरति—

उदाहरणम्—

वेदेहीविरहसन्नाप वनवासिनो रामचन्द्रस्य कश्चिद् वनंपति—

'राघवविह्वला-मन्तापितमहाशैलनिचरेषु ।

शिशिरे मृक्षशयाना कपय कुप्यन्ति पवनतनयम् ॥' इति ।

इदं पुनश्चिन्तनीयम्—पर्यायोक्तापनदृष्टकालेषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारिताया नवदमिमताया मञ्जावेनाव्यङ्ग्यस्वरूपाया अविवक्षितव्यङ्ग्यत्वसंज्ञाया वा चित्रताया उत्पन्नत्वात् । तथाहि—'चत्रामिषातप्रसमाश्रयं, चकार यो राहुमधु-जनस्य । आनिङ्गनोहामविलासवन्धु, रतोत्सव कुम्भमनात्रयेपम् ॥' इत्यादौ पर्यायोक्ताशहरणे राहुशिरश्छेदनात्मनो व्यङ्ग्यस्य यद्यविवक्षितत्वम्, तर्हि न गुणीभूत-व्यङ्ग्यत्वम्, अथवा यदि विवक्षितत्वम्, तदा कुतश्चित्रता, व्यङ्ग्यस्य विवक्षिता-विवक्षितत्वयोर्विरोधेन गुणीभूतव्यङ्ग्य-चित्रत्वयोरपि विरुद्धत्वात् । इत्यथ सर्वा-लङ्कारिसम्भन्तत्वमपि चिन्त्यमेव, ध्वनिकार-सम्मट-श्लोपकृदाद्यसम्भन्तत्वादिति सहृदयैरालोचनीयम् ।

राघवस्य श्रीरामचन्द्रस्य यो विरहो वेदेहीविरोग, तस्य वल्लेरिवान्तर्बहिर्बाह-कत्वाद् या ज्वाला कीलस्ताप इति यावत्, तथा सन्तापिनेषुधमयीकृतेषु, सहास्य-सदाव्यवाशिलात्परसस्य, सिद्धरेषु शृणुषु, शिशिरे सीतती, मुख वल्गाद्यमावेऽप्यसीत-क्लेसा यथा स्यात्, तथा शयाना स्वपन्त, कपय सुप्रीवस्य वानरा, पवनतनयाय (वेदेहीकुशलवातासूचनेन रामस्य सन्नाप समितवने) हनुमते, कुप्यन्ति पुनश्चीतबाधा सम्भावयन्तस्तमुद्दिश्य क्रुध्यन्तीत्यर्थं । इह रघुनाथमुप्रीवयोरतिवल्लभ कपीनामपि सर्वदा हिनकर हनुमन्त प्रति तेषामाकस्मिको बाध्यभूत कोपोऽप्यथाऽनुपपन्न इति तदुपपादकाकाक्षायामनामत्या जानकीकुशलसूचनविहितरामविरहसन्तापापनोद-नात्मा व्यङ्ग्यार्थ एव पुर परिस्फुरन्नङ्गता भ्रजश्चपि, यथा दीर्घायेण दासोभावमा-पन्नाऽपि राजमहिषी काञ्चन विलक्षणा नैसर्गिकी सुपमाभाववृत्ति, तथैव कश्चिद् विलक्षण चमत्कार करोतीति व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽपि चमत्कारिनोत्कर्षेण द्वितीय-काव्योदाहरणत्वमेतस्य ।

चित्रान्तपटिन गुणीभूतव्यस्य काव्य का छद्म नहीं घट मनेगा, यदि कोई कहे कि वन अट्टार-प्रधान काव्यों में चित्रत्व इष्ट है तब तो वही गुणीभूतव्यस्य काव्य का छद्म न घटे दही उचिन है अर्थात् चित्रकाव्य गुणीभूतव्यस्य भी हो यह आवश्यक नहीं है, इसका उत्तर यह है कि वन अट्टार-प्रधान काव्यों में चित्रत्व तथा गुणीभूतव्यस्य दोनों ही इष्ट है, अर्थात् अट्टारिकों में वन अट्टार-प्रधान काव्यों को श्रेणी (चित्र तथा गुणीभूतव्यस्य) ही माना है ।

द्वितीय काव्यभेद उत्तम का उदाहरण देते हैं—'राघव' इत्यादि । रामचन्द्र के विरह की ज्वालाओं से (यहाँ ज्वला की एक से विरह में बहिरूपता व्यक्त होती है) उस वनाये गये सदा नामक पर्वत के शिखरों पर, शीत शत्रु के समय में, सुखपूर्वक सोने वाले बन्दर पवनतनय-हनुमान् पर ऋणित होते हैं—कोष करते हैं ।

तदाह—

अत्र जानकीकुशलवेदनेन राघवः शिशिरीकृत इति व्यङ्ग्यमाकास्मिक-
कपिकर्तृकहनुमद्रूपयककोपोपपादकतया गुणोभूतमपि, दुर्देवगतो दास्यमनु-
भवद्राजकलत्रमिव कामपि कमनीयतामावहति ।

‘तल्पगताऽपि च सुतनु’ इत्यादिप्रागुक्तप्रथमकाव्योदाहरण द्वितीयकाव्योदाहरण-
पतामाद्यद्वय समावधाति—

नन्वेव प्रागुक्तमाक्षेपगत मान्द्यमपि नववधूप्रकृतिविरोधादनुपपद्यमान
व्यङ्ग्येनैवोपपाद्यत इति कथमुत्तमोत्तमता तस्येति चेत्, न, यतो हनुमदिनसरयु-
पदेशादिभिरनतिचमत्कारिभिरप्युपपद्यमान मान्द्यमिदं प्रथमचित्तचुम्बिनी
विप्रनम्भरतिमप्रकाशयन्न प्रभवति स्वातन्त्र्येण परनिर्वृतिचवणागोचरता-
माधातुम् ।

शिशिरीकृत धीतलीकृत ।

प्राक् उत्तमोत्तमकाव्यतृतीयोदाहरणे ‘तल्पगताऽपि च सुतनु’ इत्यादी । व्यत्येनैव
विप्रनम्भरतिरूपशृंगारस्याभिभावेनैव, न तु वाच्यादिना । उपपाद्यते मङ्गलीक्रियते ।
मनुदिन प्रत्यहं च सखीनामुपदेश केनिकत्तासु वामतापरिदशायां शिक्षा, स आदि-
यैषा, ते इदावच सततसाक्षिण्य-अचुरपरिचयप्रभृतय, तै । इवमाक्षेपगत मान्द्यम् ।
प्रथमचित्तचुम्बिनी प्रायेव बुद्धिगोचरीभवन्तीम् । स्वातन्त्र्येण स्वरूप (मन्दत्व)
मात्रेण । परनिर्वृते परमानन्दस्य, या वर्णनाऽऽस्वाद, तस्या गोचरता विषयताम् ।
माधातु बोधुम् ।

इत एव का व्यंश्य अर्थ यह है कि ‘हनुमान् ने जानकी की कुशलपता सुनाकर रामचन्द्र को
झोतल बना दिया, अर्थात् हनुमान् के मुख से सीता की सकुशल छ्वा में रहने की खबर सुनकर
रामचन्द्र का विद्योप-शान्त हो गया’ और वाच्य-अर्थ है ‘हनुमान् पर बन्दरों का सहसा होने
वाला श्लेष’ । इन दोनों (व्यंश्य तथा वाच्य) अर्थों में अन्त-अन्ती (दोष-बोधक) भाव है, अर्थात्
व्यंश्य है बोधक और वाच्य है बोध्य, क्योंकि जो हनुमान् रामचन्द्र तथा सुधीर दोनों का इतनापाप
था—स्नेहभ्रान्तन या और बन्दरों का भी प्रिय-हितचिन्तक वं उसी पर कम्मान् बन्दर मय मूढ़ हो
गठे, यह वाच्य अर्थ तब तक समझ प्रतीत नहीं होता, जब तक उक्त व्यंश्य अर्थ न समझ लिया जाय
अर्थात् अब हम ‘हनुमान् ने राम के विरहाप को शान्त कर दिया, जिससे विरह-ज्वल-नाश मन्त्र-
शिक्षा, झोतल हो गये और सीता के मारे बन्दरों के सुख-अपन में बाधा पड़ने लगी’ इस व्यंश्य अर्थ
को समझ लेते हैं, तब हनुमान् पर बन्दरों का श्लेष सफल लैपज है । इस तरह ४ उक्त व्यंश्य अर्थ,
वाच्य-अर्थ के साक्ष्य होने के कारण यद्यपि गौण — गया तथापि बिना प्रवार दुःखट वा नारी हुई
झोई राजागना, किसी की दासी बनकर रहने पर भी, अपने सहज-मौन्द्य को नहीं छेड़ती अर्थात्
उस दशा में भी बमकी सुन्दरता सलजनी हो है, उसी प्रकार हम व्यंश्य में भी (गौण होने से फल-
स्वरूप) विलक्षण अमत्वार परिलक्षित होता है । अब ‘जहाँ व्यंश्य गौण होकर चमत्कार-जनक हो’
इस लक्षण का समन्वय, उक्त वच में, स्वयं स्पष्ट है ।

‘तल्पगताऽपि च सुतनु’ इत्यादि पूर्वोक्त प्रथम-काव्य (उत्तमोत्तम) के उदाहरण में ‘वह भी
द्वितीय (उत्तम) काव्य का ही उदाहरण क्यों नहीं ? बल्कि नहीं होना उचित है’ इस शङ्का का
अधान कर सन्देह करे है—‘अन्वेषणम्’ इत्यादि । तात्पर्य यह है कि जैसे ‘उपन-विरह-जाल’

यथा प्रकृते वाच्यस्य हनुमदुपरि कपिकोपस्यान्यथाऽसम्भवादनुपपन्नस्य हनुमता सीताकुशलनिवेदनेन रामस्य शीतलीकरण व्यङ्ग्य कपिसुखमुत्पिब्याधातादुपपादक वाच्याङ्गीभूय काव्यमिदमुत्तमकक्षातोऽपकर्षति तथैव तल्लगनाऽपि च मुतनु इत्यादी पूर्वोक्त उत्तमोत्तमकाव्यतृतीयोदाहरण वाच्यस्य प्रियकराक्षपमाद्यस्य नवोद वधुस्वभावविस्फुटकीदन्यथाऽनुपपन्नस्य व्यज्यमाना विप्रलम्भशृङ्गारस्थायिनी रतिरूप-पादिकाऽङ्गीभवतीति कथं तत्राप्युत्तमोत्तमत्वम् वैषम्ये बीजाभावादिति न वाच्यम उत्तमोत्तमत्वस्य जागरूकत्वान् । तथाहि प्रकृते तद्व्यङ्ग्यमन्तरेण किमप्यर्थात्तर वाच्यस्योपपादक गोपलच्छु दक्षयते । तल्पगताऽपि च इत्यादी त्वाक्षपमाद्य वाच्य यथा व्यङ्ग्या विप्रलम्भरति तथैव प्रात्यहिकसखीशिक्षाप्रभृतिरप्युपपादयितुमहता स्यन्यथाऽनुपपत्तिरिह इत्यभिप्राय ।

यहाँ पर अन्यथा (व्यन्त-ज्ञान के बिना) अनुपपन्न होने वाला, हनुमान् के ऊपर अश्रुमान् बनने का क्रोध, (वाच्य) हनुमान् के द्वारा राम की विरह-ताप-शानि (व्यन्त) में उपपन्न किया गया है, मन यह व्यन्त गीत हो जाने से चमत्कारजनक होकर भाव-व्यङ्ग्य-व्यवहारी को उत्तमोत्तम काव्य नहीं बना सका, जैसे ही 'तल्लगनाऽपि च मुतनु' यहाँ पर भी 'प्रियकर की मन्त्र-मन्त्र-दयना रूप वाच्य, नव-वधु-स्वभाव-विस्फुट होने से अनुपपन्न है अर्थात् नवोदा का यह स्वभाव हाता है कि अपने भीतर पर धरे हुए रति-करों का रूप से हृदय देता है और यहाँ 'नवोदा मन्द-मन्द' 'वन्त का हृदय रही है' ऐसा कहा हुआ है जो उत्तमगन सा दाखता है । फिर तो रतिरूप व्यन्त से ही वह (वाच्य) उपपन्न बनाया आदया अथात् भव हम यह समझेंगे, कि—उत्त नवोदा को अब पनि से प्रीति होने लगी है और शीघ्र ही उस प्रीतिलता पर विरह के बोल गिरने वाला है, तभी नववधु का धीरे-धीरे विरह-वन्त की हृदयना सगल प्रीति होगी, हुए स्थिति में वह का विप्रलम्भ रतिरूप व्यन्त भी वाच्य अर्थ के उपपादक होने से गीत हो हुआ, मन उसे भी उत्तमोत्तम—काव्य-व्यवहार निदानक नहीं होना चाहिये अर्थात् इन दोनों स्थलों के व्यन्तों की स्थिति समान है, इच्छित्वे दोनों एक उत्तम काव्य के ही उदाहरण हो सकते हैं, उत्तमोत्तम के नहीं, यह है श्रद्धा । समाधान यह है कि आपने दोनों पदों के व्यन्तों को समानकोटिक समझ रहे हैं, वह आपका भ्रम है क्योंकि दोनों जगहों में व्यन्त एक है, देखिये—'राम-विरह-आला' यहाँ का व्यन्त देता है किनके बिना वाच्य सिद्ध हो ही नहीं सकता अर्थात् व्यन्त से भिन्न कोई बात ऐसी नहीं जो वाच्य को सिद्ध कर सके और 'तल्लगनाऽपि' यहाँ का व्यन्त देता नहीं है अर्थात् यहाँ का व्यन्त देता है निम्नमे भिन्न बात न वाच्य को सिद्ध कर सकती है, जैसे दिन दिन के सखियों के व्यन्त मन्त्र सावित्र्य, प्रभु परिषद आदि से भी प्रियकर की धार धार दयना रूप वाच्य सिद्ध हो सकता है, आर उन्को सिद्ध करन के लिये विप्रलम्भ रति की ही विशेष आवश्यकता नहीं है । फलतः यह धाराय निकला कि वाच्यमिदं का अर्थ वही व्यन्त करलाता है, जो वाच्यसिद्धि का स्वभाव धारण हो, विप्रलम्भ-रति-रूप-व्यन्त देता नहीं है, मन यह गीत नहीं हुआ फिर वह 'तल्लगनाऽपि' इस पत्र को उत्तमोत्तम काव्य को नहीं बना सकता । यदि अब कहें कि वह सस्युपदेशि से जो व्यन्त का वाच्य सिद्ध हो गया है, तब तब वाच्य से विप्रलम्भ रति व्यन्त होता है क्यों ? इसका उत्तर यह है कि मानक सदस्यों के हृदय में पहले यही बात उठ खड़ी होती है कि 'नववधु' होकर भी 'वन्त' धर धरे स्वाग-वनि रति-करों को हृदय रही है, मन्द नहीं, वह व्यन्त-विप्रलम्भरतिक प्रेम का फल है । दुम्न-विना ध्वनित फिर सस्युपदेशि से होने वाला मान्य (धीरे धीरे दयना) पर-अनन्द (किमये मन्त्र-ध में 'ब्रह्मास्वादसोदर' कहा हुआ है) के आसाद का विषय हो भी तो नहीं सकता ।

तुल्यन्यायादावष्टे—

इत्थ 'निशेषोच्युतचन्दनम्' इत्यादिपदेष्वधमत्वादीनि वाच्यानि व्यङ्ग्या-
तिरिक्तेनार्थेनापाततो निष्पन्नशरीराणि व्यञ्जकानीति न तत्रापि गुणीभाव-
शङ्कनीयः ।

अधमत्वस्य वाच्यस्योपपत्तिर्यथा व्यङ्ग्येन दुःखजनकेन दूतीसम्भोगेन विधीयते,
तथैव वाच्यार्थप्रत्ययानसरेऽपराधान्तरेणापि विद्यासु शनयत इत्यन्यथाऽनुपपत्तिर्न धुर्याद्
दूतीसम्भोगरूपप्रधानव्यङ्ग्यस्य न वाच्याङ्गत्वमिति नाव । ननु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारि-
तायास्तुल्यतया काव्यप्रथम-द्वितीयप्रकारयोर्भेद कुत स्वीक्रियत इत्याशङ्क्या
हवोति—

अनयोर्भेदयोरनपह्लवनीयचमत्कारयोरपि प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्ति
कश्चिद् महद्वयवेद्यो विशेषः ।

अधमत्व नायकस्य । व्यङ्ग्यातिरिक्तेन दूतीसम्भोगरूपव्यङ्ग्यमिन्नेनापराधान्तर-
निमित्तवानु खदातृत्वरूपेणापेक्षे । आपाततस्तत्काले, पर्यन्ते त्वन्वय तात्पर्यमिदहाद्
दूतीसम्भोगनिमित्तकदु खदातृत्वस्यैव तदुपपादकत्वात् निष्पन्नशरीराणि कृतोपपादनानि,
वाच्यार्थमत्वस्य दूतीसम्भोगातिरिक्तापरार्धरप्युपपादयितुं शक्यत्वात् गुणीभावो
व्यङ्ग्यस्य ।

अनयोर्भेदयोर्नपह्लवनीयचमत्कारयोः । भेदयोः काव्यप्रथम-द्वितीयप्रकारयोः । प्राधान्याप्राधा-
न्याभ्यामप्यङ्ग्यस्येति शेषः । विशेषो वैलक्षण्य भेदे इति यावत् ।

यद्यप्युभयोरपि भेदयोश्चमत्कारिव्यङ्ग्यसङ्गावात् तुल्यत्वमेव, किन्तुत्तमोत्तमे
व्यङ्ग्यस्य चाभ्यापेक्षया प्राधान्यम्, उत्तमे पुनरप्राधान्यमिति भेदस्य सहृदयानुभव-
साक्षिकत्वात् पृथग्भेदद्वयागीकार इत्यमिसन्धिः ।

इदं पुनरत्र विचारणीयम्—'चमत्कारोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्रधान्य-
विवक्षा' इति ध्वनिकारानुवातेन जायति, व्यङ्ग्यस्य यदीह वाच्यार्थेऽपि चमत्कारो-
त्कर्षं, तर्हि नाप्राधान्यम्, अपाप्राधान्यम्, तर्हि न चमत्कारोत्कर्षं । यदि च व्यङ्ग्यस्य
चमत्कारोत्कर्षेऽपि वाच्योपपादकतयाऽऽत्त्वमिष्यते, तदा तदगत्यमन्यकिञ्चित्करम्,
चमत्कारोत्कर्षनिबन्धनस्य शिष्टपरिपाटीसम्मतप्राधान्यस्य तथाप्यव्यङ्ग्यत्वात् । किञ्च
यत्र तुल्यचमत्काराधायकत्वेन वाच्यव्यङ्ग्ययोः समसन्दिग्धं वा प्राधान्यम्, तयोर्गुणी
भूतव्यङ्ग्यप्रकारयोर्भेदमते कुत्रान्तर्भावः ? न वाच्यार्थेऽपि शक्यते, 'बाह्यार्थातिश्रम-
त्यागो भवतामेव भूतये । जागदन्वयश्च वो मित्रगन्धया दुर्मतायते ॥' 'हरस्तु किञ्चिन्
परितुष्टधीर्मन्त्रोदयारम्भ इवाभ्युदयि । उमाभुवे विम्बफलाघरोष्ठे व्यापारयामास
विलोचनानि ॥' इत्यनयोश्चमत्कारस्यापलापानहत्वेन मध्यमकाव्यताया सर्व-
सम्मतत्वात् ।

इती तरह 'निशेषोच्युतचन्दनम्' इत्यादि पदों में भी अधमत्व प्रकृति वाच्य का सिद्धि जैन
व्यङ्ग्य दूता-संभोग से हो सकती है, वैसे ही अपराधान्तर (नायक के दूती-संभोग से भिन्न अपराध)
से हो सकती है, अतः उक्त व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्धि का एकमात्र कारण नहीं है । इसलिये न वह व्यङ्ग्य
वाच्यसिद्धि का अंग हुआ, न गौण, वह विदित करना चाहिये ।

इतरेषु उत्तमोत्तम तथा उत्तम इति दोनो काव्य-भेदों में व्यङ्ग्य चमत्कारजनक रहता है—व्यङ्ग्य

'प्रहरविरती' इत्यादावप्यव्यदीक्षित प्रतिपादित गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व निरस्थानि—
यत् चित्रमीमामाकृतोक्तम् ।

बालाप्रियस्य प्रवासनिवृत्तिकारण कश्चिद् व्याहरति—

'प्रहरविरती मध्ये वाऽह्णस्ततोऽपि परेण वा,
किमुत सकले याते वाऽह्ण प्रिय त्वमिहैष्यसि ।

इति दिनशतप्राप्य देश प्रियस्य यियामतो-

हरति गमन बालाऽऽलापै मवाप्पगतञ्जतं ॥' इति ।

हे प्रिय ! बल्लभ ! (प्रवासानन्तर पुन) त्व प्रहरस्यैकयामस्य विरती समाप्तौ ? वाऽपवा, बहो दिवसस्य, मध्ये प्रहरद्वयान्तराते ? वा यद्वा ततोऽपि मध्याह्नतोऽपि, परेण पश्चादपराह्णे तृतीयप्रहर इति यावत् ? किमुत वा किंवा मकले सम्पूर्ण, अह्ण दिने, याते विगने साय समये सति, इह मदन्तिके, एष्यस्यागमिष्यसि ? इतीत्येकहर्ष, मवाप्पगतञ्जलैर्वाप्पवन्निष्पतदधुमिश्रितं, आलापै प्रक्ष्नात्मकमापगै दिताना शनेन (नतु पञ्चैर्विने, पक्षेण, मासेन वा) प्राप्य गन्तु योग्य (दूरतर) देश जनपद, यियामत कार्यानुरोधेन गन्तुमिच्छत, प्रियस्य बल्लभस्य, गमन प्रस्थान बाला नववधुमुंघा हरति निवारयतीत्यर्थं । पृथ्वी छन्द ।

अस्मिन् एव प्रियपदस्य द्विषादानात् कथिनपदत्वम् । जलसञ्चस्य पृथक्कथनाद् बाष्प उष्णमात्रम् । अपि च क्रमेण प्रहरान्तमध्याह्ना-पराह्ण-दिनान्तमात्रस्य प्रियागमनसमयस्य, तापिक्रमा प्रथमगोचरी-करणेन व्यज्यमानम् समस्त दिनमेव परमाऽऽधि-स्त्वद्विरहे मम जीवनस्य, दिनात्पर तु त्वदनागमन नाह कथमपि जीविष्यामीति वस्तु आलापै प्रियस्य गमन बाला हरतीति पदकदम्बकाभिधीयमानस्य बालाकृतं कालाप-करणकप्रियागमननिवारणस्योपपादकतयाङ्गमिति बाष्पमिदधङ्गव्यङ्ग्यपक्षपशुणीभूतव्य-ङ्ग्यत्वमितिदीक्षितस्य कथनन्तु न युक्तम्, यतस्तत्र बाष्पवद्विपलदधुमिश्रितालापरूप बाष्पमेव गमननिवारणतक्षण व्यङ्ग्यमुपपादयितुमिच्छे न तु तदर्थं व्यङ्ग्यस्यापेक्षा । तादृग्बालापाना गमननिवारणप्रिया प्रति प्रहृष्टतमवारणत्वस्वरूपकरणस्वाभावे करणे तुरीयाऽनुपपत्तिश्च बाष्पस्यैव बाष्प्योपपादकता सायवति तस्मान्नात्र गुणीभूतव्य-ङ्ग्यत्वम्, किन्तु व्यङ्ग्यस्य पार्यन्तिवविद्यान्तिधामतया ध्वनित्वमेव ।

की चमत्कार-जनकता का अर्थ नहीं किया जा सकता, तथापि उक्तमोक्ष का व्यंग्य स्पष्ट रहता है और वचन का अर्थान अर्थात् उक्तमोक्ष का अर्थ बाष्पमिदि का अर्थ नहीं रहता और वचन का व्यंग्य बाष्पमिदि का अर्थ रहता है, इसलिये इन दोनों भेदों में एक को अपेक्ष दूसरे में कुछ विशेष अर्थ है, जिसे महद्वयदय वादों को समझ सकते हैं । दोनों भेदों को एक ही क्यों नहीं मान लिया जाए इस उक्त का अर्थ नहीं है । नतीजा कि दो भेदों का अर्थ है ।

चित्र-मीमांसाकार अप्यव्यदीक्षित द्वारा दिये गये गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण का उद्धरण करते हैं—'यत्' इत्यादि । चित्र-मीमांसाकार ने जो कहा है ।

कोई नवीदा ना पनि, किमी दूर देश में जाने के लिये उत्सुक था, यात्रा का सब तैयारी कर चुका था, परन्तु गया नहीं, क्यों ? इसका कारण किमी ने बतलाया है—'प्रहरविरती' इत्यादि । प्रिय ! क्या तुम एक पहर के बाद थोटे आँसूने या दोपहर में अथवा उसके भी बाद ! क्या सम्भव

तदाह—

अत्र सकलमह परमावधिस्तत्र परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमीति व्यङ्ग्य प्रियगमननिवारणरूपवाच्यसिद्धयङ्गमती गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति, तत्र, सबाष्पनलज्जलानां 'प्रहरविरता'वित्याद्यालापानामेव प्रियगमननिवारणरूपवाच्यमिदं यद्गतं व्यङ्ग्यस्य गुणीभावाभावात् । 'आलापं'रिति तृतीयया प्रकृत्यर्थस्य हरणक्रियाकरणताया स्फुट प्रतिपत्तेः ।

पुनरावच्छेप समाधत्त—

न च व्यङ्ग्यस्यापि वाच्यसिद्धयङ्गताऽत्र सम्भवतीति तथोक्तमिति वाच्यम्, 'तिशरोपश्रुतचन्द्रमम्' इत्यादाविवाचमत्वरूपवाच्यसिद्धयङ्गताया दृतीसम्भोगादौ सम्भवाद् गुणीभावापत्तेः ।

गुणीभावोऽप्राधान्यम् । प्रकृत्यर्थस्यालापपदवाच्यस्य ।

पूर्वोक्तिलिखितवाच्यव्यङ्ग्ययोर्मध्ये प्रियगमनहरणरूपवाच्यसिद्धयङ्गताया वाच्य एव विनिगमनाहेतुं करणतृतीयैवेति पृथक् तदुपन्यासो बोध्या ।

व्यङ्ग्यं तत्र—पर प्राणान् धारयितुं न शक्नोमीत्यस्य । अपिनाऽनापक्यो वाच्यार्थं समुच्चीयते ।

दिन बीत जाने पर ही लीटोवे ? गरम-गरम आँसू-सहित इन बूझों से बाछा (नवीन) जहाँ सैकड़ों दिनों में पटुषा का मन्वेना, उस देश में जाने के लिये उद्यत अपने प्रेमी के गगन का धारण कर रही है ।

इस श्लोक में नगोडा नायिका अपने प्रेमी ने एक पहर के बाद, दो पहर में, अगला में अथवा शाम तक आने की बात पूछी है और उसके बाद में आने की बात नहीं पूछी—अर्थात् बछ, परसो, तरमों, भाभोगे, ऐसा प्रश्न नहीं करती जिनसे 'सात दिन पूर्ण अवधि है, हमके बाद तैरे निरह में मैं न जी सऊँगी' वह व्यङ्ग्य होता है । परन्तु यह व्यङ्ग्य प्रेमा के गमन का निवारणरूप वाच्य की सिद्धि में अद्भूत है अर्थात् प्रेमी का गमन तभी रूक सकता है, जब वह पद जान ले कि 'यह मेरी नगोडा प्रेयसा मेरा अनुपस्थिति में एक दिन के बाद न जी सकेगी । इस तरह से वह व्यङ्ग्य वाच्य सिद्धि के अङ्ग हो जाने से शीघ्र है और नमत्पारा यी, अतः वह गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य का उदाहरण है । परन्तु यह चिन्मीमाभाकार का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उष्ण-अधुधारा-मिश्रित 'म्या तुम एक पहर के बाद लौट जाओगे' इत्यादि अंके से ही प्रियगमन-निवारण रूप वाच्य उत्पन्न हो जाता है इनके लिये व्यङ्ग्य की कोई अपेक्षा नहीं है—अर्थात् व्यङ्ग्य अवगत होने पर ही वह वाच्य उपपन्न होगा प्रेमी बात नहीं है, 'आलापे'—'आलापों' से यहाँ धारण अर्थ में उल्टीया हुई है और कारण वहा कहलवा है जो क्रिया का प्रकृत्यर्थ साधक हो, अतः वह सिद्ध हुआ कि उक्त आलाप ही निवारण क्रिया को सिद्ध करने का है । जो उक्त व्यङ्ग्य शीघ्र नहीं है, फिर वह पद गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण कैसे हो सकता है ? यह वो अनि (उत्तमोऽम) काव्य का ही उदाहरण है—क्योंकि उक्त व्यङ्ग्य बहुत ही नमत्पारा है और प्रधान भी ।

उक्त शब्दन के बाद दीक्षित-मत्त को स्थिर करने वाली एक और नवीन युक्ति का उदाहरण कर पुनः उलटन करने हैं—'न च' इत्यादि । यदि आप कहें कि 'प्रहरविरता' यहाँ 'आलापों से' इस उल्टीपानन वद के वाच्यार्थ से यद्यपि गमननिवारण' रूप वाच्य की सिद्धि होती है, तथापि उक्त व्यङ्ग्य

ननु नायिकात्यास्तादृशात्तापा नायकस्य गमनोत्तर विदेशे चिरस्थितेनिवारकत्वे-
नापि कृत्वा भवितुं शक्नुवन्तीति पूर्वोक्तवाच्योपपादनसामर्थ्यामिह व्यग्यस्यैव, न तु
वाच्यस्यापीति गुणीभूतव्यग्यत्वमभ्युपगत्य प्रकारान्तरेण ध्वनित्व व्यवस्थापयति—

अस्तु वा 'ततः परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमि' इति व्यङ्ग्यं य वाच्य-
सिद्धयङ्गतया गुणीभावः, तथाऽपि नायिकादेर्विभावस्य, वाग्मादेरनुभावस्य,
चिन्तावेगादेश्च सञ्चारिणः सयोगादभिव्यज्यमानेन विप्रलम्भेन ध्वनित्व को
निवारयेत् ।

गमननिवारणरूपवाच्यत्व तादृशालापरूपवाच्येनोपपत्तावपि, ततः परमित्यादि-
व्यङ्ग्यस्यापि वाच्योपपादनत्वसम्भवाद् वाच्यसिद्धयङ्गतया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमस्य
काव्यस्य न दुर्लभमिति न युक्तम्, यत एव सति, 'निश्चयेनोपपत्तवन्दनम्' इत्यादावपि
नायिकाधमत्वरूपवाच्यस्य निश्चयेनोपपत्तवन्दनव्यवहारिरूपवाच्येनोपपत्तावपि दूती-
सम्भोगत्पव्यङ्ग्यस्यादि तदुपपादकत्वसम्भवाद् वाच्यसिद्धयङ्गतया गुणीभूतव्यग्यत्व
भवतोऽप्यनभिमतमापद्येत । तस्माद् वाच्येनोपपत्ती, व्यङ्ग्यस्योपपादकत्वसम्भवेऽपि
न गुणीभाव इति भावः ।

अस्तु वेत्यभ्युपगमार्थस्य गुणीभाव इत्यनेन सम्बन्धः । तथाऽपि तादृशसलक्ष्यक-
व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽपि । ध्वनित्व काव्यस्येति शेषः ।

यद्यपि वस्तुलक्षण व्यङ्ग्यमिह गुणीभवति, तथाऽपि विप्रलम्भशृङ्गाररसरूपव्य-
ङ्ग्यस्य प्राधान्येन काव्यस्य ध्वनित्व सेरस्यत्येवेत्याशयः ।

नागेशमहास्तु—'आन्तरालिकव्यङ्ग्यमादायैव ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्यादिव्यवहा-
रस्योपपद्यमानतया विप्रलम्भेन ध्वनित्व को निवारयेत्' इति चिन्त्यम्, अन्यथा 'घाम-
तरणम्' इत्यादिगुणीभूतव्यङ्ग्यधीयप्रकाशाद्युक्तोदाहरणानामप्यसङ्गत्यापत्ती व्याकुली-
स्यात् । तत्रापि व्यङ्ग्यसङ्केतमङ्गनं, वाच्यमुखपालिन्यातिशयरूपानुभावमुखेनैव

से भी तो उस वाच्य की सिद्धि ही सकती है, अन एव हमने उस व्यर्थ को गुणीभूत कहा है, तो वह
शुक्ति भी आपकी संगत नहीं है क्योंकि वाच्य सिद्धि की समताभाव रखने पर यदि व्यर्थ गुणीभूत
हो जाय तो 'निश्चयेनोपपत्तवन्दनम्' इत्यादि वच में भी 'दूतीसम्भोग' रूप व्यर्थ गुणीभूत हो जायगा,
क्योंकि वह व्यर्थ भी नायक की अधभङ्गास्य वाच्य की सिद्ध करने की योग्यता रखता है, और उन
दूतीसम्भोग को गुणीभूत मानना ही आपको भी इष्ट नहीं है, अन ऐसा मानना चाहिए कि वाच्य
से यदि वाच्य की सिद्धि हो जाती हो तब व्यर्थ से हमकी सिद्धि की सम्भावना रहने पर (व्यर्थ)
को गुणीभूत नहीं समझा जाय ।

उक्त वस्तुव्यर्थ को गुणीभूत मान लेने पर भी 'प्रहरितौ' इत्यादि वच को मुख्य विप्रलम्भ-
शृङ्गाररूप व्यर्थ को अनुसार ध्वनिकत्व का ही उदाहरण मानना समुचित है, वही बात अब कहने
है—'अस्तु वा' इत्यादि । तात्पर्य है कि यदि व्यर्थ कहें कि नायिका ने 'एक पहर बाद आभोगे'
इत्यादि अमृतिमित्र आटाप तो 'विदेश में अधिक दिनों तक नहीं उधरना' इस बात को सिद्ध करने
भी चरित्रार्थ हो लकते है, फिर उन आटापों में 'सर्वथा जाने का निवारण' रूप अर्थ को सिद्ध करने
का सामर्थ्य नहीं है, वह सामर्थ्य यदि है तो 'उमके बाद मैं न जी सकूँगी' इस व्यर्थ में हा, अतः
यह व्यर्थ गुणीभूत अवश्य है । इस पर पण्डितराज कहने है—अच्छ, उक्त व्यर्थ को वाच्यसिद्धि का
बहू बनाकर गौण समझिये किन्तु नायक प्रभृति विभाव, अश्रु आदि अनुभाव तथा चिन्तावेग आदि

अथ तृतीयप्रकार मध्यमकाव्य लक्षणम्—

यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तृतीयम् ।

मध्यम काव्यमुदाहरति—

यथा यमुनावर्णने—‘तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृत-जलघिजठरप्रविष्ट-हिम-गिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्या मखी’ इति ।

विप्रलम्भाभासपोषणम्, न केवलेन सङ्कोचमङ्गल, तस्याकर्तव्यत्वबुद्ध्याऽपि सम्भवात्, इतीह व्याजह ।

न हि सर्वत्र पार्यन्तिकेनैव व्यंग्येन ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वव्यपदेश, किन्त्वान्तरालिकेनापि स । इतरथा ‘ग्रामतरुणम्’ इत्यादौ पार्यन्तिकव्यंग्ये शृङ्गाररसाभासे जाग्रति, ध्वनिस्वैरानिवायंतयाऽऽन्तरालिक वस्तुरूपव्यङ्ग्यमादाय विहित आलङ्कारिकपरम्पराया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वविद्वान्तो नितरा व्याकुप्येत । तस्मादपि पण्डितराजस्य प्रौढिवाद् एवेति तदभिप्राय ।

व्यङ्ग्यचमत्कारस्याधिकरणेष्वर्तमानो व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरण । तत्र च वाच्यचमत्कारे व्यङ्ग्यचमत्कारस्यास्फुटत्वात् ।

यत्र काव्ये व्यङ्ग्यप्रतीतिजन्यचमत्कारो लेशतः प्रादुर्भवन्नपि वाच्यप्रतीतिजन्यचमत्कारस्य सर्वतोमुखीनस्यान्तनिर्माणं स्पष्टतयाऽनुभवगोचरता नाचामति, तत् तृतीय मध्यम काव्यमित्यर्थ ।

इह व्यङ्ग्यचमत्कारस्य सर्वथाऽमदभावस्तु नाभिधेय, तथा सति वाच्यचमत्कारस्याप्यसम्भव इत्यनुपपत्तेरिव स्फुटीकरिष्यति मूलकृत ।

तनय (हिमालयस्य) सुतभ्राता मीनाकस्तन्नामा शील, तस्य (इन्द्रमिया

सचारीभाषों के सवोग से व्यक्त होने वाले ‘विप्रलम्भ-शृङ्गार के कारण जो ध्वनिवाच्यता इस पद्य में प्राप्त होती है, उसको हीन रोक सकता है । वस्तुतः यहाँ दीक्षित-मत के रण्डन करने में पण्डितराज जगन्नाथ का दुःप्रामह ही झलकता है । क्योंकि सर्वत्र चरम व्यंग्य के आधार पर ही ‘ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यंग्य’ काव्य को व्यवस्था हो, आन्तरालिक (बीच के) व्यंग्य के आधार पर नहीं, ऐसा नियम आलङ्कारिकों से आदत नहीं है, अन्यथा (तादृश नियम का आदर करते वर) ‘ग्रामतरुणम्’ इत्यादि पद्य में भी चरम शृङ्गाररसाभास रूप व्यंग्य के आधार पर ध्वनि-वाच्यता ही हो जायगी, फिर तो ‘सर्वेतरुण’ रूप बीच के व्यंग्य को आधार मान कर उक्त पद्य को गुणीभूतव्यंग्य काव्य का उदाहरण मानना आलङ्कारिकों का असङ्गत ही हो जायगा । इस दृष्टिकोण से देखने पर ‘इसके बाद मैं न जी सकूँगी’ इस आन्तरालिक व्यंग्य को आधार मानकर-‘प्रहरविरतौ’ इत्यादि श्लोक को गुणीभूतव्यंग्य काव्य का उदाहरण मानना दोषित का अनुचित नहा प्रतीत होता है ।

अब काव्य के तृतीय भेद ‘मध्यम’ का लक्षण करते हैं—‘व्यङ्ग्य’ इत्यादि । जहाँ वाच्य अर्थ का चमत्कार व्यंग्य अर्थ के चमत्कार के अधिकरण में न रहे—अर्थात् जिस काव्य में व्यंग्य अर्थ-चमत्कार लघु अंश में रहकर भी व्यापक वाच्य अर्थ के चमत्कार में अन्तर्भूत हो जाने से स्पष्टता अन्तर्भूत न हो, वह ‘मध्यम’ नामक काव्य कहलाता है ।

मध्यम काव्य का उदाहरण देते हैं—‘यथा यमुना वर्णने’ इत्यादि । (यह यमुना) उस गङ्गा की सखी है, जो मानो, अपने पुत्र मीनाक को सोजने के लिये लम्बी की हुई तथा समुद्र के उदर में पैठी हुई हिमालय पर्वत की मुजा है ।

तदाह—

अत्रोत्प्रेक्षा वाच्येव चमत्कृतिहेतु । श्वेत्य-पातालतलचुम्बिवादीना चम-
त्कारो लेशतया सन्नप्युत्प्रेक्षाचमत्कृतिजठरनिलीनो नागरिकेतरनायिकाकल्पित-
काश्मीरद्रवाङ्गरागनिगीर्णो निजाङ्गगौरिमेव प्रतीयते ।

नमुदान्तर्लिनस्य) गदेषणायान्वेषणाय, लम्बीकृताऽऽप्यतीकृता, जलधे समुद्रस्य, जठर
उदरे प्रविष्टा, हिमयिरेहमाचनस्य, मुजा बाहुरिवाचरतीनि तस्या, भगवत्या
परमेश्वर्या, मागीरया गङ्गाया, मखो सहचरी यमुनेत्यर्थं ।

अत्र श्वेतायतपूरप्रवाहा गङ्गा हिमालयस्य मुजेव, समुद्रपूरे निमग्नस्य तनयस्य
मैनाकस्यान्वेषणाय प्रविष्टेति सद्गताचाराशंकक्यड सत्त्वादुपक्रम उपमाया, पर्यवस्राने
तु सम्भावनाया प्रतीनेरपमोपक्रमोत्प्रेक्षा वाच्येव चमत्कारस्य कारणम् । गङ्गाया
स्वच्छता—पातालपर्यन्तानुधावनप्रभृति व्यस्य तु पञ्चान प्रतीतिपदधोभवतरदपि ताव-
न्नेव चमत्कार कर्तुं प्रभवति, यावान् वाच्यधमत्कारबुद्धावेव निक्षिप्तो भवति, न
त्वधिक पूयक् प्रतीयत, यथा स्वभावगौराङ्गघाज्जनायिकया कल्पितस्य कारमीर-
द्रवेणाङ्गरागस्य प्रभया तस्या अङ्गाना गौरता तिरोधीयते ।

ततश्चात्र व्ययचमत्कारस्य वाच्यचमत्कारे निलीनताऽऽप्युत्त्वाद् व्ययचमत्कारा-
सामानाधिकरण्या वाच्यचमत्कारस्येति तृतीयप्रकारत्वमित्याशय ।

एवकार श्वेत्यादिव्यस्य व्यबिचिनति । चमत्कृतिहेतुत्व ज्ञानद्वारकम् । मैनाकस्य
समुदान्त—पातालद्वारस्वतया पातालतलचुम्बित्वप्रतीति । मन्नपीति कथनेनात्र भेदे
व्ययचमत्कारासङ्गावनिषेणाभाव पुष्यते । नायिकाया नागरिकेतरत्वेन प्रसाधनान-
मिश्रता भूष्यते । काश्मीर तम्प्रति 'नेसर' इति प्रसिद्ध गन्धद्वयम् । इवो रस । यथा
प्रसाधनानमिश्रया ग्राभ्यनायिकया स्वत सुधमाजतकमपि श्वकीयागगीरख कल्पितेन
पीतगरकारमीरागरागेणाच्छादित मीव मुख्यतया सुधमा जनयति, तथा प्रकृतोवाहुरणे
व्ययमानतया यत्किञ्चिच्चमत्कारजनकोऽपि मागीरयोश्वेतिमादिश्चमत्कारकतम-
वाच्योत्प्रेक्षाचमत्कारेणाच्छादित प्राधम्य नादधातीति वाच्यतृतीयप्रभेदत्वनेवैतस्येति
तात्पर्यम् ।

यहाँ मन्त्र में 'क्यड्' प्रत्यय से और निम्न में 'मानो' पद से वाच्य होने वाली उत्प्रेक्षा
(अलङ्कार) ही चमत्कार का कारण है । यहाँ उत्प्रेक्षा शुद्ध नहीं अपितु उपनोपक्रमोत्प्रेक्षा है, यह
ममज्ञाना चाहेष क्योकि 'क्यड्' प्रत्यय मनुष्य आचार अर्थ में व्याकरण म अनुश्रुति है, अत्र आरम्भ
में उमा का प्रतीति होती है, परन्तु अन्त में सम्भावना का ही प्रतीति स्थिर रहती है । यद्यपि इस
गद्यांश में, गद्य में का गई हिमालय—मुजोत्प्रेक्षा से गङ्गा का 'श्वेत्य' और 'पुत्र' मैनाक को खोने
के लिये मनुष्य के उदर में पैदा हुई' इस लक्ष्य में यदा वा 'पाताल' के वह तल पहुँचना व्यस्य होने
है, तो किसी अर्थ में चमत्कारजनक भी है ही, तथापि व चमत्कार वाच्य उत्प्रेक्षा के चमत्कार के
भीन्दे छिपा हुआ है, जैसे किन्ना शान्य नायिका का गौरता, वेसररस के रूप के भीतर छिप जाती
है । कहने का आराध यह है कि वाच्य उत्प्रेक्षा की प्रतीति में होने वाला चमत्कार स्पष्ट है—दोष है,
और उसके सामने एक व्यस्य की प्रतीति से ढोटे होने वाला चमत्कार अस्पष्ट है—दोष है, अतः
यह मध्यम वाच्य का उदाहरण ठीक है ।

सर्वथा व्यङ्ग्यपासद्भावनिवेद्याभाषावदोजमुपपादयति—

न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यो मनागनामृष्टप्रतीयमान एव स्वतो रमणीयतामाघात् प्रभवति ।

नन्वतद्धारप्रधानानि काव्यान्त्येतेषु प्रभेदेषु क्वान्तर्मवन्तीत्याकाङ्क्षायामभि-
दधानि—

अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाजागरूकगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः प्रविष्ट
निखिलमन्द्धारप्रधान काव्यम् ।

अथ चतुर्थ प्रकार काव्यस्य सक्षमति—

यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं, तदधर्म चतुर्थम् ।

मनागीपत् । अनामृष्टप्रतीकानोऽप्रमृष्टव्यस्यो व्यस्यसम्बन्धसूच्य इति यावत् ।
व्यङ्ग्यसम्बन्धेनैव वाच्यस्य चमत्कृतिता सर्वथा तदभावे तु रमणीयताविरहात्
काव्यत्वमव न स्यादतो यत्किञ्चिद्व्यङ्ग्यसम्बन्ध आवश्यक । अत एव व्यस्यमञ्जावो
न निवेशित इति भावः ।

एवमशब्द प्रथमचतुर्थप्रकारव्यवच्छेदक । जागरूको रायविरह—इत्यादाविव
चमत्कारविशेषोपाधमकतया चर्चणागोचरो गुणीभूतो वाच्यार्थोपपादरत्वेनाप्रधानीभूतो
व्यस्यो यत्र, तथाऽजागरूक 'तनयर्मनाक—' इत्यादाविव चमत्कारविशेषोपाधमकतया
चर्चणागोचरो गुणीभूतो वाच्यार्थोपपादरत्वेनाप्रधानीभूतो व्यस्यो यत्रेति च बहुवीहि ।
दूतमन्द्धारप्रधानरितया प्रधान यत्र नदत्तद्धारप्रधानम् । अतद्धारप्रधानमन्द्धारप्र
मन्दनंयुद्धनुरोधान् ।

इदमुच्यते—समासोत्तिप्रभृतिवद्धारेषु व्यस्यस्य गुणीभावेऽपि चमत्कारितया
तत्प्रधानकाव्यस्य द्वितीयभेदेऽतर्भावः । दीपकादिज्वलद्धारेषूपमाऽदिव्यव्यस्यस्य तु
तद्धारवात् तत्प्रधानकाव्यस्य तृतीयभेदेऽतर्भावः । इत्यमलद्धारप्रधान मकतमपि
काव्यमुक्तमेवद्वय एवान्तर्मवति ।

शब्दार्थयोश्चमत्कृतिजनकत्वमन्द्धारनिमित्तक प्रतीतिद्वारक च । उपस्कारो
गुणाधानम् । अत एवाङ्गता शब्दचमत्कृतावर्थचमत्कृते ।

इमं मध्यम नामक काव्य के तृतीय भेद में व्यस्य का सर्वथा न रहना अभीष्ट नहीं है, क्योंकि
कोई भी वाच्य अर्थ देना है हा नहीं, जो प्रोश भी व्यस्य अर्थ के साथ बिना मन्बन्ध रूप स्वयं
चमत्कार की पैदा कर गये—अर्थात् वाच्य अर्थ को अचलवाणी होने के लिये यह निदान आवश्यक
है अर्थात् मन्बन्ध किसी व्यस्य में रहे । फिर यदि इन तृतीय भेद में व्यस्य का सर्वथा न रहना हो
अभीष्ट मान लिया जाय, तब तो असम्भव ही हो जाएगा—एक ही लक्ष्य नहीं मिलेगा ।

अलद्धार प्रधान काव्यों का अन्तर्भाव किम भेद में होगा । इमं विशासा कीं शान्ति करने हैं—
'अनयोरेव' इत्यादि । इन दोनों (द्वितीय तथा तृतीय) हा भेदों में व्यस्य यद्यपि गुणीभूत रहना
है, तथापि एक (द्वितीय) में, व्यस्य, जागरूक—अर्थात् चमत्कार—विशेषजनक होने में अन्तर्भव योग्य
रहना है, और (तृतीय) में व्यस्य, चमत्कार—विशेषजनक नहीं होने से अनुभव के बसोध्य । अतः
सामान्योक्ति प्रमृति जिन अर्थात्लद्धारों में व्यस्य गौण होकर जो चमत्कारी हैं उन अलद्धारों में युक्त
काव्यों का द्वितीय भेद में और दीपक आदि जिन अर्थात्लद्धारों में व्यस्य गौण तो ही है, माय—माय
चमत्कारी भी नहीं हैं, उन अलद्धारों से युक्त काव्यों का तृतीय भेद में अन्तर्भाव समझना चाहिए ।

चतुर्थं काव्यमुदाहरति—

यथा—

मत्त कश्चिद् भगवन्त स्तौति—

'मित्रात्रिपुत्रनेत्राय त्रयीज्ञानवशत्रवे ।

गोत्रारिगोत्रजत्राय गोत्रात्रे ते नमो नमः ॥' इति ।

तदाह—

अत्रायचमत्कृति शब्दचमत्कृती लीना ।

यत्र हि वाच्यार्थप्रतीतिजन्यचमत्कारपोषितस्य शब्दप्रतीतिजन्यचमत्कारस्य गद्यात्म्यम न तु कथञ्चित् मतोऽप्ययोग्यन्यासाविवक्षितस्य व्यवस्य तदधम नाम चतुर्थं काव्यमित्यर्थं ।

मित्र सूर्योऽत्रिपुत्रश्चन्द्रश्च नेत्रे यस्य तस्मै, नव्या ऋग्यजुस्सामवेदानां शात्रवस्यापहारकतया रिपोर्हृदयप्रोवदस्यस्य शत्रवे नाशकाय गोत्राणां पर्वतानां पक्षच्छेदनादरे-रिन्द्रस्यगोत्रजान् वश्यान् देवास्त्रायत रक्षतीति तथाभूताय, गो पृथिव्या गवा धेनूना वा प्रात्रे रक्षकाय ते विष्णवे नमो नमोऽस्त्विति विष्णुगणेशेभ्यं । शिवपक्षे तु नव्या ध्वसनाच्छात्रवाणामसुराणाम यद्वा नव्या विज्ञानप्रतिबन्धनाच्छात्रवस्य कामदेवस्य शत्रवे, गोशुंभस्य प्रात्रे ते शिवायेति विग्रहः ।

गया च सूर्यचन्द्रमती बिगज पुरुषस्य दक्षिणधामे चक्षुषी इति प्रमिद्धि । 'मित्र सुहृदि न द्वयो । पुमि सूर्ये गात्र गीने गात्र कुलाह्वयो' इति मेदिनी । 'स्त्रियानृकमामयजुषी इति वेदास्त्रयस्यपी इत्यमरः । 'गौ स्वर्गं वृषभे रश्मी वज्र शीतकरे पुमान् । अर्जुनीनेनदिव्याण—भूवागादियु योषिति ॥ इति विश्वश्च ।

इह वृत्त्यनुप्रासात्मकगण्डालङ्कारप्रयोज्यभ्रमत्कार एव कविसरम्भयोचरतया प्रधानम् । वाच्यार्थप्रतीतिजन्मा भ्रमवद्विषयक-चकृनिष्ठ-रतिभावादिव्यवप्रतीति-जन्मा वा लैगत सन्नपि चमत्कारोऽप्युपटत्वास्तीनोऽङ्गतामेव भ्रजनीति निर्वाधरचद संकाव्यलक्षणसमन्वयः ।

अत्र काव्य के चतुर्थ प्रकार 'अभ्र' का उदाहरण देते हैं—'वाच्यार्थचमत्' इत्यादि किमि काव्य में वाच्य अर्थ के चमत्कार में परिपोषित होकर शब्द का चमत्कार प्रधान हो 'अभ्र' 'अभ्रमकाव्य' कहते हैं । इस काव्य में जो कुछ न कुछ व्यर्थ अर्थ रहता है परन्तु वह शब्द या चमत्कारजनक न होने से अविच्छिन्न रहता है अतः उमका प्रधानता नहीं रहती—येम समान नहि ।

चतुर्थ 'अभ्र' काव्य का उदाहरण देते हैं—'यथा मित्रात्रि' इत्यादि कोटि अन्तःप्रधानों की मूर्ति बताते हैं—मित्र-सूर्य और अत्रिपुत्र-चन्द्र निन्दे नेत्र हैं, त्रयी-वनों के प्रात्रे (प्रदो) के को शत्रु है तथा गोत्र-दर्वे के अत्रि-शत्रु (इन्द्र) के गोत्रों-वदरों (वेदाओं के) अत्रि-चक्र हैं अतः गोत्राणां (गोपाल) अथवा वृषभवाहन (शिव) आशुतोष बार-बार नमस्कृत हैं ।

दहां शून्यनुप्रासस्य गण्डालङ्कार का चमत्कार ही प्रधान है क्योंकि कवि का मुख्य प्रयत्न यही अर्थ में हुआ है, यह शब्द अत्रा से स्पष्ट प्रतीत होता है । अर्थ का चमत्कार अथवा भ्रमवद्विषय विषयक भ्रमरूप अर्थ का चमत्कार अत्रा से स्पष्ट ही तपानि वह शब्द के चमत्कार में छिपे हुए है ।

न्यायप्राप्तस्य काव्यपञ्चमप्रकारनिरूपणस्याकरणान्बुद्धतामापाद्यति—

यद्यपि यत्रार्थचमत्कृतिसामान्यशून्या शब्दचमत्कृतिस्तत् पञ्चममधमाधम-
मपि काव्यविद्यामु गणयितुमुचितम् । यथैकाक्षर-पद्यार्थावृत्तियमक-पद्य-
बन्धादि ।

तथादद्याति—

तथाऽपि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दतारूप-काव्यसामान्यलक्षणानाक्रान्त-
तया वस्तुतः काव्यत्वाभावेन, महाकविभिः प्राचीनपरम्परामनुरुन्धानैस्तत्र तत्र
काव्येषु निबद्धमपि नास्माभिर्गणितम्, वस्तुस्थितेरेवानुगोच्यत्वात् ।

काव्यस्य विद्या प्रकार । एकाक्षरानुप्रासो यथा—‘दाददो दुदुहादी दादादो
दूददीददो । दुहाद वददे दुदुदे ददाददददोद्वद ॥’ इति । समुद्रापरनामक पद्यार्था-
वृत्तियमक यथा— अयशोऽभिदुरानोके कोपघा मरणावृते । अयशोभिदुरालोके कोपघा
मरणावृते ॥ इति । पद्यबन्धो यथा— मारयासुपमा चारुचा मारत्वपुत्तमा । मात्त-
धूर्ततमावासा सा नामा मेऽस्तु मारया ॥’ इति । भाविपदेन द्व्यक्षराद्यनुप्रासमहा-
यमकापरारुपपद्यावृत्तियमक चक्र-खड्ग-मुरज-हार-नाग-शक्ति-गोमूत्रिका-मवंतोम-
श्रवणादीनि दुष्करशब्दर शिवेयानि गृह्यन्ते ।

मिथानीत्यादिपद्येष्वर्थचमत्कारोऽरुज्जुटोऽप्यस्त्येव । यत्र पुत्रेकाक्षरानुप्रासादिशा-
लिपद्येषु काममर्षचमत्कारो नास्त्येव, किन्तु केवल शब्दचमत्कार स्फुरति, तादृशा-
नामपि बहूना काव्यानामुपलम्भाच्छब्दचमत्कृतिमात्रवान् पञ्चमोऽपि काव्यप्रकार
कुतो नात्र ह्यपिप्राय ।

अथ नाव — एकाक्षरादिचित्रेऽर्थचमत्कारस्व सर्वंवाज्जुपलम्भाद् रमणीयार्थ-
प्रतिपादकशब्दस्वरूप बहुक्तकाव्यसामान्यलक्षणमेव यदा न समन्वेति, तर्हि तेषु मन्मते
वास्तविक काव्यत्वमेव नास्तीति कुतस्तत्प्रकारत्वेन तेषा गणना स्यात् । ना वा तद-
गणने प्रबन्धस्य शून्यता स्यात् ।

ननु माघादि महाकविभिश्चिन्तितानुपलब्धादिमहाकाव्येषु सन्निवेशितानामेकाक्षरादि-
चित्राणां कथं काव्यत्वमिति चेत्, सत्यम्, नास्त्येव तेषु वास्तविक काव्यत्वम्, रमणी-
यार्थप्रतिपादकशब्दस्वरूपत्वात् । त्वस्तु यतानुगतिकतयैव प्राचीनाना महाकवीनां
परम्पराया अनुरोधेन तथा विहितम्, न तु वस्तुतत्त्वविवेकेन । तद्विदेकपुरस्सर प्रवर्त-
मानं रस्माभिस्तु तानरूपक्षारजलन्यायेन तदुपेक्षितमेव, असद्विषये महाजनानुसरण-
स्यानीचित्यात् ।

यद्यपि किञ्चिद् कान्यं च अर्थे का चमत्कार विलग्न नही हो और शब्द का चमत्कार हो जैसे
एकाक्षरपद्य, अर्थावृत्तियमक, पद्यबन्ध आदि, उस काव्य के पाचवां भेद ‘अधमाधम’ को भी गणना
काव्य, प्रभेदों में करनी चाहिए ।

किन्तु ‘एकाक्षरपद्य’ आदि रचनाओं में जब अर्थकृत चमत्कार विलग्न नही रहना, तब तो वे
शब्द रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाले नहीं हुए, फिर तो मेरे हिसाब से उन शब्दों में काव्य
का सामान्य लक्षण ही संपटित नहीं होता, अतः काव्यप्रभेदों में उनकी गणना करने की बात सर्वथा
अमङ्गल है । यद्यपि महाकवियों (माघ आदि) ने प्राचीन परिषदी के अनुरोध से अपने नाव्यों में

माम्दादिसम्मत काव्यस्य त्रिप्रकारस्वभाव निराकर्तुमुपक्रमते—

केचिदिमानपि चतुरो भेदानगणयन्त उत्तममध्यमाद्यमभावेन त्रिविधमेव काव्यमाचक्षते ।

निराकरोति—

तत्रायचित्र-शब्दचित्रयोरविशेषेण। घमत्वमयुक्त वक्तुम्, तारतम्यस्य स्फुटमुपलब्धे ।

तदाह्वारह शास्त्रिण — 'संबंधार्थरहितसंश्लेषमात्रे घमत्वमतिर्वाहकतया दुष्कराद्यसंश्लेषनिर्वाहशोषविच्छिष्टवाक्यायंघोषजनकस्यैकाक्षरादिचित्रत्व कथञ्चिदपि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्यौदासीन्याच्चमत्कृतिविशेषजनकत्वेऽपि काव्यत्व नाङ्गीक्रियते । इति ।

वदन्तु—न एकाक्षरादिचित्रेषु संबंधार्थरहितत्वम् चमत्कृतिराहित्य वा, अनुभवविरोधात्, तच्छुभ्रूपया प्रेक्षावत्प्रकृत्यनुपपत्तेश्च । आधिक एव घमत्कार काव्यत्वप्रयोजको न तु शाब्दिक इति स्वमियुक्तोक्त-चित्रोदाहरणेष्वध्याप्तिमुपेक्षमाणेन प्राचीनस्थितिलङ्घनैकवदन भवतैव केवल व्याह्रियते, न तु केनाप्यन्येन । कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्यौदासीन्य तु 'मम घम्मिन्न ' इत्यादावपि तुल्यमेव । एव तत्पर्यंघमत्कारस्य निष्कर्षोऽपि प्राचीनकविपरम्पराश्रुतम निष्कृष्टकाव्यत्वमेकाक्षरादिचित्रेषु निर्वाच्यमेवेति विद्य ।

केचित् काव्यप्रकाशकारप्रभृतय प्राचीनाचार्या, इवानिहोलातनासीन्, ननु काव्यस्य भेदान् प्रकारानपि, अगणयन्तोऽमन्वाना उत्तमत्वेन मध्यमत्वेनाद्यमत्वेन च त्रिविध त्रिप्रकारकमेव, न तु चतुष्प्रकारक काव्यमाचक्षते कथयन्तीत्यर्थ । तामानु-त्लेखेन तन्मतस्यैव सूच्यते ।

अर्थात्कारमुक्तमविवक्षितव्यस्य ह्यर्थचिन्तम्, शब्दात्कारमुक्तमविवक्षितव्यस्य ह्यप्यु-शब्दचित्रम्, तयोरविशेषेण तुल्यतया, अघमत्व निष्कृष्टकाव्यत्व वक्तुमुपयुक्तम्, तार-तम्यस्य तपोन्यूनाधिकभावस्य, स्फुट स्पष्टम्, उपतब्धेरनुमवादित्यर्थ ।

अर्थचित्रेऽधिकघमत्कारस्य शब्दचित्रे च न्यूनघमत्कारस्य स्पष्टमनुभूयमानत्वान काव्यप्रकाशकारादिसम्मतमुभयो साम्यमयुक्तमित्याशय ।

इह तरतमयोर्भावस्तारतम्यमित्यनुकरणे तरतमशब्दान् ध्वज् । अन्यथा केवल-प्रत्ययपरताया साधुत्व दुर्पटम् ।

अथ तदा एव तरह की रचनाएँ की ह, तथापि हमने उस तरह का काव्य-भेद इंगित नहीं माना कि वास्तविकता का ही अनुरोध करना उचित है न कि अन्तररम्या का ।

उक्त मन्त्र काव्य के ये चार भेद नहीं मानने । वे—उत्तम, मध्यम तथा अधम—तीन प्रकार के ही काव्य मानन हैं ।

उदने सन्ध्य में पश्चितरा मय कथन है कि जब चित्र (अर्थात्-हृदयों में युक्त अविदित अर्थ काव्य, जो प्रकृत अर्थ के हिसाब से उदात्त भेद में आता है) और शब्द चित्र (शब्दात्-हृदयों से युक्त अविदित अर्थ काव्य, जो इस अर्थ के अनुसार चतुर्थ भेद में समाहित होता है) दोनों को एक सा-अधम ही कहना समुचित नहीं, क्योंकि उन दोनों में तारतम्य-न्यूनधिक भाव स्पष्ट अभि-
६ २० १०

पूर्वोक्तामदुस्तिमुपपादयन्—

का ह्येव महदव मन् विनिगन मानदमात्ममन्दिरान्, 'स च्छिन्नमूल
क्षतजेन रेणु' इत्यादिभि काव्य 'स्वच्छन्दोच्छन्द—' इत्यादीना पामरश्ला-
घ्यानामविशेष ब्रूयान् । गत्यपि त्वात्तस्ये यद्यन्भेदत्वे वस्तुहि ध्वनिगणीभूत-
व्यङ्ग्ययोरीपदन्तर्याविभिन्नभेदत्वे दुराग्रह ।

मन्त्रपश्रुत्य यदच्छयाऽपि यम । ससम्भ्रम द्रष्टुपावितागता निर्मीलिताक्षीष
मियाऽमरावती ॥ इति प्रथमस्य तस्योपरिष्ठात पवनावधूत । अङ्गारशेषस्य
हृतादानस्य पूर्वोत्थिता धूम इवावभासे ॥ इति द्वितीयस्य अच्छच्छुपुरच्छाते-
तराम्बुच्छा—मूर्च्छंमोहमक्षिपिहवहितस्नानाङ्गिकाऽङ्गाय व । मियादुधदुदारददुर-
दरीदीर्घादिरिद्रुम-त्रोहोद्रकमहोमिमेदुरमदा मदाकिनो मन्दताम ॥ इति तृतीयस्य च
पद्यस्य शेषात् । प्रथम पञ्चममटटेन द्वितीयमध्यम्यबोधितेन चापचिबोदाहरणतयोप-
न्यस्ताम तृतीयतु मन्त्रेण गदचिबोदाहरणतयेत्यवमेयम् ।

आद्योदरपेक्षाऽप्यालङ्कारस्यैव समत्कारितया व्यङ्ग्यस्य लेखत सतोऽपि-
चमत्कारानुपधानादपचिपत्वमिति सम्प्रदायविद् ।

प्रदीपकारास्तु— विनिगनय इत्यादी ह्यप्रभावप्रभावातिशयतक्षणव्यङ्ग्यस्य जागरू-
कतया विवक्षणादपचित्रत्व व्यपस्य 'मध्ये व्योम स्फुरति मुमतोश्चन्वन दापचक्र
मन्दानिन्माविपुलजुनिनाम्पाणती राजहस । अह्लच्छेदे त्वरितपरपन्मासमावाश-
तदम्या समपन्त्या श्रवणपतित पुण्डरीक मुषाम् ॥ इति रूपकप्राधुयशालिनित्वकी-
यपद्य तद् व्यवस्थापयाम्यत्र ।

होता है अर्थात् अर्थचित्र में अधिक चमत्कार का और शब्दचित्र में वस्ती अपेक्षा कम चमत्कार का
अनुभव होगा है फिर दोनों को एक कोटि में समीक्ष कर स्थान अनुचित है ।

कौन देना होगा जो महदव टीकर—

विनिर्गत मानदमानमन्दिराङ्कवस्तुश्रुत्य यदच्छयाऽपि यम् ।

ससम्भ्रमेन्द्रुतानिगार्ग्ये निर्मीलिताक्षीष मियाऽमरावती ॥

तथा

॥ च्छिन्नमूल क्षतजेन रणुम्योपरिष्ठातपवनावधूत ।

अङ्गारशेषस्य हृतादानस्य पूर्वोत्थिता धूम इवाऽऽवभासे ॥^१

१ इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार है—मन्दे इत्यनेन
को मानदमाने का मन्त्र श्रुति के मन्त्रान को न करने का विनिगन का स्वच्छन्दोच्छन्द
मी (न कि अत्रमन्त्र करने के लिये) मन्दे मन्त्र से च्छिन्ना मन्त्र
श्रवण ने गिराई गई है अर्थात् (कीट) मन्त्र से मी अमरावती (देव-पुरी) माने मय मे नेत्र
मूर्ध टा है ।

२ यह पद्य सुद्ध-वर्णन में प्रसन्न का है । इसका अर्थ इस प्रकार है—मैत्र-सम्भ्रम ॥ जो पृष्ठ
लनी उमका मन्त्र श्रुति के बाद ही अर्थात् श्रुति से भरा आर्द्र हो गई मन्त्रे भूतल से मन्त्र
व्यथा हुई श्रुति का लोका टा गया, पर अर्थात् मन्त्रे पृष्ठ उकती ही रही । (उप अत्रथा में) यह पृष्ठ
एमी श्रुति होती थी माना जाय के देवउ अत्रारे शेष रह यह है उससे ही पहले निकल मुक्त का
वह धर्मो उपर टा रहा है ।

ननु यत्र शब्दे शब्दचमत्तु निरयचमत्तुनिश्च महैव विष्ठान्, तस्यातिरिक्तप्रकारत्वं स्यादिति चेत् न तयोश्चमत्तुत्यो सामानाधिकरण्यापि सूक्ष्मेक्षिकया क्वचिदेकस्या प्राधान्यमपरस्या अप्राधान्यं नञ्चितं स्यादेव । ततश्च पूर्वोक्तलक्षणानुसारमयचमत्तुतेः सूक्ष्मेक्षि प्राधान्ये मध्यमकाव्यत्वम् शब्दचमत्तुते प्राधान्येष्वमकाव्यत्व व्यपदेश्य-मित्याह—

यत्र च शब्दायचम कृत्योरैकाधिकरण्यात् तत्र तयोर्गुणप्रधानभाव पर्या-
लोच्य यथानक्षण व्यवहनव्यम् ।

एव तत्तारतम्याभिज्ञानया । काव्यापेक्षाक्यापरिपक्वबुद्धिशीली तस्यात्पादवृत्तौ वा महदय भाहारदिमात्रनिपुणोऽप्यो ग्राम्यजनस्तु पामर । अविशेषमवैतलस्य तुल्यत्वमिति यावत् ।

इदमाकृतम्— अयमेव हि भेदा भेदहेतुर्वा यदिदृष्टधर्माध्याय कारणभेदश्च इत्यभियुक्तौकोत्पन्नविजातोयचमत्कारवधया विदृष्टधर्मायासाद् विभिन्नयोरपि, शब्दायचित्रयायद्यकप्रकारत्वं स्वीक्रियन् तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्याप्राधान्यमात्रात्पहेतु-
कभेदभाजोप्यनेगुणीमूनस्य ह्यनय च काव्ययोविभिन्नप्रकारत्वं कुतोऽङ्गीक्रियते, तयो-
प्येकप्रकारत्वंमूरीकियताम् ।

एकाधिकरण्य मयानाधिकरणत्वम् ।

इत्यादि वाक्यो के साथ—

स्युत्पन्नोच्छ्रितश्चद्वन्द्वस्योत्पन्नानुच्छ्रित
सूक्ष्मोहमहर्षिर्हर्षविहितमनादिकाऽद्याय च
भिरादुपदुशरदुर्दरा दाषाऽपिद्रुम
दोहोदकनदीनिन्दुरनग मन्दाकिनी मन्दापार ॥

इत्यादि वाक्यो का केवल निम्न भेद के अन्वय अन दिनकी प्रयत्ना करत हैं, साथ कर सकता है । और तारतम्य के रहने पर भी यदि दोनों को एक भेद में निम्न आव, पर दिनमें बहुत ही कम (व्याप्य की प्रधानता और अध्याय का हा) प्रत्यक्ष है, जब 'अनि' तथा 'गुणीभूतव्यप' को अलग अलग भेद में गिनने का दुराग्रह क्यों ? अतः वाक्य के चार भेद मानना ही सुनिश्चय है ।

द्विज लक्ष्य में शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार दोनों साथ साथ हों, वह क्या वाक्य का एक अतिरिक्त (प्रथम) भेद होगा ? नहीं तो उनका समावेश द्विज भेद में होगा ? इसका उत्तर देने हैं—'यत्र च' इत्यादि । अर्थात् यह है कि यदि किसी वाक्य में शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार एक साथ रहता, तब वहाँ विचार में क्या चमत्कार होगा अर्थात् यदि शब्द का चमत्कार प्रथम होगा तो धर्म्य अथम वाक्य में और यदि अर्थ का चमत्कार प्रथम होगा तो वृत्ति अथम वाक्य में समावेश किया जायगा । अतिरिक्त वाक्यभेद मानने का आवश्यकता नहीं है ।

१ यह शब्द का वर्ण है । इसका अर्थ हम चमत्कार है—वही शब्द आकाश मन्त्र-अङ्ग को शान्त करे, जो प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष के अर्थों में अन्त-दुःख-तपिर-अन्त, स्वयन्त्यापूवक उच्छ्रित हुए, और स्वच्छ उच्छ्रित का परमता में एक ही रह है मोह-अज्ञान निम्न में अन भवतिग, ह्यपूर्वक निम्न में स्तान तथा दैतिक मन्त्र (मध्यवन्त्र) करत हैं और जो (शब्द) दाव करने का, विच्छ्रित नद्यों काःअवाम स्तानभूत मन्त्राओं में युक्त हैं और बह-बड़े त्यों के दह (निम्न) में अधिक-
शक्तिशीली मन्त्रात् एक ही द्विज (शब्द) का अर्थ अर्थ है ।

ननु यत्र सूक्ष्मेक्षिकायामपि द्वयोरर्थ-शब्दचमत्कृत्योस्तुल्यमेव, (न त्वेकस्या-
कस्याश्चिन्वूनमपिक वा) प्राधान्य स्यात्, तत्र का यतिगित्वाकाहक्षायामाद्यपि-
समप्राधान्ये तु मध्यमतैव ।

चमत्कृतिद्वयतुल्यप्राधान्यमुदाहरति—

यथा—

रुविरुदित मानुमन्त वगंयति—

‘उल्लासः फुल्लमञ्जूरुहपटलपत-मन्त्रपुष्पन्धयाना,
निस्तार शोकदावानलविकलहृदा कोकसीमन्तिनीनाम् ।

उत्पातस्तामसानामुपहतमहसा चक्षुषा पक्षपात,
सङ्घात कोऽपि धाम्नामयमुदयगिप्रान्तत. प्रादुरासीत् ॥’

मध्यमता प्राहुक्तकाव्यतृतीयप्रकारस्त्वम्, व्यङ्ग्यचमत्कृत्यसमानाधिकरणवाच्य-
चमत्कृतैरुपलम्भान् । शब्दचमत्कृतिप्राधान्यम्य तूपलम्भेऽप्यविरोधित्वम् ।

फुल्लाना विकसिताना, पङ्केरूहाणा कमलाना, पटलान् समूहात्, पटले समूहे वा
पतन्ती निस्तरन्त, पतन्त प्रत्यासीदन्तो वा, ये पुष्पन्धया भ्रमरा, तेषामुल्लासो
नैराकुण्ठसमकोरावग्नमोचकत्वात्, स्वच्छन्वमरन्वमरास्वावसानप्रीतान्पादनाद्वा
आनन्द, तद्देतुर्वा, शोक प्रियतमविप्रयोगजन्मा चित्तवृत्तिविशेष एव तापातिशयदा-
नाद् दवानलो वनवह्नि, तेन विकल स्त्रिय, हृदय मना प्रासा ता शोकदावानल-
विकलहृद तासा शोकदावानलविकलहृदाम्, कोकसीमन्तिनीना चन्द्राकववृणाम्,
आम्नासतविधानाम्निस्तारक्ष्योक्तसागरपारङ्गमन तत्सम्पादको वा, तामसाना तिमिर-
निकराणा तमस्त्वभावतया तमस्विनीसञ्चरणशीतोल्कादीना वा, उत्पातो विनाश
उच्चाटन तन्निदान वा, उपहत तिमिरावरणात् विन्दत मह-पदार्थसामंशाहक-
प्रकाशो येषा, तादृशा चक्षुषा दृशा तत्तिमिरावरणतिरोघापनात् पक्षपात साहायक
तत्कारको वा, अयमुदीक्ष्यमाण, कोऽपि दीपक-खद्योतादिविषक्षण, धाम्ना तेजसा,
सङ्घात समुदाय सूर्म, उदयगिरे पूर्वाबलस्य श्रान्तत शिखरात्, प्रादुरासीत्
प्रातरादिरभूदित्यर्थ ।

यदि छन्द-विचार कर्म पर भी प्रधानता का निर्णय न हो अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों का
समान ही प्राधान्य लक्षित हो, तब क्या होगा—यसका समावेश कहाँ किया जायगा ? इनका समाधान
करते हैं—‘समप्राधान्ये’ इत्यादि । तात्पर्य यह है कि उन स्थिति में जमकी मध्यम काव्य ही माना
जायगा, क्योंकि व्यङ्ग्य चमत्कार-रहित, वाच्य-चमत्कार नहीं उपलब्ध रहेगा और शब्द-चमत्कार
का प्रधानता रहने से भा कोई विरोध नहीं होगा ।

शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार जहाँ समान रूप से प्रधान है ऐसे उदाहरण का निर्देश करते
हैं—‘यथा, उल्लास.’ इत्यादि । ‘मवरथ’ अपने धर्मशास्त्र नामक ग्रन्थ से उद्धृष्टाच्छान्दस्वी प्रात-
वाल्कि सूर्य का वर्णन करते हैं । गिरे हुए कमलों के समूह से मिलकर हुए अथवा सिर हुए कमलों
से समूह पर गिरने हुए (रातभर मधुपान करने के कारण अथवा मधुपान की आशा से) मत, भ्रमरों
ज उन्मत्त (आतृष्टादक), शोकरूप दवानल से विकृत हृदय वाली चक्रवाकियों का निस्तार

तदेवाह—

अत्र वृत्त्यनुप्रासप्राचुर्यादोजोगुणप्रकाशकत्वाच्च, शब्दस्य, प्रसादगुणयोगा-
दनन्तरमेवाधिगतस्य रूपकस्य हेत्वलङ्कारस्य वा वाच्यस्य, चमत्कृत्योस्तुत्य-
स्कन्धत्वात् नममेव प्राधान्यम् ।

अथ रसध्वनिलक्षणाय नमासेन ध्वनिप्रकारान् निर्देष्टुमवतरणमभिदधाति—

तत्र ध्वनेरुक्तमोक्षमन्यान् ह्यधभेदस्यापि मामान्यत कैऽपि भेदा निरूप्यन्ते—

इहायमिति निर्देशयतनभूतकाले सद्बिधिश्चित्य । वैदलिकत्वाङ्गीकारेण
वोपपाद्य पकाराद्यध्वनिरामदृढावृत्ते 'अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाऽप्यनेकधा । एकस्य
सकृदप्येव वृत्त्यनुप्रास इत्येते ॥' इति दर्पणलक्षितो वृत्त्यनुप्रास शब्दात्कार पूर्वो
त्तवर्णावृत्तेर्वृत्त्यनुप्रासस्य वैशिष्ट्यात् 'आवृत्तवर्णसम्पूर्णवृत्त्यनुप्रासवद् इव' । ओज
स्यात्' इति प्राचीनलक्षित ओजोऽभिधानशब्दगुणश्च शब्द भूपयति, तयाञ्जसैव स्फुट-
तयाऽर्थापगमान् 'यस्मादन्तऽस्थिन सखं स्पष्टमयोऽवभासते । सलिलस्यैव सूक्ष्म
न इति स्मृत ॥ इति प्राचीनलक्षित प्रसादनामाऽङ्गुण, सूर्यरूपे तेजस्तद्भाते पुष्प-
न्धयोत्लागतत्वं—नोकसीमन्तिनीशोकनिस्तारत्वतामसोत्पातत्व—चक्षुःपक्षपातत्वलक्ष-
णधर्मचतुष्टयारोपात् तद्रूपकभेदोऽव उपमानोपमेययो 'माना तु पूर्ववत्' इति प्रका-
शलक्षित मालारूपकम्, उल्लासादिषमंकारणस्य तेजःपुञ्जस्योत्लासादिकाद्यैरभेदे-
दाभिधानान् 'अभेदेनामिधा हेतुरेताहेतुमता सह' इति पुनर्वर्णलक्षितो हेत्वलङ्कारो
वा वाच्यार्थं प्रसाद्यतीति शब्दस्यार्थस्य चमत्कारस्तुत्यरुक्ष एवेत्युमयो प्राधान्या-
न्मध्यमकाव्यत्वम् । शब्देऽलङ्कारगुणयोरर्थे च गुणात्कारयोश्चपन्यासेनात्र नमविपर्या-
सोऽवसैव । ताद्रूप्यारोपापेक्षया तादात्म्याच्च '२३५१ त्वाहर्त्वि' इत्याद्यालङ्कारान्त-
रोपादानस्य निदानम् । 'यत्तुल्लासादीना तत्-
रोपादानधीजप्रदर्शन टीकाकृत, तत्त्वन्तनीयम्, मत, शब्द-
प्राप्तयेव तत्कारोपाद् रूपकस्य सर्वसम्मतत्वात्, कार्यकारणयोरभेदस्याप्येव बाध-
यासादलङ्कारान्तरोपादानस्याप्यमङ्गलत्वाच्च ।

लकारादीनामप्यावृत्तेर्वृत्त्यनुप्रासस्य प्राचुर्यम् । ओजस शब्देन सह व्यञ्जयव्यञ्जक-
भावात् प्रकाशनोक्ति । तुत्यस्कन्धत्व साम्यम् । अन्यत् सुवचम् ।

तत्र तेषु शतुर्षु काव्यप्रकारेषु मध्ये, उत्तमोत्तमस्य पूर्वोक्तलक्षणस्य ध्वने ।

(विद्य-विद्वेग-मन्यादक होने से शब्द-कारणभूत-रात्रि का अन्त करके ॥ व का नाशक), अन्तार
के समूहों का जना (नाशक) और अन्तार के कारण निकले अब यह हो गए हैं उन नेत्रों का
पश्चात् (महापक्ष), यह कोई तेजपुञ्ज, उदात्त के प्रान्त-भग से प्रदुर्भूत दुःख ।

यहाँ पकारादि अक्षरों की बार-बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास की प्रचुरता है और मन्पूर्
श्लोक में उन वृत्त्यनुप्रास के वर्तमान रहने से इस पद्य की पदावली 'ओजगुण' को व्यक्त करती है,
इसलिये इस पद्य में शब्द का चमत्कार प्रधान है और प्रसाद-गुणवृत्त होने से शब्द-ध्वन के बाद
शीघ्र शांत हुए 'स्वक' अर्थात् 'हेतु' अलङ्कार-रूप वाच्य अर्थ का चमत्कार भी प्रधान ही है । अतः
इस पद्य को मध्यम काव्य बहना उचित है ।

उक्त चार प्रकार के काव्यों में 'ध्वनि' नाम का जो उत्तमोत्तम काव्य है, उसके रूप में अष्टव-

तानेव ध्वनिसामान्यभेदान् विरूपयति—

द्विविधो ध्वनि, अभिधामूलो लक्षणा मूलश्च । तत्राद्यत्रिविध —रस-वस्त्व-
लङ्कारध्वनिभेदात् । रसध्वनिरित्यसलक्ष्यक्रमोपलक्षणाद् रस भाव तदाभास-
भाव-शान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावनवरूत्वाना ग्रहणम् । द्वितीयश्च
द्विविधः—अर्थांतरसक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च ।

असङ्गभेदस्यापि विभावादिभेदानन्त्यप्रयोज्यावन्तप्रकारकत्ववद्-रसादिध्वनिघटित-
त्वात् प्रातिस्विकरूपेणागणनीयप्रकारस्यापि, सामान्यतोऽविशेषरूपेण केऽपि साधारणा,
भेदा प्रकारा, निरूप्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इत्यर्थं ।

यद्यपि रसादिध्वनिघटितत्वाद् ध्वनिप्रकारा विशेषरूपेण सङ्गघातुमगत्या इति
तद्विरूपणमद्यक्षमेव । तथापि केचन परिगणिता विवक्षितान्यपरवाच्या-विवक्षित-
वाच्यत्वादिसामान्यधर्मपुरस्कारेण भेदा इह निरूप्यन्त इति सारम् ।

अन्यत्राभिधामूलत्वेन विवक्षितान्यपरवाच्यध्वने प्रथममुपादेयत्वेऽपि सूचीकटाह-
म्यापेनोपादाननायकवास्तुलक्षणा मूलस्याविवक्षितवाच्यध्वनेरेव प्रागुपादानम् । इह त्वमि-
ध्याया लक्षणोपजीव्यत्वात्, तन्न्यायमुपेक्ष्य प्राकृतमेव क्रममनुसृत्य तदिति न विपर्यास ।
द्विविध सामान्यरूपेणेति शेष । एवमग्रेऽपि बोध्यम् । अभिधामूलत्वादेव विवक्षित-
वाच्यत्व लक्षणा मूलत्वादेव वाविवक्षितवाच्यत्वमवसेयम् । तथाहि—विवक्षितो
वाच्यताश्चछेदकरूपेणान्वयबोधविषयत्वेनापेक्षितोऽन्यपरो व्यङ्ग्योपमर्जनीमूलो
वाच्योऽर्थो यत्र, स विवक्षितान्यपरवाच्योऽभिधामूलो ध्वनि, पदार्थोपस्थित्यवसर
एवान्वयबाधे जागृकेऽविवक्षितो वाच्यत्वात्पारिरेणान्वयबोधविषयतयाऽपेक्षितो
वाच्योऽर्थो यत्र, स ^{व्यङ्ग्योपमर्जनीमूलो} लक्षणा मूलो ध्वनि । अकार ममुक्त्वपार्थक्यं ।
तत्र तयोर्व्यङ्ग्योर्मध्ये । ^{व्यङ्ग्योपमर्जनीमूलो} तत्र तयोर्व्यङ्ग्योर्मध्ये । ^{व्यङ्ग्योपमर्जनीमूलो} तत्र तयोर्व्यङ्ग्योर्मध्ये ।
ध्वनिर्वस्तुध्वनिरलङ्कारध्वनिश्च तत्र त्रिप्रकारक । रसपद रस्यन् भास्वाद्यन्त इति
श्रुत्यन्तियोगाद् रस-भाव-रसाभास भावाभास-भावशान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावन-
वरूत्वानामुपलक्षण प्रत्यायकम् ।

अन्यत्र रसध्वने पञ्चाग्निदिष्टत्वेऽपिह सर्वप्राधान्यबोधनाय पूर्वनिर्देश । द्वितीयो
लक्षणा मूलोऽविवक्षितवाच्यध्वनि । अकारस्वर्यक । पदार्थांतरान्वययोऽन्यत्वाद्यो-
त्वाभ्या वाच्यस्य विवक्षाविवक्षे बोध्ये ।

भेद है अर्थात् विभाव, अनुभाव आदि के भेद से ध्वनि-काव्य के भेद अलग हो सतन है अत एव
सब भेदों का एक-एक बर उल्लेख करना समभव है तथापि सामान्य-रूप से कुछ भेदों का बड़ा
उल्लेख किया जाता है ।

ध्वनि-काव्य के दो भेद हैं—एक अभिधामूलक और दूसरा लक्षणा मूलक । उनमें प्रथम अर्थात्
अभिधामूलक ध्वनि-काव्य में पुन तीन भेद होने हैं—रस ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और मलङ्कार ध्वनि ।
यहाँ 'रस ध्वनि' पद, अमरशब्द क्रम-ध्वनि (जिसमें व्यञ्जकज्ञान और व्यदन ज्ञान के बीच में होने
वाला क्रम (पूर्व-वधाद् भाव) उल्लिख नहीं होता) का बोधक है अत 'रस ध्वनि' वर से रस,
रसाभास, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि तथा मार शब्दलभा सब का ग्रहण करना
पारिरे स्वीकृति के मर अर्थलक्षण-क्रम-ध्वनि के अन्दर आ जाते हैं । द्वितीय अर्थात् लक्षणा मूलक ध्वनि-
काव्य के दो भेद हैं—एक अर्थांतरसक्रमित वाच्य और दूसरा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य । यहाँ यह

रसध्वने प्राधान्य शब्देन बोधयन् स्वरूपस्य निरूपणमवतारयति—

एव पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रमस्तावदभिधीयते—

प्रथममाचार्यामिनवगुणादिसम्मत रसस्वरूपमाह—

समुचित—ललित—सन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः, महदय-
हृदय प्रविष्टैः, तदायसहृदयतासहकृतेन, भावनाविशेषमहिम्ना, विग-
लितदुष्पन्नरमणास्त्रादिभिरलौकिकत्रिभावानुभावव्यभिचारिजडदृश्यपद-
शैः, शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः, चन्द्रिकादिभिरहृदीपनकारणैः,

एव—पूर्वास्तिरसध्वन्यादिभिः प्रकारैः, पञ्चात्मके पञ्चस्वरूपे ध्वनौ घटकत्वम् सप्तम्ययनया) ध्वनिघटकस्य, रसध्वने प्रथमस्य, परमरमणीयतयाऽऽनौकिकास्वादजनकत्वेन तदात्मा तस्य रसादिध्वने, आत्मा जीवनाप्रायस्त्वात् प्रधानम् रसो बध्यमाणस्वरूप, तावदादौ (सर्वम्य प्रथमम्) अभिधीयते बध्यन् इत्यर्थः ।

रसादिध्वने परमरमणीयत्व तु काव्यस्वारमा स एवायं' इतीतराश्चच्छेदायं-
मेवकारमुपनिबध्नता ध्वनिवृत्ताऽपि प्रतिपादितम् ।

समुचितो रसादिप्रतीत्यनुकूल अन एव ललितो मवीरम सन्निवेश शब्दार्थया-
गुम्फनम्, तेन चारुणा सुन्दरेण, काव्येनेकलक्षणेन कविकर्मविशेषेण, समर्पितरपस्था-
पितैः, अत एव महदयाना सञ्चनसा, (न त्वचेनसामपि) हृदय प्रविष्टैःप्रमत्कारितया
मनोरमैः, तदीया तेषा महदयसामाजिकाना सम्बन्धिनी (तन्निष्ठा) या सहृदयना
बन्धनी (रसास्वादनचातुरी) तया सहृदयेव विहितसाहाय्येन (उपोद्गतितेन)
भावनाविशेषस्य सहृदयेतरदुष्करत्वाद् विलक्षणस्य शाश्वतिकलदर्शानुसन्धानस्य,
महिम्ना प्रभावेण, विगलित प्रतीत्यविषयीभूत शकुन्तलादिनिष्ठो दुष्पन्नरमणीत्वा-
दिलौकिकोऽप्राधारणधर्मो येषा तैः, सोकोत्तर-विभावनानुभाव-व्यभिचारणव्यापार-
वलययाऽनौकिकविभावानुभाव-व्यभिचारि (भाव)रुच्यै (नामभि) व्यपदेश्यैर्व्य-
वहार्यैः, शकुन्तलादिभिः (आदिशब्दो नायिकान्तरबोधक) आलम्बनकारणैराल-
म्बनविभावाद्यैः, चन्द्रिकादिभिः (आदिना सञ्चन्दनादिग्रहणम्) हृदीपनकारणै-

विशेष ममज्ञाना चाहिये कि 'अभिप्राय' ध्वनि' को 'विवक्षितान्यतराश्च ध्वनि' और 'दृश्यगुणक-
ध्वनि' को 'अनविक्षितान्यध्वनि' भा कहन है ।

इस तरह ध्वनि-काव्य क सामान्यतः पाँच भेद हैं । उनमें 'रस-ध्वनि' सबसे अधिक रमण्य
(आस्वाद-जनक) होता है, इनमें से रस-ध्वनि को आत्मा (माररूप होने में प्रधान) को 'रस' है,
उसका निरूपण पहले करत ह ।

अब रस-निरूपण-समय में सबसे प्रथम 'ममत्त तथा अभिनवगुण' आदि विद्वाना के अभिप्राय-
स्वरूप का उल्लेख करत हैं—'समुचित' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि अपने जीवन में मनुष्य
बहुतर भावों का अनुभव करता है, वह कभी किसी से प्रेम करता है, तो कभी किमा का सँच,
कभी किमा पर क्रोध करता है, तो कभी किसी पर घृणा, कभी किसी से भय जाता है, तो कभी
किसी काम में उत्साह दिखता है, कभी किसी पर ईर्ष्या है, तो कभी किसी काम पर आश्चर्य

अश्रुपातादिभिः कार्यैः, चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च, सम्भूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण, तत्काल-निवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा, स्वप्रकाशतया वास्तवेन, निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टरामनारूपो रत्यादिरेव रसः ।

रदीपमपिमाषाख्यं अश्रुपातादिभिः (आदिपदेन कटाक्षमजक्षेपादि गृह्यते) कार्यरनुभाषाख्यं, च पुनः चिन्तादिभिः (आदिपद मज्जादिग्राहकम्) सहकारिभिर्भ्यं भिचारिमाषाख्यं (प्रतीतिगोचरीक्रियमाणं) सम्भूय विभाव्यदिभावकभावादिसम्बन्धैर्मिलित्वा, प्रादुर्भावितेनोत्पादितेन, अलौकिकेन लोकोत्तरेणाद्भुतेनेति यावत्, व्यापारेण भावकत्वापरपर्यायेण भावनाविशेषरूपेण (कारणेन) तत्काले तस्मिन् भावनाधिकरण एव समये, तत्काल वा, निर्वातितमपसारितम्, आनन्द्यागस्य चिदात्मरूपस्य, आवरणमवरोधकमज्ञान यस्य, तादृशेन (भावनाविशेषोपसारित-मन्त्रिदानन्दस्वरूपात्मज्ञानेनेति प्रमातृविशेषणम्), अत एव-भावरणरूपज्ञानापसारणादेव (यावत्प्रमेयप्रत्ययसम्भवात्) प्रमुष्टो लुप्त परिमितप्रमातृत्वादिरिम्यत्वाव (परिच्छिन्न) पदार्थज्ञातृत्वप्रभृतिनिजधर्मो जीवात्मनैतनिकधर्मो यस्य, तादृशेन, प्रमात्राज्ञा (सहृदयेन) स्वप्रकाशतया (तादृशज्ञानस्यास्याभेदेनात्मनैव प्रतिभासात्) प्रकाशान्तराप्रकाशत्वेन, वास्तवेन प्रमात्मक-प्रत्यक्षविषयतया सत्येन 'सत्यं विज्ञानं मानन्द इह' इत्यादिश्रुतेर्निजस्यात्मन स्वरूपेणानन्देन, सहाभेदेन (रसोऽहम्' इत्यादिप्रतीति) गोचरीक्रियमाणोऽनुभूयमान प्राक् पूर्वजन्मान्तरेऽज जन्मनि च विनिविष्टाऽन्तःकरणे प्रविष्टा, वासना रत्यादिविषयकसंस्कारविशेष एव रूप यस्य, तादृशो रत्यादी रत्युत्साहप्रभृतिस्तत्तद्वसस्याविभाव एव रस इत्यर्थः ।

(विस्मय) प्रकट करता है। इसी तरह कभी वह शान्ति का अनुभव भी करता है वे अनुभव तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु मनुष्य के हृदय में उनका संस्कार सदा के लिये अभिष्ट हो जाता है अर्थात् वासनारूप में वे सब भाव आसनों के हृदय में सर्वदा बसने लगते हैं। वे ही वासनारूप से मानव-हृदयों में बन्ने वाले भाव साहित्यकारत्र में रति, शोक, क्रोध, लुप्युष्णा, भीति, उत्साह, हास, विस्मय और शम इन भावों में स्थायीभाव कल्पते हैं, जो वस्तुन एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं, जिनका वर्णन विशदरूप से आगे स्वयं ग्रन्थकार करेंगे। जब वे स्थायीभाव 'सरयं विज्ञानमानन्द इह' इत्यादि वेदवाक्य को अनुसार सत्य तथा विज्ञानरूप होने से स्वयं प्रकाशमान अज्ञानानन्द के साथ अनुभूत होते हैं, तब वे (स्थायीभाव) ही 'रस' संज्ञा को प्राप्त करते हैं। उनी अवस्था में 'रसोऽहम्' ऐसी प्रतीति हुआ करती है। परन्तु उन स्थायीभावों को आत्मानन्द का साथ तबतक नहीं हो सकता, न इसके साथ उनका अनुभव हो तबतक किया जा सकता, जबतक आनन्द-स्वरूप आत्मा वे ऊपर जो अज्ञान का आवरण छाया रहता है, वह हट नहीं जाय, अतः उस आवरण को हटाने के लिये एक छद्मीक व्यापार (क्रिया) की सृष्टि की जाती है। जिस (व्यापार) का नाम है, 'भावकत्व'। जब वह छेदोत्तर व्यापार, आनन्द-स्वरूप-अवस्था को उठाने वाले उस अज्ञानावरण को हट्य देता है, तब

इदमुच्यते—स्वस्तमोक्षमिषयेन मत्वगुणोत्कर्षे श्रवणव्यवधानं इत्यनायासि
 नयदर्शनेन वा, कथ्याना केषाञ्चन सहृदयानां हृदये रत्यादे मङ्गलना-चित्रिकाप्रभृ
 तीत्यानन्वतोद्दीपनकारणानि अथुपावादानि काव्याणि चिन्तादीनि सङ्कारिकार
 णानि च, वस्तुसौन्दर्येषु चर्च्यमाणानि सहृदयतामानि निरुद्धवैधोषपरिहायिण्या
 प्रयो-प्रयोजनान्यानलक्षणविलक्षण-भावनाया बलन लौकिकसाधारण-गङ्गलानाञ्च-
 द्रव्यन्तरमणीत्वादिवर्णाणा प्रमोषेऽतीविक-साधारण-वान्नात्वादिप्रमुरस्कारण काय
 मानान्यलौकिकविभाषनादिव्यापारवत्तयाञ्चौकिकविभाषावादिप्रदवाच्यत्वं प्रतिपद्यन् ।
 तत्र परस्पर सङ्गते प्रभावाद्दौकिको भावत्वत्वापार प्रभुम् — ननु तु
 व्यापारेण, सद्य एव, यच्चिदानन्दप्रम्यारमनो दीपम्यव इवावादिगव...
 मपसारणे । अथाहानस्य विद्यतनादेव तस्य मचेनस परिच्छिन्नज्ञानुत्पत्तिजनानि
 निवृत्तवस्तुनाशदेदिम्बमादियेषा तप जीवयस्येषु चित्तयेव मम...
 त्पादिषु परमात्मस्येषु रमस्यात्मनश्च मित्यत्वाज्ञानरूपत्वादानन्दहृदयव...
 जमान्तराणामेवजम्भनश्च वामनात्ममकाररूपेण पूर्वं हृदि प्रविष्टा मोक्षकत्वापर
 पमिण रत्नमाव्यापारेण जात्वाद्भवती नीयमानो रत्यादिप्रसन्नमम्याया नाइ एव
 रसोर्षस्ति ।

अनुभवात् में ... जयपुत्र रहती है, वह कुछ पताही का हा कल्प है ... अनुभवा के मन्त्र
 पदायो का नई, वह न हो जाती है सर्वत्र मनुष्य में ... नावरत (अपुत्र-दातर क मे-भार
 सादि) रहने है, वे तुम हो जान हैं और परमस्व-धर्म-मर्त्यत्व अति ...
 अनुभवका को मात्मान के साथ रति अदि स्वयंभवे क अनुभव होने लाता है ।
 लोकोत्तर भावकत्व व्यापार को सृष्टि विभव, अनुभव नम मन्त्रीभार कर्म ...
 धन यहाँ उन भावकत्व व्यापार को सृष्ट करने का विभाव, अनुभव एव मन्त्रीभारों का परिण
 प्राप्त करना पठकों को भावकत्व प्रजात होगा, आ मन्त्र में न धर्मों का परिणत कल्या जमा है ।
 अतनान्द के साथ अनुभूत होने पर 'म' सृष्टा को मान करते वा चित्त-वृत्ति-विशेष-व्यक्त,
 'मि' अदि स्वयंभार चित्त कर्णों में उत्पन्न हान है, वे उन मन्त्रीभारों के अन्वयन कारा
 करलाने हैं, और 'मि' अपने अन्वय अन्वयन कर्णों से अन्वय वे स्वयंभार, चित्त हदान हान है, वे
 करलाने हैं उद्दीपन कारण । इसी प्रकार उन चित्तवृत्ति-विशेषात्मक स्वयंभारों के उत्पन्न होने पर
 उनके परिणामस्वरूप शरीर अदि में जो कुछ विशेष प्रकार के धर्म उत्पन्न होत है, वे करलाने हैं
 कर्म । इसी तरह उन चित्तवृत्ति विशेषात्मक स्वयंभारों के साथ हा कुछ और चित्तवृत्ति हदान
 होती हैं, जो स्वनामाकारक चित्तवृत्तियों को महापदा करने वे कारा मन्त्रात् कर लाने हैं ।
 वदरण के द्वारा वे धर्म और अन्वय तरह मनना व मन्त्री हैं । उन निम्नलिखित एक वदरण
 पर ध्यान दीजिये—शुद्धता को वेमका उनके विषय में दुष्पन के हृदय में उद्योग प्रत्य हृत्त,
 सब उन रति का वसात्क होने के मान प्रेम को वसा करने वा हुने, का वे हा म्मा तरह को
 हमारे धर्म उद्दीपनकारण हुई । इस तरह प्रेम के हृद ने जाने पर अन्वय मन्त्रात् शुद्धता दुष्पन के
 लिये हृदय हो गई, हमके विरह में दुष्पन रति लो कला वर रोन उन रति का कार्य हृत्त और
 उन प्रेम के साथ ही दुष्पन के हृदय में भी चिन्ता ने भी वद-यहा कि—अन्वय 'शुद्धता मन्त्रे
 निम्न' इत्यादि तरह की चिन्ता हम रति की महापदा करने वद हृत्त, का वह मन्त्री-कारा
 हुई । वह वदरण तो केवल अन्वय-रतिवत्क हुआ धर्म तरह कल्प अदि रमों के स्वयंभार होने

उक्तार्थस्य प्रामाणिकत्वं प्रकटयति—

तथा चाहुः—'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्यायो भावो रसः स्मृतः ।' इति ।
कारिकापटक 'व्यक्त' पदं विवृणोति—
व्यक्तो व्यक्तविषयीकृत ।

तथा चोक्तम्—

विभावेनानुभावेन व्यक्तं स्वस्वार्थेण तथा ।
रमतामेति रत्यादि स्यायीभाव सचेतसाम् ॥'
'स्वस्वोद्रेकादखण्ड—स्वप्रकाशानन्दचिन्मय ।
'वेद्यन्तरम्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर ॥'
लोकोत्तरत्वरकाराप्रमाणं वैश्वित् प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिप्रेतत्वेनायमास्वाद्यते रस ॥'
'पुष्पवन्त प्रमिष्वन्ति योमिवद्भ्रमसन्वतितम् ।
सवासमाना सम्याना रसस्यास्वादनं भवेत् ॥'
'निर्वासनान्तु रङ्गान्त—काष्ठकुड्याश्मसन्तिवा ॥' इत्यादि ।

आहुःरित्यत्र 'काव्यप्रकाशे भग्मटब्रह्म' इति शेषः । बहुवचनेन तदुक्तौ गौरवं सूच्यते ।

रसनाजन्मास्वादाभिप्रेतन्वगौचरीकृत इत्यर्थः ।

आदि के विषय में भी सम्झना चाहिए । अब उक्त रीति के लोक में जो शकुन्तला प्रभृति रति आदि के आलम्बन कारण होत हैं, नष्टिक आदि उद्दीपन कारण होते हैं, उनमें मयीयावस्था में रोमाञ्च आदि और त्रियोभावसम में अनुभाव आदि कार्य उत्पन्न होते हैं, पर हर्ष अथवा चिन्ता आदि रति के सहकारी भाव होते हैं, वे हा सब जब कहीं किस एक का वर्णन हो, वसने उपयुक्त तथा सुन्दर शब्दों के गुग्गुन से मनोहर काव्यों के द्वारा स्थापित होकर सहृदयों के हृदय में प्रविष्ट होते हैं, तब सहृदयता तथा काव्यार्थ के पुन-पुन अनुमन्थानरूप भावना के प्रभाव से, लौकिक तथा असाधारण शकुन्तलात्वं, दुष्प्रवृत्त आदि धर्म उनमें से निकल आत हैं और कान्तात्व आदि अलौकिक तथा साधारण धर्म उनमें आ जात हैं, अतः जो कारण ये वे विभाव, जो कार्य ये वे अनुभाव और जो सहकारी ये वे ज्वनिचारीभाव कहलाने लगते हैं । इन्हीं अलौकिकोत्पत्तय के लिये 'दर्शनकार' आदि आचार्यों ने काव्य - 'साधारण' शक्ति' नामक एक व्यापार माना है—'व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नान्ना साधारणशक्ति' इत्यादि । इन्हीं अलौकिक विभाव, अनुभाव तथा ज्वनिचारीभावों के द्वारा उत्पादित भावकत्व-व्यापार से अज्ञान-रूप अन्वरण के बन् होने पर पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार वासनारूप में पहले से हृदय में स्थित और 'भोजकत्व' अथवा रसना कृता 'व्यञ्जना' नामक व्यापार से आत्माप बनाया गया, रत्यादि स्वाध्याय 'रस' है ।

आचार्य भग्मट भी अपने काव्यप्रकाश में इसी बात को प्रमाणित करते हैं—'व्यक्त' इत्यादि । अर्थात् विभावादिकों से जब स्यायीभाव (रति प्रभृति) व्यक्त होता है, तब 'रस' कहलता है ।

भग्मटोक्त कारिका में विद्यमान 'व्यक्त' शब्द की व्याख्या करते हैं—'व्यक्तो व्यक्ति-विषयीकृतः' इति । 'व्यक्त होने' का अर्थ यह है कि चित् शक्ति का विषय होना—उसके द्वारा भासित होना ।

व्यक्तिरन्यत्र व्यञ्जनैव प्रसिद्धेति प्रकृतेऽपि तद्भ्रान्तेनिरासार्थमाह—
व्यक्तिश्च भग्नावरणा चिन् ।

निदर्शनप्रदर्शनेनोक्तमर्थं समर्थयति—

यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचेतन्य विभावादिसवलितान् रत्यादीन् ।

ननु 'मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्त करणभान्तरम् इति परिभाषितस्यान्त-करणस्य ये धर्मा वासनाभ्या रत्यादय न माक्षादात्मना भासिता भवन्तु ये तु घटपटादय इव विभावदयोऽन्त-करणधमनो भिन्ना बाह्या पदाद्या अन्त-करणसमीपेण परस्य रत्याऽऽत्मना भासनोया, तेषां कथं साक्षादात्ममास्यत्वमित्याजङ्गया व्याहरति—
अन्त-करणधर्माणां साभिभास्यत्वाभ्युपगते ।

चलत्पर्ये । भक्तभाववरणपज्ञान यस्यास्तादृशां शुद्धा चिच्चैतन्यमात्स्वात् इह व्यक्तित्वं तु तदात्वात्कारणीयूना रसनावृत्ति । सा हि—

सा चेय व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते पुनै ।

रमय्यत्तौ पुनवृत्ति रसनाख्या परे विदु ॥ इति ।

दर्पणोक्तेर्व्यञ्जनाप्रकारविशेष ।

हृत्वयको हि —

यथा शरावादिना मृत्पानविशेषेण पिहित आच्छादितो दीप (न प्रकाशयति पदार्थान् न वा स्वयं प्रकाशते) तस्यावरणस्य निवृत्तावपसरणं तु सन्निहितान् समीपस्थान पदार्थान् घटपटादीन्, प्रकाशयति स्वभासा लोकलाक्षणोक्षरीकराणि, स्वयं दीपश्च प्रकाशते दृग्निर्गम्यीभवति, एव तथा भास्यैव ज्ञानरूपत्वाच्चैतन्यम अज्ञानरूपस्यावरणस्य विनाशे, सन्निहितान्तर-करणवृत्तितया साभिकृष्टान् विभाव्य-विभावादिसम्बन्धविभावादिभिः सवलितान् सम्बन्धान् रत्यादिस्वापिभावान् प्रकाशयति चर्दणागोक्षरीकरोति, स्वयं च रसो वै स इत्यादिध्वन्यासदभेदेन प्रकाशन आत्स्वाद विषयीभवतीत्यर्थं ।

व्यक्तिं पद वा अर्थं अन्यत्र व्यञ्जनावृत्तिं प्रसिद्धं ह, अत्र 'वर्णं ना उम व' वा अर्थं ब्रह्मा हो- इम भ्रम के निराकरणार्थं वक्षते है—'व्यक्तिश्च भग्नावरणा चिन्' -ने भयान् व्यक्ति पद मे वर्णं वह शुद्ध आत्मादन्तरूप चैतन्य विवक्षित है वि का अज्ञानस्य अवरण दूर हो गया ह, न कि व्यञ्जनावृत्ति ।

इष्टानि दिष्टानि कर सक विषय का समर्थन करन है- यथा हि' इत्यदि । जैसे 'कण्ठे' अदि से देवा हुआ दीपक सन्निहित वस्तुओं को प्रकाशित करता करता है, न स्वयं प्रकाशित हो जाना है और वन (कण्ठे आदि) इन्तर के हट जाने पर निरुद्ध वस्तुओं को प्रकाश करना है वन स्वयं ही दृष्टिगोचर होता है, इसी तरह अज्ञानरूप-चैतन्य, ज्ञानरूप-अवरण के हट जाने पर अज्ञान-वृत्ति-रूप होने से सन्निहित तथा विभावदि से भिन्न रति आदि आदीभावों को प्रकाशित करता है—आत्माद का विषय बनाना है और स्वयं भी प्रकाशित होता है—'रसो वै स' इस धुने के अनुसार रति आदि ॥ अभिन्न होकर आत्माद का विषय होना है ।

तदेव दृष्टान्तद्वयदत्तानेन दृश्यति—

विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव, रङ्ग रजतादीनामिव, साक्षि-
भास्यत्वमविरुद्धम् ।

साक्षिभास्यत्व साक्षादात्मभास्यत्वम् । पञ्चम्यर्थेतुरगिमेव 'विरुद्ध' मित्य-
नेनान्वेति ।

वेदान्तेऽन्तःकरणधर्मा ज्ञानादय साक्षादात्मना भास्यत्वात् साक्षिभास्य,
बाह्यत्वात्तन्तःकरणधर्मा घटादिपदार्थान्स्वन्तःकरणद्वारेण पारम्परिक-
मन्व्यधेनात्मभास्या इत्यन्तःकरणभास्या मन्यन्ते । एव सति प्रकृते वासनाहपाणा
रत्यादीनामन्तःकरणधर्मत्वात् साक्षिभास्यत्वेऽ, विभावादीनामन्तःकरणद्वारेण
घटादीनामिव परस्परासम्बन्धेनात्मभास्याना साक्षादात्मभास्यत्व विरुद्धमिति न
विभावनीयम्, लोके नायिकादिपदार्था घटादय एव बाह्या अपि, वाच्ये लोकात्त-
विभावरनादिव्यापारवक्ष्याऽऽनौकिकाश्रवणोक्तसरे रत्याद्येकीभूतास्तद्वन्तःकरणधर्मता
मज्जन साक्षिभास्या भवन्तीति सङ्गते सत्त्वादित्याकूनम् ।

अपिरित्यादिममुच्चायन । स्वप्नतुरगादि स्वप्नावस्थादुष्टान्त, रङ्गरजतादिस्तु
जाग्रद्दृष्टान्त इत्युभयनिर्देश । तुरगोऽथ, रङ्ग रजत च वातू ।

यथा—स्वप्नदशाया प्रत्यक्षीक्रियमाणास्तुरपादयो बाह्यपदार्था काल्पनिका
इन्द्रियव्यापारोपरमात् साक्षादात्मनैव भास्या । यथा वा-जाग्रद्दशाया चाबुद्धिक्य-
द्योपाद् रङ्गे रजतस्य भ्रान्ती जायमानाया रजत बाह्य प्राणिभासिकमितीन्द्रियसंयोग-
सूच्य साक्षादात्मभास्य, तनैव नायिकादयोऽपि बाह्या अपि भावनावलम्बिता
साक्षादात्मभास्या इतीह न कोऽपि विरोध इति तात्पर्यम् ।

'रति आदि म्यादीभावो को आत्म—तैन्न प्रकाशित करता है' इत्यनें सुक्ति बलछाने हैं—
'अन्तःकरण' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि वेदान्त-दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण वे सभी पदार्थ मिथ्या
हैं अर्थात् नहीं हैं, मन् वेकल आत्मा (ब्रह्म) है, बाह्य घट, घट आदि पदार्थ, आत्मा के वृत्ति-रूप हैं
अर्थात् अन्तःकरणम लला के द्वारा अत्मा—रास ही घट-घट रूप में भासित होता है, और अन्त-
करण की वृत्तियां सुत्र-सुत्र आदि भा आत्मा—स्वाप्न से ही प्रकाशित होन हैं, अगर पेशल यह
होता है कि बाह्य-पदार्थों को प्रकाशित करने में आत्मा को अन्तःकरण की महावला अपेक्षित होती है
और अन्तःकरण वृत्तियों (सुत्र आदि) को प्रकाशित करने में समकी सहायता अपेक्षित नहीं होती,
तनको आत्मा स्वयं प्रकाशित करती है अन्तःकरण वृत्तियों नाधि (अत्मा) भास्य कहलाती
है । रति आदि स्थायीभाव को अन्तःकरण ने धर्म (वृत्तियां) हैं अन्तःसाक्षि-भास्य हैं—आत्मा से
प्रकाशित होने वाले हैं ।

रति आदि म्यादीभाव अन्तःकरण के धर्म होने के कारण साक्षि-भास्य हो सकते हैं परन्तु विभाव
आदि अर्थात् अनुगच्छ प्रकृति—को घट-घट के जैसे बाह्य-पदार्थ हैं—वा केवल आत्मा के द्वारा भास
जैसे होगा—साक्षिभास्य वे कैसे कहल्यमें अर्थात् उनके भास में घट आदि बाह्य पदार्थों के जैसे
आत्मा को अन्तःकरण की सहायता लेती पड़ेगी, इसका उत्तर प्रकृति देते हैं—'विभावादीनामपि'
इत्यादि । अधिकार यह है कि बोधे, रङ्ग और रजत वे सब बाह्य पदार्थ हैं—अन्तःसाक्षिभास्य कहल्यने

नन्वेवमात्मवैतन्यामिन्नत्वाङ्गीकारे रसस्य नित्यत्व, 'उत्पन्नो रस' 'विनष्टो रस' इति सर्वानुभवगोचरो तदुत्पत्तिविनाशो कथमुपपादनीयविति तद्वा समादधानि—

व्यञ्जकविभावादिचर्वणया आवरणभङ्गस्य वोत्पत्तिविनाशाभ्यामुत्पत्तिविनाशौ रस उपचर्येते, वर्णनित्यताभ्यामिव, व्यञ्जकतात्वादिव्यापारस्य गकारादौ ।

व्यञ्जकत्व रसादिनिरूपितम् । चर्वणाऽऽस्वाद । आवरणभङ्ग प्राप्नुक्ताज्ञाननाश । उत्पत्तिविनाशाभ्यामिति हेतो पक्षमी, उत्पत्तिविनाशयो सत्त्वादिति बोधयति । उपचार आरोप । वर्णाना नित्यता वैवाकरणाना मोमासकाना चाभिमतता । गकारा-दावुत्पत्तिविनाशावुपचर्येते इति सम्बन्ध ।

मथा वैवाकरणारदिमते 'उत्पन्नो गकार' 'विनष्टो गकार' इत्यादिप्रतीतिगोचर-योत्पत्तिविनाशयो नित्येषु वर्णेषु वस्तुनोऽस्मन्मवान् तद्व्यञ्जककण्ठान्त्वादिव्यापारेषु च सम्भवादारोप, तथैव रसादियु नित्येषु 'उत्पन्नो रस' 'विनष्टो रस' इत्यादिप्रती-तिगोचरयोत्पत्तिविनाशयो रसादिव्यञ्जिकाया विभावादिचर्वणया विद्यमानयो-श्चर्वणाविषयीभूनेषु रसादिव्यारोप इत्यर्थं ।

रसादिव्यञ्जकविभावादिचर्वणया रसाद्यभिमतया वास्तविकावुत्पत्तिविनाशो न सम्भवति इति षटादिवायेषु विद्यमानावुत्पत्तिविनाशौ प्रथम आश्चास्त्रित्वेन माद्यन्म्येण रसादिचर्वणया, पश्चात् तद्विषयतया रसादिव्यारोप्येते इति माक्षास्तम्ब-प्रामावेऽप्यारोपाङ्गीकाररूपारुचे यजान्तरमुपस्थापितमावरणभङ्गस्य वेति । आव-रणभङ्गीयोत्पत्तिविनाशयोविभावादिव्यञ्जकघरसादिचर्वणयानारोप इति तदर्थं । त-स्योक्तम्—'यद्यपि रसानन्यतया चर्वणम्यापि न कार्यत्वं, तथापि तस्य कादाचि-तयोपचरितेन कार्यत्वेन कार्यत्वमुपचर्यते ।' इति । 'गकारस्थातामव्यतया तात्वादि-व्यापारस्य गकारादौ' इति नोचितम्, किन्त्वक्षरसमाप्त्याप्येकारस्य, स्थानेषु च कण्ठ-स्य प्राथम्येनोपदेताद्, व्यञ्जककण्ठादिव्यापारस्थाकारादौ इतीह मूले पञ्चमुचि-तम् । तपा-व्यापारस्य = 'उत्पत्त्यादे' इति त्वपव्याख्यानम्, वर्णोच्चारणानुकूल-कण्ठावभिधातक्रियाया एव तद्व्यापारपरदायत्वावुत्पत्तेरभिष्यक्तेर्वा तज्जन्त्येन तद्विज्ञत्वात् ।

गोम नही है वस्तु सन्ने में जब थोड़े का ज्ञान होता है अथवा ज्ञान में जब रोग में रजस का भ्रम, दूरत्व तथा चाकचिद्व आदि दोषों से होता है, तब वे (थोड़े तथा रजस) अस्तिप्रम्य ही माने जाते हैं अर्थात् वेचल आत्मा के द्वारा ही तब जीवों का ज्ञान होता है, क्योंकि उन अवस्था में वस्तुन वे जीवों हैं नहीं वेचल काल्पनिक हैं, उनी तरह उन विभावादि को भी माधिमस्य मानने में कोई विरोध नहीं अर्थात् शुक्लतया आदि भी भावनास्य होने पर वस्तुविक्र नहीं काल्पनिक हा है उन सम अवस्था में इन सबों का ज्ञान भी अत्मवैतन्यमात्र से हो सके है बाध च्युतादि इन्द्रियों से नहीं ।

रस को आत्म-वैतन्य-स्वरूप मानने पर 'रस उत्पन्न हुआ, रस विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यतहार अवश्य हो सकेगा क्योंकि आत्म-वैतन्य नित्य है, जब तत्स्वरूप रस भी नित्य होगा, इस इच्छा का समाधान करने है—'व्यञ्जक' इत्यादि । जैसे वैवाकरणों के मत में वर्णों को नित्य मानने पर भी उनके (वर्णों के) व्यञ्जक, कण्ठ लला आदि स्थानों के व्यञ्जकों से होने वाले उत्पन्न रस १११ नान्त

नन्दावरणमङ्गे जाते विभावादिचर्वणोपरतावपि, रत्यादिस्थापिना कथं न तथाऽ-
यमास इत्यादिषु क्षपयति—

विभावादिचर्वणाऽवधित्वादावरणमङ्गस्य, निवृत्ताया तस्या प्रकाशस्याऽऽ-
वृत्त्वाद् विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते ।

मतेऽस्मिन् भावकत्वव्यापारोऽपिक कल्पनीयो भवतीत्यरक्षेलापिवाय पक्षान्तर
मुपन्यस्यति—

यद्वा-विभावादिचर्वणामहिम्ना महद्दयस्य निजसहृदयतावशोन्मिपितेन
तत्तत्स्यान्पुपटित-स्वम्बरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरप-
जायते, तन्मयी भवति मिति भावन् ।

विभावादिचर्वणाऽवधि सीमा (तद्गुणतत्त्वत्वात्) यस्येति वृत्तीति । तस्या
विभावादिचर्वणायाम् प्रकाशस्य चिदानन्दास्वादास्य । विद्यमान सूक्ष्माकारेणान्त-
रिति शेष । यथा समवायिकारणतत्तावधिरेव कार्यक्षता, तथाऽऽवरणमङ्गस्तावदेव
तिष्ठति, यावद् विभावादिचर्वणा भवतीति विभावादिचर्वणाया विनष्टायामावरण-
मङ्गेऽपि विनष्टे, ज्ञानात्मनि प्रवासे पुनरज्ञानेनाकुते, घटावपिहितदीपवदन्तिष्ठानो-
ऽपि रत्यादिस्थापिनी नास्वाह इत्यादिप्रमाण ।

सहृदयस्य निजसहृदयतावशात् स्वबैद्यगोचरात्, उन्मिपितेनाभ्युदितेन, विभा-
वादीना यं चर्वणा, तस्या महिम्ना प्रभावेण (कारणेन) योगिन समाधी योगचर-

आरोप वर्णों में करते 'गकार उत्पन्न हुआ, गकार विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार होते हैं, उन्मं प्रकाश
रस के नित्य होने पर भी उसके (रस के) अङ्गक विभावादि-चर्वणा अथवा आवरण-मङ्ग में होने
पाते उत्पत्ति और विनाश रस में आरोपित होते हैं, जिसमें रस उत्पन्न हुआ, विनष्ट हुआ' इत्यादि
व्यवहार किये जाते हैं । यहाँ 'विभावादि-चर्वणं' का उल्लेख कर पुनः 'अथवा आवरण-मङ्ग' देना
उल्लेख इतना किना गया है कि रसादि-अङ्गक विभावादि-चर्वणा रस से भिन्न नहीं अपितु अभिन्न
ही है, फिर भी जैसे रस में उत्पत्ति-विनाश सम्भव है, वैसे विभावादि-चर्वणा में भी, अतः 'विभा-
वादि-चर्वणं के उत्पत्ति-विनाश, रस में आरोपित होते हैं' ऐसा कहना अनुचित था । गकारवर्ण,
व्याकरण मग से उत्पन्नानोय नहीं है अतः 'अङ्गकत्वादि-व्यापारस्य गकारादी' यह मूलशब्द महत्त्व
नहीं होता, इसलिये 'अङ्गकत्वादि-व्यापारस्य अक्षरपदी' देना मूलशब्द मानना चाहिए क्योंकि वर्ण
सामान्य में अक्षर अयम है और स्थान में कण्ठ ।

अब यहाँ एक शब्द दृष्ट ट्यम्भित होती है कि अन्तरि यदि स्पर्शाभ्यां वातनारूप में सदा
वर्तमान रहता है, तब अर्थात् रस-रूप में उभय भाव क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि
अनीतक आत्मा में, तब रहने वाला आवरण अज्ञान हटा रहता है, तभी तब आत्मा, रति आदि को
नाशित करती है, बाद में महत् और अज्ञान का आवरण आरम्भ पर से तभीतक हटा रहता है, जबतक
विभाव आदि वी चर्वण विद्यमान रहनी है अर्थात् जब विभाव आदि की चर्वण समाप्त हो जाती है
तब आवरण-मङ्ग भी नहीं रहता—आत्मा फिर अज्ञानावरण से ढँक जाती है, अतः हम यहाँ में
स्थायी (रति आदि) विद्यमान रहकर भी प्रकाशित नहीं होता, जैसे दीपक से ढँक जाने पर समीप
में पत्ती हुई चीजें भी प्रकाशित नहीं हो पाती ।

उक्त प्रथम पक्ष में अज्ञानावरण को हटाने के लिये एक अतीतिक व्यापार (भावधत्त) की
क्षमता जाननी पड़ती थी, जिससे गौरव होता था, अब अज्ञानान्तर का उल्लेख करते हैं—'यद्वा'

नन्वस्यापि चित्तवृत्तिविशेषरूपम्यानन्दस्य त्रीविकृतया त्रीविक सक्चन्द्रनाद्युप-
भोगजन्यमुभेभ्योऽवशेषो विशेषा वा ? उच्यते तानि विहाय किमपि परोक्षक महद-
योऽयम् प्रवर्तते । द्वितीयो को नाम स इत्याकाङ्क्षा मनसिहृत्वाह—

आनन्दो ह्ययं न त्रीविकमुत्तान्तरगाधारण अनन्तकरणवृत्तिरूपवान् ।

माङ्गे निबिन्दत्यनामनीव तैस्तैश्च स्यामिमी रत्यादमि उपहित विषयतया सम्बद्ध
स्वभावाया सच्चिदानन्दलक्षण स्वरूप यस्या (जन एव) आनन्द जायते यस्या
स्तादृशी सच्चिदानन्दात्मरूपमाभिज्ञा तन्मयीभावरूपा रमान्यतादात्म्यावगाहिनी
चित्तवृत्तिज्ञानम् (आस्वाद , उपजापन भवतीत्यथ ।

इहानन्दाकारेत्यस्य तद्विषयति विवृत्तिन युक्ता आनन्दस्य रमात्मरूपण (न तु
विषयतया) प्रतीते । तथा निबिन्दत्यकममाघावानन्दाकारवचित्तवृत्तरभावमभिधाय
समाधिपदेन सचिदरूपकसमाधयेव प्रहृष्टमस्त्वभिधानमसमञ्जसम आनन्द्यात्मचैतन्यस्य
निर्वीजसमाधावपि सर्वानुमतत्वान् । अत एव रसाद्यास्यादस्य ब्रह्मास्वादमहोदरत्र
सङ्गच्छत । एव तन्मयीभवन्मित्यस्य आनन्दविषयतया तत्प्रचुरत्यय इति विवरण-
मपि नोपपत्तिसहम् आनन्द-रस-चैतन्याना तादात्म्यत विषयविषयिभावसम्भ-
वात् स्वरूपाय एव (न तु प्राचुर्यायै) मयटोऽत्र विधानीचित्तान् । श्रद्धाजाड्य तु
भेदमभ्युपेत्य सर्वमुपपादनीयमिति मुञ्जीभिराकृतनीयम् ।

अत्र मते रसात्मकतादृश-प्रतीत्युत्पत्तौ केवल काव्यव्यञ्जनात्यस्य रमानारप-
र्यायभोजकत्वव्यापारस्यापेक्षा, न तु भावकत्वस्यापीति स्फुट साधकम् । ननु भाव-
कत्वव्यापारमन्तरेणाज्ञानावरणविरासो दुषट इति चेत् न यत् प्रकृत्यप्रकारस्यैव
भावत्वाद् भावनैव भावकत्वम् । सा च महदयस्य स्वीयसहृदयतामहकारेण काव्या
धैर्यविषयिणी पूर्वोत्पन्नैक विभावादीना साधारणीकरण प्रमातुरावरणभङ्ग य वनमो
शीमेति म तदर्थनावालिक-व्यापारान्तररूपनाऽऽवस्यकीत्यास्य ।

इत्यादि । अभिप्राय यह है कि अज्ञानरूप अवरण को हटाने के लिये किन्ना नवीन व्यापार की कल्पना
आवश्यक नहीं है, क्योंकि सहृदयता की महादया से परिष्कृत बनी हुई काव्यार्थ-विषयक-भावना ही
सहृदयों की भावना पर छोड़े हुए अज्ञानावरण को दूर कर दगी और विभावादि का साधारणीकरण
भी करेगी, 'सचिदरस' भी तो भावना से अभिरन्त कोई पदार्थनिष्ठ नहीं हो सकता, 'प्रकृति-जन्म-
धोषे प्रकाशभूतो धर्मो भाव-शक्त्यर्थः' इस श्लोक के अनुसार भावकत्व का दर्शन ही सर्व कल्पना
ही होगा । इस लिये ऐसा मानना चाहिए कि जहाँ भावना में साधारणीकरण विभक्तियों का
आस्वादन महत्त्व-जन करत है, उतना भावजन्य रूप सहृदयता के द्वारा बरता जाता है, और
इस प्रभाव के द्वारा अज्ञानकी व्यञ्जन-वृत्ति अनन्तयो के चित्तों में तबि अज्ञानको से युक्त,
अज्ञानावरण में युक्त अमनचैतन्यस्वरूप अनन्तान्तर वृत्ति उत्पन्न होता है अथवा सहृदयता उन
आनन्द में छीन हो जाते हैं-इस जग है, उन्मथ हो जाते हैं जैसे कल्पितों के चित्तों में सचिदरस
समाधिच्छिन्न में आनन्दाकार वृत्ति होती है अथवा उन अवस्था में वेदियों को साधारणिक विमो पदार्थ
का ज्ञान मही होता, क्योंकि वे तब अज्ञानन्द में छीन रहते हैं, कहीं स्थानिकों में युक्त अनन्त-
कार चित्तवृत्ति को साहित्यशक्त में 'रस' करते हैं ।

उपसृति—

इत्थ चाभिनवगुण—मम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणाचिद्विशिष्ट
रत्यादि. स्थायी भावो रस इति स्थितम् ।

अथ पूर्वोक्तश्चित्तवृत्तिविशेषरूप आनन्द (सुखविशेष) ब्रह्मानन्दमिदमत्वात्लौकिक-
सागशीजन्यत्वाच्च लौकिकोऽपि, मान्यन्यानि सक्चन्दनाद्युपभोगजन्यानि लौकिक-
सुखानि, तै साधारणस्तुल्यो नास्ति (किन्तु तद्विलक्षणोऽस्ति), अनन्त—करणवृत्ति-
रूपत्वावन्त—करणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपत्वाभावात् ।

अन्वेषा हि लौकिकसुखानामस्य—करणवृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपत्व, रसरूपावन्त्वस्य तु
शुद्धचैतन्यरूपतायुक्त—करणवृत्तिरूपावच्छेदकरहितत्वादनवच्छिन्नत्वाभावात्—करण-
वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपत्वम् । रसात्मकानन्दानुभवे चित्तवृत्तेरानन्दरूपतयैव परिणमना-
देनदानन्दस्य तद्वृत्तिरूपावच्छेदकामावाप्तिरवच्छिन्नतया, लौकिकसुखास्तरानुभवे
स्वन्त—करणवृत्तिरूपावच्छेदकसद्भावाप्तिरवच्छिन्नत्वाभावात्तन्मयो वैलक्षण्यमिति
सारम् ।

इत्यमुक्तीत्याऽभिनवगुण—मम्मटभट्टादीना ये ध्वन्यासाकलोचन—काव्यप्रकाश-
प्रभृतयो ग्रन्थास्तेषां स्वारस्येनाभिप्रेततया मन्मथानुरूपसाधारण्यं यस्या सा भग्ना-
वरणा चित् (विशुद्धचैतन्यम्) तद्विशिष्टस्तद्विषयीभूतो रत्यादि स्थायी भावो रस
इति स्थित पर्यपसृप्तमित्यर्थं ।

काव्यप्रकाशे रसरूपप्रकरणे चतुर्थस्याचार्याभिनवमुत्तमतस्यैव सर्वाभ्यर्हितवै-
नोपासस्य, साधारणीकृत चैतन्यविषयभूतरत्यादिस्वायिभाव एव रस इति सारम् ।

यदि कोई कहे कि यह चित्तप्रवृत्ति-विशेषात्मक आनन्द तो अलौकिक नहीं है, उन लौकिक
सुखों से इनका कुछ विशेष नहीं रहेगा और जब विशेष नहीं रहेगा, तब कोई अन्य अलौकिक सुखों
को छात्र। इन काव्यग्रन्थों का इहो क्यों करेगा, इस शंका का उत्तर देना है—‘आनन्दो ह्यस्य’
इत्यादि यद्यपि ब्रह्मानन्द से भिन्न तथा अलौकिक कारणों से उत्पन्न होने के कारण यह पूर्वोक्त चित्त-
वृत्ति विशेषात्मक आनन्द (सुखविशेष) लौकिक असत्य है, तथापि अन्य (सकृ, चन्दन, वतिनादि-
उपभोग—जन) लौकिक सुखों के गगन तथा अवेतु निरक्षण है क्योंकि अन्य लौकिक सुख अन्त
करण का दुरीर्षो से युक्त चैतन्यरूप रस है अतः उन सुखों के अनुभव करण समय तब य का
अन्त करण का वृत्तियों के साथ सम्बन्ध रहता है, और यह स्वरूप आनन्द अन्त करण की वृत्तियों से
युक्त चैतन्यस्वरूप तथा अवेतु शुद्ध चैतन्यस्वरूप है अतः रसात्मक आनन्द के अनुभव करण समय
चित्तवृत्ति को अनन्तरूप में ही विलीन हो जाता है, उन यह चित्तवृत्ति उस आनन्द का अन्त-
(‘इयत्ता—ग्राहक’, नर्तक, पट, पता, शिखर, पद आनन्द, अन्त-रूप (‘इयत्ता—रहित’, पट, गृह) है,
यहां अन्य लौकिक सुखों की अपेक्षा इन रसात्मक सुख से विलक्षणता है ।

अथ अभिनवगुणदि मम्मथ रसमन्वयी मल का उपसृष्टि करने हैं—‘इत्थं च’ इत्यादि । इन
हरह अभिवादात् (ध्वन्यालोचन की लोचन नामक टीका को बनाने वाले) तथा मम्मथ (काव्यप्रकाश
के रचयिता) आदि के ग्रन्थों के अनुसार ‘अज्ञानरूप आवरण से मुक्त, शुद्ध चैतन्य का विषय बना
हुआ रस इति स्थायीभाव ‘रस’ है’ यह रिक्त हुआ ।

नन्वेव रसस्य रत्यादिस्वयामिरूपतया चैतन्यभिन्नत्वे, चैतन्याभेदप्रतिपादिका 'रसो वै स' इत्यादिधृतयो विरुध्यन्तीति सिद्धान्तमतमभिदधति—

वस्तुतस्तु बक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना मग्नावरणा विदेव रसः ।

महद्वयेऽपि रमस्य नित्यत्व स्वप्रकाशत्व न सिद्धमेवेति दर्शयति—

सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषण विशेष्य वा चिदशमादाय, नित्यत्व स्वप्रकाशत्व च सिद्धम् ।

ननु यथा 'नित्यो रस', 'स्वप्रकाशो रस' इत्यादिव्यवहारा रसविषयका भवन्ति, तथैव 'जगन्नो रस' वितण्डो रस' 'इतरमास्यो रम' इत्यादयोऽपि व्यवहारा ये भवन्ति, तेषा कथमुपपत्तिरिति शृङ्खला व्याहरति—

रत्याद्यशमादाय त्वनित्यत्वमितरभास्यत्व च ।

रत्यादीना विषयतया चिदवच्छेदकत्वम् । रत्यादिविषयक मग्नावरण चैतन्यमेव रसो न तु चैतन्यविषयीभूत रत्यादि, श्रुतिस्वारस्यमङ्गप्रसङ्गादित्याशय ।

मवैवैव—जगन्मयाऽपि (कल्पद्वयेऽपि) विशिष्टात्मनोऽवच्छेदकभावेन चिद्विशिष्ट-रत्यादिरूपाया रत्यादिविशिष्टचिद्रूपाया वा, यस्या रसादिव्यक्ते रसादिरूपतया मतायाश्चितो वा, पूर्वकल्पे रत्यादेर्विशेष्यत्वाद् विशेषणम्, उत्तरकल्पे रत्यादेर्विशेषण-त्वाद् विशेष्य वा चिदश चैतन्यरूपम्, आदायावतन्म्य, नित्यत्वमुत्पत्तिविनाशराहित्य, स्वप्रकाशत्व प्रकाशान्तराप्रकाशयत्व च सिद्ध निष्पन्नमित्यर्थ ।

विशेषणतया विशेष्यतया वा चित्तोऽङ्गीकारे कल्पद्वयेऽपि रसादीना नित्यता स्वप्रकाशता च परिहीयेतेति मारम् ।

मस्या विशेष्य विशेषण वेति शेष ।

अस्या रमव्यक्ते, पूर्वस्मिन् कल्पे विशेष्यम्, परस्मिन्न कल्पे विशेषण रत्याद्यश-मादाय तु, अनित्यत्वमुत्पत्तिविनाशालित्वम्, इतरभास्यत्व परप्रकाशयत्व च सिद्ध-मित्यर्थ ।

इम मञ्जिषा के अनुसार जन रम रति आदि स्थायीभाव के स्वरूप हुआ चैतन्यस्वरूप नहीं, तब तो चैतन्य और रम की अभिन्न बतलाये वाली 'रसो वै स' इत्यादि श्रुति निरस्त हो जायगी, जग सिद्धान्तभूत भग का उल्लेख करते हैं—'वस्तुतस्तु' इत्यादि । आशय यह है कि वक्त श्रुति के अनुरोध से रति आदि स्थायीभाव जिनके विशेष हैं, ऐसे अवगण्यक हुए चैतन्य को ही 'रम' कहना चाहिए, न कि चैतन्यविषयीभूत रत्यादि को ।

'दोनों ही मनो में रम की नित्यता तथा स्वप्रकाशण सिद्ध ही है' यही मान करने है—'मवैवैव' इत्यादि । ज्ञानात्मक चैतन्य के विषयीभूत रति आदि स्थायीभावों को रस कहिये अथवा रति आदि स्थायी मानविषयक चैतन्यात्मक ज्ञान को, दोनों अर्थों में यह निश्चित है कि रस के स्वरूप में रति आदि स्थायीभाव और चैतन्य दोनों ही अस्तित्व से हैं, अन्तर वेदक हुआ है कि प्रथम प्रकार चैतन्य विशेषण और रति आदि विशेष है और द्वितीय प्रकार में चैतन्य ही विशेष्य है और रति आदि विशेषण । दोनों ही कल्पों में विशेषणीभूत अथवा विशेष्यीभूत चैतन्याद्य को लेकर रस नित्य तथा स्वप्रकाश है ।

‘चर्वणा रस’ इति प्राचीनव्यवहारोपपत्तये चर्वणा निरूपयति—

चर्वणा चास्य चिद्गतावरणमङ्ग एव प्रागुक्ता, तदाकाराऽन्तःकरण-
वृत्तिर्वा ।

इदानीं रसचर्वणाया ब्रह्मास्वादाद् वैतन्मस्य चर्वयति—

इयं च परब्रह्मास्वादात् समावेदिवृत्तया, विभावादिविषयनवर्तितचिदा-
नन्दान्मन्वन्तत्वात् । भाव्या च काव्यव्यापारमात्रात् ।

रत्यादेरनित्यत्वमितग्मास्त्वत्तु धारोप्य रसविषयका प्रागुक्तव्यवहारो उपपाद-
नीया इत्यभिप्रेक्ष्य ।

अस्य रसस्य पूर्वकल्प (अभिनवगुप्तादिमते) चिद्गतावरणमङ्गत्वंगम्यावरणा-
ज्ञानध्वंस एव भाव्यबोत्तरकल्पे (शङ्का मते) तदाकारा रत्याद्यपिष्टितात्मानन्दरूपाऽ-
न्तःकरणवृत्तिवृत्तेनैव चर्वणेत्ययम् ।

रसचर्वणयोस्तादात्म्यस्यान्यत्र निर्णीतत्वेन लोकोत्तरसमन्वारप्राणत्वादिह
श्वपराया पूर्वकल्पोक्तमावरणमङ्गलत्वमचमत्कारित्वापत्तेर्नोचितमिति पञ्चालो-
पन्यासोऽत्रमयः । उभयोन्नादात्म्य रसचर्वणत इत्यादिव्यवहारान्मु नेवारोपानि
वाहलीया ।

इयं पूर्वोक्ता रसचर्वणा परब्रह्मण गन्विदानन्दम्यास्वावो यत्र तावृत्तात् समाधेर
सम्प्रज्ञानयोगचरमाज्ञान (वस्तुतन्मु तन्कालोन्पद्यमानेपरब्रह्मसाक्षात्कारान)
विलक्षण भिन्ना विभावादिनिर्विकल्पैर्ज्ञैः सपत्तियो विशिष्टत्रिदानन्दो रस ज्ञानम्वन
विषयो यस्यास्तत्त्वात् । च पुनरियं चर्वणा काव्यव्यापारमात्रात् केवलया व्यञ्जना
(न तु श्रवणादिव्यापारं) भाव्योत्पाद्या भवतीत्यनाऽपि ब्रह्मसाक्षात्काराद्
मिन्नैत्ययम् ।

परब्रह्मसाक्षात्कारो विषयासवतितत्वाद् विद्युदब्रह्मादिषयक श्रवणादिव्यापार-
जन्यध, रसास्वादात् विभावादिसवतितत्वाद् विशिष्टरसविषयकी व्यञ्जना (रसा)

‘रस एतन्न दुःखा, रस विना दुःख’ इत्यादि व्यवहारो ते प्रतीत होने वाली रस की अस्तित्वा
के लिये म कल्प है—‘रसाद्यन्न’ इत्यादि । करने का तात्पर्य है कि कि तरह वैश्वानर को
‘रस रस’ की और स्वर्गा है वही तरह रसि आदि अन्न की तरह रस अस्तित्व भी है और
‘रसाद्यन्न’ का अर्थ एक अन्न की अपेक्षा नहीं बड़े का मकने ।

‘रस रसि’ के लिये यथा रसोन्पद्यते से होता का रहा है, अन् रस की दर चर्वण क्या
‘रस रसि’ के लिये यथा रसोन्पद्यते से होता का रहा है, अन् रस की दर चर्वण क्या
करत है—‘चर्वणा च’ इति । वैतन् के उतर से जगन्पत्य अवस्था का दृष्ट अन्न ही रस की
चर्वण (चर्वणा) है, अन् अन्नकरण की जगन्पत्यार शक्ति को रस-चर्वण समझो चाहिए ।
यहाँ अन्नियुक्त अन्न का ‘रस’ व्यापार के लिये मे पूर्ववत् और उन्की द्वितीय व्यवस्था के लिये
सं उन्नयन बढ़ा गया है ऐसा समझना चाहिए ।

इत्यादि रस-चर्वण में जो नैतन्पत्य है उसका वर्णन करते हैं—‘रस च’ इत्यादि । रस-
चर्वण रसाद्यन्न में जो ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, वगैरे दर रस-चर्वण (रसाद्यन्न) विद्युत्—

अथ रसचवर्णाया आनन्दमयत्वं वाकोवाक्येन व्यवस्थापयति—

अथास्या मुखाशब्दाने किं मानमिति चेत्, समाधावपि तद्भाने किं मान-
मिति पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात् ।

ननु नोमयोस्तुल्यता समाधौ सुखाशब्दाने शब्दप्रमाणस्य जागरूकत्वादित्याह—

'सुखमात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।' इत्यादि शब्दोऽस्ति
तत्र मानमिति चेत् ।

रसचवर्णायामपि सुखाशब्दाने प्रमाणद्वय दर्शयति—

अस्त्यत्रापि 'रसो वै म' 'रम ह्येवायं उच्छ्वाऽऽनन्दो भवति' इत्यादि-
श्रुतिः, सकलमहृदयप्रत्यक्ष चेति प्रमाणद्वयम् ।

मात्रजन्यश्चेति तयोर्विषयकारणविशेषाद् विशेषो न यत्नप्रतिपाद्यः । साम्यं पुनरलौकि-
कनित्यानन्दचिन्मयत्वेन स्फुटम् । न च भेदाङ्गीकारे 'ब्रह्मैव रस' 'रसो वै स' इत्याद्य-
भेदप्रतिपादकश्रुतिविरोधः, तासामपि 'आदित्यो वृष' इत्यादीनामिव सादृश्य एव
सात्पर्यपर्यवसानात् ।

अत्रापि समाधिपदस्य सविकल्पकयोगपरत्वं परोक्तं न युक्तम्, पूर्वोक्तयुक्ते
समाधौ ब्रह्मसाक्षात्कारो न तु समाधिरेव स इति तयोर्भेदस्य सिद्धत्वेनासाध्यत्वाच्च ।
अस्या रसास्वादनक्षणया चवर्णायाम् । पर्यनुयोगस्य प्रतिश्रवणस्य ।

यथा समाधिकालिङ्गप्रतीती भवदभिमतमानन्दस्य मानम्, तथैव रसचवर्णायामपि
मदभिमतं तद् भवतीत्युभयोस्तुल्यतायाम्—'यत्रोमयो समो दोष परिहारोऽपि
तादृशः । नैक पर्यनुयोक्तव्यस्नादुर्गर्वविचारणे ॥ इत्युक्तेरेकस्वैव शिरसि प्ररतसमाधान-
मारारोपो नोचित इति भावः ।

तत्र समाधिसुखाशब्दाने—आत्यन्तिकं सकललौकिकमुखातिगायि, बुद्धिग्राह्यं बुद्धि-
मात्रवेद्यम्, अत एवातीन्द्रियं 'मनसस्तु परा बुद्धि' इत्युक्तेन्द्रियापोचरीभूतं, यत् सुप्त
परमाह्लादः, तद् अयं योगी, वेति साक्षात्करोतीत्यर्थकं शब्दो गीतापद्याध्याये
भगवद्वाक्यं, मानमस्तीति नोमयो साम्प्रमिति चेद्, कथ्यत इत्यर्थः । 'वेति यत्र न
चैवायं स्थितश्चलति तस्वन ।' इति पद्योक्त्याम् ।

भिन्नतरह ही है क्योंकि रस-चवर्णा का अलम्बन विभावादि-विरहो (सौम्यारिक पदाधी) से
निमित्त अलम्बन है और काव्य की चरणा (आधार) से जो यह चरणा होता है हमके विरह
ब्रह्म-दास्यद का अलम्बन, विषय-विहीन-मुक्त आत्मज्ञान है और श्रवण, मनन, निदिध्यान
रूप व्यापारी से यह होता है । अतः ब्रह्मस्वात् तथा रसास्वाद म कारण एवं विषय दोनों के भिन्न होने
से भेद है ऐसा मननना चाहिए ।

यदि आप पूछें कि हम रसास्वाद में सुख का अंश भासित होता है हममें प्रमाण क्या है ? तो
हम पूछें कि समाधि में भी सुख भासित होता है, हममें क्या प्रमाण है ? तात्पर्य यह है कि जैसे
समाधि में सुख का भान मानने है वैसे ही रसास्वाद में भी सुख का भान मानना चाहिए ।

यदि आप कहें कि समाधि में सुख भान को 'सुखमात्यन्तिकम्' इत्यादि गीता के शब्द प्रमा-
णित करने है अर्थात् गीता ने कहा हुआ है कि 'समाधि में जो अत्यन्त सुख है, वह बुद्धि-मात्र से
वेद्य है इन्द्रियों से नहीं' । इस तरह से 'समाधि में सुख का भान होता है' हममें शब्द प्रमाण मिलता
है और रसास्वाद में सुख का भान होता है हममें तो कुछ प्रमाण नहीं मिलता ।

अथ रसचवङ्गाया प्रकृष्टाच्छाब्दापरोक्षज्ञानात्मकत्व व्यवस्थापयति—
येय द्वितीयपक्षे तदाकारचित्तवृत्त्यात्मिका रसचवणोपन्यस्ता, सा शब्द-
व्यापारभाव्यत्वाच्छाब्दी, अपरोक्षसुखालम्बनत्वाच्चापरोक्षात्मिका ।

दृष्टान्तोपन्यासेनैकस्या एव प्रतीने शब्दत्व चोपपादयति—
तत्त्व वाक्यजबुद्धिवत् ।

आद्यमभिनवगुप्ताचार्यमतमवगमितमवगमयति—
इत्याहुरभिनवगुप्ताचार्यपादा ।

अथापि रसास्वादे 'सुखाशामनेऽपि, स सच्चिदानन्दरूप आत्मा, वै निश्चयत,
रस' इत्ययिका, 'हि निश्चयेन अयमात्मा, रस, सञ्ज्ञाऽऽस्वाद्य, एव न त्यज्यया
आनन्दीभवति परमाह्लादरूपता प्रतिपद्यत' इत्ययिका च श्रुतिर्बेद, काव्यरसास्वाद-
समये सकलहृदयाना सर्वविदग्धाना, प्रत्यक्षमनुभवश्चेति प्रमाणद्वयमुभे प्रमाणे स्त इति
कथं न तुल्यतेत्यर्थः ।

द्वितीयपक्षे यहतिमते वा इयमुपादीयमाना, रसचवङ्गा, उपन्यस्ता प्रतिपादिता,
सा शब्दव्यापारभाव्यत्वादभिधाऽऽदिराब्दनिष्ठवृत्तिजन्यत्वाच्छाब्दी शान्दबोधस्वादा,
अपरोक्ष प्रत्यक्षविषयीभूत यत् सुखमानन्द आत्मसङ्गत पदालम्बनत्वात् तद्विषय-
त्वाच्च, अपरोक्षात्मिका प्रत्यक्षरूपा चास्तीति ज्ञेय ।

मवेत्यावादिनये शब्दत्व-प्रत्यक्षत्वयोर्विरोध, किन्तु वेदान्तमत, वाक्य 'तरव
मसि' इत्यादिभूतिवाक्य, तस्माज्जाता बुद्धिर्बोद्धव्यैक्यप्रतीति, तस्या यथा वेदा-
न्तिनि शब्दजन्यत्वाच्छाब्दत्वम् अपरोक्षब्रह्मालम्बनत्वाच्चापरोक्ष (प्रत्यक्ष) एव
चाङ्गीक्रियते, तथैव रसप्रतीतेरपि शाब्दत्वमपरोक्षत्व च स्यादित्यर्थः ।

रसास्वाद में भी सुख का भोग मानने में प्रमाण है, देखिये श्रुति कहती है—'रसो वै स'
(वह आत्मा रसरूप है) और 'रस बोधायं लम्बाऽऽनन्दीभवति' (रस को पाकर ही वह आनन्दरूप
होता है) इस तरह से समाधि में सुखमान का अनुभव यदि योगी का शब्द है तो रसास्वाद में
इसका प्रमाण वेद-शब्द है, अब अब स्वयं सोच सकते हैं कि किरा का उलट भारो है, हुना ही
नहीं, 'रसास्वाद में सुख का भोग होता है' इसमें तो मकलहृदय मनान का हृदय भी प्रवचनम हृदय
प्रमाण अवस्थित है । सभी सहज रसास्वाद में सुख का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

अब इस बात की व्यवस्था करने हैं कि रसचवङ्ग शब्दज्ञानरूप होकर भी अपरोक्षरूप है—
'बोधय' इत्यादि । 'बोध' मत में जो आनन्दाधार चित्तवृत्ति को रस की चवङ्ग कही गई है वह
(चवङ्ग) शब्द के व्यञ्जना-व्यापार से उत्पन्न होती है, उन शब्दों अर्थात् अपरोक्षरूप है और
प्रत्यक्षसुख अर्थात् आनन्द तम (चवङ्ग) का अन्वयन है उन अपरोक्षरूप-प्रत्यक्षरूप की है ।
बहुने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि शाब्दरोध की रसात्ता परोक्षज्ञान में हो अन्वय की गई है तदपि
रसचवङ्गा शब्दबोधरूप होकर भी प्रत्यक्षरूपक है ।

एक ज्ञान में शाब्दत्व तथा प्रत्यक्षरूपकत्व दोनों कहीं कहीं रहने हैं, इसमें छानना दिखाने है—
'तरव' मित्यादि । अथय यह है कि शाब्दत्व और प्रत्यक्षत्व में विरोध नैपदिन छोग मानन है,
वेदान्ती नहीं, वे तो 'उत्तमसि' इस वेदवाक्य से जो जीव तथा ज्ञान में रसक बुद्धि होती है,—उत्तम
बुद्धि को शब्दजन्य होने के कारण शब्द और अपरोक्ष अस्तिविषय होने से प्रत्यक्षरूप मानने हैं, उसी
तरह साहित्यिक भी रसचवङ्ग को अत्यक्ष और शाब्द दोनों मानने हैं ।

(०) भट्टनायकास्तु—ताटस्थ्येन रमप्रतीतावनास्वाद्यत्वम् । आत्मगत-
त्वेन तु प्रत्ययो दुषेत्, शकुन्त्याऽऽदीना सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वात् ।

ननु विभावादिप्रतीति विनैव रमप्रतीतिर्भवत्वित्याशङ्कामपास्यति—
विना विभावमनात्मन्वनस्य रत्यादेरप्रतिपत्तेः ।

लौकिककारणादिजनितो वासनारूपेण सहृदयस्य हृदय प्रविष्टो रत्यादिस्त-
त्सहृदयत्वमदृष्टतभावनाप्रभावाधिगतसाधारण्यलौकिकविभाव प्रादुर्भावितभावनाविभो-
परूपनावकत्वव्यापारमम्पादितावरणज्ञानध्वसेन समुदितसार्वभूषेण सहृदयेनात्मस्व-
रूपमानन्देन महाभाभेदेनास्वाद्यमानस्नयाविधिरत्याद्यास्वादो वा रस इत्यवसितस्य
प्रथममाननस्य सारम् ।

ताटस्थ्यनौदामीन्यन स्वसम्बन्धराहित्येन 'दुष्यन्त' शकुन्त्याविषयकरतिमा-
नित्याद्याकारवत्त्वेनेति यावत् । अनाम्वाद्यत्वमवमत्कारित्वम् । आत्मगतत्वेन स्वसम्ब-
न्धितया अहं शकुन्त्याविषयकरतिमा नित्याद्याकारवत्त्वेनेत्यनर्पन्तरम् । प्रत्यय
भान्वादात्मिका प्रतीति । दुषेदोऽन्यम्भव । सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वाद् दुष्यन्ते-
तरमहृदयनिष्ठशृङ्गाररमात्मन्वन्त्याभावान् ।

अभिज्ञानशकुन्त्याभिन्नयदर्शनावसरे यदि सामाजिकानां 'दुष्यन्त' शकुन्त्या-
विषयकरतिमा नित्यकारिका प्रतीति स्यात् तदा स्वसम्बन्धराहित्येन तस्याव्यक्तका-
रित्वं न स्यात् सत् सत्वात्मन कामाय प्रिय भवति, इत्यादिषवणात् । तथा च
तत्र रसत्वमव न स्यात् रस सारश्चमत्कार 'लोकौत्तरचमत्कारप्राण' इत्याद्युक्तेः ।
शकुन्त्या मातृवमम पुण्येति ज्ञाने जायस्के, 'अहं शकुन्त्याविषयकरतिमानिति
प्रतीनेरप्यसम्भव इत्यर्थः' ।

साम्प्रदायिकास्त्वन एव सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानवसायिताधारण्येन,
विभावादिप्रतीतिमूरीकृवन्तीति— परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ॥ तथास्वादे
विभावादे परिच्छेदो न विद्यते ॥ इत्यादिनाऽन्यत्र स्पष्टम् ।

जनानन्दस्यात्मन्वन्विभावरूपापारसून्यस्य । वादिपदेनानुभावादिपरिग्रहः ।
तेपूरीपनादिशून्यस्येति योज्यम् ।

इह प्रथमं मन आचर्य अभिन्नं उक्तं क्यं हे ।

अव एतदन्तरान् 'दृष्ट-रूप' आदि शब्दो ने निर्माता भूनायक के मत को रस-निरूपण-मनस्य
में द्वितीय स्थान देत है—'भट्टनायकास्तु' इत्यादि । भूनायक का कथन है कि तदवस्थाव से अर्थात्
'दुष्यन्त' शकुन्त्याविषयकरतिवत्त्व है इस रूप से रमको प्रतीति होने पर अपने आस्वाद्य-
चमत्कार नहीं होगा और जब चमत्कार ही नहीं रहेगा तब वह रस होगा ही कैसे ? क्योंकि 'रसे
सारश्चमत्कार' ऐसा सिद्धान्त सर्व-सम्मत है उदासीन मन में शकुन्त्यादि रति की प्रतीति होने
पर अपने चमत्कार का न होने का भी मनुष्य ही है क्योंकि सर्व सत्सत्पदन कामाय प्रिय भवति' इस
सिद्धान्त के अनुसार अपने में 'अन्यदन्त' किसी के प्रेम (रति) में ही चमत्कार (आस्वाद) हो
सकता है । यदि अब कहे कि अपने में ही रम की प्रतीति मन्दिने अर्थात् 'मि शकुन्त्या-विषयकर-
रतिवत्त्व' है' ऐसा ही प्रतीति इष्ट है, तब तो सम्वाद होने में कोई बाधा नहीं होगी, से भी टोक
नहीं क्योंकि जब शकुन्त्या आदि सान्द्रिकों के विभव नहीं है—जन्ते सामाजिकों का कोई सम्वाद
तही है, तब उक्त प्रतीति हो ही नहीं सकती अर्थात् उदासीन शकुन्त्या का प्रेम अपने में सम्भवा
बन ही नहीं सकता है ।

पुनराशङ्क्य निराकरोति—

न च कान्तात्व साधारणविभावताऽवच्छेदकमत्राप्यस्तीति वाच्यम्, प्रप्रा-
माप्यनिश्चयानालिङ्गिताऽगम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धा-
वच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावताऽवच्छेदककोटाववश्य निवेश्यत्वात् ।

रसादीनामुद्गमादि हि कश्चिदर्थेणलभ्यैव भवतीति तदालम्बनादिभावमन्तरेणा-
नुभविरूपि रसादिप्रतीति सामाजिकाना न सम्भवतीति भाव ।

अत्रापि शत्रुन्तलाऽऽदिभूमिका गृहीतवत्या नट्यामपि साधारणविभावताऽवच्छेदक-
मालम्बनविभावतासमनियततामान्यधम कान्तात्व नाधिकत्वम अस्त्येव, तस्मात्
तदालम्ब्यैव रमोक्तम स्यादिति च न वाच्यम भाविज्ञानमप्रमाणम् इति निश्चयो
यद्विषयको नाभूत्, तदप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितं यद् इय ममागम्या इत्याकारकम-
गम्यात्वप्रकारक ज्ञानम, तस्य विरहोऽप्रावस्तस्य विशेष्यतैव सम्बन्धस्तदवच्छिन्ना
या प्रतियोगिता तन्निरूपकस्य (नादृताभावसंगिच्छस्य) विभावताया मालम्बन-
विभावताया अवच्छेदकस्य समनियतधमस्य कोटौ कुतो अवश्य नियमेन निवेश्य-
त्वादित्यर्थ ।

ननु कल्पितशत्रुन्तलायामपि विभावताऽवच्छेदकसामान्यधम कान्तात्वमस्त्येवेति
तस्या मालम्बनविभावताऽवच्छेदकत्वे निर्वाध रसप्रतिपत्ति स्वादेवेति, चेत् न, यत् न केवत्
कान्तात्वमालम्बनविभावताऽवच्छेदकम् अपि तु स्वसादीना तत्त्वस्य व्यवच्छेदाय,
विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकेनाप्रामाण्यनिश्चयादिपयागम्यात्वप्रकारकज्ञाना-
भावेन सामानाधिकरण्यासम्बन्धेन विशिष्ट कान्तात्वमितीदृशकान्तात्वरूपालम्बन-
विभावताऽवच्छेदकस्य तत्राभावात्प्रतिपत्तिर्न सम्भवतीति तात्पर्यम् ।

विभाव के बिना ही रस की प्रतीति मार्गें ? सो भी सँग नहीं, कारण ? आलम्बन रहित रति
आदि का ज्ञान नहीं हो सकना अर्थात् प्रेमभाव के अभाव में भी कोई करने का प्रेमी ममते वह
कैसे सम्भव है ।

यदि आप कहें कि अनालम्बन रति आदि की प्रतीति नहीं हो सकती यह तो ठीक है परन्तु यहाँ
आलम्बन का अभाव योदे ही है ? शत्रुन्तला प्रभृति आलम्बन व्यस्थित है, तब रही बात यह कि
शत्रुन्तला आदि सामाजिकों का विभाव नहीं बन सकती सो बात भी अकिञ्चिद् कर ही है क्योंकि
किसी नायक को प्रेम (रति) का कारण कहल्येने के लिये कान्ता-सुन्दर नादिका का होना हो पर्याप्त
है और शत्रुन्तला आदि सुन्दर नायिकार्ये हैं ही फिर वे सामाजिकों की रति के आलम्बन क्यों नहीं
होगी ? इसका उत्तर यह है कि केवल कान्ता होना ही नायकनाय की रति के आलम्बन कारण बनने
के लिये पर्याप्त नहीं है यदि ऐसी बात मान ली जाय तब तो कान्ता होने के जाने मा-बहन भी पुत्र
तथा ब्राह्म की रति के आलम्बन कारण हो जाँय अत यह कहना पडगा कि निज नादिका में निज
नायक को 'यह अगम्य है—सम्भोगमोष्य नहीं है' ऐसा ज्ञान न हो, वही नायिका जनी नायक की
रति के आलम्बन-विभाव हो सकती है, भा वहनों में तो पुत्र-भ्रातादिकों को पैना (दर अगम्य है)
ज्ञान रहता ही है अत वे उनके प्रेम का कारण नहीं होतीं । एक बात और कल्पना को भिदे किनी
नादिका के सम्बन्ध में पहले किसी को यह ज्ञान हुआ कि 'यह नादिका अगम्य है' और इस ज्ञान
के दूसरे क्षण में उस ज्ञान में अथमात्व का निक्षय हुआ अर्थात् उन नायिका को पैना अगम्य समझना

उक्तनिवेशाभावे दोष दशयति—

अन्यथा स्वस्रादेरपि कान्तात्वादिना तत्त्वापत्ते ।

कान्ताविशेष्यकागम्यात्वप्रकारकज्ञाने जायमानेऽपि तज्ज्ञानविषयकाप्रामाण्यनिश्चय
सति न कार्येतिद्विरित्यप्रामाण्यनिश्चयवागलिङ्गित्वे ज्ञानविशेषणम् ।

अनालिङ्गित्वमविषयत्वम् ज्ञानविशेष इति त्वप्याख्या ज्ञानविषयतयोर्ने
दात् । अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान विशेष्यतया कान्तापामिनि विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्न
प्रतियोगिताकस्तदभावोऽपक्षित । विशिष्यतासम्बन्ध ममवाय इति विद्युतिर्गपि
विन्तनीयेव, समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य तादृशज्ञानाभावस्य सत्र
कान्तासु सद्भावात् तादृशभावविशिष्टकान्तात्वस्य विभावतावच्छेदककोटी निवेशोऽपि
'भक्षितेऽपि लघुने न छान्तो व्याधि ईत भ्याणेन न स्वस्रादेस्तत्त्वस्य परिहार
इत्यापत्ते स्फुटत्वात् । कान्तात्वस्य तादृशज्ञानाभावस्य चैत्र कान्ताया मत्त्वान
परस्पर सामानाधिकरथ्यसम्बन्ध ।

अन्यथा शृङ्गारालम्बनविभावतावच्छेदककोटावुक्तनिवेशाकरण । स्वस्राविष-
येनागम्याङ्गनास्तरपरिग्रह । तत्त्व धानादिनिष्ठशृङ्गारालम्बनविभावत्वम् ।

अप्रामाण्यनिश्चयविषयकागम्यात्वप्रकारकज्ञानोपविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगि-
ताकाभावविशिष्टकान्तात्वस्य शृङ्गारालम्बनविभावतावच्छेदकतद्वानन्म्युपगम
भगिनीप्रभृत्यागम्यस्त्रीणामपि, सामान्यधर्मस्य कान्तात्वस्य मत्वाद् धानादिनिष्ठशृ-
ङ्गारालम्बनविभावत्वमापद्यत, तस्मादुत्तनिवर्त आवरण इत्यभिप्राय ।

अदना है देना निश्चय हुआ, तब क्या होगा ? वह नादिका उनके रति का विभव होगा या नहीं ? अगर 'हाँ' में ही देना होगा, यदि आप कहें कि उन नादिका में विशेषज्ञानका अविच्छिन्न प्रतियोगिताक अगम्यात्वप्रकारक ज्ञानाभाव ही नहीं है अर्थात् 'वह जाना है' देना जान ही उन नादिका में विद्यमान मन्व्य है, फिर वह अनुसंधेय रति का अलम्बन विभाव कैसे होगा ? जान ठीक है, इत्यादि प्रत्यक्ष अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान में अदनाभाव या अनादिके 'विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नविशिष्ट ज्ञान का अभाव रहना, इस तरह के अभाव को 'विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नविभाव' कहते हैं, अब वह नादिका उन नादिक के प्रेम या अलम्बन अवश्य हो सकती है। अर्थात् अब प्रश्न में विचार कीजिये कि इन परिष्कार के अनुसार 'अनुसंधेय अदि सामान्यी का रति के अलम्बन विभाव होगी या नहीं ? उक्त प्रत्यक्ष का नकारात्मक है क्या ? अनुसंधेय अदि-तो पूज्य कोटि में है—'अगम्या' इत्याकारक ज्ञान ही सामान्यी का रहता है और उन ज्ञान में वह अप्रामाण्यनिश्चय अर्थात् 'अगम्या' यह ज्ञान मिला है देनी परण या नहीं होगी, अब विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नविशिष्टक, अनादिके अदनादिके अगम्यात्वप्रकारक ज्ञानाभावविशिष्टकान्तात्व रूप विभावतावच्छेदकधर्म शृङ्गारालम्बन आदि में नहीं है। मर्यादा यह कि अनादिके अदना प्रमाण नहीं हो सकती—अर्थात् 'रतिवशात्क रतिवशात् में है' देना जान नहीं बन सकता है ।

कान्तामत्र को रति का विभव मान लेने पर जो दोष होगा उसका उन्मूलन है—'अन्यथा' इत्यदि । कहने का कारण यह है कि रति के अलम्बन विभव होने के लिये नादिका में ज्ञान प्रतियोगी की रहना आवश्यक बतलाया गया है, अन्यथा अदिके रति न किण ज्ञान, केवल अदना

रसान्तरेष्वप्येव निवेशस्यावश्यकता प्रकटयति—

एवमशोच्यत्व—कापुरुषत्वादिज्ञानविरहस्य तथाविधस्य करुणरसादौ ।

नन्ववच्छेदककोटिप्रवेशितस्तादृशज्ञाणभाव सुलभ इत्यत आह—

तादृशज्ञानानुत्पादस्तु तत्प्रतिबन्धकान्तरनिर्वचनमन्तरेण दुरुपपादः ।

अशोच्यत्वमशोचनीयत्व, तच्च पुन सर्वथा हृतकृत्यत्वाज्जीवद्दशाजायमानविप-
मयातनानिवर्तनाद्वा, कापुरुषत्व तु पीरूपोचितानाचरणात् कदाचरणाद्वा । तथाविधस्य
विशेष्यताराम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य ।

एव शृङ्गाररसीत्तरीत्या, करुणरसादावपि विभावताज्ज्वलच्छेदककोटावशोच्यत्व-
कापुरुषत्वप्रकारकज्ञानीयविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसमानाधिकरण-
विनष्टपुरुषत्वमेवामन्वन्विभावताज्ज्वलच्छेदकम् । अन्यथा विनष्टत्वाशोच्यस्यापि पुरुष-
स्य विनष्टपुरुषत्वादिसामान्यधर्मयोगात् करुणरसात्सम्बन्धविभावत्वमापद्यते (एवमेव
रसान्तरेष्वप्युक्तम्) इत्याशयः ।

तादृशस्याप्रामाण्यज्ञानाविषयापम्यात्वादिप्रकारकमज्ञान, तस्यानुत्पादोऽनुत्पत्ति,
तु पुन तत्प्रतिबन्धकान्तराणां तन्ज्ञानोत्पत्तिप्रतिरोधकानामन्येषां, निर्वचन निरूपणम्,
अन्तरेण विना, दुरुपपादो दुर्बल इत्यर्थः ।

शकुन्तलादिविषयकमगम्यात्वप्रकारकज्ञान तावनावरुध्येत, यावदेतादिसम्बन्ध तत्प्र-
तिबन्धक कश्चिन्न परिकल्प्येत । तन्निवेशे तु किञ्चित्विभावताज्ज्वलच्छेदकविरहात् प्रकृते
रसप्रतीत्यभाव इति भावः ।

को ही विभावतावच्छेदक माना जाय, अर्थात् नास्ति होना ही रति के आलम्बन होने के लिये पर्याप्त
सम्बन्ध जाय, तब मौनचर्चों भी कान्ता होने के नाते पुत्र तथा भ्राता को रति के आलम्बन ही जार्गीना,
यह बात मैं पहले भी लिख चुका हूँ ।

केवल शृङ्गार रस के ही नहीं अपितु अन्य रसों के विषय के विषय में भी उक्त प्रकार का विचार
करना पड़ेगा, यही बात कहने है—'एषम्' इत्यादि । आशय यह है कि जैसे शृङ्गार रस में आल-
म्बन विभावतावच्छेदक केवल कान्तात्व की न मान कर उक्त विशेषणविशिष्ट कान्तात्व को माना
गया है, उसी तरह करुण रस के विभावतावच्छेदक भी केवल मृत जनत्व की न मानकर अप्रामाण्य-
निश्चयनातिरिक्त, अशोच्यत्व अथवा कापुरुषत्वप्रकारक ज्ञानाभावविशिष्टशुक्लत्व को मानना चाहिये
अर्थात् करुण रस का—शोक का—आलम्बन—विभाव (कारण) केवल मृत इव व्यक्ति विशेष नहीं हो
सकता, अन्यथा वह व्यक्ति भी शोक का आलम्बन हो जायगा, जो प्रसन्नान प्राप्त कर लेने के बाद
मरा है—जिसको जीवन-मरण में कोई विशेष नहीं भागिन होता था, अथवा जो कापुरव था—
निन्दित था, अर्थात् जिसके मरण से लोगों को मुझी ही होती है, अपितु वह व्यक्ति विशेष ही मृत
होकर शोक का आलम्बन होता है, जिसमें वह 'अशोच्य था, कुत्सित आचरण करने वाला था' ऐसा
ज्ञान हो । शेष विचार शृङ्गार रस के विषय निरूपण के अनुसार ही करना चाहिये ।

यदि आप कहें कि 'शकुन्तला आदि के विषय में सभामानिकों को 'ये हमारे लिये अगम्य हैं' ऐसा
ज्ञान उत्पन्न होगा' यह कथन ठीक नहीं, मैं कहता हूँ उक्त ज्ञान सामानिकों को नहीं उत्पन्न होगा, इस
ज्ञान के अस्तित्व के लिये कहते हैं 'उत्तरा' इत्यादि । कहने का तात्पर्य यह है कि परलोकियों के
विषय में 'यह अगम्य है' ऐसा ज्ञान होना ही सत्युक्त के लिये उचित तथा सम्भव है, सीधे शकुन्तला,

तत्र पुनराशङ्क्य समादधाति—

स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरेव तयेति चेत्, न, नायके घरावोरयत्व-
घोरत्वादेरात्मनि चाधुनिकत्व-कापुरुषत्वादेर्वैधर्म्यस्य स्फुट प्रतिपत्तेरभेदबो-
धस्यैव दुर्लभत्वात् ।

ननुतवैधर्म्यज्ञान कथञ्चिदजाते जाते वेष्णामूलकमाहार्यरूप दुष्यन्ताभेदज्ञान
मवेदेवेत्यस्ये, प्रकारान्तरेण सङ्गहनमुपक्रमते—

किं च केय प्रतीति ? प्रमाणान्तरानुपस्थानाच्छब्दीति चेत् न व्यावहा-
रिकशब्द-ान्तरजन्यनायकमिधुनवृत्तान्तवितीनामिवास्या अप्यहृद्यत्वापत्ते ।

स्वात्मनीति सप्तम्यर्थो विशेष्यत्वम् । तथाऽगम्यात्वादिप्रकारकज्ञानोत्पत्तिप्रति-
बन्धिका । घराघोरैरयत्न भूमारवहनसमत्वम् । घोरत्व प्राप्ततमत्व घृतिविशेषनालित्व
वा । प्रयमेनादिसब्देन स्वात्मनि सर्वथाऽसम्भाव्याना प्राचीनकातवृत्तित्व-साकार-
सौर्षादिगुणाना द्वितीयेन चाल्पज्ञत्वादीना स्वदोषाणा ग्रहणम् । वैधर्म्य विरुद्धा घम ।
प्रतिपत्तिज्ञानम् ।

स्वात्मविशेष्यक दुष्यन्तप्रकारकभेदससर्गक दुष्यन्तोऽहम् इत्याकारक ज्ञान-
सामाजिकस्य यदि जायेत, तर्हि शकुन्तलाविषयकमगम्यास्वप्रकारक ज्ञान सामग्री-
विरहान्नीचोत्पद्येत, तर्हि तादृशज्ञानानुत्पत्तमे प्रतिबन्धकान्तरकल्पनया, दुष्यन्ताभेद-
बुद्धयर्थागम्यात्वप्रकारकज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धसम्भवादिति वयन तु न सङ्गतम्, स्वात्म-
न्यसम्भाव्याना घराघोरयत्वादीना दुष्यन्तगुणाना दुष्यन्तोऽसम्भाव्यानामाधुनिकत्वा-
दीनामात्मबोषाणा च मिथोविरुद्धघर्षाणा ज्ञाने स्फुट विषयभावे, बाधितस्य स्वात्म-
विशेष्यकदुष्यन्ताभेदज्ञानस्योत्पत्तुमेवाशक्तत्वादित्यभिसन्धि ।

किञ्चेत्यादिना प्रथमकोट्टमुपपादन तत्सङ्गहन च । इय रसत्वेनाभिमत,
प्रतीति का किमात्मिकेति प्रश्न । प्रमाणान्तराणा प्रत्यक्षानुमानोपमानानाम ।
शब्दी शब्दजन्या शब्दबोधरूपा । व्यावहारिकशब्दान्तराणि कस्यातिरिक्तनैतिक-

इत्यन्ती प्रकृति को तो बात ही क्या ? इन मन्त्रों सभी पूज्य समस्त हैं, उन इनके विषय में उक्त
ज्ञान का होगा अभिमान का है, हाँ, निःसन्देह तब वह नहीं हो सक्ता, यदि उन ज्ञान का उत्पत्ति
को रोक देने बाता कोई प्रतिबन्धक उपस्थित रहे, परन्तु ऐसा प्रतिबन्धक कोई दृष्टि-गोचर होता
नहीं, फिर तो सामाजिकों को शकुन्तला आदि के विषय में अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान होगा हा ।

यदि आप कहें कि शकुन्तला आदि के विषय में अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान का रोक्ने वाला
प्रतिबन्धक आपकी दृष्टिगोचर नहीं होगा, यह तो अणक दृष्टि-बोध है, मैं तो प्रतिबन्धक को देखना
हूँ और अणको भी दिखला सकता हूँ, देखिये—अभिमानशकुन्तला आदि के अभिजन देखने समय
प्रत्येक सामाजिक अपने को दुष्यन्त समझना रहता है, वही दुष्यन्तादिक (जिनकी शकुन्तला आदि
प्रेयसियाँ थी) और अपने में होने वाली अनेक-बुद्धि अर्थात् 'मैं दुष्यन्त हूँ' यह बुद्धि हा शकुन्तला
आदि या अगम्यात्व ज्ञान की प्रतिबन्धिका है, यह भी तर्क दीक नहीं, क्योंकि शकुन्तला आदि के
नायक दुष्यन्त आदि प्राचीन काल के धराधीन और धीर दुष्य वे और हम इन युग के छुद्र मान्य हैं,
यह विरुद्ध धर्म जब स्पष्ट प्रतीत होना रहेगा, तब 'मैं दुष्यन्त हूँ' इस तरह के अनेक ज्ञान का होना
ही दुर्लभ-मसम्भव है ।

ननु सा प्रतीतिर्गान्तयेव गभेदित्याशङ्क्यामाह—

नापि मानसी, चिन्तोपनीताना तेषामेव पदार्थाना मानस्या, प्रतीतेरस्या
वैलक्षण्योपलम्भात् ।

व्यवहारप्रयुक्ता अन्ये शब्दा । नायकमिदुन नायिका नायकश्च । वित्तिर्बोध । अस्या-
वाच्यशब्दजन्यरसप्रतीते । अहृद्यत्वचमत्कारिता ।

इदमुच्यते—रसत्वेनाभिमतयेव सामाजिकप्रतीति शब्दजन्यत्वावभिवाऽऽदिष्टुति-
संगमत्वाच्च न प्रत्यक्षम् । व्यतिवृत्तप्रहासनपक्षपातानुष्ठानम् । यादृश्यज्ञानामुक्त-
त्वाच्च तोपमानमित्यनायस्या शब्दबोधस्वरूपवाभ्युपगता स्यात् । एव सति
प्रत्यक्षातिरिक्तानामाचमत्कारित्वस्य सवसम्भनत्वादस्या अपि चमत्कारदुन्यतया
'रसे एतश्चमत्कार इत्युक्ते रसत्व न भ्याम् । अन्यथा नायकमिदुनपुत्तान्तबोधक-
काव्यातिरिक्तशब्दजन्याया अचमत्कारकप्रतीतेरपि रसत्वमापद्येनेति भाव ।

अभिनेयकाव्यजप्रतीते शब्दजन्यत्वमावाञ्छाब्दत्व तु चिन्तनीयम् ।

अपि प्रागुक्तशब्दधीयमुच्यते ।

मानसी ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तिजन्यालौकिकप्रत्यक्षलक्षणाऽपि सा प्रतीतिर्न भवितु-
मर्हति, चिन्ताया पुन—पुनरनुसन्धानरूपनावनया उपनीता सुरमिचन्दनम् इत्यत्र
सौरभाशवदलौकिकप्रत्यक्षबोचरीकृताना, तेषा शकुन्तलाऽऽदीनामेव पदार्थाना या
मानसी प्रतीति, तस्या (सकाशात्) अस्या काव्यशब्दजन्यरसप्रतीते, वैलक्षण्यस्य चम-
त्कारिप्रयुक्तभेदस्य, उपलम्भादनुभवदित्यर्थ ।

अयमाशय—सुरमिचन्दनमित्यादी ज्ञानलक्षणालौकिकसन्निकर्षणे सौरभादीना
स्मरणमिव ज्ञानमेव भवति न तु तन्वृत कश्चन चमत्कार । इह तु चमत्कार । इह
तु चमत्कारोऽपीन्पुमयो कायभेदाद् भेदाभ्यानुभवमिद्वत्त्वान्नकात्म्यम् ।

यदि किसी कारण से एक विद्वद् धर्म का ज्ञान न हो, अथवा एक विद्वद् धर्म के ज्ञान होने पर
भी इच्छामूलक 'दुभनोऽहम्' ऐसा आहार्यज्ञान गो हो ही सकता है क्योंकि आहार्यज्ञान से
अतिरिक्त ज्ञान ही वाच्यनिर्देश का प्रतिबन्ध होता है, अब प्रकारान्तर से ध्येयन का उपक्रम करते
हैं—'किञ्च' इत्यादि । अब हम आपसे पूछते हैं किन्को आप रस कहते हैं वह सागानिर्मो की
आत्मा में होने वाली प्रतीति क्या है ? क्या उसका स्वरूप है ? शब्दजन्य तथा अभिवा आदि वृत्ति-
सापेक्ष होने से वह प्रतीति प्रत्यक्ष रूप नहीं हो सकती, व्याप्तिज्ञान आदि को अपेक्षा नहीं करने से
अनुमिति रूप भी हमको नहीं कह सकते, सादृश्य-ज्ञान-मूलक नहीं हो सकते, उपमित्यात्मक भी
नहीं मान जा सकती, फिर अगत्या शब्द-प्रयोगजन्य होने से शब्दबोधक रूप ही उस प्रतीति को
कहेंगे, परन्तु सो ठीक नहीं, कारण ? प्रत्यक्षातिरिक्त ज्ञानों को अब श्रेय अचमत्कारी मानने हैं और
शाब्दात्मक भी प्रत्यक्षातिरिक्त है, अब वह भी अचमत्कारी होने से रसत्व नहीं हो सकेगा, क्योंकि
'रसे सादृश्यमत्कार' ऐसा मिथ्या है, अन्यथा दिन-रात व्यवहार में जाने वाले वाच्यभिर शब्दों
के द्वारा ज्ञात हुए छी-पुरुषों के वृत्तान्तों का ज्ञान जो रस संज्ञा को प्राप्त कर लेगा ।

यदि आप उस प्रतीति को मानस अर्थात् ज्ञानलक्षण-प्रत्यासत्ति-जन्य अलौकिक प्रत्यक्षरूप कहना
चाहें तो सो भी नहीं बन सकता, क्योंकि चिन्ता (पुन पुन अनुसन्धान रूप भावना) के द्वारा
अलौकिक प्रत्यक्ष के शिष्य बनाने गये अर्थात् समझे गये एन्ही शकुन्तला यदि पदार्थों को मानस

नन्वेवमनुभूनिमिशा सा प्रतीति स्मृतिरेवाङ्गीक्रियतामित्यत आचष्टे—
न च स्मृति, तथा प्राग्भननुभवात् ।

इत्थ विकल्पान् निरस्य भट्टनायकसम्मत रसस्वरूपमुपन्यस्यति—

तस्मादभिधया निवेदिता पदार्था भावकत्वव्यापारेणागम्यान्वादिरसवि-
रोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते । एवं
साधारणीकृतेषु दुष्यन्त-शकुन्तला-देश-काल-वयोऽवस्थाऽऽदियु पङ्क्तौ पूर्व-
व्यापारमहिम्नि, तृतीयस्य भोगकृत्वव्यापारस्य महिम्ना, निगोर्णयो रजस्त-
मसोरद्रिक्तसत्त्वजनितेन निजचित्व्यभावनिवेतिविश्रान्तिलक्षणेन साक्षात्कारेण,
विपयीकृतो भावनोपनीत. साधारणात्मा रत्यादि भ्यामी रम ।

चकारेण प्रागुक्तवाच्यबोधादिमद्ग्रह । अस्येति जेष ।

स्मरणानुभवयो वाचंकारणभावस्य सवन्न निर्गन्तत्वादिह शकुन्तलादिपदाविषय-
कानुभवस्य प्राग्भाषादस्य ज्ञानस्य न स्मरणत्वविधास्य ।

अस्या प्रतीते स्मृतिरूपताऽङ्गीकारे परोक्षात्मकतयाऽवमत्कारित्वप्रसङ्ग
स्यादित्यपि न विस्मरणीयम् ।

तस्मान्-पूर्वोक्तरीत्या प्रकारान्तरामम्भवान् । निवेदिता-श्रयकाव्येऽभिधया
बोधिता दृश्यकाव्ये त्विन्द्रियसन्निकर्षेण प्रत्यक्षविषयता नीता । पदार्था दुष्यन्तादयो
रन्वाद्यश्च । भावकत्व हि साधारणीकरणसक्षय काव्ये विभावादिव्यापार,
तदुक्तम्—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृति ।

तत्रमाकेण यम्यासन पायाधिप्लवनादय ॥

प्रमाता तदभेदेन स्वात्मान प्रतिपद्यते ॥ इति

'साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वन प्रतीयत ॥ इति च ।

प्रतीति मे काव्यरसान्वयप्रतीति मे विज्ञानात् अन्वय होता है अथवा 'सुरभिवन्दनम्' इत्यादि
स्वरूप में आन्तकज्ञानम् अलौकिक सम्बन्ध से होने वाला सौन्दर्य-ज्ञान में कोई चमत्कार अनुभूत
नहीं होगा और यही रसात्मकप्रतीति से वह अनुभूत होगा है, अतः रसात्मक प्रतीति मानन नहीं हो
सकती ।

स्मृतिरूप भी एत प्रतीति की नहीं मान सकते, क्योंकि स्मृति के प्रति अनुभव कारण है अर्थात्
निज चीजों का निज रूप में पढ़ने अनुभव हुआ करता है वहीं चीजों का हम रूप में पीछे स्मरण
होता है, यहाँ तो शकुन्तला आदि पदार्थों का हम रूप में पढ़ने कभी अनुभव ही नहीं हुआ है, फिर
उसका स्मरण कैसे हो सकता है ?

इस तरह से अनेक विकल्पों का सा-उन कर अब सनादशाभिमान रसस्वरूप का उपरदन करने
हैं—तस्मादभिधया इत्यादि । अभिधाय यह है कि पूर्वोक्त एक ही प्रकार ठीक नहीं हो सके,
अतः ऐसे सम्बन्ध वाहिर कि इन्द्रकव्य में अभिधा के द्वारा और इन्द्रकव्य में यत्पुरिन्द्रिय से पढ़ने
शकुन्तला आदि पदार्थों का बोध होता है, इसके बाद काव्य में रहने वाला 'भावकत्व' व्यापार से
शकुन्तला आदि के विषय में तो रसविरोधी 'आम्या इवम्' इत्यादि जाने होता था—वह नोक दिया
जाता है और काव्य आदि रसोपयोगी धर्म के साथ धन (शकुन्तला आदि) पदार्थों को जागिदति

श्रुतिस्वारस्यरक्षायै प्राग्बद्ध विकल्पयति—

तत्र भुज्यमानो रत्यादि, रत्यादिभोगो वेत्युभयमेव रसः ।

अगम्यात्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा-शकुन्तलादिविषयकमगम्यात्वादिरकार-
कम् (अत एव) रसस्य ज्ञाननक्षत्रस्य प्रतिबन्धनत्वाद् विरोधि प्रतिकूल गज्ज्ञान तस्य
प्रतिबन्धद्वारा तत्प्रतिबन्ध प्राग् विधाय कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेण कान्ता-
त्वादयो ये रसानुकूला रसप्रतीत्युपयोगिनो धर्मा, तेषां पुरस्कारेण वंतिष्टचेन ।
अवस्थाप्यन्ते प्रतीतिविषयीक्रियन्ते । एवम्—उक्तभावकत्वव्यापारेण । साधारणीकृतोपु
शामान्यधर्मविच्छिन्नत्वेन (विशेषधर्मविच्छिन्नतया) बोधितेषु । सीतादिशब्दबन्ध-
कुन्तलाशब्दस्य पूर्वनिपात उचित । देश उपवनादिस्थानम् । कालो वसन्तादिसमय ।
वयो बाल्यादि । अवस्था स्वयंविषयविशेषादिदशा । आदिपदेन रत्यादित्वादि—लज्जादि-
व्यभिचारि—कटाक्षविक्षेपाद्यनुभावानीना ग्रहणम् । पञ्जी कृतकृत्यत्वाद् विरते मतीति
शेषः । पूर्वव्यापारो भावकत्वम् । तृतीयस्य भोजकत्वस्याभिधा—भावकत्वापेक्षया
बोध्यम् । भोगकृत्व भोजकत्वमित्यन्यथानिर् । निगरणमधःकरणमभिभव इति
यावत् । उचितत एवस्तमोगुणावमिभूयाविभूत यत् सत्त्व (गुण) तज्जनितेनेति
माहात्कारविशेषणम् । निजा स्वीया (आत्मरूपा) चित्त्वभावा र्थतन्माकारा, या
निवृत्तिरानन्दो विश्रान्तिर्वैश्वान्तरपरिहारेणावस्थितिलक्षण स्वचप यस्य, तादृशेन,
साहात्कारेणापरोक्षज्ञानेन, विषयीकृतो गोचरता नीत । भावनपेपनीत उपस्थापित
(अत एव) साधारणात्मा सम्बन्धिविशेषानपच्छिन्नरूपः ।

अभिधायोपस्थापितेषु, भावकत्वेन साधारणीकृतोपु विभावादिषु भोजकत्वेन
साहात्कारविषयता नीतो रत्यादि स्थायी वेदान्तरूपसंशून्य सच्चिदानन्दरूपो रस
इत्येतन्मन्त्रनिष्कर्षः ।

तत्र भोगविशिष्ट इत्यादिरूपे । उपय भोगविषयीभूतरत्यादौ रत्यादिविषयकमोग-
रथेतिविकल्पनाद् इयम् ।

उक्तश्रुतिविरोधरूपविनिमयकस्योपसम्प्रेऽपि 'दिनिगमनाविरहादाह—'इत्यवतरण
दु चिन्तनीयम् ।

कर दी जाती है । एव तरह वह 'भावकत्व' व्यापार शकुन्तला, दुष्यन्त, देश, काल, वय और संयोग,
विषय आदि दशा सबको माभरण बना देता है, अर्थात् उनमें किसी प्रकार की विशेषता नहीं रहने
देता कि जिससे रसोद्वेष में बाधा पड़े । वस, ज्ञाना कायं करके वह व्यापार विरत हो जाता है ।
इसके बाद 'भोगकृत्व-भोजकत्व' नामक तृतीय काल्य-व्यापार से रजोगुण और तमोगुण निर्गोण कर
छिड़े जाते हैं—इना दिये जाते हैं और सत्त्वगुण उद्विक्त-प्रकृत हो जाता है, जिससे हम (मायाजिक)
सांसारिक मगमन विषयों से जुझारा फकर अपने चैतन्यरूप आत्मानन्द का साक्षात्कार करने लगते
हैं, वस वही साक्षात्कार-आत्मानन्दानुभव का विषय बना हुआ रति आदि स्थायीभाव 'रस' कहलाना
है जिस स्थायीभाव को पूर्णतः 'भावनकत्व-भवनविशेष' साधारण रूप में व्यथित कर चुका था । यहाँ
वह मैं एक समझ लेने की बात है कि सत्त्वगुण के लक्षक से जो आत्मानन्द भकाशित होता है, वही
चैतन्यरूपक हान को 'भोग' कहते हैं, जिसके विषय बन जाने पर रति आदि स्थायी भावों की 'संता'
'रस' पकती है ।

आस्वादात्मनोऽप्य रसभोगस्य, ब्रह्मास्वादाद् वेतसाम्य मादृश्यप्रदर्शनकपटेन प्रकटयति—

सोऽय भोगो विषयसबलनाद् ब्रह्मास्वादमविधवर्तीत्युच्यते ।

इदानीमुपसहरति—

एव च त्रयोऽशा काव्यस्य—‘अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव च ॥’ इत्याहुः ।

अभिनवगुणमताद् भट्टनायकमतस्य विशेषमविशेष च दशयति—

मतस्यैतस्य पूर्वस्मान्मनाद् भावकत्वव्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः । भोगस्तु व्यक्तिः । भोगकृत्व तु व्यञ्जनादविशिष्टम् । अन्या तु मैव मरणि ।

विषयसबलनान्—स्वेनरविषयसम्बन्धान् । ब्रह्मास्वादस्य सविधवर्ती—निकरस्य सदृश (न त्वेक) इति यावत् ।

इदमुच्यते—ब्रह्मास्वादोऽविशिष्टविषयकत्वात् स्वमिन्नविषयपरामृत्तो निविषय, रसभोगस्तु विभावादिविशिष्टस्याविषयकत्वात् स्वमिन्नविषयपरामृत्त सविषय इत्युच्यते, सच्चिदानन्दसाक्षात्कारमाक्षात्काररूपतया च सुखत्वम् । रजस्तमसो सत्त्वेनाभिभूतत्वादनयो साक्षात्कारयो केवलानन्दरूपता, लौकिकसुखसाक्षात्कारे तु रजस्तमसोरनिभवात् कदाचिन् दुःखमोहयोरपि सम्भेदस्य सम्भवान् ततो भेदः, सत्त्वरजस्तमसा प्रमेण सुख-दुःखमोहलक्षणपरिणते साह्यधामिमतत्वान् ।

असा व्यापारः । अभिधेति लक्षणेन्द्रियमन्निकर्षयोरप्युपलक्षणम्, साक्षिणकृद्भ्र-वाध्ययोरनुरोधात् । भोगीकृतिभोगस्य निदान भोजकत्वम् । भोगो मुक्तिराम्बाद् इत्यनयान्तरम् । आहुरित्यस्य पूर्वोक्तेन ‘भट्टनायका’ इत्यनन सम्बन्धः ।

एतस्य भट्टनायकमतस्य, पूर्वस्मान् प्रागुक्ताद् अभिनवगुणस्य मताद्, भावकत्वमेव व्यापारान्तर पूर्वोक्ताद् मित्रो व्यापारः, तस्य स्वीकार एव विशेषो वैश्वस्यम्, अस्तीति

इत एव मे भो “यस्य पक्ष को तरह ही भोग किए जाने हुए अर्थात् चैतन्य मे युक्त रति आदि भावोभाव कथवा गति आदि स्थायी भावों का भोग अर्थात् रति आदि से युक्त चैतन्य के दोनों ही ‘रस’ हैं ।

यद् भोग—रसास्वाद, ब्रह्मास्वाद का सविधवर्ती—महोदर अर्थात् मनुष्य कालाना है, ब्रह्मास्वादरस नहीं, क्योंकि यह रसास्वाद—भोग, विनाश आदि मे विद्रिष्ट स्थायित्वाव को विषय रूप में साथ रखते रहना है और ब्रह्मास्वाद अपने से अतिरिक्त किसी भी वस्तु को विषयरूप में साथ नहीं रहना अर्थात् रसास्वाद सविधवर्क होता है और ब्रह्मास्वाद निर्विषयक, अतः इन दोनों में भेद है, परन्तु भेद के रहने पर भी सत्त्वजन्य, सच्चिदानन्दस्य, अवरोध—साक्षात्काररूप होने से ये दोनों समान बहन्ने से योग्य अर्थात् हैं ।

इत तरह यह सिद्ध हुआ कि काव्य के तीन अंग हैं अर्थात् काव्य में तीन व्यापार रहते हैं—एक ‘अभिधा, जिसमे सर्वप्रथम काव्यार्थों को समझा जाना है, यहाँ अभिधा धर को दृश्य तथा शब्दकाव्य के अनुरोध मे लक्षणा तथा इन्द्रियसन्निकर्षों का भाव उत्पन्न मयजना चाहिये । दूसरा अंग काव्य का है—भावना या भावकत्व, जिसमे सुकुलन्य आदि का माधुर्योत्कर्ष होता है और तीसरा अंग है भोगीकृति या भोगकृत्व अर्थात् भोजकत्व, जिसमे रति आदि का रस रूप में आस्वादन होता है ।

पूर्व मत से इन मत में क्या अन्तर है इसकी समझना करने है—‘मतस्यैतस्य’ इत्यादि ।

अथ तृतीय नव्यमतमुपपादयितुमुपक्रमते—

(३) नव्यास्तु—'काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावा-
दिषु, व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतो गृहीतायामनन्तरं च मह-
दयतोऽलामितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वाव-
च्छादिते स्यात्सन्ध्याजानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्ड. समुत्पद्यमानो-
ऽनिवंचनीय माक्षिभास्य-शकुन्तलादिविषयक-रत्यादिरेव रसः ।'

शेष । एषमद्वेऽपि योजनीयम् । भोगस्तु भुक्तिव्यक्तिसंभवावरणचिद्रूप आस्वाद इति
यावत् । भोगकृत्व भोजकत्वरूप तु पुन, व्यञ्जनाद् रसनाश्वकृते, अविशिष्टमवि-
सक्षणमभिप्रमित्यन्यन्तरम् । अन्या तदतिरिक्ता तु साऽऽनिवचगुणोक्ता, एव, न तु
तद्भिन्ना, सरणि पठतिरित्यर्थः ।

प्रथममते ष्या व्यञ्जनाज्ञानावरणमपमार्थ, सत्त्वोद्रेके सति, सनावरणविदव-
च्छिन्नरत्यादि, रत्याद्यवच्छिन्न-मनावरणचित वा, सच्चिदानन्दास्वादपदवी नीत्वा
रसत्वेन व्यवहारयति । तथैव द्वितीयमते भोजकत्व सत्त्वोद्रेके सति स्वीयमानावरण-
सच्चिदानन्दरूपेण साक्षात्पारेण, रत्यादि गोचरयित्वा रसत्वेन व्यवस्थापयतीति
व्यञ्जनास्यानीयमेव भोजकत्वम् । केवल भावकत्वव्यापारस्य स्वीकारो नवीन
इत्याकृतम् ।

ननु भावकत्वमपि न व्यापारान्तरम्, व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणी-
कृति 'इत्यादिना विभावादीनां साधारणीकरणाय तस्याद्यमतेऽप्यभ्युपगमादिति चेत्,
उच्यते, आद्यमते विभावादीनां साधारण्य महदयनिष्ठ-वदीनसहृदयत्वप्रभारित-भावना-
विशेषमहिम्नैव सम्पद्यते । इह तु तदर्थं विभावादिनिष्ठस्य त्रुनव्यापात्स्याङ्गीकार
इत्युभयोर्भेदः । 'व्यापारोऽस्ति विभावादे' इत्याद्युक्तिस्तु द्वितीयमतानुसारिणी । तस्या
आद्यमतानुसारिता तु भावकत्वस्य सहृदयभावनाविशेषरूपताऽभ्युपगमेन बोध्या ।

नव्या इत्यस्य 'इत्याहु' इत्यनेन सम्बन्धः । विभावादिषु काव्ये (नाट्यस्य
पृथगुपादानात्) श्रव्यकाव्ये, च तथा नाट्ये तीर्थश्रवणमये नटाभिनेये दृश्यकाव्ये,
कविना रान्द्वैर्नटेन चतुर्विधमिनयैश्च प्रकाशितेषु बोधितेषु सत्सु, व्यञ्जनव्यापारेण

अभिनयगुण ने जिन वस्तु को 'मनावरणचित' कहा है, तमी वस्तु को भूनाएक 'भोग' कहते हैं,
अर्थात् सत्त्वमात्र के भेद रहने पर भी परार्थ में कोई भेद नहीं है । भोगकृत या भोजकत्व व्यञ्जना
का ही नामान्तर है क्योंकि दोनों का अर्थ एक ही है अर्थात् दोनों ही सत्त्वगुणोद्रेके द्वारा अज्ञान-
वरण को हटा कर रसरूप आत्मानन्द का अनुभव कराने हैं, और सौर-गरीके भी प्राय दोनों मतों में
समान ही हैं, हाँ, एक विशेष द्वा द्वितीय मत में अवश्य है और वह है नवीन भावकत्व व्यापार का
स्वीकार करना अर्थात् द्वितीय मत में साधारणीकरण के लिये एक विशिष्ट भावकत्व या भावना नाम
का व्यापार शब्द दो शब्दों में अविधा आदि के जैसा मान लिया गया है और प्रथम मत में
सहृदयतासहकृत, बाव्यार्थों का पुन पुन अनुसन्धानरूप भावना से ही साधारणीकरण होता, इनके
लिये काव्य शब्दों में विभो मुख्य व्यापार का स्वीकार करना आवश्यक नहीं है, ऐसा उपसंहार में
मान लिया गया है ।

अब रस के विषय में नवीन विद्वानों के तृतीय मत का प्रतिपादन करने हैं—'नव्यास्तु'
इत्यादि) अविभाय यह है कि अन्य-काव्य में नवि शब्दों के द्वारा विभाव, अनुभाव और सत्त्वारी-

व्यक्त्या, शकुन्तलादिरती शकुन्तलादिविषयकरती, दुष्यन्तादी दुष्यन्ताद्यधिकरणे सहृदयेन गृहीताया ज्ञाताया सत्याम अनन्तर तदनु महृदयस्य या सहृदयता तयोक्त्वासितस्य प्रादुर्भावितस्य योपिनम्य वा भावनाविवेकस्य प्रागुक्तविलक्षण भावनात्मकस्य, दोषस्य बहयमाणस्यप्रकारणस्य महिम्ना प्रभावेण, कल्पितमात्मन्य-सदपि सत्त्वेन ज्ञातमवास्तविक, यद् दुष्यन्तस्व तेनावच्छादिते तदवच्छिन्नविशेष्यता प्रभृति अज्ञानावच्छिन्ने तदभाववद् विशेष्यक तत्रवारकज्ञानस्यैव भ्रमत्वाभ्युपगमाद् दुष्यन्तत्वामावधन्तप्रप्याम्भान दुष्यन्तत्वेनजानाने सहृदयस्य स्वात्मनि शुक्तिनाशकले शुक्तिखण्डे वास्तविकरजतत्वामावकस्यपि रजात्वेन ज्ञायमाने, इह यथा ममुत्पद्य-मान प्रातिभासिकसत्ताश्रितत्वाज्जायमान अनिर्वचनीयो वास्तविकत्वानावात्र नन प्रत्यक्षयोवरत्वाच्च नासन्निति सदमद्विभ्रजनया निर्वचनानहं रजनखण्ड तथैव साक्षिभास्योऽस्त-करणभास्यत्वान नाशादात्मभास्य शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरव (न तु तज्ज्ञानादि किञ्चिदन्यत) रमोऽस्तीत्यर्थ ।

चाकचिकप्रदोषेण शुक्तिखण्डे रजनभ्रमे यथाऽनिर्वचनीय साक्षिभास्यश्च रजनखण्डे प्रातिभासिकसत्ता लभते तथैव विलक्षणभावनादोषेण सहृदयस्य स्वात्मनि शकुन्तलादि-रत्यादिमदुष्यन्तादिभ्रमे रत्यादि प्रतिभासमानो रसत्त्व लभन इति मतेऽस्मिन् न नवीनध्यापारकल्पनापेक्षति सारम ।

भावो को प्रकथित करना है, दुष्काम्य न नष्ट भगिनयो के द्वारा उनको प्रकथित करना है, ह्य (सामानिके) को शब्दकाव्य के पटल में और दृश्य के अन्तर्गत से उन विभावितियों का ज्ञान पहले होता है, तदनन्तर हम काव्य की व्यपना-वृत्ति में दुष्यन्त आदि में रहने वाली शकुन्तला आदि को रति का ज्ञान करते हैं अर्थात् अज्ञान वृत्ति के द्वारा हम यह समझते हैं कि—'दुष्यन्त शकुन्तला-विषयकरतिनाम्'—दुष्यन्त शकुन्तला का प्रेमी था इसके बाद हमारा सहृदय हममें एक प्रकार की भावना पैदा करती है अर्थात् हम सहृदय होने के जाने दुष्यन्त आदि के लक्षण में एक पुनः अनुसंधान करने लग जाते हैं और वह भावना पुनः पुनः दुष्यन्त आदि के विषय में अनुसन्धान-एक पैसा दोष है, जिससे हमारी अन्तर्गत वृत्ति दुष्यन्तत्व में व्यक्तित्व हो जाती है, अर्थात् हम अनुसन्धान दोष के चलते हम अपने को दुष्यन्त समझने लगते हैं और तब हम अपने को दुष्यन्त समझ लेते हैं, तब हमें अपने को शकुन्तला का प्रेमा मगधने में कोई बाधा नहीं रह जाता अर्थात् एक दोष के कारण वृत्ति दुष्यन्तत्व में व्यक्त अरथा में वृत्ति शकुन्तलाविषयकरति भी वृत्ति होने लगती है, जैसे दूतत्व आदि दोषों के कारण जब संधि के टुकड़े अज्ञान में एक एक हो जाते हैं—अर्थात् वे संधि के टुकड़े आदी के टुकड़े प्रतीत होने लगते हैं यद्यपि हम में शकुन्तला आदि की रति वास्तविकत्व में रहती है, न संधि के टुकड़ों में चर्चोचर तथादि साम्य-आत्मा लक्ष्य भन करा देती है । हम तरह के दोषों (हम में अज्ञान होने वाली शकुन्तला आदि की रति और संधि के टुकड़ों में प्रतीयमान जादीन) अनिर्वचनीय हैं अर्थात् उनके अज्ञान होने के कारण हम नहीं कह सकते और प्रत्यक्ष विचारों के द्वारा अज्ञान भी नहीं ज्ञान कर सकते हैं वे सत्यम्पु इन शब्दों में नहीं कहे जाने योग्य होकर अनिर्वचनीय हो सिद्ध होते हैं । हम — भावना दोष से भी दुष्यन्त हैं हम अज्ञान में बने हुए सामानिकों में उत्पन्न होने वाले, अज्ञानम्य अनिर्वचनीय शकुन्तलाविषयकर रति आदि स्वभाव ही 'रत' है ।

'उत्पन्नो रस' विनष्टो रस' इत्यादिव्यवहारसिद्धये रसोत्पत्तिविनाशयो कारणे प्रतिपादयति—

अथ च कार्यो दोषविशेषस्य, नाशश्च तन्नाशस्य ।

प्रसङ्गाद् रसस्यानन्दस्वप्ता प्रतिपादयति—

स्वोत्तरभाविना लोकोत्तराह्लादेन भेदग्रहात् सुखपदव्यपदेशयो भवति ।

ननु रसस्य लोकोत्तराह्लादेन सह भेदाग्रहाद् व्यञ्जनासाक्षात्सम्पर्कसून्वतया व्यञ्जनत्वम् अनिर्वचनीयतया वर्णनीयत्व च न सम्भवतीत्याशङ्कामामनिवृत्ते—

स्वपूर्वोपस्थितेन रत्यादिना तदग्रहात् तद्वर्तित्वेनैकत्वाध्यवसानाद्वा श्यङ्गो वर्णनीयश्चोच्यते ।

अथ रस । च पुन । दोषविशेषस्य प्रानुक्तविलक्षणभावनाया । कार्यो निष्पाद्यमाहुर्भाष्य इति वा । तन्नाशस्य भावनाविशेषरूपदोषश्चरसस्य । नास्यो च्छस्यस्तिरोघाप्यो वा ।

विलक्षणभावनाया सत्यामेव रस उत्पद्यते, तस्या विनष्टागामेव विनश्यतीति तद्भावनाया सत्त्वासत्त्वयोरेव रसस्योत्पत्तिविनाशव्यवहार, शुक्तिधार्मिकभ्रान्ते सरवान्त्वयोरेव रजतखण्डस्योत्पत्तिविनाशव्यवहार । इतरथा नित्ये तस्मिन्स्तद्व्यवहारानुपपत्तिरित्यभिप्रेतसिद्धिः ।

स्व रसस्तदुत्तर तद्व्यवहितानन्तर भाषी भविता यो लोकोत्तराह्लादो लौकिक सुखविलक्षण परमानन्द, तेन, सहाभ्य भेदाग्रहात् 'तस्मादय मित्त' इति ज्ञानान्नावान तादात्म्येन ज्ञापमानत्वान्, सुखपदेन (सुखपदस्यानन्दाद्युपलक्षकत्वेन) गुद्यानन्द-प्रभृतिगन्धेन, व्यपदेशयो व्यवहार्यं, अथ रसो भवतीत्यर्थं ।

रसानन्दयोरत्यन्तिपीवापयौं भेदेऽप्यतिसत्रिकर्पाद् दूरस्यमित्रवस्तुद्वयवद् भेदाज्ञाना-दैक्यव्यवहार इति तात्पर्यम् ।

यह रस पूर्वोक्त भावनारूप दोष का कार्य है और उन दोष के नाश के अर्थ में ही वक्तव्य नाश है अर्थात् प्रथम और द्वितीय मन में रस की नित्य माना गया है अतः परकीय उत्पत्ति-विनाश के आरोप हैं 'रस उत्पन्न हुआ, रस विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार सिद्ध किये गये हैं परन्तु इस द्वीप मत में आरोप के द्वारा उन व्यवहारों को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, कारण ? रस को हम मन में स्वयम् उत्पत्ति-विनाशशाली मान लिया गया है, उस दोष ही रस का उत्पादक है और उसके नाश हो जाने पर रस भी नष्ट हो जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक एक दोष का प्रभाव हम पर रहता है, तभी तक अनुपलब्ध आदि की रति (जो रस है) की प्रतीति अपने में होती है और जब हम दोष का प्रभाव नष्ट हो जाता है तब हम रति को प्रतीति भी अपने में नहीं होती । ठीक भी है, बाध-निवृत्त्य हो जाने पर अम दूर हो ही जाता है, जब हम धौरी ममशवर सीप के टुकड़े में समीप में पहुँच जाते हैं और यह समझ लेते हैं कि ये सीप के टुकड़े हैं (जिन नहीं) तब रजतत्व (चौदोपन) की प्रतीति नहीं ही होती है ।

यद्यपि यह (रस) वास्तविक में स्वरूप नहीं है, तथापि 'मिं प्रकृतलविषयक रति वाला दुष्पन्न है' इत्यादि प्रतीति के बाद जो अद्वैतिक सुख होता है वक्तव्य और उस रतिस्य रस में भेद (जो वस्तु है) ज्ञान नहीं होता अर्थात् उन दोनों को हम अभिन्न ही समझते हैं, अतः 'रस स्वरूप है' ऐसा व्यनकार किया जाता है ।

मचेतसाऽऽत्मनि कल्पितस्यावच्छादकस्य दुष्यन्तत्वस्य तत्त्वमावच्छे—

अवच्छादक दुष्यन्तत्वमप्यनिर्वचनीयमेव । अवच्छादकस्य च रत्यादि-
विशिष्टबोधे विशेष्यताऽवच्छेदकत्वम् ।

स्वस्माद् रतान् (रसोत्पत्त) पूर्वं प्राक् (जन्मवधानेन उपस्थितेन व्यञ्जनाया
प्रतीतियाचरीभूतेन व्ययेन, काल्पनिकत्वाभावात्निवचनीयत्वं च रत्यादिना (दुष्यन्ता
दिनिष्ठेन) सह अस्य स्वात्मनिष्ठ-दोषविशेषकल्पित-रत्यादिशुपरमस्य तदग्रहाद्
भेदाज्ञानाद् भेदाग्रहेऽपि परकीयव्यवहारासम्भवत्तु वाज्यवा तद्व्यतिथिर्न कत्वाध्य
वसानाद् व्यङ्ग्यधरतिरूपितरत्योरैकारोपाय अयं रम व्यङ्ग्यव्यवहारीयश्च, उच्यते
कथ्यते इत्यर्थः ।

सहृदयहृदये यः शम वासनारूपेण विनिविष्टो रत्यादि स व्यञ्जनागम्यो
निर्वचनार्हश्च प्रसिद्धः तेन सहास्य रसस्य भेदाग्रहार्थैकारोपाया व्यङ्ग्यधरत्ववचनीयत्वं
चोपपन्न इत्याशयः ।

यथा सहृदयस्यात्मनि रत्यादि काल्पनिकत्वादनिवचनताय तथैव 'शकुन्तला
विषयकरतिमान् दुष्यन्तोऽहम् इत्याकारकप्रतीको रत्यादिनिष्ठप्रकारानिर्दिष्टत्वात्म-
निष्ठविशेष्यताया अवच्छेदकमवच्छादकपदप्रतिपाद्य दुष्यन्तत्वमपि कल्पनामात्रनिष्ठ
त्वादननिर्वचनीयमेवेति माराणः ।

इमी तरह रम वस्तु न अहम् इ म वान वरले वर, परन्तु इन रम से उत्पन्न वान मे पूर्व
व्यवस्थापति मे से शकुन्तला आदि के विषय ॥ दुष्यन्त आदि का रति भाषि को रति वृत्तान्त-गान हुने
से, वनक और रीत के कारण अतः म भाषिा होने वाला शून्य रमत्व, शकुन्तला आदि का रति
आदि का भेद जान नहीं होना अर्थात् रम वास्तविक और इन कल्पित रति को एक समान मन है
अतः यह रम अहम् और वचनीय वस्तुता न अहम् दुष्यन्तानिष्ठ शकुन्तलादिदिपाक वास्तविक
रति आदि का जान वस्तुतः हमें व्यञ्जना के द्वारा होता है और उनका वान का वचिा वान
काव्यो में करत है अतः वह रति आदि वस्तुतः अहम् और वानत्व है, अतः वह कल्पित रमत्व रति
आदि रति वस्तुतः व्यञ्जना से ज्ञान न भी होता, वरि उनका वान न आकार, अतः रम
वस्तुतः व्यञ्जय और वचनीय रति से हम कल्पित रति को अज्ञान मन्त्र से के कारण हम एका वस्तु
है कि यह व्यञ्जना रति से प्रकाशित हुआ है और वरि न हमका वान विदा है ।

बिम तरह हम सहृदय मामाजिकों में शकुन्तला आदि का रति कल्पनानिष्ठ वस्तु ज्ञान न होने
वचनता है उना तरह मन्दर्यों का आत्मा को आच्छादित करने वाला अज्ञानत्व का कारण ज्ञान
के कारण अनिर्वचनीय ही है । उन दुष्यन्तत्व में अवच्छादकत्व अहम् अत्या का अवच्छादने जाना
का वस्तु है वह भी समान तथा चाहिए । वह यह है कि 'शकुन्तलादिदिपाक रतिवान न दुष्यन्त है'
इत्याकारक रत्यादि-निष्ठ ज्ञान में विरोधभावच्छेदक होने का अज्ञानत्व में अवच्छादकत्व है अतः
एक ज्ञान में शकुन्तला की रति 'मै' पदार्थ में प्रवृत्तता-विद्यमान में भाषित हुई है, अतः एक
ज्ञान में विरोध हुआ 'मै' जो वस्तुतः दुष्यन्त नहीं है, इनउत्तरे उन 'मै' पदार्थ में रहने वाला रति
व्यता का अवच्छेदक-परिचयक दुष्यन्तत्व को नहीं होना चाहिये वरन् म पदार्थ में रहत वान धन
अज्ञानत्व का सत्व को होता चाहिये वरन् बिम छिदे में अतः भारतः दुष्यन्त मन्त्र रदा का, उमन्त्र
दुष्यन्तत्व ही निरोधना का अवच्छेदक ही रदा और वहा अवच्छेदक ही जाना रदा का अवच्छेद
रति करना हुआ ।

पयंवमित प्रतिवादिमतनिरास प्रकाशयति—

एतेन 'दुष्यन्तार्दिनिष्ठस्य रत्यादेरनास्वाद्यत्वात् रसत्वम् । स्वनिष्ठस्य तु तस्य शकुन्तलादिभिरतत्सम्बन्धिभि कथमभिव्यक्तिः । स्वस्मिन् दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिस्तु वाद्यबुद्धिपराहता ।' इत्यादिकमपास्तम् ।

नन्वेतन्मते दोषविशेषकल्पनेव आरायत इत्याक्षेप समादधाति—

यदपि विभावादीना साधारण्य प्राचीनेरुक्तम् , तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु, दोषविशेषकल्पन विना दुरुपपादम् । अतोऽवश्यकल्प्ये दोषविशेषे, तेनैव स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि सूपपादा ।

एतेन भावनाविशेषस्य दोषत्वाङ्गीकारेण । अतत्सम्बन्धिभि सहृदयतिष्ठरत्याद्याः सम्बन्धत्वशून्यं । इत्यादिक प्रतिवादिमतमपास्तमित्यन्वय ।

विलक्षणभावनात्मकदोषप्रभावादिनिबन्धनीयदुष्यन्तत्वेन ज्ञायमाने सहृदयस्यात्मनि, शकुन्तलादिपद्यकत्वेरनिबन्धनीयाया रत्नत्वेनाभिमताया भाव न बाधितम्, न बाध्यमत्कारोति सर्वसामञ्जस्ये, द्वितीयमतत्वेनोपन्यस्ता परबीयाक्षेपा निरस्ता इत्यभिप्राय ।

प्राचीनैरभिनवगुप्तादिभिरपि यदपि, विभावादीना साधारण्य शकुन्तलादीना कान्तात्वादिसामान्यधर्मप्रकारकप्रतीतिविषयत्वमुक्तम्, तदपि निसंगत शकुन्तलात्वादिविशेषधर्मप्रकारकबोधजनकं शकुन्तलादिशब्दै काव्येन प्रतिपाद्यमानेषु, शकुन्तलादिषु विलक्षणभावनात्मकदोषविशेषकल्पन विना दुरुपपाद दुष्खेनोपपादयितु योग्य यतोऽस्मिन् अतोऽस्मात् विभावादिमाधारण्यमप्यादकत्वाद्देतो, दोषविशेषेऽवश्यकल्प्ये, तेन दोषविशेषेणैव, स्वात्मनि स्वपरिका दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि दुष्यन्ताद्यभेदप्रकारकप्रतीतिरपि, सूपपादा सुखेनोपपादयितु योग्यत्वम् ।

मदुनायक के द्वारा द्वितीय मत में उठाई गई 'अनेक शकुन्तला का इस मत में अवकाश नहीं रह जाता, यही विरोधही है—'एतेन' इत्यादि । ध्यातव्य यह है कि 'दुष्यन्त' आदि में रहने वाली शकुन्तला आदि की रति रमण नहीं हो सकती, क्योंकि उत्तमीन होने से उस रति में सामानिकों के लिये आस्वाद्य नहीं रहती । स्वनिष्ठरति की अभिव्यक्ति कम शकुन्तला आदि से होगी ही क्यों ? जिससे मैं कोई सम्बन्ध नहीं है । यदि वह कि अपने को दुष्यन्त आदि से अभिन्न समझ लेने पर तो शकुन्तला आदि के साथ अपना शनिष्ठ सम्बन्ध छूट जाता है, फिर शकुन्तला आदि से स्वनिष्ठ रति की अभिव्यक्ति हो सकती है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि जब 'दुष्यन्त' प्राचीन युग के धीर सहाय से और मैं वर्तमान युग का एक साधारण मनुष्य हूँ, जिन में दुष्यन्त से अभिन्न नहीं हो सकता' ऐसा दाव-निश्चय है, तब एक अनेकबुद्धि हो ही नहीं सकती' इन शकुन्तला का इस मत में अवनत ही हो जाता, क्योंकि इस 'मदुनायक' सहृदयतामूलक 'आपका' विशेषण 'दोष' तो 'दुष्यन्त' आदि की अनेकबुद्धि सिद्ध हो गई है, जिस (अनेक बुद्धि) को बाध निश्चय नहीं रोक सकता । कारण ? दोषविशेषजन्य-अर्थात् दोषमूलक जो नहीं हो उस बुद्धि के प्रति ही बाधक-निश्चय ही प्रतिबन्ध माना गया है ।

दोष-विशेष की कथना भी इस मत को नहीं खींच नहीं है, प्राचीन मतों में भी वह करना करना पड़ती है यही बात बहान है—'यदपि' इत्यादि । सम्प्रथम आदि प्राचीन आचार्यों ने शकुन्तला प्रभृति विभावटिकों का साधारणीकरण माना है अर्थात् उन्होंने कहा है कि साधारणीकरण

अथ प्रसङ्गात् करुणादिरसस्थायिन शोकादेर्दुःखजनवतामासाद्भूते—

नन्वेवमपि रतेरस्तु नाम दुष्यन्त इव सहृदयेऽपि मुखविशेषजनकता, करुणरसादिषु तु स्थायिन शोकादेर्दुःखजनवता प्रसिद्धस्य कथमिव सहृदयाह्लादहेतुत्वम् ? प्रत्युत नायक इव सहृदयेऽपि दुःखजननस्यैवोचित्यात् ।

न च सत्यस्य शोकादेर्दुःखजनवत्य क्लृप्तम् न कल्पितम्येति नायकानामेव दुःखम्, न सहृदयस्येति वाच्यम् रज्जुसर्पादिर्मयकम्पाद्यनुत्पादकतापत्तः, सहृदये रतेरपि कल्पितत्वेन मुखजनवतानुपपत्तश्चेति चेत्—

काव्यघटकानां दाबुन्तलादिशब्दानां गबुन्तलात्वादिविशेषधर्मावच्छिन्ने दात् वा च्छुन्तलादीनां वाम्तात्वादिसामान्यधर्मप्रकारकप्रतीतिविषयत्वरूप साधारण्य दोषविशेषप्रभावेणैव कथञ्चन भवितुमर्हतीति दोषविशेषकरणेना प्राचीनैरप्यङ्गीकृतञ्चान नवीना । तदर्थं कल्पिते च दोषविशेष एका क्रिया द्वेषपवरी इति न्यायेन ननैव शुक्लौ रजताभेददोष इव सहृदयात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदवायोऽपि सम्पद्यत इति प्राव ।

एवमपि शृङ्गारस्याह्लादमयत्वे माघिनेऽपि रनियूनो प्रीति दोकस्त्वभीष्टनाशादिजय वैकल्यम् । शोकादेरित्यादिपदेन भय-क्रोध-भ्रुगुप्साना ग्रहणम् । प्रत्यनो कर्तृपरीक्षे । न चेत्पादिनाऽऽवन्तरिकी गच्छा रज्ज्वत्पादिना तदुत्तर च निदिश्यते । सत्यम्य वास्तविकस्य । वलुण निश्चिन्तम् । कल्पितस्य भ्रान्त्या भासितस्य । नायकानामिन्द्रैकबचनमुचित सङ्गमशृङ्गधनुरोधान । रज्ज्वी भ्रान्त्या भासित सर्पो रज्जुसर्प अनुविनापननमापत्ति । उचितामङ्गलमनुपपत्ति । इति कल्पित दाह्यलम् ।

रागात्मिकाया रतर्नोक्ति नायक इव काव्ये सहृदये मुखविशेषोत्पादकत्वाच्छ्रुत्तरसस्यातदनपनाया सिद्धावपि गोक-मय-शोध-त्रुगुप्साना शैवलभ्यादिगुणा पुनताक इव काव्योप्यनुभावक इव जनवत्त्वस्यैवोचित्यात् करुण-भयानक-रौद्र-गीतस्तरमानामानन्दमयव नापद्यत ।

अथ कवेः कव्ये मय सहृदये मुखविशेषोत्पादकत्वाच्छ्रुत्तरसस्यातदनपनाया सिद्धावपि गोक-मय-शोध-त्रुगुप्साना शैवलभ्यादिगुणा पुनताक इव काव्योप्यनुभावक इव जनवत्त्वस्यैवोचित्यात् करुण-भयानक-रौद्र-गीतस्तरमानामानन्दमयव नापद्यत ।

अथ यदा एतद् दृष्ट्वा यह व्यथित होना इ कि आरने रम दयि स्वत सुवन्प नर्त इ अति अनिर्वचनीय रति आदि स्यादीभवत्स्वरूप रम की गीति के सा लो विज्ञान स्या उत्तर होना, उसके एक रति अदिरम रम में भेदका ज्ञान नह होना मर रम के दृश्य कदा जना र रम विवेचन के द्वारा जे अनिर्वचनीयदिभ्यदिभ्यस्वरूपमप्रतीति के बाद विज्ञानाशुत्र को लक्ष्मि स्वीकार की है वह सवाँश में ठोक नहीं बँचता, क्योंकि वास्तविक शुभलक्ष्मी रति वास्तविक

प्रथमभते प्रवृत्त्युपादनप्रयोजनाभावमाह—

केवलाह्लादवादिना तु प्रवृत्तिरप्रत्यूहैव ।

ननु प्रथमभते तत्र दुःखानुद्गीकार दुःखवायाणि कथमश्रुपातादीनि जायन्त इत्याक्षेप समादधाति—

अश्रुपातादयोऽपि तत्तदानन्दानुभवस्वाभाव्यान् न तु दुःखान् ।

निदानदर्शनेनोक्तमर्थं समर्थयति—

अत एव भगवद्भक्तानां भगवद्दर्शनाकणनादश्रुपातादय उपपद्यन्ते । न हि तत्र जात्वपि दुःखानुभवोऽस्ति ।

कण्ठरसादावाह्लादोत्पत्तयोम्यता पुनराशङ्कत—

न च कण्ठरसादौ स्वात्मनि शोकादिमहेश्वरथादितादात्म्यारोप यथाह्लाद, तदा स्वप्नादौ सन्निपातादौ वा स्वात्मनि तदारोपेऽपि स न्यात्, आनुभविकं च तत्र केवलं दुःखमितोहापि तदेव युक्तमिति वाच्यम् ।

केवलाह्लादवादिना—

हेतुत्व शोकहृषदिगतम्यो लोकसम्भयान् ।

शोकहर्षादयो लोके जायन्ता नाम लौकिका ॥

मनौकिकविभावत्व प्राप्तम्य काव्यसम्भयान् ।

सुख सञ्जायते तेभ्य सर्वेभ्योऽपीति वा क्षति ॥

इत्यादिना कण्ठरसप्रदानवाद्यादपि मुखमारोतरतिवादिना मनःनिष्ठमाद्यनन्द-पदस्यासम्भवात् तत्र प्रवृत्तिनिष्पत्तौ निबन्धेन स्यादिति साध्यम् ।

अश्रुपातप्रभृतयो न केवलं दुःखादेव अपि तु मुखादपि सम्पन्नीति प्रकृतश्रुपाता-दानामानन्दजयाना सम्भवात् क्षति । तदुक्तम् —

अश्रुपातादमस्तद्वद् द्रवत्वाभ्येतना मया । इति ।

अत एव सुखादप्यश्रुपातादिसम्भवादेव । उपपद्यन्ते युज्यन्ते । जानु कदाचित् । भगवद्दर्शनभक्षणजन्य-दुःखारम्भभगुखजन्यानामश्रुपातादीनां भगवद्दर्शनपु दर्शनात् कृपादप्याप्त-दादश्रुपातादीनामुत्पत्तिनिश्चितेति भावः ।

ये हाय एक भावकमक व्यापार की दुःख-प्रतिबन्धक मानकर कर्णम्य मन कर्णो ग भी कर्ण सु । हा मानन ह उन लोको का प्रवृत्ति म ता क'ड निवधारण ह मया ।

कण्ठरस-प्रदान कर्णों म भावकम आनन्द हा ह ना ह एमा मानन कर्णों म क'ड मरन पूछ ना मकना ह नि, क'डि कर्ण जालि रमों न भी कर्ण सुन हा सुन हाता है, नर उमके अनुभव से क'ड न जालि को हात है ? दर्शो का उतर इन ह—'अश्रुपातादयोऽपि' इत्यादि । अश्रुपात केवल दुःख नै हा हाता है एमा कान बही है, किमा विमा आनन्द व अनुभव ने भा वर लेता है, कर्ण म क अनुभव करन ममय न अश्रुपात होना व वर मनन नेरक क गणग ही-दुःख क शा-न ।

आनन्द म भी अश्रु-पात हाता ह इमन इमान नि-मान-—'अत एव' इत्यादि भगवत्-क'ड-प्रदान-क'ड में मर्तों का अर्थों म अर्थेन अश्रु-पा-त-प्रव-हेतु हाता इना ह क'ड क'ड दुःख स ? नहीं दुःख का ता बही जस भी नहीं रहता, अन्यथि आनन्द क'ड हा वर क'ड न, ज्या तरह क'ड-मनुभव से हाते काना अनुमान आनन्दानिच्छक क'ड ही मूलक है, दुःख का नहीं ।

उत्तरयति—

अथ हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादय पदार्था आह्लादमलौकिक जनयन्ति ।

काव्यव्यापारजप्रतीतेरलौकिकतया चेतक्षयमेव व्याहरति—

विलक्षणो हि कमनीयकाव्यव्यापारज आस्वाद-प्रमाणान्तरजादनुभवान् ।

मन्वास्वादस्य व्यञ्जनासाक्षाज्जन्यत्वाभावान् कथं काव्यव्यापारजन्यत्वमित्यत आचष्ट—

जन्यत्वं च स्वजन्यभावनाजन्यरत्यादिविषयकत्वम् ।

न चति वाच्यमित्यत्रान्वेति । स्वात्मनि सहृदयस्येति शेष । सप्तम्यर्थो विशयत्वम् । स्वप्नादौ स्वप्ने व्यामोहे वा । सन्निपातादौ त्रिदोषज्वरेऽपस्मारादिरोगान्तरे वा । तद्वारापि शोकादिगद्गारवादितादात्म्यारोपे । स आह्लाद । आनुभविकमनुभव-प्रमाणमिदम् । इहापि करणरसादावपि । तदेव दुःखमव ।

सहृदयस्य पुनर्वियोगजशोकवद् शरयोऽहमित्याकारक-शोकादिप्रकारक-स्वात्म-विरोध्यकप्रतीतेरेव यदि करणरसादावाह्लाद स्वीक्रियते, तर्हि स्वप्न-सन्निपातादावपि कदाचिन् सहृदयस्य तादृश्या प्रतीति सम्भवान् तत्राप्याह्लाद स्वीक्रियताम्, पूर्वोक्ततादात्म्यारोपस्योभयत्र तुल्यत्वान् । न च तत्राप्याह्लादोऽभ्युपगन्तुं शक्य, स्वप्नादिनादृशबोधान् दुःखस्यैव सर्वानुभवसिद्धत्वात् । एव सति करणरसादावपि तादृश-प्रतीति क्वचनदुःखोत्पत्तिरेव युक्तेति पूवपक्षाभिप्राय ।

काव्यस्य व्यापारोऽत्र व्यञ्जनावृत्तिः । यत्प्रयोज्या व्यञ्जनाजन्यप्रतीतिविषया । य एव लोके दुःखजनकत्वेन प्रसिद्धा पदार्था, त एव काव्ये समुपनिवद्धास्तदीयव्यञ्जनाव्यापारमहिम्नाऽलौकिकीमूला अलौकिक सुखमेव जनयन्ति, न तु द्रागपि दुःखमिति सर्वानुभवविशदत्वात् करणरसादौ न दुःखोत्पत्तिरित्युत्तरपक्षाशय ।

इतरव्यापारप्रमाणजन्यानुमात्रानामचरकारितया न कमनीयता, काव्यव्यापार-जन्यास्वादरूपानुभवस्य चमत्कारितया चमत्कारित्वेन कमनीयतेरनुमयोर्वेतक्षय मित्याकृतम् ।

यदि आप दर प्रदन कर कि करण आनन्द रमे ॥ शोक आदि से युक्त दशरथ आदि का अमेद बनने से मान लने पर जब सहृदयो का आनन्द होता है, नव स्वप्न आदि में अथवा सन्निपात आदि रोग में अनन भ शोक आदि से युक्त दशरथ आदि के अमेद का आरोप कर लने पर भी आनन्द ही होता पादि, पान्नु अनुभवमिदं तो यह है कि उन अवस्थाओं में दुःख ही होता है, अन यहा (करण आदि रसों में) भा अवल दुःख हान्ना हा उन्नि ह ।

इसमें उत्तर में उत्तरार का कहना है कि यह अलौकिक काव्यव्यापार (व्यञ्जना) को महिमा है कि हमने द्वारा ज्ञान किने गये असुन्दर (दुःखजनक) शोक आदि पदार्थ भी अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करने लगते हैं ।

अन्य प्रमाणों से उत्पन्न होने वाले अनुभवों की अवेक्षा काव्य के रमणीयव्यापार से उत्पन्न होने वाला आस्वाद (अनुभवविशेष) विन्शय है । अर्थात् अन्य अनुभवों में चमत्कार नहीं होता और काव्यजन्य अनुभव में वह होता है ।

तदाह—

तेन रसास्वादस्य काव्यव्यापारजन्यत्वेऽपि न क्षतिः ।

अत्रापि प्रागुक्तदोषमुद्धरन् नव्यमतमुपसहरति—

शकुन्तलादिविषयव्याप्त्यात्वनोत्पादस्तु स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्ध्या प्रति-
बध्यते । इत्याहुः ।

अथ चतुर्थं परकीयमतमुपन्यस्यति—

(४) परे तु—अव्यञ्जनव्यापारस्यानिर्वचनीयत्वात्तेभ्योऽनभ्युपगमेऽपि, प्रागु-
क्तदोषनहिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयकरत्या-
दिमदभेदबोधो मानसः काव्यायैभावनाजन्मा विलक्षणविषयताशाली रसः ।

एव काव्यव्यापारो व्यञ्जना तज्जन्या या तद्व्यापारान्तररूपा भावना, तज्जन्यत्वे
मति रस्यादिविषयकत्वभास्वादस्य काव्यव्यापारजन्यत्वमिति स्वीकारे रसास्वादस्य
व्यञ्जनासाक्षात्जन्यत्वविच्छेदपि तत्त्वमवायमित्यभिप्रायः ।

जन्यत्वस्य परिष्कृतत्वादित्याद्यम् ।

शकुन्तलादिविशेष्यकमगम्यत्वप्रकारक रसविरोधिज्ञान सहृदयस्य, 'दुष्यन्तोऽहम्
इत्याकारकेण स्वात्मविशेष्यक—दुष्यन्ताभेदप्रकारक—ज्ञानेन प्रतिबद्ध नीत्यस्य तत्र
शकुन्त्यादिति तृतीय नव्याना मत सम्पूर्णम् ।

मतेऽस्मिन् प्राचीनैरेवाङ्गीकृताना भावनाया दोषत्वस्य, रसाना प्रातिभासिकत्वे-
नानिर्वचनीयत्वस्य चाङ्गीकृतिः, नतु व्यापारान्तस्य नवीनस्य कल्पनेति साधवम् ।

तुरीय मतमिदम् परे स्थिति बदन्तीत्यनेनान्वेति ।

अव्यञ्जनव्यापारस्य दुष्यन्तादिनिष्ठ—शकुन्तलादिविषयव्यतिद्याहकस्य, अनिर्व-
चनीयत्वाने 'साक्षिमास्य सदसङ्घटितक्षण शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः' इत्य-
नुमदविषयीभूतानिर्वचनीयत्वस्य च तृतीयमतेऽङ्गीकृतस्य, अनभ्युपगमेऽङ्गीकारेऽपि

यद्यपि इत्त मत मे अतीतिक आनन्दजनक आस्वाद (रस) काव्य की व्यञ्जना से उत्पन्न नहीं
होता फिर पूर्वोक्त वाक्य के काव्य के व्यापार से उत्पन्न होने वाला इत्त अंश का क्या अर्थ हो सकता
है ? इस जिज्ञासा को शान्ति करने के लिये कहते हैं—'अन्यत्वम्' इत्यादि । एक अंश का अर्थ यह
है कि काव्य के व्यापार (व्यञ्जना) से उत्पन्न होने वाली एक दोषात्मक भावना से उत्पन्न रसि आदि
का आस्वाद । अतः अत एक अंश के अर्थ में दोष रहने वाली अनिर्वचनीयता समाप्त हो गई ।

इस तरह से व्याख्या कर देने पर यदि रसास्वाद साक्षात् काव्यव्यापारव्यञ्जना से उत्पन्न होने
वाला नही है, तथापि कोई क्षति नहीं ।

अब रही एक बात और यह कि शकुन्तला आदि में 'यह मेरे लिये अगम्य है' यह शब्द हम
सहृदयों को क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि दोषात्मक भावना से जो दुष्यन्त आदि की
अभेद बुद्धि अपने में हम लोगों को होती है, उगी बुद्धि से एक अगम्यत्वज्ञान रोक दिया जाता है
अर्थात् अब हम स्वयं दुष्यन्त बन जाते हैं, अब फिर शकुन्तला को स्वयंसीय दोष्य नहीं समझें, यह
असम्भव है ।

अब रस के विषय में अन्य विद्वानों के चतुर्थ मत का विवेचन करते हैं—'परे तु' इत्यादि ।
अभिप्राय यह है कि व्यञ्जना व्यापार के (जिसे प्राचीन तथा नवीन सभी विद्वान् किसी न किसी रूप

नन्वेव स्वप्नकालिकज्ञानस्यापि मानसत्वाद् रसत्वापत्तिरित्यत आह—
स्वाप्नादिस्तु तादृशबोधो न काव्यार्थचिन्तनजन्मेति न रसः । तेन न तत्र
तादृशाह्लादापत्तिः ।

सहृदये वास्तविकरतेरभावादनुभवे च विषयसत्त्वस्य कारणतयाऽपेक्षणां प्रकृते
रत्यादिवोधस्यासम्भव इत्यादाकृते—

एवमपि स्वस्मिन्नविद्यमानस्य रत्यादेरनुभवः कथं नाम स्यात् ?

समादधाति—

संभवम्, नह्यय लौकिकसाक्षात्कारो रत्यादे, येनावश्य विषयसद्भावोऽपेक्ष-
णीयः स्यात् । अपि तु भ्रमः ।

प्राक् तृतीयमते उक्तस्य दोषस्य भावनाविशेषस्य, महिम्ना प्रभावेणैव, स्वात्मनि
स्वात्मविशेषक, दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही दुष्यन्ताद्यभेदविषयक, शकुन्तलादि-
विषयकरत्यादिमदभेदबोधे शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदप्रकारको 'दुष्यन्तोऽह
शकुन्तलाविषयकरतिमान् इत्याकारको यो मानसो मनस्सन्निकर्षजम्भा काव्यार्थस्य
भावनाया जन्म यस्य तादृश, विलक्षणविषयताशाली सोकोत्तरत्यादिनिष्ठविषयता-
निरूपक बोध आत्वाद, स एव रस इत्यर्थः ।

स्वप्नकालिको हि शकुन्तलाविषयकरतिमद्दुष्यन्ताभेदप्रकारकबोधो मनस्सन्नि-
कर्षजन्य सन्नपि, न काव्यार्थभावनाजन्य इति न तस्य रसत्वम्, न वा तत्राह्लादविशेष
आपद्यत इत्यभिप्रायः ।

एवमपि सहृदयस्य शकुन्तलादिरतिमद्दुष्यन्ताभेदप्रकारकमानसबोधस्वीकारेऽपि,
स्वस्मिन् सहृदयात्मनि । इतरत् स्फुटम् ।

में अवश्य मानने हैं) और अनिर्वचनीय रत्यादि के (जिसे नवीन विद्वान् मानने हैं) मानने को
कौई आवश्यकता नहीं, अर्थात् रस को अद्वय अथवा अनिर्वचनीय मानना आवश्यक नहीं है । फिर
रस है क्या ? मुनिदे—तृतीय मंत्र में निम्न भावनात्मक दोष को चर्चा की गई है, उसके प्रभाव से
सहृदयों को एक प्रकार का मानस-मनःमन्त्रिकर्ष में उत्पन्न होने वाला (जिसने बाध इन्द्रियों के
सम्बन्ध को अनेका बर्दा पगरी) ज्ञान होता है, वही (ज्ञान) 'रस' है । उस ज्ञान में सहृदयों की
आत्मा विशेष होना है, जिस (आत्मा) में दुष्यन् आदि का तादात्म्य-अभेद मासित होता रहता है
और शकुन्तला आदि की रति आदि प्रकार होता है, अर्थात् 'मैं दुष्यन्, शकुन्तलाविषयक रति वाला
हूँ' ऐसा ज्ञान होता है । यह ज्ञान काव्यार्थों के पुनः पुनः अनुसन्धान में होता है । लोकोत्तर-वि-
लक्षण रति आदि इस ज्ञान के विषय होन हैं या एव यह ज्ञान विलक्षण-विषयता-ज्ञाती कहा जाना
है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि एक प्रकार के भ्रम को 'रस' कहने हैं ।

आप नहेंगे कि यदि इस तरह के मानसज्ञान को ही रस कहा जाय, तब तो स्वप्न आदि में जो
इसी प्रकार का मानसज्ञान होता है, उसको भी रस कहना पड़ेगा इत्यादि का समाधान देन है—
'स्वप्नादिस्तु' इत्यादि । स्वप्न आदि में इसी तरह का मानसज्ञान होता है, यह बात सही है,
परन्तु वहाँ का ज्ञान काव्यार्थ के पुनः पुनः अनुसन्धान से नहीं हुआ रहता, अतः रस नहीं कहला
सकता और न उसमें उस प्रकार का आनन्द ही आ-मकता है, क्योंकि काव्यार्थ के अनुसन्धान से
होने वाला उस प्रकार का ज्ञान ही रस कहा गया है तथा आनन्दजनक माना गया है ।

नन्वेतन्मते भ्रमात्मकस्य रत्यादिज्ञानस्यैव रसत्वात् तद्विषयकज्ञानान्तरानुत्पत्तौ रा-
स्वादो रसविषयक इति व्यवहारो नोपपद्यत इत्यतोऽभिपद्यते—

आस्वादनस्य रसविषयकत्वव्यवहारस्तु रत्यादिविषयकत्वालम्बन इत्यपि
वदन्ति ।

पुरीयमते त्रिशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि-भ्रमात्मकज्ञानरूपरसस्य विविधमनाविरहात्
वैविध्य प्रतिपादयति—

एतेश्च स्वात्मनि दुष्यन्तत्वधर्मिताञ्चच्छेदक-शकुन्तलादिविषयकरति-
वैशिष्ट्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे शकुन्तलादिविषयकरतिविशिष्ट-दुष्यन्तता-
दात्म्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्तत्व-शकुन्तलाविषयकरत्योर्वैशिष्ट्याव-
गाही वा त्रिविधोऽपि बोधो रमपदार्यतयाऽभ्युपेयः ।

लौकिकप्रत्यक्षे हि कारणतया विषयस्य वस्तुतः सत्त्वमपेक्ष्यते, भ्रमे तु रज्जाव-
गतोऽपि सत्त्वमिदं भ्रान्तमिति सहृदयनमवेत्तरत्यादिप्रतीतेर्येषामन्यथाद् भ्रमत्वेन न
वास्वविकविषयसङ्गावापेक्षेति भावः ।

भ्रमरूप—रस-विषयीभूतरत्यादीनामास्वाद एव रसास्वादव्यवहारः, तत्रत्यरस-
पदस्य रसत्वानुकूलरत्यादिवरत्वस्य विवक्षणादिति तात्पर्यम् ।

एतैश्च पुरीयमतावनम्बिमि । एतैश्चिन्म्युपेयमित्यनेनान्वेति । स्व महदय । रति-
वैशिष्ट्य धर्मो दुष्यन्तश्च धर्मो । दुष्यन्तत्व धर्मिताञ्चच्छेदक मय, तादृश यच्छकुन्तला-
विषयन रतिवैशिष्ट्यम, तदवगाही तद्विषयव 'अहं दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिमान्'
इत्याकारक एको मानसो बोधः ।

इमं तरह मानने पा भी एक शङ्का यह रह जानी है कि जो रति आदि हम में है ही नहा केवल
मनगडन है, कबवा अनुभव ही कैमै हागा ? क्योंकि अनुभव के प्रति विषय-मता का कारण माना
गया है ।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि लौकिक प्रत्यक्ष के प्रति जो विषय-मता कारण है अर्थात् लौकिक
अनुभव के सम्बन्ध में ही यह नियम है कि जिना वस्तुओं का अनुभव होता है व आँसू, बाग, नाक
आदि प्राण-जनक इन्द्रियों के सामने अवश्य वर्तित रहना है । भ्रम में ऐसा नियम नहीं है अर्थात्
भ्रम विषय के बिना भी होता है, जैसे रम्भा में सर्प का भ्रम विषय (सर्प) क न रहने पर भा होता
है, आवतारूप दोषप्रयुक्त यह रति आदि का ज्ञान भी एक प्रकार का भ्रम ही है अतः उम रति आदि
विषय के सम्बन्ध न रहने पर भी उससे ज्ञान होने में किसी तरह का बाधा नहीं हो सकती ।

आप कहे कि जब रम भ्रमात्मक ज्ञान रूप है, तब 'रम का आस्वादन होता है' यह व्यवहार
मनगडन है जसका क्योंकि आस्वादन आ एक प्रकार का ज्ञान है, फिर ज्ञान का ज्ञान क्या होगा ?
दमनर उन्मत्तन है—'आस्वादनरस' इत्यादि । रति आदि का भ्रम का विषय अर्थात् जिस रति
आदि का विषय म भ्रम हाता है उन्मत्त आस्वादन हो सकता है, होगा भी है, मन् ज्मी विषय (रति
आदि) न आस्वादन का विषय (भ्रमात्मकरम) में आश्रय करके उक्त व्यवहार होता है । वस्तुतः
रम का आस्वादन हो नहीं होगा । व लोग यह भी कहने हैं :

इम मन के अनुभार विम ज्ञान को रस कहने हैं, कबवा स्वरूप तीन प्रकार का हो सकता है
यहो दिखटा है—'एनैश्च' इत्यादि । ज्ञान के तीनों स्वरूप निम्नलिखित हैं—१. दुष्यन्त आदि में

मतेऽस्मिन् रत्यादिग्राहकस्यानुमानस्यावश्यकतामाचष्टे—

तत्र रतेविशेषणीभूतायाः शब्दादप्रतीतत्वाद् व्यञ्जनायाश्च तत्प्रत्यायिकाया
अनभ्युपगमाच्चेष्टादिलिङ्गकमादौ विशेषणज्ञानार्थमनुमानमभ्युपेयम् ।

स्वात्मत्वविशिष्टे निजात्मनि, शकुन्तलाविषयकरतिविशिष्टो यो दुष्यन्तस्तस्य
तादात्म्यमभेदमवगाहते विषयोऽरति, तादृश शकुन्तलाविषयकरतिगद्दुष्यन्तोऽहम्
इत्याकारको द्वितीयो बोधः ।

स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्तत्वस्य शकुन्तलाविषयकरतेऽथ यद् वैशिष्ट्यं सम्बन्धः,
तदवगाही 'दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिमात्राहम्' इत्याकारकश्च तृतीयो बोधः ।

त्रिषु विषयैस्त्रेषु चिनिगमनाविरहाद्दुःश्लेषविषयभावभेदाद् बोधभेदः ।
त्रिविधोऽयं बोध एवान्न मते रसपदायतयाऽभ्युपय स्वीकार्यं इत्यर्थः ।

तत्र बोधत्रये, स्वार्थनि विशेषणीभूता या रति तस्या शब्दादप्रतीतत्वाद्वाचक
शब्दादज्ञानत्वात्, तत्प्रत्यायिकाया रतिबोधिकाया व्यञ्जनायाश्चात्र मतऽनभ्युपगमाद्-
स्वीकाराच्च, आदौ प्रथममे चेष्टा नटादिन्यापार एव लिङ्ग हेतुयुक्तं तादृशम् 'अय
(नटरूपो) दुष्यन्त शकुन्तलाविषयकरतिमान तद्विषयककटाक्षमुजविधेपादिचेष्टाव-
त्त्वात् श्याकारकमनुमान विशेषणज्ञानार्थं रतिप्रत्ययनिमित्तम्, अभ्युपगमज्ञीकरणीय-
मित्यर्थः ।

अन मत् पूर्व दुष्यन्तत्वेन ज्ञात मटे चेष्टया शकुन्तलावर्तरेनुमानम् पश्चान् तादृश-
दुष्यन्तं सहात्मनस्नादात्म्यावगाहि प्रागुक्तं त्रिविधं मानसं ज्ञानमेव रस इति
सारम् । तुरीयं मतमवसितम् ।

रहनेनात्मेने शकुन्तला आदि की रति है उम (रते अस्मि) न युक्त मे है । २ में शकुन्तलादि-
विषयक ति-युक्त-दुष्यन्त से अभिन्न है ३ में दुष्यन्तत्व में त्रीं शकुन्तलाविषयक रति म भी युक्त
है । इन तीनों ही ज्ञानों को इस मत के अनुसार उम मन्ना वनेगा, क्योंकि एक को ही रस मानने
में कोई काम युक्ति नहीं है । यद्यपि इन तीनों ज्ञानों में विषय एक सा ही है, तथापि उद्देश्य-
विषय-भाव के भेद में ये ज्ञान परस्पर भिन्न होते हैं अर्थात् प्रथम ज्ञान में 'मे' उद्देश्य है और
दुष्यन्त न रहने वाला रति विषय । द्वितीय ज्ञान में उद्देश्य वहा 'मैं' है परन्तु विषय है शकुन्तला
विषयक ति-युक्त-दुष्यन्त का अभेद । और तृतीय ज्ञान में भी उद्देश्य 'मैं' ही है किन्तु विषय दो
है—दुष्यन्त और दूसरा शकुन्तला-विषयक-रति, अर्थात् यह तृतीय ज्ञान समुच्चयात्मक है ।

इन मत में रति के ज्ञान करने के लिये अनुमान को आवश्यकता पड़ेगा, इस बात का
सन्निपादन करत है—'तत्र' इत्यादि । आशय यह है कि इन तीनों ज्ञानों में रति विशेषण रूप से
त्रिविध - अर्थात् इन ज्ञानों के होने में पूर्व रति का ज्ञान हो जना आवश्यक है, परन्तु उमका ज्ञान
होगा किन ? काव्य के शब्दों से ही नहीं सकता, क्योंकि वाक्यों में रति आदि के वाचक शब्द लिखे
नहीं रहत और उनका बोध करनेवाली जो व्यञ्जना अथवा चित्रों में स्वीकृत है, उनका स्वरूप इस
मत में किता ही नहीं है, फिर ता आत्मा विशेषणभूत उम रति आदि के ज्ञान के लिये
अनुमान का शरण इस मत में लनी हो पड़ेगी, अर्थात् उक्त ज्ञानों में पहलू नट आदि की चेष्टा को
हेतु बनाकर 'दुष्यन्त, शकुन्तलाविषयक रति नाछ है, क्योंकि उम रति से होने वाली चेष्टा उममें
विद्यमान है' ऐसा अनुमान करना पड़ेगा ।

वप प्रकीर्णं वतपञ्चने प्रपथ पूर्वक्रमाच्च सप्तम मत निदिशति—

(७) 'विभावादयस्य समुदिता रसा' इति कतिपये ।

द्वितीय पूर्वक्रमादष्टम मतमुपपस्यति—

(८) 'त्रिषु य एव चमत्कारी, स एव रसः । अन्यथा तु त्रयोऽपि न ।'
इति बहवः ।

समुदिता पञ्चपर मिनिता, विभावादयो विभावानुभावव्यभिचारिस्वादिभावा
एव रसा रसनव्यापारयोगादास्वाद्या इति कतिपये कियन्तो व्याहरन्तोऽप्येवं ।

'प्रतीयमान प्रथम प्रत्येक हेतुस्म्यते ।

तत सम्मिलित तर्को विभावादि चनेतराथ ॥

प्रमाणकरसन्ध्यायाञ्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ॥'

इत्युक्ते छन्दमरिचादीनानि विभावादीना विपस्तम्भेसन्नेम प्रमाणपरम इव
काव्यरसं त्रीऽपि निष्पद्यत इत्याख्य ।

त्रिषु विभावानुभावव्यभिचारिषु, य एवाव्यतम स्वपोषकसामग्रीप्रकपाल चम-
त्कारी विच्छित्तिसंघासी, स एव न तु चमत्कृतिसूत्रोऽपि, रसो भवतीति शेष ।

नहीं होता । पाठकों को यह बड़ा भूलका चाहिये कि एक काठ में दो छान नहीं हो सकती, उन
दोनों ही (अनुमिति और प्रत्यक्ष) होंगे यह बात नहीं करी जा सकती । इसका उत्तर यह है कि जहाँ
एक ही समय में एक वस्तु को प्रत्यक्ष सामग्री और दूसरी वस्तु को अनुमिति-सामग्री लूट जाती है,
वहाँ उभ स्थिति में अनुमिति ही होती है, प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति भिन्न-
विषयक अनुमिति सामग्री को दार्शनिकों ने प्रतिरन्धक माना है । क्यों उसको प्रतिरन्धक माना गया
है ? इस विचारमा ही शक्ति के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए । भिन्नविषयक प्रत्यक्ष
के प्रति भिन्नविषयक अनुमिति सामग्री को प्रतिरन्धक मानने का पहला कारण यह है कि उभ स्थिति
में अनुमिति का हटना ही अनुभव भिन्न है । अगर कारण यह भी है कि प्रत्यक्ष सामग्री का अपेक्षा
अनुमिति-सामग्री पुन-भूत रहती है अर्थात् प्रत्यक्ष सामग्री (चतुसत्रिकरण आदि) आदि का
जुटाना नहीं पना अगर किसी अन्य में जुटाना भी पद तो उनमें बहुत अथ अन्यथा करना पना
है और अनुमिति-सामग्री (व्यतिष्ठान आदि) विन्यास मन्वा अधिक है) को जुटाना पना - सिद्धमें
बहुत अधिक अन्वयन करना पना है, इसी स्थिति में अगर एक दोनो सामग्रियों में म त्रिनी एक
सामग्री का अर्थ पना पद ना लीय किमनो लर्थ करना चाहिये ॥ उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष सामग्री
को, क्योंकि वह अर्थ है और उनमें अन्वयन का काम करना पना था । अब नाटक देना समय भिन्न-
विषयक प्रत्यक्ष-सामग्री व लुगी रहने पर भी अनुमिति-विषयक रति को अनुमिति ही क्यों होती है
इस सद्भा का उत्तर पाठकों के मय रूप से समझ जा जायगा । यह तो इष्ट नाटक को मात्र, काव्य में
समते पाठकों पर हा यह नगारा करना है अथवा उही को दुष्पना आदि समझा जना है और उन्हीं
को पशु बनाकर रति आदि की अनुमिति की जाती है ।

अब रस-विषयक समझ मन का प्रगिरदन करने हैं—'विभावादम्' इत्यादि । कुछ लोगों का
अहाना है कि विभाव, अनुभव और मद्यारीभाव ये तीनों ही सम्मिलित होने पर 'रस' कहलाते हैं ।

अब रस-मन्वन्वो अर्थ मन का उदादन करना है—'त्रिषु' इत्यादि । कतिपय विद्वानों का कथन
है कि विभाव, अनुभव और मद्यारीभाव इन तीनों में जो चमत्कारी हो वह रस है और यदि

तृतीय पूर्वक्रमान्तरम मत प्रकाशयति—

(९) 'भाव्यमानो विभाव एव रसः' इत्यर्थे ।

चतुर्थं पूर्वक्रमाद् दशम मतमभिदधाति—

(१०) 'अनुभावस्तथा' इतीतरे ।

पञ्चम पूर्वक्रमादेकादश मतमाधत्ते—

(११) 'व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमनि' इति केचित् ।

भावनामहिम्ना प्राधान्य भजन् व्यभिचार्येपि भावत्वमिव रसत्व प्रतिपद्यत इति भावः । अलम्बतेष्वष्टानां क्रमेण प्रामाणिकत्वं दर्शयितुमुपक्रमते—

तत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रं तत्तन्म-
त्तपरतया व्याख्यायते—

अन्यथा चमत्कारिताविरहे तु, त्रयो विभावादयो मिलिता अपि, किमुनैक न रस इति बहुवो व्याहरन्तीत्यर्थः । लोकोत्तरचमत्कारस्यैव रसत्वव्यवस्थापकत्वान् तदभावे विभावादित्वमात्रेणैव न रसत्वमिति भावः ।

भाव्यमानं पुनः पुनरनुसन्धानरूपभावभावनाविषयीक्रियमाणो विभाव आलम्ब-
नोद्दीपनात्मक एव, न त्वनुभावव्यभिचारिणावपि, रस इत्यन्ये मन्यन्त इत्यर्थः ।

प्रादुर्भावकेषु विभावस्यैव प्राथम्येन प्राधान्याद् रसत्वमिति तात्पर्यम् ।

अनुभाव स्याधिकार्यरूपः, तथा भाव्यमानो रस इतीतरे प्रतिपादयन्तीत्यर्थः ।

भावनाया = प्रभावेण, कारणपेक्षया कार्यस्य विच्छित्तविशेषाघापकत्वेन
वानुभावस्यैव रसत्व मन्तव्यमित्याकृतम् ।

पूर्वस्तथादाद्यो भाव्यमानार्थको द्वितीयश्च रसाधिकः ।

तथा भावनाविशेषविषयीक्रियमाणो व्यभिचारी भाव एव तथा रसरूपतया
परिणमतीत्येके कथयन्तीत्यर्थः ।

तत्र तेष्वेकादशमु मतेषु समूलकत्व माधयितुमाधार्यभरतस्य विभावेत्यादिमून
सत्तन्मतपरतया तेषां तेषामादितोऽष्टानां मतानामनुकूलतया व्याख्यायते मयेति
शेषः ।

अमत्कारी न हो, तब एक की वाग ही क्या, तीनों मिलकर भी रस नहीं कहला सकत क्योंकि
छेपेपेछर चमत्कार को हा काव्य का प्राण माना गया है ।

अब रस-मन्बन्धी नवम मत का उल्लेख करते हैं—'भाव्यमान' इत्यादि । अन्य कुछ विद्वानों
का मत है कि पुनः पुनः अनुसन्धान किया गया विभाव (अलम्बन और उद्दीपन कारण) ही रस है
(अनुभाव और सञ्चारी नहीं) ।

अब रस-मन्बन्धी दशम मत की चर्चा करते हैं—'अनुभाव' इत्यादि । कुछ पण्डितों का मत है
कि पुनः पुनः चिन्तन किया गया अनुभव ही रस है । (विभाव सञ्चारी नहीं) ।

अब रसमन्बन्धी स्यारद्वैय मत का प्रतिपादन करते हैं—'व्यभिचार्येव' इत्यादि । अनेक पण्डितों
का कथन है कि व्यभिचारी भाव ही पुनः पुनः चिन्ता का विषय होकर रस रूप में परिणत हो
जाता है ।

आद्याचार्याभिनवगुप्तमते द्विविधकल्पानुकूला सूत्रव्याख्यामाह—

'विभावानुभावव्यभिचारिभिः सयोगात् व्यञ्जनाद् रसस्य चिदानन्दविशिष्टस्याप्यात्मनः, स्थाय्युपहितचिदानन्दात्मनो वा निष्पत्तिः स्वरूपेण प्रकाशनम् ।' इत्याद्ये ।

द्वितीये मद्भुनायकमते सूत्रव्याख्यामभिधायति—

'विभावानुभावव्यभिचारिणा सम्यक् साधारणात्मतया योगाद् भावकत्वव्यापारेण भावनाद्, रसस्य स्थाय्युपहित-सत्त्वोद्रेकप्रकाशित-स्वात्मानन्दरूपस्य, निष्पत्तिर्भोगाख्येन साक्षात्कारेण विषयीकृतिः ।' इति द्वितीये ।

तृतीये नम्यमते सूत्रव्याख्या इतीति—

'विभावानुभावव्यभिचारिणा सयोगाद् भावनाविशेषरूपाद् दौषाद् रसस्यानिर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः' इति तृतीये ।

विभावानुभावेन व्यभिचारिभावेन (सह) सयोगाद् व्यञ्जकव्यञ्जकभावसम्बन्धात् प्रथमकल्पे चिदानन्दविशिष्टस्याप्यात्मनश्चैतन्याह्लादविषयीभूतरत्यादिरूपस्य, द्वितीयकल्पे स्थाय्युपहितचिदात्मनो रत्यादिविषयकपैतम्याह्लादरूपस्य, रसस्य निष्पत्तिरुत्पत्तिरूपेण प्रकाशनामित्याद्यमते सूत्रार्थः ।

सयोगस्य सम्यग् योगादिति, सम्यगित्यस्य साधारणात्मतयेति योगादित्यस्य भावकत्वव्यापारेण भावनादिति, रसस्येत्यस्य सत्त्वोद्रेकोद्भासित-रत्यादिविषयक-स्थात्मानन्दरूपार्थक स्थाय्युपहितेत्यादि, निष्पत्तिरित्यस्य भुक्त्यपरपर्याय-भोगात्मक-साक्षात्कारविषयीकरणार्थक भोगाख्येनेत्यादि च द्वितीयमते सूत्रार्थः ।

इह भावनाविशेषरूपो दोष एव सयोगः, अनिर्वचनीयत्वावापन्नो दुष्यन्तादिनिष्ठ-दाश्रुन्तादिविषयकरत्यादिरेव रसः, प्रातिभासिकोत्पत्तिरेव निष्पत्तिरिति विशेषः ।

अब एक मते में विनये प्रामाणिक और विनये अग्रामाणिक है इन बात का निर्णय करने के लिए हममन्थी मूलभूत-भरतध्वज को व्याख्या करने का प्रक्रम करते हैं—'सप्र' इत्यादि । उन मते के अनुसार 'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इन सूत्र की व्याख्या करते हैं ।

प्रथम आचार्य भिनव गुप्त-मते के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाष' इत्यादि । 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा, संयोग अर्थात् ध्वनिगत होने से, आत्मानन्द-साहित स्थायीभावरूप अथवा स्थायीभावात्मक जगधि से युक्त आत्मानन्दरूप रस की निष्पत्ति होती है अर्थात् वह अपने वास्तविकरूप में प्रकाशित होता है' यह प्रथम मत में अर्थ है ।

द्वितीय मद्भुनायक-मते के अनुसार सूत्र का व्याख्या करते हैं—'विभाष' इत्यादि । 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के (संयोग) सम्यक् अर्थात् साधारण्य से योग अर्थात् भावकत्व व्यापार के द्वारा भावना करने से स्थायीभावरूप जगधि से सहित सत्वगुण की अभिवृद्धि से प्रकाशित, स्वकीय आत्मानन्द रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् भोग नामक साक्षात्कार का विषय बनाना' यह द्वितीय मत में सूत्रार्थ है ।

तृतीये 'नम्य' मते के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाष' इत्यादि । 'विभाव, और मजारी भावों से संयोग अर्थात् सद्दत्तनामूत्र वाष्पार्थक-रसात्मक दोष से दुष्यन्त आदि से अनिर्वचनीय होने आदि रूप रस निष्पत्ति अर्थात् 'उत्पत्ति' यह तृतीय मत में सूत्र का अर्थ है ।

चतुर्थे परकीयमते सूत्रव्याख्या ब्रूते—

'विभावादीना सयोगाद् ज्ञानाद्, रसस्य ज्ञानविशेषात्मनो निष्पत्ति-
रुत्पत्ति ।' इति चतुर्थे ।

पञ्चम मट्टनील्लटमते सूत्रव्याख्या व्याहरति—

'विभावादीना सम्बन्धाद् रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरारोप' इति पञ्चमे ।

षष्ठे श्रीसार्कुक्रमते सूत्रव्याख्या प्रतिपादयति—

'विभावादिभिः कृत्रिमरूपकृत्रिमतया गृहीतैः सयोगादनुमानाद् रसस्य
रत्यादेर्निष्पत्तिरनुमितिः, नटादी वक्ष इति शेषः' इति षष्ठे ।

सप्तमे कनिषपमते सूत्रव्याख्यामुपन्यस्यति—

'विभावादीना त्रयाणा सयोगाद् समुदायाद् रसनिष्पत्ती रसपदव्यवहार'
इति सप्तमे ।

अष्टमे बहुमते सूत्रव्याख्या विवदति—

'विभावादिषु सम्यग् योगाच्चमत्कारात्' इत्यष्टमे ।

तत्र मयोगो ज्ञानम्, रसश्च मानसप्रत्यक्षरूप इति विशेष ।

इह सयोग सम्बन्ध, नट आरोप्यमाणो रत्यादी रस, निष्पत्तिरारोप ।
साक्षाजिवन्ध तु भावनात्मकशोषनशाग् कथाश्चप्रदेन सह तादात्म्याध्यागादास्वाव इति
विशेष ।

अत्र मयोगाऽनुमितिरहेतु—व्याप्तिज्ञानरूपमनुमानम्, अनुमेयो रत्यादी रस,
निष्पत्तिश्चानुमितिरिति विशेष ।

इह मयागा नियस्तम्भेखनेन समुदाय, निष्पत्ती, रसपदप्रतिपाद्यत्वेन व्यपदेश
इति विनाय ।

अत्र मयोगश्चमत्कार इति विशेष ।

चतुर् 'पर' मन के अनुमाद् सूत्र की व्याख्या करने ह—'विभावादीनाम्' इत्यादि । 'विभाव
आदि क मयाग अथात् ज्ञान से ज्ञान-विशेष रूप रस की निष्पत्ति अथात् 'उत्पत्ति' यह चतुर्थ मन में
सूत्र का अर्थ है ।

पञ्चम भू टोल्ड-मन के अनुसार सूत्र की व्याख्या करने ह—'विभाव' इत्यादि । 'विभाव
आदि क मयोग अथात् सम्बन्ध में रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अथात् 'नट आदि पर आरोप' यह
षष्ठम मन में सूत्र का अर्थ है ।

षष्ठ आसकृक मन के अनुसार सूत्र का व्याख्या करने ह—'विभावादिभिः' इत्यादि होने पर भा
स्वाभाविक रस मनस्य गप विभावादिभिः (हेतु) के साथ मयोग अथात् व्याप्ति नामक मन्त्रध में
छि आटे रूप रस की निष्पत्ति अथात् अनुमिति (नट रूप पञ्चम)' यह षष्ठ मन में सूत्र का
अर्थ है ।

सप्तम मन के अनुसार सूत्र का व्याख्या—'विभाव आदि तानो के मयाग अथात् पञ्चम मन रस
का निष्पत्ति अथात् उक्त समूह में रस रस का व्याहार' यह सप्तम मन में सूत्र का अर्थ है ।

अष्टम मन के अनुसार सूत्र का व्याख्या—'विभाव आदि म मन्त्रक शोष अथात् 'नटार - रस
कहातान' है' यह अष्टम मन के अनुसार सूत्र का अर्थ है ।

उपसहरति—

तदेव पथदमितसिषु मतेषु सूत्रविरोधः ।

ननु भरतसूत्र एव सम्मिनिताना विभावादीना त्रयाणामुपादानस्य किं कीदृशम् ?
येनाथ विभावादिष्वेकमात्रावसन्नि चरम मतस्य सूत्रविरोधादुपेक्ष्यत इत्याद्यद्वा
निरस्यति—

विभावानुभावव्याभिचारिणामेकस्य तु रसान्तरसाधारणतया नियतरस-
ध्यञ्जकताङ्गुपपत्तेः सूत्रे मिलितानामुपादानम् ।

एवमुत्प्रकारेण, केवल पूर्वोक्तेष्वष्टनु मतेषु भरतसूत्रानुसारित्वस्य सम्भवात्,
त्रिपरिधेसु त्वैकमात्रोपादानात् विभावादीना त्रयाणामनुपादानात् भरतसूत्रस्य
प्रागुल्लिखितस्य, विरोध पर्यवसित इत्यर्थः ।

भरतसूत्रानुसारि मताष्टकमेव साधीय, तद्विद्वद्भ्यमतस्य तु निर्भूतवत्त्वादनुपादेय-
मेवेति सारम् ।

इदमपीहाकसनीयम—यथा भरतसूत्रविरोधादिहास्तिम मतस्य हैयम, भावकत्व-
रूपाधिकव्यापारस्मीकारगौरवाद् द्वितीयम्, भावनादौपत्यकल्पनागौरवाद्, रमस्या-
निर्वचनीयत्वाद्गीकारेणैवास्वविनत्वापाताच्च तृतीयम्, मानसज्ञानात्मनो रसस्य
ध्रमत्वाम्युपगमेऽनास्विकत्वापत्तेस्तुरीयम्, रसस्य नटवृत्तेर्वस्तुतः सामाजिकवृत्तित्वा-
नङ्गीकारेण त्रिलसणास्वादासम्भवात् पञ्चमम्, प्रत्यक्षातिरिक्तज्ञानानामचरकारि-
त्वस्य सर्वमतसिद्धतया रसस्यानुमेयत्वस्वीकारेऽचरकारित्वप्रमङ्गात् षष्ठम्,
विगतानादिमगूहनकारेण लोकोत्तररसत्प्रप्राप्त्यसम्भवात् सप्तमम्, एकस्य विभावाद्य-
न्यतनस्य रमसारचक्रकार—परिपूर्णताऽसद्भावादष्टमं च मतमठचिन्नासादनादेयमेव ।

इदमुक्तं भवति—विभावा अनुभावा व्यभिचारिणश्च विप्रतीत्यैकरससाधारणा
नत्वरसनियता गन्तीनि त्वैकमात्रोपादाने रमप्रतीतावनियम स्यात्, मिमिषा
विभावाद्यमनयस्त्वेकरमामाधारणा इति तदुपादाने न व्यभिचार इति सूत्रे
मिनिनाता त्रयाणामुपादानमावश्यम् । तथा चोक्त काव्यप्रकाशे—'व्याघ्रादयो
विभावा मयानवस्येव रीडाद्भुतवीराणाम्, अश्रुपातादयोऽनुभावा शृङ्गारस्येव
वदणमयावकाः किनादयो व्यभिचारिण शृङ्गारस्येव वरुणवीरमयानानामिति
पृथगनैतान्तिवराण सूत्रे मितिता निदिष्टा' इति । विवदतिमतिनाम्बुनममेधम्'
इत्यादी केषवविभावाणाम्, 'परिमृदिनमृणासोम्नानमङ्गम्' इत्यादौ केवलानुभावा-
नाम्, 'दूरादुन्मुनमागने विवतितम्, इत्यादौ केवलव्यभिचारिणा चोपादाने शृङ्गार-
रमप्रतीत प्रमिदत्वात् त्रयाणा मिनिनाामुपादानमावश्यमितिपुक्तिनिमूलेति चेत् न,

अत्रेण नीन मतो मे सूत्र का त्वैर् संगत नही होवा, अत उन मनो मे सूत्र का विरोध पर्यामित
होवा है—अथात् मे मत अनन्व है, सूत्रानुसारी नही ।

विमर्शको मे से प्रत्येक से रस की अभिव्यक्ति न्यो नही जाती इन संता का समाधान देने
है—'विभावा अनुभाव' इत्यदि । अभिप्राय यह है कि विभावा, अनुभाव और सप्तरीमात्र इनमें से
केवल एक सर्वत्र प्रयुक्त विभावा, केवल अनुभाव, अथवा केवल व्यभिचारीभाव किसी नियत रस का

तदेवाह—

एव च प्रामाणिके मिलितानां व्यञ्जकत्वे, यत्र क्वचिदेकस्मादेवासाधारणाद् रसोद्बोध. तनेतरद्वयमाशेष्यम्, अतो नानैकान्तिकत्वम् ।

प्रकृत रसस्वरूपनिरूपणमुपसहरति—

इत्य च नानाजातीयामि. श्रेयुधीभिर्नानारूपतयाऽवसितोऽपि, मनीषिभिः परमाह्लादाविनाभावितया प्रतीयमान, प्रपञ्चेऽस्मिन् रसो रमणीयताभावह-
तीति निर्विवादम् ।

उक्तस्यलेष्येकमात्रस्य शृंगाररसासाधारणस्योपादानेऽप्यवशिष्टान्यद्वयस्य तादृशस्यैव
क्षदित्याक्षेपेण सामाद् व्यभिचारासम्भवात् । तदुक्तम्—

‘सद्भावश्चेद्दिवावादेर्द्वयोरैकस्य वा भवेत् ।

क्षदित्यन्यसमाक्षेपे उदा दोषो न विद्यते ॥’ इति ।

अनैकान्तिकत्व व्यभिचारः ।

इत्यमुक्तरीत्या, नानाजातीयामिरेकविधामि, श्रेयुधीभिर्बुद्धिमि, मनीषिभिः
काव्यकोविदै, नानारूपतयाऽेकप्रकारत्वेन, अवसितो ज्ञातोऽवधारितो वापि,
परमाह्लादाविनाभावितया लोकोत्तरानन्दव्याप्यत्वेन, प्रतीयमान आस्वादपदवीमव-
तरन्, रस, अस्मिन् प्रपञ्चे सम्बन्धे विश्वस्मिन् वा, रमणीयताभावहति सुप्रमाविशेष
सम्भारोत्कर्षं वाऽऽवधातीति निर्विवाद निर्वीतमित्यर्थः ।

बुधाना बुद्धिर्बुद्धिभेदेन रसस्य स्वरूपनिरूपणे प्रकारबाहुल्येऽपि विच्छित्तविशेषा-
घायकत्वे न काचिद्विमतिरित्यभिप्रेतम् ।

व्यक्त नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही विभाव, एक ही अनुभाव अथवा एक ही व्यभिचारीभाव अनेक
रस का हो सकता है, जैसे श्याम्र अदि जिम तरह भयानक रस के विभाव हो सकते हैं, वही तरह
वीर, अद्भुत और रौर रस के भी, अनुभाव अदि जिम तरह शृङ्गार के अनुभाव हो सकते हैं, वही
तरह क्लम और भयानक रस के भी, चिन्ता अदि जिस तरह शृङ्गार के व्यभिचारीभाव हो सकते हैं,
वही तरह क्लम, वीर और भयानक रस के भी । अतः भरत-सूत्र में तीनों का उल्लेख किया गया है ।

इस तरह अब वह प्रमाणित हो चुका कि तीनों (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव) सम्मि-
ष्टिण रूप में ही किसी रस को व्यक्त कर सकते हैं, तब यदि कहीं, किसी अभाधारण (जो
किसी रस रस को व्यक्त कर सकते हैं, तब यदि कहीं, किसी अभाधारण (जो किसी एक ही रस
का सम्बन्धी हो सकता हो) विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारीभाव में से किसी एक से ही खास
रस की अभिव्यक्ति होती है, तब वहाँ जो एक वर्णित हो, उसके अतिरिक्त दो का उचित रूप से
आश्रय कर लेना चाहिए, अतः सूत्र का विरोध वहाँ नहीं होगा । इस प्रसङ्ग में सम्भट ने उदाहरणार्थ
निम्नलिखित तीन श्लोक काव्यप्रकाश में उद्धृत किये हैं । (१) ‘वियदलितमिनाम्बुगभिवम्’
इत्यादि । (२) ‘परिमृदितशृणालीम्लानमद्गम्’ इत्यादि । (३) ‘दुरादुल्लसकभागने विवलिन्म्’
इत्यादि । इन श्लोकों में क्रमशः पथम में केवल विभावों पर, द्वितीय में केवल अनुभावों का और
तृतीय में केवल व्यभिचारी भावों का वर्णन किया गया है, परन्तु वे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी
भाषण अभाधारण है अर्थात् केवल शृङ्गार रस में ही होने वाले हैं, अतः यहाँ अनेक रसों के व्यञ्ज्य होने
का सन्देह नहीं हो सकता । तब वाच उदा कह कि शृङ्गार भी एक एक से कैसे अभिव्यक्त होगा,
जिसका उत्तर उपर दिया ही जा चुका है कि वर्णित से अतिरिक्त दो का आश्रय कर लिया जायगा ।

एव रसस्य स्वरूपं निरूप्य प्रकारानावष्टे—
स च—

शृङ्गारः करुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा ।
हास्यो भयानकश्चैव, बीमत्ताश्चेति ते नव ॥'

इत्युक्तेनैवघा ।

नन्वेतदुक्तौ किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायां भिदपाति—

मुनिवचनं चात्र प्रमाणम् ।

अथ नाट्ये शान्तरसस्याभावमाशङ्कते—

केचित्तु—

'शान्तस्य शमसाध्यत्वात् नटे च तदसम्भवात् ।

अष्टावैव रसा नाट्ये, न शान्तस्तत्र युज्यते ॥' इत्याहुः ।

स रसः शृङ्गारादिभेदेन नवधा नवप्रकारक इत्यर्थः ।

अनास्था रसनवविधत्योक्तौ, मुनेमंहविभरतस्य—'शृङ्गार-हास्य-भयानक-रौद्र-वीर-भयानक । बीमत्ता-द्भुत-शान्ताश्च काव्ये नव रसा स्मृता ॥' इति नाट्यशास्त्रोक्तं वचनं च (चकारात्महृदयानुभव) प्रमाणमस्तीत्यर्थः ।

नामानुपादानेन तुना चैतन्मतस्यावधिप्रस्ताता सूच्यते ।

शान्तस्य रसस्य, शमसाध्यत्वाच्छान्तिस्वायिवत्वात्, नटे वास्तविकसमुद्भवता-विषुदे केवलशिक्षाभ्यासादिनाऽनुकरणपटोपसि तस्य शमस्यासम्भवाच्च हेतोः, नाट्येऽग्निनेयकाव्ये, अष्टौ शृङ्गारप्रभृतय एव रसा भवन्ति, तत्र नाट्ये शान्तो रसो न युज्यते (नटस्य शमसाध्यात्) इत्यर्थः । केचिदित्यस्य—इत्याहुः इत्यनेन शम्भवाच्च ।

शान्तरसस्यावधिप्रस्ताता नटेऽसम्भवात् प्राट्ये शान्तानिरिक्ता एवाष्टौ रसा इति पूर्वपक्षस्य सारम् ।

इम प्रकार विद्वज्जनी ने, यद्यपि अनेक प्रकार की बुद्धिसे वे द्वारा रसका अनेक रूपों में समझा है, तथापि इम बात में किसी तरह का विवाद नहीं है कि रस अनेक अनेक का भाव्य पदार्थ है और वह संसार में एक सौन्दर्यमय वस्तु है ।

अब रस के भेदों को दिखाने हैं—'स च' प्रायादि । पूर्वोक्त रस के शृङ्गार, भयानक, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और बीमत्ता ये नौ भेद हैं ।

रस की इम मञ्जूषा में अरब बुद्धि का वचन ही प्रमाण है । अनेक जटवशास में अनेक मुनि ने 'शृङ्गार-हास्य-भयानक-रौद्र-वीर-भयानक । बीमत्ताद्भुत-शान्ताश्च काव्ये नव रसा स्मृता ॥' का वचन कहा है ।

नाटक में शान्त-रस नहीं ही मचना इम परकीय शब्दा का शब्द निरूपण है—'केचित्तु' इत्यादि । नाटक में अष्ट ही रस होत हैं, शान्त मना, ऐसा कुछ छोव कदा है और व अरब काल में मुक्ति पर देत है कि शान्त रस ही भिदि शब्द (शान्ति) से ही हो मचना है, अ (शान्ति) वेगम ही सम्बन्ध रगता है और नट उदय सांसारिक ज्ञानेयों में जामक भाव, अा इममें शान्ति की सम्भवना नहीं, फिर नाटक में शान्तरस हो, तो, कौन ?

समादधाति—

तत्रापरे न क्षमन्ते । तथाहि—नटे शमाभावादिति हेतुरसङ्गत, नटे रसाभिव्यक्तेरस्वीकारात् । सामाजिकाना शमवत्त्वेन तत्र रसोद्बोधे बाधकाभावात् ।

नटे शमानङ्गीकारेऽनुपपत्ति प्रकाशय निरस्यति—

न च नटस्य शमाभावात् तदभिनयप्रकाशकत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, तस्य भ्ररक्रोधादेरप्यभावेन तदभिनयप्रकाशकताया अप्यसङ्गत्यापत्तेः ।

इदमुच्यते—नटे शमाभ्यवो न तु सामाजिके । नटे तु 'यत कश्चिन्न रस स्वदते नट, इत्युक्तेनटे रसास्वादाभाव । सहृदयत्वमेव हि रसास्वादकताऽवच्छेदक न तु नटत्वम् । यत्र स्वचिन्नेटस्यास्वाद', स तस्य काव्याद्यंभावनाया, सहृदयत्वेनैव 'काव्याद्यंभावेनायमपि सम्यपदास्पदम्' इति दर्पणात् । किञ्च वक्ष्यमाणक्रमेण शब्दे महाभारतादी शान्तरसस्वीकृतौ न कस्यापि विभक्ति । दृश्यकाव्ये तु नटे वास्तविकरामाभावादभिनयासम्भवात् केचिन्न मन्यते । परे तु तथापि 'बध्नादेव रसा नादृश्विति केचिदध्वुवदन् । तदचार, यत, कश्चिन्न रस स्वदते नट ॥' इत्यभिपुक्तोक्तिमनुसृत्य, प्रबोधचन्द्रोदयाद्यभिनये रस साक्षात्कृत्य च तमूरीकुर्वन्ति । तस्य स्यायिन केचन निर्वेद मन्यन्ते । अपरे निर्वेदस्य विश्वविषयात्म्यस्यारम्भस्यास्मावमानरूपस्य वा, चमत्कारित्वाभाव व्यपदिश्य, सकलतृष्णानिवृत्तिरन्यारम्भपरिपूर्णत्वरूपविलक्षणानन्दलक्षणम्—'यच्च कामसुख लोके, यच्च दिव्य महत्सुखम् । तृष्णासयसुखस्यैते नाहंत पोडयो क्लाम् ॥' इत्युक्तमहिमान शममेव तथा व्याहरन्तीति दिक् ।

प्रथमेन तच्छब्देन शमस्य, मध्यमेन नटस्य, चरमेण च त्रयकोषादे' परामर्श ।

यदि नटे शम स्यात्, तदा स तदभिनय विधातु क्षमेत् । न च तथा, तस्माद्भिनयेकाव्ये शान्तरसो भोचित इति पूर्वपक्षे, यद्यपि नटे वास्तविक कोऽपि स्थायी न तिष्ठति, तथापि शिक्षाम्यासादिबलेन तदभिनय सोऽनुतिष्ठतीति वस्तुस्थितौ, नटे शमस्य विरहेऽपि तदभिनयानुष्ठाने नासङ्गति । अन्यथा नटे रौरस्यायिन्नोद्यस्य, मयानकस्यायिनयस्य चासत्प्राप्तदभिनयानुष्ठानस्याप्यसङ्गत्यापत्तिरित्युत्तरम्—

वक्तु शब्दा का समाधान करते हैं—'तथापरे' इत्यादि । दूसरे छोग एक शब्दा—करक की बाप को मानना नहीं चाहेंगे । उनका कथन है कि नटक में शान्तरस के न होने में आपने जो बर देलु दिया है कि 'नट में शान्ति की सम्भावना नहीं है', वह सङ्गत नहीं, क्योंकि हम छोग नट में रस की अभिव्यक्ति मानने ही नहीं, फिर उसकी शान्ति अथवा अज्ञानि से हमें क्या लेना देना ! वहाँ हम रस की अभिव्यक्ति मानने हैं, वे सामाजिक यदि शान्ति-युक्त होंगे, तब उनमें रसोद्बोध होगा ही, वहाँ उसके होने में तो किसी तरह को बाधा है नहीं ।

इदि श्रण करें कि शान्ति विहीन नट शमन-रस के अभिनयों को प्रकाशित नहीं कर सकते, इस हम आपसे कहेंगे कि नट, मयानक अथवा रौद्र रस की अभिव्यक्ति के लिये कल्पित करता है, यह तो आप भी मानने हैं, परन्तु आपके शान्तरसविषयक इस नूतन तर्क के अनुसार वह शान्ति-युक्त, रो वायण, क्योंकि नट में जैसे वास्तविक शान्ति नहीं रहती, वही तरह वास्तविक भय ही होय भी नहीं रहते, अत इस कारण से अगर शान्तरस के अभिनय करने का अभिधारी वह नहीं होता तो मयानक और रौद्र रस के अभिनय का अभिधारी व होना भी उसके लिये धरित प्राप्त है ।

पुनः—पूर्वपक्ष विधाय विराकरोति—

यदि च नटस्य क्रोधादेरभावेन वास्तवतत्कार्याणां वधवन्धादीनामुत्पत्त्य-
सम्मवेऽपि, कृत्रिमतत्कार्याणां शिक्षाम्यासादित उत्पत्तो नास्ति वाचकमिति
निरोक्ष्यते, तदा प्रकृतेऽपि नुत्यम् ।

पुनश्चाद्भूते—

अथ नाट्ये गीतवाद्यादीनां विरोधिना गत्वान्, सामाजिकेष्वपि विषय-
वैमुस्थारमन. शान्तरस्य कथमुद्वेक इति चेत् ।

उत्तरपति—

नाट्ये शान्तरसमम्युपगच्छद्भिः फलबलान् तदगीतवाद्यादेस्तग्मिन्
विरोधिताया अकल्पनात् ।

नटे वास्तवस्य क्रोधादेरभावाद्वास्तवानि क्रोधादिकार्याणि सन्नूणा दयवन्धप्रभृ-
तीनि नोत्पन्नु सम्भवन्ति, किन्त्ववास्तवक्रोधादीनां सत्त्वादवास्तवानि तत्कार्याणि
गर्जनतर्जनादीनि शिक्षाम्यासादिद्विधाद् वाचकवैपुर्णान् कथं नोताद्येरेन्निति कृष्टान्त-
दाष्टान्तिकयोर्वैपम्यमालोक्यते चेत्, तर्हि नटःपि वास्तवशमभावेन वास्तवशमका-
र्याणां सकलकृष्णविरामादीनामुत्पत्तेरभावेऽपि, कल्पितशमकार्याणामभिनिमीलना-
दीनां शिक्षाम्यासादिद्विधादुत्पत्तिबोधकभावात् कथं न स्यादुभयोर्वैपम्यविरहा-
दित्याद्यम् ।

गीतवाद्यादयो हि विशेषेण श्रोतुर्बलं सिन्धुन्तीति विषया मनोविक्षेपकृतं तथा
धमविरोधिना नाट्ये प्राचुर्येण सत्त्वाद् विषयेभ्यां वैमुख्यमात्वा स्वरूपं यस्य नाट्य-
स्य विषयविद्वद्भवभावस्य शान्तरस्य सत्त्वदेऽपि (विमुक्तं नट) कथम् उद्वेक
आदिर्भावो भवन् ? तस्मात् नट्ये शान्ता रस इति पूर्वपक्षानिप्रायः ।

ये नाट्येऽपि शान्त रस एवोक्तुर्वन्ति, तं देवविषयकभावे विषयवैमुख्यसद्भावात्पि
उद्भादानुकूलस्य गीतवाद्यादेर्यथा फलानुरोधेन विरोधिना न मन्यन्ते, तस्मात्प्राचीन-
त्तरपक्षाद्यम् ।

अदि अथ कर्तुं किं नट में श्रेष्ठ आदि के न होने के कारण श्रेष्ठतक के वास्तविक कर्तव्य वध-
वन्ध आदि के उत्पन्न न होने पर भी कृत्रिम (बनावटी) वधवन्धन आदि की शिक्षा और अभ्यास
आदि से उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं होती, तब हम कहेंगे कि यहाँ भी वैसा ही समझिये कर्तव्य
वास्तविक शम के अभाव में वास्तविक शम—कार्य शरीर में अनास्था आदि के न होने पर भी
दिशदि से नट बनावटी शम के कर्तव्य को दितल्य करना है ।

एक शब्द अथ यह जगति का सही है कि नटक में शान्त रस के विरोधी गीत, वाद्य आदि
बलुओं के विघनन करने पर सामाजिकों में भी शान्तरस का उद्वेक कैसे होगा क्योंकि विषयों से
विमुक्त होना ही शान्त रस का स्वरूप है ।

एक शब्द का उत्तर यह है कि शान्तरसमभान नाटक के दर्शन से सद्बल सामाजिकों में शान्त
रस का उदय होते देखने हैं, अब नाटक में शान्त रस को स्वीकार करने पर वह गीत-वाद्यादिकों
को शान्त रस के विरोधी नहीं मानेंगे, क्योंकि श्ल के अनुसार ही कारण को कल्पना ही जाती है ।

उत्तरपक्ष समर्थयन्नुक्तव्यवस्थातिशये दोषमाह—

विषयचिन्तासामान्यस्य तत्र विरोधित्वस्वीकारे, तदीयालम्बनस्य ससारा-
नित्यत्वस्य, तदुद्दीपनस्य पुराणश्रवण-सत्सङ्ग-पुण्यवन-तीर्थविलोकनादेरपि
विषयत्वेन विरोधित्वापत्तेः ।

उक्तार्थे प्राचीनसम्प्रति दर्शयन् निश्चययति—

अत एव च चरमाध्याये सङ्गीतरत्नाकरे—

‘अष्टादेव रसा नाटघेष्विति केचिदत्रुचुदन् ।

तदचार, यतः कश्चिन्न रस स्वदते नटः ॥

इत्यादिना नाटघर्षपि शान्तो रसोऽस्तीति व्यवस्थापितम् ।

नाट्ये शान्तरसामावाभ्युपगमेऽप्यन्यत्र तत्सत्त्वस्वीकृतिरावश्यकीत्याह—

यंरपि नाटघे शान्तो रसो नास्तीत्यभ्युपगम्यते, तैरपि बाधकाभावान्महा-
भारतादिप्रबन्धानां शान्तरसप्रधानताया अखिललोकानुभवासिद्धत्वाच्च काव्ये
सौख्यस्य स्वीकार्यं ।

तत्र शान्तरसे । पुण्यवनानि वृन्दावन-नैमियारण्यप्रभृतीनि । तीर्थानि काश्या-
दीनि ।

विषयचिन्तासामान्यमेव शान्तरस विरोधीति ग्रीनवाधाद्यनुकूलविषयसम्बन्धेऽपि,
न नाट्य शान्तरस इत्यपि वक्तुं न शक्यम्, तत एवमङ्गीकारे शान्तरसालम्बनोद्दीप-
नयोरपि विषयत्वाच्छून्यकाव्येऽपि तदसत्त्वमापद्येत, तस्मादनुकूलानां विषयाणां
विरोधित्वं न कल्पनीयमित्यभिप्रायः ।

अत एवेत्यस्य व्यवस्थापितमित्यत्र सम्बन्धः ! सङ्गीतरत्नाकरनामा प्राचीन-
सङ्गीतविद्याप्रबन्धः । अष्टुचुदन् व्याहार्थुः । अपाह सङ्गतिरूपतयाऽनुन्दरम् । यत
इत्यादिना तद्वेतूपन्यासः । कश्चिन् कश्चिदपि । स्वदत इत्यन्तर्भावितव्ययत्वादास्वाद-
यतीत्यर्थम् । अन्यथाऽर्थासङ्गतिर्नटपदाञ्चतुर्था दुर्निवारत्वं च स्यात् ।

यथा नटे नानास्वादितानामपि रसान्तराणां नाट्ये सत्त्वं स्वीक्रियते, तथैव
शान्तस्यापि स्वीकरणीयम्, वैषम्ये बीजानुपसम्भादित्याकृतम् ।

दूसरी बात यह कि विषय-चिन्तन-मात्र को यदि ज्ञान रस का विरोधी मान लिया जाय, तब
शान्त रस का आलम्बन-ससारा का अनित्य होना पक्ष उसके उद्दीपन-पुराणों का सुनना, सलमन,
पवित्र वन और तारों के दर्शन आदि भी विषय ही है, अतः वे सब भी शान्त रस के विरोधी हो
जायेंगे । इसलिये जिनमें शान्त रस के अनुकूल वर्णन हो, वे मजन-कीर्तन आदि उसके विरोधी नहीं
हैं, अपितु उनमें अभिव्यञ्जक ही है, ऐसा मानना चाहिए ।

उक्त अर्थ में प्राचीनों को सम्प्रति दिखलाते हैं—‘अत एव च’ इत्यादि । जिसलिये वे गीत-
याच, शान्त र. के विरोधी नहीं हैं और नाटक में भी शान्त रस का होना उचित है, इसलिये
‘संगीत रत्नाकर’ के अन्तिम अध्याय में ‘अष्टादेव रसा नाट्ये’ इत्यादि अर्थात् नाटकों में आठ ही रस
होते हैं, ऐसा कुछ छेग कहे हैं, परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि नट किन्हीं रस का
आस्वादन नहीं करता-इत्यादि उक्ति के द्वारा-नाटकों में भी शान्त रस होता है, यह सिद्ध किया है ।

पुन शान्तरससत्तामेव समर्थयन् सन्दर्भमुपसहरति—

अत एव अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' इत्युपक्रम्य शान्तोऽपि नवमा रसः'
इति मम्मटभट्टा अप्युपसमहार्यु ।

एव रसान् परिगणय्य, तेषामास्वादे भेदाभावाग्निभयोऽभेदे प्रसक्तं, स्थापिभेदेन
भेद दिदसंपिषु स्थापिभावान् क्रमेण परिगणयति—

अमीया च—

रतिः शोकश्च निर्वेद—क्रोधोत्साहाश्च विस्मयः ।

हासो भयं जुगुप्सा च, स्थापिभावाः क्रमादमी ॥

अथ प्राशुक्तमतभेदेन रसाना स्थापिभ्यो भेद दर्शयति—

रसेभ्य स्थापिभावाणा घटादेवंटाद्यवच्छिन्नाकाशादिव प्रथम—द्वितीय-
मतयो, मत्परजसस्थानिर्वचनीयरजतादिव तृतीये, विषयस्य (रजतादे')
शानादिव चतुर्थे भेदो बोध्यः ।

नाट्यं शान्तरसानाथ वदन्तोऽपि बाद्यवागुपसम्माह महाभारतप्रभृतिप्रबन्धेषु
शान्तरसप्राधान्यस्य सवत्सहृदयानुभवसिद्धतयाऽपसपनीयरवेन शान्तरसस्य नाट्ये
तरकाद्ये सत्तामवश्य स्वीकुर्युरित्येतावताऽपि शान्तरसमत्ता रसाना नवता च
सिध्यत्येवैत्यभिनिधि ।

अत एव काव्ये शान्तरससत्त्वादेव । उपक्रम्य प्रारभ्य । उपसमहार्यु ममाग्निम-
कार्यु ।

अथ्यकाव्येऽपि शान्तरसानङ्गीकारे 'शान्तोऽपि नवमो रस' इत्युपसहारोक्ति-
मम्मटभट्टाणा शान्तरसस्य, तत्रवमतस्य सामावाप्र सङ्गच्छेन, तस्मात् काव्ये शान्त-
रससत्ता निर्विवादवैति सारम् ।

अमीया शृंगारादिरसानाम् । क्रमात् शृंगारस्य रति, वरुणस्य शोक, शान्तरस्य
निर्वेद, रौरस्य क्रोध, शीरस्योत्साह, अद्भुतस्य विस्मय, शयानस्य भयम्,
शीमत्सस्य च जुगुप्सा स्थापिभावः । एतेषा स्वरूपपत्रे स्फुटीभविष्यन्ति ।

नाट्ये में शान्तरस को मानने पर भी काव्य में उनका मानना आवश्यक है इसी बात का
उल्लेख करने है—'यैरपि' इत्यादि । आशय यह है कि जो लोग नाट्य में शान्तरस नहीं मानते हैं
उन्हें भी काव्यों में उसको (शान्तरस को) अवश्य मानना चाहिए क्योंकि वनके दिग्गज में भी नहीं
उसको मानने में किसी तरह की बाधा नहीं है और 'महाभारत आदि ग्रन्थों में शान्तरस ही प्रधान
है' यह बात सब लोगों के अनुभव से सिद्ध है ।

इसोक्ति मम्मट ने 'श्री-नाट्ये में नाट्य रस होते हैं' इस तरह से व्याख्य करके 'शान्तरस
नाटक एक नरर रस भी है' इस रूप में उपलक्ष्य किया है । अर्थात् काव्यों में शान्तरस का होना
मम्मट ने अनुसार ही सिद्ध है । अतः रसों को कुछ संख्या नहीं है, यह निष्कर्ष ही है ।

अब इन रसों के स्फुटीकरणों के नाम गिजने हैं—'अमीया च' इत्यादि । इन रसों के क्रमशः
रति, शोक, निर्वेद, क्रोध, उत्साह, विस्मय, भय और जुगुप्सा के स्थापिभाव होने हैं । अर्थात् शृंगार
का रति, कल्या का शोक, शान्तरस का निर्वेद, रौर का क्रोध, शीर का उत्साह, अद्भुत का विस्मय,
शय्य का भय, शीमत्स का भय और शीमत्स का जुगुप्सा स्थापिभाव होता है ।

ननु स्यादीना पारमार्थिकस्थिरत्वाभावात् कथं स्यादित्यमित्यन्त आबष्ट—
तत्र आ प्रवन्ध स्थिरत्वादमीषा भावाना स्यादित्यम् ।

पुनस्तद्धने—

न च चित्रवृत्तिविशेषरूपाणामेषामाशुविनाशित्वेन स्थिरत्व दुर्लभम्,
वामनारूपतया स्थिरत्व तु व्यभिचारिष्वतिप्रसक्तमिति वाच्यम् ।

अभिनवगुण—मृदनायकमतयो रत्याद्यर्णच्छत्रचतन्वस्य रमत्वाङ्गीकारात् तयार-
बच्छेषावच्छेदनावरूपो भेद । तृतीये नव्यमते प्रातिभासिकरत्यादे रमत्वाङ्गीकारात्
तयो सादृश्यात्मा भेद । चतुर्थे परकीयमते रत्यादिविषयकज्ञानस्य रसत्वाङ्गीकाराद्
द्विषयद्विषयिभावरूपो भेदो बोध्य इत्यर्थम् ।

पञ्चमपष्ठमतयोस्तु रम-स्यायिनोरभेद । सपनादिषु तु मतेषु स्यायिनोऽनुपादा
नभवेति मतचतुष्टय एव भेदो वक्षितः ।

रत्यादीना वस्तुन कूटस्थन्वविरहेऽपि, तत्र काव्येषु आग्रबन्ध प्रबन्धमभिन्नाप्य
स्थिरत्वात् स्यादित्यमित्यर्थम् ।

रत्यादयो हि कूटस्थनया न स्यायिन, किन्तु व्यभिचार्यपक्षया नियमेन प्रबन्ध
व्यापकम्यनिशासित्वादिनि सारात् ।

एषा रत्यादीनाम् । अतिप्रसक्तमनिव्याप्तम् ।

चित्तस्यानिवपनत्वात् तद्ब्रह्मतीना क्षगमद्भुरतया वक्ष्यमातीत्या तदकरूपाना
रत्यादीना स्थिरत्व न सम्भवति । न च तेषा क्षणिकत्वेऽपि वद्विज्ञानात्मसम्कारणा
मक्षणिकत्वात् तद्ब्रह्मणामेव तेषा स्थिरत्व सम्भवति एव नति व्यभिचारिवाचनाया
अप्यक्षणिकत्वाद् व्यभिचारिणामपि स्यादित्यप्रसङ्गादिति पूर्वपक्षः ।

रमो और स्थायीभावों में क्या भेद होता है इसी बात का विवेचन सम्पन्न करने—
‘रसोऽयम्’ इत्यादि । अभिनवगुण और मृदनायक के मतों (जो इस इत्य में प्रथम और द्वितीय है) के
अनुसार रम और स्थायीभाव में परस्पर वैसा ही भेद है, जैसा वा और वमके अन्तर्गत अक्षरों में
है । अर्थात् जैसे व्यपन्न मन्त्राद्य वदन् वदपि के अन्तर विर कर छोड़ ना हो जाना है, वही
उस तरह व्यपन्न वैषम्य रति आदि स्थायीभाव रूप वदपि से प्रसन्न होकर केचित्त मा हो जाता है । दूसरे
नव्य मत के अनुसार रस और स्थायीभाव में वैसा भेद है, जैसा सत्त्व-चैतनी और काल्पनिक चैतनी
में है अर्थात् रम काल्पनिक चैतनी मा है और स्थायीभाव सत्त्व चैतनी सत् । चतुर्थ परकीय मत के
द्विपक्ष से वन दोनों में वम तरह का भेद है, जिस तरह-क भेद वन और वमके विषय में होता है
अर्थात् रम वनरूप है और स्थायीभाव विषयस्य ।

ये पूर्वोक्त मत सब स्थायी क्यों कहलाते हैं इसका कारण बतलाते हैं—‘तत्र’ इत्यादि । ये सब
कूटस्थ नियम नही है, वरन् जैसे व्यभिचारीभाव किसी भी सम्पूर्ण प्रबन्ध में अवैक बार वन, जते
और बरतते रहते हैं, उस तरह ये सब बरतते नही अर्थात् प्रत्येक मन्त्रादि प्रबन्ध बने रहते हैं, अत
एव स्थायी कहलाते हैं ।

यदि आप कहें कि ये रति आदि मत तो चिच्छ्रुतिस्य हैं, अत एव का भर के बाद न्य हो जाने
वाले पदार्थ हैं इसलिये सम्पूर्ण प्रबन्ध में इनका स्थिर रहना अनम्भव है, फिर ये (मत) स्थायी कैसे
कहाया सकते हैं ! और वमना (संस्कार) रूप से इनको स्थिर मानने पर व्यभिचारीभाव में स्थायी
कहायने लगे, क्योंकि वाच्यरूप से वे भी वनकरण में सदा बर्तनन रहते हैं ।

समावधायति—

वामनारूपानाममोपा मुहुर्मुहुर्भिव्यक्तेरेव स्थिरपदार्थत्वात्, व्यभिचारिणा तु नैव, तदभिव्यक्तविद्युद्द्योतप्रापत्वात् ।

उक्तार्थं प्रमाणयति—

यदाहु—

‘विच्छेदरविरुद्धेर्वा, भावेर्विच्छिद्यते न यः ।

आत्मभाव नयत्यासु, स स्यायी लवणाकर ॥

चिरचित्तोऽवतिष्ठन्ते, सम्बध्यन्तेऽनुबन्धिभि ।

रमत्वं ये प्रपद्यन्ते, प्रसिद्धा वशयिनोऽत्र ते ॥

विरमितिभ्यव्यभिचारिवारणाय । अनुबन्धिभिर्विभावाद्यै ।

तथा—

‘सजातीयविजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान् ।

भावद्रस घर्तमान स्याद्विभाव उदाहृत ॥’ इति ।

ममोपा रत्यादीनाम् । मुहुर्मुहुर्भिव्यक्ते । पुनः—पुनः—प्रतीते । विद्युद्द्योत-
प्रापत्वात् कादाचित्कत्वात् ।

नैरन्तरेण भूयो-भूयो वा प्रतीयमानत्वमेवात्र स्थिरत्वम् । तच्च स्वाधिनामेव, न
तु व्यभिचारिणाम्, विद्युत्प्रकाश इव कदाचिदेव तेषां प्रतीतिरिति प्रसिद्धत्वादि-
त्युत्तरम् ।

अनुबन्धिभिः सम्बन्धिमिनिमावादिभिः । लवणाकर क्षाररसमुद्रसदृश ।

यथा क्षाररसमुद्र स्वादिष्टरत्वादिष्टैर्वा नदीपूरैर्मिथितोऽपि स्वभाव न जहाति,
विन्दु तानव स्वभाव प्रापयति, तथैव यो भाव प्रतिकूलैरनुकूलैवा विभावादिभिर्मि-
लितोऽपि स्वभाव न जहाति (विच्छेद न प्राप्नोति), अपितु तान् भावानेव स्वभाव
प्रापयति स स्यायी भाव इति प्रथमवारिवाचं ।

य (वासनारूपेण) चिर (नतु व्यभिचारिणम् कदाचिदेव) चित्ते निष्ठन्ति,
गयाऽनुबन्धिभिर्विभावादिभिः सम्मिलिता भवन्ति, विश्व रमत्वं प्राप्नुवन्ति तेषां
वाच्ये स्वाधिनो नामा प्रसिद्धा वदन्तीति द्वितीयवारिवाचं ।

एक शब्द का उत्तर यह है कि वासनारूप रति आदि भावों की पुनः पुनः अभिव्यक्ति दो घड़ी
स्मरण विवक्षित है अर्थात् रति आदि भाव समग्र ग्रन्थ में बार-बार प्रतीय होने हैं यही उत्तरी
व्यक्ति है व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति तो विच्छेद की तरह क्षणभङ्ग होती है अतः चिर
तरह निराली कभी-कभी ही चम्कती है वरकर नहीं, वही तरह ग्रन्थ भर में दो बार बार भाव ही
किसी व्यभिचारी भाव की प्रतीति हो जाय, परन्तु विद्यमान सम्पूर्ण ग्रन्थ में हमारी प्रतीति नहीं होती
भात वे निराल नहीं रहना भवते ।

एक शब्द की प्राचीन की सम्प्रति दित्युत्तर प्रमाणित करने हैं—‘यदाहु’ इत्यादि । प्राचीनों
ने भी वन नये की अनी-अनी सम्प्रति देकर प्रमाणित किया है । उन लोगों ने किया है कि
स्वाधीभाव उत्तरी कहते हैं, वो निरोधी कक्षा कक्षीयों भावों से विच्छिन्न नहीं होता, परन्तु
वरोधी भावों को भी उभै आने रूप में परिणत कर देता है, और क्षाररसुद्र के समान ही कक्षीय

स्यायिलक्षणे मनान्तरमुपन्यस्य निरस्यति—

केचित्तु रत्याद्यन्यतमत्व स्यायित्वमाहुः, तत्र, रत्यादीनामेकस्मिन् प्ररूढे-
ऽन्यस्याप्ररूढस्य व्यभिचारित्वोपगमात् ।

प्रसङ्गाद् भावानां प्ररोहाप्ररोहो निरूपयति—

प्ररूढत्वाप्ररूढत्वे बह्वल्पविभावजत्वे ।

मदुर्गसदुर्गवां भावयंम्य स्वरूपपरिवर्तन न भवति, तथा य स्रक्नुत्रन्यायन रस-
सत्तापनिव्याप्य तिष्ठति, स काव्ये स्यायिभाव कथितो भवतीति तृतीयकारिकार्यं ।
तदेवोक्तमन्यत्रापि— विरुद्धा अविरुद्धा वा य निरोहानुमेषमा । आस्वादाङ्कुर
बन्धोऽसौ, भाव स्यायीति सञ्ज्ञित । इति । विरुद्धत्व तु तत्र केपाश्चिद् व्यभिचारि
भावानां बोध्यम् ।

पतो रत्यादयः स्वरूपेणैव न स्यायिभावा किन्तु प्ररोहेण, अप्ररोहे तु तेषां
प्ररूढस्य भावान्तरस्य वक्ष्यमाणरीत्या व्यभिचारिभावा एव भवन्तीत्यस्या स्थिती,
रत्याद्यन्यतमत्व स्यायित्वमिति लक्षणास्य नाममात्रेण स्यायिषु, प्ररोहाभावात् व्यभि-
चारितामापन्नेषु रत्यादिष्वेवातिव्याप्तिः । तस्मादेतल्लक्षणमसङ्गतमिति भावः ।
यदि च तदतिव्याप्तिवारणाय रत्यादिषु प्ररूढत्व निवेशयित तयापि तत्तद्भिनमितत्व-
स्यान्यतमत्वाद्नुयोगि-प्रतियोगित्वाभ्यां जगतः प्रवेशेन गौरवभाषणम् । तल्लक्षणे-
कूटप्रतियोगिकामाववत्त्वमेवान्यतमत्वमित्यङ्गीकारे तु न गौरवमिति विभावनीयम् ।

बहुविभावजन्यत्व प्ररूढत्वम् अन्यविभावजन्यत्व त्वप्ररूढत्वमित्ययम् ।

जिस तरह क्षार मसुर से जकर मस वस्तुई क्षार हो जाता है, वही तरह चिन्मे मिक्कर मस मसुर
हो जाते हैं । । भाव बहुत कठक विषय न वासना रूप से रहन ह, विभावनीकों के माध मनक
होते है और अन्य न रूप बन जान है, वे वहाँ (माहित्य न) स्थानभाव नाम से प्रसिद्ध है ।
तथा—जिस भाव का स्वरूप, मनागीय भववा विवागीय किमा भाव से निररूढ अर्थात् परिचित न
हो सके, और जो जब तक रस का अन्नादन हो, तब तक वनमान रह, वही को स्थानीभाव
कहते हैं ।

स्थानीभाव के टट्टा के विषय में परम का अर्थन कर समझा लगान बन है—'केचित्तु'
इत्यादि । कुछ हीगो का कथन है कि—पूर्वोक्त रति आदि नी भवों में से अन्वयन (कोई एक)
होना ही स्थानीभाव कहान्यने के लिये पर्याप्त परिचय है । परन्तु वह परिचय दयात ही नहा नकता,
क्योंकि वे रति आदि भाव तत्तजगमधारी होने पर भी वहाँ अरूढ अर्थात् दर हुए रहन है, वहाँ
उन्हा रति आदि भवों में से जो प्ररूढ अर्थान् सनृद्ध रहना है उमने व्यभिचारी भाव कहलाने ।
इस स्थिति में यदि रति आदि नामधारा होने से न भाव स्थया भा कहलाने लो तब भी, वहाँ भी
वे स्थया कहलाने लयोगे वहाँ अरूढ होने के कारण वस्तुन वे व्यभिचरा हो गये ह । अतः उक्त
परिचय-पत्र (लक्षणा) ठाक नहीं । इसके अनिरेक उम लक्षणा में अन्वयनत्व का प्रवेश करना ठाक है
और अन्वयनत्व पर्याप्त तत्तरे-कूट-प्रतियोगिकामाववत्त्व रूप से, जिसमें अनेक अर्थमथि-विधि है,
मत् उक्त लक्षणा गौरव-अन्वय होने के कारण भी अन्वय-कोटि में व्य पटना है, वह समपत्ता न-दिए ।

ऊपर के ग्रन्थ में आये हुए 'प्ररूढ' और 'अरूढ' शब्दों की व्याख्या करने हैं—'प्ररूढ' इत्यादि ।
अर्थात् बहुत विभावों से मिलकर उत्पन्न हो वह प्ररूढ और बोधे विभावों से मिलकर उत्पन्न हुई हो,
वह अरूढ कहलाना है ।

तत्र दाह्याय प्राचीनसम्प्रति दर्शयति—

तदुक्त रत्नाकरे—

‘रत्यादयः स्थायिभावाः, स्फुर्भ्यिषुविभावजाः ।

स्तोकेर्विभावरूपज्ञास्त एव व्यभिचारिणः ॥’ इति ।

इदानीं कस्य स्थायिनः कुत्र रसे व्यभिचारित्वमविनामावित्य च भवतीत्या-
ख्याति—

एव च वीररसे प्रधाने क्रोधः, रौद्रे चोत्साहः, शृङ्गारे हासः, व्यभि-
चारी भवति नान्तरीयकञ्च ।

विशेषमाह—

यदा तु प्रधानप्रतिपोषार्थं सोऽपि बहुविभावजः क्रियते, तदा तु रसाल-
ङ्कार इत्यादि बोध्यम् ।

भ्रूयिष्ठ विपुल, स्तोक शाल्यम् । विभावपदमनुभाव—व्यभिचारिभाववीर्यपुल-
कम् । अत्रैव मङ्गीनरत्नाकरोपास—विभावपदोत्तरवहुवचनस्वरस । भ्रूयिष्ठविभा-
वादिभिर्जनिता ‘कारणगुणा कारणगुणानारम्भने इत्युक्तेर्बलवन्मा रत्यादयः स्थायि-
भावा’ बन्धविभावादिभिर्जनितास्तु दुर्बला व्यभिचारिणो भवन्तीत्यर्थं ।

मध्यमप्रकारो मिश्रक्रमः सङ्गत्यनुरोधत् ।

एकमात्रप्ररोहेऽपरमात्रप्ररोहाम्पुपयमादुत्साहप्ररोहेण वीर रसे प्रधाने, रौद्रस्या-
प्यपि श्लोकोऽप्रकृतत्वेन व्यभिचारी, क्रोध विना वीररसपरिपोषासम्भवादत्यावश्य-
कतया नान्तरीयकञ्च भवति, रौद्ररसे प्रधाने वीरस्याप्युत्साह, शृङ्गाररसे प्रधाने
हास्यस्यापि हासञ्च व्यभिचारी नान्तरीयकञ्च भवतीत्यर्थं । एवमेकस्यैवैकत्र स्थायि-
ताया परत्र व्यभिचारितायाञ्च प्ररोहाप्ररोहाम्या दर्शनाद् रत्याद्यन्वयतमस्य स्थायि-
संज्ञा न सङ्गतमिति भावः ।

यदा पुनः प्रधानस्य मुख्यस्य, रसस्य परिपोषार्थं सोऽङ्गमूतो भावोपि, बहुविभा-
वजो रसत्वसम्भवादविभावादिषामग्रीसर्वालित क्रियते, तदा सामग्रीसमबधानाद् रस-
रवमापन्नस्य तस्य प्रधानीभूतरसाङ्गत्वाद् रसालङ्कारो रसवदलङ्कारो भवतीत्यर्थं ।
तदुक्तं व्यतिकारेण—

‘प्रधानेऽप्यत्र वाक्यार्थे, यत्राङ्गन्तु रमादयः ।

कान्ये तस्मिन्मन्त्रद्वारो रसादिरिति ये मतिः ॥’ इति ।

शब्द और अर्थद्वय की स्वकृत व्याख्या की प्रतीनों के अक्षरों देकर प्रमाणित करत है—
‘तदुक्तं रत्नाकरे’ इत्यादि । रत्नाकरद्वय ने भी उक्त व्याख्या के अत्रुद्धत भाव व्यक्त किये हैं ।
उन्होंने ठिक्का है कि प्रभूत विभावार्थों से उत्पन्न हुए रति आदि स्थायी भाव होते हैं, और ये ही
कस्य विभाव आदि से उत्पन्न होकर व्यभिचारी भाव कहलाने हैं ।

इस प्रकार स्वीकार करने पर वीर रस के प्रधान होने पर क्रोध, रौद्र रस के प्रधान होने पर
उत्साह और शृङ्गार रस के प्रधान होने पर हास व्यभिचारी हो जाते हैं और अन्ततः वही रचना
अनसक्त भी है अर्थात् क्रोध के बिना वीर, उत्साह के बिना रौद्र और हास के बिना शृङ्गार रस ही
भी नहीं सकते, क्योंकि वे ही उन रसों के शेषक हैं ।

अत्र स्थायिभावान् क्रमेण लक्षयन्नादौ शृङ्गाररसस्यापिरति लक्षयति—
तत्र—

स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायिभावः

गृह-देवता-पुत्राद्यालम्बनस्तु व्यभिचारी ।

द्वितीय कर्णरसस्यायिभाव शोक लक्षयति—

पुत्रादिवियोग-भरणादिजन्मा वैकल्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः ।

अन्वय तु स्तरन्योन्यनिष्ठत्वे शृङ्गारस्यावित्त्वम्, अपरिपोषे देवादिविषयकत्वे वा भावत्वम्, उपपत्तिविषयकत्वादौ च भावाभासत्वम् । तथाहि—'रतिर्देवादिविषयक व्यभिचारी तथाऽङ्गित । भाव प्रोक्त, इति प्रकारेण । रत्यादिश्वोभ्ररङ्ग' स्वाद् देवादिविषयोऽप्येवा । अन्याङ्गभावभावात् वा स्यान्न तदा स्थायिगन्धभाक् ॥ इति प्रदीपे । 'उपनायकसस्याया, मुनिगुरुपत्नीयताया च । बहुनायकविषयया, रतीं तयानुभवतिष्ठायाम् । प्रतिनायकनिष्ठत्वे, तद्वद्वधमपान्नतिर्ययादिगते शृंगारेऽनीचित्वम्' इति दर्पणे च ।

क्वचित् पुत्र —नायकमिधुनान्योन्यविषयिका रति शृंगाररसस्यायिभाव देवादिपुण्यविषयिका च श्रद्धा भक्तिरसस्यायिभाव, पुत्राद्यनुकम्पणोपविषयिका च वात्सल्य वरुणरसस्यायिभाव, प्रत्यपाद्यत ।

तत्र तेषां स्थायिभावानां मध्ये नायिकानिष्ठो नायकविषयक नायकनिष्ठो नायिकाविषयकश्च प्रेमाख्य प्रीत्यपरपर्यायमित्तवृत्तिविशेष रतिर्मनोऽङ्गुलेर्ष्य मनस प्रवणायित्तम' इत्युक्तस्वरूपो मनस उत्कटावेश एव सर्वं वाक्य सावधारणम्' इति दशनाद् रति शृंगाररसस्य स्थायिभावो भवति विपुलविभावादिजन्मत्वादित्यर्थं

पुत्रादीनां पुत्रप्रभृत्यमीष्टसम्बन्धिना वियोगाम्भरणादेश्च जन्मोत्पत्तिमस्य तादृशो वैकल्याख्याऽत्रसादलक्षण इष्टनाशादिभिस्वेतोवैकल्या शोकशब्दनाक् इत्यन्य-श्लोकस्वरूपश्चित्तवृत्तिविशेषो बहुविभावश्च शोक कर्णरसस्य स्थायिभावो भवतीत्यर्थं ।

अन्ये तु—'इष्टनाशादिनिष्ठात् कम्पाख्या रसो भवेत्' इत्यादिदशनादिष्टना-शब्दनिष्ठाप्तेरपि वैकल्यव्यञ्जनवत्त्वम्, अनुध्यायामिव अनुप्येतसामीष्ट प्राणिनाम्, प्राणीतरामीष्टवस्तुना च विनाशाद् अनिष्टानां प्राणिनामप्राणिनामप्यापतनाच्चो-त्पन्न वित्तावसाद शोक कर्णरसस्यायिनि व्याहरन्ति ।

एव एवम् एम को पुत्र करने के लिये उन अन्याय क्रोध आदि को भी बहु-विभव-न्य बना देता है, तब वे व्यभिचारी भव न कहलाकर 'मनवर्' अन्वय कल्पते है—इत्यादि समझना चाहिए ।

अब स्थायीभावों के लक्षण करने के क्रम में सर्वप्रथम रति का लक्षण करने है—'स्त्रीपुंसयो' इत्यादि । स्त्री-पुंस्य ही, एक दूसरे के विषय में प्रेम नामक जो चित्त-वृत्ति होती है, उसको रति-संज्ञक स्थायीभाव कहते हैं । वही प्रेम यदि गुरु, देवता अथवा पुत्र आदि के विषय में हो, तब व्यभिचारीभाव कहलाता है ।

शोक का लक्षण करना है—'पुत्रादि' इत्यादि । पुत्र-प्रभृति इष्ट जनों के वियोग अथवा भला

ननु सप्तषट्कपुत्रादिपदेन पत्याश्चापि ग्रहणात् तद्वियोगेषु शोकस्माङ्गीकाराद् विरहहेतुको विप्रलम्भशृङ्गारो निविषय स्यादित्यत आह—

स्त्रीपुंसयोस्तु वियोगे जीवितत्वज्ञानदशाया वैकलव्यपोषिताया रतेरेव प्राधान्याच्छृङ्गारो विप्रलम्भास्यो रस, वैकलव्य तु सञ्चारिमात्रम् ।

कण्ठरसस्य विषयमभिदधाति—

मृतत्वज्ञानदशाया तु रतिपोषितस्य वैकलव्यस्येति करुण एव ।

तत्रैव विक्षेपमाह—

यदा तु सत्यपि मृतत्वज्ञाने, देवताप्रसादादिना पुनरुच्छीवमज्ञान कथञ्चित् स्यात्, तदात्मन्वनस्यात्यन्तिकनिरासाभावाच्चिरप्रवास इव विप्रलम्भ एव, न तु करुणः ।

स्त्रीपुंसयो स्त्री च पुमाश्च तयो वियोगे विभिन्नस्थानवासे एकत्रापि दर्शनाद्योगे, जीवितत्वज्ञानदशाया मम प्रणयिजनो जीवति न तु मृत इति ज्ञानस्य स्थितौ वैकलव्येन पोषिताया शृङ्गारस्याच्चिरतेरेव प्राधान्याद्धेतो विप्रलम्भास्यो विरहहेतु कविप्रनम्नानाया शृङ्गार (न तु करुण) रस करुणस्यापिचित्तवैकलव्यस्याप्राप्या स्यादित्यर्थः ।

प्रणयिजनमरणज्ञाने जाने तु रतिस्थानत्वमन्वय विच्छेदाद् दीर्घत्वेनाङ्गभूतया रत्या पोषितस्य करुणस्थापिमो मनोर्षयत्वस्यैव प्राधान्यात् करुण एव रसो न तु शृङ्गार इत्यर्थः ।

आदि से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता नामक जो एक चित्त-भ्रष्टि होती है उसको शोक कहते हैं। वहाँ एक बात और समझने योग्य है। 'इतनाजारनिष्ठान् कल्याण्यो रसो भवेत्' अर्थात् इष्ट के विनाश और अनिष्ट की प्राप्ति से कल्याण नामक रस होता है। इस प्राचीनोक्ति के अनुसार कल्पित विद्वानों का मत है कि जैसे इष्ट के विनाश से व्याकुलता उत्पन्न होती है, वही तरह अनिष्ट की प्राप्ति से भी, साधनाद्य वस इष्ट अथवा अनिष्ट का अनुभव होना ही आवश्यक नहीं है, वह अनुभव भी हो सकता है, मनुष्य से भिन्न प्राणी भी हो सकता है और प्राणी से भी भिन्न कोई अवेगन वस्तु हो सकती है, इन तरह से सर्ववसिष्ठ यह हुआ कि विनी भी इष्ट वस्तु के नाश से अथवा विनी को अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति से जो व्याकुलता होती है, वह शोक और कल्याण रस का स्थायी भाव भी है। इन मत के अनुसार शिव कुशा या प्ररण, शिव अंगूठी का कहीं रसो नामक तथा छिद्र गये कर्क के स्वयं माँगने के लिये आवा हुआ व्यादा आदि भी भी आधार बनाकर कला रस प्रधान कल्याण की सृष्टि की जा सकती है।

श्री-पुरुष के परम्पर वियोग से जो व्याकुलता उत्पन्न होती है, वह शोक तो अवश्य है परन्तु वह शोक कला रस का स्थायीभाव नहीं हो सकता है यदि वह प्रेयसाय के मरण-ज्ञान के साथ हो, अन्यथा अर्थात् 'मिम-याय नहीं जीना है' देने ज्ञान के रहने पर वह शोक स्थायीभाव नहीं, परन्तु व्यभिचारी भाव भाव होता है, क्योंकि हम अज्ञान में शोक से पुत्र की गर्द रति की ही प्रधानता रहती है, अतः वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार रस ही होता है।

मिम-याय के मरण ज्ञान के रहने पर श्री-पुरुष के वियोग से उत्पन्न व्याकुलता ही प्रधान होती है और रति होती है उस का पुत्र करने वाली, अतः हम स्थिति में करुण रस ही होगा। यह बात मैं पहले भी लिख चुका हूँ।

॥ विप्रलम्भमुदाहरति—

यथा—चन्द्रापीड प्रति महाश्वेतावाक्येषु ।

इह मतान्तरमृपन्यस्यति—

केचित्तु—रमान्तरमेवात्र करण—विप्रलम्भास्यमिच्छन्ति ।

तृतीय शान्तरसत्त्वाविभाव निर्वेद लक्षयति—

नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागास्यो निर्वेद ।

मरणज्ञानेऽपि यदि देवताप्रसादादिना केनापि कारणेन पुनः प्रत्युज्जीवनज्ञान भवेत्, तर्हि चिरप्रवासे दीर्घतमकालव्यापिनि परदेयवास इवावाप्यालम्बनस्य प्रणयि-
जनस्यात्यन्तविच्छेदाभावाद् रतेरेव प्राधान्याद् विप्रलम्भ एव रस इत्यर्थः ।

महाश्वेताया पुण्डरीकमरणज्ञानेऽपि, गगनधारिवचनात् पुनः प्रत्युज्जीवन-
ज्ञानस्य जननादालम्बनात्यन्तिकविच्छेदाभावाद् यथा कादम्बरीप्रबन्धे महाश्वेतोक्तिषु
विप्रलम्भशृंगार एव रसस्तथात्रापीत्यभिप्रायः ।

अत्र पुनः प्रत्युज्जीवनज्ञानस्यले । तदुक्त दर्पणे—

‘दूनोरेकतरस्मिन्, गतवति सौकान्तर पुनर्लभ्ये ।’

विमनायते बदैकस्तदा भवेत् करणविप्रलम्भाख्य ॥’ इति

पूर्वोक्तरीत्या विप्रलम्भमात्रस्वीकारेणैव निर्वाहः, सकरणविप्रलम्भरूपरमान्तर-
स्वीकारो व्यर्थ इत्यस्मिन् केचित्त्वित्यनेन सूच्यते ।

परे तु—चिरप्रवासे विश्लेषे तत्प्यालम्बनध्वसाभावाद् रतेरविच्छिन्नया
प्राधान्येन, वैकल्यव्यस्य यथा वादाचित्चेताल्पविभावजत्वात् सञ्चारित्वम्, तथा
मरण-पुनः प्रत्युज्जीवनयोक्तानि न सम्भवति, तत्रालम्बनध्वसस्य कालिकाध्याप्यवृत्ति-
स्वेऽपि बास्तविकत्वेन रतिस्रोतस्य पूर्वपिक्षया किञ्चित्क्षीणप्रायत्वेन, वैकल्यव्यस्य वेपदा-
धिक्येन, करणरसेन पोषितस्य विप्रलम्भशृङ्गाररसस्य कथंविप्रलम्भाख्यप्रकारस्य
स्वीकारेऽपि न गौरवम्, न वा रसान्तरत्वमित्युदाहरन्ति ।

नित्यानित्ययोर्वस्तुनोर्ब्रह्मजगतोर्विचाराद्विवेकाज्जन्म यस्य तादृशः, विषयेभ्यो-
ऽनित्यवस्तुभ्यो विरागारयो वितृष्णीभावरूपञ्चित्तवृत्तिविशेषो निर्वेद इति सूत्रार्थः ।

प्रेम-पात्र के मर जाने का ज्ञान होने पर भी जब देवता की प्रमथना यदि से किसी तरह उनके
पुनः जीवित होने का ज्ञान रहेगा, तब आलवन (प्रेम-पात्र) के सर्वदा के लिये निवृत्त न हो जाने
के कारण चिरकालिक परदेश-गान की तरह ‘विप्रलम्भ’ ही होता है, करण नहीं ।

ईदृश विप्रलम्भ का उदाहरण दिखलाने है—‘यथा’ इत्यादि । कादम्बरी-ग्रन्थ में चन्द्रापीड के
प्रति महाश्वेता ने जो वाक्य बड़े हैं, उनमें इसी तरह का ‘विप्रलम्भ’ अभिव्यक्त हुआ है, क्योंकि
पुण्डरीक की मृत्यु की बात को जानना हुई भी महाश्वेता आत्मश्रुत्या के द्वारा उनके पुनः जीवित
होने की बात जान चुकी थी ।

कुछ लोगों की इच्छा है कि अहाँ प्रेम-पात्र के मरणोत्तर काल में किसी कारणवश पुनः उभरे
जीवित हो जाने की आशा है—विश्राम है, वहाँ न ‘कस्त रम’ ना होना उचित है न ‘वि-लम्भ
शृङ्गार रस’ का, अतः वहाँ ‘कल-विप्रलम्भ’ नामक एक स्त्रीय रस मानना चाहिए ।

अब निर्वेद का लक्षण कराने है—‘नित्यानित्य’ इत्यादि । वेदान्त आदि के द्वारा नित्य (मरण)

क्षणिके विवेकेस्तु न स्यायी, किन्तु व्यभिचार्यवेत्याह—

गृहकान्दृशादिस्तु व्यभिचारी ।

चतुर्थं रौद्ररसस्वायिभाव क्रोध लक्षणम्—

गुरुबन्धुयथादि—परमापराधजन्मा प्रज्वलनास्य- क्रोधः ।

रौद्ररसस्याधिक्रोध—व्यञ्जिचार्थमर्थयोर्भेदं दर्शयति—

अथ च परविनाशादिहेतु । क्षुद्रापराधजन्मा तु परुषवचनामम्भापणादि-
हेतुः । अयमेवामर्षाभ्यो व्यभिचारोति विवेकः ।

पञ्चमं वीररसस्वायिभावमुत्साहं लक्षणम्—

परपराक्रम—दानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः ।

आदिपदमन्वेषामपि कादाचित्कनिर्वेदकारणानामुपलक्षकम् । निर्वेदकस्य विर-
त्तरस्विनेरप्रावाप्त स्वायित्वमित्यवसयम् ।

गुणा पित्रादीना बन्धूना च वध आदिर्येषा तादृशेभ्य परमापराधेभ्यो जन्म
स्य, न प्रज्वलनाख्यचित्तस्य दीप्तत्वरूपो वृत्तिविशेष क्रोधो रौद्ररसमन्वायिभाव
इत्यर्थः ।

अपराधानां परमत्व गुणमत्वेनामहनीयत्वम् ।

अथ परमापराधजन्म च तु, परेणामपराधिना (रिपूणा) विनाशादहेतुनिमित्त
क्रोध स्यायी, क्षुद्रोऽवज्ञादिरूपोऽप्यभाधो योज्यराध, तस्माज्जन्म यस्य नान्दन्तु
चित्तवृत्तिविशेषोऽप्यभिभावजत्वात् परपथचन शूक्ति, अमम्भापणमग्गतिना मह-
नालपनमादिभ्यो तादृशकार्याणां हेतु, अमर्षादयो व्यभिचारी भावो भवतीत्यर्थो-
विवेक पादंरूपमस्तीत्यर्थः ।

कारणगौरवलाघवाभ्यां कार्यगौरवनाथवाभ्यां च क्रोधास्योर्भेदां आद्यं दृश्य
मित्राय ।

परेणामभ्येषा रिपूणा वा, पराक्रमस्य दानादेभ्य इनाध्यकमण, स्मृत्या मन्वगा-
जन्म यस्य तादृशचित्तस्वीनत्यरूपो वृत्तिविशेष उत्साहो वीररसस्य स्वायिभाव
इत्यर्थः ।

वीर श्रित्य (मीमार) इत्युक्ते ए विचार क-ने न विमला उत्पत्ति हाती ह, उम विद-श्रिति
(अस्ति य इत्युक्ते ए विदुषा-वैदुष्य) नासक चित्त-वृत्ति को 'निर्वेद' कहने है

परं ज्ञानं अदि न ज्ञान, 'निर्वेद' तां - निचारी भाव कएलाण है, स्थायीभा नही ।

'क्रोध' हा एसा कएन है—'गुरुबन्धु' इत्यदि गुरु, बन्धु ए-जन्मि-बन्धु का हाज भादि
परम् (प्रवर्तनीय) अपराध म उदर होने वाली प्रज्वलन (जलन) नासक चित्त-वृत्ति 'क्रोध' ह

क्रोध भाव के विनाश अदि न कएन होला ह । एह उदर रूप इति धरे विना उदर-
आराध मे उदर हाती है, तब व-ज्ञ-विनाश का ज्ञान न हाक । तब उदर जन्म, एसा न
साथ बंद कए का कए ज्ञान अ- न-कारण होला ह, वीर नव नह 'अस्य' उदर उ-
नहला है, क्रोध न- 'अस्य' अथ 'क्रोध' में सही भेद है ।

अथ 'उत्साह' वा एसा ज्ञान है—'परपराक्रम' इत्यदि । दूसरे वे पराक्रम म-म भादि
के स्मरण मे उदर होने वाली उदरता नामक चित्तवृत्ति को 'उत्साह' कहने है । पर-व-वा 'व-

पष्टमदमुतरमस्यायिभावं विस्मय लक्षयति—

अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा विकासाख्यो विस्मयः ।

सप्तम हास्वरसस्य स्यामिभाव हाम लक्षयति—

वागङ्गादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः ।

वष्टम नयानकरसन्य स्यामिभाव मय लक्षयति—

ध्याद्यदर्शनादिजन्मा परमानर्थविषयको वैकल्यव्याख्यः स भयम् ।

स्यामिनो भयस्य व्यभिचारिणस्वाप्ताद् भेदनाह—

परमानर्थविषयकत्वाभावे तु स एव त्रामो व्यभिचारी ।

अन्यत्र तु—'कार्यारम्भेषु सरम्भ स्थेयानुन्ताह उच्यते ।' इति लक्षणम्, 'कार्य-
रम्भेषु सप्रित्कृष्टकार्येषु स्थेयान् भरम्भ उरवट आवेत्त उन्ताह' इति तद्विवरणञ्च
स्फुटम् ।

मलौकिकानां लोकोत्तराणां वस्तूनां दर्शनादे साक्षात्कारस्मरणप्रभूते जन्म
यस्य तादृश, चित्तस्य विकासरूपो वृत्तिविशेषोऽद्भुततरमस्य स्यामिभाव इत्यर्थः ।

अन्यत्र तु—'विविधेषु पदार्थेषु लोकासीमातिवर्तिषु । विस्फारश्चेत्तदा यस्तु न
विस्मय उदाहृत ॥' इति लक्षणम्, लोकासीमातिवर्तिषु लोकाव्यवहारानिजान्तर
विस्फारी विस्तार । स च दृष्टहनुम्योऽप्यमवित्वज्ञानेन हेतुनुमन्वान मनोव्यापार-
रूप ।' इति तद्विवरणञ्च स्फुटम् ।

अन्यस्य वाचि-अङ्गेषु, आदिपदेन वेपे रूपेण च विकारस्यान्ययामावस्य दर्शनात्
(क्वचिन् स्मरणादपि) जन्म यस्य, तादृशचित्तस्य विकासरूपो वृत्तिविशेषो हाना
हास्वरसस्य स्यामिभाव इत्यर्थः ।

तदुक्तम्—'वागादिबैहृत्तैवेतोविकासो हास इत्यन्ते ।' इति ।

ध्याद्यपदमन्येषामपि सद्योभरणकारणानाम्, आदिपद सन्निकर्षस्मरणसंश्लो-
लक्षणम् । परमानर्थविषयको भरणघनार्थसम्पादक वैकल्य विह्वलत्वम् ।

ध्याद्यादिसद्योभरणकारणवस्तुदर्शनस्मरणादेर्जन्म यस्य तादृश, चित्तस्य वैकल्य-
रूपो वृत्तिविशेषो भय नयानकरसस्य स्यामिभाव इत्यर्थः ।

रम्भेषु सरम्भ स्थेयानुन्ताह उच्यते' अर्थात् सरम्भेण कार्यो मे उक्त्वा उन्ताह उन्ताह कर्त्तव्य है, दह
उन्ताह वा लक्ष्ण कियत् गता है ।

आ 'विस्मय' का लक्ष्ण करने है—'अलौकिक' इत्यादि । टोपेटेर विमो वस्तु के दर्शन
अथवा स्मरण आदि से उत्पन्न होनेवाली विक्रम—(आश्चर्य)—नामक चित्त-वृत्ति को 'विस्मय'
करते है ।

आ 'हास' का लक्ष्ण करने है—'वागङ्गादि' इत्यादि । दृष्टों के अर्थ, वचन, १४ और भूत
में विकार (अन्वयानाव—अर्थही) के दर्शन में (कहीं कहीं अथवा में ही) उत्पन्न होनेवाली चित्त-
(शिष्ट जन्मा) नामक चित्त-वृत्ति 'हास' कर्त्तव्यी है ।

आ 'भय' का लक्ष्ण करने है—'ध्याद्य' इत्यादि । ध्याद्य आदि के दर्शन (चित्तमे परान परान-
मल मन्मथिन हो) में उत्पन्न होनेवाली वैकल्य-विह्वलता नामक चित्त-वृत्ति 'भय कर्त्तव्यी है ।

भयानयो स्वरूपभेदे अतन्त्रमुत्पत्तिरिति—

अपरे तु औत्पातिकप्रभवसास, स्वापराधद्वारोत्य भयमिति भयत्रासयो-
भेदमाह ।

नवम बीमत्सरसस्याधिभाव जुगुप्सा लक्षयति—

कदर्यवस्तुविलोकनजन्मा विचिकित्साख्यश्रितवृत्तिविशेषो जुगुप्सा ।

इत्य रसाना स्याधिमार्वात्लक्षयित्वा विभावानुभावव्यभिचारिभावोत्पत्तिरक्षयिषु
प्रथम विभावात्लक्षयति—

एरमेपां स्थायिमानानां लोके तत्तन्नायकगतानां यान्यालम्यन-
तयोद्दीपनतया चा कारणत्वेन प्रसिद्धानि, तान्येषु काव्यनाट्ययो-
र्गर्ज्यमानेषु विभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते ।

स एव चित्तवैकल्यरूपवृत्तिविशेष एव परमानवविषयकत्वामात्रे सधोभरण-
प्रयोजकरामात्रे क्षुद्रवैकल्यमम्नादकत्वे भ्रामोद्भूतविभावजत्वाद् भयानकरस्य
वर्णिकारी न तु स्यादी कायो भवतीत्यर्थ ।

अत्र हि कायभेदाद् भयत्रासयोर्भेदोऽप्रधारणीय ।

रोद्रसरया तु जमित चित्तवैकल्यवद् भयम् इति परोक्त लक्षणन्तु चिन्तनीयम्
चित्तवैकल्यस्यैव भयत्वात् तत्कारणस्य भयत्वाङ्गीकारे तु चित्तवृत्तिविशेषरूपत्वमङ्ग-
प्रमत्तान् ।

महाभाग—अध्वनिर्घातप्रभृत्पूजातप्रभूत (स्वरूप) मन्-लोमस्नास, स्वाप-
राधद्वारोत्य गुरुरर्नजापराधजन्य बलवच्चित्तघातव्यं तु भयमित्युभयो कारणभेदाद्
भेदपर आहुरित्यर्थ ।

इह उत्पातप्रभवसास स्वापराधोत्य भयम् इति मूलपाठ समुचित । भय-
वीत्यादिषु उन्मात्तजय प्रभव उत्पत्तिपर्यय स स्वापराध एव द्वारम्, तस्मादुत्प-
न्नत्वात् स्वापराधद्वारोत्यमिति कथञ्चित्स्लापनायम् ।

कदापि धृगोत्पादनत्वात् कुत्सिताना वस्तुना विभोस्नाज्जन्म यस्य, स
दिविक्रित्माऽराश्रितवृत्तिविशेषो जुगुप्सा बीमत्सरसस्याधिभाव इत्यर्थ ।

'दिविक्रित्मा तु सन्म इत्यमरकोशे, 'जुगुप्सा गृह्णाऽर्थांसा दोषसन्दर्शना-
दिभि । इत्यमरश्च च दशनाद् दिविक्रित्सास्थान मूले गृह्णाया उगाहानमुचित
प्रतिपत्ति ।

यदि व्यादि-देशन-जन्म विहृत्ता से परम अनर्थ भय मी सम्भारना नहीं हो, तो यह भयानक
रस का स्थायिभाव 'भय' न कहियेकर वही रस का अधिमन्तरी रूप प्राप्त कहलाना है । भय और
भयम में अन्तर बड़ा भेद है ।

दुःख विह्वल रस है कि मस्खर आंकी, बल-शक्त यदि उरगतों से उत्पन्न होने वाली विह्वलता
का नाम 'भय' और अनेक भयानकों से उत्पन्न होने वाली विह्वलता का नाम 'भय', है । वही भय
अरु भयम में भेद है ।

अत्र 'जुगुप्सा' का उद्गुल कहते हैं—'कदर्य' इत्यादि । विनी घृत्तिरन्तु के देखने से उरगत
रस का विह्वलता (भय) नामक चित्त-वृत्ति को 'जुगुप्सा' कहा है ।

विभावसञ्ज्ञाया व्युत्पत्तिं दर्शयति—

विभावयन्तीतिव्युत्पत्तेः ।

अनुभावसञ्ज्ञाया व्युत्पत्तिं—

यानि च कार्यतया, तान्यनुभावशब्देन ।

अनुभावसञ्ज्ञाव्युत्पत्तिं दर्शयति—

अनु पश्चाद्भावात् उत्पत्तिर्येषाम्, अनुभावयन्तीति वा व्युत्पत्तेः ।

नामकपदं तत्तस्यापिभावात्परम् । आत्मस्वन-वमुद्गीपनत्वं च प्रसिद्धी हेतुः, कारणत्वं च प्रकारः ।

एवममुना प्रकारेण, एषा रत्यादिस्थापिभावानां लोके यानि वस्तूनि, आत्मस्वन-तयोद्गीपनतया वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि, तेषु रत्यादिस्थापिभावेषु काव्यनाट्ययोः ध्वन्यदृश्यकाव्ययोर्व्यञ्ज्यमानेषु सत्सु तान्यात्मस्वनोद्गीपनकारणानि विभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते व्यवहियन्त इत्यर्थः ।

इती पञ्चमीनि विभावशब्देन व्यपदिश्यन्त इत्यनेन प्राचीनेनाम्बय ।

विभावयन्ति रत्यादीन् विशेषेणास्वादाद्गुरयोभ्यनामानयन्तीति विभावा उच्यन्ते इत्यर्थः ।

लोके स्थापिभावानां यानि कार्यतया पदिसिद्धानि काव्यनाट्ययोर्व्यञ्ज्यमानानां स्थापिना तान्यनु (पश्चाद्) भावयन्ति (वहिःप्रकाशयन्ति) इत्यनुभावा उच्यन्त इत्यर्थः ।

तदुक्तम्—'उद्बुद्ध कारणं म्वं त्रैवंहिभवि प्रकाशयत ।

लोके य कार्यरूपं शोऽनुभाव काव्यनाट्ययो ॥' इति ।

'उक्ता स्त्रीणामलङ्कारा अङ्गजाश्च स्वभावया ।

तद्रूपा सात्त्विका भावास्तथा चेष्टा परा अपि ॥' इति च ।

अनुभावानां स्थापिकार्यत्वान् पश्चादुत्पत्तिः । तावत् प्राचीनपरम्पराजुरोद्यमं द्वितीयव्याख्यपत्र्यानि जीजम् ।

अद विभाव-पर्यायं का परिचय करान ह—'एवमाम्' इत्यादि । मानसिक एव व्युत्पत्तिः मे हम् इति पूर्वोक्त रति आदि (स्थाया) भावो का अनुभव दिन-मान करान ई और इनके (रति आदि भावो के कारणों का भा अनुभव करान ह, वे (कारण) दो प्रकार के होत ई, एक अलम्बन अर्थात् रति आदि रितिके क्रिय में होने ह, व-वैशे रति का विषय नाशिका । दूसरा उदासन अर्थात् एक स्थानः भावो मे जे जोश वैश करत है—वैशे रति में जोश वैश करने वा, एकान स्थान आदि । इस तरह कारण हामें हम रिति अलम्बन और उदासन को जाना ई, वे ही जब काव्य-रथा नाटक में बोलि होकर उक्त स्थापिकार्यो के व्यञ्जक होत ई, तब विभाव कहलाने ई ।

क्योंके व्युत्पत्ति वे अनुभव, विभाव शब्द का अर्थ, रति आदि स्थायीभावो को विदेवस्म से आत्मा के दोस्य बनना होत है ।

अनुभाव पर्याय का परिचय कराने ई—'यानि च' इत्यादि । उन रति आदि स्थायीभावो के से कार्यरूपको में प्रतिष्ठा ई—अने रते के रीमात्र आदि । उनके काव्य तथा नाटक में अनुभाव रहने ई ।

व्यभिचारिभावान्निवृत्तयति—

यानि व्यभिचरन्ति, तानि व्यभिचारिशब्देन ।

अथ रसानां विभावानुभावव्यभिचारिभावान् विमल्य दशमब्रह्मादी शृङ्गाररसस्य समाहृत्य दशंपति—

तत्र शृङ्गारस्य स्त्रीपुसावालम्बने, चन्द्रिका-वसन्त-विविधोपवन-रस स्थानादय उद्दीपनविभावा, तन्मुखावलीकन-तद्गुणश्रवणकीर्तनादयोऽप्ये सात्त्विकभावाभ्रानुभावा, स्मृतिचिन्तादयो व्यभिचारिण ।

करणस्यालम्बनादीनि दशंपति—

करुणस्य वन्द्युताशादय आलम्बनानि, तरसम्बन्धिगृहहुरगाभरणदर्शनादयस्नत्कयाश्रवणादयश्चोद्दीपका, गात्रचेपाश्रुपाता-योऽनुभावा, ग्लानि-क्षय-मोह-विपाद-विन्तौत्सुक्य-चीनता-जडतादयो व्यभिचारिण ।

यानि हर्षादीनि स्वायिभावेन सहचरन्ति किन्तुदबुदन्वायेव सम्मिलन्ति, तानि व्यभिचारिशब्देन व्यपदिश्यन्त इति शेष । तदुक्तम्—

‘विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिण ।

स्वायिन्युन्मग्न-निर्मग्नस्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भ्रिता ॥’ इति ।

‘ये तूपकर्तुमायान्ति स्वायिन रममुत्तमम् ।

उपकृत्य च गच्छन्ति, ते मना व्यभिचारिण ॥’ इति च ।

तत्र तेषु रतेषु । स्त्री च पुमाश्च स्त्रीपुंगी, नायिका नायकश्च परस्परमालम्बनम् । भाविभाविपदेन मत्प्रयानिस-गणुपगुञ्जन-कोकिलकूजनप्रधुनय मन्नाह्या । तच्छब्देन रतिविपरीतभूतव्यक्तिर्बोध्या । मध्यमादिपदेन सतनासिद्धार-वटाधामुजविद्योपादयो ज्ञेया । विकारा सत्त्वसम्भवा सात्त्विका । पारकीर्तिता ‘इत्यन्यत्र लक्षिता, ‘स्वप्न स्वेदोऽय र्ज्ञेय स र्ज्ञेयः’ इत्येव । देवव्यंमशुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका स्मृता ॥’ इति परिगणिताश्च सात्त्विकभावा । तेषां चेट्टात्वेऽपि गोबलीवर्दंम्यादेन पृथगुपादानम् । ‘स्यकवीश्रमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिण ।’ इति व्यवच्छिन्नेभ्योऽप्ये हर्षप्रभुनमोऽन्तिमादिपदावसेया ।

कौटिलि अनुसृष्टि के अनुसार अनुभाव पद का अर्थ स्वाभाविक क पश्चात् उत्पन्न हान काला भाव (चित्तवृत्तिविशेष) अथवा विभावों के द्वारा अनुसृष्टिभाव होने हुए स्वाधीभावों का अनुभव करने का भाव होता है ।

अब व्यभिचारी परार्थ का परिचय करने हैं—‘यानि’ इत्यादि । इति भादि स्वाधीभावों के रूप अन्वेषण रूप से रहने वाली चित्तवृत्तियों को व्यभिचारीभाव कहते हैं—‘ये विना भन्दि ।

अब उक्त तत्र-विध रसों के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारों ज्यों का पृथक्पृथक् प्रवृत्त करने के रूप में सर्वप्रथम शृङ्गाररस-सम्बन्धी इन भावों का वर्णन करते हैं—‘तत्र’ इत्यादि । शृङ्गार-रस के छी-मुख अलम्बन विभाव, चन्द्र-ओत्पल, वसन्त करु, अनेक तरह के बाग-बगीचे, पतंग स्थान आदि दर्शन विभव, मेघांतर के मुख का दर्शन, अपने गुणों का अलग और कीर्तन प्रशंसा तथा स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, विरह, अश्रुपान, इत्यादि के आदि ‘सात्त्विक भाव अनुभाव, स्मरण और विना आदि व्यभिचारी भाव होने हैं ।

शान्तस्य विभावोऽनीन् दशमनि—

शान्तरसस्यानित्यत्वेन ज्ञात जगदालम्बनम्, वेदान्तश्रवण-तपोवन-
तापसदशंताद्युद्दीपनम्, विषयारुचि-शत्रुमित्रौदासीन्यचेष्टा-हानि-नासाप्र-
दृष्ट्यादयोऽनुभावा, हर्षान्मादस्मृतिमत्यादयो व्यभिचारिण ।

रौद्रस्य विभावोऽनीन् दशमनि—

रौद्रस्यागस्कृत्पुष्ट्या, रालम्बनम्, तत्कृतोऽपराधाऽरुद्दीपक, वधब-
न्धादिफलको नेत्रारु-य-दन्तपोडन-परुषभाषण-शस्त्रग्रहणादिरनुभाव, अमर्ष-
वेगीप्रच-चापलादय मञ्चारिण ।

बीराद्भुनहास्त्वयानकवीमत्सरससम्बन्धि विभावाद्यनमिद्यानोत्थ-गूनता परिहरति—
एव यस्याश्चित्तवृत्तेषां विषय स तस्या आलम्बनम्, निमित्तानि चोद्दीप-
कानीति बोध्यम् ।

प्रथमाविशद्वेनानिप्टापते सग्रह-उपटनाशादनिप्टापते इत्याद्युक्ते । गात्राशाम-
ज्ञाता शोचवेगप्रकर्षाद् विह्वलानामितस्ततो म्यास क्षेप ।

जगतोऽनित्यत्वेन ज्ञानमेव तद्विषयनिर्वेदो चापकम् । विषयेषु सात्तारिकभौम्य-
वस्तुष्वहर्षिरप्रीति । शत्रुमित्रवोरोदासीन्यसमानभाव । चेष्टाहानिनिस्तृहत्वेन प्रदृ-
त्तिराहित्यम् ।

आगम्युदपराधकर्ता पुस्य । आदिपदेन तादृग् योपिददि । तच्छब्दोऽपराधिवा-
धक । वधो बन्धादिश्च पन यस्येति बहुव्रीहि । अमर्षो वेग औम्य चापल च पृग्न
मञ्चारी ।

एष शृङ्गाराद्युत्तरीत्या यस्याश्चित्तवृत्तेर्यस्य स्यायिभावस्य, यो विषयो भवति,
स तस्याश्चित्तवृत्ते स्यायिभावस्य, आलम्बनमालम्बनविभाव, यानि च तस्या निमि-

भव कर-रम के विभावदिकों का वर्णन करने हैं—'करुणस्य' इत्यादि । करुणस्य के इन्द्रजनों
के विभाव " व आलम्बन विभाव, उनके अन्तर में आने वाली वस्तुओं (घर, धोड़े, आभूषण
आदि) के न आदि तथा उनके सम्बन्ध में वही गई बातों का शयन आदि उदीपन विभाव, अशौ
या इधर-उधर फेकना और अज्ञान आदि अनुभव और स्थिति, क्षय, मोह, विषाद, विन्दा, उत्सुकता,
दौलता और अज्ञान आदि व्यभिचारीभाव होते हैं ।

भव शान-रम के विभावदिकों का वर्णन करने हैं—'शान्त' इत्यादि । शान्त-रस के अनित्य
रस से समझा गया मन्सर अन्वयन विभाव, वेदान्त-शास्त्र का अवग, तपोवन तथा तस्त्वियों के
ज्ञान आदि उदीपन विभाव, सामाजिक वस्तुओं से अस्ति, शत्रु तथा मित्र के विषय में उदासीनता
(समान भव), निश्चेत्ता, नासिका के अथ आग पर बराबर दृष्टि को जग्य कर रहना आदि
अनुभव और हर्ष, उन्माद, स्मरण, यति आदि व्यभिचारीभाव होते हैं ।

भव रौद्र रम के विभावदिकों का वर्णन करने हैं—'रौद्रस्य' इत्यादि । रौद्र-रस के अपराध
काने वाला पुरष आदि आलम्बन विभाव, उसके द्वारा किये गये अपराध आदि उदीपन विभाव, आसने
लाल करना, दाम कटकाता, कठोर भाषण करना, शस्त्र-ग्रहण करना आदि विनयक पक्ष (अपराधी
का) वध अपना बधन आदि होते हैं, अनुभाव और अमर्ष, वेग, उन्माद, चञ्चलता आदि व्यभिचारी-
भाव होते हैं ।

अथ शृङ्गाररसस्य प्रकारद्वय निरूपयति—

तत्र शृङ्गारो द्विविधः, सयोगो विप्रलम्भश्च । रते सयोगकालावच्छिन्नत्वे प्रथमः, वियोगकालावच्छिन्नत्वे द्वितीयः ।

ज्ञानि कारणानि, तान्युद्दीपकान्युद्दीपन विभाव-यानि पुनस्तत्कार्याणि, तान्यनुभाव, यानि च तत्सोपकाराणि, तानि सञ्चारिभाव इत्यर्थः ।

तथाहि—वीररसस्य द्विपदाद्यात्मन्वनम्, तत्पराक्रमदर्शनाद्युद्दीपनम्, प्रहारप्रति-प्रहारादिरनुभावः, हर्षवेगादिश्च व्यभिचारिभावः, अदृष्टतरमस्यालीकवचमत्कार-शुद्धस्वात्मन्वनम्, ललासात्काराद्युद्दीपनम्, भेदविस्फारस्तम्मरोमाश्चादिरनुभावः, वितर्कादिश्च व्यभिचारिभावः । हास्यरसस्य विवृत्तवागादिमन्युत्पादिरात्मन्वनम्, तद्विकृतिरुद्दीपनम्, रदनप्रकाशादिरनुभावः, यमोद्वेगादिश्च व्यभिचारिभावः । मयानकरसस्य मयावहवस्वात्मन्वनम्, तद्विकटव्यापाराद्युद्दीपनम्, मुखशोषपलाय-नादिरनुभावः, जाड्यकम्पादिश्च व्यभिचारिभावः । शोभसरसस्य च जुगुप्सितवस्वा-त्मन्वनम्, तद्गन्धाद्युद्दीपनम्, निष्ठोषनादिरनुभावः, खान्यादिश्च व्यभिचारिभाव इत्यन्वयः स्फुटम् ।

सयोग सम्भोग संयुक्ता संयुक्तो वाग्मीति बुद्धिस्पोञ्ज-करणवृत्तिविशेषः, विभोगो विप्रलम्भो वियुक्ता वियुक्तो वाग्मीति बुद्धिस्पोञ्ज-करणवृत्तिविशेषश्च यस्मिन् काले भवति, तत्कालवर्तिनो वा रति सा कालस्यावच्छेदकतया सयोग-कालावच्छिन्ना संयुक्तव्यवहारकज्ञानसमकालिनी, तत्सत्त्वे प्रथम प्रकार शृङ्गारस्य सयोगो भवति । रतेविद्योगकालावच्छिन्नत्वे वियुक्तव्यवहारकज्ञानसमकालिनीत्वे तु द्वितीय प्रकार शृङ्गारस्य विप्रलम्भो भवतीत्यर्थः ।

इस तरह जो चित्त-वृत्ति (रति आदि) जिनके विषय में होती है, वह (विषय) वम (रति आदि) चित्तवृत्ति (रसभाव) का अलम्बन और जिन चित्तवृत्ति (भावभाव) के जो विषय (कारण) हैं, वे उनके उद्दीपन होते हैं—वह समझना चाहिए। इसी प्रकार जिन चित्तवृत्ति के जो कार्य हैं वे (कार्य) वस (चित्तवृत्ति) के अनुभाव और जिन चित्तवृत्ति का पोषण जो चित्तवृत्ति करने हैं, वे वृत्तियाँ वस वृत्ति के व्यभिचारीभाव होती हैं, वह भी ज्ञान करना चाहिए। जैसे—वीर रस के शत्रु अट्टान, शत्रु के पराक्रमों के दर्शन उद्दीपन, लोगों और से होने वाले प्रहार आदि अनुभव और हर्ष, वेग आदि व्यभिचारी हैं। अद्भुत रस के आश्चर्यजनक वस्तु अलम्बन, उन वस्तु के दर्शन आदि उद्दीपन, नेत्रों का विकार, लम्घ, रोमाञ्च आदि अनुभाव और शिर्ष आदि व्यभिचारी भाव हैं। हास्य-रस के विवृत्त-वाणी-मद्-वेग आदि से युक्त व्यक्ति अलम्बन, उनके व मद्गादि-विस्फार उद्दीपन, दाँत निष्ठोषना आदि अनुभाव और शर्म, उद्देग आदि व्यभिचारी हैं। मयानन्द-रस के व्याप आदि मयावह वस्तु अलम्बन, उन मयावह वस्तु की अपहृष्ट क्रियाएँ उद्दीपन, मुख का सूखना, मागना आदि अनुभव और जाड्य, कम्प आदि व्यभिचारी हैं। शोभन-रस के श्लेष्मर वस्तु अलम्बन, उनके गन्ध आदि उद्दीपन, धूना आदि अनुभाव और स्थानि आदि व्यभिचारी हैं।

जब रसों के अन्तर भेद और उदाहरण आदि के प्रदर्शन-क्रम में पहले शृङ्गार-रस व प्रान्तर भेद और उदाहरण का प्रदर्शन करते हैं—“तत्र” इत्यादि। शृङ्गार-रस के दो भेद हैं—तत्काल

सयोगस्यैवाधिकरणवृत्तिवस्त्वता, वियोगस्य च विभिन्नाधिकरणवृत्तिवस्त्वता निराकृत्य प्रागुक्तसंयुक्तत्व-वियुक्तत्वप्रकारकज्ञानरूपता व्यवस्थापयति—

सयोगो न दम्परो सामानाधिकरण्यम्, एकशयनेऽपीर्ष्यादिमद्भावे विप्रलम्भस्यैव वणनात् । एव वियोगोऽपि न वैयधिकरण्यम्, दोषस्योक्तत्वात् । तस्माद् द्वाविभौ सयोगवियोगात्प्रावन्त—करणवृत्तिविशेषौ, यत् संयुक्तो वियुक्तश्चास्मीति धी ।

सम्भोगशृङ्गारमुदाहरति—

तत्राद्यो यथा—

तत्र सयोग विप्रलम्भयो—

‘शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा’ इत्यत्र निरूपित ।

अप्यप्यदीक्षितवर्णित सम्भोगशृङ्गारध्वनेऽदाहरण रूपयति—

यत्तु चित्रमीमासायाम्—‘वागर्थाविव सम्पृक्तौ’ इत्यत्र रसध्वनि, निरतिशयप्रेमश क्लिताभ्यञ्जनात्’ इति तदध्वनिमागर्ताकल्पननिबन्धनम्, पार्वतीपरमेश्वरविषयक-कविरत्नौ प्रधाने निरतिशयप्रेम्णो गुणीभावात् ।

यदि जायापत्यौ सामानाधिकरण्य सयोगो वैयधिकरण्य च वियोग स्यात् तदा तयोरेकस्या शय्याया शयितयोरपि हृदयोर्ष्याया जायत्या सर्वाभिमितस्य विप्रलम्भ-स्याभाव सर्वाभिमितस्य सयोगस्य च सद्भाव प्रसज्येत । तयोरेतत्करणवृत्ति-विशेषरूपनशाङ्गीकारे तु ज्ञानविशेषरूपस्य विप्रलम्भस्यैव तत्र सत्त्वात् काऽपि हाति रित्याशय ।

निरूपित उत्तमोत्तमकाव्योदाहरणप्रमञ्जने पूर्वमिति शेष ।

मुग्धाद्यन्त्रे प्रधानशब्दो नित्यनपुसकलिङ्ग इति न स्त्रीलिङ्गनिर्देश । वागर्थ प्रतिपत्तये । जगत पित्तरो बन्दे पार्वतीपरमेश्वरी ॥’ इति पद्यस्यावतिष्टास । वागर्थी

और दूसरा विप्रलम्भ । रति जब-जो पुरुषों के संयोग काठ में लगभग होती रहती है, तब ‘सवग शृङ्गार’ और जब रति की पुरुषों के वियोगकाठ में लगभग नहीं होती रहती है, तब ‘विप्रलम्भ शृङ्गार’ कहलाना है ।

संयोग शब्द का अर्थ यहाँ ‘खी-पुरुषों का एक स्थान पर रहना’ नहीं है, क्योंकि एक छम्मा पर सोते रहने पर भी, यदि ईर्ष्या आदि रहता है, तब विप्रलम्भ शृङ्गार का ही वर्णन प्राचीन काठ में आज तक कवि लोग करते आये हैं । इसी प्रकार वियोग पद का अर्थ भी यहाँ ‘अलग-अलग रहना’ नहीं है, क्योंकि दोष वक्त है, अर्थात् देसा मानने पर पुनः खी-पुरुषों के एक शय्या पर रहने दो छलन में ‘विप्रलम्भ-शृङ्गार’ का वर्णन असंगत हो जायगा । इसलिये ऐसा मानना चाहिए कि ‘सदोग और वियोग’ ये दोनों एक प्रकार की चित्त-वृत्तियाँ हैं, जिनके चलते ‘मिटा हुआ हूँ’ और ‘बिभ्रता हुआ हूँ’ ये ज्ञान होने हैं अर्थात् ‘मिटा हुआ हूँ’ इस प्रकार का मनोभाव ॥ सदोग है और ‘बिभ्रता हुआ हूँ’ इस प्रकार का मनोभाव ही वियोग है ।

संयोग और विप्रलम्भ के मध्य में सयोग अति—

उत्तमोत्तम काव्य के उदाहरण, प्रसङ्ग से ‘शयिता सविधे’ इत्यादि श्लोक में निबन्धित हा हुआ है ।

उक्तमेवाथं समपयति—

नहि गुणीभूतस्य रत्यादे रसध्वनिव्यपदेशहेतुत्व युक्तम्, 'भिन्नो रसाध-
रङ्कारादलङ्कार्यतया स्थित' इति सिद्धान्तात् ।

वाणी तदपि स्यादिव सम्पृक्तावन्मोन्य सदासम्पिनिनी न तु कदाचिदपि विञ्जित्यौ,
जगत स्वावरजङ्गमात्मकविश्वस्य पितरौ प्रभूजनयितारौ पार्वतीपरमेश्वरी
गिरिजागिरीशो वागयथा शब्दानिधययो प्रतिपत्तये ज्ञानाय, बन्धे नीमोति तदपं ।

अत्र ननिकर्म भूतयोर्गौरीगिरीशयोर्वाग्यवन्निरत्ययाश्लेषात् सरकारणीभूतरौ
प्राघायेन व्यञ्जयमानत्वात् सम्भोगशृंगारध्वनेरिष्यमुदाहरणमिति चित्रगामाराकर्तु-
निदान ध्वनिसिद्धात्तविरद्वय इह श्लोके कवि (कालिदास) निष्ठायाम् गौरीगिरीश-
विषयाया अनुत्तरवाङ्मायकपाया एतेरेव प्राघायेन व्यञ्जयतया पार्वतीपरमेश्वर
शृंगारस्य च तत्प्रोपेक वेनाङ्गतया रसध्वनेरसम्भवादित्याकृतम् ।

रमभाव तदाभास भावसान्यादिरक्रम इति वाच्यप्रकाशे कारिकाया पूर्वात् ।

इदमिहाकलनीजम—ध्वनिमज्जानाना उद्भूतमज्ञानुयायिन कतिपये रसादीना
प्राघाय रसवशाद्यलङ्कारान गीणत्वे तुदात्तालङ्कारद्वितोयप्रकारमुरीकुवन्ति । ध्वनि
कारास्तु—प्रधानऽयत्र वाग्यायै यथाङ्गन्तु रसादय । बाव्ये तस्मिन्प्रतङ्कारौ
रसादिरिति म मति ॥ इत्यादिशब्दभेदे रसादीना प्राधान्येऽलङ्कारपत्वेनालङ्कारवा-
नादाध्वनरकारोऽवपांश्च रसादिवनीन गीणत्वे तु रसवशाद्यलङ्काराश्च निणयन्ति ।
तद्वानिप्रत्य भट्टमम्मटोऽसीमा कारिकायामुपन्यस्यति—अत्रमोऽतलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्योऽ-
लङ्कारपतयाऽङ्गितया िधयो रसादि रसावनङ्काराद् रसवशाद्यलङ्काराद्, भिन्नोऽ-
ङ्गत्वाभावादतिरिक्तोऽनीति तदय । एव सति वाग्यविव' इत्यादी शृंगारस्य
व्यङ्ग्यपत्वेऽपि कविनिष्पत्तिमावाङ्गतयाऽनङ्गापरवविरहात् ध्वनिव्यपहरकारण-
त्वमिति ।

अत्र अत्रय दार्ढ्य द्वारा दिवे गये सम्भोग शृंगारोदाहरण का वाच्यन करन है—'द्वल्लु'
दरादे । निरनामान्' न जी यह टिप्पणी है कि 'वाग्यविवि मारी वाग्य प्रतिपत्तय ।' अतः
विशी बन्धे वाग्यीद य-की ॥' (अथ च अर्थ और अर्थ की तरह वाच्य म' दुर, मन्मर के अतकी
'नक व'ना नीर परमेश्वर (शिव) की उभय और अर्थ के ज्ञान के लिये, प्रणाम करणा है) इस
श्लोक में शृंगार-रस का उक्ति है, क्योंकि यहा की 'वाग्यविवि साधु' अर्थात् अर्थ और अर्थ की
तुह सग म' हुए वचन अर्थ नहीं रहने वाच्य इस उपाय में सदा सट रहने का कारण शिव-पार्वती
का निरतिशय प्रेम ध्वनित होता है । यह ध्वनियाम् अज्ञान-युक्त है । क्योंकि इस श्लोक में
पार्वती और परमेश्वर के विषय में कवि की रति—जो अर्थ वाच्य है—प्रधान है और शिव पार्वती
का परम प्रेम व्यक्तमान होकर भी सग (कविनेत्र रति) का अर्थ गीण हो गया है ।

गीण रति अर्थात् 'यहा रस ध्वनि है' इस व्यंशक का हनु नहीं हो सकता क्योंकि गीण रति
अर्थात् लय रस ध्वनि नहीं हो सकती, कारण है यह सिद्धान्त है—'भिन्नो रसाधरङ्कारादलङ्कार-
यथा स्थित' । अर्थात् भिन्न ही व्यंशक अर्थात् से श्लोकेन किय जगता है, पर (रस अर्थात्) रस
नहीं अर्थात् अर्थ भिन्न करने वाच्य अर्थरूप रस अर्थात् से भिन्न है । अन्विष्टाय रस है कि अर्थ
पत्त रस अर्थात् अर्थकर बहलाने है, ध्वनि नहीं, अर्थ उक्त रस (वाग्यविवि) में शृंगार रस

विप्रलम्भाख्य द्वितीय शृङ्गाररसप्रकारमुदाहरति—
द्वितीयो यथा—

शृङ्गारस्य द्वितीय प्रकार ।

'वाचो माङ्गलिकी प्रयाणसमये जल्पत्यनल्प जने
केलीमन्दिरमास्तायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजा ।
निश्वासाग्लपिताधरोपरिपतद्वाप्याद्रवक्षोरुहा
बाला लोलविलोचना शिव ' शिव ' ' प्राणेशमानोक्ते ॥'

उक्तपद्यस्योदाहरणत्वमुपपादयति—

अत्राप्यालम्बनस्य नायकस्य, निश्वासाभ्रपातदेरनुभाटस्य, विपाद-
दिन्ताऽऽवेगादेश्च व्यभिचरिण सयोगाद् रतिरभिव्यज्यमाना, वियोगकाला-
वच्छिन्नत्वाद् विप्रलम्भरसपदव्यपदेशहेतु ।

प्रयाणसमये प्राणसत्य प्रवासाय प्रस्थानावसरे, जने परिजने गुरुजने वा, माङ्ग-
लिका कल्याणप्रयोजना जिवास्ते सन्तु पन्थान ' इत्यादिका, वाचो वाणी,
अनल्पवक्त्र जल्पति व्याहरति सति, केलीमन्दिरस्य नीतुनागारस्य, मास्तायनमुखे
गवाक्षाप्रमाणे, विन्यस्त तद्दृक्षोन्मुखेन सलग्नीकृत वक्त्राम्बुज मुखकमल यथा,
तादुनी, निश्वासं स्यान्नवद्विप्रयोगजवातनावशाग्निस्वरद्विनासागतैः, श्लेषितस्य
शोभाग्लापितस्याधरस्य, उपसृष्ट्वंभागे, पतद्भिन्निरन्तर स्खलद्भि, वपैरश्रुभि-
राद्री विलम्बी वक्षोरही कुक्षो यस्या सा लोलविलोचना प्रतीकारानुवधारणात्
तारलभयना, बाला मुग्धा, शिवशिव ' आ कष्ट, प्राणेश प्राणनायम्, आलोक्ते
प्रतिषेधाक्षमतया केवल पश्यति, न त्वपश्यया प्रयाणनियेषकवचन विश्विदुच्चार-
यतीत्यर्थ ।

अत्रापि 'वाचो माङ्गलिकी' इत्यादिपद्योऽपि । आनम्बनस्य नायिकानुष्ठानेति
शेष । सयोगो विभ्राग्निनायकभावादिसम्बन्ध । रतिरह वियोगकालावच्छिन्नत्व
विप्रलम्भशृङ्गाररसव्यपदेशनिदानम् ।

शङ्क्य हीकर भी म्लकार ही वहलयागा, त्रिमने शिवनात्राणियपय ककर निउ भव अलदृष्ट हीता
ई, पटना यह पथ भावभ्रमि वा उदाहरण हो मयता है, रम ध्वनि का नदी ।

०२ 'विप्रलम्भ-शृङ्गार' का उदाहरण देने है—'द्वितीयो यथा' इत्यादि । 'वाचो माङ्गलिकी'
इत्यादि श्लोक शृङ्गार के द्वितीय प्रकार विप्रलम्भ का उदाहरण है । नायिका की सखी अपने मन में
मोचनी है, अथवा एक सखी दूसरी सखी से कहती है—पतिदेव परदेश के लिए यात्रा कर रहे हैं,
सुमनसक लोग गोर-गोर से माङ्गलिक वक्त्रों को बोल रहे हैं, परन्तु वह बाज (मुग्धा) रति-
मन्दिर के वातायनों में मुत्र-कमल को टालकर बैठी है, उसके साम प्रवृत्त वेग से चल रहे हैं,
जिससे उसके अथर शुष्क होकर मृद्यन हो चुके हैं और उन अथरों पर गिरकर नीचे की ओर प्रवाहित
होने वाली अश्रु-धारा से उसके लोब भीग गये हैं, शिव ' शिव ' ' इस दुर्दशा में पड़ी हुई वह
(बाज) पश्यन् नेशों से अपने प्राणेश को देख रही है । उस बेचारी को यात्रा काल में अश्रुपान से
हीनेवाले अश्रुपान का बोध नहीं है, लोकलज्जा की शय भी नहीं है क्योंकि वह मुग्धा है ।

इस श्लोक में नायकरूप आलम्बन, निश्वास, अश्रुपातादि रूप अनुभाव और विचार, चिन्ता,

स्यूणामिखननन्यायेन पुनरुदाहरति—

यथा वा—

‘आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्दसूनो,
कान्ति. काचिद्विखिलनयनाकर्षणे कामणजा ।
श्रासो दीर्घस्तदवधि मुखे, पाण्डिभा गण्डयुग्मे,
शून्या वृत्तिः कुलमृगदशा चेतमि प्रादुरासीत् ॥’

पुनरुदाहरति—

यथा वा—

‘नयनाञ्जलावमर्शं, या न कदाचित् पुरा सेहे ।
आलिङ्गिताऽपि जोष, तस्यौ सागन्तुकेन दयितेन ॥’

यदवधि यस्मात् बालादारम्य, नन्दसूनोर्नन्दनन्दनस्य कृष्णचन्द्रस्य, मधुस्यन्दिनी-
शोकलोचनासेवनकतया मधुसाधिनी, निखिलनयनाया सक्तजीवलोचनायाम्,
आकर्षणे वशीकरणे कामणजा कामण तद्वशीकरणमाद्यकमन्त्रादि जानातीति तथाभूता,
अक्षरैव वशीकारिणी काचिदनिर्वचनीया, कान्तिर्देहयुति, आविभूता प्रकटीभूताऽभूत्,
यदवधि तस्मात्कालादारम्य, कुलमृगदशा कुलीनहरिणाक्षीणा, रमणाक्षमत्वात् मुने
दीर्घं, श्रासं, गण्डयुग्मे वपोत्पुगुत्ते, पाण्डिभा पीतमात्रं, चेतमि वित्ते, विपादी-
स्वरूपेण शून्या निरालम्बता, वृत्तिर्व्यापारश्च प्रादुरासीत् प्राकटीदित्यर्थं ।

इह कार्यकारणयोर्पौर्वापर्यविपर्ययादतिशयोक्तिरलङ्कार । श्रीकृष्णस्यालम्बनस्य,
श्रासादेरनुभावस्य, तद्वपुःश्लेषविपादप्रभृतेभ्यश्च्यभिचारिणः सयोगाद् व्यज्यमाना,
कुलीनमृगाक्षीनिष्ठा वियोगकालावच्छिन्ना रतिविप्रलम्बशृङ्गारवत् भवति ।

या नबोद्धा, पुरा प्रस्थानदिदसात् पूर्वम्, नयनाञ्जलस्य लोचनाद्यभागस्य
कटाक्षस्य, अवमर्शं मस्पर्शं (विभुत समप्रनयननिरीक्षणम्) हिया मिया वा, न सेहे
नामृष्यन्, ना सैव, न स्वन्या, शून्येन त्रियमिपुणा निर्णीतविदेश-गमनेनेति यावत्,
मियेण वल्लभेन, आलिङ्गिता वाङ्मुपगूढाऽपि जोषं शून्या तस्यौ, न तु चपाल, न वा
निवारयाञ्चकारेत्यर्थं ।

अत्रैव आदि च्यभिचारी भाव के संयोग से नायिका की रति अभिव्यक्त होती है, जो वियोग-काळ
में रहने के कारण ‘विप्रलम्ब रस’ उद्भव से व्यरहण होती है ।

विप्रलम्ब रस का दूसरा उदाहरण देते हैं—‘यथा वा’ इत्यादि । ‘आविर्भूता’ इत्यादि पद्य जो
विप्रलम्ब शृङ्गार रस का उदाहरण है । गोकुलकसिनी कोई नायिका आने मन में सोच रही है—
अब से मधु-भृष्टे करने वाली और जीवमात्र के नेत्रों को आकृष्ट करने का जादू जानने वाली नन्द-
जनक कृष्णचन्द्र की अनिर्वचनीय देह-सृष्टि संसार में एक दुर्लभ, वही से कृष्णनामों के भ्रम में दीर्घ
श्रास, बरेल-युगल में इवेकता तथा चित्त में शल्लक्षित (खान-पादित्य) प्रादुर्भूत हो गई है । यहाँ
कृष्णचन्द्रस्य अर्द्धवत्, श्रास आदि अनुभाव, व्यग्रव विरह आदि च्यभिचारी भाव के संयोग से
कृष्णनिर्णीत, विषोपकृतिक रति की अभिव्यक्ति होती है, अतः विप्रलम्ब शृङ्गार रस पर
उदाहरण दृश्यं ।

पुनः विप्रलम्ब का ही एक और उदाहरण देते हैं—‘नयनाञ्जला’ इत्यादि । प्रत्यक्षरतिवत्

अनुभावादिप्रदर्शनेनास्य पद्यस्य विप्रलम्भध्वनित्व प्रतिपादयति—

इहापि सहजचाञ्चल्यनिवृत्तिर्जडता चानुभावव्यभिचारिणी ।

मन्टाद्यभिमत विप्रलम्भस्य भेदप्रपञ्चक निरस्यति—

इमं च पञ्चविधं प्राञ्च प्रवासादिभिरुपाविभिरामनन्ति । ते च प्रवासा-
भिलाप-विरहेष्यां शापानां विशेषानुपलम्भात्प्रास्माभिः प्रपञ्चिता ।

नयनाञ्चलावमर्शमित्यस्य नयनपद्मस्पर्शमिति विधरणन्त्वर्थासङ्गतेश्चिन्त्यम् ।

इह नयनेत्यादिपद्ये । अपि 'आविभूते'त्यादिपूर्वपद्यप्रतिपाद्यान् विप्रलम्भव्यञ्ज-
कान् समुच्चिनोति । सहजस्य स्वाभाविकस्य चाञ्चल्यस्य निवृत्ति स्तिमितीभावोऽ-
नुभाव, तत्कारणतया व्यज्यमाना जडता च व्यभिचारिभाव, प्रिय भालम्बनविभा-
वश्च सम्भूय, नवोद्भावा प्रवत्स्यत्यतिकाया वियोगकालावच्छिन्ना रति विप्रलम्भपदवी
नयति ।

इमं विप्रलम्भम् । चस्त्वर्थक ।

प्राञ्च काव्यप्रकाशकारादयः, इमं विप्रलम्भमृङ्गाररस, प्रवासेनानुरक्तयोरपि
गुणकार्यवशाद् विभिन्नदेशस्थित्या, अभिलाषेण पूर्वरागरूपेण कदाचिदप्यसमागत-
योरपि नायकयोर्गुणश्रवणादिनैकतरानुरागेण परस्परप्रेम्भया वा, विरहेण समाना-
धिकरणयोरपि गुह्यजनसज्जापारवशादिप्रतिबन्धेन, ईर्ष्यायां मानजनम्या, शापेन
वियोगजनक = तपस्विवाग्विशेषेण चोपाधिनिमित्तैरुपलक्षित, पञ्चविधं प्रवासा-
दिनिमित्तकप्रकारपञ्चकविशिष्टम्, आमनन्ति कथयन्ति ।

अस्मान्मिन्नु प्रवासाद्युपाधीनां विशेषस्य विचोर्द्वेषक्षय्यस्य, अनुपलम्भात् प्रतीति-
गोचरत्वामावान् ते भेदा प्रवासनिमित्तकादिप्रकारा, न प्रपञ्चिता नैव विस्तरेण
वर्णिता, कित्त्वेकप्रकार एवाय मामान्येनासत्तद्व्यक्रमव्यङ्ग्यवद् गणित इत्यर्थः ।

विशेषानुपलम्भादित्ययं प्रौढवाद एव, प्रवासिषु विपुक्तव्यप्रकारकबुद्धेरेकरूप-
त्वेऽपि तद्बुद्धिकारणानां भेदस्य स्फुट प्रतीयमानत्वान्, कार्येऽपि भेदस्यावश्यमनु-
पेयत्वाद्, 'अपमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यद् हि द्विधर्माध्यास कारणभेदश्च' इत्याद्यभि-
मुक्तोक्ते । अन्यथाऽन्यत्रापि भेदाधिगमो दुर्घटं स्यात् । 'यूनोरेकतरस्मिन्' इत्यादिना
लक्षित करणविप्रलम्भाद्व्ययमपि प्रकार प्रागुक्तरीत्या व्याहरन्ति केचिदिति प्रेक्षावद्भि-
परीक्षणीयम् ।

नायिका क' वात किमी से कोई कह रहा है—ये नायिका, (नवीन) पहले कभी पति-नदन-कोण
(कणाक्ष) के स्पर्श को भी नहीं सहती थी अर्थात् जो कनकों से भी पति को अपनी ओर देखने
देखने भाग पड़ी होती थी, वही परदेश जाने के लिये जबत त्रिब से अलक्षित होकर भी लुप हो
रही—अग्ने की बाल क्या, मुख से भी निवारण नहीं की ।

इमं श्लोक में स्वाभाविक चञ्चलता की निवृत्ति अनुभाव और उज्जा व्यभिचारी भाव है । अर्थात्
एक अनुभाव, व्यभिचारीभाव और त्रिदरूप आलम्बनविभाव के संयोग से यहाँ भी विप्रलम्भ शब्द
एक होता है ।

प्राच्येन अचार्यो ने इमं विप्रलम्भ रस को प्रवाम आदि उपाधियों से पांच प्रकार का माना है
पन्नु प्रवाम, अभिलाष, विरह, ईर्ष्या और शापरस पांच उपाधियों के कारण जो वियोग होता है उनमें

करणरम निरूपयति—

करुणो यथा—

सद्योमृत पुत्रमृद्धिम् पिता ब्रवीति—

'अपहाय सकलबान्धव-चिन्तामुद्दास्य मुक्तकुलप्रणयम् ।

हा तनय ! दिनवशास्तिन् ! कर्षामिव परलोकपथिकोऽभूः ॥'

तत्र विनावादीन् दर्शयति—

अत्र प्रमीततनय आलम्बनम्, तत्कालावच्छिन्नबान्धवदर्शनाद्युद्दीपनम्, रोदनमनुभा, दैन्यादय सञ्चारिण ।

शास्तरम निरूपयति—

शास्त्रो यथा—

कश्चिन् स्थितञ्ज परामृचति—

मालानिलकाल-दूटयो-रमणीकुन्तल-भोगिभोगयो ।

श्वपचात्मसुखो निरन्तरा, मम जाता परमात्मनि स्थितिः ॥'

हा दिनवशास्तिन् मुचिनीत् । तनय पुत्र ! सकलबान्धवानां भ्रात्रादिनर्वाण्मीय-
नाना मा विना कथमेने प्रणयान् छारविष्करीति चिन्ताम्, अपहाय सत्त्वाऽऽ-
नेनि यावन् । तथा मुक्तकुलोपाध्यायगृहस्य पिशादिपुत्रजनस्य वा प्रणय प्रेमान्
पत्तिम्) उदास्य सगुणेष्यागपयित्वेत्यन्यन्तरम्, कर्षामिव केन प्रकारेण, एवं
परलोकस्य पथिकोऽभव्योऽभूदित्यर्थः ।

कथुवर्गचिन्ता मुञ्जनप्रणय बोधेषु तवासमये परलोकप्रस्थान सर्वपापान्तित्वेन
नितरा गोचनीयमित्यभिसन्धि ।

अपहायहेत्यादिषु । प्रमीतो मृतधामी तनय इति कर्षधारय । तत्तानो मर-
णस्य काल । कालस्यावच्छेदवत्वमधिकरक्षत्वेन । 'स्वजनस्य हि दुःखमपनो विदुः-
द्वारमिबोपजायते' इत्याद्युक्तेर्वाश्वपचनदर्शनस्य गोषोद्दीपकत्वम् ।

इहानम्बनविमानादिमामशोममवधानाच्छोकस्थायिव — करणरमस्याभिव्यक्तिर्भ-
वति । अस्य करणावग्रमम्मान् भेदस्तु स्यादभिभेदानाम्बन दर्शित ।

किमी वैतथ्य्य की उदरभि न होने से हमने किन्तारपुत्रक उनका दर्शन नहीं किया । वहा मर
परमादि का स्वरूप भी गमना सेना साहित्ये अनुरक्त नायक-नायिका से ही किमी एक के बर्दाए
परदेस में रहने पर इकाम, मलागम से रहने ही गुणपना आदि से कश्चित्, मुक्तको भी ए-जदि
के कारण समागम से ब्रजि रहने पर विरह, मान ही ईर्ष्या और विनी वान्की आदि के मरापी
होने पर उनके बाग-विशेषक मय कहानी है ।

अव 'कण' रम वा उदाहरण देते हैं—'करुणो यथा' इति । 'कण' रम जेने—

सुरत मरे हुए पुत्र को उदरद कर दिया कहना है—'अपहाय' इत्यादि । अतीव हाय ! अति-
विनीत पुत्र ! तू सब बन्धुओं को चिन्ता को त्यागकर और मुक्तकुल के प्रेय को भी विहाकर जेसे
परलोक का पथिक हो गया ?

यहाँ मृत पुत्र आलम्बन है, तब समय में वहाँ पर कश्चित् बांधवों का दर्शन आदि दर्शन है,
रोना अनुभा है और दैन्या आदि सञ्चारिणी भाव है ।

उदाहरणे विभावादीन् निर्दिशति—

अत्र प्रपञ्च सर्वोऽप्यालम्बनम्, सर्वत्र साम्यमनुभावः, मत्यादयः मञ्ज-
रिणः ।

उक्तेदाहरणे अत्र प्रथममन्वमात्रद्वय निराकरणेति—

यद्यपि प्रथमाद्ये उत्तमाद्यमयोर्व्यवहाराद्, द्वितीयाद्येऽप्यमोत्तमवचनं प्रथ-
मं भङ्गमावहति, तथापि वक्तुब्रह्मात्मवत्तयोत्तमाद्यमज्ञानवैकल्यं सम्पन्नमिति
द्योतनाय क्रमभङ्गो गुण एव ।

मलयानिलो दक्षिणपवनः सुखजनकतयाऽनुकूलः कालकूटो गरल मृत्युजनकतया
प्रतिकूलस्तयोः, तथा रमण्या ललनायाः, कुन्दिशिवकुरोऽनुकूलः भोगिनो भुजगस्य
भोग फणादिकायः प्रतिकूलस्तयो एव स्वपचश्चण्डानो नीचतया प्रतिकूल आत्म-
ब्रह्माऽऽत्मज्ञानीवाऽऽपुष्टुष्टनवाऽऽनुकूलस्तयो निरन्तरा निर्वलक्षणा (तुल्या) म्बि
निर्धारणः प्रतिष्ठा प्रतिपत्तिर्वा मम समदृष्टा परमात्मनि परब्रह्मणि, जातोत्पत्ताऽ
भूदित्यर्थः ।

सर्वोऽपि प्रपञ्चस्वराचररूप सणमद्गुरतया निष्कारित आचम्बनविभावास्तमा-
म्बनं निर्वेदोद्गमात् सवचनमेत्वप्रमेयं च अनुकूलेषु प्रतिकूलेषु वा साम्यं समदृ-
ष्टानुभावो निर्वेदस्य कायत्वान् मत्यादिपदोपम्याप्या घृतिप्रभृतयः सञ्चारिमावागव
निर्वेदेन स्यादिति सम्भूय चान्तरसात्वाद् जनयन्ति ।

आवहति जनयति । तथा चाक्रमत्वदोगाद् दुष्ट काव्यमिति विवृतिस्तु चिन्तनी-
यैव, अत्रमत्वाय वाचकानिरित्प्रमत्वात्सात्पत्तय एताद्भाकारान् ।

प्रथमाद्य आदिचरणद्वये उत्तमस्य मलयानिलस्य रमण्याकुलस्य च पूर्वम
अधमस्य कालकूटस्य भाविभोगस्य च पञ्चातिदेशो य उपक्रम्य उत्तरार्धेऽधमस्य
पूर्वम्, उत्तमस्यात्मनुबन्ध पञ्चातिदेशेन व्यत्यास इति पूर्वप्रत्युत्थिताकाङ्क्षा
विषयीकृतप्रकारेण पश्चादनुक्ते प्रथमभङ्गान् काव्यमिदं दुष्टमिति न विभावादीन्
यतो ब्रह्मभूयमासादितवत् सर्वत्र समदृष्टो वक्तुरत्तमाद्यमत्वादिप्रकारेणानुत्पत्त्याद्
वक्षसि प्रथमभङ्गो वक्तुः स्थितप्रज्ञत्वानिश्चयमेव प्रकारायन् गुणत्वमेव प्रमाति, न तु
बोपत्वमित्यमिसन्धिः ।

अत्र 'शान्त-रत्न' का उदाहरण देत है—'शान्तो यथा' इत्यादि । किन्ती अरुण-शान्ती की उक्ति
है—महत्सर्वत्र वे पवन और विश्व में वायुमणियों के वेश-कल्प और सर्व का वान में पवन वायु
तथा ब्रह्मा में तुल्य अर्थात् भेद-अत्र-रहित नेरी ति नि परमत्वा में हो गई है ।

यहाँ मभूय मभूय अन्वय है, मव पदार्थों में समानता की दृष्टि अनुभव है और मति अर्थात्
महारीभव है ।

यदि उक्त पद के पूर्वार्थ में यह क्रम है कि पहले मभूय-पवन आदि उत्तम वस्तुओं का निर्देश,
बाद में फिर मभूय अन्वयों का, पवन उदाहरण में उन क्रम को छोड़कर पहले अधम मभूय
का, बाद में उत्तम ब्रह्मा का निर्देश किया गया है । अतः क्रम-अद्भुतत्व यहाँ होता है यदि 'यथा
ब्रह्म-रत्न हो जाने के कारण उत्तम-अधम के द्वय में शून्य हो गया है' इन बातों को प्रकट करने
में 'क्रम-भङ्ग' का ही है ।

विशय्य शिष्यप्रतिपत्तये प्रत्युदाहरणमाह—

इदं पुनर्नोदाहार्यम्—

कश्चिद्भगवद्भक्तस्तदीयसाक्षात्कारमाप्तसति—

सुरस्रोतस्विन्या पुत्रिणमर्षितिष्ठन् नयनयो-

विधायान्तर्मुद्रामथ सपदि विद्राव्य विषयान् ।

विपूतान्तर्ध्वान्तो मधुग्मधुराया चिति कदा,

निमग्न स्या कस्या च न नवनभस्याम्बुदरहि ॥'

इह निवेदस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि, यथा न छान्तरसध्वनि-पदेऽस्तथा प्रतिपादयति—
अत्रापि यद्यपि विषयगणालम्बन सुरस्रोतस्विनीतटाद्दोषोपितो नयन-
निर्मूलनारिभिरनुभाविता स्यायो निवेदः प्रतोयते, तथापि भगवद्भामुदेवालम्ब-
नाया कविरतो गुणीभूत इति न शान्तरमध्यपदेशहेतुः ।

इह कदा कस्मिन् काले सुरस्रोतस्विन्या दहनटा वङ्गाया पुलन तीरम्,
अर्षितिष्ठन् पुत्रिनं नयनानं नयनयोर्दोषो अन्तर्मुद्रामध्यन्तरनिगीतनं लब्धव्यान्तम्,
विधाय कृत्वा अथ तदनु सपदि रोग्य विषयानिन्द्रियबाह्याह्लादपदायान् विद्राव्य
दर्यायित्वा विपूतं ज्ञानादयाद् विध्वस्तमन्तर्ध्वान्तं मानसाज्ञानं यस्मिन् लब्धं सन्,
कस्याचनानिबन्धनीयाया मधुरमधुरायाभितिमग्नारमाया, नयनस्य्याम्बुदरहि नवीन-
मद्रपदीयजलदबाली, चिति चैनम्यात्मनि श्रीकृष्णध्वने निमग्नानां नितरा लीनः,
स्याः नवयमित्यर्थः ।

पद्यस्मिन्नन्तर्ध्वान्तस्य द्विरपादानं सौम्यं किञ्चिदाकुञ्चनीतिं चिन्त्यम् ।

अनापीत्यपि पूर्वपद्यसमुच्चायकः । तथा च पूर्वश्लोक इवात्र एतदे निवेदस्य
शान्तस्थायिनः, विषयसमुदयान्मन्त्र-सुरधुनीतीरात्पुदीपन-नत्रनिर्मूलनात्पुनराव-
सम्बन्धाच्छान्तरसाधनविषयहारो न भवति, निवेदस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि सर्वप्राप्त्येन
स्य्यमानाया कविनिष्ठाया श्रीकृष्णविषयवर्ती मामश्रीसङ्कटनानावाद्बुद्धतेया भावे,
गुणीभावाद् भावबले रसवदनद्वारस्य वा व्यपगतस्वीचित्यादित्याह्वयम् ।

अथ निष्ठाश्रयो वे निष्ठा-रत्न वे तिवे 'रत्न-रत्न' वे प्रत्युदाहरणं न दिव्यमह—'इदं
पुनर्नोदाहार्यम्' इत्यदि । कर्तुं भगवद्भक्त भगवत्साक्षात्कार वा भावना काला ई—एतन्ना (गङ्गा)
कं तीर मे रंज इव मे आनी इहे को अन्तर्मुद्रं बलावर रोग्य मन्त्रममार्थिक विषयो को इह
इदं, अथ एव मन्त्रमथ वे अन्तर (अज्ञान) हे हीन इदं इह अन्तर्मुद्रं हे ज्ञान एतद् के
तुय वा ने वा विना (अज्ञानरूप) अन्तर्मुद्रं चैत्र्य (ज्ञानम्) मे इह निमग्न हीनम् ।

एष वे इम इत्यं मे भा विषयो वे अन्तररूप अन्तर्मुद्रं मे अन्तर्मुद्रं, गङ्गा वं तीर एतद्
उदीपन मे उदीपित इहे वे अन्तर्मुद्रं करण अन्तर् अन्तर्मुद्रं मे अन्तर्मुद्रं इत्यं वददा मुदा म्ददानं
निवेद प्रतीपमान है, एतद् वे इत्यं इ-विपद्य कवि-निष्ठ सति वा अज्ञान एव नीन हो एतद् है, अथ
एतद् अन्तर्मुद्रं एव ही इह 'अन्त-रत्न' वा एतद् नदी हा मन्त्री कर्तुं वि-पद्य अन्तर्मुद्रं हा अन्तर्
मे एतद् एतद् है एतद् एतद् एतद् एतद् है । एतद् एतद् है एतद् है एतद् है एतद् है एतद् है
रत्नद्वार ही अज्ञान मन्त्र है । एतद् वा एतद्—एतद् वा 'विषयगणालम्बन' एतद् एतद् अन्तर्
' , कर्तुं 'विषय-मनुह एतद् एतद् अन्तर्मुद्रं है' एतद् अन्तर्मुद्रं मे अन्तर्मुद्रं है, एतद् एतद्

भावध्वनित्वमेवोक्तपक्षस्य समर्थयति—

इदं च पक्षमितिप्रामाण्यं भगवद्भक्तिप्रधानाया 'करुणालहर्ष्या' नुपनिबद्ध-
मिति तत्प्रधानभावप्राधान्यमेवाहति ।

पुनरन्वेषाद्यान्तरसाप्राधान्यमिह दशंगति—

शान्तरसाननुगुणश्र्वायमोजस्वी गुम्फ इति चानुदाहायमेवंतत् ।

नन्वेव मलयेत्यादिपक्षेऽपि सकृन्निष्ठ-परमात्मविषयवत्ते प्रतीतेस्तस्य कथं
शान्तरसध्वन्युदाहरणत्वमित्याशङ्कामपास्यति—

पूर्वपक्षे तु 'परमात्मनि स्थिति' इत्यनेन तत्ताद्रूप्यावगमाद् रतेरप्रतिपत्तिः ।

भक्तिर्नगवद्विषया रति । तस्या करुणालहर्ष्या प्रधानयो भाव (रति) तस्य
प्राधान्यमेव, न तु गुणभूतनिर्देशस्य ।

करुणालहरीप्रबन्धे रतिभावप्राधान्यात् तद्वदकेऽस्मिन् पक्षेऽपि यतो भावप्राधान्य-
मेव युक्तम्, अतश्शान्तरसध्वनिर्नहं नमभवतीत्याशयः ।

भोजस्वितया शान्तरसाननुगुणत्वम् । अयं मुखोत्तमस्वीत्यादिश्लोकः । भोजस्वी
वक्ष्यमाणपरिपाटनीजोगुणव्यञ्जकः । गुम्फो रचितश्लोकसन्दर्भः । इतिहंती । धकार
समुच्चये ।

अस्य श्लोकस्य समानरेफ-संयोग-टवर्गादिषट्ठित्वाच्छान्तरसप्रतिकूलजोगुण-
व्यञ्जकत्वादपि न शान्तरसध्वन्युदाहरणत्वमुचितमिति भावः ।

तस्य परब्रह्मणस्ताद्रूप्यस्य तदवात्म्यस्य अवगमाद् बोधाद् रतेरप्रतिपत्तिर-
प्रतीतिः ।

तादात्म्ये पूज्यपूजकभावभावतायाभावाद् रतेरसम्भवात्प्रतीतिरिति न तत्प्रा-
धान्यस्य सम्भव इति तुल्यव्यञ्ज्यमुदाहरणप्रत्युदाहरणयोर्वैषम्यमतिगोहितमित्य-
मिप्रायः ।

नहीं वैचित्र्य, क्योंकि ? शान्तरस में विपरीतों से विमुक्तता अवेक्षित मानी गयी है, फिर विषय उस रस
का आलम्बन कैसे होगा ? अतः 'अनादरणीयत्वेन ह्यत्र' दह विदेशण 'विषय' में जोबना पड़ेगा, तब
कहीं मूलपाठ सङ्ग हो सकेगा, इसमें अष्टा है कि 'विषयावगमनालम्बन' ऐसा मूलपाठ माना जाय,
जिससे हम का अस्तर ही न आ सके ।

इदं पक्षमितिप्रामाण्यं भगवद्भक्तिप्रधानाया 'करुणालहर्ष्या' नुपनिबद्ध-
(भावध्वने) ही प्रधान है, अतः इस पक्ष में भी भाव को ही प्रधानता समुचित है ।

दूररी बात यह है कि इस श्लोक का रचनासमय रेफ-संयोग और टवर्ग आदि से युक्त होने
के कारण भोजस्विनी है, जो शान्तरस के प्रविष्ट पक्षों हैं, इत्यर्थ में भी इस पक्ष को शान्तरस का
उदाहरण नहीं माना जा सकता है ।

यदि कहे कि 'मलयानिलवास्तुत्ये' इस पूर्वोक्त पक्ष में भी 'परमात्मा में स्थिति का वर्णन
है', अतः वहाँ भी भाव को प्रधानता होनी चाहिये, 'शान्तरस' के उदाहरणपक्ष में उपरोक्त काने
व्यक्तिपर कर दिया ? इसका उत्तर यह है कि वहाँ 'परमात्मा में स्थिति' इस शक्ति के द्वारा वस्तु की
रूप-रूपना दिखलाई गई है, अतः परमात्मा में वस्तु का प्रेम नहीं प्रतीत होता, क्योंकि प्रेम-भाव
और प्रेम करने वालों में भेद रहने पर ही बन सकता है, उन दोनों में रेफ-संयोग होने
पर नहीं ।

अथ रौद्ररम निरूपयति—

रौद्रो यथा—

शिवशरासनमङ्गलनिम्नममपि समुद्रोपितकोप परशुरामो ब्रवीति—

‘नवोच्छलितयीरम-स्फुरदखर्वगर्वज्वरे, मदीयगुरुकार्मुक गलितसाध्वसवृश्चि।
अय पतनु निर्दय दलितदामभ्रुद्गलगलमखलद्गुधिरघस्मरो मम परश्वघो भैरव ।

प्रवृत्ते रौद्ररमव्यञ्जकसामग्र्या प्रथममालम्बनविभाव दर्शयति—

अन तदानी रामत्वेनाज्ञातो मुक्तकार्मुकभञ्जक आलम्बनम् ।

अत्र रामनामानुपादनस्य हेतु दर्शयन्नुक्त समर्थयति—

अन एव विशेष्यानुपादानम्, गुरुद्रुहो नामग्रहणान्नीचत्यात्, क्रोधा-
विष्काराद्वा ।

नवाच्छलितेन दूतनोत्सलितेन, धीवनेन तारण्येन, स्फुरन् विजृम्भमाण, अखड्गोऽ-
मृत्यो गवोऽभिमान एव तापकृत्वाज्ज्वर सन्तापो यस्य, तस्मिन्, तथा मदीयगुरोमन
गत्नात्मविधाध्यापकस्य शम्भो, कार्मुक धनु, गलितसाध्वस निर्भय मया भवति,
तथा वृश्चति छिन्दति, उत्कटापराधकारित्वादप्राह्यनामनि जने, अयमुत्तोल्यमान,
दलितेभ्य समरे छण्डितेभ्य, दूप्ताना दर्पोऽनाना, भ्रुत्त शक्तिपतीना गलेभ्य
कण्ठेभ्य, स्थलतो निष्पतत, रुधिरस्य क्षोभितस्य, पस्मर वाना, भैरवो भीषण
ममाद्भुतपराक्रमस्य, भार्गवस्य, परश्वघ परशु, निर्दय निष्करण यथा भवति तथा,
पतत्वित्यर्थ ।

अज्ञातोऽदाहरणे । उदाहो क्रोधोद्रेकावसरे । रामत्वेनाज्ञातो रामोऽस्मिन्विधा-
कारकज्ञानाविषयीकृत, गुरुकार्मुकभञ्जक शिवधनुस्त्रोटको राम आलम्बन शोधस्येति
शेष ।

अत एव गुरुद्रुहस्य बलवदपराधस्य वा वर्तुर्जनस्याप्राह्यनामत्वादेव । विशेष्यस्य
रामस्यानुपादान नामाग्रहणम् । नोपस्याविष्कार उद्रेक ।

इदमुच्यते—‘वानापात् प्राक् परशुरामेण दायरधिरामस्य नाम न ज्ञातम्,
ज्ञातमपि वा दुःखमापराधविघ्नानजन्यमनुभूयेण नोपात्तमिति क्रोधोद्रेकव्यञ्जनादुचित-
मेव । अन्यथा नदेरपादिबिषोषणद्रव्योपादानेऽपि विशेष्यरामानुपादानमनुपितमेव
प्रतिभामान् ।

अथ ‘रौद्र-रम’ का उदाहरण देने हैं—‘रौद्रो यथा’ इत्यादि । शिव-धनु-भङ्ग से इन्द्रिय
परशुराम को उक्ति है । नवान उच्छलितो दुर्द युगावस्था से कारण बर दुये अल्पिक अभिमानस्य ज्वर
से युक्त शिवो ने निर्भर होकर मेरे गुरु-शिवजी-से धनुष को तोड़ बाटा है । अर्थात्, अत युद्ध में
काटे गये गरीब भूयो के गये मे चूने हुए शोणित को पीने बाटा वह मेरा अद्भुत परमा शमके उपा
निर्दयतापूर्वक गिरि ।

गुरु (शिवजी) से धनुष को तोड़ने बाटा वह राम क्यों जटम्बन है, जिनहा रामस्य से शान
परशुरामजी को उम समय तक कहा था ।

अथवा गुरु-द्रुही का ज्ञान नहीं देना चर्दिए इस कारण, या शेष उक्त हो जाने के कारण
‘तोड़ने बाटा’ वह विशेष्य-मान कहा गया है, विशेष्य (तोड़ने वाले का ज्ञान) नहीं कहा गया ।

उद्दीपनविभाव वक्ति—

ध्वनिविशेषानुमितो निशशङ्कधनुर्भङ्ग उद्दीपकः ।

अनुभावमाह—

परुषोक्तिरनुभावः ।

व्यभिचारिणो व्याहरति—

गर्वोत्पत्तादयः सञ्चारिणः ।

प्रकरण प्रकाशयति—

एषा च धनुर्भङ्गध्वान-भग्नसमाघेर्भागिवस्योक्तिः ।

रौद्ररसानुकूलवृत्तिदशनादप्युक्त समर्थयति—

वृत्तिरप्यत्र महोदता रौद्रस्य परमोजस्विता परिपुष्पाति ।

पुनः रौद्ररसव्यञ्जनक्षमतामेव दर्शयति—

अन्यत्र गुरुस्मरणे सत्यहम्भावविगमस्यावश्यकतया, प्रकृते चाजहत्स्वाय-
लक्षणाभूलध्वननेन मदीयेत्यनेन गर्वोत्कपस्यैव प्रकाशनात् स्फुट गम्यमानेन
विवेकशून्यत्वेन क्रोधस्याधिक्य गम्यते ।

ध्वनिविशेषो धनुर्भङ्गोत्थितम्भुमुपनिनाद, य च धनुषो निशशङ्कभङ्गन विना
कथमपि न सम्भवतीत्यनुमानेन गृहीत तादृश रामस्य धनुर्भङ्गनसाहसमिह क्रोधस्यो-
द्दीपनमिति सारम् ।

मार्गवस्य कट्टति क्रोधस्य कार्यत्वादनुभाव इति तात्पर्यम् ।

गर्वं उप्रता चादिपदग्राह्या अमर्षप्रभृतयो व्यभिचारिभावा क्रोधस्य पोषकत्वात् ।

एषा नवैत्यादि । अकम्भादुत्कटशब्दश्रवणान् समारम्भङ्ग । तथा च श्रोत्रोद्दयो-
चित्त्वम् ।

महोदता दीर्घसमासबहुला समुक्तासरमयी परतानाग्नी वृत्तिरप्यत्र पद्ये ओजो-
गुणाश्रयस्य रौद्ररसस्य व्यञ्जने परमोपकारकतया रौद्ररसस्य पोषिकाज्जतीति रौद्र-
रसोदाहरणनिबन् ।

अन्यत्र क्रोधानुदयावसरे । अहम्भावोऽहङ्कार । प्रकृते क्रोधोद्रेके । अजहत्स्वार्यो-
पादानलक्षणा, वाच्यस्यापि सङ्घेण सह प्रधानप्रतीतिविषयत्वान् । अक्रुद्धावस्थाया,
गुरो स्मरणे वितयोदयादहङ्कारोपशमस्यैवौचित्यम् । सम्प्रति श्रोधदशायान्तु, मदीये

वितलान् दृष्ट्वा की जगद्भाषी ध्वनि से अनुमान किया हुआ 'निर्भय होकर धनुष का तोड़ देना'
उद्दीपन है ।

कट्ट वचन अनुभाव है ।

गर्व और उप्रता आदि व्यभिचारी हैं ।

यह धनुष के भङ्ग को ध्वनि से समाधि टूट जाने पर परशुरामजी का वक्त है ।

उन्हे ममारों में युक्त, सयुक्तश्रमस्य, 'पस्थ' नाम की वृत्ति (रचना-विशेष) भी इस पद्य में
'रौद्र-रस' को परम ओजस्विता को पुष्ट करती है ।

यद्यपि, जहाँ क्रोध का अवसर नहीं रहता, गुरु का स्मरण होने पर विन्द-भाव के उदित हो
जाने से अहङ्कार निवृत्त हो जाता है. परन्तु यहाँ वैराग नहीं हुआ है, यह बात स्पष्ट है क्योंकि दर्श

प्रत्युदाहरण व्याहरति—

इद पुनर्नोदाहार्यम्—

कृद् परशुराम मञ्चिद् वर्णयति—

'धनुर्विदलनध्वनिश्रवण-तत्क्षणाविर्भवन्-

महागुरुवधस्मृति श्वसनवेगधृताधर ।

विलोचनविनिस्सरद्वहलविस्फुलिङ्गत्रजो

रघुप्रवरमाक्षिपञ्चयति जामदग्न्यो मुनि ॥'

धनुर्विवादिपद्यस्य युतो ग रौद्रध्वन्युदाहरणत्वमित्युपपादयति—

अत्राप्यपराधास्पदेन रघुनन्दनेनालम्बितौ धनुर्विदलनध्वनिश्रवणेनोद्गी-
गतौ निश्भास-नेनञ्ज्वलनादिभिरनुभावितौ महागुरुवधस्मृति-गर्वोपत्वादि-

रसच्छब्देन कविशक्तिवारान् कितिनि— क्षत्रियत्वसम्पादननिश्चयं मातृभ्रातृवधानुष्ठा-
नप्रतिपत्तेरपरिपालनाद्यद्भुतवर्षयासिस्वात्मभ्युपाधानलक्षणया, व्यञ्जमानेन, बीज-
भूतेन गर्वोत्पत्तेः, विवेकशून्यत्वं द्वारोदृत्य, व्यज्यमान क्रोधाधिक्य, रौद्ररम गोचर-
यतीति रौद्ररसध्वनेरिदमुदाहरणम् ।

धनुष शिवकामुकस्य विदलनात् खण्डनाद् (उद्भूत) ध्वनिनाद, तस्य
श्रवणादाकणगात्, तत्क्षणे तद्य, आविर्भवन्ती सगुत्पद्यमाणा, महागुरो पितृजन्मदग्नि-
मुने, वधस्य सहस्रबाहुद्रुनुकतं कथातस्य, स्मृति स्मरण मस्य स, तथा श्वसनस्य
क्षत्रियकृतापराधस्मरणोद्भूतवर्षोद्भावितास्य, वेगेन रहसा, धृत कम्पितोद्भारो
निम्नोच्छ्वी मस्य स, तथा विलासनाभ्या, क्रोपलोहितनेत्राभ्या, विधौषेण प्राचुर्येण,
निस्सरन् विगम्भन्, बहलो विपुना विस्फुलिङ्गत्रजाऽम्बिकणायो यस्य तादृशी
रघुप्रवर रामचन्द्रम्, माक्षिपन् धनुर्मञ्जनापरामपरित्वादाकरोयन्, जामदग्न्या
जन्मदग्निध्रुत मुनि परशुरामो जयति सवसरकषेण वर्तत इत्यर्थः ।

अपि पूर्वश्लोकीसमुच्चायक । अपराधो धनुर्मञ्जनरूप, तदनुष्ठाप्यो रामचन्द्र
आलम्बनम्, धनुर्मञ्जध्वनिश्रवणमुदीपनम्, निश्भासा नेचञ्ज्वलनादिभ्यानुभाव, पितृव-

द्वे मे जो 'मदीय' (मे) विशेषण लगावा गया है, वह ठासुकि है अर्थात् मदीय तद् का इस्कांम
बार १५वीं को निश्चित बनाने बाद अस्मच्छब्दा ' मे अवशस्वाथो (उपादान) छरणा है, त्रिष्ठे
अस्मच्छब्दार्थ (परशुराम) का गर्वोत्कर्ष च्छित होता है, इससे परशुराम की विवेकहीनता प्रतीत
होती है, (द्वे के सामने अपना गर्वोत्कर्ष दिखलाना विवेक-हीनता का सूचक होता है) इस
(प्रतीपमान-विवेकहीनता) से भी परशुराम का क्रोधात्मिक व्यक्त होता है । इस तरह स्वपीभाव
'मदीय' का सब तरह से प्रति होने के कारण यह पद्य 'रौद्र-रस' का उदाहरण होता है ।

रौद्र-रस का प्रत्युदाहरण दिखलाने है—'इद पुनर्नोदाहार्यम्' इत्यादि । 'धनुर्विदलन'
का शब्द 'रौद्र-रस' के उदाहरण में लाकिए करने योग्य नहीं है । श्लो, कृद्-परशुराम का
बर्णन करता है—धनुष टटने का शब्द सुनने की, उत्पन्न, निम्नको महागुरु पिता जन्मदग्नि की सरप-
वातुतनय द्वारा की गई इत्यादि स्मरण हो आया, अतः पर निश्चय-नायु के वेग में नीचे का होठ
पकड़ने लगा और ओंको से आग की चिनगारियों का महान् पुत्र जारने लगा, वे देवी स्थिति में,
रामचन्द्र पर आक्षेप करते हुए मुनि परशुराम, सबसे उत्पुट है ।

'एषि इस पद्य के भी उस 'क्रोध-रस' स्वपीभाव की अभिव्यक्ति होती है, निम्नका आलम्बन,

भिन्न सञ्चारितः क्रोधो यद्यपि व्यज्यते, तथाप्यसौ तत्प्रभाववन्वीजभूताया कविरतौ गुणीभूत इति न रौद्ररसध्वनिव्यपदेशहेतुः।

काव्यप्रकाशोन्निखितमुदाहरणं दूषयति—

काव्यप्रकाशगत रौद्ररसोदाहरणे नु—'कृतमनुमत दृष्टं हैरिद गुरुपानकम्' इति पद्ये रौद्ररसव्यञ्जनक्षमा नास्ति वृत्तिः, अतस्तत्कवेरप्युक्तेव ।

धम्भनिर्गमं उग्रता च व्यभिचारिभावः, सम्भूय क्रोध रौद्रस्यापि न रसत्व नयतीति रौद्ररसोदाहरणत्वमस्य प्राप्नोति, किन्तु जयति जामदग्न्यो मुनिः' इति कथनाद् वरुणनीयजामदग्न्यविषयककविनिष्ठरतिभावस्यैव प्राधान्याद् भावध्वनरेवेदमुदाहरणम् । क्रोधस्त्वत्र व्यज्यमानोऽपि न पोषकत्वेनाङ्गभूत एवेति नेद रौद्रध्वनेरुदाहरणमित्यभिप्रायः ।

वक्ष्यमाणारचिस्तुभा सूच्यते । 'मनुजपशुभिर्निर्मण्यैर्दंभैर्द्विरुदायुष्टं । नरकरिपुणा साधं समीरकिरीटिनामयमहमसृङ्मेदोमासं करोमि दिशा बलिम् ॥' इति पद्यावशिष्टात् । वेणीसहारे—द्रोणाचार्येणिरश्छेदानं क्रुद्धस्याश्रत्याम्नोऽर्जुनं प्रत्युक्तिरियम् । रौद्ररसस्य व्यञ्जने क्षमा समास—संप्युक्ताद्यस्यवदृत्वा परुषा वृत्तिः । तामेव गौरी रीति वामनादयो मन्यन्ते । तत्कवेर्वेणीसहारकर्तुर्मदृनारायणस्य । अस्ति प्रतिमाश्रयता, एव मत्वन कथञ्चन समाये सम्भवः ।

रौद्ररसोचिताया परुषाया वृत्तेरनिबन्धनात् कवेरसक्तिरिह प्रनीयत इति नादुष्टमिदमुदाहरणम्, 'अभ्युत्पत्तिवृत्तौ दाप शक्त्या सन्निपते कवे । यस्त्वसक्तिवृत्तस्तस्य स हृदित्वेव भासते ॥' इति ध्वनिवारोक्तेरित्याकृतम् ।

परे तु—ओजोनिरूपणमुपक्रम्य द्वितीय उद्घोषे—'तत्प्रकाशनपरार्थायोजनेक्षित, दोषसमाश्रयन प्रसन्नवाचकाग्निधेय । यथा—'यो य शस्त्र विभक्ति स्वमुजगुरुनद' इत्यादी । तृतीये पुन 'तथा रौद्रादिध्वजमासा दृश्यन्ते । यथा—'यो य शस्त्रम्' इत्यादी । इति ध्वनिकृतं समासादिप्रयोज्यशब्दकाठिन्यविरहेऽप्ययं काठिन्यमात्रादप्योजोगुणस्य तदाश्रय रौद्रादिरसाना च व्यज्यमानताया निर्वाचनमिष्टानात् 'कृतमनुमतम्' इत्यादी रौद्ररसव्यञ्जनाक्षमवृत्तिनिबन्धनात् कवेरसक्तिरुदाहरणोपाय पण्डितराजस्यैव विवेकशक्ति सूचयति, न तु कवेः, सहृदयानुभवमाक्षिकविच्छिन्नेरसतत्त्वादिति व्याहरन्ति ।

असौ रामचन्द्र है, वहीरन, धनु—शक्ति—ध्वनि का अर्थ है, अनुमान, श्रम, तथा नेत्रों का उल्लास है, और महारी—पिता वी इत्यादि स्मरण, गर्व, धर्म उग्रता आदि हैं, तथापि वह (क्रोध) 'रौद्र-रस' रूप नष्ट हो सकता, क्योंकि जिनके कारण कवि ने परशुरामजी का वर्णन किया है, उन (परशुराम निपत्त) कवि निष्ठ-रति की अवस्था वह गीत हो गया है अर्थात् कवि इस पद्य के द्वारा परशुरामजी के प्रति अपने भाव की ही प्रधानरूप से प्रकट करना चाहता है, 'रौद्र-रस' के स्थायी-मत्र क्रोध को नहीं। अतः यह श्लोक 'रौद्र-रस-ध्वनि' का उदाहरण नहीं हो सकता है ।

अब काव्यप्रकाशकार मम्मट के द्वारा उल्लिखित 'रौद्ररस के उदाहरण' में दूषण दिखलाना है—'काव्यप्रकाशगत' इत्यादि। मम्मट ने यह पद्य 'रौद्ररस' के उदाहरण दिखलाने के लिये उद्धृत किया है—

'कृतमनुमतं ॥ वा... करोमि दिशा बलिम् ॥'

प्रकरणमुपन्यस्यति—

एषा द्विजवेपायेन्द्राय कवचकुण्डलदानोद्यतस्य कर्णस्य तद्दानविस्मितात्
सम्भ्यान् प्रत्युक्ति ।

आलम्बनादीन् दर्शयति—

अत्र याचमान आलम्बनम् । तदुदीरिता स्तुतिरुदीपिका । कवचादिवितरण
तत्र लघुत्वबुद्ध्यादिक चानुभावः । 'मे' इत्यर्थान्तसङ्क्रमितवाच्यध्वन्यु-
त्थापितो गर्वः, स्वकीयलोकोत्तरपिनृजन्यत्वादिस्मृतिश्च सञ्चारिणी ।

इहत्ववृत्तेरपि रसानुकूलता प्रकटयति—

वृत्तिरप्यत्र तत्तदर्थानुरूपोद्गम-विरामशालितया सहवयंकचमत्कारिणी ।
तथाहि—उत्साहपोषक कवचकुण्डलापंगयोर्लघुत्वनिरूपण विधातु पूर्वार्धे तदनु-
कूलशिथिलबन्धात्मिका । उत्तरार्धे तु 'मोलि'त प्राग् वक्तृगत-गर्वोत्साहपरि-
पोषणयोद्धता । ततः पर द्राष्टाणे सखिनयत्व प्रकाशयितु तन्मूलोभूत गर्व-
राहित्य ध्वनयितु पुन शिथिलैव । अत एवावंदयामीत्युक्तम्, न तु ददामि
वितरामीति वा ।

पित्रा भगवता भास्करेण कर्णस्य रक्षार्थं कवचादीना इतत्त्वावदेयानामपि दानो-
द्यमेन सम्पातनामाश्रयम् । एषेत्युक्तिविशेषणम् ।

अत्र 'निय'दित्याद्युदाहरणे । याचमानोऽर्था द्विजवेप इन्द्र । स्तुतिर्यापचयुता
प्रशंसा । तत्र कवचादियु, लघुत्वबुद्धिस्तुच्छत्वज्ञानम् । 'मे' इत्यस्मच्छब्दस्योच्चा-
रयिनभित्तेऽभिधा, निश्चङ्क समस्त्वश्रमदानवक्षत्वादिधर्मविसिष्टस्वार्थोऽजहत्स्वार्था
प्रयोजनवती लक्षणा, स्वकीयाद्वितीयदानशीघ्रत्वादिप्रयोजने च व्यञ्जनेत्यर्थान्तरमद्-
धमित्वाव्यध्वनि । तेन व्यज्यमानो गर्व आत्मनोऽमर्त्यादिस्पजन्यत्वत्वस्मृतिभावश्च
व्यभिचारिभावी विभावादिभि सम्भूय दानोत्साह दानधीररत्नत्व प्रापमप्तीति
हृदयम् ।

अत्रोदाहरणे । वृत्तिरूपनागरिकादिप्रितयान्यनमरुपा । तत्तदर्थानुरूपोद्गमविराम-
मघानितया—तस्य तस्य चार्थस्यानुरूपो तुल्यो यावुद्गमविरामो प्रारम्भसमाप्ती,

(यहाँ का अनुवाद श्लोकार्थ के अन्वयार्थ में उपर दिया जा चुका है ।)

यहाँ वाचक (द्विजवेपारी इन्द्र) आलम्बन है, उसके द्वारा की गई प्रशंसा उदीरन है, कवच
आदि का समर्पण और उस समर्पण में तुच्छता का ज्ञान अनुभाव है और मूल के 'मे' और अनुवाद
के 'मेरे लिये' शब्द में व्यक्त होने वाला गर्व तथा श्लोकीकृत किए शुरु से अपनी उत्पत्ति का स्मरण
मशारी भाव है । यहाँ 'मे अथवा मेरे लिये' शब्द से गर्व आदि क्यों और कैसे व्यक्त होते हैं यह भा
समझ लेना चाहिए—'अमर्द्' शब्द उच्चारणकर्ता का वाचक है अतः उस शब्द के न रहने पर भी वाक्य
के वाच्यार्थ में कोई कमी नहीं रहनी, फिर वह शब्द कहा ही क्यों गया ? इसका उत्तर यह होगा कि
'मे' शब्द श्लोकीकृत है—वाचक नहीं, अतः उस शब्द से केवल उच्चारणकर्ता का बोध नहीं होता, परन्तु
विलक्षण-दान-शक्ति आदि धर्मविरहित उच्चारणकर्ता का बोध होगा है, जिसमें वक्त अर्थ—जो उच्चारण
का प्रयोजन है—व्यक्त होता है । इसी को अर्थान्तर-संक्रमितवाच्यध्वनि कहते हैं ।

इस रूप में वृत्ति (शब्द-योजना की शैली) भी उभर-उभर अर्थों के अनुसृत कहीं प्रौढ और कहीं
कीमत् होने के कारण समुद्रमात्र को चमत्कृत करने वाली है । देखिए—पूर्वार्ध में कवच और

प्रत्युदाहरण दर्शयति—

इदन्तु नोदाहरणीयम्—

दानवीर नरेश कश्चिद् वर्णयति—

‘यस्योद्दामदिवानिशाधिबिल्लसदानप्रवाहप्रथा—

माकष्यावनिमण्डलागत—वियद्वन्द्वीन्द्रवृन्दाननान्तु ।

ईर्ष्यानिभंरफुल्लरोमनिकर—व्यावल्गदूधस्त्रवत्—

पीयूषप्रकरैः सुरेन्द्रसुरभिः प्रावृट्पयोदायते ॥’

ताभ्या धालितया तद्वर्येन । एकशब्दे मुख्यार्थक, मुख्यत्वं चात्यन्तत्वपर्यवसायि । कवचस्य कुण्डलयोश्चापणस्य दानस्य यत्नपुत्रस्य तुच्छताया निरूपणम्, तत् तद्दानविययकोत्साहस्य चोपवचन । तिपित्तबन्धात्मिका मृदुलवर्णपटिता कोमलाभ्या वृत्ति । मोलितो ‘मोलि’मित्यस्मान्, निर्विभक्तिकानुकरणात्तसिन् । उदता ककंशवर्णपटिता परया वृत्ति । तिथिला कोमलैव, न तु वरुणा ददामीत्यादेर्वर्णप्रकाशसम्भव ।

अथ भाव—इह पद्ये पणनीयार्थानुमारी वृत्तिनन्निवेग सहृदयहृदयङ्गम तथा चादिमचरणद्वये देयकवचादिलपुत्रविभावनाद् दातुंत्साहस्य पुष्टिरिति वीररसोचिता परया वृत्ति । तृतीय—चतुर्थचरणयो ‘मोलिम्’ इति शब्दान् पूर्वं वक्तुं वर्णस्य, गर्वात्साहयोर्वोषनाच्च सैव वृत्ति । तदूर्ध्वं दानीयविभप्रस्ताबादीद्वलपरिहासनप्रताप्रदर्शनयोरीचत्येन तदनुकूला कोमला वृत्ति सन्निवेशिता । ददामि वितरामीत्यादौक्तौ वक्तारि दानुन्वाग्निमान प्रतीयते, समर्पणार्थकवेद्यामीति कथनेन तु विनयातिशय इति विवेक ।

यस्य नृपस्य, उद्दामो निरतरप्रवृत्तन्वाचनरद्वद, दिवानिशा रात्रिदिवम्, कपिपु माचवैपु, विमसन् प्रवर्तमानो यो दानस्य प्रवाह परम्परा, तस्य प्रथा ह्यातिम्, अक्षनिमण्डलाद् भूतोनाद्, आगतस्य वियद्वन्द्वीन्द्रवृन्दस्य स्वर्गस्तुतिपाठनश्रेष्ठमग्रहस्य, आननान्मुखात् आकष्यं श्रुत्वा, सुरेन्द्रसुरमिर्दधराजकामधेनु, ईर्ष्या प्रतिस्पर्धदानमपारसमुन्नपंश्रवणात्तहिष्णुताया, निभंरमतिमात्र कुल्लोश्चितो रोमनिकरो लामपालियंस्य, तादृशम्, अत एव व्यावल्गन् क्षोभेण सञ्चलद्, यद् ऊच स्तनधार, सस्मान् सवता निर्गलता, पीयूषपाणा नवीनदुग्धाना, प्रकरै पूरै (हेतुभिः) प्रावृट्पयोदायते कथंनुमेष द्वावरनीत्यर्थ ।

कुण्डल के समर्पण में तुच्छता का मान—जो छल्लाह को पुष्ट करता है—बताने के लिये वह—दोखल शिञ्जि (कोमल) है और वरुण में ‘ मोलि’ से रहने बला के गर्व और छल्लाह को पुष्ट बनाने के लिये, उदत (पीड़) है, उनके बाद निर जाद्वल के विषय में विनय प्रकशित करने के लिये, विनय के मूलभूत गर्वोत्थित्य को अभिव्यक्त करने वाली कोमल रचना है । इमीलिये ‘अवेद्यमि—निवेदन करता हूँ—’ कहा, किन्तु ‘ददामि—देता हूँ’ ‘निरसमि—निरक्षण कावा हूँ’ नहीं कहा ।

‘दानवीर’ का वह उदाहरण नहीं देना चाहिए—

कपि किमी दानी राया का वर्णन करता है—मृण्मल से छोट कर जाये हुए स्वर्गोप बन्दीजनों के मुग से, हम दान—प्रवाह—जो विना अक्षय के रात्रिदिन यापनों को दिया जाता है—ही स्तारि

कुतो नेदमुदाहरणमित्युपपादयति—

अत्रेन्द्रसभामध्यगतसकलनिरीक्षकालम्बन, अवनिमण्डलागत-वियद्वन्दी-
न्द्रवदनविनिर्गत-राजदानवर्षनोद्दीपित, ऊष—प्रस्रुतपीयूषप्रकरंरनुभाषित,
असूयादिभिः सञ्चारिभिः परिपोषितोऽपि कामगवीगत उत्साहो राजस्तुति-
गुणीभूत इति न रसव्यपदेशहेतुः ।

वीररसस्याङ्गत्वादन्यत्रापि तदूध्वनिव्यपदेशाभाव दर्शयति—

अत एवेदमपि नोदाहरणम्—

बलिबामनवृत्त कश्चिद् वर्णयति—

‘सावित्रीपकुलाचला वसुमतीमाक्रम्य समान्तरा
मर्वां चामपि, मस्मितेन हरिणा भन्द समालोकित ।
प्राबुभूतपरप्रमोद-विदलत्रोमाञ्चितस्तत्क्षण
श्यानम्रीवृत्तकन्धरोऽसुरवरो मौलि पुरो न्यस्तवान् ॥’

यस्य राज्ञः सार्वदिकदानातिशयवदणान कामधेनु प्रतिस्पर्धया वधमिच्छ इव
नितरा पय प्रवाहयति, तादृशो दानिनामघ्नरीरेष राजेति तात्पर्यम् ।

इन्द्रराष्ट्रस्यात्र द्विरुपादान चारुता किञ्चिदपकथंतीति सहृदयवैचम्यम् ।

इह ‘यस्ये’त्यादिपद्ये यद्यपि देवमभावृतान्तवर्णनान तत्सदस्यवालिम्बनस्य, भूलो-
कागतबन्धिकृत राजदानवर्णनरूपोद्दीपनस्य कामधेनुस्तनक्षीरसरणलक्षणानुभावस्य,
ईर्ष्याजनकतया व्यङ्ग्यस्यामूयादेशच व्यभिचारभावस्य, सम्बन्धात् कामधेनुनिष्ठो
दानोत्साहो दानवीररसत्वमासादयति, तथाप्यभी रस स्तुतिव्यङ्ग्याया बन्दिनिष्ठ-
राजरतावङ्गिभूतायामङ्गत्वमेव दधातीति नेद दानवीररसध्वनेरुदाहरणम्, अपि तु
रतिभाव-वनेरित्यभिप्रायः ।

को सुनकर, कामधेनु, ईर्ष्या के कारण अत्यन्त उत्फुल्ल (कथकिल) रोमराजि से तने हुये स्तन-भार
मे चून हुये अमृत तुल्य नदीन दुग्ध के ममूहों से वर्षाकालिक जलद मी हो जाती है अर्थात् राजा को
दानकीर्ति की सुनकर कामधेनु के मन में ईर्ष्या उत्पन्न होती है, जिससे उसके अर्हों के तौंगटे अड़े
हो जाने हैं और रोम के खड़े हो जाने से उसके मन-स्थान में एक प्रकार की गुरगुरी पैदा होती है
जिसने दूध को अखिल धारा प्रवाहित होने लगती है ।

यद्यपि इम पद्य में भी कामधेनु का उल्हास अभिव्यक्त होना है क्योंकि उसकी अभिव्यक्त सभामयी
यहाँ वर्णमान है, जैसे—इन्द्र की सभा में उपस्थित सब दर्शन आलम्बन हैं, भूलोक से आगत दिव्य
बन्दीजनों के मुख से निम्नून, राजा के दान का वर्णन (तत्परक वाक्य) उदीपन है, स्तनभार से
चूने हुये अमृतोपम नूतन दुग्धमयूह अनुभाव है और ईर्ष्या की ठंकि से व्यक्त होने वाली ईर्ष्या-कारण
अवृत्तादि मद्यारीभाव हैं । तथापि यह उल्हास ‘दानवीर’ रस के रूप में परिणत नहीं हो सकता,
क्योंकि यह कवि-विवक्षित राजविवेक स्तुति की अपेक्षा गीण है अर्थात् कविनिष्ठ राजविवेक रति-
भाव ही यहाँ प्रधान है और एक उल्हास हमके पोषक होने से अशु है, अतः यह श्लोक भावचनि
का उदाहरण हो सकता है—रसचनि का नहीं ।

इसी कारण से यह उदाहरण भी नहीं देना चाहिए—

अत एवेत्येतद्विप्रप्रथमं प्रकाशयति—

इह च भगवद्भामनालम्बनं तत्कवृकमन्दनिरीक्षणोद्दीपितं, रोमाञ्चादिभिरनुभाविता हर्षादिभिः पापितं, उत्साहो ध्यज्यमानोऽपि गुणः ।

अपिनि गन्तनि क्षारादिनि समुदं द्वीपं सप्तमि पाश्वदमतोयावृतभूमार्गं पुष्करादिनि वुनारचने मप्यमिबिध्यादिनिधराजवष्टम्भ-पवर्तश्च सहिता यमुमती पृथ्वीम अपि तमा मजान्तरा स्वरादिसप्तप्राकारा सर्वा सम्पूर्णा, दामूध्वनुवनावलीम पदन्त्याम आदम्य सम्मितेव परपरजयजनिनेपद्वसितेन, हरिणा त्रिविक्रमेण, मन्द (दाम्ब्यावध पदन्त्या छलेन सवस्वग्रहणान्) स्मित यथा स्यात् तथा समानीकितो वृष्ट प्रादुर्नो भगवत्यासात्कारेपोत्पन्न पर आनन्दानन्देभ्य उत्कृष्टो य प्रमोद मुञ्जविशय तन विदमन विवसन् रोमाञ्चो रोमविचार सञ्जातो यस्मिस्तादृश तादाय मद्य (प्रणामाय) व्यानञ्जीहता विजायण गतीहता कञ्चरा शोवा मन तादृशाश्च अमरवरो दैत्यधष्टो वनि भौर्नि यस्तकम (तृतीयधरणा रोपणाय) पुरो भागवतोऽप्र म्यलवाननिर्दिष्टपदित्यथ ।

अत्र इनादे त्रिविक्रमताम्यनन नस्तृतमन्द्रालोकनोद्दीपनेन रोमाञ्चादिभिरनुभावं हर्षादिभिश्चभिचारिनावं च मम्भूपादिभ्यज्यमानो इतिनिष्ठो शानीत्साहो शानवीररमत्वमामादयप्रपि अतिस्तुन प्रधानीभूनाया उपकारकत्वादङ्गमिनि नेद वीररसध्वनेरदाहरणमित्याग्य ।

प्रमोदपदेनेह कुञ्जमुच्यते ह्यस्तु तदगावच्छिद्रावरणनञ्जकश्रितवृत्तिविशय इति न ह्यस्य वाच्यत्वम न च तस्य वाच्यत्वे व्यभिचारिवाच्यत्वस्वरमदोपायान् ।

कोई कद्वे बैठे तय बाननवगार मन्वान् का वान करला है—मान समुद्रों, मात हीयों तय एत एतन वरुण से कुछ पृथिवी को और एत वरकट वने मन्वान् स्वर्ग को भी बरुणों से आक्रमण का लने के लान जब मगवान् विक्रम ने ईश्वराम्य पूर्वक एतय बलि की ओर निष्कन नजर से देखा, तब एत मन्वान ने वरुण कुञ्ज की रक्षाके कारण ऐनन्दित होकर एता श्रुत में नगानन ईश्वर मन्वक मन्वने रस दिया । मन्वान् यह है कि मन्वान् राधा बैठे को छलने में लिये बीने का रूप था कर हमने शार ए लये और लीन एत पृथिवी हमने लीगे, तदार मन्वानि बैठे ने हम व्यापारण बानना का मर्हा मन्वान का लिये बरुण मगवान् ने एक वन में ममम नूलाक और दूसर वन में मन्वान् मन्वाने का मग लिया, तिर एतयत वन मन्वाने के लिये तुम्हार लान करत मरी है, अब मन्वान प्रणिश को पूर्ण कैसे लोगे ? एत मन्वाने को इच्छाने के लिये बलि की कर देख कर मन्वान् कने एतय, तब बलि वरुण मन्वान् धमकेपर ममय एनके दरोन से आनन्दमन्वर हो एतय और लीला एत बरुने ने लिये मन्वान मन्वान् एनके लगे रस दिया, एत व्यापार से हमने यह मन्वान को कि नए मन्वक एो मन्वाने अभी तक मगाने लयी, मन्वाने अभी कर मन्वान, है, मन्वान मन्वाने मन्वाने को पूर्ण करे ।

एत एतक में की बरुणि मगवान् बाननरुप वाच्यन तन्वृत्त ईश्वर दशनरुप एतान रोमाञ्च कद्वे अनुभव और हर्ष कद्वे सदरो मन्वी के मन्वान से बैठे का एतयह अन्त होना है तदपि यह गीत है ।

निदर्शनदर्शनेनोत्साहस्याङ्गत्वमिह समर्पयति—

प्रागन्यगतस्यैव प्रकृते राजगतस्याऽपि तस्य राजस्तुत्युत्कर्षकत्वात् ।

सारबोधिन्या काव्यप्रकाशविभृती श्रीवत्सलाञ्छनमट्टाचार्योऽस्ति खित दानवी-
रोदाहरण खण्डयति—

एतेन 'त्याग सप्तसमुद्रमुद्रितमही-निर्व्याजदानावधिः' इति श्रीवत्स-
लाञ्छनोक्तमुदाहरण परास्तम्, तस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन रसध्वनिप्रसङ्गे-
नुदाहरणीयत्वात् ।

हेतौ पञ्चमी ।

प्राग् 'पश्ये'त्यादिश्लोकेऽन्यगतस्य कामगवीधृतेरत्साह (स्थायिकवीररस)स्य
यथा वर्णनीयरजस्तुतेरत्कर्षकत्वम्, तथा प्रकृते 'साव्धी'त्यादिश्लोके राजा बलिस्त्रि-
ष्टस्यापि तस्योत्साह(स्थायिकवीर)स्य स्वकीयस्तुनेरत्कर्षकत्वम् । तस्मादङ्गप्रधानयो
पूर्वम भिन्नसम्बन्धित्वम्, प्रकृते त्वेकसम्बन्धित्वमिति विशेषेऽपि, परोत्कर्षकत्वेना-
विशेषाद्बुभयोरप्युत्साह(स्थायिकवीर) योरङ्गत्वमेव ननु प्राधान्यमिति भाव ।

'उत्पत्तिजर्मदग्निर्त, स भगवान् देव पिनाकी गुरवीर्यं यत्, न तद् गिरा पथि,
ननु व्यक्त हि तन् कर्मणि । त्याग सप्तसमुद्रमुद्रितमही-निर्व्याजदानावधि, सत्य-
ङ्गहृतपोनिधेमंगवत किं किं न लोकोत्तरम् ॥' इत्ययं सम्पूर्णं श्लोक । एतेन—परशु-
रामनिष्ठोत्साहस्यायिकवीररसस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि, क्विनिष्ठनद्विपयकरती गुणीभूतत्वेन ।
तस्य—उत्साहस्यायिकवीररसस्य अङ्गत्वाद् गुणीभूतत्वम् ।

श्रीवत्सलाञ्छनमट्टाचार्येण इत्यादिपद्यस्य दानवीररसध्वन्युदाहरणत्व यदुक्तम्,
तदमनञ्जयम्, 'साव्धी'—त्यादाविवाश्राप्नुत्साहस्यायिकवीररस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि पराङ्ग-
तया गुणीभावादित्यनिसन्धिः ।

उत्साह को गीण होने का कारण बताना है—'प्रागन्य' इत्यादि । पूर्व (पश्येराम इत्यादि)
पथ में अन्य (कामधेनु) का उल्साह जिन तरह राजा को स्तुति को उत्कृष्ट बनाने बट्टा का, उपा
तद्वर यहाँ राजा (बट्टि) का उल्साह भी राजा बट्टि को स्तुति को उत्कृष्ट बनाना है । अतः इन दोनों
पथों में स्तुति प्रधान और उल्साह गीण है ।

इन्में 'सारबोधिनी' नामक 'शान्दकाश' की टीका में 'श्रीरत्नलज्जम मट्टाचार्य' के द्वारा
दिया गया 'दानदार रमधनि' का उदाहरण भा व्यभिचन हो गया, ऐसा मनसला चाहिए । उन्होंने—

'उत्पत्तिजर्मदग्निर्त न लोकोत्तरम् ॥'

इस श्लोक को वीररस ध्वनि का उदाहरण कहा है । यह श्लोक 'महावीरपरित' नाटक के द्वितीय
अङ्क में आया है, धनुर्धर से क्रुद्ध परशुराम को रामचन्द्रजी कह रहे हैं—'भागवन्' आपका क्या-क्या
लोकोत्तर नहीं है अर्थात् आपकी सभी कृतियों अलौकिक ही हुई हैं, आपका जन्म अतन्त्रितिक
बनदग्नि मुनि से हुआ है, धनुर्धारी मायाए शिवजी आपके गुरु हैं—उन्हीं से अपने धनुर्विद्या प्राप्त
की है, आपका पराक्रम आपके कर्मों में ही प्रकट होता है—बचनों से वह प्रकट नहीं किया जा
सक, त्याग भी आपका निराला ही है, मान समुद्रों में परिनेष्टिन अर्थात् समुद्रों पृथिवी का अकार
मन् से दान कर देना मायाए बान नहीं है । आप शक्तिबोधिन तथा ब्राह्मणेचिन दोनों तरह की
उत्साह के निधान हैं । परन्तु यह पथ 'रसधनि' का उदाहरण नहीं ही सछटा, क्योंकि यहाँ का

तुल्यन्यायेनाक्षिपति—

ननु 'अकरणमवकृत्य' इत्यादिपि प्रतीयमानस्य दानवीरस्य कर्णस्तुत्यङ्गत्वात् कथं ध्वनित्वमिति चेत् ।

उत्तरयति—

सत्यम्, अत्र कवे कर्णवचनानुवादभात्रतात्पर्यं कत्वेन कर्णस्तुतो तात्पर्यं-विरहात् ।

ननु कवेरिह कर्णस्तुतो तात्पर्याभावेऽपि, कर्णस्यैव वेदात्मस्तुतो तात्पर्यम्, तर्हि न कथं स्तुते प्राधान्यमित्याशङ्क्या निरस्यति—

कर्णस्य च महाशयत्वनात्मस्तुतो तात्पर्यानुपपत्तेः स्तुतिरवाक्यार्थ एव ।

ननु 'किपदिदम्' इत्यादिपद्ये प्रतीयमाना स्तुतिरपनपितुमशक्या, तात्पर्यविषयत्व-विरहाद् यदि न शब्दधीविषय, तर्हि का गतिरित्यत आह—

परन्तु वीररसप्रत्ययानन्तर तादृशोन्साहेन लिङ्गेन स्वाधिकरणे साङ्गु-मीमते राजवर्णनपद्ये तु राजस्तुतो तात्पर्याद्वाक्यार्थतेव तस्याः ।

पूर्वोक्ते 'किपदिदम्' इत्यादिपद्ये व्युत्पन्नस्य दानवीररसस्याप्येव कर्णस्तुतेरङ्गत्वेन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वात् कथं रसध्वनित्वम्, तुल्यन्यायादित्याक्षेप्युराशय ।

नात्र तुल्यन्यायावधार, उभयोस्तीन्याभावात्, तथाहि—'अकरणमवकृत्य' इत्यादिपद्ये कवेर्दानवीर-कर्ण-वचनानुवादभात्रे तात्पर्यम्, न तु कर्मस्य स्तुतो, तेन कर्ण-स्तुतेस्तात्पर्यविषयत्वाभावात्प्रतिहित्वम्, न वा वीररसस्य तदङ्गत्वम् । 'साङ्ख्यद्वीपे'त्यादौ तु स्तुतेरेव अपतुगात्पर्यविषयत्वात् प्राधान्यमित्युभयोर्दोषम्यमित्याशय ।

चत्सपर्यं महाशय उदात्तमना । तात्पर्यस्यानुपपत्तिरसङ्गति । अवाक्यार्थस्ता-त्पर्यविषयत्वाभावाद् वाक्यार्थबोधोपागम्य ।

न हि महाशया आत्मव्यक्तिनो भवन्तीति महाशयस्य कर्णस्यात्मस्तुतो तात्पर्य-सम्भवादन स्तुते सत्त्वेऽपि तात्पर्यविषयत्वाभावात् प्राधान्यसम्भावनेति वीररसस्य गुणीभावाभावाद् रसध्वनेरेवेदमुदाहरणमित्याकृतम् ।

'उत्साह' इत्यस्य भावः कात्र 'दानवीरस्य' व्यङ्ग्य इति कविनिष्ठ परचुराम निषेक रतिभाव का अङ्ग हो गया है, जग बह स्त्रोक 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' का अर्थ भावजन का उदाहरण हो सकता है ।

यहाँ वह शब्द जो आ सकता है कि 'अकरणमवकृत्य' इत्यादि पद्य में भी जिस 'दानवीर रस' को प्रतीति होती है वह भी कर्ण की स्तुति का बोधक है जग अङ्ग है—गौण है—प्रधान नहीं, फिर वह पद्य भी 'दानवीर रस' की उदाहरण नहीं हो सकता ?

उक्त शब्दा ठीक हैं, परन्तु जरा गम्भीरतापूर्वक विचार कर देखिए, यहाँ कवि का तात्पर्य केवल कर्ण के वचनो का अनुवाद करने में है, न कि कर्ण की स्तुति करने में ।

यदि आप नहीं कि प्रथम-श्लोक होने से उक्त स्त्रोक स्तुतिभाव को अर्थ है, तब यही बात यह कि कवि उन वाक्य का अनुवादक मात्र है, जग उभया स्तुति में तात्पर्य नहीं माना जा सकता, ठीक है, परन्तु शून्य कर्ण का तात्पर्य अपनी स्तुति में कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि कर्ण महाशय पुरुष है और अपने मुख से अपनी स्तुति कोई श्रुताश्रय ही कर सकता है । पठत स्तुति श्म शक्य का तात्पर्य विषयीभूत अर्थ नहीं है ।

अथ दयावीररसध्वनिमुदाहरति—

द्वितीयो यथा ।

राजा सिनि शरणापन्न कपोतस्य धर्मं वक्ति—

‘न कपोत ? भवन्तमण्वपि, स्पृशतु श्येनममुद्भव भयम् ।

इदमद्य मया तृणीकृत, भवदायु—कुशल कलेवरम् ॥’

कपोतापेक्षया श्येन प्रत्युक्त्या भ्रयो भयनिवृत्ते सम्भवात् पाठान्तर कल्पयति—

अथर्वं विन्यास—

लिङ्गेन हेतुना । स्वाधिकरणे श्रोतुरात्मनि । सा स्तुति ।

दानवीररसप्रधानक शाब्दात्मकवाक्यार्थबोधे पर्यवसन्ने, व्यस्तया प्रतीतेन कर्ण-
स्योत्साहेन हेतुना, श्रोत्रात्मनि ‘वर्णं’ स्तुत्यो (विभावाद्यभिप्रेक्त) दानविषयको-
त्साहवत्त्वान्’ इत्याकाराज्जुमितिर्जायत इति प्रतीयमाना स्तुतिज्ञानुमितेर्गोचरो
नतु शाब्दबोधस्येत्याशय ।

हे कपोत पारावत ! श्येनात् पक्षिघातकविहङ्गात् समुद्भव उत्पत्तियंभ्य, तादृश
मय, भवन्मम, अण्वपि मनागपि, न स्पृशतु (डागपि श्येनात्मा र्गवी) यत इह
पुरोवति, भवदायु—कुशल रक्षकत्वाद् भवदायुष क्षेमकर, कलेवर (स्वभ्य) शरी-
रम्, अथ मया दीनदयाव्रतिना सिनिना, तृणीकृत भयद्रक्षणाय श्येनात् नक्षपितु
समर्पमाणत्वात् तृणवत्तुच्छ मतमिष्ययं ।

इह शिवेदंवालुतापरीक्षायं श्येनरूपेणैन्द्रेणाभ्यमाणो भीत कपोतरूपो धर्मं
प्राणपरित्याग्य सिनिं शरणमगात् । स च दयाद्रंभेता स्वशरीरममपणेन श्येनान्
कपोतमरक्षीदिति पौराणिकमितिवृत्तम् ।

अथ दयाविषयकशिशुविभ्रुतिगत्साह स्वामी, कपोत मालम्बनम्, तदीयव्याकुल-
त्वमुदीपनम्, शरीरार्पणमनुभाव, धृत्यादयश्च ध्वमिच्चारिणं सम्भूय दयावीररस-
मास्वादपदवी नयन्ति ।

विन्यास पदानामिति शेष ।

इतनी बात अवश्य है कि ‘दानवीर रम्’ को प्रतीति ही अपने के बाद हम उल्लाहस्य हेतु है
सहृदयों के हृदय में वह (वर्णं को स्तुति) अनुमति होती है । इस तरह से यहाँ जो स्तुति की
प्रतीति होती है, वह अनुमितिरूप है—शाब्दबोधरूप नहीं । परन्तु यहाँ राजा का बर्णन किया गया
है, यहाँ तो राजा की स्तुति में ही श्लोकान्त्य वा तात्पर्य रहना है अन्त यहाँ स्तुति को प्रधानता
माननी पत्नी है ।

हे पारावत ! (कबूतर !) बाज से उत्पन्न होने वाला अन्त शोच भी तेरा स्पर्श न करे, (वह मैं
चाहता हूँ) अर्थात् तू बाज से मन डर । (क्योंकि) अब मैंने तेरे प्राणों की रक्षा करने में समर्थ
हम अपने शरीर को दान बना दिया है । तात्पर्य यह है कि हे कपोत ! तेरे शरीर के बदले मैं अपना
शरीर बाज को दे रहा हूँ, जिसके मक्षण से पक्ष होकर बाज तेरे ऊपर आयात नहीं करेगा, फिर इसे
भयभीत होने को आवश्यकता नहीं है ।

अथवा हम पक्ष के स्थान पर इस तरह की एवन्त समझिये—

शिवि श्येन वृते—

‘न कपोतकपोतक तव, स्पृशतु श्येन । मनागपि स्पृहा ।
इदमद्य मया समर्पित, भवते चास्तर कलेवरम् ॥’

प्रकरणमालम्बनादि च प्रकाशयति—

एषा शिवे कपोत श्येन प्रति चोक्ति । अत्र कपोत आलम्बनम्, तद्गत
ध्याकुलीभवनमुद्दीपनम्, तस्य कृते स्वकलेवरार्पणमनुभावः ।

इहोदाहरणे दानवीरध्वनित्वमाशङ्क्य निराकरोति—

न चात्र शरीरदानप्रत्ययाद् दानवीरध्वनित्वापत्तिरिति वाच्यम्, श्येनक-
पोतयोभयभक्षकत्वावापत्त्वेन शिविशरीरस्यापिनोऽभावात् तदप्रतिपत्तेः ।

हे श्येन ! तव स्पृहा जिपत्सा मनागपि, कपोतक-पोतक परावतस्नातुनम्बनी-
पशावक न स्पृशतु । यत्र इदं चास्तर कपोतशरीरापेक्षयाऽधिकमामलत्वादतिमनोरम
कलेवरम् अद्य मया भवते समर्पितमित्यर्थः ।

पाठभेदेन बोधनीयव्यक्तिभेदः । तद्गत कपोतनिष्ठम् । तस्य वृते कपोतस्य जीवन
रक्षार्थं । वृत्यादित्येभिर्वादिमात्रं बोध्यः ।

प्रत्यया ज्ञानम् । श्येनो भक्षक कपोतत्र मह्यः । श्येन कपोतशरीरस्यार्थी, नतु
शिविशरीरस्येत्पिभोऽप्यात्र शिविशरीरस्य । तदप्रतिपत्तं शरीरदानाप्रतीतेः ।

अत्र पद्ये कपोतरक्षार्थं शिविवर्तुव-श्येनोद्देशक-शरीरदान प्रतीयत इति पूर्ववद्
दानवीरध्वनेरपीदमुदाहरणमिति पूर्वपक्षः ।

श्येनो हि भद्रस्य कपोतशरीरस्यार्थी, नत्वमस्यस्य शिविशरीरस्य, तस्मादा-
चरस्याभावेऽत्र दानप्रतीतरमम्भवात् दानवीरध्वनिरित्युत्तरपक्षभावसेयः ।

हे श्येन ! (वाच ') नदी गदा (यारने को हण्ड) दानीय इन कनूर के बच्चे का धोना
भी स्पृशं न करे (देखी मेरी अम्बलापा है) ; मैंने आज गये श्येने इन सुन्दरतम शरीर को और
किया अथात् नू मा शरीर को गच्छा आना हुआ-जाटा को ज्ञान कर और कनूर के इन बच्चे
को मग मार । प्रथम पद्य में कनूर के बच्चे को निर्भव रहने का आश्रयान दिया गया है और
द्वितीय पद्य में राज को, कपोत-प्रेतक का इनन नहीं बरने का सम्मति दी गई है जो उक्त आश्रयान
की अग्रगण्य अधिक महत्त्व है । यह पद्य अत्यन्त ने प्रथम पद्य को द्वाितीय पद्य में बदलना आश्रयक
ममता । इस श्लोकार्थ का आशय एक शैलिक कथा है—राजा शिवि की दयालुता को स्थापित करने
की चुकी थी, इन्द्र ने उनका दयालुता को परीक्षा करना चाही, उन इन्द्र स्वयं राज बन गये और
भरने को कपोत बनाया । फिर उस राज में अद्भुत हावरा उस कपोत ने राजा शिवि की शरण ली
और शिवि ने अपना शरीर देकर राज में कपोत की रक्षा की ।

यह राजा शिवि को प्रथम श्लोक में कनूर के बच्चे के प्रति और शिवि श्लोक में राज के प्रति
वक्ति है । वहाँ कनूर का बच्चा अत्यन्त है, उसकी व्याकुलता करीबन है और उसकी रक्षा के लिए
अने शरीर का समर्पण अनुभव है । इसी तरह धर्म आदि मन्त्रादी हैं, यह भी ममता कता चाक्षिप ।
मार्गः यह है कि इन मम आर्षी के मध्ये से “दया-वीरगम धनि” के व्यवहार का कारण होता है ।

यहाँ शरीर-दान की प्रतीति होनी है अतः यह पद्य “दानवीर ध्वनि” का ही उदाहरण है देखी
रक्षा नहीं करनी चाहिये क्योंकि राज का साथ कनूर है, अतः यह कनूर का साथ ही उदाहरण

ननु शिविकृत शरीरापेणमेव दानमिति कुतो न दानप्रतिपत्तिरित्याशङ्क्याम-
मिदघाति—

श्येनशरीरनिवेदनस्य कपातशरीरप्राणोपाधिकतया विनिमयपदवाच्य-
त्वात् ।

युद्धवीररमध्वनिमुदाहरति—

तृतीयो यथा—

समराङ्गणे सन्नद्ध रावण श्रीरामो ब्रवीति—

‘रणे दीनान् देवान् दशवदन ! विद्राघ्य, बहति,
प्रभावप्रागल्भ्य त्वयि तु मम कोऽय परिकर ।

ललाटोद्यज्ज्वाला—कषलितजगज्ज्वालविभवो

भवो मे कोदण्डच्युतविशिखवेग कलयतु ॥’

उपाधि प्रयोजनरूप निमित्तम् ।

यत शिवि कपोतशरीररक्षार्यं तत्परिवर्तं स्वशरीरमापिषन् । ततो (द्रव्यस्य)
विनिमयो न तु दान प्रतीयते, निरुपाधिकस्थल एव दानस्य प्रत्ययादित्याशय ।

रे दशवदन रावण ! दीनान् निरतिशयपराक्रमहीनतया दुर्गतान्, देवानिन्द्रादीन्,
रण समरे, विद्राघ्य बान्दिशीकान् विधाप्य, प्रभावप्रागल्भ्य प्रभुत्वप्रीडिमनुभावधृष्टता
या, बहति धारयति (स्वल्पबलामरविजयाद् वीरमानिनि) त्वयि विषये, तु पुन,
मम त्रिभुवनैकवीरस्य, परिकर समराय सत्राह समारम्भो वा कोऽय कीदृश ? ।
(किन्तु) ललाटाद् आलाद् उद्यन्त्या, ज्वालया तृतीयनयनानलशिखया, कवलितो
मक्षित (मस्मीकृत) जगज्ज्वालस्य ब्रह्माण्डमण्डलस्य, विभवो विभूतिर्धन, तादृश
(तृतीयनेत्रोन्मीलनमःप्रमस्मीकृतत्रिभुवनम्बत्साहाय्याद्युपस्थित) गव स्वय
भगवान् पिनाकी, मे रामस्य, कोदण्डाद् धनुष , च्युतस्य निर्वृतस्य बाणम्य वेग रह,
कलयतु, धारयतु जानातु वेत्यर्थं ।

क्षुद्धवीर्यामरविजयमात्रण प्रभुत्वयवाध्मातेन त्वया सह त्रिभुवनैकवीरस्य मे युद्ध
नोचितम्, केवलमेकनेत्रोन्मीलनमस्मीकृताशेषभुवनेन भवेन्नैव मे युद्धमुचितमिति
भाव ।

है, राम के शरीर का नहीं, और जिस चाम का वाचक कहा नहीं हो, वहा उत चीज का दान कैसे
हो सक्ता है अर्थात् यहाँ दान की प्रमाति होता हा नहीं है ।

ददि आप कहें—शिवि ने द्वाश शरीर का अपेण दान कहा तो क्या है ? इसी का उत्तर देन
है—‘श्येनशरीर’ इत्यादि । तात्पर्य यह है कि यहाँ कपोत-शरीर को रक्षा के लिये शिवि ने अपना
शरीर दिया है, फिर वह दान कैसे कहलया ? क्योंकि किसी चीज के बदल में वो दूसरी चीज दी
जाती है वह विनिमय (लन-देन) कहलया है—दान नहीं ।

तृतीय ‘युद्धवीर’ जैसे—

है दशमुख रावण ! पराक्रमहीन-हीन देवताओं को युद्ध में खदेचकर महा-सामर्थ्यशाली बनने
वाणे तेरे विषय में तो मेरी (त्रिभुवनैकवार की) तैवारी क्या हो सकता है, हाँ, जिनके ललट से
निकटनी हुई आलस्ये सगम सृष्टि के वैभव को प्राप्त कर लेती है, वे देवाधिदेव महादेव मेरे धनुष

प्राग्बत् प्रसङ्गादि दशोयति—

एषा दशवदन प्रति भगवतो रामस्योक्तिः । इह भव आलम्बनम्, रणदश-
नमुद्दीपनम्, दशवदनावज्ञानुभवः, गर्वः सञ्चारी । वृत्तिरत्र देवाना प्रस्तावे
तद्गतकातर्यप्रकाशनद्वारा वीररसानालम्बनत्वावगतयोऽनुद्धर्तव्यं, दशवदन-
प्रस्तावे तु देवदर्पदमनवीरत्वप्रतिपादनायोद्धताऽपि, तस्यावज्ञया रामगतोत्सा-
हानालम्बनत्वेन, तदालम्बनस्य रसस्थाप्रत्ययात् प्रकल्पवतो भगवतो भवस्य तु
परमोत्तमालम्बनविभावत्वात् तत्प्रस्तावे तदालम्बनस्योजस्विनो वीररसस्य
निष्पत्तेः प्रकृष्टोद्धता ।

धर्मवीररसध्वनिमुवाहसति—

चतुर्यो यथा—

गर्वो रामस्य वीरोक्तिव्यङ्ग्यः । तद्गतस्य देवनिष्ठस्य । कातर्यस्य भीरुत्वात् ।
अनुद्धता कोमला बुनिदंशवदनेति यावत् । उद्धता परया प्रागम्यमिति यावत् ।
तदालम्बनस्य रावणालम्बनस्य । प्रवर्षवती नाषिकोद्धता । उत्तरार्धे तु शिवस्य
प्रस्ताव उपादानम् । ओजस्विन जोजोगुणाथयस्य । निष्पत्तिरस्वाद । प्रकृष्टोद्धताऽ-
तिपरया ।

इदमुच्यते— पद्येऽस्मिन् प्रतीयमानस्य वीररसस्थावज्ञापान्तया रावणो नालम्ब-
नम् । तेन रावणालम्बनकवीररसस्य न प्रतीतिः । अत एव द्वितीयचरणे रावणस्या-
मरविद्वावणसामर्थ्यसूचनाय यद्यप्युद्धता, किन्तु न प्रकृष्टोद्धता वृत्तिः । विध्विदित-
पराक्रमो भगवान् भवस्तु सर्वथाऽलम्बनत्वयोग्य इति तदालम्बनकवीररसप्रतीतिः ।
उत्साहादुत्तरार्धे तदनुकूलैव प्रकृष्टोद्धता वृत्तिः । सर्वत्र रसानुमारिणो वृत्तिव्यवस्था
बोध्या ।

से निकलें हुए बाणों के वेग को सन्हाठ । अधिप्राय यह है कि मैं तुझे जो अपने सामने कोई बोज ही
नहीं समझता, परन्तु यदि समझ लंमार के महारथ महाकाठ हर भी युद्ध में तेरे सामने आये तो
वे भी मेरे बाणों के वेग को देखकर विभिन्न हुए दिना नहीं रहेंगे ।

यह रावण के प्रति भगवान् रामचन्द्र को उक्ति है । यहाँ शिव अलम्बन है, बुद्ध-दर्शन स्वीकृत
है, रावण का विश्वास अनुभाव है और उक्त वीरतापूर्ण उक्ति से व्यर्थ होने वाला राम का गर्व
सशरीरभाव है । वृत्ति (रचनाविशेष) देवताओं के प्रस्ताव में उद्धत (गाठ) नहीं है । अर्थात् कोमल
है, शिवने उगकी (देवताओं को) कातरता प्रकट होता है और कातरता को अभिव्यक्ति से यह शिष्ट
होता है कि भगवान् रामचन्द्र उनके कारण का अलम्बन नहीं समझत । हाँ, रावण के प्रस्ताव में
देवताओं के दर्प को दमन करने वाली उनकी वारता का प्रतिपादन करने के लिए रचना उद्धत
बदल है, परन्तु उक्त वीरत्व में प्रदर्शन नहीं है क्योंकि राम ने उगका विश्वास निरा है, उसके
अर्थात् बाणों को नहीं समझा है अथवा वह उनके उगका का अलम्बन होने योग्य नहीं है, फिर
उसको अलम्बन मानकर उस को प्रतीति नहीं हो सकता । परन्तु भगवान् शूर अत्युत्तम अलम्बन
विभाव है और उनके अलम्बन मान कर ही ओजोगुणयुक्त वीररस की सिद्धि होती है, अतः उनके
प्रस्ताव में रचना पूर्ण उद्धत है ।

चतुर्धर्मवीर उक्ते—

अधर्मेणापि शत्रुविजय विवेहीति वदन् युधिष्ठिरो व्याहरति—

'सपदि विलयमेतु राज्यलक्ष्मीरुपरि पतन्त्वथवा कृपाणघारा ।

अपहरतुतरा शिर कृतान्तो मम तु मतिर्न मनागपेति धर्मात् ॥'

अत्र प्रसङ्गादि प्रतिपादयति—

एपाधर्मेणापि रिपुजैतव्य इति वदन्त प्रति युधिष्ठिरस्मोक्त । अत्र धर्म विषय आलम्बनम्, 'न जानु कामाद्य भयात्त लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतो ।' इत्यादिवाक्यालोचनमुद्दीपनम्, शिरश्छेदाद्यञ्जीवारोऽनुभाव घृति सञ्चारिणी ।

वीररसस्य प्रकारवतुप्यवत्परस्यैव सूचयन्नुपसहरति—

इत्थ वीररसस्य चातुर्विध्य प्रपञ्चिन प्राचामनुराघात् ।

तमेव स्वविचार प्रकाशयति—

वस्तुतस्तु—बहवो वीररसस्य शृङ्गारस्येव प्रकारा निरूपयितुं शक्यन्ते ।

तथाहि—प्राचीन एव 'सपदि विलयमेतु' इत्यादिपद्ये 'मम तु मतिर्न मनागपति सत्यात्' इति चरमपादव्यत्यासेन पद्यान्तरता प्रापिते सत्यवीरस्यापि सम्भवात् ।

राज्यलक्ष्मी (मम), सपदि शीघ्र, विलय नाशम्, एतु प्राप्तोतु । अथवा (मम) उपरि, कृपाणस्य खड्गस्य, घारा पतन्तु । (अथवा) कृतान्तोऽन्तक (मम) धिर, अपहरतुतरा नितरा छिनत्तु । तु पुन (तथापि) मम धर्मकनिष्ठस्य युधिष्ठिरस्य, मतिर्बुद्धि धमान्, मनागीपदापि, न अपति नापसरतीत्यर्थं ।

धर्मस्य विषय सम्बन्धनुष्ठानम्, धम एव वाञ्छुष्ठानोद्देश्यतया विषय । 'धर्मो नित्य सुखदुःखे स्वनित्ये, जीवा नित्यो हेतुरस्य त्वनित्य ॥' इति भारतीयपद्यस्यावशिष्टात् । आलोचन समीक्षा ।

प्राचा मम्मटादीनामनुरोधात्, न तु स्वविचारात् ।

प्राचीने धर्मवीरोदाहरणतया प्रागुपात्ते । तथाहीत्यादिना प्रकारवाहृत्यप्रतिपादनम् ।

एव यदि निश्चिङ्गलक्ष्ममात्रेण प्रकारभेद स्यात्, तर्हि शृङ्गाररसवत् वीररसस्यापि भूयात् प्रकारा भवेत् । तस्मान्नद प्रकारभेदकल्पन युक्तमिति स्वरम ।

यदि राज्य लक्ष्मी सुरत्त गट ही नाथ अस्मा सङ्गो की धारायै भरे ऊपर गिरे, किना स्वयं वन मेरे शिर को काट ले, पर मेरी बुद्धि तो धर्म से अनुमात्र ही विचलित नहीं होना ।

यदि 'अधर्म से भी शत्रु को जानना चाहिये' ऐसा करने वाच के प्रति युधिष्ठिर को शक्ति है । यदा धार्मिक विषय आलम्बन है, 'काम भय अथवा लोभ ने लिये, किं बहुना प्राण के लिये भा धर्म का कर्मो नहीं छोड़ना चाहिये' इत्यादि वचनों का विचार करना उदीपन है, मन्मक वचन अदि का लीकार करना अनुभाव है और धैर्य सञ्चारीभाव है ।

इस तरह मन्मद अदि प्राचीन आचार्यों के अनुरोध से बार रस के चार भेद दिखलाये गये हैं ।

वस्तुतः शृंगार की तरह वीर-रस के भी बहुत ही भेद दिखलाये जा सकते हैं । देखिये,— यदि पूर्णक 'सपदि विलयमेतु' - 'इत्यादि पद्य को 'मम तु मतिर्न मनागपेति सत्यात्' अर्थात् 'मेरी बुद्धि तो धोषा भी सत्य से विचलित नहीं होती' इस तरह चतुर्थ चरण को बदल कर पद्यान्तर के रूप में परिवर्तित कर दिया, तब 'सत्य-वीर' भी एक भेद हो सकता है ।

प्राचीनपहापाती शब्दुते—

न च सत्यस्यापि धमन्तिगंतया धमवीररस एव तद्वीरस्याप्यन्तर्भाव इति वाच्यम् ।

समावधाति—

दानदययोरपि तदन्तर्गततया तद्वीरयोरपि धर्मवीरात् पृथग्गणनानौचित्याद् ।

सत्यवीररूपनवीनप्रकाराम्युपपद्येऽपि न निस्तार इत्याचष्टे—

एव पाण्डित्यवीरोऽपि प्रतीयते ।

उदाहरति—

यथा—

हयग्रीवोपासनासम्पत्तिरिद्धि कश्चन पण्डित सदसि ब्रूते—

'आपि वक्ति गिरा पति' स्वयं, यदि तासांअधिदेवताऽपि वा ।

अयमस्मि पुरो ह्यानन—स्मरणोल्लङ्घितवाङ्मयाम्बुधिः ॥'

सत्यमपि धर्म एवेति धर्मवीरेणैव सत्यवीरस्यापि गत्वार्थतया नाधिकप्रकार-
कल्पनासम्भव इत्यभिप्रायः ।

प्रथमस्तच्छब्दो धर्मस्य, द्वितीयस्तु दानदययो परामशकः ।

यथा सत्य धर्म एव, तथैव दान यथा चेति दुत्यन्यायात् सत्यवीरवद् दानवीर-
दया-वीरयोरप्युपादानं पृथग् न सङ्गच्छते । तस्मात् प्राचा प्रचारपरिगणना नौचि-
तेत्याशयः ।

यदि स्वयं गिरा पनिर्बृहस्पतिरपि (या कथा मानवपण्डितानाम्) वक्ति
शास्त्रार्थविचारे प्रबुधमुपक्षिपति, यदि वा तासां अधिदेवता वाग्देवी (स्वयं)
सरस्वत्यापि वक्ति, (तर्हि) ह्याननस्य ब्रह्मवतो हयग्रीवस्य, स्मरणेन उल्लङ्घित
उत्तीर्णो वाङ्मय शब्दब्रह्मवापारत्वादम्बुधिर्न, तादृशो हयग्रीवकथानासादितसबल-
धारणतत्त्वागमः, अयं गम्भुयस्थोऽहम् पुरस्तदुत्तरदानायाप्रेऽस्मि नवानौत्सर्प्यः ।

हयग्रीवोपासनासम्पत्तिरिद्धिरहं नासाद्बृहस्पतिना सरस्वत्या या शास्त्रा-
र्थविचारे न मनामपि विभेभिः विमुक्तान्यै महेति सारम् ।

यदि आप कहें कि सत्य भी धर्म के अन्दर आ ही जाता है, वल 'सत्य-वीर' का भी अन्तर्भाव
'धर्म-वीर-रस' में हो जायगा फिर अतिरिक्त भेद मानने की क्या आवश्यकता ?

तब मैं बहूना कि दान और दया भी जो धर्म के अन्तर्गत ही है, फिर 'दानवीर' और 'दया-
वीर' को भी एक भेद के रूप में गिनना व्यर्थ है ।

इसी तरह 'पाण्डित्य-वीर' का भी प्रतीति सेवी है ।

जैसे—हयग्रीव की उपासना से अद्वितीय विद्वान् प्राप्त करने वाला कोई पण्डित मना में बैठ
कर बह रहा है—'अपि वक्ति'इत्यादि । यदि स्वयं बृहस्पति अथवा साक्षात् वागपिशाची देवी
बोले तथापि हयग्रीव के स्मरण से ममत्त वाङ्मय-की कार करने वाला वह मैं मामने उपस्थित हूँ
अर्थात् अब मैं बृहस्पति तथा परस्वतीं स भी बाद में करने वाला नहीं हूँ तब इस मना में उपासना
आप जैसे साध्य (ए शि-नो को बात ही क्या ? निमग्न मन करे, गावर मुझसे शास्त्रार्थ-विचार कर
सकना है ।

स्वोक्त समर्थयितुमात्मन्वनाद्याह—

अत्र बृहस्पत्याद्यालम्बनं समादिदर्शनोद्दीपितो निखिलविद्वत्तिरस्कारानु
भाविता गवणं सञ्चारिणा पोषित उत्साहो वक्तुं प्रतीयते ।

पाण्डित्यवीर युद्धवीरे प्रागुक्तेऽन्तर्भाव्याक्षेपपरिहारमाद्यद्वयम्—

ननु चात्र युद्धवीरत्वम्, युद्धत्वस्य वादसाधारणस्य वाच्यत्वादिति चेत् ।

समादघाति—

क्षमावीरे किं ब्रूयाः ?

क्षमावीरमुदाहरति—

यथा—

क्षमावान् व्याहरति—

‘अपि बहलबहनजाल, मूर्च्छि रिपुर्मे निरन्तर धमतु ।

पातयतु वासिधारामहमणुमार्षं न किञ्चिदानाप ॥’

स्यापि उत्साहस्य बृहस्पति सरस्वती चालम्बनम्, तथा तद्वदकपण्डितमण्डनी
वेष्टा चोद्दीपनम्, समास्थमकलविद्वत्तिरस्कारोऽनुभाव, पाण्डित्यविषयको गवण
व्यभिचारीनि वक्तृगतस्य पाण्डित्यवीररसस्य प्रतीतिर्भवतीति शेषः ।

शास्त्रयुद्ध-शास्त्रयुद्धयोर्विजिगीषैकमूलतत्त्वे युद्धत्वस्योभयत्रापि मन्वेनाभेदान
पाण्डित्यवीरो युद्धवीर एवान्तर्भवति, नत्वनिरिक्त इति शङ्कापक्षायः ।

पाण्डित्यवीरस्य युद्धवीरेऽन्तर्भाव्येऽपि क्षमावीररूपं प्रकारो नृननोऽपसपितुमशानय
एवेति प्राचा प्रकारपरिगणनमसङ्गतमेवेति भावः ।

रिपुं शत्रुं मम मूर्च्छि गिरति, बहल भूमिष्ठम्, बहनजालमग्निपुञ्जम्, अपि निर-
न्तर सन्तत धमतु ऋणुसयोगेन बध्मयतु, असिधारा इत्याजलता वा पातयतु,
(तथापि) मह तिगिञ्जु, अणुमार्षमीषदपि, न किञ्चिद् आभाषे निवारकत्वेन
वदामीत्यर्थः ।

यहाँ बृहस्पति और सरस्वता का आलम्बन है, समा आदि का दर्शन उद्दीपन है, मण्डनी विद्व
मण्डली का तिरस्कार करना आ-भाव है और गवणं सञ्चारिणम् है, इन भावों से यथा का पाण्डित्य-
विषयक उन्माद अभिव्यक्त होगा है, जो ‘पाण्डित्य-वीर-रस’ का स्थायीभाव होकर हम रस के
व्यवहार को प्रभाव देगा ।

यदि आप कहेंगे कि यह तो ‘युद्ध-वीर’ ही है क्योंकि वाद-विवाद में भी विजिगीषा रहती है,
अतः युद्ध से उभयक भी संग्रह हो गया है ।

तो मैं भी आप के कथनानुसार कथितवाद को युद्ध मान लेना हूँ किन्तु फिर भी तो आप
को इ-तिदि होती नहीं दोड़नी, क्योंकि ‘क्षमा-वीर’ के सम्बन्ध में आप क्या कहेंगे ? अर्थात् उभय
आलम्बन तो नहीं किया जा सकेगा ।

ब्रह्मे-शत्रु भजे ही में मन्त्रक पर अग्नि-पुञ्ज को फूंक फूंक कर बघाएँ (प्रकटित करें) मन्था
उल्लार के गिरावें, पर मुझे कुछ भी बौधना नहीं है ।

प्रसङ्गमाह—

क्षमाद्यत् उक्तिरियम् ।

क्षमावीरवद् बलवीररूपप्रकारस्यादि सम्भवत् परिगणनमप्युक्तमेवेत्याह—

बलवीरे वा किं समादध्या. ?

बलवीररसध्वनिमुदाहरति—

यथा—

वैनतेयो वासव इवीति—

'परिहरतु घरा कृष्णिवीर, सुखमयता कमठोऽपि ता विहाय ।

अहमिह पुरुहूत' पक्षकोणे, तिलिलमिद जगदण्डक बहामि ॥'

प्रसङ्गमिधौ—

पुरुहूत प्रत्येषा गतमत उक्तिः ।

अत्रोक्ताहस्य रिपुकृतापकार जालम्बनम्, तदस्यप्रदसाद्युद्दीपनम्, मौनमनुभावो ध्वनिश्च व्यभिचारिभाव ।

उक्तरीत्या बलवीरोऽपि प्रकार सम्भवतीति तदप्रश्ने किं समाधानं कुर्या । न हि तस्य प्रकारान्तरैः न भवि कथमपि कर्तुं शक्य इत्याशय ।

हे पुरुहूत महेंद्र । कृष्णिवीर सर्पश्रेष्ठ श्रेय, घरा गिरमि धृता वसुधा, परिहरतु परिरयजतु, कमठ कुर्मो जगवानपि ता वृक्षसा पृथ्वी विहाय विमृज्य सुख स्वाभ्यम, अयता प्राप्नोतु । अहं वैनतेय, इहान् पक्षस्य गत, कीण एकदेशे (न तु गमन्ते पक्षे) इदं प्रत्यक्षगोचरम्, मिश्रित सम्पूर्णं, (धारादिपटित) जगदण्डक ब्रह्माण्डमरुत, बहामि (हेसर्वैव) धारयामीत्यर्थं ।

इह शेष गिरसा, कमठ पृष्ठे, न च कथञ्चन पृथ्वी विनक्ति, अहं पुन पक्ष-कीर्णोनाम्बुखण्डब्रह्माण्डमण्डल हेतया बोद्धुमिति शेषकमठापेक्षयाऽऽत्मनो व्यतिरेक, प्रतीयते ।

अत्रापि शेषकमालम्बनस्य, तत्प्रशंसाकर्णनाद्युद्दीपनस्य, घराधारणोपमाद्यनुभावस्य, सर्वादिभ्यभिचारिणश्च प्राग्बद्धो विधेय । चरमचरणे 'जगदण्डकम्' इति व्याख्यातनुमत पाठ एवाङ्गीकृत । 'जगदवलमम्' इति पाठस्य व्यतिरेकपोषकत्वाद्-विनीऽपि ब्रह्माण्डमण्डलस्य सकपिषया महत्समत्वेन गौरवोत्कर्षबोधकत्वान् परिदयक्त ।

यह दिनों क्षमा-शील पुण्य भी उक्ति है । यहाँ शत्रुहूत अराधक्य आलम्बन से अङ्कुरित, वनमौन व्यक्तित्व-प्रशंसा रूप उद्दीपन से उदीपित मौन धारण-रूप अनुभाव से अनुभासित और सर्व भाँति मछली भाँसे में बोधित वता का क्षमाविषयक उदाहर-जो 'क्षमा-वीर' का स्थायीभाव है—शरीरगत होकर 'धरा-धर-रस-मरुत' का कारण होता है ।

अत्र 'धर-वीर' के विषय में क्या समाधान देय ? अर्थात् 'बल-वीर' नाम का भी 'वीर-रस' का एक भेद भाँय स्वीकार करना पड़ेगा ।

वैधे—श्री ने मक से नीर शैलनाग अने कार से पृथिवी को हटा दें और बच्चा भागान् भी उसे त्याग कर मुन-रूपम करें । हे देवन्द' मैं अष्टेष्ट हो जाने पर वे एक श्रेणे पर इन सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का पालन कर लेता हूँ ।

यह इन्द्र के प्रति वरुण को उक्ति है । यहाँ 'बल-वीर-रस' को प्रतीति होनी है ।

उक्तोदाहरणत्रये वीररसध्वनेरभावमाशङ्कते—

ननु 'अपि वक्ति' परिहरतु घरात्, इति पद्यद्वये गर्वं एव नोत्साहः । मध्य-
स्पपद्ये तु धृतिरेव ध्वन्यत इति भावध्वनय एवैते, न रसध्वनय इति चेत् ।

समादधाति—

तर्हि युद्धवीरादिष्वपि गर्वादिध्वनितमेव किं न भ्रूया ? रसध्वनिसामा-
न्यमेव वा किं न तद्व्यभिचारिध्वननेन गतायंये ।

ननु रसध्वनियु व्यभिचारिभावोपेक्षया स्वाविभावस्योत्कटा प्रतीतिरिति तद्व-
सादसध्वनिव्यपदेश, उक्तोदाहरणेषु तु गर्वादिध्वनिचारिभावस्योत्कटा प्रतीतिरिति
भावध्वनित्वमेवोच्यते इति चेत् न, उभयनोत्साहध्वनं स्वाविभावस्योत्कटत्वेन प्रतीय-
भावत्वात् । किञ्च बलनोरायुराहरणंप्रस्ताहस्य प्रतीतिर्न भवति दानवयामुद्धवीरो-
दाहरणेषु तु नवतीति नस्मिन्चिदुक्तिरपि राजासेपोपपत्तिविचारवन्निर्णय, उभयत्र—
वैपम्यान्तुमवात् । तस्मात् प्राचीनाना वीररसप्रकारपरिगणनप्रसङ्गतमित्येवाह—

मध्यस्थ पद्यम् 'अपि बहले'त्यादि ।

प्रथम-तृतीयपद्ययो प्राधान्येन गर्वस्यैव, द्वितीयपद्ये च धृतेरेव व्यभिचारिभा-
वस्य, ननुत्साहरण रसाग्नि प्रतीतिरिति 'व्यभिचारी तथाऽङ्गित' इत्युक्तेरेतानि
शैल्यपि भावध्वनेरेव न तु रसध्वनेरदाहरणापीति शङ्कादसवाल्यम् ।

'तद्व्यभिचारिध्वननेन' इति पाठस्तु सन्दर्भाद्युद्धतिररहृत ।

यदि व्यभिचारिप्रतीतेरेव भावध्वनित्वं तेषूच्यते, तदा दानवयामुद्धवीरेष्वपि
गर्वस्य, सत्यवीरे च धृतेर्द्व्यभिचारिभावस्य प्रतीतेर्भावध्वनित्वमुष्यताम्, वीररसध्वने-
रच्छेद एव नियताम् । अपवेत्य सर्वेषु रसध्वनियु तत्तद्रसध्वनिचारिभावस्यापेक्ष
प्रतीते सर्वत्र भावध्वनिरैवाङ्गीक्रियताम्, तेनैव रसध्वनिगंतार्याङ्गीक्रियताम्, इत्य
हि सबलरसतन्त्रव्याजुलोभाव स्यादित्यहो तव मूनच्छेदी पाण्डित्यप्रकर्ष इति समा-
धानपक्षाशय ।

क्या शङ्का यह होती है कि 'अपि वक्ति' और 'परिहरतु घरात्' इन दोनों मिलकर
भाव क्रमण 'गति-वक्ति-वार' और 'बल-वार' के उदाहरण मानने हैं—पद्यों में गर्व की ही प्रतीति
होती है—उत्साह की नहीं, अतः ये तानों पद्य 'रस-ध्वनि' के उदाहरण नहीं हो सकते वरन्,
'भाव-ध्वनि' के उदाहरण हो सकते हैं क्योंकि 'व्यभिचारी तथाऽङ्गित' इस सिद्धान्त के अनुसार
व्यभिचार व्यभिचारि भावों को 'भाव' माना गया है ।

परन्तु उक्त शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि यदि इस तरह उक्त पद्यों में भावध्वनिों का स्वीकार
किया जाय, तब 'युद्ध-वीर' आदि उदाहरणों में भा गर्व आदि भावों का ध्वनित्व ही क्यों नहीं मान
ली जाय ? क्योंकि दान, दया और युद्ध-वीरों के उदाहरणों में गर्व की और धर्म तथा सत्यवीर के
उदाहरणों में धर्म की प्रतीति अवश्य ही होता है । अर्थात् जहां रस की ध्वनि होता है, वहां उस
रस के अनुचित व्यभिचारा भावों की प्रतीति वा छेद अवश्यक ही है, फिर इन सब ध्यारों में उन
व्यभिचारीभावों की ध्वनिों को ही नाम कर 'रस-ध्वनिभाव' वा उच्छेद क्यों नहीं कर
रिका जाय ? अर्थात् जबके दिनार में 'रस-ध्वनि' नाम की कोई शक्ति ही माहित्यकार्य में नहीं ल
जायगी ।

स्वापिप्रतीतिर्दुरपह्लावा चैव, तुल्य प्रकृतेऽपि । अनन्तरोक्तपद्ये तु मोत्साह
प्रतीयते, दयावीरादिषु प्रतीयते इति राजाज्ञामात्रम् ।

अथाद्भुतरसध्वनिदुत्साहरति—

अद्भुतो यथा—

वदनान्तर्गतविश्वदसंगचकिता यसोदा गोविन्द वदति—

‘चराचरजगज्जाल-सन्धन वदनं तव ।

शलद्गगनगाम्भीर्यं, वीक्ष्यास्मि हृतचेतना ॥’

प्रकरणादि प्रदशयति—

वदाचिद् भगवतो वासुदेवस्य वदनमालोकितवत्या यसोदारा इयमुक्ति ।
अत्र वदनमालम्बनम्, अन्तर्गतचराचरजगज्जालदर्शनमुद्योपनम्, हृतचेतनत्वम्,
तेन गम्य रोमाञ्चनेत्रस्फारणादि चानुभाव प्रासादयो व्यभिचारिण ।

दुरपह्लावत्वेनोत्कटत्व प्रतीते । अनन्तरोक्तपद्य परिहरतु इत्यादि ।

हे हृण ! चराचरजगज्जालस्य स्थानरज्जुभासकविश्वमण्डलस्य वदनमभि
करणम्, गलनस्थन नगरस्य व्योम्न (किमुतान्प्रवृत्तनाम) गाम्भीर्यमगाधत
यस्मात्, तादृशम तव जालरूपस्य वदन मुख वीक्षण विलोक्य हृतचेतना विम्बया-
तिशयेन जडीमूलाप्रभोत्पद्य ।

वदाचिन्मृगमात्रगरे तथा च धीमज्जगवन— पीतप्रायस्य जननी मा तस्य
वदिरस्मितम् । मुग तालगनी राजन । जूषतो दत्ते इदम् ॥ य रोदमी उपारिना
कमाया सुयेंदुवर्जितसनाम्बुपीथ । द्वीपान नगास्तद्दुर्दितवनानि भूनानि यानि
स्थिरजङ्गमानि ॥ सा वीथ विश्व सहा राजन । मञ्जरावेषयु । सम्भ्रास्य मुग
घावाशी नेत्रे आमौन मुविस्मिता ॥ अन्तर्गत वृष्णमुद्रमध्यस्थम् । तेन हनचेतनत्वेन
गम्य वाचकशब्दविरहान पायनया व्यङ्ग्यम् । नेत्रय स्फारणमार्तविकासनम् ।

इह प्राधान्येन प्रतीयमानस्य स्थायिनी विस्मयम्यान्त्रनादिसामश्रीसमययादाह
द्भुतरसध्वनि ।

क^० अत्र वहाँ कि ‘रस-ध्वनि’ के जो कई गमन सम्पहरण हैं वनके व्यभिचाराभासों को अन्त
स्वातीभारों को प्रतीति उक्त रूप से होती है, अतः वहाँ रस-ध्वनि गमन है तब में कहेगा—वहाँ
(पाण्डित्य-वार आदि -) का उदाहरण स्थायीभाव को उक्त प्रतीति होती है, अतः वहाँ भी वीर
रस-ध्वनि मानिये ‘मुद्र-वीर’ आदि में उदाह वीर प्रतीति होती है और ‘पाण्डित्य वीर’ आदि में
जती प्रतीति गमन से राजाप्रधान होगा-मुक्तिगमन नहीं । कारण यह है कि प्राचीनों को ‘वीर-रस’
के धार में है’ का अर्थ अन्तर्गतनामूलक है, अतः उनके बहुत भेद हो मय है ।

जो रसध्वनि और ‘मुद्र-रस’ संसार का निजाम-स्थान है और जिसके सामने में गमन की
में गम्यरना नष्ट हो जाती है, अतः जो देव कर मेरा-नेत्रय मुद्र हो गया है—आध्वर्य से मैं
हा-मुद्रि हो गई ।

यदि किसी समय भगवान् श्री कृष्ण ने विद्वान् वदन को देखने के बाद यसोदा को उक्ति है । यहाँ
‘वदन-मुद्र-रस’ अन्तर्गत है, जहाँ अर रसध्वनि अन्तर्गत अन्तर्गत गमन का अन्तर्गत उद्योपन है,

अत्र रतिभावध्वनित्वमाशङ्कित खण्डयति—

नवात्र पुत्रगता प्रीति प्रतीयते, व्यञ्जकाभावात् ।

ननु पूर्वापरसन्दर्भपर्यालोचनयाऽत्रापि रतिप्रत्ययो भवत्येवेत्यत्राह—

प्रतीताया वा तस्या विस्मयस्य गुणत्व न युज्यते ।

अत्रैव भक्तिरसध्वनित्व केनाप्याशङ्कित निराकरोति—

एव 'कश्चिन्महापुरुषोऽयम्' इति भक्तिरपि, तस्या. 'पुत्रो ममायं बालः'

इति निश्चयेन प्रतिबन्धादुत्पत्तमेव नेष्टे । अतस्तस्यामपि विस्मयस्य गुणीभावो न शङ्क्यः ।

नन्वत्र यशोदानिष्ठाया पुत्रविषयकरतेरेव प्राधान्येन व्यज्यमानत्वाद् भावध्वनेरिदमुदाहरणं न त्वद्भुतरसध्वने विम्बमस्य प्राधान्येनाप्रत्यादिति चेत्, स, पुत्रविषयकरतरत्र व्यञ्जकविरहेणाव्यञ्ज्यत्वादित्याशयः ।

तस्या पुत्ररती । गुणत्वमप्राधान्यम् ।

प्रकरणपर्यवेक्षणमात्रं पुत्ररतिप्रतीतियंछानुभविकी, तथापि तस्या अङ्गत्वात् हृतचेतनत्वेन मुख्यतया व्यज्यमानस्य विस्मयस्य प्रधानत्वात् रतिभावध्वनिः, अपि त्वद्भुतरसध्वनिरिवेति भावः ।

एव विस्मयस्यैवाङ्गित्वेन व्यक्ती । तस्या यशोदाया । ईष्टे शक्नोति । तस्या शक्तौ ।

ननु यदनान्तर्गतविश्वविलोकनाद् यशोदाया 'कोऽपि महानुभावः पुरुषोऽयम्' इत्याकारकबुद्धावुत्पन्नाया जायमाना तद्विषयकभक्तिरिहास्ति प्रधानम्, विस्मयस्तु तत्सोपकत्वाद् अङ्गमिति पुनर्नायमद्भुतरसध्वनिरिति न शङ्कनीयम्, यशोदाया 'पुत्रो ममायं बालः' इत्याकारकनिश्चयात्प्रकप्रतीती जायस्कथाया, क्षमामे विषये निश्चयस्य तदितरज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वात् । 'महापुरुषोऽयम्' इति ज्ञानस्य प्रतिबद्धत्वादिहानुत्पन्नेर्भक्ते सर्वथाऽस्तम्भवादिति तात्पर्यम् ।

नैनन्व-लोप तथा ठसमे व्यक्त होने वाले रोमाञ्च एवं जयन-विक्रम आदि अनुभाव हैं और ज्ञान आदि सञ्चारीभाव हैं । तात्पर्य यह है कि इन सब के भावों के सन्धेय से अभिव्यक्त विम्बमास्य स्थायी भाव की यहाँ प्रधानता है, अर्थात् 'अद्भुत-रस' की ध्वनि यहाँ होती है ।

यहाँ यशोदा का पुत्र प्रथम वस्तुतः गद्गल भी प्रतीत नहीं होता क्योंकि ठसमी प्रतीति छराने वाला एक भी पद इन पद में नहीं है, अतः पुत्रविषयक रतिरूप भाव ध्वनि का ही उदाहरण है— 'अद्भुत-रस ध्वनि' का नहीं, ऐसी शक्य नहीं करनी पड़िये ।

यदि प्रकरण पर्यालोचन से यहाँ पुत्र प्रीति की प्रतीति होती है यह बात अनुभवसिद्ध हो, तब भी यह (पुत्र प्रीति) नैतन्व-लोप की बात से प्रधानतया व्यक्त होनेवाला विस्मय को अपेक्षा गौण ही होगी । विस्मय उसका अपेक्षा गौण नहीं हो सकता ।

इसी तरह 'यह कोई महापुरुष है' यह समझ कर भक्ति भी यहाँ व्यञ्ज नहीं हो सकती, क्योंकि 'यह बालक मेरा पुत्र है' इस प्रकार का यशोदा का निश्चय उसकी उत्पत्ति में प्रतिबन्धक है अर्थात् भक्ति की अपेक्षा भी विस्मय की गौणता अशङ्कनीय ही है ।

अथ काव्यप्रकाशकृता दत्तमद्भुतरसध्वनेरदाहरणं रूपमिति—

यत्तु सहृदयज्ञिरोमणिभिः प्राचीनैरदाहृतम्—

‘चित्रं महतीषु नवावतार, क कान्तिरेयाऽग्निनवैव भङ्गि ।

लाकोत्तर धैर्यमहो ! प्रभावः काष्ठावृत्तिर्नूतन एष मगं ॥’ इति ।

इह विस्मयस्य प्राधान्येन व्यञ्जयतयाऽऽभुतरसध्वनिरिति मद्भुतम्भट । तन्मतं चक्ष्यति—

तत्रेदं वक्तव्यम्—प्रतीयता नामान् विस्मय, परन्त्वसौ कथञ्चकार ध्वनि-
व्यपदेशहेतु ? प्रतिपाद्यमहापुरवविशेषविषयाया प्रधानीभूताया, स्तोत्रगत-
भक्तैः प्रकथयित्वेनास्य गुणीभूतत्वात् ।

निदर्शनदर्शनं स्वमतं द्रष्टव्यम्—

यया महाभागेने गीतासु विष्ववरूपं दृष्टवत्. पार्यस्य—‘अथयामि देवाऽतव
देव ! देहे, सर्वास्तथा भूतविशेषसङ्घान् ॥’ इत्यादी वाक्यसन्दर्भे ।

चित्रमाश्रयम्, एष महान् परमोत्कृष्ट नवावतारो नूतनो महापुरुषस्याविर्भाव,
एषास्य शरीरे विद्यमाना कारित्युक्ति क्व ? (कुत्राप्यन्यत्र न) अग्निशाश्वतपूर्व-
वास्य मङ्गी रीति, लोकोत्तर मनुष्यलोकप्राप्य, धैर्यं धृति, अहो अद्भुत प्रभावोऽ-
नुभाव, काष्पनिर्वचनीयैव, आहृतियकार (अङ्गसन्निवेश) एष (तस्माद् धातु)
नूतनोऽभूतपूर्व, सगं सृष्टिरस्तीत्यर्थं ।

तत्र मद्भुतोक्तविषये । अगो विस्मय । कथञ्चकार केन प्रकारेण ।

अगोदाहरणे प्रतीयमानाऽपि विस्मयो वर्णनीयमहापुरुषविषयाया मन्वेरङ्गि-
भूताया उत्कथं प्रयोजकत्वादङ्गम् । तस्मान्महापुरवविषयकमस्तिप्राधान्याद् भावध्वने-
रेवोदाहरणमिदमद्भुतरसध्वने, विस्मयस्य गुणीभावादित्याशयः ।

पार्यस्य वाक्यसन्दर्भे इति सम्बन्धः ।

अथ काव्यप्रकाशकार द्वारा उल्लिखित ‘अद्भुत-रस-ध्वनि’ के उदाहरण का दृष्टि करन क हिये
उमका स्वरूप यह दिखलत है—‘असु इत्यादि । सहृदय-शिरोमणि प्राचीन आचार्यो ने ‘चित्रं
महतीषु...’ इत्यादि श्लोक को ‘अद्भुत-रस-ध्वनि’ के उदाहरणरूप में लिया है । उस श्लोक का
अर्थ यह है—यह महान् नूतन, अवातार आधर्य-अनक है, ऐसो जगति आज तक कबो दृष्टिगोचर नहीं
हुई, दर चटने, बटने, म लने और दखने का एक भा सर्वक नरीन हो है, अगो एक धैर्य है, विष्णु-
या-अन्वय-वक्ति कर देनेवाला प्रभाव है अनिर्वचनीय अकार है, एक सगं सृष्टि है अर्थात् अत एक
दिग छोड़ै उत्पन्न नहीं हुआ, अकर हम रूप में यह विमर महापुरुष वा अधिर्भाव दुष्ण है । यह
महान् वामन के दर्शन से विभिन्न बलि को बलि है ।

यहाँ प्रधानता विषय व्यङ्ग्य होना है, अत यह ‘अद्भुत-रस-ध्वनि’ का उदाहरण है, इन
सम्बन्ध-मत्त का सम्बन्ध करते हैं—‘सद्येद् मच्छस्यम्’ इत्यादि । अनेक यह है कि इन पद में
‘अद्भुत-रस-ध्वनि’ का प्रतीति होती है, जो, में उमरा अन्वय करना नही चाहता, पर उम
विस्मय के कारण यहाँ अद्भुत-रस-ध्वनि का व्यवहार जैसे हा मरता है ! क्योंकि इन श्लोक में
विमर महापुरुष का दर्शन किया गया है, उमके विषय में स्तुति करते (बलि) को जो भक्ति है, यही
यहाँ प्रधान है और विस्मय उसके उत्कृष्ट बनाना है, अत उसकी अवेक्षा यह होना ही गया है ।

पर्यवसिनमाह—

इत्य चास्य रसालङ्कारस्वमुचितम् ।

अत्रैव पुनरन्यथाऽऽक्षरान्ध्र निरस्यति—

भक्तिर्नैवान् प्रतीयत इति चेत्, दरमुकुलितलोचनं विदाद्भुवंतु सहृदया ।

वय हास्यरसमुदाहरति—

हास्यो यथा—

यथा भगवतो विश्वरूप विलोक्यार्जुनिनामिहिताया 'पश्यामि देवास्तव देव । दह' इत्यादिभगवद्गीतायाः कथाकथपरम्पराया भक्ति (भगवद्विषया रति) प्रतीपमाना प्रधानम् अदृष्टपूर्वरूपदशानजन्वो विस्मयस्तु भक्तिपोषकतयाऽङ्गमिति भावध्वनिरद्भुत-रसत्याञ्जनेन रसवदलङ्कारश्च, तथैव प्रकृते 'विश्वम्' इत्यादावपि भक्ते प्राधान्यम-द्भुतस्य चाङ्गत्वमित्यभिप्रेत्यम् ।

- अस्य प्राचीनोक्ताद्भुतरसध्वन्युदाहरणस्य । रसालङ्कारस्व रसबलङ्कारोदाहरणत्वम् । एतद् भावध्वन्युदाहरणत्वस्याप्युपसलकम्, पूर्वसन्दर्भानुरोधात् ।

यदि च भक्तिरन्यथाहरणे प्रतीयत एव न, दूरे तस्या प्राधान्याप्राधान्यपरीक्षा, तथा सति विस्मयस्मैवात्र प्राधान्येनाद्भुतरसध्वनित्वमेवेति प्राचीनपक्षपातेन कश्चित् कथयेत् तर्हि विषयेऽस्मिन् तदस्या परमाप्ताः सहृदया एव भावतयेपन्नोसिततदन यथा स्यात्, तथा तथ्यातथ्य जानन्तु, वय न किञ्चिद् भ्रम इति चारम् ।

आग्रह विहाय सहृदयैर्विहिते विचारे भक्तेरिह प्राधान्य विस्मयस्य चाप्राधान्य व्यक्त प्रतिभायादिति भाव ।

रसविशेषणतयैव पुस्त्वम्, अन्यथा 'हास्यो हास्य च' इत्यमरात् क्लीबत्वमेव ।

इने स्थले पर भक्ति को ही प्रापना होती है और विस्मय गीत रत्ता है हमने दृष्टान्त विस्तार है—'यथा' इत्यादि । भगवान् ने मुन्ध अर्जुन को अन्ध विराट् पर दिखलाया, भिक्वो देपकर अर्जुन भगवान् मे कहत है—हे देव ! मे आँके शरीर में मय देवताओं को तथा नाना तरह के मय प्राणियों को देर रहा है । बुलादि गीता के वाक्यों में यद्यपि विस्मय की प्रतीति होती है, तथापि उन भक्ति की अंशु वह गीत है जो अर्जुन के हृदय में भयत्रां को प्रति उत्पन्न हुई । चात्पर्य दह है कि जैसे यथा विस्मय की प्रधानता नहीं है, वैसे हा वक्त एव में भी हमका प्रधानता नहीं हो है ।

पर्यवसित अर्थ यह हुआ कि 'चित्त महानेव -' इत्यादि श्लोक अस्मिन्-रसध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता, अपितु भाव-ध्वनि का उदाहरण हो सकता है, हाँ, विस्मय भी यहाँ बहु-विभाव-न्य है, अन् तन्मूलक 'रसवत्' अलंकार यहाँ होया ।

यदि आप कहें कि 'चित्त महानेव -' इत्यादि श्लोक में भक्ति की प्रतीति होती ही नहीं, तब मैं इसका उत्तर क्या दे सकता हूँ ? केवल सहृदयों से इतनी आशंसा करूँगा कि आप परा भक्ति मूढ कर अन्ध होकर सोचें और फिर कहें कि वह भक्ति की प्रतीति होती है अथवा नहीं अर्थात् उदाहरण छोड़कर विचार करने से आप को भी यहाँ भक्ति की प्रधानता अतएव अवगणन होगी ।

अब 'हास्य-रस' का उदाहरण देते हैं—'हास्यो यथा' इत्यादि । हास्य जैसे—

वातियो नवतास्त्रिपुत्रो बवोति—

‘श्रोतातपादं विहिते निबन्धे, निहृपिता नूतनयुक्तिरेया ।

बद्ध गवा पूर्वमहो पवित्र, कथ न वा रामभयमपत्त्या ॥’

आत्मन्वनाद्याचष्ट—

सात्त्विकपुत्रोऽत्रालम्बनम्, तदीया निश्चद्मोक्तिरहीनिका, रदनप्रवाशादि-
रङ्गादयश्चानुभाव—व्यभिचारिणः ।

अथ हास्यस्य भेद दशान्ति प्राचीनोक्तिमनुबधति—

अनाहुः—

‘आत्मस्य परस्यश्चेद्यस्य भेदद्वय म्त्तम् ।

आत्मस्यो द्रष्टुस्त्वन्नो विभावेक्षणमात्रम् ॥’

हमन्तमपर दृष्ट्वा, विभावश्चोपजायते ।

योऽसौ हास्वरमस्तज्जै, परस्य परिकीर्तितम् ॥

उत्तमाना मद्यमानां, नोचानामप्यमी भवेत् ।

उदस्य कथितस्तस्य, पडभेदा नन्ति चापरे ॥

श्रीगातपादं श्रीमद्भिः पितृचरणं, विहिते विरचित, निबन्ध घनांनु-
धामनघन्धे, एषा साग्रनमुदोद्यमाना, नूतनाज्ञाविहितपूर्वा मुनिम्लकं निहृपिता
निर्धारिता, अहो आश्चर्यम्, (यदि) गवा भेदनाम् पूर्वमङ्ग पूर्ववाप पवित्र
मेध्यम् (तदा तुभ्यन्वासाय) रासमस्य गर्दभस्य, धमपत्त्या गर्दभ्या (पूर्वमङ्गम्)
कथ न वा पवित्रमस्मीति शेष । गवा परवाधन्वैर धमपाननामुसते पवित्रत्वे,
पूर्वाधंस्य शत्वकथन तत्तुभ्यस्वच्छयया गर्दभ्या अपि पूर्वाधंस्य नवीनतरुण पवित्रत्वोप-
पादन चात्र हास्यकरमवस्यम् ।

सात्त्विक उक्तात्स्मृतकंविन् । निश्चद्मा दृढोक्तिः । रदनप्रवाशो दन्तविद्वित्स्तरदा-
दित्नुभाव । उद्गादयो व्यभिचारिणः ।

यत्र हास्यरासम्बन्धविभावदर्शनात् स्वयमुत्पद्यते हासः, तत्र आत्मस्य । मन चापर
हृद्यन्त दृष्टवोत्पद्यते, स परस्य इति प्रकारद्वय हास्वरसस्य । अस्य हास्वरमस्य
विभावस्तु परकीयहास्यदर्शनाद्भूवति । आद्यस्योक्तम्—अध्यमा—धमत्वेहांभ्यापि

हिमी कश्चित् न पुत्र कल्पे ई—मीमांसा विज्ञाने मे एते म्ने निबन्ध मे एह एह नभंन मुक्ति
लेख पदां वि उव गयो क पूर्वं अत्र पवित्र है, एत एते क पन्तन्त का वर अत्र पदेन म्पो ग्ही
माना एव । अर्धन् गी और गर्दभं एक समान है । अर्धन्त मे गी से पक्षार्थ का कटे ही पवित्र
कटा गया है, परन्तु वही वनके पूर्वाधं काप को पवित्र म पिन किया गया है और हास्य स्य से
गर्दभी के वन का क का पवित्र बनने को सत्यह ही गई है—वही अर्धन्त वात एव
हास्यस्य है ।

यहाँ सात्त्विक का पुत्र अलम्बन है, उपर्य निररु कथन दर्शित है, दंश का निरेटना म्नुकर
है और उद्गेय म्दि सद्यमान है ।

अथ हास्य के विविध भेदों को दिखाने के लिये प्राचीन कालियों को उक्ति का म्नुकर कये
है—‘मात्स्य’ इत्यादि । हास्य-रस के दो भेद हैं—एह आत्मस्य, हृद्य परस्य । आत्मस्य वनधे

स्मित च हसित प्रोक्तमुत्तमे पुरुषे वृषं ।
 भवेद् विहसित चोप-हसित मध्यमे नरे ॥
 नीचेऽपहसित चाति-हसित परिकीर्तितम् ।
 ईषत्फुल्लकपोलाभ्या, कटाक्षरञ्जनुत्त्रण ॥
 अदृश्यदशनो हासो मधुर स्मितमुच्यते ।
 वक्रनेत्रकपोलश्चेदुत्फुल्लन्यलक्षित ॥
 किञ्चिन्नक्षितदन्तश्च, तदा हसितमिष्यते ।
 सशब्द मधुर काय गत वदनरागवत् ।
 आकुञ्चितासिमन्द्र च, विदुर्विहसित युधा ।
 निकुञ्चितासशीर्षश्च जिह्वाहृष्टविलोकन ॥
 उन्फुरानासिको हासो नाम्नोपहसित मत्तम् ।
 अस्थानज. साधुदृष्टिराकम्पस्वन्धमूषज ॥
 शाङ्गदेवेन गदितो-हासोऽपहस्ताह्वय. ।
 स्थूलकणकटुध्वानो वाष्पपूरप्लुतेक्षण. ॥
 करोपगूढपाश्वरश्च, हासोऽतिहसित मत्तम् । इति ।

श्रेयिष्य जायते । तस्य हास्यस्य स्मित-हसित-विहसितो-पहसिता-पहसितातिहसित-
 रूपा पद्भेदा । तेषु प्रथम द्विकमुत्तमं द्वितीय मध्यमं तृतीय चाद्यमे । अनुत्तमैर-
 नुत्कटै कटाक्षरपलक्षित इति तेषु । कायगन सकलशरीरव्यापि । कायगनमिति
 पाठान्तरम् । वदनरागवन्मुचलीहित्यविशिष्टम् । मन्द्र गम्भीरध्वनियुतम् । निकुञ्चि-
 तानि सद्भुक्तितान्यसी स्वन्वी शीर्ष शिरश्च यस्मिन्निति बहुव्रीहि । जिह्वया
 कुण्डलिया हृष्टया विलोकन यत्र तादृश । अस्थानेऽनुचितावसरे जात । आकम्पा
 अभिव्याप्तकम्पा स्वन्वी मूर्धजा केशाश्च यत्र तादृश । शाङ्गदेव आचार्यं ।
 स्थूल प्रबल कर्णरटु कर्णरन्तुदो ध्वान शब्दो यत्र स । वाष्पपूरेणाधुसमूहेन
 प्लुते व्याप्ते ईक्षणो नेत्रे यत्र स । कराम्यामुपगूढे हास्यवेगधारणायावन्धिते पाश्वरे
 यत्र स ।

बहने हैं, जो विभाव (हास्य के विश्व) के दर्शनमात्र से इन में स्वयं समुत्पन्न हो जाता है और जो
 शान्त-रस दूसरे को हँसना हुआ देखकर उत्पन्न होता है तथा निम्न कारण भी हास्य हो सकता है,
 लम्को हास्य-रस के विशेषज्ञ जन परस्पर कहते हैं । यह हास्यरस उत्तम, मध्यम और अधम तीनों
 श्रेणी के व्यक्तियों में उत्पन्न होता है, जो हमारी तान अवस्थाओं कटजाना है । इनमें तरह हास्य के
 दूसरे छ भेद हैं—उत्तम पुरुष में स्थित और हसित, मध्यम पुरुष में विहसित और उपहसित, एवं
 नीच पुरुष में अपहसित और अतिहसित होते हैं । जिसमें कपोल रूप विकसित हों, नेत्रकोण अधिक
 विस्तार को प्राप्त नहीं करें, दान दृष्टि-गोचर न होने पावे और जो मधुर हो, वह शान्त स्मित
 कहलाता है । जिस हास्य में मुस, नयन और कपोल विकसित हो जायें और दान भी भोग दृष्टिगोचर
 हो जायें, वह हसित कहा जाता है । जिस हास्य में शब्द सुनाई दे, फिर भी मधुर हो, जिसके विकार
 शरीर के सब अंगों में उत्पन्न हो जायें, जिसके होने से मुस लाल हो जाय, अंतों कुछ टटो हो वरें
 और गम्भार हो, उसको सुधमय विहसित कहते हैं । जिसमें कन्धे और सिर सिमुड जायें, वक्र दृष्टि

अथ भयानकरसध्वनिमुदाहरति—

भयानको यथा—

श्वेनाद्भ्रीतस्य तावक्तस्य वृत्त वर्णयति—

‘श्वेनमम्बरतलाद्रुपागत, शुष्यदाननविलो विलोकयन् ।

कम्पमानतनुराकुलेक्षण, स्पन्दितु नहि शशाक लाटकः ॥’

आसम्भनादि दशंपति—

अत्र श्वेन आसम्भनम्, सवेगापतनमुद्दीपनम्, आननशोषादयोऽनुभान्-
हैन्यादयः सञ्चारिणः ।

अथ दीभत्तरसध्वनिमुदाहरति—

दीभत्सो यथा—

श्वयान वर्णयति—

‘नखैर्विदारितान्नाणा, शवाना पूयशोणितम् ।

आननेष्वनुलिम्पन्ति, हृष्टा वेताल्योपित ॥’

अम्बरतलादाकाशमण्डलात्, उपागत मन्निहृष्टम् श्वेन पक्षिघातकपक्षिविशेषम् विलोकयन् पायन्, शुष्यद् मृत्योर्भयाच्छोय गच्छद् आनन मुखमेव त्विल यम्प, तादृश, कम्पमाना वेपथमवो तनु शरीर यस्य, तादृश, तथा आकुले विह्वले ईक्षणे यस्य तादृश, तावको वर्तकजातीयो तावेति—प्रमिद पक्षिविशेष, स्पन्दितुमीयच्छ-
लितुम् (अपि) न दाशाक न अक्षम इत्यर्थं ।

सवेग वेगवदम्बरादापतन श्वेनस्यावसेयम् ।

हृष्टा अङ्गमा त्रिपुलमदण्डनामान् प्रमत्ता, मृतविशेषान्विष, नखैर्विदारितानि पाण्डितान्मन्नाणि येषां ते विदारितान्नामन्तेषां, शवाना मृत्नकरारीराणां, पूयाना पौण्ड्रानां च समाहार पूयशोणितम्, (पीनदवसेयम्) जाननेषु स्वमुक्तेषु द्विप सहस्ररीवदनेषु च अनुलिम्पन्तीत्यर्थं ।

से देजना पत्रे और नाक पंठ जाय, उन हाथ का मश उपक्षिप्त है । जा हान अनवरत वा हो जिनसे आगे में आम् आ जय और कन्ध तथा केश त्व कल्पमान हो उडे वसवा नाम शाईरेण आचार्य ने अहमिन रमा है । जिनमें कर्ण को बट्ट ठाने वाला बहुत जेर का शब्द हो, नेत्रों में अश्रु की बाढ़ सी का जय और हाथों से शस्त्र-जगो क वाइना पत्रे, उन हाथ को अहमिन मानते हैं ।

अथ ‘भयानकरस’ वा उदाहरण देने हैं—‘भयानको यथा’ इति । भयानकरस जैते—

किमी दर्शक वा कल्पन है कि विश्व लाटक (एक प्रकार का पक्षी, जिसे बगरी कहते हैं) ने जमी गणतल से झपटते हुये बाज को देखा तथा कमजब गुण मृग म्मा, दह कराने लगी, आगे आकुल हो गई, इन तरह वह हिट भी न सक ।

यहां बाज अहमिन है, कमजब बहुत वेग से झपटना उशीरन है, मृग मृग्य आदि अनुभव है और दैन्य आदि अविचारीम्य है ।

अथ ‘दीभत्स-रस’ वा उदाहरण दिखाने हैं—‘दीभत्सो यथा’ इति । ‘दीभत्स-रस’ जैते—

इत्युक्त वेताल को किदा नती से मुरतों को अक्षियों को पाह कर मशद और शरिर को मुर पर देव रहा है । यह शमजान अथवा रणक्षेत्र था जगिन है ।

आलम्बनादि दशयति—

शवा इहालम्बनम्, अन्त्रविदारणाद्युद्दीपनम्, आक्षिप्ता रोमाञ्च-नेत्रनिमी-
लनादयोऽनुभावाः, आवेगादयः सञ्चारिणः ।

बीमत्स-हास्यरसयोरालम्बनाश्रययो पृथगप्रतीते रमान्तरंभ्यो वैषम्यमाशङ्कते—
ननु रति-क्रोधोत्साह-भय-शोक-विस्मय-निर्वेदेषु प्रागुदाहृतेषु, यथाऽऽ-
लम्बनाश्रययो सम्प्रत्ययः, न तथा हासे जुगुप्साया च, तत्रालम्बनस्यैव प्रतीते ।

पुनराधान्तरिकी शङ्कामुपन्यस्योन्मूलयन् पूर्वपक्ष समापयति—

पद्यश्रोतुञ्च रसास्वादाधिकरणत्वेन लौकिकहासजुगुप्साश्रयत्वानुपपत्तेरिति चेत् ।

समाधानमभिदधाति—

मत्स्यम्, तदाश्रयस्य द्रष्टृपुरुषविशेषस्य तत्राक्षेपत्वान् ।

इह बीमत्सरसे । आक्षिप्ता जुगुप्साकार्यनया वैषम्यनिकप्रतीतिगोचरा ।

इह रसादीनामुपदेश-प्रतिनिर्देशयो त्रयविषयमि मूल मृग्यम् । 'प्रागुदाहृतेषु'
इत्यत्र 'पूर्वमुदाहृतेषु' इत्युचित पाठ सन्ध्यशनीसत्वद्रूपणप्राप्तान् । तत्र हास-
जुगुप्सयो ।

शृङ्गारादिरूपेषु यथा रत्यादीनामालम्बनादाश्रय पृथक् प्रतीयते, न तथा हास्ये
बीमत्से च । तत्र हासजुगुप्सयोरालम्बनाद् विहृताकारादिमत्स्यरथादे पृथक् तयोरा-
श्रयस्य हासादिमतौप्रतीते प्रागुक्तरससप्तकापेक्षया हास्य-बीमत्सयोर्वैषम्यमिति
शङ्कादनाशय ।

ननु हासप्रधानक जुगुप्साप्रधानक च पद्य शृङ्खलं पुरस्य एव हास-जुगुप्सयोरश्रय
स्यादती न रसान्तरेभ्यो वैषम्यमिति चेत्, उच्यते—लौकिकत्वेनालौकिकत्वेन च हास-
जुगुप्सयोरपि रत्यादिवद् द्वैविध्यम् । तत्र पद्यश्रोता काव्योपनिबद्धत्वादलौकिकत्व-
मापन्नयोरेव हास-जुगुप्सयोरश्रयो भवितुमर्हति न तु लौकिकयोरपि, तस्मात्लौकिक-
योर्हामजुगुप्सयो रत्यादिवन् पृथगाश्रयानुपपत्तमान् वैषम्य स्थानमेवेति पूर्वपक्ष ।

तदाश्रयस्य लौकिकहासजुगुप्सयोरधिकरणस्य । तत्र हास्य-बीमत्सयो । आक्षेप-
त्वादाधेयानुरोधेनाधारस्य कल्पनीयत्वान् ।

यहाँ सुरदे अटन्वन है, अत्रयियो का फासना उदीरन है, अक्षेप के द्वारा लम्ब रोमाञ्च, औंलो
का मूँदना आदि अनुभाव है और आवेग आदि मञ्जरीभाव है ।

यहाँ एक शङ्का यह हो सकती है कि रति, क्रोध, उत्साह, भय, शोक, विस्मय और निर्वेद इन
स्वादीभावों में जिन प्रकार आलम्बन और आश्रय दोनों का प्रतीति होती है, जैसे नल और दमयन्ती
में जो पत्थर रति (प्रेम) है, उसका उन दोनों में से एक आलम्बन और दूसरा आश्रय होता है
अर्थात् नल का प्रेम दमयन्ती में स्थित हो तो दमयन्ती आलम्बन और नल आश्रय तथा दमयन्ती का
प्रेम नल में स्थित हो तो नल ही आलम्बन और दमयन्ती आश्रय के रूप में प्रतीति होती है । उन
प्रकार हान और जुगुप्सा में नहीं होती अर्थात् इन दोनों में केवल आलम्बन को ही प्रतीति होती है,
आश्रय का नहीं ।

यदि आप कहें कि उक्त दोनों स्वयोभावों में ओटा हो आश्रय होने हैं, तो यह समुचित नहीं
क्योंकि वे ही रसास्वाद के आश्रय हैं—उन्हें तो अलौकिक रस का चर्चा होनी है, या वे अलौकिक
हास और जुगुप्सा के आश्रय नहीं हो सकते ।

ननु तदाश्रयाक्षेपामावे का गतिरित्यत आह—

तदनापेक्षे तु, श्रोतु स्वीयकान्तावर्णनपद्यादिव रसोद्बोधे बाधकाभावात् ।

उपसहरति—

एव च संक्षेपेण निरूपिता रसा ।

अः रसध्वने रसबदलद्वारस्य च स्वसम्मत विषयविभाग निदिशति—

एषा प्राधान्ये ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वम्, गुणीभावे तु रसालङ्कारत्वम् ।

उभयोर्विभागे परकीयमत प्रतिपादयति—

केचित्—‘प्राधान्य एवेषा रसत्वम्, अन्यथाऽलङ्कारत्वमेव । रसालङ्कार-
उपदेशस्त्वंलकारध्वनिव्यपदेशवद्, ब्राह्मणश्रमणन्यायान् । एवममरःश्रमण-
वृत्तङ्गताप्रामेव, अथवा नु वरनुमानम् ।’ इत्याहुः ।

लौकिकयोर्हासजुगुप्सयोरपि कर्तृत्वादाश्रय कश्चित्लौकिक पुरय स्यादेव । स
एषानयोराश्रय कल्पनीय इति न वैपम्यमित्युत्तरपक्षामित्राय ।

तदनापेक्षे तु-आश्रयपुरुषविज्ञेयाकल्पनेऽपि । पुरय स्वकान्तावर्णनपद्य शृण्वन्
लौकिकरतेराश्रयोऽपि यथा शृङ्गारस्याविभावस्यालौकिकतेरप्याश्रयो भवति, तदेव,
हासजुगुप्सयोरपि लौकिकालौकिकयोरेव एवाश्रय स्यात्, लौकिकभावस्याश्रयोऽ-
श्रयभावेनाप्यलौकिक भावस्याश्रयो न स्यादिति नियमस्यामावादिति सारम् ।

एवमुक्तप्रकारेण । आलम्बनाद्यनन्ततया रसानामनवधिप्रभेदाना निरूपयितुमन-
र्हत्वेन संक्षेपेणैव निरूपणमवश्यम् ।

रसस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वे ध्वनि, अङ्गत्वेन व्यङ्ग्यत्वे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदी
रसबदलकार इत्युभयोर्विमलविषयव्यवस्थेरेषम् ।

एषा-रसाना प्राधान्ये सत्त्वेव रसध्वनित्वम्, अन्यथा-प्राधान्याभावे (प्रधानीभू-
तान्यस्य पोषकत्वे) तु पुनरलङ्कारत्व रसबदलद्वारत्वमेव, नतु ध्वनित्व
भवति । रसाना वाप्यारमणतया स्वयमतङ्गार्थत्वात्सङ्कार (रसबदलद्वार)
त्वस्य व्यवहारस्तु, ब्राह्मणश्रमणन्यायात् तथाहि—यथा पूर्वं ब्राह्मणे पश्चाद् वीर-

एक इडा मच ई, परन्तु वहा उन दोनों भावों के अश्रय किता दर्शक पुरय-विशेष का आक्षेप
कर लेना चाहिये अर्थात् ऊपर से उनको समझ लेना चाहिये ।

यदि एक आक्षेप करना नहा चाहें, तो श्रोता को ही आश्रय समझिये, जहाँ मरती विरयक
वर्णन वाले यषो को सुनकर पति को रस का उद्बोध होता है, वहाँ जेठे लौकिक प्रेम और अलौकिक
रस दोनों का आश्रय वह पति ही होता है, वैसे वहाँ भी एक ही श्रोता को लौकिक हास-जुगुप्सा
और अलौकिक हास-रोमरस रस दोनों का आश्रय मान लेने में कोई बाधा नहीं ।

इन तरह आक्षेप में रसों का निरूपण समाप्त हुआ ।

अब रसध्वनि तथा रसवद् आदि अलङ्कार के लक्षणों का विभाग करने हैं—‘एषाम्’ इत्यादि ।
नहीं ये रस प्रधानतया व्यङ्ग्य होते हैं, वहाँ ‘रसध्वनि’ का व्यवहार होता है और जहाँ ये ‘रस’ अश्र-
य से व्यङ्ग्य होते हैं, वहाँ ‘रसालङ्कार’ का व्यवहार होता है ।

कुछ लोगों का कथन है कि जब ये प्रधान हों तभी इनको रस कहना चाहिये, गौण हो जाने
पर तो ये अलङ्कार-मात्र कहें आ सकते हैं अर्थात् उनमें तब रस विशेषण नहीं लगता न कहता ।

रसानामसलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्व व्यवस्थापयति—

एते चासलक्ष्यक्रमन्यङ्ग्या सहृदयेन रसव्यन्ती भगिति जायमानान्
विभावानुभावव्यभिचारिविमशंत्रमस्य सतोऽपि, सूचीशतपत्रपत्रशतवेवक्रमस्यै
वालक्षणात् ।

सत्यासिनि (श्रमणे) 'साम्प्रतिकामावे भूतपूर्वस्यावगति इति सिद्धान्तन तत्कालिक
ब्राह्मणत्वानावेऽपि प्राचीनब्राह्मणत्वमादाय 'ब्राह्मणभ्रमणोऽयम्' इति व्यवहार , यथा
वा प्राधान्येन व्यञ्जमानतया ध्वनिरूपता ब्रजत्यलङ्कारे स्वयमलङ्कार्यत्वेन परालङ्कार
कत्वलक्षण तात्कालिकातङ्कारत्वविरहेऽपि भूतपूर्वातङ्कारत्वमादाय 'असङ्कारध्वनि
इति व्यवहार , तथैव रसानामलङ्कार्यत्वेऽपि भूतपूर्वगत्या रसालङ्कारत्वव्यवहारी
बोधय । एव-रसध्वनित्व रमयदतङ्कारत्व च, एषा रसानाग असलक्ष्यक्रमनामानेव
अन्यथा सलक्ष्यक्रमताया तु सेऽर्थाभ्याम् वस्तुमात्र न तु रसा इति केविदाहुरित्यय ।
केविदित्यनेन सूचिनारविबोजन्तु पूर्वोक्तरीर्यैव रसालङ्कारत्वोपपत्तौ, तदर्थं भूत
पूर्वगत्याद्याद्यक्षणमधिकमनुचितमिति व्याख्यातार ।

एन-निरूप्यमाणा रसा भावावयवश्च असलक्ष्यक्रमन्यङ्ग्या न सम्पन्न लक्ष्य शानु
भावितया प्रत्येन वाग्यो वाच्ययङ्ग्याप्रतीयो-क्रमो वेपु नाङ्गा भवति रमयन्ती
कार्यत्वाया रम (प्रभृति) प्रतीती चिति शीघ्रतर जायमानाया, कारणान्य
वाच्यविनावादिविमशस्य य क्रम प्रवापरीभाव गत्य मना विद्यमानस्यापि मूल्या
शतपत्रमस्य समस्य पत्राणा जनस्य वेदे य क्रमस्येन सम्पन्न समीचीनतया ॥ ७ ॥

क्योंकि रस के सभा कल्पना मकर है जब तक अलङ्कार है और तब व 'रस' है जाने से तब
अलङ्कार हो जान है, जब तक रम कल्पन की बोधना ही नहीं रह जा। फिर भी जो
रसों में केवल अलङ्कार का 'दो' न का रसानङ्कार पर का प्रयोग करने है, उनके जल
ध्वनि पर का प्रयोग 'मा मनमना चाहिरे अथ व धनि (व्यङ्ग्य) अर्थ के अङ्कुर करने बने
को अलङ्कार कहा जाना है और ध्वनि (व्यङ्ग्य) को अङ्कुर है। इन स्थिति में जो धनि (व्यङ्ग्य)
ही गया, वह धनि अलङ्कार नह। कहा मरना, अब अलङ्कार ध्वनि ऐसा व्यवहार ध्वनि नहीं,
तथापि जैसे कोई ब्राह्मण बौद्धन को दाक्षा 'धना' (बौद्ध शिष्य) बन जाय, तब वह ब्राह्मण
नहीं रह जाना, फिर भा लोग होने पर ब्राह्मण रहने के कारण 'ब्राह्मण-प्रना' कहा जान है,
जिन्का अभिप्राय यह रहना है कि हमने ब्राह्मण-पुत्र में अक्षर संशय दिया है जो लक्ष
'अलङ्कारध्वनि' इस व्यवहार का तात्पर्य है—जो वह अलङ्कार था, अब वह ध्वनि है। अब रस रसों
में जो 'रसानङ्कार' ऐसा व्यवहार होता है, उनका भी आर्य मर हो गया अर्थात् जो कना रम था,
वह अभी अलङ्कार है वही तात्पर्य जहाँ भी गमकना चाहिये। उन लोगों का एक सुधार यह भी है कि
ये (स्यादोभार) रम नहीं कहे जाते हैं, जब असलक्ष्यक्रमन्यङ्ग्य के रूप में रहने हैं, मरपत्रन हो
जाने पर जो वस्तु अक्षर स ही इसका व्यवहार होता है

ये रम असलक्ष्यक्रमन्यङ्ग्य कहलाते हैं, क्योंकि महद्यों को रम की प्रतीति बहुत शीघ्र होती है
अन विभाव, अनुभाव और व्यञ्जिचारीभावों के विमर्श (प्रतीति) और रम को प्रतीति के मध्य में
जो क्रम वस्तुन रहता है, वह लक्षित नहा होना अर्थात् उनका ज्ञान नहीं होगा। देखिये—व्यङ्ग्य
की असलक्ष्यक्रमना को इत कराने के लिये प्रख्यार ने कितना वस्तुतक श्रमण पेश किया है, रमन
कमल के सौ पलों को टहाकर रखिये, फिर हम पर सूर्य चुभेइये, सौ-वे-सौ पतेगिनितमात्र में

ननु मा श्रम कल्पयामित्याशङ्का निराकरोति—

न त्वक्रमव्यङ्ग्या, व्यक्तेस्तद्धेतूना च हेतु-हेतुमद्भावाप्तङ्गत्यापत्तेः ।

अथ भक्तेरतिरिक्तरसत्वमाशङ्कते—

अथ कथमेत एव रसाः ? भगवदालम्बनस्य, रोमाञ्चाश्रुगातादिभिरनुभावितस्य, हर्षादिभि परिपोषितस्य, भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भवतरनुभूयमानस्य, भक्तिरसस्य दुरपह्लवत्वात् भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभाव ।

अवान्तरे भक्तिरसस्य शान्तरसेज्जन्तर्मावाशङ्क्य स्रष्टवति—

न चासौ शान्तरसेज्जन्तर्भवितुमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात् ।

णादप्रत्ययादित्यर्थं । यथा सूच्या कमलदलसतवेध द्रुततर क्रियमाणं पूर्वापरक्रम जीवपत्तिकल्पेन कल्पयामानोऽप्याशुभावितया न सम्यग् लक्ष्य, तथैव वाच्यनिभावादिप्रतीतिव्यङ्ग्यधरसादिप्रतीत्यो कार्यकारणरूपतया क्रम कल्पितोऽप्याशुभावितया सहृदयेन न सम्यग् लक्षणीय इत्यसलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्या एव रसादय इत्याशय ।

व्यक्तिवैयङ्ग्यिकप्रतीति । हेतुहेतुमद्भाव कार्यकारणभाव ।

विभावादिप्रतीति-रसादिप्रतीत्यो नमो नास्त्येवेति वक्तुं न शक्यम्, यतस्तयो क्रमाभावे (योगपक्षे) कार्यकारणभावस्वैवासम्भव कार्योत्पत्त्यव्यवहितप्रावक्षणावच्छेदेन कार्याधिचरणवर्जित एव कारणत्वस्य स्वीकारादित्यमिसिद्धि ।

अथेति प्रश्नार्थवत् एत एव नवैव । हर्षादिमिव्यभिचारिभावैः । भगवद्भक्तौ सहृदयैः । अनुभूयमानस्यास्वाद्यमानस्य । अनुराग प्रीती रतिरित्यनघान्तरम् । स्थायिभाव—रसरूपयोर्मैक्योर्हृत्स्ययोरिव लौकिकालौकिकत्वाम्या भेदोऽवसेय ।

स्थायिभाव-विभावादिसमप्रसामप्रीतवतनात् सहृदयभगवद्भक्तानुभवप्रमाणितस्य भक्तिरसस्यापि दशमस्यापलभितुमशक्यतया रसाना नवत्वमेवेति नियमो न स्रष्टव्य इति पूर्वपक्षसाराश ।

विष आर्षेण, अथ भाव सौम्ये कि वे सव पत्ते एक ही वार भिन्ने, या कमस ? विवेक नहेगा जनरा, परगु मन मेरा नहीं समझना अथवा मन में ऐसा ही प्रतीत होता है कि एक ही वार सब पक्षे विष गये । वास्तविकता यह है कि पत्तों के द्वारा विष जाने से वेध के आगे पीछे वा कम हाज नहीं हो पाता, यही रीति यहाँ भी समझनी चाहिये ।

अट्यक्रम व्याप्य कहने से रसों को अक्रमव्यङ्ग्य नहीं समझना चाहिये क्योंकि क्रम है ही नहीं ऐसा समझना गलत होगा, क्रम है अथवा, केवल वह ज्ञान नहीं होता, यदि क्रम रहता ही नहीं, तो विभाव आदि की प्रतीति को कारण और रस की प्रतीति को कार्य जो माना गया है, यह अमंगल ही जगत्त क्योंकि कार्योत्पत्ति के पूर्वज्ञान में जो वहाँ (कार्योत्पत्ति देख में) नियमन सम्मिल रहे नहीं कारण नहलाना है, फिर से कारण और कार्य के मध्य में क्रम (पूर्वव्याख्या) का होना अनिवार्य है ।

अथ भक्ति नामक दशम रस की उद्गा वरन है—'अथ' इत्यादि । रस होने (नी) ही क्यों है ? क्योंकि भगवत् आदि पुराणों के श्रवण करन समय भक्त लोग विमता स्रष्ट अनुभव करने हैं, यह 'भक्ति' नामक दशम रस भी अट्यन करने योग्य नहीं है । साक्षात् भगवान् एव रस के अट्यम्बन हैं, भागवत-श्रवण आदि लक्ष्यन हैं, रोमाञ्च, अश्रुगत आदि अनुभाव हैं और हर्ष आदि सारादीभाव हैं । तथा इनका स्थायीभाव है भगवान् के विषय में प्रेम-रूप 'भक्ति' ।

समादधाति—

उच्यते—भक्तेर्देवादिविषय-रतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्त ।

‘रतिर्देवादिविषया, व्यभिचारी तथाञ्जित ।

भाव प्रोक्तरसदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिता ॥’

इति हि प्राचा सिद्धान्तात् ।

तथैव पुनरुच्यते—

न च तर्हि कामिनीविषयाया अपि रतेर्भावत्वमस्तु, रतित्वाविशेषात् । अस्तु वा भगवद्भक्तेरेव स्थायित्वम्, कामिन्यादिरस्तीना च भावत्वम्, विनिगमकाभावादिति वाच्यम् ।

असौ भक्तिरसः ।

भक्तिरसस्यायिमावस्य भगवदनुरागरूपत्वाच्छान्तरसस्यायिनो निर्वेदस्य च वैराग्यरूपत्वाद् विरद्धस्यायिकस्य रसस्य विरद्धस्यायिके रसेऽन्तर्भाससम्भवान्न भक्तेरान्तेऽन्तर्भाव इति भावः ।

उच्यते समाधिरिति शेषः ।

देव-गुरु-पितृप्रभृतिविषयकरति, प्राधान्येन अञ्जितोऽभिव्यक्तिविषयीकृतो व्यभिचारिभावश्च भावः प्रोक्तः । अनौचित्येन लौकिकोपपत्तिराहित्येन प्रवर्तिता काव्ये व्यवहृता रसा भावाश्च तदाभासा रसाभास भावाभासाश्चेति कारिकायं । प्राचा काव्यप्रकाशकाराणाम् ।

मन्वेर्देवादिविषयकरतिरूपाया काव्यप्रकाशकाराविप्राचीनालङ्कारिकसिद्धान्तानुमतत्वेन यतो भावत्वमेव, ननु रसत्वम् अतोऽतिरिक्तस्य दशमस्य भक्तिरसस्य न सम्भव इति समाधानपक्षामिप्रायः ।

यथा कामिनीविषयकरती रतिरव, तथैव देवादिविषयकरतिष्वपीति तुल्यताया कामिनीविषयकरतेरेव वद्य स्थायित्वम् अपरासा च रस्तीना साधारणभावत्वमङ्गीक्रियते ? द्वैतस्य बीजामावाहित्यक पूर्वपक्षः । यथा विनिगमकाभावाद् भवदङ्गी-

यदि आप कहें कि ‘भक्ति-रस’ वा अन्तर्भाव शान्-रस में ही ही जयगा, अतः वह अतिरिक्त नहीं तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि ‘भक्ति-रस’ वा स्थायित्व अनुराग है, और ‘शान्-रस’ का वैराग्य (निर्वेद), जो रसों परस्पर विरुद्ध है, फिर उन दोनों स्थायित्वों को अन्तर बनकर होने वाला ‘भक्ति’ और ‘शान्’ रसों में से कोई एक दूसरे में अन्तर्भूत नहीं हो सकता ।

उक्त रीति से दशम ‘भक्तिरस’ है, यह स्पष्ट स्थित हो चुका, अब उसका समर्थन देने हैं— ‘उच्यते’ इत्यादि । शब्दार्थ यह है कि देवता आदि से स्वयं से जो रस (प्रेम) होता है, उसी को भक्ति रस है, अतः वह भाव है, रस नहीं, क्योंकि देवता आदि से विषय में होने वाला रस और व्यञ्जनावृत्ति से शान् रूपे व्यभिचारीभाव ‘भव’ कल्पान है और अनुपिण रसे स ‘वृत्त रस तथा भाव क्रमशः ‘रसाभास’ और भावाभास’ कहलगा है यह प्रथम आचार्यों का सिद्धान्त है ।

अब कहेंगे—यदि ऐसी ही बात है, तो कामिनी के विषय में जो रस (प्रेम) होता है उसको भी भाव मानिये, क्योंकि देवतादिविषयक प्रेम और कामिनीविषयक प्रेम में कोई भेद नहीं है—

द्वयो पूर्वपक्षयोरेकमेव समावाहमाह—

भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्ययोगात् ।

उक्त समयपत्ति—

अन्यथा पुत्रादिविषयाया अपि रते स्थायिभावत्व कुतो न स्यात् ? न स्याद् वा कुत शुद्धभावत्व जुमुप्साशोकादीनाम् ? इत्यखिलदर्शनवैयाकुली स्यात् ।

मन्त्रे रसत्वस्य स्वाकारे दोष दृश्यन् प्रसङ्गमुपसंहरति—

रसाना महत्वगणना च मुनिवचननिर्यानिता भव्येत, इति यथाशास्त्रमेव ज्ञाय ।

कृतिप्रतिकूल मगवद्विषयकरतेरेव स्थायित्वम् कामिवादिविषयकरतीनामेव च भाव स्वमङ्गोक्रियनामिति द्वितीय पूर्वपक्ष ।

अथ साहित्ये भरतप्रभृतिमुनिवचनानामेव, न तु साधारणजनोक्तीना रसत्वस्य भावत्वस्य च व्यवस्थ पने स्वातन्त्र्यायोग सर्वाधिकारिता यतोऽस्ति, तस्मात् स्वेच्छया विवरीनकल्पना नान्न कर्तुं शक्यत इत्याशय ।

'स्वातन्त्र्यायोगात् इति पाठ तु भरतादिभिन्नवचनाना रसभावव्यवस्थापन स्वातन्त्र्याभावादित्यथ ।

अन्यथा—भरतादिवचनानामेव रसादिव्यवस्थापन स्वातन्त्र्यानभ्युपगमे । पुत्रादिविषयत्वे रतेरपुष्टजोपलक्षकम् । शुद्धभावत्व स्थायित्वामभूषणव्यभिचारिभाव एवम् । अखिलदानस्य ममस्तसाहित्यशास्त्रस्य वैयाकुली व्याकुलत्वमव्यवस्थित्यन्व मिति यावत् ।

कस्यापि रसादिविषय व्यवस्थापकस्यानभ्युपगमे विरूपत्रतकमम्पकां सक्त साहित्यशास्त्रमेधानिमज्जित रसादिति भरतादिवचनाना रसादिव्यवस्थापनत्वाङ्गीकार भावश्यक इति भाव ।

इति हेतौ । शास्त्र भरताद्यनुसामनमनतिक्रम्य यथाशास्त्रम् । ज्ञायम् श्रेष्ठम् । यदि प्रक्तिरसोऽपि ददामी भवेत्, तर्हि भरतमुनिना तत्कदृष्टया निर्णयितस्य रसाना

साहित्य शास्त्रे दोष ही तो है, अथवा मगवद्वेले की ही श्रुति वा स्थापना मान हीजिये और कामिनीविषयक रति की ही मधारीभाव क्योंकि इनमें कोई रसम शुद्धता है नहीं कि इन दोनों में से अनुक को ही स्थायी भाव मानना चाहिये ।

उक्त श्रुति के उत्तर में देव ब्रह्म है कि साहित्य में रस भाव आदि का व्यवस्था भरत की मुनियों के बचनों के अनुसार ही होती है, अतः इन विषय में अनुसामना का स्थान नहीं है अतः भरत की मुनियों के देवता आदि विषयक रति को भाव और कामिनी विषयक रति को स्थायी भाव माना है, इन दोनों ही लोगों के ही वेना ही मानना चाहिये ।

यदि रस भाव आदि के विषय में किसी को सामाजिक व्यवस्था देने वाला नहीं माना जाय अतः वेदात्मक में याम दिया जाय, तब ही मन्त्र साहित्यशास्त्र ही कदृष्टता ददाय, इसी वेद में ही रस भाव आदि के विषय में जो मान विना का प्रोच दत्त है, उनको भी स्थायी भाव और जुमुप्सा तथा शोक का मुक्त (रस का नहीं) मधारीभाव क्यों नहीं मान दिया जाय ?

इतः तर्क भरत आदि मुनियों के व्यवस्थापक मान देने पर दत्त 'मन्त्र-रस' का स्वीकार न

अथ प्रसङ्गाद् रसाना परस्परमविरोध विरोध च निर्दिशति—

एतेषा परस्पर करैरपि सहाविरोध, करैरपि विरोध । तत्र—वीरशृङ्गारयोः, शृङ्गारहास्ययोः, वीराद्भुतयोः, वीररौद्रयोः, शृङ्गाराद्भुतयाश्चात्रि-
रोध । शृङ्गार-बीभत्सयोः शृङ्गारकरणयोः, वीरभयानकयोः, शान्तरौद्रयोः
शान्तशृङ्गारयोश्च विरोधः ।

इत्य रसानामविरोध च प्रदश्य प्रवन्धे मिथा विरुद्धरसनिवशाभावमुपदिशति—

तत्र कविना प्रवृत्तरस पारपोष्टुवामेन, तदभिव्यञ्जके वाग्य तद्विरुद्धरसा
ङ्गाना निवन्धन न कायम् 'तथाहि सति, तदभिव्यक्तौ विरुद्ध प्रकृत बाधत ।
मुन्दोपमुन्दन्यायेन बोभयोरपहति स्यात् ।

नवलसङ्घभावच्छिद्रसत्वस्य भङ्ग प्रसज्यत, तस्माद् रसभावादिब्यवस्था सरताद्यनु
शासनानुसारिष्येव सर्वथा भेदसीनि सारम् ।

एतेषा रसानाम् । अविरोध उपकार्योपकारभावो विरोधश्च बाध्यबाधकभाव ।
चकारेण शान्ताद्भुतयोः, वीरवीभत्सयोश्च ताटस्त्वस्य सग्रह । तत्र रसाना विरोधमा-
त्रप्रदर्शन दर्पणे यथा—

'आद्य करुण-बीभत्स-रौद्र-वीर-भयानकं ।
भयानकेन करुण-नापि हास्यो विरोधभाक् ॥
करुणो हास्यशृङ्गार-रसाभ्यामपि तादृश ।
रौद्रस्तु हास्य-शृङ्गार-भयानकरसैरपि ॥
भयानकेन शान्तन तथा वीररस स्मृत ।
शृङ्गार-वीर-रौद्र-हास्य-शान्त-भयानक ॥
शान्तस्तुवीर शृङ्गार रौद्र हास्य भयानकं ।
शृङ्गारेण तु बीभत्स इत्याख्याता विराधिता ॥ इति ।

तत्र-तेषु रसेषु, प्रकृत मृगत प्रम्नत रस परिपाटकामन प्रवर्तितुमिच्छता
कविना, काव्ये विरच्यमानप्रवन्ध तद्विरुद्धरसाङ्गाना प्रकृतरस-विरोधिरसविभावा
दीना, निवन्धन निवेदान, न कायम् । हि यत, तथा प्रवृत्तरसविरोधिरसाङ्गानामनिवध
सति, तदभिव्यक्तौ विरुद्धरसस्य स्वाङ्गं पोषितस्य प्रतीतो विरोधो रस सदाचित्त
प्रबल प्रवृत्त रस वापेत । उभया प्रवृत्तरस-विरोधिरसया समवलत्व वा मुक्त चमुद-
न्यायेन परस्परमुपहृतिरुपघात स्यादित्यथ ।

करुणा हा उचित है, अन्यथा भरतमुन ने बहुत सीच समझकर ना रसों को मिला नो बटाई है,
वह अममन हो जयगी । तात्पर्य यह है कि इन सब विरोधों में शास्त्रों का अनुसरण करते चलना
हो व्यवहार है ।

अब रसों का परस्पर अविरोध और विरोध का विचार करते हैं—'एतेषाम्'—इत्यादि । इन
रसों का अममन में किसी के साथ अविरोध है और किसी के साथ विरोध । रौद्र-वीर और शृङ्गार
में, शृङ्गार और हास्य में, वीर और अद्भुत में, वीर और रौद्र में एवं शृङ्गार और कर्म में वीर और
भयानक में, शान्त और रौद्र में तथा शान्त और शृङ्गार में परस्पर विरोध है ।

प्रम्नत रस को अच्छी तरह पुर करने की चाह यदि करने को हो अथवा यदि मनको इच्छा हो

प्रयोजनवशाद् विरुद्धरसयोरपि क्वचन समावेशमनुशासत् तस्य प्रकाशमुपदिशति—
यदि तु विरुद्धयोरपि रसयोगेकत्र समावेश इष्यते, तदा विरोध परिहृत्य
विधेय । तथाहि—विरोधरतावद् द्विविध, स्थितिविरोधो ज्ञानविरोधश्च ।
आद्य—सर्वाकारणावृत्तिरूप । द्वितीय—तज्ज्ञानप्रतिबन्धज्ञानकत्ववश्याः ।
तत्राविकरणान्तरे विरोधिन स्थापने प्रथमो निवसति । यथा—नायकगतत्वेन
वीररसे वर्णनीये, प्रतिनायके भयानकस्य ।

सोदरी सुन्दोपसुन्दनामानौ ईश्वरी साहकायायेकत्रैव स्त्रियामासक्त्या विरुद्धौ
तुल्यबलत्वात् परस्परमभिजपन्तुरित्योह पौराणिकमितिपुस्तम् ।

एकत्र प्रबन्धे । इष्यतेऽभिलष्यते कथितेति शेष । आद्य स्थितिविरोध, ज्ञान-
स्मिन्नधिकरणेऽवृत्तिरूप । द्वितीयो—ज्ञानविरोध, स च तज्ज्ञानेन विरोधिरस-
ज्ञानेन प्रतिबन्ध बाध्य ज्ञान यस्य, तत्त्वरूप । 'प्रतिबन्ध' स्वाने 'प्रतिबद्ध' इति पाठे
तु प्रतिबद्ध बाधित ज्ञान यस्य, तत्त्वरूप इत्यर्थं । 'प्रतिबद्धज्ञानजनवरुम' इत्यप-
पाठ प्रत्यक्षातिरिक्त, ज्ञान प्रतिविषयस्य जनकत्वाभावात् । तत्र—तयोर्विरोधयोर्मध्ये
प्रथम स्थितिविरोधो विरोधिरसयोरधिकरणभेदेन स्थापने निवृत्तो भवति । यथा—
नायके वीररसस्य, प्रतिनायके च भयानकरसस्य यदि वर्णन कविना क्रियेत, तदैक-
स्मिन्नपि बाध्यप्रबन्धे विरोधिनोरपि वीरभयानकरसयो समावेशो विरोधनिवृत्त्या
न दोषाय कल्पत इति सारम् ।

कि मेरे काव्य में अमुक रस का परिपाक पूर्णत्वा हो, तब हमसे चाहिये कि उस रस को अभिव्यक्त
करने वाले काव्य में हमसे विरुद्ध रस के वर्णों का वर्णन न करे क्योंकि विरुद्ध रस की अभिव्यक्ति होने
पर वह प्रस्तुत रस को बाधित करेगा अथवा 'सुन्दोपसुन्द' शब्द से दोनों रस गूढ हो जायेंगे अर्थात्
एक का भी परिपाक न हो सकेगा । सुन्द और उपसुन्द की कथा महाभारत में आई है, दोनों सौंदर्य
आई थे, अज्ञानी के बरदान से दोनों ही अशुभ हो गये जेहन अपने भाइयों में से एक दूसरे को मार
सकता था, जिसकी कोई सम्भावना ही नहीं थी, परन्तु भागी की गति प्रबल होती है, किसी सुन्दरी
अपरा में दोनों आसक्त हुये, जिसमें दोनों में मेरे अल्प दुःख और उसके लिये दोनों आपस में छद्म
का मर मिट । हम पर दोनों के समाज बलशाली होने के कारण आपस में छद्म का नष्ट हो जाने के
वश ही 'सुन्दोपसुन्द' शब्द कहते हैं ।

अब विरुद्ध दो ना अनेक रातों का सम्बन्ध यदि एक काव्य में करना चाहें, तो जैसे यह किया
जा सकता है । इसकी बगलसे है—'यदि तु' इत्यादि । यदि विरुद्ध रसों का एक जगह समावेश
करना हो, तो विरोध का परिहार करके करना चाहिये । विरोध-परिहार का प्रकार भी सप्त-
विधे । विरोध का प्रकार दो है—एक स्थिति-विरोध और दूसरा ज्ञान-विरोध । स्थिति-विरोध का
मत्तल है—जिसी एक अधिकरण में दोनों का न रह सकना और ज्ञान-विरोध का मत्तल है—एक
के ज्ञान से दूसरे में ज्ञान का रूढ़ जाना अर्थात् एक ने ज्ञान होने पर दूसरे का ज्ञान यदि हो ही न
सके, तब ज्ञान-विरोध परत्पन्न है । उनमें प्रथम अर्थात् स्थिति-विरोध विरुद्ध रस को निरर्थक
कारण में स्थापित करने में निरुत्त हो जाता है । जैसे—नायक में यदि वीर-रस का वर्णन करना हो,
तो प्रतिनायक (धनुके शत्रु) में भयानक रस का वर्णन करना चाहिये ।

ननु नायकाद्यवृत्तीनां परब्रह्मवदपरिच्छिन्नानां रसानामेकस्मिन्नविकरणे सनादेशो विरोधो वा न सम्भवतीत्यत्र जाह—

रसपदेनात्र प्रकरणे तदुपावि म्यायिभावो गृह्यते, रसन्य सानाजिवृत्तित्वेन नायकाद्यवृत्तित्वान्, अद्वितीयानन्दमयत्वेन विरोवासम्भवाच्च ।

प्रथमविरोधपरिहारेण समावेगमुदाहरति—

उदाहरणम्—

कञ्चन चाहुकारो राजान स्तौति—

‘कुण्डलीकृतकोदण्ड-दोर्दण्डस्य पुरस्तव ।

मृगारतेरिव मृगा, परे नैवावतस्यिरे ॥’

अत्र प्रकरणे विरोध-समावेगात्प्रस्तावे तदुपायो रसानां स्यिरो धर्म स्यादिभाव ।

वेद्यान्तरस्पर्शाभ्यानां मच्चिदानन्दनसमानामपरिच्छेद्यानां नायकाद्यविकरणेन वृत्तीनां रसानामद्वितीयतया मिया विरोधस्य समावेगस्य वासन्धव इति तु न विभावनीयत एव इत्यत्र रसपद रतीपाधे रसत्वसाम्यस्य वा स्यादिभावस्य बोधकम् । तस्य चापरिच्छिन्नत्वामावात्र विरोधो न वा समावसोऽसम्भव । तथा चास्य काव्य-प्रकाशे—‘आद्यदैक्ये विरहो यः, न कार्यो भिन्नमश्रय । रसान्तरणाल्लिखो नैरन्तरेण यो रस ॥’ इति, रसनदेनात्र प्रकरणे म्यायिभाव उपलभ्यत । इति च ।

रे राजन् ! समराज्जणे, कुण्डलीकृतमत्पाकर्षणेन वर्तनीकृत कोदण्ड धनुर्पात्या, तादृशी दोर्दण्डी भुजपरिधौ यस्य, स तयात्, तथाभूतस्य बुराहुट्टप्रभुत्वात् पुरोऽग्रे, मृगारतेरिव तिसृषु पुर मृगा हरिणा इव, परे सत्रवा नैव अवतस्यिरे मीत्या इव पलायाञ्चकिर इत्ययं ।

इह नामके वर्तनीयतृपे बीररसस्य, प्रतिपादनेन प्रतीपतृपेन च प्रमानकरस्य समावेगो मया न बोधाय, तयाऽन्तरापि बोध्यम् । नृनस्यस्य द्विरपादान्नु किञ्चि-त्त्वमत्तुति विच्छिनत्ति ।

इस एकदश में एक-दश से एकके अ-भिस्वभ्यम्ब-बोधो का अर्थ समझने के लिये सर्वो-रस सामाजिकों (नटक के दर्शक एवं काल के अर्थक) में रहता है—एक अर्थ में नहीं । दूसरी बात यह कि रस अद्वितीय अजर-मव है अर्थात् ब्रह्मत्व है—जसके धान होते समस्त अन्य चिन्तों का इन होठ ही नहीं, निर रसों में परस्पर विरोध का होना सम्भव है ।

मिथि-विरोध के लिये दूर किन्ना वा नकल है, एकाक एव-रस देखिये ।

कोई कवि रस की चानुनी काल है—हे राजन् ! युद्ध में जब अपने कान एक ही-च का कुम्हट के समान गेटेड किये हुए धनुष की हाथ में छिन्न, एक अस्त्रके अग्रे हनु रसने टार नहीं टार सके, मिस टार मिर के अग्रे मृग नहीं टारते अर्थात् धनुष लेकर युद्ध में अस्त्रके अग्रे ही रस के बारे शत्रु मग सत्रे हुये । यहाँ नयक में ‘वीर’ और प्रतिनयक में ‘अनन्य’ का बर्तन किन्ना रस है जो मिय अधिकार में मिथि होने से दोष-धनक नहीं है ।

द्वितीयविरोधनिवर्तनादेकत्र समावेशस्योपायमभिधाय तदुदाहरणं दर्शयति—
रसान्तरस्याविरोधिनः सन्धिकर्तुरिवान्तरालेऽवस्थापने द्वितीयोऽपि निव-
र्तते । यथा मन्त्रिमत्तायामाख्यायिकायां कण्वाश्रमगतस्य श्वेतकेतोर्महर्षे शांत-
रसप्रधाने वर्णने प्रस्तुते—‘किमिदमनाकल्पितपूर्वं रूपम् ?’ कोऽयमनिर्वाच्यो
वचनरचनायां मधुरिमा ?’ इत्यद्भुतस्यान्तरवस्थापनेन ‘वरवर्णिनी’ प्रत्यनुराग-
वर्णने ।

द्वितीयविरोधनिवृत्तरदाहरणान्तरं दाह्याय प्रनिपादयति—

यथा वा—

सद्यः समरोत्सृष्टशरीर-बीरवृत्तं वर्णयति—

सुराङ्गनाभिराश्लिष्टां व्योम्नि वीरा विमानगा ।

विलोकन्ते निजान् देहान्, फेरनारीभिरवृत्तान् ॥’

सन्धिकर्ता निरुद्धवर्णनीकारकः । अन्तराले द्वयोर्मध्ये । द्वितीयो ज्ञानविरोधः ।
कञ्च श्वेतकेतुश्च महर्षीः । अनाकल्पितपूर्वमदृष्टाश्रुतपूर्वम् । वरवर्णिनी तदाख्याऽऽख्या-
यिकायां नायिका ।

अत्र प्रथमं शांतस्तदनु शृण्वारी रसश्च नियो विरहो रथापिर्तां ध्रुव दोषस्य
कल्पेताम्, यदि विरहयोस्तमोर्मध्ये, सन्धिकृदिवोमयाविरुद्ध ‘किमिदम्’ इत्यादि-
वाक्यद्वयस्यङ्गपोऽद्भुतरसो न सन्निवेशयेत् । तथा विहिते तूमयोर्नैरन्वयांमावाज्ज्ञान-
कृतां विरोधो निवृत्त इति न कोऽपि दोषः ।

सुराङ्गनाभिरमरनारीभिः (अम्भरोभिः) आश्लिष्टां वदाश्लिष्टां प्रागनुपलब्धा-
त्वाद् गाढ सप्रणयमातिङ्गिता, व्योम्नि गगने, विमानगा (सद्यः एतरे हता स्वर्गं
गन्तुं) व्योमयानारुहा, वीरा धुरा, फेरनारीभिः, श्रेष्ठीभिः, आवृत्तान् मासलो-
भेन वेष्टितान्, (रणभूमिं निपत्यागान्) निजान् स्वोयान्, देहान्, विलोकन्ते
सोत्साहं परपत्नीत्यर्थः ।

अत्र द्वितीयं ‘ज्ञान-विरोध’ को निवृत्त करन की विधि वतल— ई—‘रसान्तर’ इत्यादि । ज्ञान
विरोध भी तत्र निवृत्त हो जाना है, जब उस दोनो विरोधी रसों के बीच में सन्धि (सुट्टह) करने
बाने को तरह बिनी अविरोध (जो उन दोनो रसों का विभाषा न हो) रस को स्थापित कर दिया
जाना है । जैसे—मेरी (पण्डितराज की) आरुणायिना में—ज्याश्रम में मिक महरि रवेलेनु के
ज्ञान रस-प्रधान वर्णन के प्रस्तुत रहने पर ‘यह कैसा अमनुभूत रूप है, यह कैसी अरुणीय वचन-
परीयटी को मधुरता है’, इस तरह अद्भुत रस को मध्य में रच कर वरवर्णिनी—नामक नायिका के
प्रति प्रेम का वर्णन किया गया है । यहाँ ज्ञान और शृण्वार इन दो विरोधी रसों के बीच में उन
दोनों का ही अविरोधी अद्भुत रूप गया, जिससे उन दोनों का ही विरोध मिट गया क्योंकि लक्षण-
रहना ही विरोध का मूल था, वह अब नहीं रहा ।

अवस्था-कोई कवि युद्ध में भर कर स्वर्ग जाने बाने हीरो के वृत्तनों का वर्णन करता है—(युद्ध
में मरे हुये) वीर नव देवाक्रान्तों (अम्भराओं) से आश्लिष्ट होकर, विमानों में बैठे हुये, आरुण-
मर्ग से (स्वर्ग जाने रहते हैं), तब वे (रणभूमि में) निपत्याग पड़े हुये जाने देहों को मादा-
सितारों से घिरे हुये देखते हैं ।

उपपादयति—

अत्र सुराङ्गना-भृतशरीरयोरालम्बनयोः शृङ्गारबीभत्सयोरन्तः स्वर्गलाभा-
क्षिप्तो वीररसो निवेशितः । अन्तर्निवेशश्च तदुभयचर्वाणाकालान्तर्गतकालगत-
चर्वाणाकत्वम् । तच्च प्रकृतपद्ये प्रथमार्धे एव शृङ्गारचर्वाणोत्तर वीरस्य चर्वाणाद-
नन्तर च द्वितीयाधे बीभत्सस्येति स्फुटमेव ।

पूर्वक्रमव्यन्यासेनोदाहृष्टान्तर पुनर्दर्शयति—

'भूरेणदिग्धान्' इत्यादिकाव्यप्रकाशगतपद्यकदम्बे तु प्रथमश्रुतबीभत्ससाम-
ग्रीवशाद् बीभत्सचर्वाणोत्तर तत्सामग्र्याक्षिप्त-निश्चङ्कप्रापन्यागादिरूपसामग्री-
कस्य वीरस्य चर्वाणे, शृङ्गारचर्वाणेति विवेकः ।

अत्रास्मिन् पद्ये । सुराङ्गना शृङ्गारस्य, भृतशरीरश्च बीभत्सस्यालम्बनम् ।
अन्तर्मध्ये । स्वर्गलाभेन पूर्वाग्रप्रतिपादितेन, आक्षिप्त उदाहस्यापिद्वारेण बोधिनी
वीररस शृङ्गारबीभत्सयोरविरोधी, निवेशितचर्वाणागोचरता नीतः । चत्वर्ये ।
तदुभयस्य विरहदरसद्वयस्य गौ चर्वाणाया कालौ, तदन्तर्वर्ती मध्यमनीय कालः, तत्र
चर्वाणा यस्य, तत्त्वमन्तर्निवेशः ।

इहोदाहरणे सुराङ्गनालम्बनशृङ्गाररसचर्वाणाया पश्चात् शवालम्बनबीभत्-
स्रसचर्वाणायाश्च प्राक्, विरोधिनास्तयो रसयोरविरोधसम्पादनाय मध्ये तदुभया-
विरहद्वयं विलोकनोत्साहस्याधिकवीररसस्य सन्निवेशाददोष इत्याशयः ।

इयत् पुनरपि विभावनीयम्— आद्य कथण-बीभत्स-रीड-वीर-मयानकैः । इति
द्वयं शृङ्गारस्य यथा बीभत्सो विरहः, तथैव शीरोऽपि, तस्माद् विरहयो
शृङ्गार-बीभत्सयोरविरोधसम्पादनाय कथं वीरस्यान्तरसमावेशं सृज्यते ?
नाटस्थ्याभावात् ।

'भूरेणदिग्धान्' नवपारिजात-मालारबोधासितवाहुमव्या ।
गाढ शिवानि परिगम्यमाणान्, सुराङ्गनाक्षिप्तमुजान्तरात्ता ॥
ससो गिहं क्रय्यमुजा स्फुरद्भिः, पक्षं खगानामुपवीज्यमानान् ।
सवीजिताञ्जन्दनवारिभिरं सुगन्धिभिः कल्पलनादुकूलैः ॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णा, कुजुहनाविष्टतया तदातोम् ।
निर्दिश्यमानांलननाग्नुभोमिर्वीरा म्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥'

यहाँ देखाइनाओ को अलम्बन मान कर शृङ्गार-रस और वीरों के मूलक शरीरों को अलम्बन
मान कर बीभत्स-रस की प्रतीति होती है और ये दोनों रस परस्पर विरुद्ध हैं, अतः इन दोनों के
मध्य में तदुभयाविरोधी वीर-रस का निवेश किया गया है । यद्यपि वीर-रस-व्यञ्जक शब्द यहाँ नहीं
हैं, तथापि स्वर्ग लाभ की बात से उमका आदेश हो जाता है । अन्तर्निवेश-रस में प्रवेश-का अर्थ
यह है कि परस्पर विरोधी रसों के सम्बन्धन का जो समय है, उसके मध्य के समय में तदुभय सम्बन्ध-
न होना । यह यहाँ स्पष्ट ही है क्योंकि उक्त पद्य के पूर्वार्ध में शृङ्गार-रस का अन्वयन होने के बाद
वीर-रस का आस्वाद होता है और उसके बाद द्वितीयाधे में बीभत्स-रस का ।

'भूरेणदिग्धान्' -- वनिजानपश्यन् ॥'

यह सुद-भूमि का वर्णन है । सुद में मारे गये शीतों को विमानों पर सवे सद्य पड़ों के कर रैद्य

उपसहरति—

इत्थ चोदासीनचर्वणेन प्रतिबन्धकज्ञाननिवृत्तौ, निष्प्रत्यूह प्रतिबन्धचर्वणो-
दय इति फलितोऽर्थः ।

इति ध्वन्यालोक—काव्यप्रकाशोद्धृत-पद्यप्रयात्मकैश्च वाक्यावशेषः । प्रथमं पूर्वं
श्रुताऽवगता बीमत्तरसस्य या सामग्री, तद्वशात् तस्या बलाद् बीमत्सस्य चर्वणा,
तदुत्तर, तत्सामग्र्या बीमत्तरसास्वादादनवकारणकूटेन, आतिप्ता प्रतीतिपदबीमव-
तारिता निरुद्धप्राणत्यायादिरूपा सामग्री, बीररसप्रतीतिकारणकूट मस्य, ए
तयोक्त तयाभूतस्य बीरस्य चर्वणा आस्वादे निष्पन्ने इति, शृङ्गारस्य चर्वणा
भवतीति विवेक पूर्वस्मात् पृथग्विचार इत्यर्थः ।

श्रुताङ्गनेत्याद्युदाहरणे पूर्वं शृंगारस्य, मध्ये तटस्थत्वेन बीरस्य, अन्ते विरोधितौ
बीमत्तरसस्यास्वादः । 'भूरेणुदिस्पान्' इत्याद्युदाहरणे तु पूर्वं बीमत्सस्य, मध्ये
बीरस्य, अन्ते शृङ्गारस्य आस्वाद इति द्वयोरुदाहरणयोः क्रममात्रेण भेदः ।

इत्थ च उक्तप्रकारेण तु, उदासीनस्य तटस्थस्यान्तरालवर्जिनो बीररसस्य, चर्वणेन
प्रत्यक्षलक्षणज्ञानेन, प्रतिबन्धक यद् विरोधिरसज्ञान तस्य (आत्मविशेषगुणानामेवो-
त्तरवर्तिविशेषगुणानाम्यत्वनियमान्) निवृत्तौ विरली जातायाम्, निष्प्रत्यूह प्रति-
बन्धकानामावाप्तिरन्तराय, प्रतिबन्धचर्वणस्य द्वितीयविरोधिरसास्वादस्य, उदय
उत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः ।

ज्ञानाया अक्षयनावस्यामित्वान्मध्यमज्ञानोत्पत्तिसापे प्रतिबन्धकस्य प्रथमज्ञानस्य
विलये, प्रतिबन्धस्य तृतीयज्ञानस्योत्पत्तौ न किञ्चिद् बाधकमिति भावः ।

वर अस्वरायै स्वयं ले जा रही थी और उन्हें उत सम्यक् व अस्वरायै भदनी अट्टलियो के इशारे से
मुद्र-भूमि में गिरे हुए उनके वृत्त शरीरों को दिखा रहा थी तथा व वर अपने वन शरीरों को
कोटिकपूर्वक देख रहे थे । हा ' वन मृत्क मर्त्य शरीरों में और इन मर्त्य दिव्य शरीरों में किन्ना
अन्तर था ? श्रुत शरीर, श्रु-वृत्तियों से भ्रमर, श्रुगणियों से वन वर अट्टलियो और वाष्पशरी
पक्षियों के श्विर-टिस अत्र एव चमचमाते हुये एत्यों से लपे जा रहे व और वे दिव्य देह, अवन
परिजन-पुष्पों को मालाओं के परागों से सुगन्धित वसू वाने, सुताङ्गनाओं के अट्टलियों से मरे हुये
सुख-मर्त्यों से सुक चन्दन लठ के सेवों से सुगन्धित एव वन्द-वृत्तियों में प्राप्त दिव्यशक्तों के द्वारा
बने हुये, अस्वरायै से लपे जा रहे थे । इस आश्चर्यकाण्ड के एतों में तो एवम् बीमत्सस्य को मन्थी
का अंग होने के कारण उन्मा आस्वाद होता है और एतन्मर वाष्पमरम को मन्थी से अश्रु-
निन्ददापूर्वक-आ-स्वादि रूप समझा से वीर-रस का अस्वाद होता है, उनके बाद शृंगार का
अस्वाद होता है—एह भेद है । अर्थात् एतन्मर के एव में अन्तश्च शृंगार, वीर और बीमत्स का
अस्वाद होता है और अन्तश्च-अस्वाद के एतों में बीमत्स, वीर और शृंगार का अन्तश्च अस्वाद एत
होता है ।

इस तरह से पटित यह हुआ कि उदासीन रस के अस्वाद में प्रतिबन्धक विरोधो रस का एत
अव न्त हो जाता है (क्योंकि आत्मा के विशेष गुण ज्ञान अर्थात्, अद्वैत एत में होने बात् विशेष
एतों से न्त होते हैं, यह शरीरियों का गिहान्त है और रस, रस, मन्थ, मन्थ, मन्थ, मन्थ, मन्थ, मन्थ, मन्थ
द्वय, ज्ञान, रस, एत, एत, अर्थात्, संस्कार और एत ये विशेष गुण कहलते हैं वर को मन्थ
परिषे), एव द्वितीय विरोधो रस का अस्वादन विकल्पन से होता है ।

विरुद्धरसद्वयस्य प्रकारान्तरेण विरोधनिवृत्तिमाचष्ट—

अङ्गाङ्गिनो, अङ्गिन्यन्मिन्नङ्गयोर्वा न विरोध, अङ्गत्वानुपपत्तिप्रसङ्गान् ।

तत्र प्रथम विरोधनिवृत्तिप्रकारमुदाहरति—

यथा—

पुरस्ताद्विपतिता गतजोविना प्रेयसी प्रियो ब्रवीति—

‘प्रत्युद्गता सविनय सहसा सखीभि,
स्मेरैः स्मरस्य सचिवैः सरसावलोकं ।

मामश मञ्जुरचतैर्वचनैश्च बाले !,
हा लेशताऽपि न कथ वद सत्करोपि ॥’

प्रसङ्गनिवृत्ति—

इय च पुरो निपतिता प्रमीता नायिका प्रति नायकस्योक्ति ।

अङ्ग भाङ्गी व-अङ्गाङ्गिनो पोषकपोष्यौ, यौ रसौ, तयोर् यदि परस्पर विरोध स्यात्, तदा पोषकस्य तत्र दूषकत्वादङ्गत्वमेव नीपपद्येत, तथाऽप्यस्मिन् रमेऽङ्गनि प्रघटने, अङ्गपो पोषकत्व प्राप्तयो, मिषोविस्मयोरपि राजनि सेवकमोरिव, रसयाविरोधो नीपपद्येत, परकीयाङ्ग तथा स्वात्मव्यविरहेण विरोधासम्भवादिति स्वद्वयविरोधनिवृत्ते प्रकारद्वयमित्यभिप्राय ।

कथि बाले मुने । अथास्मिन् दिने सखीभिरासीमि, सह सहसा (मय्यागते) इदिति, सविनय विनयपुरस्मरम प्रत्युद्गता सत्करणाय प्रत्युपस्थिता स्मेरैरीपटा-सदलितै, स्मरस्य मदनम्य सचिवै सूचकतया सहस्यै सरसावलोकं सानुराग-निरीक्षणं मञ्जुर्नोरमा रचना विन्यासो येषां ते तपोसन्नस्नादूर्ध्वरतिलसितै, वचनैर्नापणैश्च (अन्यदिनवच) हा हन्त ! लेशतोऽपीपदपि मा कथ केन कारणेन न सत्करोपि नैव सम्मानयतीति वद कथयेत्यर्थं ।

प्रमीता मृता ।

अत्र अन्य प्रकार से विरोध इतने का युक्ति दिखाना है—‘अङ्गाङ्गिनो.’ इत्यादि । यदि दो रसों में परस्पर अङ्गाङ्गभाव अर्थात् पोष्य-पोषक भाव हो, तो विरुद्ध होने पर भी उन दोनों में विरोध नहीं होता क्योंकि यदि विरोध हो, तब अङ्ग-अङ्गीभाव ही न बने । इसी तरह जहाँ कोई एक रस अङ्गी-मुख्य हो और अन्यके अङ्ग दो ऐसे रस हों जो परस्पर विरोधी न हों, तो वहाँ भी उन अङ्गभूत रसों में विरोध उभय प्रकार नहीं होता, जिन प्रकार किसी एक राजा के परस्पर विरोधी सेवकों में वद नहीं होता अर्थात् विरोध दो स्वतन्त्रों में ही हो सकता है और जब स्वतन्त्रता नहीं—दोनों ही एक तीसरे के अङ्ग हैं, तब उनमें विरोध कैसा ?

जैसे—हा बाल ! नौटो, अज, गुम, सचिवों के साथ शीघ्र मागने में विनयपूर्वक उपस्थित होकर काममात्र को उगाने पड़ी, विकसित तथा सरस पितवनों से और सुन्दर रचना बाल वचनों से, मेरा मुँह भी सत्कर क्यों नहीं कर रही हो ?

वद आगे में क्यों हुई मृग नायिका के प्रति नायक की उक्ति है ।

उपपादयति—

इह नायिकालम्बना, अश्रुपातादिभिरनुभावरावेगविपादादिभिः सञ्चारिभिश्च व्यज्यमाना, नायकगता रतिस्तुल्यसामग्र्यभिव्यक्तने प्रवृत्तत्वान् प्रधानीभूते तद्गत एव शोके प्रकल्पकत्वादङ्गम् ।

नन्वालम्बनविच्छेदाद् स्तरत्राप्राप्तौ न च घोकाङ्गत्वमित्याकाङ्क्षायामाह—

यदि तु नायकगता रतिर्नात्र प्रतीयते, किन्तु निरुक्तसामग्र्या शोक एव प्रवृत्तत्वादित्या गृह्यते, तदा नायकालम्बना प्रत्युद्गमाद्यनुभाविता हर्षादिभिः परिपिता नायिकाश्रया रतिरेव तदङ्गमस्तु, नायिकागतरतेर्नायकशोकप्रकल्पहेतुना नाना भवंगम्मतत्वान् ।

नृपया सजानीयया सामग्र्या कारणकूटनाभिव्यक्ते । प्रवृत्तत्वान्मरण वृत्ते प्रस्तुतत्वान् । अत्र नायकनिष्ठे । प्रकल्पकत्वादुपकारयत्वान् ।

अत्र नायिकाऽऽलम्बनम् अश्रुपातप्रभृतयोऽनुभावा, आवेगादयश्च व्यभिचारिण तैः सम्भूयामिव्यज्यमाना शृङ्गाररसस्याधिक्येनायकनिष्ठा रति नायिकाया निष्ठानाशङ्क्यस्य, अश्रुपाताद्यनुभावितस्य, आवेगादिषोषितस्य, कारणरसस्यामिनः शक्यस्य प्रकल्पकत्वादङ्गमिति परत्र विरोधिनोरपि शृङ्गारकल्याणी प्रवृत्तेऽङ्गाङ्गनावाद् विरोधनिवृत्तेरिदमुदाहरणम् । ध्वनिधारास्तु—

‘अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिति रसान्धरे ।

परिषोष न नेतव्यस्तया स्यादविराधिता ॥’

इत्यङ्गरसपरिषोषाविधानादविरोधमाशसते ।

नायकरतिप्रत्ययस्यानुमयित्वादिह तुगा, आपृच्छान् इत्यनेन चारुति नूच्यते । निरस्तमामपया रतिव्यञ्जनेन तेनैव कारणकूटेन । तदङ्ग शोकस्य प्रकल्पम् । नायिकेत्यादिना हेतूपपत्ताम् । अत्र नायिकाया आलम्बनस्य विनाशाद्विरागध्वनाया नायकनिष्ठया रते प्रतीतिर्न सम्भवति, किन्तु तन्निष्ठस्य शोकस्यैव प्रतीतिरिति यद्यग्रह (न तु वास्तविकविचार) क्रियते, तर्हि नायकविषया या नायिकानिष्ठा प्राचीना रति, तस्या एव शोकस्योदकारकत्वादङ्गत्वमाप्त्याम्, तावताऽपि रते शोकाङ्गत्वस्य सिद्धत्वात् तादृशरतिस्तच्छोकषोषकत्वस्य विप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्प्रायासादिति नारम् ।

यदा नायिकाया अलम्बन मे नायक की रति (शृङ्गार वा इत्येवम्) अश्रुपातादि अनुभाव श्रेय आवेग, विरह आदि मत्तगीयशो मे अभिव्यक्त होते हैं और इन्हीं मत्तगीयशो मे अर्वात् मत्तगीयशो मे नायक का शोक (अश्रु पातादि) भी व्यक्त होगा है, परन्तु अलम्बन यहाँ शोक का ही शोके नायिका ने मत्तगीयशो से वही प्रस्तुत है, रति उनका शोषक है—अर्थात्, कारण । मत्तगीयशो को बढ़ाना ही यह अनुभव सिद्ध है ।

यदि यदा यह श्राव्य किण नायक की रति (प्रेम) यहाँ प्रतीत नहीं होती, परन्तु उन मत्तगीयशो मे उनका शोक ही शोके व्यक्त है, क्योंकि वही प्रस्तुत है अर्वात् मत्तगीयशो को शोके से वही देखकर शोक का होना सम्भव तथा स्वाभाविक ही है, तब तब नायिकाऽङ्ग रति को ही शोक का होना सम्भव तथा स्वाभाविक ही है, तब तब नायिकाऽङ्ग रति को ही शोक का अर्थ मत्तगीयशो

ननु नायिकानिष्ठरतिरिदानीयविलम्बानां नय शोचमुत्सुक्यादित्यथाह—

न च नायिकाया नाशान् तद्गताया रतेरमतिधानान् कथमङ्गतेति वाच्यम्
सन्निधानस्याङ्गतायामन्त्रत्वेन स्मर्यमाणायास्तस्या अङ्गत्वोपपत्तेः ।

इदं पुनरिह विवेचनीयम्—यद्यालम्बनविनाशाद्वाच्यकनिष्ठरतेरप्रतीतिरहाम्युप-
रम्यते, तदाऽऽश्रयविनाशाद्वाच्यकानिष्ठरते प्रतीति न्यङ्कार स्वान्, उभयोर्वैषम्ये
दोषानुपलम्बान् । यदि तु वक्ष्यमाणरीत्या स्मर्यमाणाया नायिकानिष्ठया रते
गोकाङ्गत्व न्याम्यम्, तदा तादृश्या नायकनिष्ठरतेरपि नच्ये साध्यान्नावात् ।

ननु रसानामपरिच्छिन्नत्वेन सञ्चिदानन्दरूपतया वेदान्तरस्पन्शून्यत्वेन च मिषो
वाच्यबाधकमावतस्यस्य विरोधस्योपकार्योपकारक भावसंगत्याङ्गाङ्गीभावस्य
च नय हनन इति चेत्, उच्यते—रसपदेनात्र प्रकरणे रस्यत इति व्युत्पत्त्या रसत्व-
योग्यतत्त्व्यापिभावपरत्वाभ्युपगमेन दोषान्नावात् । जन एव—'भूतान्तरे तु रसाना
स्यापिनो भावा उपचारान् रसयन्वेनोक्ता । इति ध्वनिहृनोऽप्यभिप्रेषते ।

सन्निधान सन्निकर्षं सत्त्वमिति यावत् । अनन्तरव कारणत्वेनाविषकितत्वम् ।
नायिकाया विनाशान् तन्निष्ठरतेरविद्यमानत्वेन शोचस्योपकारकत्वासम्भव इति च न
वाच्यम्, नायिकानिष्ठरतेस्तत्कालमविद्यमानत्वेऽपि, स्मर्यमाणायास्तस्या नायकनिष्ठ-
शोचोत्पत्तत्त्वसम्भवाद्भूत्वस्योपपत्तत्वादित्यभिप्रायः ।

इना चादि, त्रिकानायाक आत्मन हे, सत्कार के लिये आये आना अनुभाव है और हर्ष आदि
महारीमर है, क्योंकि यह बात मन आचार्यो को मय है कि नायिका का प्रकृत प्रेमाचरण नयक
के शोक को बढाने चाहा होता है । यहा एक बात विचारणीय यह है कि—यदि आत्मन (नायिका)
के नाश हो जाने से नायकनिष्ठ रति को प्रतीति नहीं हो सकती, ऐसा मानने है, तब अश्रय
(नायिका) को विनाश—दशा में नायिकानिष्ठ रति को प्रतीति भी कैसे होगी ? क्योंकि इन दोनों
प्रकारों में विषय—सोकार करने का कोई संबंध कारण नहीं है । यदि प्रयत्न के द्वारा आगे
प्रदर्शित की गई रीति के अनुसार स्मरण की गई नायिकानिष्ठ रति को शोक का अर्थ मानने है,
तब तो स्मरण की गई नायिकानिष्ठ रति को भी शोक का अर्थ मानने में सपत्ति नहीं होनी
चाहिए । मुझे तो प्रयत्नकार का अर्थ यह मानना पडता है कि नायिका को मृत्यु के बाद नायक को
नायिका का प्रेम ही स्मरण होता है, अपना प्रेम नहीं, यही मनुष्य की है । कारण ! प्राग्गीमात्र
स्वार्थ—प्राग् में बढ है वैसे हर मनस में अपना ही अभाव खटकता है, फिर एक स्थिति में नायक
अपने प्रेम के विषय में क्यों सोचे ? जब कि वह अब भी अपने प्रेम का स्थान अनेक बना सकता है ।
हा, नायिका के प्रेम के विषय में वह अवश्य सोच कर सकता है—उभयो वाद जरूर आनी है और
मदारी को है क्योंकि वह उसे हम जीवन में ही नहीं जन्मान्तर में भी मिलने को नहीं,—उत्पत्ता
अभाव मरा खटकता ही रहेगा । अनुभव भी प्राय इसी तरह का है ।

यदि आर कहें कि नायिका जब जष्ट हो गई, तब उम्मा प्रेम को वर्तमान नहीं है, फिर वह
शोक का अर्थ कैसे हो सकता ? इसका समाधान यह है कि अष्ट होने में विद्यमान रहना यहाँ
अपेक्षित नहीं है, अत्र स्मरण विधा हुआ प्रेम को शोक का अर्थ हो सकता है । नतल्ये यह है कि
मूर्तपदार्थ का अर्थ वर्तमान मूर्तपदार्थ ही हो सकता है, परन्तु यहाँ तो ऐसी बात नहीं है अर्थात् यहाँ
एक प्रकार को भावना का अर्थ अन्य प्रकार को भावना को होना है, फिर भावना का विषय वर्त-
मान रहे या अतीत दोनों बराबर है अर्थात् भावना जैसे वर्तमान रहे या अतीत दोनों बराबर है
अर्थात् भावना जैसे वर्तमान की जा सकती है, वैसे अतीत की भी ।

अन्यस्मिन्नङ्गन्यङ्गत्वमाप्तयो रसयोर्विरोधनिवृत्तिमुदाहरति—
अङ्गयोर्यथा—

राजान चाटुकार कश्चिदमिदधाति—

‘उत्क्षिप्ता कबरीमर, विवलिता पार्श्वद्वय, न्यकृता,
पादान्भोजयुग, रूपा परिहृता दूरेण चेलाञ्चलम् ।
गृह्णन्ति त्वरया भवत्प्रतिभट—हमापालवामभ्रुवा,
यान्तीना गहनेषु कण्टकचिता के के न भूमिच्छा ॥’

तथाप्यटे—

अत्र समासोक्त्यवयवाभ्या तत्-कामि-कर्तृक-रिपुकामिनीवर्यादिग्रहण-
रूपाभ्या प्रकृताप्रकृतव्यवहाराभ्या व्यक्तयो. करुण-शृङ्गारयो राजविषयकरति-
भावाङ्गत्वम् ।

हे राजन् ! गहनेषु काननेषु, मरुद्भिया पत्नयमानाना ममतो ये प्रतिभटा
परिपम्बिन हमापाता भूमिपा, तेषा या वामभ्रुवोऽङ्गना, तासाम्, कबरीमर
केदापाशम्, उर्वृध्वं क्षिप्ता उन्नीता सन्त, पार्श्वद्वयमुभे पार्श्वे, विवलिता वर्षीकृता,
पादान्भोजयुग चरणकमनद्वय, न्यकृता मध कृवा, वेसाञ्चल शाटीवसनप्रान्त, रूपा
श्रोत्रेण, दूरेगारात्, परिहृता दविता । कण्टकैस्तीक्ष्णावपदैश्चिता व्याप्ता, के न
अपितु सर्वे एव, भूमिरुहा वृक्षा गृह्णन्तीत्यर्थे ।

अत्र कण्टकपदस्य वृक्षतीक्ष्णावयवे रोमाञ्चेषु च छक्ति । तथा च प्रस्तुतेषु भूमि-
रुहकर्तृक-रिपु राजमहिषीकबरीमरग्रहणप्रभृतिव्यवहारेष्वप्रस्तुतहठकामुककर्तृकपराङ्मथवा
राणा समारोपात् समासोक्तिरलङ्कार । तत्र वाच्यप्रस्तुतभूमिरुहव्यवहारव्यङ्ग्य
करुण, व्यङ्ग्यप्रस्तुतहठकामुकव्यवहारव्यङ्ग्य शृङ्गारश्च रमी मिथो विरोधि-
भावपि, प्रधानोभूते वर्णनीयरजविषयक-वक्तृनिष्ठरतिभाविसङ्गतावित्पुत्रयोर्विरोधनि-
वृत्त्या समावेश ।

व्यवहारयो समासोक्तेरवयवन्त्र निष्पादकत्वान् । व्यक्तयोर्व्यङ्ग्यभावगतयो ।
इतरत् । स्पष्टम् ।

द्वितीय रस के अङ्गों रसने पर उनके अङ्गभूत विरस्य दो रसों का अविरोध, जैसे—

कोई कवि राजा को चाडुवारिणा करता है कि—हे राजन् ! आपके अनुभूत राजाओं (जो आपसे
मम से सपरिवार जखल में भाग गये हैं) को जखल में जानी हुई भिदों की बड़ी दुर्गशा होती है,
कौन ऐसे कौतिले वृद्ध हैं जो उनसे छेड़-छाड़ नहीं करते । सुनिये—उन भिदों के द्वारा किये जाने
पर वे वृद्ध कोष्ठ-पाश को पकड़ लेते हैं, उन्हें किये जाने पर दोनों बगलों को मोच लेते हैं, मोचे
किये जाने पर दोनों चरण-कमलों को चूम लेते हैं, और दूर हय देने पर भी मठ से बच्चों के छंर
को ही पकड़ लेते हैं ।

इस श्लोक में सामासिक अलङ्कार है और उस अलङ्कार के दो अंग होते हैं—एक प्रस्तुत का
व्यवहार और दूसरा अस्तुत का व्यवहार, जैसे वहाँ वृद्धों के द्वारा भिदों के केश मारि का प्रहण
प्रस्तुत का व्यवहार है और किमी बच्चों वृद्ध के द्वारा उनका प्रहण अस्तुत का व्यवहार है । इन

पुनः—प्रकारान्तरेण विद्वदसत्तमावेश प्रतिपादयति—

किञ्च प्रकृतसपरिपुष्टिमिच्छता विरोविनोऽपि रसस्य बाध्यत्वेन निबन्धन कार्यमेव । तथाहि सति, वैरिविजयकृता वर्ण्यस्य काऽपि शोभा सम्पद्यते ।

रसस्य बाध्यत्व निवृत्ति—

बाध्यत्व च रसस्य प्रबलैर्विरोधिना रसस्याङ्गविद्यमानेष्वपि स्वाङ्गेषु, निष्पत्ते प्रतिबन्ध ।

व्यतिरेक दशान् स्वभिवारिभावस्य बाध्यत्व निवृत्ति—

व्यभिचारिणो बाध्यत्व तु तदीयरसनिष्पत्तिप्रतिबन्धमात्रात्, न त्वनभि व्यक्त्या, अभिव्यक्तौ बाधकाभावान् ।

प्रस्तुतस्य रसस्य परिपोषमिच्छता कविना प्रस्तुतरसविरोधिनाऽपि रसस्य अभिमवनीयत्वेन निवेश कर्तव्य एव, यतो बाध्यस्य विरोधिन सत्तया प्रस्तुतस्य रसस्य पुष्टिरेव मवति न तु बाध यथा विजितस्य वैरिण सत्तया वणनीयस्य महीपतेरत्कप एव सम्पद्यते न स्वपक्षे इति सारम् ।

स्वाङ्गेषु स्वकीयपञ्जनोपयोगिष्वालम्बनादिषु विद्यमानेषु प्रतीयमानेष्वपि प्रबलैः परिपोषविशेष प्राप्तैः विरोधिनी रसस्य अङ्गैरालम्बनादिभिरुपकारकैः (कर्तृभिः) निष्पत्तः प्रस्तुतरसास्वादपरिपोषस्य प्रतिबन्धो विरोध एव रसस्य बाध्यत्वमित्यर्थः । परिपुष्टिविरोधि रसाङ्गकर्तृकापुष्ट्याङ्गप्रस्तुतरसास्वादप्रतिबन्धनमेव रसस्य बाध्यत्वमित्याशयः ।

तदीयस्तद्व्यभिचारिभावपोष्यो यो रसस्तस्य निष्पत्तयास्वादस्य प्रतिबन्धादेव न तु रसवन स्वकीयास्वादप्रतिबन्धान तदास्वादे बाधकाभावादित्यर्थः ।

दोनों व्यवहारों में से प्रथम से कल्प-रस का और द्वितीय में मङ्गर-रसको अभिव्यक्ति होती है और वे दोनों रस वर्यपि परस्पर विरोधी हैं, तथापि बड़ा विरोध नहीं होता क्योंकि वे दोनों हा वहाँ कर्तृ-निष्ठ-रस-विषयक-रसि-मव के अङ्ग हैं अर्थात् प्रथम महा रस भाव हा है, वे दोनों रस उनके पोषकभाव हैं अन् उनमें विरोध नहा होता है ।

अब विरोध रस के वर्णन की आवश्यकता बतलाने है—'किञ्च' इत्यादे । प्रस्तुत रस को अच्छा तरह पुन करने की इच्छा रखने वाले कवियों को विरोधी रस का वा यरूप से बतान करना हा चाहिये क्योंकि ऐसा करने से, वर्णनीय (प्रस्तुत) रस की रोग्य भेरी (विरोधी रस) का विषय बर लने के कारण अनिश्चनीय हो उठती है, अर्थात् बाध्य रूप से विरोधी रस का वर्णन रहने से प्रस्तुत रस की पुष्टि ही होती है, बाध नहीं । जैसे विजित शत्रु के वर्णन से वर्णनाय विजेता रसा का वर्णन ही सिद्ध होता है, अयकर्म नहीं ।

रस के बाधित होने का अर्थ यह है कि विरोधी रस के अङ्गों के प्रबल होने के कारण, अपने अङ्गों के वर्णनात रहने पर भी अपनी (बाध्य रस का) अभिव्यक्ति का रक जाना । अर्थात् किसी रसके अभिव्यक्त होने की सामग्री (आलम्बन आदि) के प्रतीयमान होने पर भी, दूसरे रस की आलम्बन यदि सामग्री के प्रबल (अतः परिपोष) होने के कारण, अपने अभिव्यक्त न होने का नाम है रस का बाध्य होना ।

व्यभिचारीभावों का बाध्य होना तो उनके द्वारा बिन रस को अभिव्यक्त होने चाहिये की, उमका रक जाना हो है, न कि व्यभिचारीभावों की ही अभिव्यक्ति का न होना, क्योंकि व्यभिचारी-

ननु विरोधिरग्राहि रसस्य यदा प्रकृतस्वाभावस्य प्रतिबन्ध, तर्हि व्यभिचारि-
भावस्यापि स्वभाष्यरसविरोधिरसाङ्गभूतव्यभिचारिभावामिव्यक्त्याऽमिव्यक्तिप्रति-
बन्धं धृतो नेत्यासङ्गामपास्यति—

न च विरोधिरसाङ्गामिव्यक्त्या प्रतिबन्धानामिव्यक्तिरिति वाच्यम्, तद्वच-
उक्तञ्चद्वयार्थज्ञानममये विरोध्यङ्गामिव्यक्तकशब्दार्थज्ञानस्यासन्निधानान् प्रतिबन्ध-
प्रतिबन्धकभावकल्पने मानाभावात्, भावशब्दस्ताया उच्छेदापत्तेश्च ।

रसस्य बाध्यत्वे तदास्वादानाव, व्यभिचारिभावस्य बाध्यत्वे तु ततोऽप्यरसा-
स्वादानाव ह्युद्योर्व्यतिरेकोऽवश्येव ।

विरोधिनो रसस्य पोषकत्वाद्ज्ञाना व्यभिचारिणामिव्यक्त्याऽऽस्वादेन प्रति-
बन्धाद् बाधाद्, नामिव्यक्तिव्यभिचारिणामिति शेषः ।

तद्व्यपञ्जकी व्यभिचारिप्रत्यायको यो शब्दार्थो, तयोर्ज्ञानस्य समये स्थितिपाले
ऽसन्निधानाद् विनष्टत्वान्, उभयो दकार्यज्ञानयो, प्रतिबन्धप्रतिबन्धभावस्य
कल्पनाया प्रमाणानावात् । किञ्च यदि नावज्ञानयो प्रतिबन्धप्रतिबन्धरानस्य
कल्पना स्यात् तदा भावज्ञाननाया उच्छेद आपद्येत, तत्रैकभावज्ञानस्यापरभावज्ञान-
प्रतिबन्धकत्वान् तदनुत्पत्तिप्रसङ्गम् । तस्मान्न व्यभिचारिभावात्वा बाध्यत्व स्वनीया-
त्वाद्प्रतिबन्धान्, अपि तु स्वपोष्यरसास्वादाभावादिति सारम् ।

भारी को अभिव्यक्ति में बाध डालने वाला कोई नहीं है । अर्थात् रस के बाध्य होने पर उन रस का
अन्वय नहीं होता और व्यभिचार भारी के बाध्य होने पर भी उनका अन्वय होता ही है, परन्तु
उन व्यभिचारीभारों से बाधित होनेवाले रस का अन्वय नहीं होता, वही रस और व्यभिचारीभारों
का बाध्यता में भेद है ।

यदि आप कहें कि जैसे विरोधी रस को अभिव्यक्ति से प्रकृत रस को अभिव्यक्ति एक नहीं है,
उसी तरह विरोधी रस के अङ्गभूत व्यभिचारीभारों को अभिव्यक्ति से प्रतिबन्ध ॥ जाने के कारण
प्रकृत रस के व्यभिचारिभारों को अभिव्यक्ति क्यों नहीं एक नहीं ? इसका उत्तर यह है कि रसा
नहीं हो सकता, क्योंकि अन्वय बुद्धि से अतिरिक्त तब हाव से ही एका रहन है, अतः जिन व्यभि-
चारीभारों को अभिव्यक्ति का प्रतिबन्ध अङ्गभाव ही, उनके अभिव्यक्तक शब्द और भारों का ज्ञान
जिन एका में होगा, उन एका में प्रतिबन्धक रूप से स्वाकृतभाव व्यभिचारी भारों के अभिव्यक्तक शब्द
और भारों का ज्ञान रहेगा ही नहीं, फिर दोनों दोनों में प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक की कल्पना करने में
कोई प्रसङ्ग ही नहीं है । अर्थात् एक काल में रहने वाले ही दोनों में ही एक दूसरे का प्रतिबन्ध
(रूढ़ने वाला) और प्रतिबन्धक (टाकने वाला) हो सकता है । यहाँ ही दोनों ज्ञान एक काल में
रहते ही नहीं, अतः प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक भाव नहीं होगा । यदि आप कहेंगे कि ज्ञान के ज्ञान ही जाने
पर भी उनमें सम्बन्ध ही रहेगा ही, अतः उन सम्बन्धों में ही प्रतिबन्ध-प्रतिबन्धक भाव की कल्पना
करेंगे, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि जब तो उद्योषक के रहने ॥ सम्बन्ध का प्रतिबन्ध अनुभव-
विषय है अर्थात् वह नहीं सकता है । दूसरे बात यह कि सम्बन्ध होने पर भी उस तरह प्रतिबन्ध-
प्रतिबन्धक-भाव का कल्पना नहीं करना चाहिये । अन्वय 'भाव-उच्छेदा' का उच्छेद ही हो जयगा
कोई एक रूप में अनेक विरोधी भारों के लुटने का ही नाम है 'भावउच्छेदा' और अतः प्रतिबन्ध-
प्रतिबन्धक भाव के मानने पर एक से दूसरे का प्रतिबन्ध हो जाने के कारण एक जगह अनेक विरोधी
भाव अभिव्यक्त ही न हो सकेगा ।

नन्वेवमेव रमेऽपि निष्पत्तिप्रतिबन्धो मा भूदित्याशङ्का निराकरोति—
रसनिष्पत्तेः प्रतिबन्धस्त्वनुभवसिद्ध इति ता प्रत्येव विरोध्यङ्गाना यत्न-
तामभिव्यक्तेः प्रतिबन्धकत्वं याव्यम् ।

पुन प्रकारान्तरेण रसविरोधनिवृत्त प्रतिपादयति—

अपि च यत्र साधारणविशेषणमहिम्ना विरुद्धयोरभिव्यक्ति, तत्रापि विराघो
निवर्तते ।

उदाहरति—

यथा—

कश्चिद् राजान स्तौति—

‘नितान्त यौवनोन्मत्ता गाढरक्ता सदाहवे ।

बसुन्धरा समालिङ्ग्य, शेरते धीर ! तेजस्य ॥’

स्वविरोधिरसाङ्गामिव्यक्त्या रसामिव्यक्ते प्रतिबन्धस्तु महदयानुभवसिद्धत्वात्
प्रामाणिक, तस्माद् बलवती विरोधिरसाङ्गामिव्यक्तिविरोधिरसास्वादस्यैव प्रति-
बन्धिका, न तु व्यभिचार्यासास्वावस्थेति भाव ।

मियोविरुद्धरसद्वयव्यञ्जकार्थद्वये, सुत्यानि साधारणानि यानि विशेषणानि, तेषा
महिम्ना प्रभावेण, परस्पर विरुद्धयोरपि रसयोर्भावयोर्वा यत्रामिव्यक्ति, तत्रापि
तयोर्विरोधो निवर्तते । अन्यथा तादृशस्थलेकेतरप्रतीति मुनरामवद्वदा स्यादित्य
मिसन्धि ।

धीर नृपत ! नितान्तमत्यन्त, यौवनेन तावत्त्वेन, उन्मत्ता उद्वेगता सदा, आश्रवे
पुढे गाढ विशताङ्गताया विपुल रक्त रश्मि रमेया, तादृशा पक्षान्तरे गाढमन्म-
रसा अनुरक्ता, बसुन्धरा समरभूमिम् धृतत्वान पक्षान्तर नायिका प्रणयान्
समालिङ्ग्य मन्मगुणगूह्य, त तव, जस्य शत्रव शेरत स्वपत्नीत्वंयं ।

यदि कहें कि तब रसामिव्यक्ति का भी प्रतिबन्ध क्यों मानना है ? ता इसका उत्तर यह है कि
विरोधि रस के प्रबल अर्थों के रहने पर रसामिव्यक्ति का प्रतिबन्ध (रस जाना) अनुभव न सिद्ध है
अर्थात् वम स्थिति में रसकी अभिव्यक्ति नष्ट होनी यह बात सबका अनुभव है । जब रसामिव्यक्ति
के प्रति प्रबल-विरोधी रसार्थों की अभिव्यक्ति की प्रतिबन्धक मानना है और व्यभिचारीभावों की
अभिव्यक्ति के प्रति इनको प्रतिबन्धक नहीं मानने, क्योंकि उनका प्रतिबन्ध अनुभव में सिद्ध नष्ट है ।

अब विरोधियों का एक और उपाय बतलाने हैं—‘अपि च’ इत्यादि । जहाँ समान विरोधियों के
द्वारा दो विरुद्ध रस अभिव्यक्त हो जाते हैं, वहाँ भी उनका विरोध निवृत्त हो जाता है ।

जैसे—दे ! धीर-राजन् ! जवानों से अत्यन्त सम्पन्न बने हुये धीर युद्ध में सर्वश अर्थों के हान-
विश्रुत हो जाने के कारण अत्यधिक रक्षित-प्रवाह से डुक, दूसरे पक्ष में अत्यन्त अनुरक्त जाकरे डुक
छोग, भर कर गिर जाने से समर-भूमि को, दूसरे पक्ष में प्रणय से नायिका को सम्यक् रूप से
आविष्टन-वद करके गो रहे हैं । यह किमी कवि से की गई राजा की स्तुति है । वहाँ ‘यौवनोन्मत्’
‘गाढरक्त’ इत्यादि शत्रु-मरण-प्रत्यादक विशेषणों से पढ़ते कर-रस की अभिव्यक्ति होती है, पक्षान्
वन्हीं विरोधियों से शत्रु-रस की भी प्रतीति होती है । इस तरह अन्यत्र विरुद्ध कहे जानेवाले कर्ण
और शत्रु में वहाँ विरोध इतलिये नहीं होता कि वे दोनों ही वहाँ पत्रविध विरोधियों के द्वारा ही
अभिव्यक्त हो जाते हैं ।

एव रसानामविरोधप्रकारानुत्वा दोषान् वक्ति—

इत्थमविरोधसम्पादनेनापि निबध्यमानो रसो रसशब्देन शृङ्गारादिशब्दैर्वा
नाभिधातुमुचित, अनास्वाद्यताऽऽपत्ते । तदास्वादश्च व्यञ्जनामात्रनिष्पाद्य इत्यु-
क्तत्वात् ।

ननु रसाना व्यञ्जनया गम्यमानानामभिधया बोधने का क्षतिरित्याशङ्क्यामाह—
यत्र विभावादिभिरभिव्यक्तस्य रसस्य स्वशब्देनाभिधान, तत्र को दोष इति
चेत्, व्यञ्जयस्य वाच्यीकरणे सामान्यतो वमनाख्यदोषस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

इह 'षीपनीपत्ता' 'सादररूप' इत्यादिविशेषणद्वारादरिभरणप्रतीते प्रथम
करणरसामिव्यक्ति पश्चाच्च शृङ्गाररसामिव्यक्तिरिति साधारणविशेषणद्वारेण प्रतीय-
मानयोविरुद्धयोरपि करणशृङ्गाररसयोर्विरोधस्य निवृत्ति ।

सामान्येन रसशब्देन, विशेषेण शृङ्गारादिशब्दैर्वा रसानामभिधया बोधनमनुचित-
त्वाद्दोष, यतस्तथा सति रसत्रयमत्कारापकर्षादास्वादविधुर, स्यात् । केवलव्यञ्जना-
वृत्तिबोध्यन्व एव रसाना चमत्कारकत्वम् । यथा गुडस्य रसनेन्द्रियमात्रगमिकर्षणे
प्रत्यक्षात्मक आस्वाद, तथैव रसादरेपि व्यञ्जनयोपस्थापनेनैव । एतच्च 'कथमपि
वाच्यवृत्त्यमालिङ्गितस्यैव व्यञ्जयस्य चमत्कारित्वेनालङ्कारिकं स्वीकारात् ।' इत्यने-
नात्रापि प्रागुपन्यस्तम् । व्यभिचारि-रसस्यापिमायाया शब्दवाच्यता ।' इत्यादिना
कथ्यप्रकाशे रसदोषप्रकरणेऽप्येतदेव प्रतिपादितम् ।

'निर्माय दूतनमुदाहरणानुरूपम्' इत्यादिनाऽऽदौ गन्यइता कृता स्वकीयोदाहरण-
धातप्रतिज्ञा प्रायो दोषमिया परित्यक्तौहीह तदुदाहरणद्वयमन्यदोष क्रमेण दीयते—

'तामनङ्गजयमङ्गलश्रिय, किञ्चिदुष्चमुजमूललोकिताम् ।

नेत्रयो वृत्तवतोऽस्य गोन्दे, कोऽप्यजायत रसो निरन्तर ॥' इति ।

'तामुद्वीष्य कुरङ्गाक्षी, शृङ्गारे मग्नमन्तरम् ।' इति च ।

स्वशब्देन रसशब्देन शृङ्गारादिशब्देन च । सामान्यतोऽविशेषोपात् । मुक्तस्योद्भिभरण-
निब व्यञ्जनागम्यस्य पुनरभिधया बोधनमिति वयनतुल्यत्वात्तदाख्या शेषस्य ।
ग्रन्थोऽयमपूर्ण इत्यनेऽस्य दोषस्यानिरूपणम् ।

व्यञ्जयस्य रसस्याभिधया बोधने वमनाख्यदोषापाताद् वाच्यत्व नोचितमिति
सारम् ।

अब हम दोषों का विवेचन करते हैं—'हरणम्' इत्यादि । इस प्रकार विरोध का परिहार कर
 देने के बाद भी वर्णनीय रसों का अन्वेष 'रस' शब्द कथना 'शृङ्गार' आदि शब्दों से नहीं करना
 चाहिये, क्योंकि अभिप्रायति के द्वारा बोधित होने पर जब रसों में अस्वाद्यता (अपस्वाद) नहीं
 रह जाती । अतएव पहले भी कहा जा चुका है कि रस तभी आस्वादन करने योग्य होता है, जब
 व्यञ्जनावृत्ति से बनका शेष होता है ।

अब वाच्य विभावादिहो से अभिव्यक्त हुये रस का पुन रस कथना शृङ्गार आदि पदों से अल्पेव
 कर दिया जब कहा कौन दोष होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि व्यङ्ग्य को वाच्य बना देने
 पर 'वचन' नामक शेष होता है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा । अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति से ज्ञान
 का अर्थ पुन अभिप्रायति द्वारा ज्ञान कथना, सत्ये हुये अत्र के उपादने यैसा है । अत्र एव वचन दोष

अत्रैव सामान्यदोषमुक्त्वा विशेषदोष वक्ति—

आस्वाद्यताऽवच्छेदकरूपेण प्रत्ययाजननतया, रसस्थले वाच्यवृत्तेः कापेयक-
कल्पत्वेन विशेषदोषत्वाच्च ।

रसदोषेष्वेव प्रथमं निरूप्य, द्वितीयं च निरूपयति—

एव स्याति—व्यभिचारिणामपि शब्दवाच्यत्व दोष ,

रसस्य येन रूपेण आस्वाद्यता भवति, तदास्वाद्यताऽवच्छेदक रूपं वैयङ्गनिकापरोक्ष-
ज्ञानविषयत्वम् । प्रत्ययाजननतयाऽऽस्वादजननत्वामावादेन । वाच्यवृत्तेरभिधाय ।
कापेयककल्पत्वेन ज्ञानरचेष्टिततुल्यत्वेन नैरर्थक्येन । दोषविशेषो नैरर्थक्य, तच्च 'न
कुर्यान्निष्फलं कर्म' इत्यादिनाऽन्यत्र निषिद्धम् ।

अभिधया रसादीनां शब्दप्रतीतिमात्रं न तु लोकोत्तरचमत्कारप्राण आस्वाद्य
इत्यभिधाय आस्वाद्यताऽवच्छेदकरूपेण रसाद्यास्वादजननत्वामावाद् रसादीनां
व्यङ्ग्यपानामपि पुनरभिधया बोधनस्य कपिचेष्टेन विपर्ययैति नैरर्थक्यरूपदोषविशेषोऽ-
पीह सम्भवतीत्याकृतम् ।

एव रसवन्, स्यामिना व्यभिचारिणा च भावानां, शब्दवाच्यत्व रत्वादिशब्दहं-
यादिशब्दव्यभिचयेपत्वमपि दोषो भवतीत्यर्थः । तथा चोन्नत वर्णः—

'रमस्योक्तिं स्वभावेन, स्यायिसञ्चारिणोरपि ।' इति ।

तत्र स्यामिना स्वशब्दवाच्यत्व द्वितीय, व्यभिचारिणा तु स्वशब्दवाच्यत्व तृतीयो
दोषः । इहापि पूर्ववद् व्यङ्ग्यत्व एवास्वादो न तु वाच्यत्वे । विशेषस्तु प्रदीपादवसेप ।

'सम्प्रहारे प्रहरणं प्रहाराणां परस्परम् ।

ठणत्कारं श्रुतिगतं रसाहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥' इति पूर्वस्य ।

'सन्नोडा दमितानने सकरणा मातङ्गचर्माम्बरं,

सभासा मुजगे, सविस्मयरसा चम्प्रेऽभृतस्यन्दिनि ।

सेष्यां जङ्गमुताऽवलोकनविधौ, दीना कपालोदरे,

पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायास्तु व ॥'

का 'वसन' वह नामकरण हुआ । देख है कि अपूर्ण रह जाने से ग्रन्थ में इन दोष की चर्चा जागे नहीं
हो सकी । अस्मिन् व्यङ्ग्यो में होने वाला वह दोष सामान्य है ।

रम-पुत्रादि शर्तों से रसों को वाच्य बना देने पर 'निरर्थकत्व' नामक विशेष दोष भी होता है
क्योंकि आम्नापत्तावच्छेदक रूप से प्रतीति-जनक नहीं होने के कारण रस-स्मरण में अभिधा-वृत्ति का
प्रयोग बन्दों की चेष्टा के लिये निरर्थक है । अभिधाय यह है कि रम आम्नापत्तावच्छेदक रूप से
प्रतीयमान होकर ही चमत्कारी होता है और वह रूप है—व्यजनावृत्ति के द्वारा अरोक्ष ज्ञान का
विषय होना, अतः अभिधा वृत्ति से उनको प्रतीति होने पर भी चमत्कार उत्पन्न होता ही नहीं, फिर
तो वस वृत्ति के द्वारा रसों की प्रतीति करने का प्रयास व्यर्थ होगा ही । आम्नापत्तावच्छेदक पद का
रस अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—रस आम्नाप्य होता है अतः आस्वाद्यता समझें रहती है और
रस में रहने वाला कोई सास (जन्माधारण) धर्म उन आस्वाद्यता का अवच्छेदक (परिचायक) होता
है, जो यदा वैयङ्गनिक-अरोक्षज्ञान विन्दवत् अभिमत है ।

इसो तरह स्यायोभावों और व्यभिचारीभावों का भी नामोरेखपूर्वक वर्ण करना दोष है अर्थात्
अभिधा वृत्ति के द्वारा इन भावों का प्रतिपादन करने पर भी चमत्कार उत्पन्न नहीं होता, वरन् एक

चतुर्थं पञ्चमं च रसदोष निरूपयति—

एव विभावानुभाष्योरसम्यक् प्रत्यये, विलम्बेन प्रत्यये वा, न रसास्वाद इति ततोर्दीपत्वम् ।

षष्ठं रसदोष निरूपयति—

समबल-प्रबल-प्रतिहृत्स्वरसाङ्गानां निबन्धनन्तु प्रकृतरसपोपप्रातीपिकमिति दोषः ।

सप्तमं रसदोष निरूपयति—

प्रबन्धे प्रकृतस्य रसस्य प्रसङ्गात्तरेण विच्छिन्नस्य पुनर्दीपने सामाजिकानां न सामग्येण रसास्वाद इति विच्छिन्नदीपन दोषः ।

इत्यपरस्योदाहरणम्, पूर्वत्रोत्साहस्य स्थायिन, अपरत्र बीडादीनां व्यभिचारिणां च स्वभाव्येनोपादायात् ।

असम्यक् प्रत्ययोऽस्फुटा प्रतीतिः । विलम्बेन प्रत्ययो वाच्यप्रतीतितृतीयसंज्ञाशो प्रतीतिः । तयोर्विभावानुभावविषयकास्फुटप्रत्यय-विलम्बितप्रत्यययोः । तदुक्तं भट्टमम्मटेन—'कच्छकल्पनमा व्यतिरनुभाव-विभावयोः ।' इति । तत्र विभावानुभावकप्रत्यय-विलम्बितप्रत्यययोरक एव चतुर्थं, अनुभावानुभावकप्रत्यय-विलम्बितप्रत्यययोस्त्वपर पञ्चमो रसदोषः ।

परिहरति रतिं मतिं लुनीत, रजलतितरा परिवन्तत च भूय ।

इति वन विषमा दत्ताज्य देह परिमवति प्रमम विमन कर्म ॥ हापेरस्य,

'वर्षूरुलिषत्रलद्युनिपूरधीन-दिद्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूत ।

लीलाशिरोऽशुव निवेशिजिगेपसलुति-ज्यस्तननोत्रतिरभून्पयावनी मा ॥'

इति चापरस्योदाहरणम् ।

समबलानां प्रबलानां वा प्रतिफलस्य प्रकृतरसविरोधिनी रसम्याङ्गानां विनाश-दीनां निबन्धन निवेशनम् प्रकृतरसस्य य पाप पुंस्तस्य गुन्दापगुन्दन्यादेन मस्त्व-न्यायेन वा प्रातीपिक प्रतीप शशुक्ष्णत्कार्यस्य सम्पादकमिति हेतवर्दीप इत्यथ ।

विरोधिरसाङ्गानां दुर्वनानां बाध्यतया निबन्धनन्तु न दोषः, सिन्धु गुण एव—'विवक्षिते रसे लघ्वप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम् । बाध्यानामङ्गनाव वा प्राप्तानामुक्ति रच्छला ॥ इति धर्मशास्त्रे, 'सञ्चार्यदेविरुदस्य बाध्यत्वेन सचो गुण' । इति शर्पणे च दर्शनात् । उदाहरणम्—

'मान मा कुरु तन्वाङ्गि । ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम ।' इति शेषम् ।

प्रकार का वैतुर्य ही श्रेया अथवा द्रवाओं की उत्पत्ति हो जाना है अतः वैसा नहीं करना चाहिये ।

दूसरी प्रकार विभवों और अनुभावों का अच्छी तरह प्रतीति न होना अथवा विच्छिन्न से प्रतीति होना दोष है, क्योंकि विच्छिन्न होने से रस का आस्वादन नहीं होगा ।

जसा जिन रस का बर्न करना यदि को इष्ट हो उस प्रस्तुत रस के विरोधी रसों के समबल (प्रस्तुत रस के बलों की अपेक्षा समान बलवाने) अथवा प्रबल (प्रस्तुत रस के बलों की अपेक्षा अधिक बलवाने) बलों (विभव-दिवों) का बर्न करना दोष है, क्योंकि ये प्रस्तुत रस के परिरक में बाधक हूँ हैं ।

अष्टम नवम च रसदोष निरूपयति —

तथा तत्तद्रसप्रस्तावनानर्होऽप्यसरे प्रस्ताव , विच्छेदानर्हो च विच्छेद ।

तद्दोषद्वय क्रमेषोदाहरति—

यथा—

सन्ध्यावन्दन-देवयजनादिधर्मवर्णने प्रसवते, कयाऽपि नामिन्या सह कस्यचित् कामुवस्यानुरागवर्णने ।

प्रबन्ध सङ्घटितनामायाक्यसमुदाय , स च ग्रन्थरूपमन्तदवान्तरप्रकरणरूपवन्ति प्रदीपप्रतिपादिते सन्दर्भविशेषे, स्वसामग्रीबलेषु परिषोप प्राप्तस्य, प्रसङ्गान्तरंगावात्म-रिकात्मविप्रस्तावेन, विच्छिन्नस्यावच्छेदास्वाद्यप्रवाहस्य रसस्य, पुनर्दोषने भूयोभूय— प्रसङ्गने सामाजिकाना सचेतसा, सामग्र्येण साकल्पन रसास्वाद्यो न भवतीति हतो-विच्छिन्नस्य रसस्य पुनर्दोषन दोष । तथा हि—‘परिषोप यतस्त्वापि पौनःपुन्येन दीपनम् ॥ रसस्य स्याद् विरोधाय इति ध्वम्यालोके, ‘उपभुक्तो हि पुनरुपभुज्यमान उपभुक्तकुसुमपरिमल इव सहृदयानामास्वादापकर्षक इति प्रदीपोद् तयोश्च प्रति-पादितम् ।

उदाहरणन्तु—कुमारसम्भवचतुर्थसर्गे रतिविलम्बप्रकरणे ‘जय मोह्यरायणा सती, विदशा कामवद्विषोधिता । इत्यादिसन्दर्भेषादी दीपितस्य, ‘अथ मा पुनरेव विह्वला वमुषाऽऽलिङ्गनघुसरस्तनी । इत्यादिना मध्ये दीपितस्य, वमन्तशशनप्रस्तावे-नावान्तरे विच्छिन्नप्रवाहस्य करणस्य कर्णविप्रलम्भस्य वा रसस्य ‘तमवेक्ष्य ररोद सा धृशाम्’ इत्यादिना पुनर्दीपन दोष । अङ्गरसानामेव शरवहीपने दोष, अङ्गरसस्य तु शान्तस्य महामारतादी, करुणस्य रामायणादी च पुनः—पुनर्दोषने तास्वादापक्य, प्रत्युत परिषोप एवेति प्रदीपकृतसम्मत्तम् ।

‘अकाण्डे प्रयत्नच्छेदो’ इति दण्णोक्ते सहृदयानुभवाच्च रसाना प्रस्तावाद्योग्ये-धसरे प्रस्तावोऽनुचितत्वाद्दोष, तथा विच्छेदाद्योग्येऽवसरे विच्छेदश्च धमेणाद्यो नवमअ रसदोषः ।

प्रसक्त औचित्यात् प्राप्ते । महाहवदुर्मदेयु विवटयुद्धोद्भवम् । प्रतिभटेयु प्रतिवृत्त-पोषेयु । मर्ममिन्द्रि मर्मस्पृष्टया हृदयविदारकाणि ।

किना भा प्रबन्ध (परस्पर अन्विता वाक्यममूहात्मक ग्रन्थ लक्षा लक्षा अवान्तर प्रभररा) में जिस रस का वर्णन चल रहा हो, उसका यदि एक बार किसी भी प्रसङ्गान्तर से (दूसरे प्रसङ्ग से) विच्छेद हो जाय, तब पुनः आगे उसका दोषन करने से—विच्छिन्न कथा को द्वारा वगने से—‘विच्छिन्न दीपन’ नामक दोष होता है, क्योंकि मध्य में विच्छेद हो जाने से प्रस्तुत रस का आस्वादन सङ्घटित को पूर्ण रूप से नहीं होने पाता । यहाँ उदाहरण के रूप में यह है कि अद्यभूत रसों का ही पुनः पुनः दीपन उचित है, अतः उहाँ पर नहीं, क्योंकि अद्यभूत रस पुनः पुनः दीपन करने पर भी अप्पाद में किसी तरह का कमी नहीं होती, बल्कि परिच्छिन्न ही होती है अनप्य महाभारत आदि में शान्त रस का और रामायण आदि में कला रस का पुनः पुनः दीपन किना गया है ।

इसी तरह उहाँ किन रस का प्रस्ताव नशा करना चाहिये, वहाँ हम रस का प्रस्ताव काना और नशा किन रस का विच्छेद नहीं करना चाहिये, नशा रस रस का विच्छेद कर देना दोष है ।

उभे—मन्धा-वन्दन, देव-पूजन आदि धर्म-वर्णन के प्रस्तुत रहने पर, किसी कामिनी के साथ

यथा च—

समुपस्थितेषु महाहवदुर्भेदेषु प्रतिभेदेषु, मर्माभिन्दि वचनान्युदगिरत्सु, नाय-
कस्य सन्ध्यावन्दनादिवर्णने चेत्युभयमनुचिन्तम् ।

दयम रमदोष निरूपयति—

एवमप्रधानस्य प्रतिनायकादेर्नाविधानां चरितानामनेकविधायाश्च सम्पदो
नायकसम्बन्धिव्यस्त्येभ्यो नातिशयो वर्णनीयः ।

ननु तथा वर्णने का हानिरित्यन बाह—

तथा सति वर्णयितुमिष्टो नायकस्योत्कर्षो न सिद्धयेत् ।

तावता का सतिरित्याद्युक्त्यायानमिदधाति—

तत्प्रयुक्तो रसपोषश्च न स्यात् ।

पुनश्चाहुते—

न च प्रतिनायकोत्कर्षस्य सदाभिभावक—नायकोरुत्कर्षाङ्गत्वान् कथमवर्ण-
नीयत्वमिति वाच्यम् ।

सन्ध्यावन्दनस्यादिना प्रथमस्य, समुपस्थितेष्वित्यादिना च द्वितीयस्य दोषस्यो-
दाहरणं दर्शयति । पूर्वं शृंगारस्वानवमरे प्रस्ताव । उत्तरं तु वीरस्य रौद्रस्य
वाऽनवमरे विच्छेदः ।

नायकस्य प्रतिभूत प्रतिनायक तेभ्यश्चरितादिभ्यः ।

नायकचरितादि—सम्पदपेक्षया प्रतिनायकचरितादि—सम्बद्धजंनमधिकं न विवेकम्,
तेषामद्भुतत्वमदितिस्मृतनिषिद्धताम् । तदुक्तं षट्मध्मटेन—'जङ्गस्याप्यतिवि-
स्तृतिः' इति ।

नायकचरिताद्यप्यस्या प्रतिनायकचरिताद्यधिकवर्णने विहिते मति, नायकस्याप-
वर्षं, प्रतिनायकस्य चोत्कर्षं निन्दयेदिति सारम् ।

तत्रयुक्तं प्रतिनायकोत्कर्षप्रतीतिनिमित्तम् ।

प्रतिनायकोन्वयवर्णनस्य प्रकृतसंज्ञादविच्छेदकत्वाद्दोषवदिति तात्पर्यम् ।

सदाभिभावकस्य प्रतिनायकपरोक्षकारकस्य ।

किसी कानुक का श्रेय-वर्णन अनुचित होने पर भी यदि कर दिया जाय, तो वह दोष हीन । और
मर्मभेदी कवियों को बोलने हुए दिव्य-युद्ध-मद-मल, ऊजु-बेदास्ये की दरमैवति में नायक के
सम्बन्ध-वर्णन आदि का वर्णन भी अनुचित होने में दोष है । यहाँ प्रथम उदाहरण में शृंगार का अन-
वमर में प्रभाव हुआ है । द्वितीय में वीर अथवा रौद्र का अनवमर में विच्छेद कर दिया गया है ।

इसी प्रकार निम्नलिखित प्रथम तथा वर्णन करना कभी नहीं रहना, सम प्रतिनायक आदि के लिये
प्रकार के विशेष और अनेक प्रकार की सम्बन्धों की, अथवा (प्रधान श्रेणी) के विशेष और
सम्बन्धों से, अथवा का वर्णन नहीं करना चाहिए ।

वैसा करने पर नायक का वह उत्कर्ष निन्द नहीं हो सकेगा, निश्चय वर्णन करना हट है । सर्व-
प्रतिनायक का ही उत्कर्ष निन्द होगा, जो कभी नहीं है ।

और प्रतिनायक-वर्णन-वर्णन की प्रतीति होने पर भी तत्रयुक्त रूप की पुष्टि नहीं होगी ।

यदि तत्र कोई कि प्रतिनायक के उत्कर्ष (विशेष) का वर्णन समष्टि परमाणु का वर्णन (विशेष)

उत्तरयति—

यादृशस्य प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनस्य तदाभिभावकनायकोत्कर्षाङ्गतासम्पाद-
कन्व तादृशस्येष्टत्वान् । तद्विरोधिन एव निषेध्यत्वात् ।

ननु प्रतिनायकोत्कर्षस्य सर्वमेव वर्णनं नायकोत्कर्षस्य साधकमेव, विजितोत्कर्षस्य
सर्वस्य विजेतरि सङ्क्रामान् को दोष इत्याद्यङ्कते—

न च प्रतिपक्षस्य प्रकृतानेक्षया वर्ण्यमानोऽप्युत्कर्षं स्वाश्रयहन्तृतामात्रादेव
प्रकृतगतमुत्कर्षमतिशाययेत्, अतो न दोषावह इति वाच्यम् ।

निराकरोति—

एव हि सति महाराज कमपि विपशरक्षेपमात्रेण व्यापादितवतो वराकस्य
शबरस्येव, प्रकृतस्य, नायकस्य, न कोऽप्युत्कर्षं स्यादिति ।

विजयेत्युत्कर्षो हि वर्णितो विजेतुरत्कर्षमेव प्रत्याययतीति प्रतिनायकोत्कर्षवर्णन-
मपि प्रहतेऽङ्गमेव, ततस्य कथनवर्णनीयरवमिति शङ्कापक्षाभिप्रायः ।

प्रतिनायकोत्कर्षस्य यावद् वर्णनं विजेतुनायकोत्कर्षस्योपकारकत्वादङ्गमेव, तावन्न
निषिध्यते, किन्तु ह्यश्रीवक्ष्ये—प्रतिनायकस्य ह्यश्रीवक्ष्ये जलक्रीडादिवर्णनमिव घना-
यकोत्कर्षानुपकारकं, तदेव निषिध्यत इति सारम् ।

प्रतिपक्षस्य प्रतिनायकस्य । प्रकृतो वर्ण्यमानो नायकः । स्वम्, उत्कर्षं, तस्याश्रयो
न प्रतिनायकं तस्य हन्तृतामात्रान् तत्कर्मकहननकर्तृत्वादेव । मात्राभावेन प्रस्तुतवै-
षम्यव्यावृत्तिः । अविद्यायदेतिशायिनं कुर्याद् वधयेदित्यनर्थान्तरम् ।

प्रतिनायकस्य वर्ण्यमानं सर्वोत्पाकरणं केवलं तस्याय हन्नेनिहेनोनायकस्यैवोत्कर्षं
यतो वर्णयति, तस्मान् तस्य द्रूपकतेति शङ्कितुराकूनम् ।

वराकस्य विक्रमादिगुणहीनतया दीनस्य । शबरस्य पुतिन्दजातीयस्य 'भुसहर'
इति प्रसिद्धस्य वनेचरस्य । इति शब्दो हेत्वर्थकः ।

यदि हननादेव सकलो वध्योत्कर्षो घातुकमाश्रयेत्, तदा निलीय विपाक्तवाण-
क्षेपेण विक्रान्तं नृपं हतवत् शबरस्यापि स स्यात्, न च तथा तस्मात् वैषम्यमस्त्येवेति
तात्पर्यम् ।

नायक के उत्कर्ष का अर्थ (बोधक) हा होने का अर्थ है कि जिनके उत्कर्ष का वर्णन विजेता के उत्कर्ष
की ही प्रतीति कराना है—फिर आप प्रतिनायक के उत्कर्ष का वैसा वर्णन विजेता नायक के उत्कर्ष
का उपकारक अर्थ-बोधक हो सके, वैसा वर्णन करने पड़े है—ज्याकर है—निषेध तो उसी प्रतिनायको-
त्कर्ष-वर्णन का किया गया है, जो नायक के उत्कर्ष का विरोध है ।

उक्त शब्द का उत्तर यह है कि—प्रतिनायक के उत्कर्ष का वैसा वर्णन विजेता नायक के उत्कर्ष
का उपकारक अर्थ-बोधक हो सके, वैसा वर्णन करने पड़े है—ज्याकर है—निषेध तो उसी प्रतिनायको-
त्कर्ष-वर्णन का किया गया है, जो नायक के उत्कर्ष का विरोध है ।

'यदि आप कहें कि उक्त उत्तर में जो आप ने 'दादृश तादृश'—'जैसा वैसा'—निवश किया है, वह
ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिनायक (विजेता) का उत्कर्ष जैसा भातरह अधिक से अधिक जो वर्णन नहीं
न हो, वह उत्कर्ष अपने आश्रय (प्रतिनायक) को मारने वाले नायक के उत्कर्ष की ही बराबरी,
अर्थात् उत्कर्ष को मारने वाला—जाननेवाला—और अधिक उत्कृष्ट सिद्ध होगा अब वैसा समान वर्णन
दोषाधिक नहीं होना यही कहना चाहिये ।

उक्त शब्द का उत्तर देते हैं—'एव हि सति' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि उत्कृष्ट को किसी
प्रकार से मार देने वाला उसने (मृत से) अधिक उत्कृष्ट सिद्ध होता है, वह जान टोक नहीं अच्छी

एकादश रसदोष निरूपयति—

तथा रसालम्बनाश्रययोरनुसन्धानमन्तराज्जन्तरा न चेद्, दोषः ।

अङ्गघननुसन्धानस्य दूषकतामुपपादयति—

तदनुसन्धानाधीना हि रसप्रतिपत्तिधारा, तदननुसन्धाने विरता स्यात् ।

द्वादश रसदोष निरूपयति—

एव प्रकृतरसानुपकारकस्य वस्तुनोवर्णनमपि, प्रकृतरसविरामहेतुत्वादोष एव ।

त्रयोदश रसदोष निरूपयति—

अनौचित्य तु रसभङ्गहेतुत्वान् परिहरणीयम् ।

रसस्य यदाभङ्गन यथाशय, तयोरत्युपकारकतयाऽङ्गिभूतयो-रन्तरान्तरा मध्य मध्ये, अनुसन्धानमन्वेपणलक्षण स्मारकमुपादान, चेद् यदि, न स्यात्, तदा तद् दूषणमित्यर्थे ।

तदुक्तम्—'अङ्गिनोऽनुसन्धानम्' इति ।

इह पूर्वपाठपद्यच्छको पद्यपंक्त्यवेच्छस्य उत्तरवाक्ये तच्छब्दोपादान बलवदपगत इत्यनुसन्धेयम् ।

रसस्य प्रतिपत्तिधाराऽऽश्वाद्यप्रवाह, हि यत्, तदनुसन्धानाधीनाऽऽलम्बनाश्रयानुसन्धानप्रयोज्या, अतस्तयोरेकानुसन्धाने विस्मरणे, विरता विच्छिन्ना, स्यात्, तस्मात् तदपि दूषण रसस्येव्यर्थं ।

प्रकृतरसविरामहेतुत्वादिति दूषकतावीजनिर्देश । विरामो विच्छेदः ।

प्रस्तुतरसस्य यदनुपकारक गङ्गणनेन प्रस्तुतरसात्सादधाराया विच्छेदात् तस्यापि दोषत्वमित्यर्थं । तदुक्तम्—'अनङ्गस्य च कीर्तनम्' इति ।

अनौचित्य रसात्वादोषयोगिपदार्थसार्थनिष्ठम् । तुल्यदोषस्य प्रकारान्तर्माद्यव्यवच्छिनत्ति । रसेत्यादिना दूषकतावीजनिर्देश । रसात्सादध्याघातकारणत्वादनौचित्य दोष इति सारम् ।

क्योंकि यदि देमी बान हो तब ता क्रिमा बार महान् राजा का एक जेहरा बान ने मार देने वाला साधारण भीठ भी उस महाराज छे उत्कृष्ट सिद्ध हो जाय, एतन् देमा होना नहीं । उमी तरह यदि नायकोत्कर्ष-वर्णन की अपेक्षा प्रतिनायकोत्कर्ष वर्णन बहुत बग-बगर कर दिया जाय और अन्य में यह भी कर दिया जाय कि उत्कृष्ट प्रतिनायक को नायक ने मार दिया, तथापि उनसे नायक का कुछ भी उत्कर्ष सिद्ध नहीं होगा ।

अन्य भाषणें रस दोष का उल्लेख करते हैं—'तथा' इत्यादि । उमी तरह रस के अलम्बन और आश्रय का यदि मध्य में अनुसन्धान न हो, तो दोष है ।

उक्त दोष के होने में युक्ति बतलाने है—'तदनु' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि रसान्तरा धारा अलम्बन और आश्रय के पुनः पुनः अनुसन्धान के ही अधीन है, अन यदि उनका अनुसन्धान बीच-बीच में न होगा तो रससाद-धाराविच्छिन्न हो जायगी ।

अन्य भाषणें दोष का उल्लेख करते हैं—'एवम्' इत्यादि । उमी तरह जिन रसु का वर्णन प्रस्तुत रस का उदाहरण न हो, उमझ वं न भी एक रस-दोष है, क्योंकि उन तरह का वर्णन भाषण-रसान्तरा धारा को समाप्त कर जायगा है ।

रसस्य मूर्तत्वात्वादायमर्दनासम्भवाद् मङ्गपदार्थमाचष्टे—
मङ्गश्च पानकादिरसादौ सिक्तादि-निपातजनितेवास्तुदत्ता ।

वनोचित्य विवृणोति—

तच्च जाति-देश-काल-वर्णा-धम-वयो-ऽवस्था-प्रकृति-व्यवहारोदे प्रपञ्च-
जातस्य तस्य तस्य, यन्लोक शास्त्रसिद्धमुचितद्रव्य-क्रियादि, तद्भेद ।

वनोचित्यमुपपादयति—

जात्यादेरनुचित यथा—गवादेस्तेजोबलकार्याणि, पराक्रमादीनि, सिंहादेश्च
साधुभावादीनि । स्वर्गे जराध्याध्यादि, भूलोके मुधासेवनादि । शिशिरे जल-
सिंहारादीनि, ग्रीष्मे वह्निसेवा । ब्राह्मणस्य मृगया, बाहुजस्य प्रतिग्रहः, शूद्रस्य
निगमाध्ययनम् । ब्रह्मचारिणो यतेश्चताम्बूलचर्षणम्, दारोपसग्रह । बाल-
वृद्धयो खीसेवनम्, यूनश्च विरागः । दरिद्राणामाढ्याचरणम्, आढ्याना च
दरिद्राचारः ।

निकता बालुका । अस्तुदत्ता ममंजेदिनाऽप्रियतेति यावत् ।

यथा पानकरसास्वादस्य बालुकापातो विघातकृत्, तथैवानोचित्यमनापीति
रसस्यास्वादविघात एव मङ्ग इत्याशयः ।

तदनीचित्यम् । चस्तव्यं । वयोऽवस्थयोर्भेद प्रागेव निगदितः । व्यवहारः, समुदा-
चारः । प्रपञ्चजातस्य सांसारिकवस्तुव्यूहस्य (वास्यादिरूपस्य) ।

यस्य जाति-देश-कालादेर्यद् द्रव्य-गुण-त्रियादि लोकतः शास्त्रतश्च तिष्ठत्याहु-
चिनः, मङ्गिन्त्वमनीचित्यमित्यर्थः ।

जात्यादेरनुचित गवादिस्तिमादिना देशानुचिन स्वर्ग इत्यादिना, कालानुचित
शिशिरइत्यादिना, वर्णानुचित ब्राह्मणेत्यादिना, आश्रमानुचित ब्रह्मचारीत्यादिना,
वयानुचिन बालेत्यादिना, अवस्थानुचित च दरिद्रेत्यादिना विवृतम् ।

साधुभावो गवादिवदाजवम् । मृगया पशुपसिंहिसाऽखेट । बाहुजः क्षत्रियः ।
निगमो वेदः । मतिः सन्मासी । दारोपसग्रहः पत्नीपरिणयः । आढ्यो धनी, तदाचरण
विपुलभ्ययादि । अत्र सर्वत्र तत्तदनीचित्य रममङ्गकारणतया रूपणम् ।

जो बाने अनुचित है, उनका वर्जन रममङ्ग का कारण होगा है, का यह सर्वथा स्पष्ट है ।

रस तो कोई मूर्त पदार्थ है नहीं, फिर उमका मद्ग क्या ? इस मन्देह को निवृत्ति के लिये 'मङ्ग'
पर को व्याख्या करते हैं—'मङ्गश्च' इत्यादि । जिन तरह शरवत आदि ताल वस्तु में बाहुज आदि
के पड़ जाने से वह सतकने लगता है, वही तरह रस के अस्वादन में सतकने को रस का मङ्ग
कहते हैं ।

अनुचित होने का तात्पर्य यह है कि जिन जिन जाति, देश, काल, वर्ण, अवस्था, अवस्था, स्वभाव
और व्यवहार आदि सांसारिक पदार्थों के विषय में जो जो लोक और शास्त्र से निष्ठ तथा वचिन द्रव्य,
गुण अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होना ।

अर जाति आदि के अनुचित बातों का कुछ उदाहरण दिखलाने हैं—'जात्यादेः' इत्यादि ।
क्षत्रि-विद्व वैशे—वैद, ग्राय आदि के तेज और बल के कार्य, पराक्रम आदि पर सिंह आदि का
सोषापन आदि । देश-विद्व वैशे—स्वर्ग में वृद्धत्व, योग प्रभृति और भूतल पर अमृत-पान प्रभृति ।

प्रकृत्यनुचित विकृष्वन् प्रकृतिभेदानाह —

प्रकृतयो दिव्या, अदिव्याः, दिव्यादिव्याश्च । धीरोदात्त-धीरोद्धत-धोर-
ललित-धीरशान्ता उत्साह-क्रोध-कामनोरति-निर्वेदप्रधाना उत्तम-मध्यमा-
धमाश्च ।

प्रकृत्यनोचित्ये प्रथम रत्नोचित्य प्रतिपादयति—

तत्र रत्यादीना भयातिरिक्तस्थायिभावाना सर्वत्र समत्वेऽपि, रते सभोग-
रूपाया मनुष्येष्विवोत्तमदेवतामु स्फुटीकृतमकलानुभाव वर्णनमनुचितम् ।

प्रकृतयो नायकप्रभृतय — 'निता विनीतो मधुरस्थागी दक्ष प्रियवद । रक्तलोक
शुचिर्वाग्मी रुद्रवरा त्विरो युवा ॥ बुद्ध्युत्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला-मानसमन्वित ।
धूरो दृढश्च तेजस्वी वास्त्रचक्षुश्च धार्मिक ॥' इति दशरूपकोत्कलशणा दिवि स्वयं
भवा दिव्यादेवैकरूपा इन्द्रादय, अदिव्या मानवैकरूपा माधववत्सराजादय दिव्या-
दिव्या देवा अपि मानवरूपेणावतीर्णा राम-कृष्णादय इति प्रथम त्रिविधा ।
ते च—'महासत्त्वोऽग्रम्भोर क्षमावानविकथन । स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो
दृढव्रत ॥' भाषापर प्रथमप्रसङ्गोऽहङ्कारस्पर्भूपिष्ट । स्थिरान् निगूढमानो धीर्धी-
रोद्धत कथित ॥ निश्चिन्तो धीरननिन क्लामक सुखी मृदु । सामान्यगुणै-
र्भूयान् द्विजादिको धीरशान्त स्यात् ॥' इति लक्षिणा उत्साहप्रधानधीरोदात्त-क्रोध-
प्रधानधीरोद्धत-वाग्मीरतिप्रधानधीरललित-निर्वेदप्रधानधीरशान्ता इति प्रत्येक
षतुर्धा, पुनरुत्तम-मध्यमा-धमावैतित्रिविधा इति सङ्कलनया षट्त्रिंशत्प्रकृतयो
बोध्या । शृङ्गाररसे त्वनुकूल-दक्षिण-घृष्ट-शठत्वं प्रकृतीना चतुर्विधत्वमाकलनी-
यम् । नायिकाप्रकारसङ्कलना तु मदीयरसमञ्जरोमुरभेरवर्षया ।

तत्र तानु प्रकृतिषु, रत्यादीना भयातिरिक्तस्थायिभावाना भयभिन्नानामष्टाना रति-
प्रभृतीना, सर्वत्र सर्वासु प्रकृतिषु समत्वं एकविधत्वे साधारणतया सत्यपि मनुष्येषु

काल-विस्म जैते—शीतशाल में बूट-विहार प्रभृति और गरमी के दिनों में अग्नि-सैवन प्रभृति ।
पुन-निरुद्ध जैते—ब्राह्मणों का शिकार करना, क्षत्रियों का दान रना और शूद्रों का वेद पढ़ना ।
आश्रम-विस्म जैते—ब्रह्मचारी और वासियों का तान्त्रिक चराना और खी को स्वीकार करना ।
अवस्था-विस्म जैते—बच्चे तथा नूतों का खी सेवन और युवकों का वैरागी होना । इन्हीं तरह दरिद्रों
का धनिकों के सा और धनिकों का दरिद्रों के सा आचरण ।

अत्र प्रकृति (स्वभाव) विस्म का उदाहरण श्रियलाने के काम में एक प्रकृति का रिभाग बहने
है—'प्रकृतयो' इत्यादि । अष्टद्वार शाल के अनुमार तीन प्रकार की प्रकृतियों (नायक को) होती
है—बुद्ध दिव्य (देवनायक इन्द्र आदि), बुद्ध अदिव्य (मनुष्यरूप दुष्यन्त आदि) और बुद्ध दिव्या-
दिव्य (जो स्वर्गोप होने पर भी मनुष्यरूप में धरतीनीं राम, कृष्ण आदि) होने हैं । इन्हीं तरह उन
प्रकृतियों के दूसरे भेद भी होते हैं, जैसे—धीरोदात्त नायक, जिनमें उत्साह की प्रधानता रहती है,
धीरोद्धतनायक, जिनमें क्रोध की प्रधानता होती है, धोरललित नायक, जिनमें स्वाविषयक प्रेम की
प्रधानता होती है, रति धीरशान्त नायक, जिनमें वैराग्य की मुख्यता होती है । इन प्रकार नायक के
बारह भेद बुद्ध, धिरे उत्तम, मध्यम और अधम नामक तीन भेद और मान देने में उक्त बारह भेद
संक्रम हो जाते हैं ।

इन सभी प्रकृतियों (नायकों) में भय के अतिरिक्त रति आदि स्वयंभीयन यद्यपि प्रधानरूप में

रत्यनौचित्यवत् क्रोधानौचित्य प्रतिपादयति—

क्रोधस्य च लोकभस्मीकरणपटो-दिनरात्रिव्यत्ययाद्यनेकाभ्रयंकारिणो दिव्येष्विवादिव्येषु ।

तत्र हेतुमभिषत्ते—

आलम्बनगता रात्र्यत्वस्यानुभावगत-मिष्यात्वस्य च प्रतीत्या रसानुल्ला-
सापत्तेः ।

इव उत्तमदेवताम् गौरी-गिरीशप्रभृतिषु, सम्भोगरूपाया रते स्फुटीकृता स्पष्टमा-
ख्याता सकलानुभावा सर्वे व्यापारा यत्र कर्मणि तद्यथा भवति, तथा वर्णनमनुचि-
तमिषयं ।

पित्रारिवोक्तृष्टदेवतयो सम्भोगस्य स्पष्टतया वर्णनमनौचित्यादनाचरणीयमेव ।
उत्तमेत्युक्त्या भयमादिषु कामचार । मयस्याश्रयभेदेन वैषम्याद् मयातिरिक्ता-
नामित्युक्तम् । वस्तुतस्तु रति-क्रोधादीनामप्याश्रयभेदाद् वैषम्यमानुभविकमेवेति तदुपा-
दानमर्कितकरमिति विभावनीयम् ।

चकारेण वर्णनमनुचितत्वादनाचरणीयमित्यनुपपन्नम् ।

लोकानां भुवनानां जनानां वा, भस्मीकरणं, पटो कुशलस्य तथा दिन च रात्रिश्च
दिनरात्री, तयोर्भस्मयो दिनस्थाने रात्रि, रात्रिस्थाने च दिनमिति विपर्यय तदा-
दीनामनेकाचपाणा कारण, क्रोधस्य, दिव्येष्विव देवतावद् जदिव्येषु यानवेषु,
वर्णनमनुचितमिति नाचरणीयमित्यर्थः ।

यतस्तथावर्णने दिव्येष्वालम्बनेषु, तद्गतस्य तमिष्य आराध्यत्वस्य पूज्यत्वस्य
प्रतीत्या, अदिव्येष्वालम्बनेषु तदनुभावगतस्य पूर्वोक्तलोकभस्मीकरणादिलोकोत्तरक्रोध
व्यापारमिष्य, मिष्यात्वस्यासम्भाव्यतयाऽस्त्यत्वस्य, प्रतीत्या च रसानुल्लासस्य
रीद्वरसास्वादानुद्गमस्य आपत्ति स्यात् तस्मात्तथा न वर्णनीयमित्यर्थः ।

होते है, तथापि सम्भोगस्य रति का, जिस तरह मनुष्यों में वर्णन किया जाता है, वही तरह मन्व
मानों (जन्मिदन-सुम्बन आदि) को स्पष्ट करके उत्तम देवताओं के विषय में वर्णन करना अनु-
चित है ।

अगत् को भस्म कर देने में निपुण तथा दिन और रात को बदल देना आदि विविध आश्चर्यजनक
कर्मों को कर देने वाले क्रोध का वर्णन जिस तरह दिव्य नायकों में किया जाता है, उसी तरह अदिव्य
नायकों में करना अनुचित है अर्थात् नहीं करना चाहिये ।

एक प्रकृत्यनौचित्य का कारण यह है कि हमें जिन दिव्य आलम्बनों (उत्तम देवताओं) में
पूज्यताबुद्धि है, यदि उनमें साधारण नायकों के जैसे अनुभावों को सर्वथा खोलेर रति का वर्णन
करेंगे, तो उनकी सुन्दर सद्गुणों के हृदय में रस का विकास नहीं होगा, वरन् एक प्रकार का सद्गोच
ही होगा । इसी तरह यदि साधारण (अदिव्य) नायकों में उस प्रकार के क्रोध का वर्णन किया
जाय, जिस तरह का क्रोध दिव्यनायकों में वर्णन किया जाता है, तो उसमें ओलाओं को शूटपन का
ज्ञान होगा । अतः उस वर्णन से रस का विकसित होना सम्भव नहीं ॥ ।

ननु प्राग्मदृश्यायकमते भावकत्वव्यापारस्य, नव्यमते सहृदयतोल्नासितस्य भावनाविशेषरूपदोषस्य च महिम्ना यत् साधारणीकरण प्रतिपादित, तेन प्रतिबद्ध-मालम्बनविषयकमाराध्यत्वप्रकारक ज्ञानमिह नोत्पत्तुमर्हतीति न रसानुल्नासापत्तिरिति शङ्कते—

न च साधारणीकरणादाराध्यत्वज्ञानानुत्पत्तिरिति वाच्यम् ।

समादधाति—

यत्र सहृदयानां रसोद्धोष प्रमाणसिद्ध, तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात् ।

साधारणीकरणकल्पनाया भावत्रिकत्वाभ्युपगमे दोष दर्शयति—

अन्यथा स्वमातृविषयक—स्वपितृरतिवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्धोषापत्तेः ।

कदाचित्क विपरीत दृष्टान्तमुपन्यस्य निरस्यति—

जयदेवादिभिस्तु गीतगोविन्दादिप्रबन्धेषु सकलसहृदयसम्मतोऽप्य समयो गदोन्मत्त—मत्तङ्गजैरिव भिन्न इति न सन्निदर्शनेनेदानीन्तनेन तथा वर्णयितु साम्प्रतम् ।

ननु प्राग्मदृश्यायकमते भावकत्वव्यापारस्य, नव्यमते सहृदयतोल्नासितस्य भाव-नाविशेषरूपदोषस्य च महिम्ना यत्र साधारणीकरण प्रतिपादित, तेन प्रतिबद्धमालम्ब-नविषयकमाराध्यत्वप्रकारक ज्ञानमिह नोत्पत्तुमर्हतीति न रसानुल्नासापत्तिरिति शङ्कते—

विशेषयर्मावच्छिन्नप्रकारताकज्ञानस्य साधारणीकरणस्य, विशेषयर्मावच्छिन्न-प्रकारताकज्ञानप्रतिबन्धकत्वादिनि भाव ।

न हि सर्वत्र साधारणीकरणस्य कल्पना, किन्तु यत्र सचेतसा रसास्वादोऽनुभ्य-वसामसिद्ध साकशीविरहागोपपद्यते, तत्रैव तदुपपत्तयेऽनायत्वा तन् कल्प्यत इति कानानुरोधान्तरकल्पनाया प्रकृतेऽसम्भव इत्यभिसन्धि ।

तत्रापि साधारणीकरणस्य कल्पनाया सम्भवादित्याशय ।

तुनाऽहवि गूयन्ते । अयमुक्त उभय सिद्धान्त सङ्कोतो वा । मन्तुर्जहन्ता-वर्ते । मत्तहस्तिदुःस्त समयभेदेने निदानभृग्माद, न तूपपत्तिविधेक सूचयति । निदर्शनं दृष्टान्त । इदानीन्तननाघुनिकेन कविना । साम्प्रत युक्तम् ।

यदि आप कहें कि रसगङ्गाधर में पूर्व, अद्वैतक मत के अनुसार भावकत्व व्यापार से और नव्यमत के अनुसार सहृदयता मूलक भावना-विशेष रूप दोष से विभागादिकों का साधारणीकरण हो जाने से दिव्यनायकों में भी पूज्यता-उद्भि उत्पन्न ही नहीं हो सकती ?

उक्त श्लोक का समाधान यह है कि जहाँ सहृदयों का रसास्वाद प्रमाण से सिद्ध रहना है, वहाँ साधारणीकरण का कल्पना की जाती है, सर्वत्र नहीं, तालपर्यं यह है कि एक स्थान में सहृदयों का अनुभवा प्रमाण-मिद्ध नहीं है, अतः वहाँ साधारणीकरण की कल्पना नहीं की जा सकती ।

यदि सा जगह साधारणीकरण की कल्पना की जाय, तब साधारणीकरण के बन्ध से अपनी माता के विषय में अपने पिता का प्रेम वर्णन करने पर भी सहृदयों को रसगङ्गाधर होने लगेगा ।

यदि रसदेव प्रभृति कुछ कवियों ने गीतगोविन्द आदि निबन्धों में उभय देवता विषयक सम्भोग-

धरम व्यवहारानीचित्य प्रतिपादयति—

तथा विद्या-वयो-वर्णा-श्रम-तपोभिरत्कृष्टं स्वतां प्रकृष्टेषु न सवहुमानेन वचसा व्यवहर्तव्यम् ।

यत्र तद्व्यवहारोचित्य तदाह—

व्यवहर्तव्यं चापकृष्टैरत्कृष्टेषु ।

उत्कृष्टेष्वपि विशेषमभिदधानि—

तत्रापि 'नमभवन्' 'भगवन्' इत्यादिभिः सम्बोधनैर्मुनि-गुरु-देवताप्रभृतय एव, न राजादयः, जात्योत्तमं द्विजं रेव, नाश्रमं शूद्रादिभिः परमेश्वर' इत्यादि सम्बोधनैश्चक्रवर्तिन एव, न मुनिप्रभृतय, सम्बोध्या ।

अनुमत्तेन बधोन्मादिव्यवहारो नानुक्तिने, तथैवाधुमिनेन कविता रेपाश्चिन्ना प्राचा समयोल्लङ्घन नानुकरणीयम्, प्राचासनीचित्यस्य तन्महिमानिरेकादिभिरपि तिरोघापयितुं शक्यत्वादिभिः सारम् ।

विद्यादय उक्त्यै हेतव । सवहुमानेन वचसा विपुलादरसूचकेन वचनेन । वचसे- निव्यवहारान्तरस्याप्युपलक्षणम् । 'सम्बहुमानेनेति' क्वाचित्त्वपाठे त सम्भ्यग बहुमान यत्रैति विग्रह ।

विद्यादिभिरत्कृष्टं स्त्रापसयाऽपकृष्टेषु विप्रियमानो बहुमानोऽनुचित-वाद् रमा- पर्यक इति सारम् ।

विद्यादिभिरत्कृष्टं स्तू कृष्टेषु सवहुमानेन वचसा व्यवहर्तव्यमित्यय ।

तत्राप्युत्कृष्टेष्वपि । तनभवच्छब्द पूज्यार्पक । सम्बोधनैरभिमुखीकरणसम्बद्धै । शेरनाश्लेष्याऽपि गुरोर्भ्यहितत्वाद् गुरुगब्दस्य पूर्वं निर्देश । द्विजैर्ब्राह्मण-क्षत्रिय- वरैः । चक्रवर्तिन सम्राज ।

उत्कृष्टेष्वपि विषयभेदात् व्यवहर्तुं शक्यत्वाच्चव्यवहारपर्योचित्वानुचितत्वे बोधे इषानाय ।

वर्ग अनुभावों के स्वीकरण के साथ विद्या है, परंतु उन्होंने महत्तम हाथियों को तह, मपूर्ण महत्तय मनान से अज्ञत उक्त संसदा को लोड लाया है, अत उनके इंगान से अधुनिक यंत्रों को बना नहीं बना चाहिये ।

यत्र अन्तर-विषय वा उदात्तान् दिव्यता है—'तथा' इत्यदि । इनी प्रकार जो विद्या, अस्वत्, व, श्रम और तपस्या प्रकृति के कारण उत्कृष्ट हो, उन्हें अपने से अकृष्ट लोगों के साथ अस्वत् नानानुक्त यंत्रों से व्यवहार नहीं करना चाहिये ।

उत्कृष्टों के लिये उत्कृष्टों के द्वारा श्रम करने योग्य सम्मानयुक्त सम्बोधनों वा स्वात्मभेद से विनाग दिलाने है— तत्रापि' इत्यादि । 'नम भवन्' 'भगवन्' इत्यादि सब धर्मों से मुनि, गुरु और देवता अदि का ही सम्बोधन किया जाना चाहिये, राजा आदि का नहीं । वह ना जो जाति से उत्तम-श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य हो, वे ही ऐसे सम्बोधनों का प्रयोग करें, शूद्र आदि नहीं । इनके प्रकार 'परमेश्वर' अदि सम्बोधनों का प्रयोग चक्रवर्तियों के प्रति ही किया जाना चाहिये, मुनि अदि के प्रति नहीं ।

अनौचित्यस्य रसमङ्गलकारणत्व प्रमाणमति—

तथा चाहुः—

आनन्दवर्धनाचार्या ध्वन्यालोकतृतीयोद्योत इति शेष ।

‘अनौचित्यादृते नान्यद्, रसमङ्गलस्य कारणम् ।

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु, रसस्वीपनिष्पत्त्या ॥’ इति ।

तत्र विशेषमाह—

यावता एवमनौचित्येन रसस्य पुष्टिस्तान्द तु न वायते, रसप्रतिकूलस्यैव तस्य निषेध्यत्वात् ।

उक्तमर्थमुदाहरणदर्शनेन इत्यति—

अत एव—

रसाविरोध्यनौचित्यस्य मर्णनीयत्वादेव । कथाननद्वारि समुपस्थितान् ब्रह्मादीन् दैवारिको वदति —

‘ब्रह्मन्नध्यवसनस्य नैष समयस्तूष्णी बहि स्वीयता,

स्वल्प जल्प बृहस्पते जडमते । नैषा सभा वञ्चिण ॥

वीणा सहार नारद । स्तुतिकयालार्परल तुम्बुरो ।

सीताऽऽरक्षक-भङ्ग-भिन्नहृदयः स्वस्थो न लङ्केश्वरः ॥’

अनौचित्यादृतेऽनौचित्य विना, रसमङ्गलस्य, अन्वन् कारण नास्तीति शेष यत्र प्रसिद्धस्य लोकाचारानुषिष्टस्य, औचित्यस्य, बन्धोपोदव, तु पुन, रसस्य, परोन्मृष्टा, उपनिषन् प्रकाशनीपाय इत्यर्थं

अनौचित्यमेव रसमङ्गलस्य प्रधान कारण, तेन महदवर्धमुप्यसम्पादनान् । अनौचित्य पुनस्तथैव रस प्रकाशयति, समोपनिषन् परब्रह्म, तस्मादनौचित्य सर्वेषा परिहरणीयमित्यभिप्राय ।

वाच्यप्रगाहे तु—‘अनौचित्योपनिबन्धस्तु’ इति वादो दृश्यते ।

यत्परिमाणेनानौचित्येन रसस्य परिषोप एव स्यात् (न तु बाध), तत्परिमाण-मनौचित्य तु न निषेध्यते, यतो रसविरोधिन एवानौचित्यस्य निषेध्यत्वमित्यर्थं ।

यही मत्र मीच ममम कर आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में लिखा है—

अनौचित्य म अतिरिक्त रस भद्र का कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध अनौचित्य का वर्णन करना ही तब ही बड़ी रस को उपनिषन् अवर्ण प्रकाशनीपाय है । अभिप्राय यह है कि अनौचित्य ही रस मत्र का प्रधान कारण है, क्योंकि—उमो मे सर्वरिक्त वेमुन्य महदवर्धो मे होना है, अथ एमका (अनौचित्य का) परिहार भद्रम करना चाहिये और अनौचित्य उमो तरह रस को प्रकाशित करना है, त्रिम तरह उपनिषन् परब्रह्म का, अथ उमकी रक्षा करना अवश्य बरिषो को करनी चाहिये ।

अनौचित्य—परिहार में भी यह विशेष ममप्रना चाहिये कि त्रिने अनौचित्य से रस की पुष्टि होती हो, उमके अनौचित्य का परिहार नहीं करना चाहिये, क्योंकि जो अनौचित्य रस के प्रसिद्ध हो, उमो का निःशं समुचित है ।

इमो टिये—

उपपादयति—

इति कस्यचिन्नाटकस्य पद्ये, विप्रलम्भशृङ्गारीभूत-वीररमाक्षेपकपरमै-
श्वर्यपरिपोषकतया स्थितदीवारिकवचनस्य ब्रह्माद्यधिक्षेपपरस्थानीचित्य न
दोषः ।

उदाहरणान्तर दर्शयति—

एवमेव—'अले से सह समुप्पाडिअ-हरिय-कुमग्गयिमयाच्छमालापड,
वित्ति-विस्मभिअ-वालविहवद कअणा बम्हणा' इत्यादिविद्रूपकप्रचनेऽपि
देशब्दादिप्रयोगस्य तत् तथा, ह्यास्यानुगुणत्वात् ।

हे बहन् ! अप्ययनस्य वेदपाठस्य, एष समयोज्ज्वरो नास्ति, तत् तूष्णीं जीय
बहिर्गते बाह्यस्थले (तस्या) स्वीयताम् । हे जडमते ! याचावल्याद्वयसारागबद्धोपाच्य
विवेकशून्यबुद्धे ! बृहस्पते ! स्वल्पमनिस्तोक (न त्वधिक) जल्प वद, यत एषा
वर्जित इन्द्रस्य (त्वच्छिष्यस्य) सभा नास्ति । हे नारद ! वीणा महती, महार
बादनाद्विरलय । हे तुभ्युरो ! देवपावक गच्छवं ! (तत्र) स्तुतिरुपात्तापै प्रसना-
वाक्यभाषणै, अल न किमपि फल स्यात्, यत सीताया जानक्या आरत्नक ('दिर-
स्मिन्दूरनरणि स्त्रीणामारत्नक स्मृतम्' इति हृष्यपुष्पीकने) सीमतसिन्दूरलेखन
मन्त्र 'माला' इति प्रसिद्ध कुल, तेन चित्र विदीर्षं हृदय मनो गाय, न सङ्क्षुभ्रो
रावण, स्वस्यो न, किन्तु व्याकुलोऽस्तीत्यर्थः ।

ह्याकारके कस्यचिन्नाटकस्य श्लोके, सीतालम्बनस्य विप्रलम्भशृंगारस्य,
अङ्गीभूत पोषकतयाऽङ्गता प्राप्तो यो रावणनिष्ठे वीररम, तस्याक्षेपक व्यञ्जक यन्
(तदीय) परमैश्वर्यं मोक्षोत्तरप्रमुख तस्य परिपोषकतया (हेतुभूततया) स्थितो रावण-
द्वारि विद्यमानो यो क्षोकारिको द्वारपाल तस्य 'बद्ध-बृहस्पति-नारद-तुभ्युरनि-
रस्कारमूचक पदिह वचन तस्य ब्रह्मादीना तिरस्कारानर्हन्वाद् यदनौचित्य, तत्र
दोष -त्रुतरमोपस्कारकत्वादित्यर्थः ।

एवमाौचित्यस्य रसोपस्कारकत्वादेव । 'अरे रे सह समुत्पादितहरितकुशापयि-
मयासमाला-परिवृत्तितमिभठगानविषयाऽन्-करणा ब्राह्मणा ?' इति प्राङ्गन-
च्छाया । 'अरे रे इति नीचमम्बोधवम् । तदनौचित्यम् । तथा न दोषः ।

सद्यस्तकाल, समुत्पादिता उत्सृता अतएव हरिता ये कुशाश्चयसो दमेपवाणि,

अहन् ! वेद-पाठ का यह समय नहीं है, चुपचाप बाहर बैठो । मुझे ! बृहस्पते ! यह इन्द्र की
सभा नहीं है, कि जब तक मन करो, तब तक अल्प-वद बचने रहो, जो कुछ कहना हो, सञ्चर मे कह
राहो । नारद ! अपनी वीणा को बन्द करो । हे तुभ्युरो ! इस समय स्तुतिकर्तव्य-बादनी की
गाने व्यर्थ हैं, क्योंकि सीता को सीतलसिन्दूर को रेखा के भांसे से लक्ष्मण-महाराज रावण का
हृदय घातल हो गया है, ये स्वल्प नहीं हैं ।

किमी नारद के इस रूप में, ब्रह्म आदि के तिरस्कार करने के लिये बोले गये द्वारपाल के वचन
का अनौचित्य दोष नहीं है, क्योंकि इस तिरस्कार-वचन में रावण के परम देशरत्न को पुष्टि होती है,
जिसे वीर-रस का अन्वेष होगा है, जो किष्कम्भद्वारा (रसात्म) च्य गद होता है ।

इसी तरह 'अरे ओ ! तत्काल उजाडे हुए हरित कुशों की धाँसे से बनी हुई बरनालमों के

उपरि परिगणिता एते त्रयोदशैव न रसदोषा, किन्तु 'रसे दोषा स्फुरीदृशा' इति मम्मटोक्ते, सद्दृश्यानुभवान्वाच्यार्थि सम्भवन्ति, तस्मादनया रीत्याऽन्येषां दृशा रसदोषा स्वयं सुधीनिच्छा इति प्रतिपाद्यन् दोषनिरूपणमुपमहृति—

एषा हि दिगुपदर्शिता, जनया सुधीभिरन्यादप्युहाम् ।

अथ प्रसङ्गसङ्ख्या गुणान् निरूपयति—

रसेषु चतेषु निगदितेषु माधुर्योज—प्रमादाख्यासीन् गुणानाहुः ।

तेषु माधुयं कुत्र रसे कियन् निहनीति विज्ञात्वाया मनत्रयमुपन्यस्यति—

तत्र 'शृङ्गारे मयोगास्ये यन्माधुर्यं, नतोऽतिशयित करुणे, ताभ्या विप्र-
लम्भे, तेभ्योऽपि शान्ते, उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्तदुतेर्जनान्' इति
केचित् ।

'मयोगशृङ्गारान् करुण-गान्तयोस्ताभ्यामपि विप्रलम्भे' इत्यपरे ।

'मयोगशृङ्गारान् करुण-विप्रलम्भ-शान्तोऽतिशयितमेव, न पुनस्तत्रापि
ताग्नम्यम्' इत्यन्ये ।

तन्मयी तद्रूपा याऽजमाना, तस्या परिवृत्त्या (परिवर्तनेन) जपविद्वन्तया
त्रिभ्रमिण विस्वाहितम् (वञ्चितम्) बालविधवानामन्त—करण मस्तादृशा अरे रे
नीचा द्राह्मणा ?' इत्यादिबिरूपकवास्ये रेगव्यादीना पूजनीयद्विजराजविषये प्रयोगस्य
यदनीचित्तं तन् अहृतस्य हासपरसस्य, यतो नापकथं कम्, प्रशुबोत्कथं कमेव, तस्मात्प्र
दोष इत्यर्थं ।

अथदिनि सामान्ये तपुमकम् ।

रसप्रतिपादनानन्तरं तदाश्रितत्वान्माधुर्यमोज—प्रमादश्चेति त्रीन् गुणान् प्रति-
पादयन्ति प्राक् इत्यर्थं ।

अतिमायितमधिकमात्रम् । तत मयोगशृङ्गारान् । ताभ्या मयोगशृङ्गारकरुणा-
भ्याम् । तेभ्य मयोगशृङ्गार-करण-विप्रलम्भेभ्य । विहास्य द्वुतेविताशपात्रीभावात् ।
ताभ्या करुण-गान्ताभ्याम् ।

चित्तदुतेर्माधुर्यस्य च तादात्म्याच्चित्तदुतितारतम्यमेवानुमरति रसेषु माधुर्यस्य
तारतम्यमिति सम्भोगादाद्यत् करुणे, सम्भोग-करुणाभ्यामप्यधिक विप्रलम्भे,
सम्भोग-करण-विप्रलम्भेभ्योऽप्यधिक माधुर्यं घाल्ते रसे निहनीति प्रथम मतम् ।

परने से वास्तविकता से के अनवरणों की विश्वमयुक्त बनाने वाले ब्राह्मणे । ' इत्यादि विद्वत्क
के वचन से भी ब्राह्मणों के प्रति रे शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं है, क्योंकि वह हास्य-रस के
सम्बन्ध है ।

इस तरह अनौचित्य काटने के उद्ये वह दिव्यरसन काट दिया गया है, इसी रीति से बुद्धिमत्तों
को और और अनौचित्यों का भी मन्दम् कह कर रना पण्डिते ।

अब मन्द-मस दुर्गो का मिश्रण करते हैं—'रसेषु' इत्यादि । इन पूर्वोक्त नौ रसों में माधुर्य,
भोज और मनाद नानक तीन गुण रहते हैं—देना मचौनों का कथन है ।

एन दुर्गो के विषय में कतिनय पण्डितों का कथन है कि—सम्भोग-शृङ्गार में मित्रता माधुर्य

मतत्रय परीक्षते—

तत्र प्रथम-चरमयोर्मतयो — 'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चानिशायान्दितम् इति प्राचा सूत्रमनुकूलम्, नस्योत्तरसूत्रगतस्य 'क्रमेण' इति पदस्यापकर्षानप-
वर्षाभ्या व्याख्याद्वयस्य सम्भवान् ।

मध्यस्थे तु मते करुण-शान्ताभ्या विप्रलम्भस्य माधुर्यातिशये, यदि सहृदयानामनुभवोऽस्ति तदा स प्रमाणम् ।

सम्मोगावधिक (मियस्तु तुल्यमेव) करुण-शान्तरसयो करुण-शान्ताभ्यामप्यधिक माधुर्यं विप्रलम्भे तिष्ठतीति द्वितीय मतम् । सम्मोगशृङ्गारादधिक (मियस्तु तुल्यमेव) करुण-विप्रलम्भ-शान्तेषु माधुर्यं तिष्ठतीति च तृतीय मतम् ।

मयोगापेक्षया क्रमेण करुण-विप्रलम्भ-शान्तत्वधिक माधुर्यमितिप्रथममते सन्ने गापेक्षयाऽधिक मियस्तु तुल्य करुण-विप्रलम्भ-शान्त्यु माधुर्यमित्यनिममन च प्राचा सम्मटनट्टाना- करुण विप्रलम्भे तच्छान्त चानिशायान्दितम् इति सूत्रमनुकूलत्वान् प्रमाणम् । तथाहि-तस्य कारिकायस्वरूपस्य सूत्रस्य दीप्त्वात्सर्वविरुद्धतुहोरोजो वीररत् स्थिति । बीभत्सरीद्वरमयोस्तस्याधिक्य क्रमेण तु ॥ इत्युत्तर यत्र कारिकात्मक सू-
तत 'क्रमेण' इति पदस्यापकर्षेण प्रथमा व्याख्या तदनपकर्षेण चान्तिमा याख्या सम्भवतीति ते मते प्राचीनानुमते प्रामाणिके । मयोवापेक्षयाऽधिक मियस्तु समप्रम-
णक माधुर्यं करुण-शान्तयो ततोऽधिक विप्रलम्भे तिष्ठतीति मध्यम (द्वितीय) मते तु यत्र करुण-शान्तापेक्षयाऽधिक विप्रलम्भे माधुर्यमुत्पन्नं तत्र प्रमाणात्तरानु-
लम्बान् सहृदयानामनुभवो यदि भवेत् तदा स एवानुभव प्रमाणम् अथवा तत्र माण तन्मतमनादेवमित्यर्थ ।

होता है इनसे अधिक करुण-रस में और इन दोनों से अधिक विप्रलम्भ-शान्तरसय-रस में इन इन सबसे अधिक शान्तरस में होता है, क्योंकि पूर्व पूर्व रस की अन्ततः अन्त-रस में पिन अधिक हुन होता है । अन्य विद्वानों का मत है कि-सम्मोग-शृङ्गार में अधिक माधुर्य बना और शान्तरसों में होता है और इन दोनों में अधिक विप्रलम्भ-शृङ्गार में होता है । यह विद्वानों का कहना है कि-सम्मोग-शृङ्गार से करुण, विप्रलम्भ-शृङ्गार और शान्त इन तीनों रसों में अधिक माधुर्य होता है, फिर इन तीनों में परस्पर कुछ भी तारतम्य (कमी-बेशी) नहीं होता, अर्थात् वे सब समान ही मधुर होते हैं ।

पूर्वोक्त तीन मतों में से प्रथम और तृतीय मत में 'करुणे विप्रलम्भे' अर्थात् मूल-रस का यह प्रमाण हो सकता है, क्योंकि उक्त सूत्र में अधिक 'शान्तरसदि-तुहोरोजो' का अर्थ-शान्ति-शोभित-रीद्वर-रसोत्सव-अधिक्य अर्थात् 'इस सूत्र में कथन 'क्रमेण' पद का अर्थ-उक्त सूत्र-मान अने पर प्रथम मतानुसृत व्याख्या और उपर्युक्त वाक्य-वर्तमान' कहने पर तृतीय मतानुसृत व्याख्या हो सकती है । परन्तु मध्यम मत में उक्त सूत्र किना भी तरह प्रमाण नहीं है, सचता, आदि मद्भक्तों का ऐसा अनुभव हो कि करुण और शान्तरसों का अर्थ-शान्ति-शृङ्गार में अधिक माधुर्य होता है, तब इस सहृदयानुभव की ही प्रमाण मान कर मध्यम मत में उक्त है अथवा अनागतिक होने के कारण यह मत अस्वीकार्य है ।

इत्य शृङ्गारादिरसत्रये माधुर्यस्य स्थिति प्रतिपाद्य, वीर्यादिरसत्रय बोजस
स्थिति प्रतिपाद्यति—

वीर-बीभत्स-रौद्रेष्वोजसो ययोत्तरमतिशयः, उत्तरोत्तरमतिशयिताया
शिवत्तदीप्तेजननात् ।

अथावशिष्टाद्भुतादिरसत्रये प्रसादस्य मतभेदाद् गुणान्तरेण सद्गुणमित्यद्वीर्णां च
स्थिति प्रतिपाद्यति—

अद्भुत-हास्य-भयानकाना गुणद्वययोगित्व केचिदिच्छन्ति । अपरे तु
प्रसादमात्रम् ।

गुणद्वयापेक्षया प्रसादस्य वैतत्त्वम्यमाचष्टे—

प्रसादस्तु सर्वेषु रसेषु, सर्वासु रचनासु च साधारणः ।

यतो वीर्यापेक्षया बोजस्ये, तदपेक्षयाऽपि रौद्रेऽपि च पित्तदीप्तिर्जायते, तस्माद्
वीररसादधिक बीभत्से ततोऽप्यधिक रौद्ररस ओजसिच्छनीत्यर्थः ।

अद्भुत हास्ये भयानके च रसे प्रसाद ओजस्य गुणी तिष्ठत इत्येक मतम् । प्रसाद
एव केवल तिष्ठतीत्यपर मतम् ।

माधुर्यमोजस्य प्रतिनियन्तरसत्रयवृत्ति नियन्त्रणत्वात्प्रसङ्ग च, प्रसादस्तु तादभुता-
दिरसत्रय एव तिष्ठति, किंतु सर्वेषु न वा नियन्त्रणत्वं व्यञ्जन, किन्तु सज्जा-
मितेव रचनाभिरिति माधुर्योपेक्षया प्रसादस्य वैतत्त्वम्यमस्तीत्याशयः ।

इदमिहाशयम्—नाटिकादिदोषापगमाहित शृङ्गारादिरसत्रयचर्वणाजन-
भ्रिसत्त्वादीमाक्षरूप आनन्दलक्षणो वृत्तिविशेषो इतिरेव माधुर्य गुण, न तु द्रुते
कारण माधुर्यं द्रुतेरास्वादाभिन्नया माधुर्यार्थत्ववैशुष्येति । न चैव माधुर्यस्य
रसाभेदापत्ति कारणभेदान तथाहि—रसस्य विभवादिमन्वयो द्रुतेस्तु शृङ्गारा-
दिगणान्नाद कारणम् ।

मग्न—प्रतिपन्नो कर्षदसंवाचाहितो वीर्यादिरसत्रयचर्वणाजनितस्य विलार-
रसो वृत्तिविशेषो रीतिरेवीजोगुण न तु दीप्ते कारणम्, रीतिकारणतया वीर्यादि-
रसास्वादादिदोषान् ।

एव सरलाभ्यासार्थानाहिरीद्भुतादिरसचर्वणाजनितस्य विकाररूपो वृत्ति-
विशेष प्रसादा गुण, ननु विकासस्य कारणम प्रागुक्तशुक्ली । स हि शृङ्गारादिर-
सत्रये माधुर्यतेजामिश्रित वीर्यादिरसत्रय ओजोतेजामिश्रित, अद्भुतादिरसत्रये तु
निस्मपत्तस्तिष्ठतीति रसत्रये सर्वेषु रसेषु चास्य वृत्तिस्सङ्गच्छते ।

ओज गुण वीर-रस मे माधुर्य, बीभत्स-रस मे तपसे अधिक वीर रीर-रस मे सखे अधिक
होना है, क्योंकि ये तीनों रस मन्त्र हृदय में अधिक दीप्ते (ओज) उत्पन्न करने हैं ।

अद्भुत, हास्य और भयानक रसों में ओज और प्रसाद दोनों गुण रहते हैं, पर कुछ विद्वानों का
मत है, इन तीनों रसों में प्रसाद गुण ही रहना है—ओज नहीं, ऐसा मत अन्य विद्वानों का है ।

प्रसाद गुण मग्न रसों में तब सख तप है । रसत्रयों में रहना है सखतप यह है कि माधुर्य तथा
ओज गुण तब न सन्धीन मिश्रण रसों में ही रहना है, परन्तु इन तीनों गुणों को अभिन्नक करने

द्रुत्यादिचित्तवृत्तीनां गुणवद्भास्वादजन्यत्वाद् गुणप्रयोज्यत्व, नतु गुणजन्यत्व-
मित्याह—

गुणानां चैषा द्रुति-दीप्ति-विकामात्यास्तिस्रश्चित्तवृत्तयः क्रमेण प्रयोज्याः,
तत्तद्गुणविशष्टरसचर्वणाजन्य इति यावत् ।

नन्वेव गुणानां रसमात्रवृत्तित्वस्याभ्युपगमे गुणविशिष्टरचनादोषका 'मधुरा
रचना' इत्यादिव्यवहारा गुणानां रचनावृत्तित्वस्य विरहात् कथमुपपद्येरनित्याद्यङ्का
ममादधत्प्राचीनमतमुपसहरति—

एवमेतेषु गुणेषु रसमात्रधर्मेषु, व्यवसितेषु 'मधुरा रचना' 'ओजस्वी बन्धः
इत्यादयो व्यवहाराः 'आकारोऽस्य शूर' इत्यादिव्यवहारवदौषचारिकाः' इति
मम्मटभट्टादयः ।

अत्रापि प्राचीनमते प्रथमप्रमाणाभावे दत्तवति—

'येऽपि माधुर्यौज-प्रमादा रसमात्रधर्मतयोक्ता, तेषां रसमात्रधर्मत्वे किं
मानम् ? प्रथममेवेति चेत्, न, दाहादे कार्यादनलगतस्योष्णस्पर्शस्य यथा

द्रुत्यादिचित्तवृत्तीनां माधुर्यादिगुणविशिष्टशृङ्गारद्विरभास्वादेन साक्षाज्जन्यत्वाद्
गुणप्रयोज्यत्व न तु साक्षाद्गुणाजन्यत्वमिति सारम् ।

एतेषु त्रिषु । व्यवसितेषु निर्णतेषु । औषचारिका लाक्षणिका । मम्मटभट्टादय
आह्वरति शेष ।

यथा शौर्यस्यात्मवृत्तिन्वेनावयवसत्वानविशेषरूपाकारवृत्ति-वानावेऽपि 'आकारो-
ऽस्य शूर' इत्यादिव्यवहार स्वाश्रयाश्रयत्वमभ्वधेन लक्षणयोपपाद्यते, तर्पेव गुणानां
रसमात्रवृत्तित्वे निर्णते 'मधुरा रचना ओजस्वी बन्ध इत्यादयो व्यवहारा स्वाम-
यव्यञ्जकत्वसम्भवेन लक्षणयोपपादनीया इति मम्मटभट्टादीनां मनमित्यथ ।

कदा रचना वा मिया ही है । परन्तु प्रसाद गुण के विषय में ऐसा बात नहीं है, यह सब रसों में
होगा है और सब प्रकार की रचनाओं से व्यक्त होगा है, वही अर्थ गुणों को अर्थ प्रसाद गुण में
विशेषता है ।

इन गुणों में माधुर्य द्रुति का, ओष दीप्ति का और प्रसाद विक्रम का प्रयोजक है—जनक नहीं ।
जनक तो इनके वन गुणों से पुनः रसों के सम्भार होना है । अर्थात्-द्रुति, दीप्ति और विक्रम से
तीनों चित्तवृत्तियाँ एक तीनों गुणों से सञ्जात व्यक्त नहीं होतीं, अपितु इन गुणों में विशिष्ट रसों के
सम्भारन से सञ्जात व्यक्त होता है । अर्थात् यह है कि मधुर रसास्वाद से चित्त विरगल गथा है,
ओजस्वी रसों के अस्वादन से चित्त में एक प्रकार का वाश पैदा होता है और प्रसाद गुणपुनः रस
के सम्भारन से चित्त विक्रमिण्ण हुआ है ।

इन प्रकार इन गुणों के वैयक्त रस धर्म (जहाँ में रहते वान्) मिष्ट होने पर, लोगों का जो-
'रचना मधुर है' 'बन्ध ओजस्वी है' इत्यादि व्यवहार होता है, वह 'इसका अकारण है' इस
व्यवहार के लक्षण शृङ्गारिक है—सुरत नहीं । अर्थात् शौर्य शरणा में रहनेवाला धर्म है, अवयवों
के लक्षण विशेष-रस अकारण में रह नहीं सकता, फिर इसका अकारण सू है' इस व्यवहार को उपास
करने के लिये जैसे लक्षण को शरणा लनी लनी है, तभी प्रकार रस में रहनेवाले गुणों को रचना
और बन्ध में रसों के लिये लक्षण का अर्थवा करना चाहिये । यह मम्मटभट्टादि प्राचीन विद्वानों
का मत है ।

भिन्नतयाऽनुभव, तथा द्रव्यादिचित्तवृत्तिभ्यो रसकार्येभ्योऽप्येवा रसगत-
गुणानामनुभवात् ।

तत्रानुमान प्रमाणमप्युपन्यस्य निरस्यति—

सादृशगुर्विशिष्टरसानां द्रव्यादि-कारणतयात् कारणताऽरच्छेदकतया
गुणानामनुमानमिति चेत्, (न) प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ
गुणकल्पने गौरवात् ।

पेऽभी इत्यारम्य मादृशा इति यापत् सन्दर्भेण परमतखण्डनपूर्वक स्वमतमुप-
क्षिप्तम् । गुणानां रसमाश्रयित्वे किं प्रमाणमिति प्रश्ने सति, प्रत्यक्ष प्रमाणमस्तीति
वस्तु न शक्यम् यतो यथाऽग्नेर्दाहादिरूपात् कार्यात् पृथगग्नेर्गुणस्योष्णत्वसादि प्रत्यक्ष
जायते न तथा रसानां कार्येभ्यो द्रव्यादिचित्तवृत्तिभ्य पृथग रसगतानां रसगिष्ठानां
माधुर्यादीनां गुणानां द्रव्यादिचित्तनादात्म्यात्प्रत्यक्षज्ञायत इत्यर्थः ।

अने कायस्य दाहादेर्गुणस्य चोष्णत्वसद्विभिन्नतया पृथगनुभव, रसानां तु
कायस्य द्रव्यादेर्गुणस्य च माधुर्यादेरभिन्नतया न पृथगनुभव इति गुणानां रसवृत्तित्वे
प्रत्यक्षप्रमाणमावो बोध्य इत्यभिप्रायः ।

सादृशमाधुर्यादिविभिन्नगुणविशिष्टानां रसानाम् । आदिपदेन दीप्ति-विकासयोर्ग्रहणम् ।
'द्रव्यादिनिष्ठकार्यान्तरूपिता रसनिष्ठा कारणता किञ्चिद्भ्रमविच्छिन्नः कारणता-
त्वात् इत्याकारकानुमित्यन्तर परिशेषानुमितिविगणसाधिका । प्रकोष्ठयो नकारो मूले
ऽगुणोऽपि नागोन्नतानुमत सद्भ्रममङ्गतये स्थापितः । प्रातिस्विकरूपेण शृङ्गारवादि
विशेषधर्मेण । गौरव वस्तुनां शृङ्गारत्वादीनामेव कारणतावच्छेदक-रूपत्पदेनैव
निवाहेऽस्मत्सना गुणानां तत्त्ववर्तमानं बोध्यम् । नल्पनमनुमानम् ।

द्रुतित्वादिघर्माविच्छिन्नकार्यतानिरूपितगुणवदसनिष्ठकारणताऽरच्छेदकत्वेन गुणा-
नामनुमान प्रमाणमस्तीति न वाच्यम् गौरवेण गुणानुमानात्सम्भवात् । तथाहि—
द्रुतिं प्रति शृङ्गार कारणमिति विशेषण यद्यपि न च वायुकारणत्वात् द्रुतिं प्रति
माधुर्यवदस कारणमिति सामान्येन तु न च एव वायुकारणत्वात् स्वीकरणीया

अथ वीर्यतरात्र गुण के विषय में एक प्राचीनों के मन का कारण बन है—'पेऽभी' इत्यादि ।
जाया नथन है कि प्राचीनों ने जो गुणों को देखा था वह वायु का धम बालाग है—अर्थात् उन्होंने जो
वह कहा है कि गुण रस में ही रहता है—रचना आदि में नहीं—इसमें प्रमाण क्या है ? आप यदि
कहें कि—प्रत्यक्ष ही प्रमाण है क्योंकि उष्णता में उन उन रसों के आध्या, मैं हमने उन विष-
यों को उत्पत्ति का अनुभव जाना है वह हम कहें कि—नहीं ये भक्ति का कार्य था
(ज्ञानान्), ई और गुण का प्रमाण (अभिप्राय), गुण है, इन दोनों का अनुभव ही प्रमाण बन
होता है अर्थात् हम न च आग से उभरती तर भी हमें उनके गुण-गुण यथा (गामी) का अनुभव
होता है, उन्हीं तरह रसों में वद या दाने-आदि चित्तवृत्तियों हैं, उनके अभिन्निक रसों का होने
पृथक् अनुभव नहीं होता ।

इति अत्र कहे कि गुणों का प्रमाण नहीं होता तो न गरी, मपुत्रं आदि गुणों से गुण ही न
हा रस व न-प्रति न प्रमाण है—अर्थात् गुण न रसों से ही न आदि चित्तवृत्तियों की उत्पत्ति
नहीं है । न च कारणता न नरच्छेदक अर्थात् कारण में रहनेवाला एक धर्म-विशेष के रूप में

साधवमासङ्घे निराकरोति—

शृङ्गार-करण शान्ताना माधुर्यवत्त्वेन द्रुतिकारणत्वं प्रातिस्विकरूपेण कारणत्वकल्पनापेक्षया लघुभूतमिति तु न वाच्यम् परेण मधुरतरादिगुणाना पृथग् द्रुततरत्वादिकायतारतम्प्रयोजकनयाऽभ्युपगमेन माधुर्यवत्त्वेन कारण-ताया गडुभूतत्वात् ।

भवन्ति किन्तु कल्पाना शृङ्गारत्वादीनामवच्छेदकवक्ष्यतापेक्षयाऽन्यताना माधुर्या-दीनामवच्छेदकवक्ष्यता एव गौरव भवति । नन्मात्र सामान्येन कार्यकारणभावा न चानुमान गुणानामित्यभिपन्नि ।

परेण मन्मन्त्रादिना । एडु 'येष इति प्रसिद्धो गनश्चिपि । शृङ्गारादित्वा इत्यादीना कारणानि माधुर्यादिगुणास्तु प्रयोजका इति प्रागावेदिनम् ।

ननु शृङ्गारो इने कारणम् 'बन्धो इने कारणम्' शान्तो इने कारणम् इति विशेषरूपेण कारणताऽभ्युपगमे त्रय दीप्तिविकासयोग्य प्रत्येक त्रय इति सङ्गनयया त्रय कार्यकारणभावा कल्पनीया भवन्ति 'द्रुति प्रति शृङ्गार-करण-शान्ता माधुर्य-वत्त्वेन कारणानि दीप्ति प्रति वीर-वीमत्स-रीडा बीजोवत्त्वेन कारणानि विरास प्रति चादभुत-हास्य-मयानका प्रवादवत्त्वेन कारणानि त्रि सामान्यरूपेण कारण ताऽभ्युपगमे त्रय एव कार्यकारणभावा कल्पनीया भवन्तीति सामान्येन कारणत्वाऽभ्यु-पगमे साधक गुणसिद्धिष्व भवतीति पूर्वपक्षात् ।

कनका अनुमान हो सकना है । तात्पर्य यह है कि 'सभी कारणों में किसी न किसी धर्म में अवच्छिन्न (परिचित) अवश्य होती है' इस तरह की व्याप्ति के निदरूप हो जाने पर द्रुति-आदि में रहने वाली कार्यता से निरूपित, रस में रहने वाली कारणता किसी धर्म में अवच्छिन्न है, क्योंकि वह भी कारणता है, जैसे वर में रहने वाली कार्यता से निरूपित रूप में रहने वाली कारणता (वर्णन में अवच्छिन्न है), रस तरह की अनुमिति के हो जाने पर विशेषानुमान में सर्वत्र 'रस में रहने वाली कारणता के अवच्छेदक, गुण है क्योंकि वे हा उमके (रस के) समन्वित (स अधिक में रहने वाले, न कम में रहने वाले) धर्म हैं' इस अनुमान में गुणों की सिद्धि होगी और धर्मिनाहक मान (जिस प्रमाण से गुणों की सिद्धि हुई है, उसी) से गुणों को रस-अपेक्षा भी सिद्ध हो जायगी । पन्तु यह कथन भी अथका ठीक नहीं क्योंकि गुणविशिष्ट रसों में ही द्रुति-आदि जाने हैं ऐसा मान लेने पर भी द्रुति-आदि और रस में जो कार्य-कारण-भाव कल्पित होगा, उनमें गुणों को पुनः लेने से क्या लाभ ? अर्थात्—'द्रुति के प्रति शृङ्गार कारण है' इस तरह से प्रत्येक रस का नाम लेकर ही कार्यकारणभाव बनाया जायगा, फिर तो शृङ्गार-आदि कल्प (अतिवर्त) धर्म को ही कारणता वच्छेदक मान लेने से निराह हो जायगा, अवश्य गुणों की कथना से होने वाला गौरव का स्थापन नहीं करे ।

यदि स्पष्ट कहेंगे कि एक कार्यकारणभाव में गुणों का निवेश अवश्य करना पड़ना, क्योंकि वरग अलग कार्यकारणभाव मानने पर 'श्रेष्ठ प्रति का कारण है' 'कला प्रति का कारण है' 'रस प्रति का कारण है' वे तीन, इसी तरह 'वीर दीप्ति का कारण है' 'बोध्य दीप्ति का कारण है' 'रीड दीप्ति का कारण है' वे भी तीन, एवम् 'अद्भुत विद्या का कारण है' 'हृष्य विद्या का कारण है' 'नदानक विद्या का कारण है' वे भी तीन, फलतः जो कार्यकारणभाव मानने पड़ें और द्रुति के प्रति मधुर

निगमयति—

इत्थ च प्रातिस्विकरूपेणैव कारणत्वे लोचयन् ।

ननु मम्मटादिरोत्या प्रातिस्विकरूपेण कारणतोपगमेऽपि रसधर्मत्वेन गुणा
सिध्यन्त्येतेषामङ्गायामाह—

किञ्चात्मनो निर्गुणस्यऽऽत्मरूपरमगुणत्व माधुर्यादीनामनुपपन्नम् ।

प्राग्प्रतिपादितमम्मटादिमतैः मधुरत्वेन सम्भोजस्य, मधुरतरत्वेन करुणस्य,
(शान्तस्य च) मधुरतमत्वेन विप्रलम्भाय च कारणस्य, द्रुते, अतिद्रुते, अतितमा
द्रुतेषु कार्यस्य वैदिष्यात् 'द्रुति प्रति माधुर्यवान् सम्भोग कारणम् 'अतिद्रुति प्रति
नितरा माधुर्यवान् करुण (शान्तश्च) कारणम्, 'अतितमा द्रुति प्रति नितरा
माधुर्यवान् विप्रलम्भ कारणम् इति त्रय मञ्जुलनया नव कार्यकारणभावा विशेष-
रूपेण, त्रयश्च भवदन्विता सामान्यरूपेणैति मञ्जुलनया द्वादशानां कार्यकारण-
भावाणां कल्पनैदिरवाद् मन्वतां साधवस्थाने गौरवमेवापेतितियुत्तरपक्षात् ।

सामान्यकार्यकारणभावनात्पत्त्यादिना शेषः ।

सन्धिदानन्दस्वरूपो निर्गुण आत्मेति वेदान्तसिद्धान्तं काव्यात्मभूताना रसा-
नामपि निर्गुणत्वस्वीयित्वात् माधुर्यादिभिर्द्विरित्यात् ।

गुणयुक्त रस कारण है 'दोषि के प्रति भोज गुण युक्त रस कारण है' 'विषास के प्रति प्रसाद गुण युक्त
रस कारण है' इस तरह से गुणकारक कार्यकारणभाव मानने पर तीन ही कार्यकारणभाव होते हैं,
क्योंकि प्रथम में माधुर्य गुण युक्त होने के कारण श्रार, करुण और शान्त का, द्वितीय में भोज युक्त
होने के कारण वीर, बीभत्स और रौद्र का, तृतीय में प्रसाद गुण होने के कारण अद्भुत, हास्य और
भवानन्द का संग्रह हो जाता है। इन स्थिति में एतद्वारा गुणकारक कार्यकारणभाव ही मान्य होंगे,
किन्तु यह तर्क भी सद्वत नहीं है, क्योंकि मम्मटभट्ट ने श्रारदिभिरुक्त में कर्मण माधुर्य का, वीरदि-
भिरुक्त में प्रमदा भोज का और अद्भुतादिरुक्त में कर्मण प्रसाद का व्यापित्य माना है और तदनुसार
पार्य में भा द्रुति, अतिद्रुति, दोषि, अतिदोषि इत्यादि रूप से त्वरतन्त्र माना है। अतः अलग-अलग
नौ विशेष कार्यकारणभाव मानने ही वर्गेण और साध-भाव आवेक कथनानुसार एक ही सामान्य
कार्यकारणभाव भी होगा, जो वही तरह व्यक्त है, जिन तरह तदु (वेद-मल्लप्रति)। सारांश यह
हृष्य कि गुणकारक सामान्य कार्यकारणभाव तथा माना न सवन्ता, अतः अनुपपन्न प्रमाण से गुणों की
सिद्धि किंवा रस-धर्मता प्रमाणित नहीं की जा सकती है।

गुणकारक कार्यकारणभाव वाले वस्तु में सामान्य और विशेष के योग से कार्यकारणभावों को
संख्या द्वारा ही माती है, जिनकी प्रतिमा उपा बनाई जा सकती है और प्रत्येक रस का नाम लेकर
(गुण को धार न बनाकर) कार्यकारणभाव स्तितार करने पर एक रीति से उनकी संख्या भी ही
रखी है, अतः इस वस्तु में ही स्पष्ट भी है।

मन्तुन एक दलीलें से गुणों की रसधर्मतापत्ती मापनीय का कुछ विषय नहीं, क्योंकि प्राति-
स्विकरूपेण (गुण को धार न बनाकर अलम्बित) कार्यकारणभाव मानने पर भी 'गुण रस का
धर्म है' पर सिद्ध होगा ही। वास्तव्य यह है कि श्रार अथवा वीर किंवा हास्य रस होने के नाते
द्रुति अथवा दोषि किंवा विप्रलम्भ के कारण नहीं हो सकते, कारण है ऐसा मानने पर सभी रस
द्रुपादि तीनों चित्तृप्ति के कारण हो जायेंगे, क्योंकि सभी रस जड़रूप हैं, बद्ध हैं, अतः अगत्या
परी मानना पड़ेगा कि श्रार इतद्विधे द्रुति कारण है कि वह माधुर्य गुण शाली है, वीर द्रुति

ननु माधुर्यादिगुणानां रसगुणत्वमावेऽपि रसोपाधिस्वरूपस्यापिमावगुणत्वमे-
वास्तु, तावताऽपि गुणमिदं स्यादेवेत्याशङ्क्याममिदधानि—

एवं तदुपाधिरत्यादिगुणत्वमपि, मानाभावान्, पररीत्या गुणे गुणान्तर-
स्यानीचित्याच्च ।

ननु भृगारादिरसेषु माधुर्यादिगुणान्ज्ञीकारे 'शृङ्गारो मधुर' 'वीर ओजस्वी
इत्यादयो व्यवहारा ऋयमुपपद्येरन्वित्याशङ्क्यामाह—

अथ 'शृङ्गारो मधुर' इत्यादिव्यवहार कथमिति चेत्, एव तर्हि द्रव्यादि-
चित्तवृत्तिप्रयोजकत्वम्, प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रव्यादिकमेव वा माधुर्यादिक-
मस्तु । व्यवहारस्तु 'वाजिगन्धोष्णा' इति व्यवहारवदक्षत ।

अनुपपन्नमित्यनुवर्तते ।

माधुर्यादीनां यथा रसगुणत्व युक्तिप्रमाणाभावात्तदनुपपन्नम्, एवं तदुपाद्ययो रस-
स्यापिभावा ये रस्यादयः, तेषां गुणत्वमपि ग्राहकप्रमाणाभावात्, पररीत्या मम्मटा-
द्युक्तरीत्या रस्यादीनां सुलक्षणत्वाज्ञीकारेण गुणरूपतया, तत्र पुनर्गुणानां माधुर्यादीनां
गुणे गुणाभाव इति सिद्धान्तेनासत्त्वाच्चानुपपन्नमित्यर्थः ।

द्रव्यादीनां शृङ्गारादिवृत्तितया रसादिवृत्तितयाश्चास्वीकारे शृङ्गारे माधुर्या-
सम्भवात् 'शृङ्गारो मधुर' इत्यादिव्यवहार प्रसिद्धो नोपपद्येतेति शङ्क्यामाह—द्रव्यादि-
प्रयोजकत्वम्, मयथा ससर्गकुक्षिप्रविष्टपदार्थानां स्वरूपेणैव भाननियमात्साध्याय
प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रव्यादिकमेव माधुर्यादिकमस्त्वित्यज्ञीकृत्य माधुर्यादीनां निर्वचनम्,
वाजिगन्धोष्णा 'अमगन्ध' इति प्रसिद्धाया अभगन्धोपपेक्षितकालमुष्णत्वस्यानुपपन्नेऽपि
पारिणामिक तदादाय, यथा 'वाजिगन्धोष्णा' इति व्यवहारो भवति तथैव शृङ्गारादि-
रमाना मयो द्रव्याद्यभावेऽपि पार्यन्तिकास्वादकालिक—द्रव्यादिकमादाय 'शृङ्गारो
मधुर' इत्यादिव्यवहारो भवेदिति व्यवहारोपपादनं च समाधानं बोध्यम् ।

यौक्ति का कारण है कि वह ओज गुण से ओठ प्रोत है, हाथ इमतिथे विकसत का कारण है कि वह
प्रसाद गुण से प्रसादित है और अब शैना मान लिया गया, नव तो एक श्रान्तिस्विक रूप वापि कार्य
कारण भाव से भी कारणभावच्छेदक रूप में गुणों की रसभर्त्ना सिद्ध होगी ही, इसी अवनतन की
हृदय में रत्नकर मन्त्रकार मण्डनराज जगन्नाथ दूसरी युक्ति बतलाने हैं—'किञ्च' इत्यादि । गुण, रस-
धर्म नहीं हो सकने, क्योंकि साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तानुसार रस आत्मरूप है और आत्मा निर्गुण
है—अर्थात् आत्मा में कोई गुण नहीं रहता, ऐसा वैशान्वियों का सिद्धान्त है ।

यदि अब कहे कि 'गुण रस के धर्म हैं' इस लक्षि का तात्पर्य है, रस के उपाधिभूत रति आदि
स्याधीभागों के धर्म गुण हैं, तो यह भी सङ्गत नहीं होगा, क्योंकि प्रथम तो इममें कुछ प्रमाण नहीं
और दूसरे साव्यप्रकाशकार आदि विद्वानों के मत से रति आदि सुख रूप हैं, मन वे स्वयं गुण हैं,
रिच उनमें अन्य गुणों का होना सम्भन नहीं, कारण ? गुण में गुण नहीं रहने, यह दार्शनिकों का
सिद्धान्त है ।

अब यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि अब आप के विचार से गुण न रस के धर्म हो सके, और
न रसोपाधिभूत रति आदि के अर्थात् गुण कोई पदार्थ ही नहीं सिद्ध हो सकत, तब 'शृङ्गार रस मधुर
होता है' इत्यादि व्यवहार कैसे बनेगा ! इसका उत्तर यह है कि द्रव्यादि-चित्तवृत्ति-प्रयोजकत्व
(उन चित्तवृत्तियों का परस्परया कारण होना) ही माधुर्य आदि गुण हैं, अथवा प्रयोजकतासम्बन्ध से

ननु द्रव्यादिप्रयोजकत्वमेव यदि माधुर्यादि, तदाऽद्रु-कालेभ्यरेच्छादीनां कार्य-
माणप्रयोजकत्वान् तत्रापि माधुर्यादिव्यवहार प्रसज्येतित्यत आचष्टे—

प्रयोजकत्व चाट्टादिविज्ञाने शब्दार्थ-रस-रचनागतमेव शाह्यम्, अतो
न व्यवहारातिप्रसक्तिः ।

तथाऽङ्गीकारे फल दर्शयन् स्वयन्मुपबहरति—

तथा च—शब्दार्थयोरपि माधुर्यादिरीदृशस्य मत्त्वाद्रूपचारो नैव कल्प्यः,
इति तु माहृषा ।

माधुर्यादीनां द्रव्य-दिप्रयोजकत्वस्य द्रव्यादिताद्रूपस्य बाऽङ्गीकृती सहृदयानुभवस्य
प्रमाणस्य सत्त्वात्प्र मत्तान्तवरप्रमाणत्वमित्यापूतम् ।

वकारो हेत्वर्थकः । अद्रुणादिविलक्षणमद्रुष्टाद्युक्तिः । शब्दार्थाभ्र रसाभ्र रचनाश्वेति
इन्द्र । अतिप्रसक्तिरित्युच्यते ।

यतोऽद्रुष्टाद्युक्ति-शब्द-तत्पर्य-रस-रचनामात्रयुक्ति-द्रव्यादिप्रयोजकत्वमेव माधु-
र्यादि गृह्यते, तस्मान्नाद्रुष्टादिषु माधुर्यादिव्यवहाराणिभ्यामिति च साह्यम् ।

ईदृशस्य द्रव्यादिप्रयोजकत्वस्य । तुना मन्मटादिव्यवच्छेदः ।

तथा च माधुर्यादीनां द्रव्यादिप्रयोजकत्वस्य ताऽप्युपनमे च ईदृशस्य द्रव्यादि-

इति आदि विदुषिर्ज्ञाते ही गुण है अर्थात् उक्त विदुषिभ्यो अह एव आदि के साथ ब्रह्मरत्ने का
(प्रयोजकता) सम्बन्ध रहती है, तब उन्हें माधुर्य आदि गुण कहन है । इन द्वितीय कथ में प्रयो-
जकता को सम्बन्ध छोड़ि में ले जाने से यह लायब होना है कि समदा मान स्वस्वता ही शब्दका
आ-प्रयोजकता से अपने प्रयोजकता का आदि की च-रना नहीं कृती वहीगी और प्रथम कथ में उक्त
मान स्वस्वता नहीं होय जिस प्रयोजकत्व आदि की च-रना बरती होगी, मन गीत्व होगा ।
यदि आप कहें कि इस प्रकार से कर्ता का निर्वचन अपे ही कर लिया जाय, परन्तु इससे अज्ञान
मयुर है इत्यादि स्पष्टार तो उदाहर नहीं हो सती क्योंकि प्रयोजकता कृतिवनिनामक सम्बन्ध
नहीं है—अर्थात् उस सम्बन्ध से कोई प्रयोजकता नहीं रहने वाला नही बरहा सन्ता, जो एक कोई
दमरा द्रव्यमयूर ऐसा व्यवहार भी इतिगीपर नहीं होगा । इसका समाधान यह है कि यदि प्रयो-
जकता को कृतिवनिनामक सम्बन्ध नहीं मानें, तब 'अनन्त' (औषध) उक्त (गरम) है' यह व्यव-
हार कैसे होगा ? क्योंकि अज्ञान्य में उक्त्यन नहीं है, बरन् यह उक्त्यन का प्रयोजक है । जो प्रयो-
जकता सम्बन्ध में अनन्त को उक्त्यन का अत्यन्त मान का 'अनन्त' उक्त है' यह व्यवहार कैसे होगा
है, ईमे उक्त व्यवहार भी होगा ।

यदि आप कहें कि इस तरह प्रयोजकता सम्बन्ध में द्रव्यादि रूप माधुर्य आदि गुण तो अद्रु-
(धर्म-अधर्म) कल आदि में मा रह सकन है, क्योंकि अन्न काल, ईश्वर आदि कार्यमात्र के
प्रयोजक है, उक्तरी प्रेरण के बिना मन्म का कोई भी कार्य नहीं शक्य—एक पत्ता को नहीं दिला,
मन इन आदि की प्रयोजकता का उक्त्यन अत्यन्त स्वीकृत्य होगी, फिर भी आप से दियार से 'अद्रु-
मयुर है' इत्यादि व्यवहार का होने उक्त्यन । इसका उत्तर यह है कि रस में रहने वाली द्रव्यादि-
रस-रचना अनन्तगत धर्म अद्रुदि में रहने वाली मादरता है, जो वही अद्रु आदि में व्यवृत्त (उत्तम
नहीं रहने वाली) उक्त्यन, मई और रचना इन म्बों में हा रहने वाली प्रयोजकतामय के रूप में
मयुर है, जो उक्त्यन नहीं होगा ।

इस तरह माधुर्य आदि गुणों का निर्वचन करने पर एक कथ स्पष्ट होगा है कि 'यह रचना
मयुर है' 'यह उक्त्यन मयुर है' यह कथ अशक्य है' इत्यादि व्यवहारों को गिन जाने के लिये

इत्य स्वमतेन गुणान् प्रतिपाद्य, निराचिकीर्षया वामनादिमत प्रतिपाद्यति—
जरतरास्तु—

‘श्लेष प्रसाद’ ममता माधुर्यं सुकुमारता ।

अर्थव्यक्ति-रुदारत्व-भोज्य-कान्ति-समाधय ॥’

इति दश शब्दगुणान्, दशैव चार्थगुणानामन्विति । नामानि पुनस्तान्येव,
लक्षण तु भिन्नम् ।

अयं प्रथम बुद्धिविषयत्वेन शब्दगुणान् निरूपयन्नाद्य लक्षयति—
तया हि—

शब्दानां भिन्नानामप्येकत्वप्रतिभानप्रयोजकः संहितयैकजातीयव-
र्णविन्यासविशेषो गाढत्वापरपर्यायः श्लेषः ।

प्रयोजकत्वरूपस्य माधुर्येति शब्देऽप्ये च सत्त्वात्, ‘मधुरा रचना’ ‘भोज्यस्वी वग्’
इत्यादिष्ववहारोपपत्तये, उपचार ‘गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्ति शब्दार्थयोर्मता’ इत्युक्ते-
र्लक्षणा, ममतादिमतवदसंगमते, न कन्व्यो भवति मुह्यार्थान्वयबाधवैधुर्पादिति फल
भवतीति भावना विवेचका षदन्तीति शेष ।

इदमिहाकलनीयम्—गुणानां शब्दाद्यंगतत्व, विद्यतित्व, काव्यशोभाकारित्वेन
तदधिकारिभ्योऽलङ्कारेभ्यो वैलक्षण्यं च वामनेनास्त्यतम् । माधुर्योऽङ्गप्रसादात्मकत्वेन
श्लेष, क्रमेण वृत्ति-क्षोत्ति-विकारात्कारणत्वात्, रसमात्रवृत्तित्वेन शब्दार्थमात्रवृत्त्य-
लङ्कारेभ्यो वैलक्षण्यं च गुणानां मम्मटेनानुगृह्यम् । विभनायेन तु माधुर्मादीनां
द्रुत्यादितादात्म्यमात्रमभिनव स्वीकृत्य मम्मटपथमेवानुसृतम् । अयत्राप्येन पुनर्द्रुत्यादीनां
जनकत्वस्य रसास्वादमात्रवृत्तिना गुणानां तत्रप्रयोजकत्वं शब्दार्थरसरचनावृत्तित्व
ज्ञानिहितम् । तत्र परोक्षया विभनायमतमेव सर्वथा निर्दूषणं प्रतिभाति । न च
गुणानामानन्दविशेषात्मकद्रुत्यादिहृष्यत्वे रसाभेदापत्ति, कारणभेदेनोभयोर्भेदस्य प्रागेव
निबेदितत्वात् । अत एव रसगुणयोराधारायेपभावोऽपि नानुपपन्न । न च गुणानां
रसमात्रवृत्तित्वाङ्गीकारे ‘मधुरा रचना’ इत्यादिव लक्षणास्वीकाराद् गौरवम्,
उपायान्तरान्नादेन गौरवस्येष्टत्वात् । इतरथा ‘आकारोऽस्य दूर’ ‘कलिङ्ग साहितिक’
इत्यादिष्वपि लक्षणामभावाकारे शीर्षस्य, देशे साहामिकत्वस्य च त्वाकारेण, कडिनूत-
कलक्षणया उच्छेद एव कृतं स्यात् ।

जरतरा अतिप्राचीना वामनद्वय इत्याहुरित्यर्थः ।

लक्षणमित्येववचनं तु प्रत्येकार्थप्रत्येकं योजनीयम् ।

श्लेषादीनि याम्येव शब्दगुणानां नामानि, तान्येवार्थगुणाभामपोति नामसाम्येऽपि
तेषां स्वरूपभेदात्लक्षणभेद इत्यामय ।

लक्षणा ‘त आश्रया नदी करुणा इत्यत्र, स्योक्ति उत्पत्कारक माधुर्येति गुण शब्द, अर्थ और रचना
अदि म मी रद ही सक्ते ह—रदन हो ह । ये ह हमार (पण्डितरात्र) जैसे—विद्वानो के विचार ।

अत्यन्त प्राचीन आचार्य वामन आदि तौ —रूप, प्रसाद, समया, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ-
व्यक्ति, रुदारता, भोज्य, कान्ति और समाधि य दश शब्दों के गुण और दश ही अर्थों के गुण मानते
हैं । नाम दोनों एक ही हैं, परन्तु अर्थ भिन्न-भिन्न हैं ।

तत्र प्राचीनसम्प्रति दृश्यति—

यदाह — 'शिल्लमस्यष्टशोयित्यम्' इति ।

स्नेहप्रदाहरति—

यथा —

कश्चिन्वाटुकारो राजानं वर्णयति—

'अनवरतविहङ्गुमद्ग्रीहिदारिद्र्यमाद्याद् द्विपोद्दामदपौघविद्रावणप्रौढप-
ज्ञाननः इति ।

द्वितीय प्रपाद लक्षयति—

गाढत्व-शैथिल्याभ्यां व्युत्क्रमेण मिश्रणं बन्धस्य प्रसादः ।

मिश्रानां विरुपाणाम् । एकत्वेनाभेदेन प्रतिमानस्य ज्ञानस्य प्रयोजक । संहिताया
परतमिकपेण सन्धिकार्येण एकजातीयानां सपृष्ठानां वर्णानां विन्यासविशेषो मिलन-
रचना । गाढत्वमधुरपिप्यासो नामान्तर यस्य च ।

मिश्रानामपि शब्दानां व्याकरणानुसिद्धसन्निकर्षविशेषप्रयुक्तमिन्द्रत्वप्रकारक-
प्रतीतिप्रयोजको गाढत्वनामा श्लेष शब्दगुण इत्यर्थः ।

शिल्लम इति शब्दे च । अन्वष्ट न स्फुट शैथिल्य पदानां भेदो यत्र, तन्-
'इहनामपि पदानामैकपदबद्धरसनात्मा श्लेष' इत्यन्वयं दर्शयति ।

अनवरत सतत विहास एव परार्थगीवितत्वात् कल्पयौत्सव्यतत्वाद्वा इमान्तेषां
ग्रीहि पीडाकरत्वाद्ग्रीहि, यद्दारिद्र्यं विप्रेतरत्वं, तदेवानिवारणीयत्वान्माघन्मूनतीमयन्
द्विपो हुत्ती, तस्मै च उद्दामदपौघं उत्कटमदरासि, तस्य विद्रावणे दूरीकरणे प्रौढ
प्रगल्भ पञ्चामल सिद्धस्त्वमधीत्यर्थः । इह मिश्रानामपि शब्दानां सम्यक्चोनामिश्र-
णप्रतिमानं स्पष्टम् ।

मिश्रानामभिमतया भाव गाढत्वम्, मिश्रतया भावन्तु शैथिल्यम्, तयो क्रमेण

एवं शब्द-गुण-निरूपण के क्रम में सर्वप्रथम 'स्नेह' का लक्षण दिखलाने है—'तथाहि'
इत्यादि । मिश्र-मिश्र रूप वाले शब्दों के भी उस योजना-विशेष को 'स्नेह' कहते हैं, जो एकजातीय
वर्णों से युक्त हो और अल्पतः सन्निकर्ष (सर्वथा समीप-समीप में रहना) से एक ही तरह के शब्दों
से बना हुआ सा प्रगीत हो । उस योजना-विशेष का दूसरा नाम 'गाढत्व' भी दिया जात है ।

स्नेह के एक लक्षण में प्राचीनों को भी सम्प्रति है—उन्होंने लिखा है कि-स्नेह उस रचना-
विशेष को कहते हैं, जिसमें शिथिलता (पदों का भेद) स्पष्ट लक्षित नहीं हो ।

जैसे—कोई कवि किसी राजा का वर्णन करता है कि—हे राजन् ! तुम, विद्रुतमज्ज्मप कृणो
(दूतों के लिये जीने वाले) के सर्वत्र दोह करने वाले दारिद्र्य रूप मत्-मत् हाथों के उत्कट गर्भ-
समूह (मद) को नष्ट करने में मगान् सिंह ही-अर्थात् तुम्हारे दर्शन से विद्वानों को दरिद्रता उगी
प्रकार नष्ट हो जाती है, जिन तरह सिंह के दर्शन से मद-मत्त गजों के जानवरों मृत्यु जाते हैं । वही
सन्धि करने के कारण मिश्र-मिश्र पद भी एक पद के समान प्रतीत होते हैं, का यह 'स्नेह' गुण
का उदाहरण है ।

एवं 'प्रसाद' गुण का लक्षण देखिये—रचना में गाढता (मिश्र पदों का एक जैसा लगना) और

प्रसादमुदाहरति—

यथा—

राजान चाट्कारो ब्रवीति—

किं ब्रूमस्व वीरता वयममी, यस्मिन् घराखण्डल ।
 क्रीडाकुण्डलितभ्रु शोणनयने दोर्मण्डल पश्यति ।
 माणिक्यावलिकान्तिदन्तुरतरंभूपासहस्रोत्करं-
 विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहास्तत्कालमुत्थासिता ॥

उपपादयति—

अत्र 'यस्मिन्'त्यन्त शैथिल्यम्, 'भ्रु' शब्दान्त गाट्त्वम्, पुन'नयने'त्यन्त प्रथममित्यादि बोध्यम् ।

तृतीया समता लक्षयति—

उपक्रमादासमाप्ते रीत्यभेदः समता ।

आदौ गाट्त्वम्, अन्ते शैथिल्यमिति रीत्या, मन्निवेशस्तु वक्ष्यमाणे, समाधिगुणे, अत्र तु व्युत्क्रमेण विपरीतक्रमेण आदौ शैथिल्यमन्ते गाट्त्वमिति रीत्या मन्निवेश इति समाधि प्रसादयोर्भेदः ।

हे घराखण्डल वरणीन्द्र ! यस्मिन्स्त्वयि, क्रीडया क्रीडाय वा कुण्डलिते बर्तुली इति भ्रुवी यत्र, तद्यथा स्यात्, तथा शोणनयने रक्तनेत्रे दोर्मण्डल बाहुवलय पश्यति सति, विन्ध्यारण्यगुहावनिरुहा विन्ध्याचलकाननकन्दरायननसन्निकृष्टवृक्षा, तत्काल यस्मिन्नेव समये (मिया पताम्य गतावा त्वद्वैरिनुपाणा) माणिक्यावलिकान्तिमि शोणमणिश्रेणी धुनिमि दन्तुरतरंरत्न्युन्तै, भूपासहस्रोत्करं वायावतम्बितभूषण-सहस्रसमुदायै, उल्लामिता अतितरा शोमिता भवन्ति, तस्य तव वीरता पराक्रमम्, अमी वराका, वय किं ब्रूम किमपि वर्णयितुं न शक्नुम इत्यर्थः ।

प्रथम शैथिल्यम् । अत्र श्लोके प्रथमचरणे यस्मिन्निति यावद् बन्धस्य शैथिल्य विभागप्रत्यवभासात्, तदनु द्वितीयचरणे भ्रुशब्द यावद्गाट्त्वम्, पुनस्तत्रैव नयने इति यावच्च शैथिल्यमिति प्रसादो गुणो ज्ञेय इत्यर्थः ।

शिथिलता (पदों का मित्र जैसा प्रतीत होना) का विपरीत क्रम के मिश्रण अर्थात् रचना का दर्शन शिथिल और नाद में गाठ होना—'प्रसाद गुण' कइयाता है ।

जैसे—किसी चाटुकार (सुशामदी) कवि ने राजा का वर्णन किया है—हे पत्नी के इन्द्र ! जिन आपके हेल में भ्रुगुण्ड की गोल और नेत्रों को लाल करके मुज-मण्डल को देखने पर तत्काज ही विन्ध्य पर्वत के बनों के कन्दारूप घरों में रहने वाल वृक्ष, माणिक्यदाण्डि की कान्ठियों से अत्यन्त स्वत इनारों आभूषणों के समूहों से चमकते लग गये, उस लज्जको वीरता का वर्णन हम बेचारे क्या करें । श्लोक का सारांश यह है कि जिस राजा की तक चेष्टाओं से वरुण कर शत्रुपूत्र राजा लोग भाग कर विन्ध्य पर्वत की गुहाओं में जा छिपे, उनको वीरता का वर्णन सचरत्नमय क्या कर सकते हैं !

इस श्लोक में 'यस्मिन्' पद तक शिथिलता है, फिर 'भ्रु' शब्दकेन गाट्त्व है और पुन 'नयने' पर पर्यन्त शिथिलता है, अत्र 'प्रसाद-गुण' का उदाहरण होता है इत्यादि समझना चाहिये ।

उदाहरति—

यथा—वक्ष्यमाण-मानुषोदाहरणे ।

उपपादयति—

तत्र ह्युपनागरिवशैवोपत्रभोपनहारौ ।

चतुर्थ माधुय नक्षयति—

सयोगपरहस्तातिरिक्तवर्णघटितत्वे सति पृथक्पदत्वं माधुर्यम् ।

उदाहरति—

यथा—

चाटुकुहयित प्रणमिनी वदति—

‘नितरा परया मरोजमाला न मृणालानि विचारपेशलानि ।

यदि कोमलता तवाङ्गकाना-मथ का नाम कयाऽपि पल्लवानाम् ॥’

उपपत्त्यादात्मानं वा समाप्तरवसानं यावत्, रीतरूपनागरिकादिवृत्तिलपाया
संदम्भेति अभेद एकरूपता ममता नाम गुण इत्यर्थं ।

नितरा परया इत्यादी ।

तत्र नितरा मित्युदाहरणं मत् आदेरन्त आशयेर्द्वीपनागरिका बुभुक्षन् समते-
त्यर्थः ।

सयोगो हन्त्यामन्तर्यं परा मय्यस्तादृशा य ह्रस्ववर्णा एकरात्रिकाक्षराणि, तस्यो-
ऽतिरिक्तवर्णैघटितत्वं सति, पृथक्पदत्वमन्तर्गतपदत्व माधुय गुण इत्यर्थः । सयोगे
पर यथा ह्रस्वाक्षराणां गुणस्य, तद्विन्नत्वस्य लक्षणं निबन्ध, सयोगश्चात्र परसवर्णो-
नानिष्यन्तैह्रस्वैरघटितो गृह्यते, तेन तस्यैव पल्लवानां पितृव्य परायेत्तरह्रस्वाका-
रस्य लवान्द्वयमयापपरवत्त्वेन गुणवत्त्वं गुणवत्स्यैव न क्षति, लवान्द्वयमयास्य पर-
सवर्णानिष्यन्त्वान् । पदानां संहितयार्थान्निष्ठत्वाभावात् पृथक्पदत्वम् ।

ह प्रिय ! यदि तत्र जङ्गलानां मृदुत्वात्तत्पत्तानुपम्पनीयावयवानां कोमलता
विनाशयत तदा सराजानां सरात्रयत्वेन मृदुगमनां कमलानां, माला सक्तु, नितरा-

अत्र ममता वा लक्ष्यं वरते इ—‘उपपत्त्यात्’ इत्यादि । अरम्भ से अन्त तक एक ही प्रकार की
रीति होने या समता रहने से वक्ष्यमाण या समानता का विशेष कि—उपनागरिका, तथा और
वाक्यता यो वान रीतियों वाला है । इन्हीं को वेद्यों, नीली और शाशाटा भा वरते हैं ।

जस कि आग-माधुय ५ उदाहरणं नितरा परया इत्यादि श्लोक में है

वरी उपनागरिका इति वा अरम्भ और अन्त में समानता का वर्ण है ।

अत्र माधुर्यं गुण वा लक्ष्यं वरते इ—‘सयोग’ इत्यादि । संयुक्त (स्वर-रहित अनेक व्यञ्जन)
वर्णों का आग ५ रहने से पृथक् अनेक ह्रस्व स्वरों को पृथक् संज्ञा होता है, परंतु ह्रस्व स्वरों से अतिरिक्त
वर्णों का संज्ञाता से अनेक होना अत्र वरी का अर्थ अनेक रहने—अर्थात् सान्य और समान से
रहित होना, इन दोनों अर्थों का सम्मिलित रूप से माधुर्य गुण कहते हैं ।

अत्र—नाटक नाटिका से सुशुभचरित्र का वर्ण रहता है—होय । अब जब मैं तुम्हारे इन वचनों
में से किसे म समझता हूँ, तब-तब मुझे कमलपुष्पों का माला अर्पण करके माधुर्य पढ़ता हूँ,

पञ्चमी सुकुमारता लक्षयति—

अपरुषवर्णघटितत्वं सुकुमारता ।

उदाहरति—

यथा—

नायको वदति परामृशति वा—

‘स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालि-कपोलपालिदोलायितश्रवणकुण्डलवन्दनीया ।

आनन्दमङ्कुरयति-स्मरणेन काञ्चि, रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः ॥’

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धे । उत्तरार्धे तु माधुर्यमपि ।

मत्स्यन्त, परया कर्कशा, प्रतिभाति । मृगालानि विसानि च विचारे, नवाङ्गानि मृगालानि काञ्चिक कोमलानीति विवेचनायामल्पगुणतया पेशलानि योग्यानि न प्रतिभान्ति । अथ तदुभयानुन्वयवनिर्णये पल्लवाना बिसलमाना तथा त्वदङ्गसाम्य-चर्चाञ्चि का नाम ? न काञ्चीत्यर्थः ।

इह प्रायः पदानि पृथग्भूतानि परसवर्णनिष्पन्नयोगनिमित्तकगुर्वक्षराघटितानि चेति माधुर्यं गुण । तच्च प्रागुक्तया समयता, बहिर्माणयाऽव्यक्तया च सङ्कीर्णम् ।

केवलकोमलवर्णघटितत्वं बन्धम्य न सुकुमारत्व गुण इत्यर्थः ।

स्वेदाम्बुना धर्मजलस्य, सान्द्रैर्निघिड कर्णदिन्दुभि, घालिन्या शोभमानाया, कपोलपाली गण्डत्वये, दोलायिताम्भामितरतनभ्रलङ्कुरा, भवणस्थिताभ्या कुण्ड-लाम्भ्या, वन्दनीया श्लाघनीया, काञ्च्यनिर्वचनीया, मदिरेक्षणाया खड्गनाश्या (प्रेयस्या.) रम्या मनोरमा, दसाञ्चस्था, स्मरणेन (हृदि) आनन्दम्, अङ्कुरय-त्युत्पादयतीत्यर्थः ।

अत्र श्लोके पूर्वार्धे प्रथमद्वितीयचरणयो कोमलवर्णघटितत्वान् सुकुमारता शुद्धा । उत्तरार्धे तु पृथक्पदत्वान्माधुर्येण सङ्कीर्णा । क्षकारस्य कार्कश्येऽप्येवाकितया न

दृष्टत तो इस विचार में आने योग्य भी नहीं दीखते कि—ये शेर अज्ञों के समान कोमल हैं—कि वा नश, रह पल्लव सो अब कमल ओर मृगणों को वह दशा है, तब उनकी द्रो चर्चा भी तुम्हारे अज्ञों के सामने व्यर्थ है । यहाँ यद्यपि पल्लव पद में दो लकारों का ऐसा संयोग है जिसके पदे प्कारोत्तर अकार को गुण सञ्ज्ञा जाती है, तथापि दोष इसलिये नहीं होता कि—उक्त लक्षण में जो संयोग पद आया है, उससे ऐसा ही संयोग लिया जाता है जो परसवर्ण (एक प्रकार की व्यङ्ग्य-मुद्रित सन्धि) के द्वारा अनिश्चय हल्गणों से युक्त न हो और वहाँ का लकाररूप संयोग परसवर्ण द्वारा निश्चय नहीं हुआ है, अतः वैसे हल्गणों से युक्त ही हुआ ।

अब सुकुमारता गुण का लक्षण सुनिये—कक्षर वर्णों से भिन्न अर्थात् कोमल वर्णों से रचित होने का नाम ‘सुकुमारता’ है ।

असे—नायक किसी से कहता है कि—पतीने के अल के सपन विन्दुओं से शोभित करोड़—स्पष्ट पर झूठत हुये कानों क कुण्डलों के कारण अभिनन्दनीय और अतिर्वचनीय, मदमाते नयन वाली नायिका का (भगोय अत्रम्हा, यदि आता ही, इत्यय में आनन्द को अङ्कुरित कर देती है ।

षष्ठोमर्षव्यक्तिं ज्ञप्तयति—

ज्ञागिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वमर्षव्यक्तिः ।

उदाहरति—

यथा—'नितराम्' इत्यादौ ।

सप्तमीमुदारता लक्षयति—

कठिनवर्णघटनारूपविकटन्त्रलक्ष्णोदारता ।

उदाहरति—

यथा—

दिवस्य ताञ्च वक्तो वक्ष्यति—

'प्रमोदमरतुन्दिलप्रमथदत्ततालावली-

विनोदिनि विनायके डमरुडिण्डिमध्वानिनि ।

ललाटतटविस्फुटप्रवृषोदयोनिच्छटा-

हठोद्धतजटोद्भूटो गतपटो नटो नृत्यति ॥'

मगना । अक्षरकुण्डले यत्र पीनरक्तम्, अक्षरस्थितत्वद्वीपवत्त्वेन परिहारस्तु 'स्थिते-
ध्वनन सम्बंधम्' इत्यनुसामनाम् प्राचीनतमोक्तिष्वेव युक्तम् ।

ज्ञागिति षोडशश्लोकादिषामधोमवधानान् प्रतीयमानोऽर्थागमवय सम्बन्धो
यत्र, तत्त्वम्, अक्षरस्थितेन्यादबोधजनकत्वं पदानामर्षव्यक्तिरित्यथ ।

मायुषोऽाहरणे ।

दृग्गादिकठोरवर्णघटितरव वक्ष्यस्योदारता गुण इत्यथ ।

प्रमोदमरेण तुन्दिनैरानन्दातिशयनोत्फुल्लैः, प्रमथं अद्भुतरपरिवर्तं दत्तामिषिहि-
तामि, तालावलीमि कालश्रियामानवोधककरवनिपरम्परामि, विनोदिनि वीनूहल-
धुनि, विनायके गणेशे, डमरु डिण्डिम च वाद्यविशेष ध्वनयति वादयतीति तच्छीते
सति, ललाटनटां वृषपालस्यलान्, विस्फुटनी प्रवृषोदवर्नी वृषोदयोनेरक्षेच्छटा प्रमा
यस्य तादृश, हठेन नृत्यामिनिवेगेन, उद्धतामिरुष्वं विस्फीणामि, उद्भूटो विवट,
गतपटो दिग्म्बरत्वाग्रवसन नटो नतं क शिबो नृत्यतीत्यर्थे ।

एक पद्य के पूर्वार्ध (प्रथम-द्वितीय चरणों) में झुजुमारता है । उत्तरार्ध (तृतीय-चतुर्थ चरणों)
में भाषुर्व और झुजुमारता दोनों का मिश्रण है ।

अब 'अर्षव्यक्तिगुण' का उल्ला देसिये—अर्षो वे अन्वय का शीघ्र ज्ञान जाना अर्थात् शीघ्र शब्द-
बंध के होने को—'अर्ष-व्यक्तिगुण' कहते हैं ।

जैसे कि 'नितराम्' पद्य का सरोजमाला ' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य आदि में ।

अब 'उदारता गुण' का उल्ला शक्ति—रचना का स्वर्ग आदि कठोर वर्णों से युक्त होना—जैसे
विद्वत्त्व भी कहते हैं—'उदारता गुण' कहलाता है ।

जैसे—कोई मनु शिवजी के टाण्डन-मूल का बर्तन बना है—मन्त्रदेश से फूटकर निकलती
हुई लौ का नवीन-छव से युक्त और हठ में (नृत्यामिनिवेश से) ऊपर उल्लाई हुई अय के कारण
विद्वत्त्व होने वाले नंग नरकाव (शिव) नाच रहे हैं, अति अन्ध हो फूटे हुये प्रथम लोको के द्वारा
दो मनु शक्ति में विनोद-अन्वय गौणगी टमरु और डिण्डिम (वाद्यविशेष) को बना रहे हैं ।

अत्र परोक्तिमाक्षिपति—

'पदाना नृत्यत्प्रायत्व विकटता' इति काव्यप्रकाशटीकाकारा व्याचक्षते । उदाहरन्ति च—'स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नेतकीना, झटिति रणितमासीत्' इत्यादि । तत्र तेषामेतादृशी विकटत्वलक्षणामुदारताभोजस्यन्तर्भावियन् काव्य-प्रकाशकारः कथमनुकूल इति त एव जानन्ति ।

तामेवानभिमतं प्रकाशयति—

न ह्यत्रौजसो वैपुल्येन प्रतिभानमस्ति । 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नेतं'— इत्यत्र सप्त-
प्यौजसो स्वो न चमत्कारी । नापि तत्र नृत्यत्प्रायत्व वर्णानामनुभवन्ति सह-
दया । अशान्तरे तु माघुर्यमेव ।

झटिति स्थानेऽनुकरणावको झणितोति, स्वचरणस्थान सुचरणोति पाठश्च
साधीयान् । तत्र तस्मिन् विषये । तेषा टीकाकाराणाम् ।

काव्यप्रकाशव्याख्यासृमियंत् 'पदाना नृत्यत्प्रायत्व विकटता' इत्युदारताया लक्षण
हृत्वा 'स्वचरणै'त्याद्युदाहरणं दक्षितम्, तत्र नमीचीनम्, उदारवाया भोजस्यन्तर्भाव
कुर्वत काव्यप्रकाशात्मकमूलग्रन्थद्वयोऽभिमतैर्बिद्वत्त्वादित्याद्यप ।

हि यत अत्र 'स्वचरणे'त्याद्युदाहरणे भोजसो गुणस्य, वैपुल्येन बहुलतया प्रतिभान
प्रतीतिर्नास्ति, 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नेतं' इत्येतावदशे सपुक्त्यकारटकाररेफपटितत्वात्
तन् विद्यमानोऽपि, भोजसो लघो लेश, वैपुल्याभावाद् बीराद्योऽस्विरसाभावाच्च
चमत्कारी न भवति, वर्णाना नृत्यत्प्रायत्वस्यानुभवोऽपि सहृदयानामत्र न भवति,
अशान्तरे 'स्वचरणे'—त्याद्यो बहून् तु पुनर्माघुर्यमेवास्ति, तस्मान्नात्रौजो गुण
इत्यर्थं ।

अत्रौजसो लेशतो माघुर्यस्य तु बाहुल्येन सङ्गावात् पदनृत्यत्प्रायत्वानुभवोऽपि
टीकाकर्तुर्दशरताया लक्षणोदाहरणे न नमीचीने इति सारम् ।

यहाँ कुछ अन्य विद्वानों का असंगत मन है, जिमका अब सण्डन करने है = 'पदाभान्'
इत्यादि । काव्यप्रकाश के टीकाकार व्याख्या करने हैं कि 'पदों के नाचने से प्रतीति होने का नाम
विकटता है' और उदाहरण देते हैं—'स्वचरणविनिविष्टै' इत्यादि । इस विषय में पण्डितराज
का कथन है कि—टीकाकार के अभिमत इस तरह की विकटता से अधिक उदारता का, भोजगुण में
अन्वय करने वाले मूलकार (रम्पट) उनके अनुकूल कैसे हुये अर्थात् मूलकार और टीकाकार में
पकरासना कैसे हुई—इसे वे ही जानें ।

अब वह मूलकार और टीकाकार में होने वाला विरोध वा स्वरूप तथा उभयों युक्ति बनठने है—
'न ह्यत्र' इत्यादि । स्वचरण - ' इत्यादि पद्य में प्रचुर रूप से भोजगुण मरिगन नहीं होता ।
यद्यपि 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नेतं' इस अर्थ में कुछ भोज है, पर वह चमत्कारी नहीं और उभय पद्य में सहृदयों
को नाचने से पदों का अनुभव भी नहीं होता । अन्य अर्थों में माघुर्य का ही अनुभव होता है । कदने
का माराज यह है कि—उक्त पद्य में भोज अल्प है भी तो अशत और माघुर्य प्रचुर—मात्रा में है और
नाचने हुए से पर भ नहीं है, अतः टीकाकार ने जो उदारता के लक्षण और उदाहरण दितलया है,
वे ठीक नहीं और मूल ग्रन्थ से विरुद्ध भी हैं ।

अष्टमोऽत्रो लक्षयति—

संयोगपरह्रस्वप्राचुर्यरूपं गाढत्वमोजः ।

उदाहरति—

यथा—

चाटुकृत् क्षितिपति स्तोत्रि—

'साहङ्कारसुरावतिकराकृष्टभ्रमन्मन्दर—

क्षुभ्रक्षीरघिवल्गुवीचिवल्यश्रीगवंसवंडूपा ।

तृष्णाताम्यदमन्दतापसकुलं सानन्दमालोकिता

भ्रमीभ्रूषण । भ्रूषयन्ति भुवनाभोग भवत्कोत्तयः ॥

उदाहरणान्तरमाह—

यथा वा—'अथ पततु निर्दग्म्' इत्यादिप्रागुदाहृते ।

नवमी कान्ति लक्षयति—

अत्रिदग्धवैदिकादिप्रयोगयोग्यानां पदानां परिहारेण प्रयुज्यमानेषु
पदेषु लोकोत्तरशोभारूपमोज्ज्वल्यं कान्तिः ।

सयोग परो येष्वस्ताद्याना ह्रस्ववर्णानां प्राचुर्यं विपुलत्वमेव रूप यस्य, तद्गाढत्ववर्णादीनामोजो गुण इत्यर्थः ।

हे भ्रमीभ्रूषण घराणङ्कार नृप । साहङ्काराया सबलामिमानाया, सुरासुरावले-
द्वैवदानवपद्भते करैराकृष्टेन, अत एव भ्रमता घूर्णमानेन, मन्दुरेण मन्यानदप्योभूत-
पवंतेन, क्षुभ्रता विलोडनाव् मञ्जलत, क्षीरधेदुंशसगुद्रस्य, वल्गुना सुन्दराणा, वीचि-
वलयाना तरङ्गमण्डलाना, धिय शोभाया, गवस्य श्वेनिमामिमानस्य, सर्वडूपा
सवापहारकारिका, तृष्णया पिपासया प्रेक्षया वा, ताभ्याद्विष्यंश्रीमवद्रि, भ्रमन्द-
रकृष्टं, तापसकुलं रमरत्नतामनिमित्तकतपस्यापरायणगर्भं, सानन्द रूपतादृश्याद-
मृतभ्रमेण साह्यादम्, आलोकिता दृष्टा, भवत कीर्तय, भुवनानाम्, आमोग विस्तार,
भ्रूषयन्ततद्दुर्वर्तीत्यर्थः ।

अत्राक्तमयोगानिमित्तवगुरन्वप्रातह्रस्ववर्णप्राचुर्यादोजोगुणः ।

प्राग्ग्रीडरसनिरूपणे । 'नवोच्छ्रित' इत्यादिपद्येः ।

अत्र 'ओजोगुण' का लक्षण मुनिवै—गाढता को 'ओजोगुण' कहते हैं और गाढता करते हैं—आप
में स्थित संयुक्त अक्षरों से गुरु बने हुए ह्रस्व स्वरों की बहुलता को ।

जैसे—कोई चाटुकार राज को स्तुति करता है—हे पराटङ्कार ! अत्यधिक अधिमानशाली देवों
और दानवों की वलियों से खिन्ने हुए, अत एव मूढते हुए, मन्दराच्छ से शुभ्र बने हुए क्षीर—सागर की
मनोहर तरंगों के समूह का शोभा के गर्भ को सर्वत्र नष्ट कर देने वाली और प्यास से व्याकुल
परिवर्तों के झुण्टों से (तथा—कान्ति का साधन समझ कर) आनन्दपूर्ण देती गई भयको कीर्तियाँ
सम्पूर्ण संसार को शोभित करती हैं । वहाँ अधिम संवागानेयितक गुल्या को भ्रष्ट करने वाउ ह्रस्व
स्वरो की अधिमान है, अतः 'ओजोगुण' का एक लक्षण मर्यादित हुआ

अथवा 'रीद-रम्' के निरूपण-प्रसङ्ग में उल्लिखित 'अथ पततु' ... इत्यादि पद्य को 'ओजो-
गुण' का उदाहरण समझना चाहिए ।

यथा—'नितराम्' इत्यादिप्रागुदाहृते ।

दशम शब्दगुण समाधि मध्यनि—

बन्धगाढत्व—शिथिलत्वयोः क्रमेणावस्थापनं समाधिः ।

स्वोक्ति प्राचीनसम्मत्या द्रष्टव्यति—

अनयोरेव प्राचीनेरारोहावरोहव्यपदेश. कृत ।

प्रसादात् समाधेयंतरेक दर्शननि —

क्रम एव हि तयोः, प्रसादादस्य भेदकः, तत्र हि तयोर्भूतक्रमेण वृत्ते ।

समाधिमुदाहरति—

यथा—

असह्यवयाना वैदिकप्रभृतौना प्रयोगोचितानि यानि पदानि तानि विहाय, एतदपि कविभिः प्रयुज्यमानानि यानि पदानि, तेषु, याज्ञवल्क्यकी शोभा, संबोज्ज्वलत्वरूपा कान्तिरिति मान्यम् ।

अत्र विदग्धभावप्रयोग्यपदवाहृत्वात् कान्ति, पूर्वोक्तमाधुर्पर्यव्यक्तिस्या सङ्कीर्णा ।

बन्धस्य प्राग्गाढत्व पश्चात्शिथिलत्वमेव क्रमेण न तु प्रसादवद्भ्युत्क्रमेण, अवस्थापन विम्वसन समाधिरित्यर्थः ।

अनयोर्वन्धस्य गाढत्वशिथिलत्वयोरेव, प्राचीनैर्वायनादिभिः, आरोहावरोहयो, व्यपदेशो व्यवहार वृत्त इत्यर्थः ।

आरोहो गाढत्वम्, अवरोहश्च शैथिल्य बन्धस्य क्रमेण प्राचीनैः चञ्चद्भुजभ्रमित-चण्डादाभिघातसञ्चूर्णितोत्सृगनस्य सुयोधनस्य । स्थानावबद्धवनसोपितसोपपाणि-रत्तसमिध्वनि कचास्तव देवि । मीम ॥ इत्यत्रोदाहृतम् ।

तयोर्गाढत्व-शैथिल्ययो क्रम पूर्वोपनीमात् एवात्म समाधे प्रसादाद् भेदकः, हि यतस्तत्र प्रसादे तयोर्भूतक्रमेण वृत्ति, इह तु क्रमेणभूतमेव प्रसादनिरूपणे प्राक् ।

अत्र 'कान्तिगुण' का लक्षण देयिने—महद्वनशस्य वैदिक आदि लोगों के प्रयोग करने योग्य पदों को छोड़कर, सहृदयों के प्रयोग करने योग्य पदों में जो एक श्लोकिक शोभा होती है—विशब्दो ज्वलता भी करते हैं—उसी (शोभा) को 'कान्ति' गुण कहते हैं ।

जैसे कि—'नितरां' परमा ' इत्यादि पूर्वोदाहृत वच में । इस वच में सहृदयों के प्रयोग करने योग्य पदों की प्रचुरता रहने के कारण 'कान्ति' गुण है और 'माधुर्य' तथा 'अर्बुव्यक्ति' गुण भी हैं, जिन तीन गुणों का संकर यथा माना जायगा ।

इन्हीं—गाढता और शिथिलता का—ज्ञानान तापन आदि भावार्थ आरोह और अवरोह शब्द में कहते हैं ।

प्रसाद और समाधि गुण में परस्पर भेद दिखलाने हैं—'क्रम एव' इत्यादि । गाढता और शिथिलता का भिन्न क्रम में रहना ही प्रसाद और इस समाधि गुण को परस्पर भिन्न बनाता है, क्योंकि प्रसाद गुण में वे दोनों (गाढता और शिथिलता) विपरीत क्रम में रहती हैं । ताल्पर्य वद ही कि प्रसाद गुण में पहले शिथिलता और पश्चाद् गाढता तथा समाधि गुण में प्रथम गाढता और पश्चाद् शिथिलता रहती है ।

समाधि का उदाहरण जैसे—

कवि काश्चिद् वर्णयति—

‘स्वयंनिर्गतनिरर्गलगङ्गा-तुङ्गमङ्गतरङ्गसखानाम् ।

केवलामृतमुचा दक्षनाना, यस्य लास्यमृहमास्यमरोजम् ॥’

उपपादयति—

अशरोहः प्रथमेऽर्धे, तृतीयचरणे त्वशरोहः ।

भौव पूर्वाधे माधुर्यसाद्भुयं निरावृत्तोत्तरार्धेऽभ्युपगच्छति—

गङ्गात्यादौ माधुर्यस्य व्यञ्जकेषु वर्णेषु सस्त्वपि, दीर्घसमासान्त-पातितपान तस्य प्ररोहः । उत्तरार्धे तु सोऽपि ।

शब्दगुणनिरूपणमुपसहरति —

एते दश शब्दगुणाः ।

अपासंगुणेषु प्रथम स्तेषु निरूपयेंस्तु शक्यति —

एवं क्रियापरम्परया रिदग्धचेष्टितस्य, तदस्फुटत्वस्य, तदुपपादकपुक्तेश्च सामानाधिकरण्यारूपः संसर्गः श्लेषः ।

स्वर्णोप्रांताया निर्यातताया निरन्ताया निर्यातशब्दाया, गङ्गाया शब्दा-विभ्या तुङ्गा उच्चा, मङ्गुरा मङ्गलामिभ्रये तरङ्गा, तत्तुल्याना, तलसखाना, केवलामृतमुचा पीयूषमात्र प्रवाहयती बचनाना मास्यमृह नृत्यायतनमुल्लासास्पद यस्य, लास्य मुक्तमेव सरोज नमलमरतीत्यर्थः ।

अत्र स्वर्णोत्पादिएर्धे प्रथमऽर्धे प्रथमद्वितीयचरणयो, अशरोहो वादत्वम्, तृतीय-चरणे त्वशरोहो दीर्घित्यमिति समाधिः, वादत्व-दीर्घित्ययो वर्णेषु मनिवेद्यात् । इह ‘तृतीयचरणे इत्यत्र बहुव्रीहिरिति वेपाश्चिद् विवरणं निम्बवम बटुव्रीहिणा तस्मोत्तरार्धपर-नानुपगम तदुपपत्तय चतुस्रचरणे ब्रह्मदीर्घित्याप्रतीनरैश्चक्षतमन्ययासम्भवात् ।

उत्तरार्धादुत्तरार्धे गङ्गात्यादिवद्वचनकवनात् माधुर्य-मञ्जुसामासस्त्वपि, तेषा दीर्घसमासान्तकवचन वृत्तवपदकविरट्यात् माधुर्यस्य प्ररोह (दादधम्), उत्तरार्धे तु दीर्घसमासान्तक-माधुर्यस्य प्ररोहोऽपीति माधुर्यसद्भुजं समाधिरस्तीत्यर्थः ।

एते दश शब्दगुणा निरूपिता इत्यर्थः ।

कवि विना ना व नि वराह इ—विषया मूल-कमल, स्वर्ण से निहरी दुई, अन एव निर्विज होकर प्राप्ति न होने वाली शब्दाविनी को कौपीनीको अर्थात् लक्षणा दुई छत्रों के मित्त (अर्थात् छत्रके समान) तथा नैकल अत्र वरताने का कर्णों का नाटक शृङ्ग इ अर्थात् विमने मूल से सर्वदा ऐसे बनने निराजमान रहन है ।

एक शब्द के पूर्वाधे अशरोह (वादना) और तृतीय धरण में अशरोह (शिथिला) है ।

मयि यहाँ गङ्गा आदि बहो के माधुर्य-गुण के व्यञ्जक वर्ण हैं, तथापि वे बह उधे समास के धम में वष गद हैं, मत्र माधुर्य गुण पुष्ट नहीं हो सकत, हाँ, वरतार्धे में वह (माधुर्य) भी अरय दे, क्योंकि ऊपर उधे समास नहीं है । इन वरद यहाँ तथापि और माधुर्य का साधुर है, ऐसा समझना चाहिये ।

वे ही दश शब्द गुण हैं ।

एव सादृश्यात्, विदग्धचेष्टितस्य चतुराचेष्टाया तदस्फुटत्वस्य तच्चेष्टाया अव्य-
सत्त्वस्य, तदुपसादिकायास्तद्व्यापारसाधिकाया युक्तेस्पायस्य च यत् सामानाधिकर-
ण्यम् एकस्मिन्नधिकरणे क्रियापरम्परया पूर्वपरीभूतानेकक्रियाभिः, (वर्णितत्वाद्)
वृत्तित्वम्, तद्रूपो य ससर्गं स श्लेष इत्यर्थः ।

चातुर्येण कार्यविधानस्य, तद्गोपनस्य तत्साधकोपायस्य चार्थस्य त्रिमिकानक-
क्रियानिरेकत्रैव मिथस्त्वन्वयकरणपूर्विका घटना श्लेष्णामाश्रयण इति सारम् ।

'क्रियापरम्पराया' इति पद्यचन्तपाठे तु क्रियापरम्पराया विदग्धचेष्टिनादीना
सामानाधिकरण्यं बोध्यम् ।

एतदुदाहरणस्य मरककवेर्यया—

'दृष्ट्वैकामनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-

देकस्या नयन पिघाय विहितश्रीडानुबन्धच्छल ।

ईषद्विकृतकन्धर सपुलक प्रेमोत्तनसन्मानसा-

मन्तर्हसिलसत्कपोलफलका ध्रुवोऽपरा चुम्बति' ॥ इति ।

ध्रुवं चतुरो नायक, एकासनसंस्थिते एकस्मिन्नेवास्तरण उपविष्टे, प्रियतमे ज्येष्ठा-
कनिष्ठे प्रियस्यौ, दुष्टा निभृत दूरादवलोक्ष्य, तद्दृष्टिपथ परिहरन् पश्चात् पृष्ठेन,
आदरादतन्कितालिङ्गनकौतुकात्, उपेक्ष्योपगत्य, विहित वृत्त श्रीडानुबन्धस्याक्षिप्तमील-
नरूपलीलानुष्ठानस्य छलम् उभयत्र तुल्यप्रेमानावाद् व्याज येन, तादृश, एकस्या
वनिष्ठया, नयने पिघाय, कराम्या निमीय, ईषद्विकृतकन्धरो श्रीवाधिकतमने
कदाचिन् वनिष्ठा रहस्य जानीयादिति त्रिया किञ्चित्क बुद्धितितग्नीव, सपुलक
स्वामीष्टमिच्छित्सात्प्रिष्णसम्भूतत्वात् नरोगाश्च प्रेम्णा सपत्न्योभयाऽऽश्रयान् पतिप्रण-
याधिकमावधारणादुद्भूतया प्रीत्या, उत्तनसदाभोदमान भानम यस्याम्नाऽश्रीम,
अन्तर्हसित रहस्यभेदाभिमा स्मिन्नरुपात्प्रकृतहितान, तसच्छोभमान कपोलफलक मन्त्रि-
कृष्टकगण्डल यस्यास्यतपाभूताम अपरा ज्येष्ठा चुम्बतीत्यर्थः ।

अत्रैकस्या वचनेनापस्याश्चुम्बन विदग्धचेष्टितम् तस्यास्फुटत्वपरयाज्ञातत्वान,
तदुपसादकयुक्तिप्रत्ययनिमीलनपूर्वक श्रीडानुष्ठानम्, तेषा पश्चादागमन-नयननिमील-
नलीलाविधान-चुम्बतरूप-त्रिमित्रक्रियाणा च सामानाधिकरण्येन निवन्तर श्लेषः ।

अत्र अर्थयुग-निरूपण के लिये मैं सर्वप्रथम ईष्य वा लक्ष्य करने हैं—'दृष्ट्व' इत्यारि । इनी
तरह चतुरता से काम करना, उसको प्रकट न होने देना, उसको मिद्ध करने वाली युक्ति, इनका
क्रियापरम्परा (एक के बाद दूसरी क्रिया) द्वारा एक ही स्थान में इस प्रकार बर्णन करना कि परम्पर
का मन्त्रा विच्छेद नहीं होने पाये रूपे कहलाता है । जैसा कि अदस्त कवि का 'दृष्ट्वैकामन-
संस्थिते' इत्यादि पद्य है, जो संस्कृत टीका में उद्धृत है । इस पद्य का अर्थ निम्नलिखित है—ध्रुव
नायक ने देखा कि दोनों प्रियतमार्थ (ज्येष्ठा और वनिष्ठा) एक ही आसन पर बैठी हुई है । दवे वीच
उमने पीछे से, उसके सभोष में आकर एक (नायिका) के नेत्रों को, झेल करने के छल से, बन्द कर
दिया, इनके बाद रोमाञ्चक वह नायक अपनी गरदन को धीरे-धीरे टेढ़ी करके उस दूसरी नायिक
को चूम रहा है, जिसका मन उसकी को अपेक्षा अपने में यति का अधिक आुराग देकर प्रेम ने
प्रगल्भ रो रहा है और (मन्त्री न जान आद, इस कारण) भीतर ही भीतर हँसने से निमके कान
शोभित हो रहे हैं । यहाँ एक नायिका को छोड़कर दूसरी नायिका को चूमना चतुरता से काम करना

द्वितीय प्रसादं लक्षयति—

यान्दर्थकपदत्वरूपमर्थवैमल्यं प्रसादः ।

उदाहरति—

यथा—

नायको हूती वा बधति—

‘कमलानुकारि वदनं किल तस्या’ इत्यादि ।

स्वष्टप्रतिपत्तये प्रत्यदाहरणमपि दर्शयति—

प्रत्युदाहरणान्नु यथा—‘कमलकान्त्यनुकारि वक्त्रम्’ इत्यादि ।

शृनीया ममता लक्षयति—

प्रक्रमाभङ्गेनार्थघटनात्मकमर्थवैमल्यं समता ।

यान्दर्थकान्यथायूनाधिकानि पदानि यत्र, तत्रूपमर्थस्य वैमल्यस्वष्टप्रतीयमानता-
लक्षणा स्वच्छता प्रमाद इत्यर्थः ।

यत्रैवमपि पद निरर्थकं दिलम्बेनाथोपस्थापकं वा न, स प्रसादोऽयं गुण इति
सारम् ।

इह वदननिष्ठ-कमलसादृश्यदाहर्षबोधनान् विभक्त्यस्यापि सार्थक्यात् प्रसादः ।

अत्र ‘अनन्यमन्मयी हि वाद्यार्थ’ इति मिडान्तेन कान्तिपदानुपादानेऽपि प्राग्बत-
दर्पावगतसम्भवाशार्थवैमल्यम् ।

प्रथम आरम्भजनमलास्याभङ्गेनानन्यथाकरणेन सार्थक्य घटना, तत्रूपम् अनन्यम्
विपमनाऽनाद्य समतेत्यर्थः ।

आदौ येन शब्देन यस्यार्थस्योपादानं त्रियेन, तेनैव न तु तत्त्वपरिणाम, अन्त यावन्नि-
र्वाहा यत्र विधीयेत तत्र समतेरुपमाय ।

है, वह प्रकट ही न हो मर्यादोंके दुमरी भाविका हमकी नहीं समझ सकी और हमको सिद्ध जाने
वाली युक्त है आत्मविश्रुती का लक्ष्य । इन सब बातों का पीछे में आना, आँग मूढ़ना और लोड
करना आदि विषयों के साथ-साथ होने रहना वर्णन किया गया है ।

अत्र ‘प्रसाद गुण’ का उल्लेख देखिये—‘जिनके अर्थ ही करने ही परों का रोना अर्थात् परों का अर्थ
से अन्त अर्थका अर्थिक न होना ‘प्रसाद गुण’ का उल्लेख है’ अर्थ-वैमल्य भी इसी को कहते हैं ।

जैसे—‘नन्दक रिमी नादिका’ के विषय में कहना है—‘हमका गुण कमल का अनुकरण निश्चित
रूप में करना है । यहाँ ‘नन्दक’ और अर्थ दोनों नये तुले हैं, ‘नित्य’ पर मुँह में कमल-गाहल को इष्ट
करना है, इसलिये वह भी सार्थक है, अत्र प्रसाद गुण का उक्त उल्लेख यहाँ समझिये हुआ ।

एकको का स्वप्न ज्ञान करने के लिये अनुकरण का भी निर्देश करने हैं—‘अनुकरणं तु’
इत्यादि । अर्थ-तु उक्त प्रकार को ही यदि ‘(उत्पन्न) मुख कमल की कान्ति का अनुकरण करता है’
इस रूप में परिभाषित कर दिया गया तो प्रसाद गुण का अनुकरण ही जगता, क्योंकि ‘कान्ति’
पर उत्पन्न अर्थ में अनपेक्षित होने के कारण निरर्थक है ।

अत्र ‘समता गुण’ का उल्लेख देखिये—विषयना के अभाव को ‘समता गुण’ कहते हैं और
विषयना का अभाव कहते हैं—आरम्भ का क्रम जिससे अन्त न होने पावे, इस तरह की अर्थोपमा
पर अर्थ-अन्त में जिस तरह का आर्थिक क्रम रखा गया हो, अन्त तक उक्त क्रम का निर्वाह
करना ही ‘समता’ है ।

इवाहरति—

यथा—

मदवद्भक्तो वक्ति—

हरिं पिता हरिभ्राता हरिभ्राता हरि नृत्तु ।

हरिं सवनं पश्यामि, हररन्वयं भाति मे ॥

उपनादयति—

अत्र विष्णुभ्राता इत्यादिनिमित्तं प्रब्रजभङ्गात्मकं वैषम्यम् ।

तनुय मातुर त्वयति —

एकस्या एवोक्तभेदयन्तरेण पुनः कथनात्मकमुक्तिर्वैचित्र्यं मातुर्यम् ।

इवाहरति—

यथा—

मनो भागीरथी मापने—

‘विधत्ता निष्कङ्कु निरवयिमभाधि विधिरहो,

सुखं शेषे शेता हरिरविरत नृत्तु हर ।

कृतं प्रायश्चित्तैरुत्तमं तपोदानयजनैः

मवित्री कामाना यदि जगति जगति भवन्ती ॥’

भाति राचन मे महत् । अयं स्तुतव ।

न मोक्षं प्रप्यते लोकं यं लब्धानुभातुने ।

अनुविष्टमिव ज्ञानं सर्वं लब्धेन नामन ॥

इत्यनियुक्तोक्तेः शब्दभ्यापि शाब्दिकतय शाब्दबोधविवक्षत्वादिह हरिरन्वयं विष्णुभक्तं परिब्रुती प्रकृतं हरिपदानावाद् वैषम्यानुदाहरणं च स्यादिति मान्यं ।

एकस्यैवायम्यं अङ्गपतरणं क्रियते प्रकारेण पुनरुपादानमुक्तिर्वैचित्र्यं यत् तदेव मातुर्यमित्यर्थं । इत्येवमस्मिन् विवरणानुत्पत्तौ इत्यभिमतवृत्तिप्रधानुरागैकविहितम् ।

मातुरि गच्छे । कामाना स्वगादिविषयकमकलाभिजाताना मवित्री पुरनित्री,

वैधे—कोई एक कला है—(वैधे) हरि ही विष्णु है, हरि ही शय है, हरि ही नृत्तु है और हरि ही सख है मैं नव स्थानों में हरि को ही देना है, सुख कहीं भी हरि से मिले वस्तु इति गोचर नही होती

यहां हरि 'हरि नृत्तु है' की तरह 'विष्णु नृत्तु है' ऐसा कह दिन जब तो प्रकृत वस्तु विषय हो बानी, यही हरि और 'विष्णु' परक अर्थ में कोई और जग है, तभी प्रकृत और अर्थ में एक ऐसा लक्षण है कि एक अर्थ ही तो तरह से दूसरे के द्वारा प्रमाणित होने का दो जैसे लगने लगता है, अब हरि सुख से आरम्भ करने का यही शब्द से मन्ति का करने चहिये, तभी मन्त की रस होगी अथवा विषय सुख है

अब 'मातुर्यं पुनः' (यथा) का उदाहरण है—एक ही अर्थ को अलग अलग अर्थ (प्रकार) से पुनः पुनः करना या उसे अलग ही विचारित है, उसे 'मातुर्यं-पुनः' करना है ।

वैधे—कोई एक कला है भागीरथी से कहना है—अथ (कुछ ही कला यही रहने के कारण)

उपपादपति—

अत्र विध्यादिभिर्नास्ति किमपि प्रयोजनमित्येवोऽथ, समाविविधानादि-
प्रेरणारूपेणाक्तिवैचित्र्येणाभिहित, अन्यथाऽन-गृह्यतत्वापत्तेः ।

पञ्चमी मुकुमारता सत्यनि—

अकाण्डे शौरुदायित्वाभावरूपमपारुण्यं मुकुमारता ।

उदाहरति—

पथा—'त्वस्या याति पान्थोऽथ प्रियाविरहकातर' ।

उपपादपति—

'प्रियामरणकातरः' इत्यत्र शोकदायिनो मरणशब्दस्य मत्त्वाम् पारुष्यम् ।

इदञ्चाश्लीलतादोषव्याप्यम् ।

मदती, यदि अहो ! जगति भूलोके, जागति सावधाना निष्ठनि, अथ तदा, विधिब्रह्मा,
निस्ताङ्क वर्तव्यमावाभिस्सन्देह, निरवधि निस्सीम समाधि विद्यताम्, हरिविष्णु
मुख सनिवृत्ति शेषेऽनन्तभोगशब्दाया, शेता स्वपितु हर स्त्रि, अविरत सतत मृत्यु,
प्रायश्चित्ता पापनाशकानुष्ठानविशेष, कृष्णमसम्, अन्यथैव तत्साधनविदे, तपोदानय-
जनैस्तपसा दानेन श्रेतेन शाल न किमपि प्रयोजनमित्यर्थं ।

अत्रोदाहरणे प्रवर्था सत्यां विधिहरिप्रभृतीनां स्त्रिप्रयोजनमित्येतादृश एव एवार्थं
समाविविधान—सुखशयनादिप्रवर्तनास्वरूपेण नवनवेन प्रकारेणोक्त इति माधुर्यम् ।
अन्यथा कथनप्रकारमवबत्वाभावे 'सदा चरति जे त्रानु यदा बहति मास्त' ।
इत्यादाविधाप्राप्यनवीकृतशब्दोपस्थापात स्यादित्यर्थः ।

अकाण्डेऽपञ्चमरे शोचदायित्व शोकजनकत्वं पारुष्य कठोरता, तदनामत्र
मुकुमारतेत्यर्थं ।

प्रियाया विरहात् कातरस्त पान्थ पवित्रोऽथ त्वस्या वीर्य याति गृह
गच्छतीत्यर्थं ।

त्वयेत्साद्युदाहरणे विरहशब्दस्य मरणशब्देन परितर्जने च, विरहस्य दुःख-

सन्देह रहित हीकर, अनन्त समय तक समाधि में बने रहें, विष्णु भगवान् देवराज्या पर सुखपूर्वक
सोने रहें और शिवजी भी मदा लक्षण-नृत्य में मग्न रहा करें, मुझ उन सत्रों में कुछ प्रयोजन
नहीं । अब मेरे दिले धामविरती (पण-नारण अनुष्ठान विष्णु) को भा कोई आनन्द प्राप्त नहीं और
एव, दाग त । यह ये मग भी अब मेरी दृष्टि में व्यर्थ है, जब कि इ जग मात ' अब मन-सों को
पूरी बाने बहता मू संसार में (मेरे दिले) सावधान हाकर राखी है ।

यहाँ 'ब्रह्मा-अपि स सुख भी प्रयोजन नहीं है' इत्या पर अब को 'समाधि में बन रहें इत्यादि
प्रेरणारूपक कति-नी जेय ॥ कहा गया है, अन्यथा 'अतरोत्पत्ता' नामक गीत का अर्थ ।

अब 'मुकुमारता-मुकु' का अर्थ दिखाने हैं—अपारुष्य (कठोरता के अभाव) का 'मुकु-
मारता' कहन है और कठोरता का अर्थ कहन है—दिना राम अक्षर-क शेर न देने को ।

वैशे कि—यह पत्रिक प्रियता के विशेष से त्वना हुआ अज्ञान में जा रहा है । यह पर की
का दिना दूरी का के प्रति वक्ति है ।

यही यदि प्रियता के कारण से त्वना हुआ दिखा वदु ि अथ, न शक-भुवन 'मग' ००

पश्यामर्षव्यक्तिं लक्षयन्ति—

वस्तुनां वर्णनीयस्याभाधारण-क्रियारूपयोर्वर्णनमर्थव्यक्तिः ।

उदाहरति—

यथा—

नायकं सपामं व्रवीति—

‘गुणमध्ये कमलाक्षी, कमलाक्षेण प्रहर्तकाम माम् ।

रदयन्त्रितरमनाय, तरलितनयनं निवारयाञ्चके ॥’

अर्थव्यक्तौ स्वभावोक्त्यलङ्काररूपतामाचष्टे—

अपमेवेदानोन्तनं स्वभावोक्त्यलङ्कार इति व्यपदिश्यते ।

इतमोदुशरता लक्षयन्ति—

‘सुखनं देहि मे भार्ये, कामचाण्डालवृत्तये’ इत्यादिग्राम्यार्थ-
परिहार उदागता ।

जनकत्वेऽपि शोकजनकत्वाभावात्पारलभ्यम्, भरपस्य स्वान्धननाशरूपनया श्लोकजन-
कत्वेन पादगमिति क्रमेणोदाहरणप्रत्युदाहरणत्वे स्फुटे । इदं पारलभ्यं च श्लोका-शुभ्रुणा
अलङ्काररूपत्वेन त्रिविधस्याज्ञाननादायस्य व्याप्यं तृतीयप्रकारतयाऽज्ञानमि-यर्थं ।
वर्णनीयस्य वस्तुन पदार्थस्य तदेतज्जातिमात्रवृत्तिनमाभाधारणे इतरव्यावृत्ते, ये
त्रिरारूपे व्यापारावयवसम्भाने तपार्थवर्णनमर्थं यक्तिरित्यर्थं ।

गुणा श्वभ्रुप्रभृतीनां मर्षं स्थिता कमलाक्षी ललितनयना प्रिया, कमलाक्षेण
पदवीजेन ब्रह्मकुंठाम तादृशितुमिच्छु, माम्, रदयन्त्रैर्वन्त्रितं निपीडितं रतनाया
गिह्याया अयं यत्र, तद्यथा स्यात् तथा, तरलिते चञ्चलीकृते नयने च यत्र, तद्यथा
इत्याद्या मंत्र कार्णीरिति निवारयाञ्चके निवृत्तितरनोन्तनं ।

इदं कमलवर्णवर्णनरूपस्य रूपस्य त्रिह्याश्रयनिपीडित-लोचनचञ्चलीकरणरूप-
योरनुविनाशरणनिवारणमूककक्रियामोक्ष लननाजनमात्रवृत्तीनां वर्णनादर्शव्यक्तिः ।

अपमर्षव्यक्तिगुण एव, इदानीन्तनैराधुनिकैर्विद्विद्भिः, स्वभावोक्त्यलङ्कार इति व्यप-
दिश्यते व्यवह्रियते स्वभावोक्तिस्तु रिम्मादि र्वार्थक्या-रूपवर्णनम् इत्यादिभिरित्यर्थः ।

को अं जाने से क्या मैं कहूँगा भा जयगी । यह कहूँगा अमकल व्यक्तक 'अरलीला'-नामक शेर
के अन्तर्गत है ।

अर्क 'अर्थव्यक्ति गुण' का लक्षणा कहने है—जिस वस्तु का वर्णन करना हो, उसके अर्थव्यक्ति
(नाम) कर्तव्य और का का वर्णन करना 'अर्थव्यक्ति' गुण कहलाता है ।

उपे—नायक आने मित्र से कृपा है—माम-मनद आदि सुखनों के बीच में बैठा दुई दुखनों
में नेत्रों बली (नायिका) ने कमल के बोजों से आने अरर प्रहार करने के लिये छत्र सुखनों-दति
में जोम के अग्रभाग को दता कर तथा नेत्रों को चञ्चल बना कर (नचकर) रोक रि. अ—सूचित
कर दिया, कि दिया न कीजियेना, अन्यथा नजे हीगी होगी । दहाँ नचिक्य के कमलवर्ण-दाय-नयन-
रूपरूप और जोम के अग्रभाग को दवाने तथा नेत्रों के चञ्चल करने-रूप कर्तव्यों का वर्णन किया
गया है, अर्क 'अर्थव्यक्ति गुण' का लक्षणा सचचित हुआ ।

इना को अपुष्टिक विद्वज्जव 'अर्थव्यक्ति' अलङ्कार कहने है ।

अष्टममोजो सप्तयति—

एकस्य पदाथस्य बहुभिः पदैरभिधानम्, बहुनां चैकेन, तथैकस्य वाक्यार्थस्य बहुभिर्वाक्यैः, बहुवाक्यार्थस्यैकवाक्येनाभिधानम्, विशेषणानां साभिप्रायत्वं चेति पञ्चविधमोजः ।

तत्र प्राचीनसम्पत्तिं दर्शयति—

यदाहु—

'पदायै वाक्यरचना, वाक्याथे च पदाभिधा ।

प्रौढिर्व्यास-समाप्तौ च, साभिप्रायत्वमस्य च ॥' इति ।

विकृणोति—

पूर्वाधंप्रतिपाद्यं द्वयम्, व्यास—समाप्तौ चेति चतुष्प्रकारा प्रौढि, साभिप्रायत्वं चेति पञ्चप्रकारमोज इत्यर्थः ।

त्रिविधा हि शब्दा — नामरिका औपनायिका ग्राम्याश्च । तत्रोत्तमप्रकृतौ वस्तुतः मार्यादितृतीयपञ्चदशस्यार्थस्यानेकचित्येन यद्वाच्यत्वं दोष, तदमात्र उदाहरेत्पर्यं ।

ग्राम्यामिह सर्वमेवोदाहरताया उदाहरण सम्भवतीति वृषह् न प्रतिपादितम् ।

एकपद-प्रतिपाद्यस्यार्थस्यानेकै पदै प्रतिपादन प्रथम प्रकार अनेकपदप्रतिपाद्य-स्यार्थस्यैकेन प्रतिपादनं द्वितीय प्रकार एकवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्यानेकैर्वाक्यै प्रतिपादनं तृतीय प्रकार, अनेकवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्यैकेन वाक्येन प्रतिपादन चतुर्थ प्रकार, सार्थकविशेषणकत्व च पञ्चम प्रकार इति प्रकारपञ्चकाम्यतमत्वमोज इत्यर्थः ।

पदाथस्य वाक्येन, वाक्यार्थस्य पदेन प्रतिपादनम् एकवाक्यार्थस्यानेकवाक्यै प्रतिपादनं व्यास, अनेकवाक्यार्थस्यैकवाक्येन प्रतिपादनं समासश्चेति प्रकारचतुष्टय-रूपा प्रौढि, अस्य विशेषणमाभिप्रायत्व सार्थकत्व चेति पञ्चप्रकारमोज इत्यर्थः ।

इह वाक्यपद योग्यतादिमतस्तद्विहितस्य च पदममूहस्य बोधनं बोध्यम् । इतर-वाश्रुपद वक्ष्यमाणे 'सरसिजे—'त्यामुदाहरणे प्रथमचरणस्य वाक्यत्वं न स्यात् ।

अत्र 'आरता गुण' वा लक्षण दिखलाने है—'सुम्बनं देहि मे भार्ये ! कामवाण्डालतुल्ये' वस्तु 'मरी मेहरिया ! तू काम-रूप वाण्डाल को शांत करने के लिये मुझे अपना एक सुम्बन दे' इत्यादि वाक्य (गमैरु) वाक्यों का परिस्वाग करना ही 'आरता' कहलाना है । तात्पर्य यह है कि शब्दों की तीन श्रेणियों मानी गई हैं, जिनमें भाषां आदि शब्द सुवाच्य श्रेणी में रखे जाते हैं, अत्र अरुम श्रेणी के वस्तुओं को उल्लेख इशारे नहीं करना चाहिये । इस गुण वा उदाहरण अलग करके इसलिये नहीं दिखलाना गया कि एक तृतीय श्रेणी के शब्दों से अधिकतर सब शब्दों का इशारे होने पर एक-दूसरे का उदाहरण सम्भव है, किन्तु भावप्रज्ञा सात है ।

अत्र 'जोशुण' (सर्वगत) वा लक्षण देखिये—'ओशुण' के लिये भेद है—१. एक पद से बहने योग्य शब्द वा अनेक पदों के द्वारा कथन । २ अनेक पदों से बहने योग्य शब्द वा एक पद से कथन । ३. एक वाक्य से बहने योग्य शब्द वा अनेक वाक्यों से द्वारा प्रतिपादन । ४ अनेक वाक्यों द्वारा प्रतिपादन करने योग्य शब्द वा एक वाक्य के द्वारा प्रतिपादन । ५. विशेषणों का सम्बन्धन होना-निरर्थक नहीं होगा ।

श्लोक के लक्ष पद्य भेदों के नियम में प्रश्नों का चारों ओर भी सम्पत्ति है, उन्होंने लिखा है—

प्रौढेरतिरिक्तप्रकारत्वभ्रमनिवारणापमिधत्ते—

प्रौढि प्रतिपादनवैचित्र्यम् ।

ओजस प्रथम प्रकार पदार्थ वाक्यरचनारूपमुदाहरति—

यथा—

प्रमातृ वर्णवति—

‘सरसिजवनबन्धु—श्रीसमारम्भकाले,

रजनिरमणराज्ये नाशमायु प्रयाति ।

परमपुरुषवक्त्राद्दुदगताना नराणा

उपपादयति—

अत्रोपसोत्थेकपदार्थस्याभिधानाय प्रथमचरण ।

अप्रेष्येवमूहितुमुपदिशति—

इत्याद्यप्रेषि ओष्यम् ।

उक्तिवैचित्र्यरूपा प्रथमप्रकारत्वतुष्टयवैधिका प्रौढिर्न प्रकारान्तरमित्याद्यप ।

सरसिजवनबन्धुो मूर्धस्य, श्रिय काल्ते समारम्भस्य प्रारम्भस्य, काले प्रमातृ-समये, रजनिरमणराज्ये चन्द्रपुपमावभवे, आयु, नाश लोप प्रयाति गति, परमपुरुषस्येश्वरस्य वक्त्राद्मुखाद्दुदगतानामुत्पन्ना नराणां ब्राह्मणानां, मधुरगिरा विनोदशौद्रमधुरश्रीतमन्त्रोच्चारणकौतुक प्रादुरासीदमवदित्यर्थ ।

अभोदाहरणे, उपसोत्थेकपदेन प्रतिपाद्यस्य प्रमातृस्य बोधनाय सरमिजेत्यादिराद्यचरण समस्तैकपदरूप उपात् इत्यर्थ ।

अप्रेष्येवमुपपादनमूहनीयमित्यर्थ ।

एक पद के अर्थ में वक्त्र की रचना, वाक्य के अर्थ में एक पद वा कथन तथा किसी बात का विस्तार और संक्षेप करना, यह चार प्रकार का प्रौढि—अर्थात् वाक्य बनाने की विचित्र विपुलता और विशेषणों का सम्योक्तन होना—इस प्रकार से अर्थ के बीच भेद होने हैं ।

प्राचीनों वा कारिका में ‘प्रौढि’ से ओज वा कोई खास छटा भेद विशिष्ट नहीं है, किन्तु प्रतिपादन की विचित्रता मात्र विवक्षित है, ऐसा समझना चाहिये ।

जैसे कि—ओज में प्रथम भेद (पद के अर्थ में वाक्य रचना) का उदाहरण—जिन समय कथलवानन के बान्धव (अन्धरण द्वितीय) मगवान् यज्ञ का शोभा का प्रारम्भ हो रहा था—अर्थात् सूर्य उदित हो रहे थे, और मिश्र-नाथ चन्द्र का राज्य शोभता से नष्ट हो रहा था—अर्थात् चन्द्र अन्ध हो रहे थे, तब समय पुरुष (जगदीश ब्रह्म) के मुख से उल्लेख हुये मनुष्यों (अर्थात् ब्राह्मणों) का और मनु के समान मधुर वचनों (अर्थात् वेदों) का विनोद प्रकट हुआ । यह प्रमातृ का वर्णन है, जिनका सारांश है कि प्रतकाल में ब्राह्मणों ने वेद-वाक्य करना प्रारम्भ किया ।

यहाँ ‘प्रतकाल में’ इस एक पद के अर्थ में पूर्व पद के दो चरण (जो वाक्य रूप हैं) बनाने गये हैं ।

और ‘ब्राह्मणों’ तथा ‘वेदों’ इन एक-एक पदों के अर्थ में वाक्य के उद्देश्य की रचना की गई है, अतः यह ‘पद के अर्थ में पद की रचना’ का उदाहरण हुआ ।

द्वितीय प्रकारमुदाहरति—

‘खण्डितानेत्रकञ्जालि-मञ्जुरञ्जनपण्डिता ।

मण्डिताखिलदिकप्रान्ताभ्रण्डाशोभन्ति भानव ॥’

उपपादयति—

अत्र ‘यस्या’ पराङ्गनागेहात् पति प्रातर्गृहेऽञ्जति’ इति वाक्यार्थ खण्डिता-
पदाभिधानम् ।

तृतीय प्रकारमुदाहरति—

‘अघाचित सुख दत्ते, माचितञ्च न पच्छति ।

सर्वस्व चापि हरते, विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम् ॥’

उपपादयति—

अत्र देवाधीन सर्वमित्येकस्मिन् वाक्यार्थे नानावाक्यरचनात्मको व्यासपद-
वाच्यो विस्तर ।

चतुर्थ प्रकारमुदाहरति—

‘तपस्यतो मुनेर्वक्त्राद् वेदायमधिगत्य स ।

वासुदेवनिचिष्टात्मा, विवेश परम पदम् ॥’

खण्डिताया इतरखलनालयनीतरात्रि-प्रातरुपतपतिप्रतिकूलाचरणावगमोदित-
दुःखभावविषयमा नत्रञ्जालेनंयनमलिनधेय्या, मञ्जुनि सुन्दरे रञ्जने शीणिमसम्पा-
दने, पण्डिता निपुणा, मण्डिता प्रमया प्रकारेण भूषिता अखिला दिक्प्रान्ता
भागान्ता वंस्तादृशा, भ्रण्डाशो मूर्धस्य, भानव किरणा, भान्ति शोभन्त इत्यर्थे ।

यस्या’ इत्यादिवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्यैकेन खण्डितापदेन प्रतिपादनादत्रौजसो
द्वितीय प्रकार उच्यते ।

उच्छृङ्खल स्वातिभ्यामुत्तद्वन्धन नृणा विधर्देवम्, अघाचितोऽप्रापिन, सुख
दत्ते विनरति, माचितञ्च पुन सुख न पच्छति न ददाति, अपि तु सर्वस्व, पूर्वसञ्चित-
सर्ववस्तुमपि हरते नागयनीत्यर्थे ।

एवंवाचयार्थस्य चतुर्निर्वाचयैरनिघानादिह व्यासरूप ओजसन्तृतीय प्रकार ।

तपस्येनस्तप मुनेः मुने, वक्त्रांमुखात्, स, वेदाधर्म, अधिगत्य, ज्ञात्वा,

अत्र वाक्य में अर्थ में पद वा रचना का उदाहरण मुनिवे—खण्डिता नाशिकाओं के नेत्र-कमलों
की पल्लियों को छुन्द-सका (रङ्गने में निपुण तथा दिग्गमों की भूषित काने वाली धूर्त की किरने
शोभित ही रही है ।

यहाँ ‘निघना पति दुसरी नाशिका वे घा से प्रातःकाल में अपने घर आव’ इस वाक्यार्थ के स्थान
में केवल ‘मण्डिता’ पद वा प्रयोग किया गया है ।

अत्र ‘एक वाक्य के अर्थ में अनेक वाक्यों का उदाहरण देगिये—जोई हीन व्यक्ति
कमने मास्य को खेगला है । बहना है—उच्छृङ्खल देव (मास्य) बिना मांसे मुग देत है और
मांसे पर नहीं देता, बरन् उसका सर्वस्व भी लूट लेता है ।

यहाँ ‘अप सुख भास्य व भानव है’ इस एक वाक्य के अर्थ में अनेक वाक्य बर कथन हुआ है,
अत्र अत्र निम्नार है, जिसको प्राचीन भाचार्य ‘व्यास’ कहते हैं ।

‘अप अनेक वाक्यों के अर्थ में एक वाक्य की रचना’ का उदाहरण देगिये—जोई किसी भक्त के

उपपादयति—

अत्र 'मुनिस्तपस्यति' 'तद्वक्त्रान् न वेदार्थमधिगतवान्' 'तदनन्तरं वामुदेवे परब्रह्मणि मनः प्रावेशयत्' 'ततश्च मुक्तोऽभूत्' इति वाम्नायकलाप शतृ-वत्वा-बहुवीहिभिस्तिडन्तेन चानुवाचविधेयभावेनकवाक्यार्थाकृतः ।

विशेषणस्य सामिप्रायत्व विवृणाति —

सामिप्रायत्व प्रकृताथपोपकता ।

पञ्चम प्रकारमुदाहरति —

यथा—

भक्तो भगवन्तं प्रायंयते—

'गणिकाऽजामिलमुस्थानवता भवता ब्रताहमपि ।

सीदन् भवमरुगतं, कण्ठमूर्त्तं ! न सवथोपेक्ष्य ॥'

वासुदेवे भगवति परब्रह्मणि निबिष्ट प्रविष्ट आत्मा मनो यस्य, तादृश परम पद मुक्तिपदवो विशेषेण्यव । 'आत्मा कलेषरे, पले, स्वभावे परभारमनि । चित्तं, धृती च, बुद्धी च परव्यावृत्तनःपि च ॥' इति अरणिजोशादात्मपदमिह मनोवाचकमवयवम् ।

वाच्यार्थकलाप उल्लिखितवाक्यपदुष्टयार्थसमूह । तपस्यत इत्यत्र शतृप्रायस्य । अधिगत्येण्यत्र ब्रताप्रत्यय । तृतीयचरणे बहुव्रीहि । विशेषेति च तिङ्न्तम् । अनुवाच-मुदेशरम । वाक्यबन्धुष्टप्रतिपाद्यार्थानामनुदेशविधेयभावेन सम्बन्धितानामेकवाक्य-प्रतिपाद्यतासम्पादनात्, समाप्त ओजसश्रुत्यं प्रकारोऽत्र बोध्यः ।

प्रकृतस्य प्रस्तुतविशेष्यस्य योषकञ्चमुपस्कारत्वे विशेषणस्य सामिप्रायमित्यर्थः ।

हे कृष्णामूर्त्तं श्रयस्सकाम्प्ररूप भगवन् ! गणिका विदेहनगरस्था पिङ्गलामिना बेस्या, अजामिलमन्त्राया काव्यदुःखदेशोद्भूतो दासीपतिर्द्विजस्ती मुख्या मेया, तान् पणितान्, अवता नरकाद् रक्षता, भवता, भव समात् एव कलेत्तकरत्वात्परगतो निर्जलदेशावटस्तत्र सीदन् यातनामनुभरन्, बत हन्त ! अहमपि सर्वथा नितरा न उपेक्ष्य उपेक्षणीय इत्यर्थः । पिङ्गलाऽजामिनयो कथा श्रीमद्भागवते प्रसिद्धा ।

विषय में कहना है कि—उमने तपस्या करते हुए मुनि के मुख से वेद के अर्थ समझ कर वासुदेव भगवान् में मन को लगा कर मोक्ष को प्राप्त किया ।

यहाँ (१) मुनि तपस्या करते हैं ; (२) उनके मुख से उमने वेद के अर्थ समझा ; (३) हमने बाद भगवान् में मन लगाया और (४) गडुदर मोक्ष को प्राप्त किया, इतने वाक्यों के मर्दों का समूह शतृ-प्रत्यय (तपस्यन्), कण्ठ-प्रत्यय (अधिगत्य) और बहुव्रीहि समाप्त (वामुदेवनिपिशरामो) के द्वारा अनुवाच रूप से और तिङन्त (किया विशेष) के द्वारा विशेष रूप से लिख कर एक वाक्यार्थ को रूप में कर दिया गया है ।

विशेषण की सामिप्रायता से यहाँ यह तात्पर्य है कि जो वान पल रहा है, उमको पुण करवा रूपान् उसमें सहायता पहुँचाना ।

जैसे कि—हे कृष्णामूर्त्त ! गणिका (विदेहा नाम की एक बेस्या) और अजामिल (एक दानी-पति द्विज) का-द (पण्डितों में) मुख्य जनों की रक्षा करने बाल आप संसार हार नरकस्थ (निर्जल) गहरे में जो मैं सोदित हो रहा है उसको बंधन नहीं कौबियेगा । यह एक भक्त की भगवान् से प्रार्थना है ।

उपपादयति—

अत्रोपेक्षाभावे कर्णामूर्तत्व पोषकम् । पापिद्रुत्वात् करणाय अभावे,
प्रकृतेऽप्या मन्पादनाय गणिवेत्यादि गीर्दन्ति च ।

भवमी कान्ति लक्षयति—

दीप्तमत्य कान्तिः ।

क्षीतरमत्य विवृणानि

तच्च स्फुटप्रतीयमानरमत्वम् ।

उदाहरणाद्यंनान्यूनता परिहरति -

उदाहरण च वर्णितमेव रसप्रकरणे, वर्णयिष्यते च ।

हणम समाधि लक्षयति

अवर्णितपूर्वोऽयमर्थः पूर्ववर्णितच्छायां वेति कवेगलोचनं समाधिः ।

यद्यस्मोऽपि वार्णयता दमनांय न कदानिदुपेक्षते तदा साक्षात्कर्णामूर्ति कथमुपे-
क्षितुमहतीति कर्णामूर्तित्व भगवतो विशेषणमनुपेक्षया साधकम्, पापानिषदाहरणान्
स्वस्मिन् कर्णायाम् अनु पनिसम्भवे पनितरुषि भगवता दयायुताया वायकत्वाद्
गणिकेत्यादिविशेषण कर्णस्यादन साधकम् दु खिनोऽनुपेक्षणीयत्वात् मादन्ति
निजविशेषण स्थानुपेक्षया साधकमिदाम्भोनि विशेषणसाधिसायम् ।

वीत स्फुटप्रतीयमानतयोऽव्यवसाय एता यत्र, तत्र कान्तिरित्यर्थं ।

रसप्रतीती स्फुटताऽविनन्दनीत्यसि ।

प्रागु रमतिहणन गमिता इत्यादिना वर्णितम्, यथे वर्णयिष्यते ज्ञातद्वारप्रग-
ङ्गेन तदुदाहरणमितीह तापव्यवसितमत्याद्यय ।

अय बन्धनमात्रं कर्णाप पूव न वर्णन इत्यवर्णितपूराऽर्जातिरिवामय प्रतिष्ठ,
अथवा पूव कर्णाप वर्णितस्यैवायस्य छाया (सादृश्यं) यस्मिन्सादृशोऽव्यवसायागोतिरि-
तिप्रसिद्धोऽस्तीति कवे न विवृणत यवालोचन विभावन, तत् समाधि । तत्रावर्णनपूर्व-
त्वालोचन प्रथम, पूर्ववर्णितच्छायत्वालोचनन्तु द्वितीय प्रकार समाप्तेरिति सारम् ।

— यदा 'उपपा न कर्णमिगा' इत्यने का पुत्र कर्णे के टिप भगव न् म 'कर्णामूर्ति' विशेषण
लगाया गया है, जिसमे यह मिट होता है कि जब साधारण वार्णयिता भी किसी शोन का उपास नहीं
करता, नव अप कर्णामूर्ति ह का मेरी उपेक्षा नैम करेगे—नहीं कर सकते । पर यदि महान् पापी
समय का कर्ण न करे, न यह आ चरन स्वभाव के अनुपुल सदा है, इसा भाग को प्रमाण
करने के टिप गणिका आदि का इत्यन्त दिया गया है और अपना विशेषण 'मोदित होता हुआ टिप
है । इस तरह यदा एत. आ पर नि-बोजन महा है, सब म कुल न कुल अभिप्राय है ।

सर्व 'वानि गुण' का लक्षण इति—शास्त्र-रगत का 'कान्ति' कर्ण है ।

मदन्ता मम क प्रान होने को दीक्षगत्व बहन है । शत्रु अव्यव्य होना ही रस-अनाति की
सूचना यहाँ दिखित है, वह भा समझना चाहिये ।

इसके उदाहरण रसप्रकरण में 'श' देना मरिच' इत्यादि ११ के द्वारा दिखलाया जा चुका है और
भाग को दिखलाया जायगा, अब यहाँ यहाँ दिखलाया गया ।

अब 'मनाधिपु' का लक्षण पादेये—कवि जब किसी वस्तु का वर्णन करने लगता है, तब वह

धानोचनस्य ज्ञानविशेषरूपनयाऽऽत्मगुणत्वेनायं गुणत्वसम्पादनायाह—

ज्ञानस्य विषयवास-बन्धेनार्थनिष्ठत्वादर्थगुणता ।

तयो प्रथम प्रकारमुदाहरति—

आद्यो यथा— तनयमनाकगवेपण—' इत्यादी ।

द्वितीयप्रकारोदाहरणस्य बाहुल्य दशयन् वामनमनमुपमहरति—

द्वितीयस्तु प्रायश सर्वत्रव' इत्याह— ।

अथ परममञ्जुण्डिनमम्बुपमत भवतीति प्राचीनतरमन निराकरोति—

अपरे त्वेषु गुणेषु कतिपयान् प्रागुक्तैर्भिर्गुणैर्वध्यमाणदोषाभावाल्लङ्कारश्च गतार्थयन्त, काञ्चिद्विचित्रमात्ररूपतया क्वचिद् दीयतया च मन्यमाना न तावत् स्वीकृत्यन्ति ।

ज्ञान समवायेनात्मनि विषयनया तु सम्बन्धेन विषये ज्ञेयार्थे तिष्ठतीति ज्ञानविशेषरूपालोचनस्वायं गुणत्वमुपपद्यते इत्याशयः ।

काव्यनृतीयप्रकारनिष्पण्णे प्रागेव व्याख्यातमिदं गद्यम् । इह भावक्या नागीरध्या हिमाचलभुजापमानात् इव केनापि उ वशितमिति सद्योमुण्डिनमत्तद्वृणदुर्बुकरूपस्य हिमारेहजन्म्' इत्यादर्शयित्वा वशिता केवल प्रतिभवेव कश्चिन्मम ।

प्रायशा बाहुल्येन कविरनुहरति च्छायाम्' इत्युक्ते । केवल सवर्णवैलुक्ती तु प्रथमप्रकारविनापि प्रसङ्गः । उदाहरणान्वेषण तु नायिकावयननतितया सादृश्यस्य कवितामयप्रतिबन्ध, निजनजनप्रतिबिम्बैरम्बुनि बहुधा प्रसारिता काञ्चि । नीलोत्पलैरपि विमृशान, करमपंक्ति कुसुमनामो ॥' इत्येव ज्ञेयम् । आहुरित्यस्य पूर्वोक्तेन 'जटतरास्तु इ'पनेतान्वयः ।

सञ्चना इ कि इम वस्तु का कान पर- किमा ने नहा किमा ह ? अथवा किमा के द्वारा पूर्व-वर्णित वस्तु का वह (मैं) वर्णनाय वस्तु) छ'य मय है ? इन तरह का कवि को व्यञ्जना का 'समाधि युग' कहन ह । तात्पर्य यह निवृत्ता (क समाधि के द) भेद है, पर 'यह अर्थ पूर्व-वर्णित नहीं है' इन तरह का आलोचन और दूसरा 'दर पूज वर्णित का छ'य ह' इस प्रकार का आलोचन ।

अथ 'आलोचन ज्ञान-विद्युत्-व्य ह, अथ यह आरना न रहेगा—अर्थ ने नहीं, निर वह अर्थ-ज्ञान केन होगा ?' इस शङ्का का समाधान करन ह—'ज्ञानस्य' इत्यादि । मध्यभात का आशय यह है कि ज्ञानात्मक आलोचन दशपि समवायमन्वय से अज्ञान में रहेगा, समाधि विषयनामन्वय से ज्ञान के विषय मय में आ रहता है, अथ उसे अर्थ-ज्ञान नगने में कोई आशय नहीं आती ।

अथ समाधि युग के प्रथम भेद का उदाहरण दन ह—जैसे कि 'तनयमनाक' इत्यादि गद्य में । इस गद्य का पूर्वोक्त काव्य के वृत्तय भेद के उदाहरण के रूप में हिमाचल्य दिखलाया जा चुका है, इसकी व्याख्या मा बहा को जा चुकी है । इस गद्य में हिमाचल्य की मुद्रा के रूप में गद्दा की उपेक्षा की गई है, आ सबधा नवीन कथना है, पहले किसी ने इस तरह की कथना नहीं की, अतः यह प्रथम भेद का उदाहरण हुआ ।

द्वितीय भेद अर्थात् अन्यच्छानोनि अर्थ का उदाहरण तो प्रथम सर्वत्र ही मिल सकता है मर्थात् अधिकतर वर्णित इसा तरह का होता है, जिससे पूर्व-वर्णित को छ'या रहती है । दर है अथि प्राचीन अकार्य वामन आदि का निश्चान ।

तत्र प्रथम वचिदन्तवन्स्यु वापत्यागत पर धिता । अन्ये मजनि दोगव
कुत्रचिन्न ततो दन ॥ इति ममात्मेन शब्दगुणाना दशत्वध्वन्यमुपपादयति—

तथाहि—श्लेषादार-१-प्रमा-समाधीनामाजोव्यञ्जकघटनायामन्तमवि ।

तत्रासद्गुण समादयति—

न च श्लेषोदारतया मवशि गाडव-घात्मनोरोजाव्यञ्जकघटनास्तमवि-
स्तु, प्रसादसमाध्यास्तु गाडशियिलारत्मनोरशेनोजाव्यञ्जकान्तमविस्प्यशान्तरेण
कुत्रान्तर्भाव इति वाच्यम्, माधुर्यागिन्ध्वञ्जके प्रसादाभिव्यञ्जके वेति मुव-
चत्वात् ।

अपर वामनादिभ्यो नवीना मम्मटादयस्तु । त्रिभिन्माधुर्येण प्रसादं । वक्ष्यमाणा
य शोपानावा अन्तर्हाराश्च तं । वनाथयन्मा निष्पयाजनीकुवन्त । तावतो दारुण-
गुणान् दमाधुगुणाश्च न स्वाकुवन्ति । इतरदनुपद स्फटीनविधिति ।

वामनाका इतपादारताप्रसादसमाप्रयो न शब्दगुणा मम्मटोस्तीजागुणान्तरञ्जव
गरचनारूपत्वादिन्यायुतम ।

वामनानयो इतपादारतया सवस्तिमन्तय गाडव-घात्वस्वरूपत्वात् आनान्यञ्जक-
घनायामन्तभावस्य मम्मवर्षि प्रसादसमाध्याो किञ्चिदभावच्छदन गाडव-प्रस्वरूपत्वात्
निश्चिदभावच्छदन च विधितवन्ध्वञ्जकत्वयोरोजाव्यञ्जकरचनाया गाडमाप्रव-श्वर-
पायामन्तभावस्यामम्मव इति न वाच्यम् तथा विधितवन्धातस्य माधुपव्यञ्जक-
घनाया प्रसादव्यञ्जकरचनाया वा तदन्तर्भावस्य वक्तुं शक्यत्वादित्यापय ।

अत्र गुण ० विषय म सामान्य आदि स नवान मम्मट आदि अ यदा के दन वा उच्यते वान है—
‘अपरे तु’ इत्यादि मम्मट आदि विशदन्ती ० गुण नहीं मानने ह, क्योंकि य इन २० गुणों में से
कुछ को पूर्वोक्त स्वामन्त माधुर्य, अन्त और प्रसाद इन तीन गुणों में गणना का दण है, कुछ को
व्यय कठि होने वा दाशो के अन्तर्भव मान लत है अन्त कुछ को अट्टहारत्व का दण वण देत
है इन्ही तरह कुछ को विधिवत्ता मान लेते हैं तथा कुछ को गुण को अन्त रूपर ही वर लते
हैं । इस प्रकार व वचन ३ गुण मानत है, १० नहीं ।

अच्छ अन्त ० गुण नहीं मानने का सुविधाँ भा सुनिवे । ये कहते हैं—पूर्वोक्त दम दम-गुणों
में से दन्ध, उदारता, प्रसाद और समाधि इन चार गुणों का अन्तगुण का अन्तर्भव का म कठी
रचना में अन्तर्भाव हो जाता है

यहा मदी रूप द्वा वरें कि—दन्ध और उदारता सब अन्तों में गाड रचनात्मक है । अन्त
अन्त अन्तभाव अन्त को अन्तर्भव करने वाली रचना में मन्त ही हो दण, परन्तु प्रसाद और
समाधि का गाड और विधित दानों प्रकार की रचनाओं के मिश्रणत्व हात है, अन्त एव (गाड)
अन्त अन्तभाव रचना में अन्तर्भाव होने पर भी दूसरे (विधित) अन्त का अन्तर्भव किनेमें
होगा । तो हमारे उतर में अन्त से यह कहा जा सकता है कि माधुर्य अन्त प्रसाद का अन्तर्भव रचना
में । अन्तर्भव विधित अन्त भा कठी माधुर्य गुणत्वक रचना में और कहा प्रसाद गुणत्वक रचना में
समाधि हो सता, अन्त वे चार अन्तर्भव गुण कहा हो सता ।

माधुर्यं गुण निराकरोति —

माधुर्यं तु परेषामस्मदभ्युपगतमाधुर्यं व्यञ्जकमेव ।

पर्यवसितमाह—

एव च सर्वत्र व्यञ्जके व्यञ्ज्यशब्दप्रयोगो भाक्त ।

ममताया गुणत्व निरस्पर्ति—

समता तु सर्वत्रानुचितैव, प्रतिपाद्योद्भूतत्वाभ्यामेकस्मिन्नेव पद्ये माग
भेदस्येष्टत्वात् ।

तदुदाहरण दर्शयति—

यथा—

सुकवित्वाभिमानाध्मातहृदय कश्चित् वर विपश्चित् सूते—

'निर्माणे यदि मामिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रव—

मृद्रीकामधुमाधुरी-मदपरीहारेद्दुपुराणा गिराम् ।

काव्य तर्हि सखे ! सुखेन कथय एव मम्मूले भादृशा,

नो चेद् दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वास्ताद्गहिर्मा कृया ॥'

मम्मटाद्युक्त-रसनिष्ठ व्यञ्ज्यप्रमाधुर्यगुणव्यञ्जकरचनैव वाचनादिसम्मत माधुर्य
गुण इति तस्यापि गुणत्व निरस्तमिति भाव ।

एवमुक्तरीत्या, सर्वत्र प्राकृतिपादितवामनोक्तस्तेपादिगुणपदुद्ये, व्यञ्जके तत्तद्-
गुणव्यञ्जकरचनाविशेषे व्यञ्ज्यशब्देपादिगुणवाचकस्य श्लेषादिशब्दस्य प्रयोगो भाक्तो
लाक्षणिको ज्ञेय इति सारम् ।

सर्वमेति समतास्यपि । उद्भूतत्वमुद्धतरवम् ।

यत नवचित्तेकस्मिन्नेव पद्ये, यत्राग्रे वाक्यमुद्धतम् तत्रोद्धता रचनेष्टा, यत्र तद्ग्रे
वाक्यमुद्धतम्, तत्र कोमलैव रचनष्टा, तस्मान् तद्वेषु पद्येषु सर्वाणि रचनाया एकनिध-
त्वमतीचित्यादीय इति सामभेदरूपा समता न गुण इत्यभिप्राय ।

हे सखे ! यदि त्वम् अत्यन्तपाकेनातिशयितपक्वतया, द्रवन्त्या सरसीमदन्त्या,
मृद्रीकाया द्राक्षाया, मधुनो मधुररमस्य माधुर्या मिष्टताया, मदस्याभिमानस्य, परी-
हारे निराकरणे, उद्दुपुराणामुद्युक्ताना शक्ताना वा, गिरा काव्यवाचा, निर्माणे रचने,
मामिको मर्मज्ञ (कुशल) अस्ति, तर्हि भादृशा मन्नुवानामत्पुस्कृष्टकाव्यरचनाकुश-

प्राचीनों का माधुर्य गुण तो हमारे (मम्मट के) माधुर्य की अभिव्यक्ति करने वाली रचना है ।
इन तरह यह सिद्ध होता है कि प्राचीनों के मन में सब जगह व्यञ्जक (रचना) में व्यङ्ग्य
(माधुर्य आदि) का शाब्दिक प्रयोग हुआ है । अब यत्र आन सुत्र का अोजीव्यग्रह रचना में अन-
माव समाप्त होता चाहिये ।

अब समता की बात सुनिये—सब जगह तो वह (समता) अनुचित ही है, क्योंकि बलन्व
अर्थ के उद्गत होने से उद्गत और सखे अनुद्गत होने से अनुद्गत रचना का एक ही रसोक्त ही होता
है ।

अब—हैं सखे ! यदि तुम अत्यन्त पक्व होने के कारण चूने हुए दाढ़ के मधुर रस की मधुरता
को मद की दृष्टा देने में सफल नचनों की रचना में कुशल हो, तब अपने नख्य की मेरे जैसे लोगों
के सामने सुगंधूत्र कहो । परन्तु यदि वेमा (मृद्रीका-मधुर-नागो-विशुण) न २३ तो निद

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धे तृतीयचरणे च लोकोत्तरनिर्माणप्रतिपादके यो मार्गो न च चतुर्थचरणे वदयंकाव्यप्रतिपादक इति वैषम्यमेव गुण ।

शान्त सुकुमारतायाश्च दोषाभावरूपवाद् गुणव निरस्यति—

शाम्यत्व-कष्टत्वयोस्त्यागात् कान्ति-सौकुमार्ययोगतायता ।

शान्ता सम्मुख पुर स्वरचित काव्य मुखेन, वदय, नो चेत् तदमामिकी यद्यति तदा, आत्मना कृत दुष्टेन पातकमिव तत् काव्य स्वान्ताम्ननम्, बहिर्मा कृपा नितरा गोपयेत्यथ

मागा वारचनारोनि । वदय कुलिनम् । गुणमुपकारकत्वम् ।

निर्माण इत्यादावकस्मिन्नत्र परं तृतीयचरणान्त यावद् वाच्यस्य लोकोत्तर-निर्माणस्याद्भूतत्वादुक्त्या रचना तुरीयचरणं तु वाच्यस्य कृत्स्नतत्काव्यस्यानुकूलत्वा-दनुकूलैव रचनानि विषयभेदापकारकत्वाद् गुण वदय-वाच्य प्रदधानामौचित्येन स्वधिन् स्वधिन् । रचना-कृति रचानामन्यथात्वमपीष्यत । इत्युक्तं प्रत्युत नमता-शान्त कृताया दाप एव स्यादित्यागय ।

शाम्यत्वदायाभावरूपनया शान्त श्रुतिकष्टत्वतत्प्रपन्न इत्यदोषाभावरूपनया च सुकुमारताया यथायता तदभावान्तर्भावाद् गुणत्वाभाव इत्यथ ।

कष्टवमिह दुःखप्रवत्वम् न तु देहव तस्याद्यवृत्तिवात् । ओजोव्यञ्जकवर्णवर्ण-कृत्स्नरूपकष्टत्वाभावरूपनया, माधुर्यव्यञ्जनव्यवृत्तिवत्प्रवृत्तौमाद्यस्यात्तन्मवाचिन्मनी-द्वेति केषाचिदाशेषेण, परंपरव्यवस्थावर्णवर्ण-सौकुमार्य परवर्णवर्णवर्णवत् च कष्टव-मनिदधानैरनया परमराभावरूपता स्यवस्यापयङ्गिनिरन्त ।

हरह ध्वने विषे दुःख वद का किमा के लानने प्रव नही किरा न्ना, हमी हरह वम [ध्वने काव्य] का ध्वने इत्ये से वाहर न वय—द्वेन हा द्वेन रते व्य, न्वाव पर मत् आने वा ।

इहा अष्टैकिक वाच्य-निर्माणं च प्रतिपादनं काले वाच्य-कान्ति-लोक-परलो-में त्रिण मर्ण (वा-रचना-के-रति) का प्रथम विदा ग्या है, एतदा करय (दुःखित-हीन) काव्य-निर्माणं च प्रतिपादनं काले वाच्य-वदयं वरण में प्रथम नदी विदा ग्या अदत् इधम तान वरणी का वाच्य कर्ष कष्ट वा, अत्र वहा स्तदुद्ध कष्ट वग-विन्दाय हा विदा ग्या और वदयं वरा का प्रतिपाद कर्ष कष्टवत् वा, अत्र वहा का वा-विन्दाय कष्टवत्-विच्छि-रत्वा ग्या, इन एव इहा विवमता ही गुण (व्यञ्जक) है और वही समस्त-वद ही रति-कर ही वती, ये दोष ही कष्टवत् ।

अव रही वानि और सुकुमारता, ये का साम्यता और कष्टत्व नमक के दोष है, इनके मध्य में साम्यत्व है—साम्यत्व-कान्ति साम्यत्व-दोषाभाव-स्वरूप है और कष्टत्व-कष्टत्व-कष्टत्व-दोषाभाव-स्वरूप सुकुमारता है । एतदर्थं वद है कि वहा 'कान्ति' का मतलब 'दुःखता' नहीं है, क्योंकि वद कर्ष में एतेकद्वय दोष है और वहा कष्ट-गुण को दोष में गतार्थ करने का प्रयत्न पठ रहा है, फिर कष्ट-गुण कर्ष-दोष में कैसे गतार्थ किया जा सकता था । वहा नगेण ने ठिहा है कि कष्टत्व दोष का कष्टत्व है 'कष्टत्व-कष्टत्व-कष्टत्व' और सुकुमारता-गुण का कष्टत्व है 'माधुर्यव्यञ्जनवर्णवर्ण-कष्टत्व' है (कष्टत्व और सुकुमारता) एक दूसरे का अन्वयत्व नहीं हो सकते, फिर सुकुमारता को कष्टत्व के अन्वय में गतार्थ करने की श्रुतेय वच्य अशुद्ध है । वदु विव... करने पर नगेण का कर्ष ही कष्टवत् प्रतीत होता है, क्योंकि मन्त्र ने कष्टत्व का कष्टत्व 'परम-परम' किया है और

प्रसादेऽन्तर्भावव्यक्ति निराकरोति—

प्रसादेन चाद्यन्वयतेरिति ।

अर्थाङ्गुणानामपि दधाना निरखनमारम्भे—

अर्थगुणपदपि— श्लेषः, ओजस आद्याभ्यन्तरी भेदाच्च, वंचिष्यमात्ररूपा न

गुणात्तर्भावमर्हन्ति ।

वैचित्र्यमात्रस्य गुणावाङ्गीकारे दोषमाह—

अभ्यया प्रतिश्लोकमर्थवैलक्षण्याद् गुणभेदापत्तेः ।

प्रसादेन गुणैः स्पष्टप्रतीतिजनकत्वरूपाया अर्थव्यक्तौ च गताव्यति शेष । इत्येव च वामनेन 'परस्यास्य पादत्व पदत्वयोज कर्तव्यम् । इत्यत्वमोजना मित् प्रसाद च प्रसादे ॥ मन्त्ररूपवद्भावः यद्दानां भूयसामपि । अनालक्षितसन्धीना स श्लेष परमो गुण ॥

प्रतिपाद प्रतिश्लोकमेकमार्थपरिग्रह । दुर्बन्धो दुर्बिभावश्च समतेति गुणो मत ॥ सारोहृत्पदरोहृन्ति अभेग यतयो हि यन् । सवाचिर्नाम स गुणत्वम प्रुष्या मरस्वती ॥ इत्येव पृथक्पदत्व च माधुर्यं कथितं बुधैः । बन्धस्याजरठत्व च मौकुमार्यं महाहृतम् ॥ विद्वत्त्वं च बन्धस्य कथयन्ति ह्यद्वारताम् । पञ्जादवयवतिर्वाच पुरस्तादिव हस्तुत ॥ अर्थमस्तिहेतुरात्मा, सोऽर्थव्यक्ति स्मृती गुण । जीवन्मुक्त्या कान्तिरिस्वाहुर्गुण गुण-विधारदाः ॥'

इति प्रतिपादप्रदानां दधानामपि शब्दगुणानामन्वयवर्तव्यविनिराकरण समान-
निति सूचयतीति विषयम् ।

वामनोक्तस्य इत्येवमोजसमासात्प्रकारात्तद्व्यवस्था च श्रोत्रिष्टकमनुविजनकरत्वेन हृत्पादविहितवृत्तिरूपत्वात्सम्भवाच्च गुणत्वमिति तात्पर्यम् ।

यदीदृशार्थवंचिष्यमापि गुणत्वमनुपपन्नस्येत तर्हि सर्वेषु श्लोकेषु वक्तव्यमर्थवंचिष्य-
स्यत्व इत्यात् तत्रापि गुणत्वाभ्युपगमे गुणप्रकारब्राह्मण्यमापद्येतेत्यभिप्रायः ।

प्राचीनीं नै सुदुर्भारता का लक्षणा 'अपरवर्णयित्वा' कथा है, अत्र देहिने—कि सुकुमारता, कश्च के-अपारकल मित्र होया है या नहीं ? कहना पड़ेगा कि अस्व, फिर जो भागेश ने अने मन से लक्षणों को रूपना करने मूळ को अन्वयति विलस्यई है, वह किमी तरह मूल प्रत्य करने का लक्षण करने का दुःसाह भाग है ।

अन वेनह 'अर्थ-व्यक्ति गुण' अवधिष्ट रह जाता है, परन्तु प्रपद गुण के मान लेने पर लक्षणी भी आवश्यकता नहीं रह जाती अर्थात् प्रसाद गुण में ही पर भी गन्तव्य हो जग है । इन प्रकार कति प्राचीन भाषायों का अभिमत, गुणों की विधाणि संस्था अपकृत है, यह जान सिद्ध हो गई ।

अन वामन आदि भति प्राचीन भाषायों में स्वीकृत दश अर्थ-गुणों का लक्षण आरम्भ करते हैं—'अर्थ-गुणव्यपि' इत्यादि । अर्थ-गुणों में भी अन्वय और ओज-गुण के परसे चार भेद ती विचित्रता मान है, अत्र लक्षणी गुणों के अन्वयन मानना समुचित नहीं है ।

कल्पना (विचित्रतामान को गुण मान लेने पर) प्रत्येक श्लोक में कुछ न कुछ अर्थों की विचित्रता जरूर रहनी है, वे सब विचित्रताओं गुण कहलाने लगेगी, किन्तु कल्पना भी अपभ्रम हो सकती है ।

श्लो पञ्चमप्रकारसहित वामनोक्तार्थगणसमक दोषाभावरूपतावर्तनेन निरस्यति—
अनधिकरूपदत्त्वात्मा प्रसाद', उक्तवैचित्र्यवपुर्माधुर्यम्, अपास्व्यशरीरं
सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्वस्वोदात्ता, वैषम्याभावलक्षणा समता, सामिप्रायत्वा-
त्मकः पञ्चम ओजस' प्रकार', स्वभावस्फुटत्वात्मिकाऽर्थव्यक्तिः, स्फुटरमत्वरूपा
कान्तिश्च, अक्षिपदत्ता—नवीवृत्तत्वा—मङ्गल' पाशलील—ग्राम्य—भग्नप्रत्रमा-
गुष्टार्थरूपाणा दोषाणा निराकरणेन, स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य, रसध्वनि—रसवद-
लङ्कारयोश्च स्वीकरणेन च गतार्थानि ।

समाधि निराकरोति—

समाधिस्तु कविगत काव्यस्य कारणं न गुणः ।

ननु काव्यकारणत्वेऽपि समाधे कुतो न गुणत्वमित्यत आह—

प्रतिभाया अपि काव्यगुणत्वापत्तेः ।

ययामङ्गलमन्वयः ।

अक्षिपदत्त्वरूपदोषाभावरूपत्वात् प्रसाद अनवीवृत्तमन्वदोषाभावरूपत्वान्माधुर्यम्,
अमङ्गलरूपाशरीरत्वदोषाभावरूपत्वगत मुकुमारता, ग्राम्यत्वदोषाभावरूपत्वादुदात्ता,
भग्नप्रत्रमन्वदोषाभावरूपत्वात् समता, अपुणार्थत्वदोषाभावरूपतया सामिप्रायविशेषण-
त्वात्मकस्य ओजस' पञ्चमप्रकार' स्वभावान्यलङ्काररूपतयाऽर्थव्यक्तिः, रमप्राध्याये
रसावतिरूपतया रगाप्राधान्यं तु रसवदनङ्काररूपतया कान्तिश्च नैव गुणत्वेन गणना-
महतीति सारम् ।

आलोचनसमकज्ञानरूपत्वादात्मगुणो न तु रसवृत्ति रविनिष्ठ समाधिस्तु न गुणः,
किन्तु काव्यस्य कारणमित्यर्थः ।

यदि हि काव्यस्य कारणमपि गुणः स्यात्, तर्हि प्रागुक्ता प्रतिभाऽपि काव्यस्य
कारणत्वाद् गुणः स्यादित्यापत्तेः समाधिरपि न गुण इत्यभिप्रेत्यम् ।

इह अर्थगुण मानने वाले सामन आदि ने ननु के अनुसार वह का अधिक न होता प्रसाद है,
कान्तिकी विधिनता माधुर्य है, शरीरता वा न होना सुगमता है, ग्राम्यता वा न होना उदात्ता
न और विषमता वा न होना समता है, एवं वदों का सामिप्राय होना ओज-गुण का शक्ति भेद
है । ये सब रूपों अधिपदरस, अनवीवृत्तत्व, अमङ्गलरूपक अक्षिपत्ता, ग्राम्यता, भग्न-प्रकमता
और अपुणार्थता इन दोषों के निवारण देने में गताव हो गये हैं । अतः नु दोषों के अभावमान
है, गुण नहीं । इन्हीं तरह विमो वस्तु के स्वभाव का अन्वय वर्ण करना जो अर्थ-शक्ति गुण है, वह
रस की प्रधानता रहने पर रस-ध्वनि में अन्वय रसवन् अलङ्कार में गताव है ।

अब बचा फेरे समाधिगुण, वह भी गुण नहीं, अपि नु काव्य का वा कारण है, क्योंकि उमका
स्वरूप अलोचन मत्र माना गया है और आलोचन एक प्रकार का लान है, अतः वह कवि की
प्रतीभा में रहेगा, रस विद्या अर्थ में नहीं फिर उसे अर्थगुण नैसे कहा जा सकता ? यदि हम विषयता
सामन्य में अर्थ में रहने के कारण अर्थ का गुण माना जाय तब तो—

प्रतिभा भी काव्य का गुण हो जाय, क्योंकि अलोचन और प्रीति दोनों ही एक प्रकार के
दान हैं और जे में रहें हैं तब विषयता मन्वय से अर्थ में अर्थ गताव है, फिर यदि प्रतिभा
रस्य कारण माना जाता है, तब अलोचन को ही गुण क्यों मानें ?

तत्रापि विशेषमभिधत्ते—

नैकद्वयेन तु प्रतिकूला अपि भवन्ति, यदि तदायत्तोऽनुप्रासः ।

अत्रैव परकीय मतमाचष्टे—

अन्ये तु—वर्गस्याना पञ्चानामविशेषेण माधुर्यव्यञ्जकतामाहुः ।

माधुर्यगुणव्यञ्जकरचनामुदाहरति—

उदाहरणम्—

मगवद्भूक्त स्वाम्ना बोधयति—

'तां तमालतरुकान्तिलङ्घिनीं, किञ्चूरीकृतनवाम्बुदत्विपम् ।

स्वान्त ! मे कलय शान्तये विर, नैचिकीनयवचुम्बिता भियम् ॥'

पुनरुदाहरति—

यथा वा—

स्वेदाम्बुसान्द्रवणशालिकपोलपालि-

र-त स्मितालसविलोकनवन्वलीया ।

यदि तदायत्तान्तपद्यीभोजुप्राप्तो भवति तर्हि नैकद्वयेन सामीप्येन सभिन्नेगितान्ते द्वितीयादिवर्णा माधुर्यग्य प्रतिकूला अपि न तूदासीना भवन्तीत्यर्थः ।

द्ववर्णातिरिक्तवर्गपठकाना पञ्चानामपि (न तु द्वितीयचतुर्भिनानां) वर्णानाम् अविशेषेण मुमुक्षयताया नैवद्व्यामिवेतादिविचारराहित्येन वा, माधुर्यगुणव्यञ्जकतामात्रे वदन्तीत्यर्थः ।

वर्गद्वितीयचतुर्भवनाना नैकद्वयेन प्रयुक्तानामोजोगुणव्यञ्जकत्वस्यानुपद कस्यमाप्त-स्वात्सभ विचाररमणीयमिति बोध्यम् ।

हे स्वान्त मानस ! तमालतरोस्ताविच्छद्रुमस्य, कान्ते श्यामपुत्रे, सङ्घिनीमति-शायिनीं किञ्चूरीकृता विव्रितत्वादासीकृता नवाम्बुदस्य नवीनमेघस्य त्विच्छद्वियंया तादृशीम्, नैचिकीना घेकृता नवनैचिकुम्बिता प्रेम्णा विलोकितां, धिय श्रीहृत्पदातोभां, मे मम शास्तयेऽन्तस्मुद्याम, विर चिन्तय भावयेत्यर्थः ।

इह स्वान्तेत्यस्यामन्त्रिमञ्जोत्तरम्—'आमन्त्रितमविद्यमानवन्' इत्यनेनाविद्यमान-नवद्भावे पदारपरत्वाभावात्ममेत्यस्य म आदेशाभिन्तनीय ।

यदि समीप-समीप ये वनका प्रयोग हुआ हो और उनमें अनुप्रास भी वन जाने हों, तब प्रति-बुद्ध भी हो जाते हैं ।

द्वर्गों में भिन्न वर्गों के वर्णों अक्षर समान रूप में माधुर्य को अभिव्यक्त करते हैं ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है ।

अब माधुर्यव्यञ्जक रचना का उदाहरण देगिये—**दोई** भक्त अपने मन-काण ॥ वचना है—**हे मेरे मन !** तू, शान्त के लिये बिलकुल तक बम थी—शोभा की भावना का, जो तमाल तरु की कान्ति (श्यामपुत्रि) को छीप गई है—अर्थात् हमने भी अतिव श्यामलता—मनोहर है, और जिनके नवीन अक्षर का प्रति को दान बना दिया है—सर्वात् हमको एगमित का दिया है—जबने सामने मुग्ध बना वाला है, एवं जो यारों के नेत्रों से चुम्बित (इच्छक देरी गई) है । मारास है कि नतामुद-द्वामन्त्र भावन् गोपाल की शोभा का स्मरण मरत करण रहे ।

आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन कार्ष्णि,
रम्या दशा मनसि मे मदिरक्षणया ॥'

पद्यद्वयोदाहरणतामुपपादयति—

प्रथमे पद्येऽतिशयोक्त्यलङ्कृतस्य भगवद्वचनोत्सुक्यस्य भगवद्विषयक-
रतेर्वा ध्वन्यमानाया शान्त एव पर्यवसानात् तद्गतमाधुर्यस्याभिव्यञ्जिका रच-
नेयम् । द्वितीये तु स्मृत्युपपृच्छमृद्धाररसस्य ।

ओजोव्यञ्जकरचना निरूपयति—

नैकट्येन द्वितीय-चतुर्थवर्णवर्ण-टवर्ग-त्रिह्रामूलीयोपाध्मानीय-विसर्ग-
सकारबहुलैर्वर्णैर्घटितो ऋगुरेफान्यतरघटितसयोगपरह्रस्वैश्च नैकट्येन प्रयुक्तरा-
लिङ्गितो दीर्घवृत्त्यास्मा गुम्फ ओजस' ।

यद्यपिद मप्रसङ्गनिदेश प्राग्बिकृतमेवेनीह केवल टवर्गपरिहाराय परिवर्तितपद-
मात्र व्याहृषायते—अस्त स्मिनेनाभ्यन्तरस्यतयाऽभ्यक्तहासेन, अस्तस्यविलोभनेन मयध-
मादिप्रयुक्तालम्ब्यपुक्तनिरीक्षणेन, यदाऽन्त स्मित यत्र, तादृशेनावसविसोकनेन, वद-
नीयेयथ ।

प्रथमे 'ताम्' इत्यादिपद्ये गोविन्दश्रियस्तमाततष्कान्तिलहृन्-मवाम्बुदन्दिद्दा-
सीकरणसम्पन्नकल्पनादिशयोक्त्यलङ्कारोपस्कृतस्य भगवद्वचनोत्सुक्यरूपव्यभिचारि-
भावस्य, विनिगमनात्रिरहाद् भगवद्विषयकरतिभावस्य वा व्यज्यमानस्य प्रधानध्व-
ञ्जय-शान्तरसोपस्कारकतया शान्तरसवृत्तिमाधुर्यगुणस्य व्यञ्जिका रचनाऽस्ति ।
द्वितीये 'स्वेऽम्बु-' इत्यादिपद्ये व्यज्यमानेन मदिरक्षणदशास्मृतिरूपव्यभिचारिभा-
वेन पोषित मृद्धाररसे यतमानम्य माधुर्यस्य व्यञ्जिका रचनाऽस्तीत्यर्थः ।

इह 'रतेर्वा' इत्यत्र रतिभावस्य वा' इति मुपठम् ।

द्वितीयैश्चतुर्थैश्च टवर्गातिरिक्तवर्गचतुष्टयवर्णै, टवर्गेण, त्रिह्रामूलीयेनोपध्मानीयेन,
विसर्गेण, सकारेण च बहुलैर्नूिमिळं, सामीप्येन प्रयुक्तैर्वर्णै, पठित, पञ्चमवर्णान्तिरि-
क्तवर्गपञ्चवर्णारिक्तेन स्युप्रत्याहारेण रेफस्य वा घटितो य सयोग, स परी येम्य-

व्यथा, जने—जिनका करोट-पठक सपन धर्म-जल-दिन्दुओं से शोभित है और जो जानर
(अयकट) मन्द हाम एवं अलसई दुई चिनवनों से प्रशंसा करके योग्य है, हम मद्रमय मयन वही
नादिका का रमणीय और अनिर्वचनीय अवस्था, स्मरण करन ही मेरे मन में आनन्द को
पनसा देता है ।

यथा प्रथम श्लोक में गोपाल की शोभा का सन्बन्ध, तमाल-तस्य कान्ति-रूपन से और नव जलद-
वग्नि-दामाश्रय से दिखलाया गया है, अत अतिशयोक्ति अलङ्कार है, जिनमे वह भागान् के ध्यान
की उत्पत्ता (व्यभिचारीभाव) अथवा मगान् के विषय में मेम (स्थापनाभाव) अलङ्कन होना है, जो
व्यञ्जक है, परन्तु ये दोनों भाव कहा जयनी स्वन्त्र स पा नहीं रहते, वरन चरम व्यञ्जक ज्ञान इम
के पोषक है, अत यथा कवि रचना शान्तरम-गत माधुर्य गुण की व्यञ्जिका होनी है । द्वितीय श्लोक
में नादिका की दशा के स्मरण (व्यभिचारीभाव) से पुष्ट होकर अनिर्वच्य होने वाले मृद्धार-रस के
माधुर्य की रचना चम्पित करवा है ।

अब अ-जो व्यञ्जन रचना का निरूपण करते हैं—'नैकट्येन' इत्यादि । वह गुण- (रचना-
विशेष) जेजं गुण का व्यञ्जक होता है, जो ममीप-ममीप में प्रयुक्त टवर्गातिरिक्त वर्णों के द्वितीय

विशेषमाचष्टे—

अस्मिन् पतिता प्रथम-तृतीयवर्ग्या' गुणम्यास्य नानुकूला नापि प्रतिकूला.
स योगघटकाश्चेत् । तद्वटकास्त्वनुकूला एव । एवमनुस्वारपरसवर्णा अपि ।

उदाहरति—

यथा—'अय पततु निर्दय दलितम्—' इत्यादौ प्रागुदाहृते ।

प्रसादव्यञ्जकरचना निरूपयति—

श्रुतमात्रा वाक्यार्थं करतलवदरमिव निवेदयन्ती घटना प्रसारस्य ।

अत्र विशेषमाह—

अयं च सर्वथा शरणो गुणः ।

स्तान्द्वीह्लंस्ववर्णेषु नैकटयेन प्रयुक्तैर्वृत्त, दीर्घवर्णमासहस्रश्च गुण्यो रचनाविशेष
ओजसो व्यञ्जक इत्यर्थः ।

अस्मिन् गुण्ये, पतिता गुण्यरथा प्रथमे काद्या, तृतीया काद्याश्च ये वर्गा वर्ग
चतुष्टयघटका वर्णा ने माधुय-वञ्जकत्वादस्यौद्योगस्य अनुकूला न भवन्ति, यदि
सयोगस्याघटकास्य प्रविष्टा अपि न किन्तुदासीना भवन्ति । स एव पुनस्सयोग-
घटका ओजसा व्यञ्जकत्वादुपकारका एव भवन्ति । इत्यमनुस्वार-परसवर्णा अपि
सयोगघटका उदासीना सयोगघटकास्त्वनुकूला एव भवन्तीत्यर्थः ।

'न बोध्यति—इत्यादिनाऽऽरम्भोक्त्य पदस्य । गुण्योऽयं जम्-सयोगादिघटित-
त्वादोजसो व्यञ्जक इति तुवर्गसूच्य ।

या घटना कणविशेषनिवमरहिता श्ववर्णेनैव सद्य करतलस्थित वदरमिव सर्वा-
शैर्वाक्यार्थं निवेदय-ती वाक्यार्थबोधिता भवति, सा प्रसादगुणस्य व्यञ्जिकाऽस्तीत्यर्थः ।

और चतुर्षु वर्णान् ए-व आदि वर्णों वर्णों के वर्णों सङ्गों और निम्नमें निम्नगुण्य, उपगुण्य,
विमर्ग तथा मरण ये अ-र अधिक हैं—येने अक्षरों से बना हुआ, वर्णों के आदि आर-वार अक्षर-
रूप रूप प्रत्याहार अर्थात् रूप के द्वारा बने हुए संयोग निम्नमें आगे हैं ऐसे गमाप-ममोप में प्रयुक्त
एक स्वरों में युक्त, एवं बड़े-बड़े गमाप बाधा होता है ।

इस ओजोगुण्य नक रचना-विशेष है अथ्य में व्याप्त वर्णों के प्रथम और तृतीय-वर्णों क-न
आदि वर्णों यदि संयुक्त न हों, तब ओजोगुण्य के न अनुकूल होते हैं, न प्रविष्ट, और यदि संयुक्त
हैं तब ही अनुकूल ही होते हैं । इसी तरह अनुस्वार और परमार्ग रों भी ममज्ञा आदि
अ-र व भी अ-र के अनुकूल, प्रविष्ट युक्त नहीं होते ।

उत्ते—अं पतु निर्दयम् इत्यादि श्लोक में । इस पद्य का आरम्भ 'निरोचयति—'
इत्यादि वाक्यों से है, और पदन रीद-रस्य आदि के उदाहरणों में दिखा जा चुके हैं । यद्यपि इस पद्य
में वर्णों के वर्ण नहीं आये, तथापि रूप प्रत्याहार तथा संयोग आदि से युक्त होने से कारण यह पद्य
ओजोगुण्य-व्यञ्जक रचना का उदाहरण होता है । (हिन्दी में भूषण कवि की रचना प्रायः इसी गुण की
अभिब्यञ्जिका है)

अर प्रसादगुण-व्यञ्जक रचना का निरूपण करते हैं 'श्रुतमात्रा' इत्यादि । निम्नमें सुनते ही
वाक्य का अर्थ होए के बेर ही तरह दोसने लगे—अमके समयने में कुछ भी आयास नहीं करना पड़े-
पही रचना प्रसादगुण-व्यञ्जिका कहलजी है ।

उदाहरणविषये ब्रवीति—

उदाहरणान्यत्र प्रायशो मदीयानि सर्वाण्येव पञ्चानि । तथापि यथा ।

माननी मुग्धा सहचरी परिबोधयति—

‘चिन्तामीलितमानसो मनसिज सख्यो विहीनप्रभा

प्राणेश प्रणयाकुल, पुनरसावास्ता समस्ता कथा ।

एतत्त्वा विनिवेदयामि मम चेदुक्ति हिता मन्यसे

मुग्धे । मा कुरु मानमाननमिदं राकापतिर्जेष्यति ॥’

उपपादयति—

अत्र सर्वाविच्छेदेन प्रसादाभियञ्जकत्वम्, अशाभदेन तु माधुर्यौजोऽभियञ्जकत्वमपि, मनसिजान्तस्य मा कुवदिश्च माधुर्याभिव्यक्तिर्हेतुत्वात्, सख्य-
इत्यादेरौजोममकत्वात् ।

अयमेतद्वदराव्यङ्ग्यो गुण प्रसादस्तु सर्वेषु रसेषु सर्वासु रचनासु साधारणः, केवलमिह वानवायस्य स्रष्टिप्रतीतिविषयत्वमपेक्ष्यत इति भावः ।

यद्यपि मद्रचितानि सर्वाण्येव प्रायशो बाहुल्येनात्र प्रसादव्यञ्जकरचनायामुदाहरणानि सन्तीति विशिष्यनिर्बोधास्मात्पेक्षा नास्ति तथापि विद्वसंनया किञ्चिद्विदित्येते ।

ते मुग्धे । त्वदस्मानमानदुराग्रहेण मनसिज काम का परिणतिरस्य स्यादिति चिन्तापीलीलितसदकुचितमानसवस्य साद्व्योक्ति सख्य सहचर्यश्च विपरीतपक्ष-
साङ्ग्या विहीनप्रभा निस्तेजस्का सन्ति प्रायश्च प्रियतमश्च प्रणयेनाकुन स्वापराधा-
भावत्वनाद् व्यग्रचित्तोऽस्ति (एतदाकलम्य आनादिरम प्रथवा) असी स्वजनदीप्त्य-
स्य रामस्ता कथा पुनरास्ता निष्ठु (न कथयामि किन्तु) वेद यदि मम सदा
हिताचरणपरायणामा उक्ति हिता स्वीपकारिणी मममे, तर्हि अधुना पूणवद्रोदय-
समये मात मा हृत् जम्घा इद निमगनिष्कनडूमपि रोपकसुपितमिदं तवानन
राकापति पूणवद्रो माननाविधानेन मवनडूोऽपि सुपमाप्रकरणेण जेष्यति इत्येतत्
त्वा विनिवेदयामि कथयमातामय ।

जा । मन पद्य अनात्र न रने मा कुरु इत्यादी चारे माधुर्यव्यञ्जकतायाः,

यह (प्रसाद) 'न मन्यते न मन्यते' म 'हना इ' प्रम गुण की अभिव्यक्ति २। मव प्रसाद की रचना है । इ 'हना', 'वद' व 'नम्ये' यानि शब्दोपेव ही ।

३। मरे ' न न्ये न । मना ' न मन्यते गुण के आहार के मय है तथापि नैस-

मुग्धा नानिष्ठ, आर्य को मरना समझा रहा है कि न दुःखद को नैस वरु 'मुग्धा का परिणाम होगा' हिन स्वच्छा मे कामदेव का मन लडुचिन हो रहा है, सन्निवि विपरीत पक्ष को व्यग्रता से कथित हो रहा है और आश्चर्य प्रम मे काग्य अधोर हो रहे है—अब भी गो मन् 'अ तथाय व' मन् 'इतं वगो को छोड़ भी दे, फिर भी यदि मरे कथन सब अच्छा सावती है—नैसा कि वरा-
न मनन' आ रही है—तो तुमने दुःख निवेदन नर देती हूँ कि मुग्धे ' नू अभी धाव कर, अन्यथा इस दुन्दर मुख को पूनो का चौद जीत लेगा । गोप से मुख के फलुपित ॥ जाने के कारण कटहो चन्द्र को भी सुपमा बढ गायगी । हेमो मुग्धा किस काम की ? जिसके चलने जाना रिग भी समझ में न था सरे ।

यह समूह श्लोक प्रसाद गुण को व्यक्त करता है, क्योंकि इसकी रचना भेरी है, किन्तु वास्तव

अत्रोजोम्यञ्जकरचनाया अप्रसक्तिमाशङ्क्य निरस्यति—

नन्दत्र शृङ्गाराश्रयस्य माधुर्यस्यापि व्यक्तये तदनुकूलाऽस्तु नाम रचना, ओजसस्तु कः प्रसङ्गे यदर्थं तदनुकूलवर्णविन्यास इति चेत्, नापि वामानो-पशान्तये कृतानेकमत्नायास्तदीय हितमुपदिशन्त्या, सग्या सक्रोधत्वस्य व्यञ्जनीयतया तथाविन्यासम्य साधल्याम् ।

उत्तरपक्ष समर्थयति—

किं बहुना—रसस्योजस्विनोऽप्यदिर्भावस्य चाविवक्षाग्रामपि, वक्तरि श्रुद्ध-तया प्रसिद्धे वाच्ये वा क्रूरतरे, आग्यायिकादौ प्रबन्धे वा परपवर्गवदनेऽप्येते ।

सक्य इत्यादावधे योजोव्यञ्जकनाया दत्तनादधानो माधुर्याजाव्यञ्जकत्ववदपि, सर्वरसैह-दित्यर्थं—समर्थनात् सवातो प्रसादाभिव्यञ्जकत्वमेवेति गारम् ।

शृङ्गार आश्रयो यत्येति विग्रह । तदनुकूला माधुर्यव्यञ्जिता । न प्रसङ्गो योरादिरसाप्रतीते । तथा विन्यासस्य—ओजोव्यञ्जकवर्णरचनाया । माधुर्यात् साधकत्वात् ।

इह योरादिरभाव्यञ्जनादोजोव्यञ्जनादोजोव्यञ्जकरचनाया निरर्थकत्व न शङ्कनीयम्, व्यञ्जकपक्षीकोषोपहितरौरमप्रतीत्या तद्बहुत्याश्रागुण्यञ्जकत्वच्यनाया । साधकत्वमम स्फुट सत्त्वादिति गारम् ।

यतो योजोव्यञ्जकरचनाया योरादिरमार्गोदिभाव्यञ्जनम्यद एव नैव नियतत्वम्, अत्रो यत्र योरादिरसस्य, अप्रसक्तिमावम्ब च त रिरक्षा, तन्नारि काहितेन प्रख्याते वक्तरि, अतिकर्षणे (दारणतरे वा) वाच्य, . यमामोचितादशायिकादौ प्रबन्धे च 'दशतुवाच्य-प्रबन्धानामोचितेन क्वचित् क्वचित् । रचना-वृत्ति-वर्गानाम-न्यायात्ममपीयते । इति सम्प्रदायकवृत्त-वाच्य-प्रबन्धानुरोधनाभाव्यञ्जकरचना दृश्यते, तस्मादुत्तरपक्ष एव सम्मगित्वात्तम् ।

के अर्थे को सपक्षने में कर्तृ नठिनता नहीं होती । हाँ ' इयं श्लोकः वा रार्ई-बोई जश वमा नी है, जं माधुप और ओज को भी अभिव्यक्त करता है, जैसे—'यिन-जोतिन-जातमी जन्मिज' और 'मा कुन मानमानमिदम्' ये दोनों अर्थ माधुर्य को अभिव्यक्त करते हैं, तथा 'मत्प' 'विरीन प्रम' इत्यादि अर्थ अत्र को दर्शित करता है ।

यदि कहा वह श्लोक को जय कि यहाँ शृङ्गार-रस को प्रधानता है, अथवा रस में रस के माधुर्य गुण को अभिव्यक्त करने के लिये तदनुकूल रचना की है, परन्तु ओज या न यहाँ कोई प्रसङ्ग ही नहीं है, क्योंकि वह (ओज) योरा रस वा गुण है और वहा रस है शृङ्गार, फिर ओजोगुण के अनुकूल रचना क्यों की गई ? इच्छा सम्पादन यह है कि मतिर्यों न जदिता व मन व शान्त बाने के लिये अनेक प्रयत्न किये पर नादिका ने अपने हृदय नहीं छोड़ा, वर नी हमर दिन का ही उपदेश सधिया कर रही थीं, विन्तु नादिका उमका प्रया नहीं कर रहा थी, इस लिये ने मतिर्यों को ओजगुण ही घटना स्वभाविक है, उमो की वसुन्ता को अभिव्यक्त करने के लिये माधुर्या के अनुकूल वर्ण-विन्यास भी अत्र विशेष में रिया गया है वर मपल है ।

अधिक कहने सुनने की कोई आवश्यकता नहीं, यहाँ ओजार्थ रस (वर अदि) और अमर् प्रकृत अत्र (ओज अत्र गुण के आश्रय के रूप में प्रयुक्त है) नहीं भी वर्नीय ही, वहाँ भी यदि वरा

पूर्वोदाहरणे माधुर्यमाहुनादमङ्गीगमुदाहरणमाह—

यथा वा—

भक्तो भगवन् मापते—

‘वाचा निर्मलया मृधामधुरया या नाथ । शिक्षामदा-

स्तां स्वप्नेऽपि न मस्पृशाम्यहमहम्भावावृत्तो निसप ॥

इत्यागशतशालिन पुनरपि स्वीयेषु मा विभ्रत-

स्त्वतो नास्ति दयानिधिर्यदुपते । भक्तो न मत्त पर ॥’

उपपादयति—

अत्र गुणान्तरासमानाविकरण प्रसाद ।

अयोक्तरचनासु सामान्येन विशेषेण च अक्षयोद्वेजकत्वाद्धर्जनीयाना निरूपण-
भवतारयति—

इदानीं तत्तद्गुणव्यञ्जनक्षमाया निर्मिते परिचयाय, सामान्यो विशेषतश्च
दर्जनीय किञ्चिन्निरूप्यते—

वर्णानां स्वानन्तर्यं सङ्घट्ट्येकपदगतत्वे किञ्चिदश्वयम् ।

हे नाथ । यदुपने । निर्मलया स्फुटया निर्दोषया वा, मृधामधुरयाऽमृतमिष्टया,
वाचा, महामादौ, या कर्तव्यशिक्षा त्वमदा ध्यतायी, अहम्भावोऽभिमानस्तेनावृत्त
आच्छन्न, निस्वप, कर्तव्यन्यवनोचितमज्जासून्य, अह स्वप्नेऽपि का कथा जागर-
णस्य, ना शिक्षा, न मस्पृशामि जातुतिष्ठामि न स्मरामि वा, इत्यागशतशालिन-
नेदम्परापराधगतविश्रामिन मा, पुनरपि तथापि, स्वीयेष्वारमीयजनमध्ये, विभ्रतो
गणयन पुष्पतो वा त्वनम्बलकायान्, परोऽन्यो दयानिधि कावणिकतमो भक्तो
मत्सरामान् परो मत्त क्षीबोऽज्ञानोपहतान्तरात्मा वा नास्तीत्यर्थं ।

अत्र माधुर्यगोक्षमा वा न प्रसाद मङ्गीर्ण, किंतु स्वतन्त्र इत्यर्थं ।

निर्मिते रचनाया ।

किञ्चिदित्यनेन क्वचित्तरय साम्यता सूच्यते ।

स्वानन्तर्यं स्वाव्यवहितोत्तरत्व, वर्णानां, किञ्चिदीपन्, अश्वय अक्षयोऽप्रियत्वादनर्हं
तदा भवति, यदि एकपदगतमेकस्मिन्नेव पदे तद्गुणद्वय तिष्ठेत्त्वर्थं ।

श्लेषो हे रूप में समिद्ध हो, अथवा-दर्जनीय वर्ण करुणामय हो, यदा तेजनीय निरन्तर अक्षयादिका
आदि हो, वो कश्चेर वर्णों का विन्यास दृष्ट है ।

अज्ञा, यदि माधुर्य और अक्षेणुण से सद्गुण प्रसाद के इदाहरण में आपत्ति उठती है, तो, जाने
दोऽपि उसको अह सुद्ध प्रसाद गुण का ही उदाहरण लीजिये—हे नाथ । अपने अमृत मृधु मधुर
और निर्मल वाणी के द्वारा, नो शिक्षा दो, उमे अहङ्कार से अन्तः तथा निर्लेज मैं अपने में भी नही
छाना-भरणा करता । हे यदुपने । इस तरह सैकड़ों अर्थों से युक्त होने पर भी सुप्रको आत्मीय जगने
में गिरने वाले अपने अधिक कोई दयालु नहीं है, और मुझ से अधिक कोई मत्त (पागल) नहीं है ।

यहाँ अन्य गुणों से अभिहित अर्थात् केवल-प्रसाद गुण है ।

अब एक गुणों को अभिव्यक्त करने की शक्ति रखने वाली रचना के परिचय करने के लिये,
साधारणतया-अर्थात् जिनकी सब रसों में छे-जना चाहिये और विशेषतया—अर्थात् जिनको किनी-

उदाहरति—

यथा—‘वकुमसुरभि, व्रिततगात्र, पल्लमिवाभाति इत्यादी ।

विशेषमानये—

असकृच्चेदधिकम् ।

उदाहरति—

यथा—‘वितततरस्तहरेष भाति भूमौ’ ।

स्वानन्तयस्य पृथक्पदघटकत्वेऽप्यश्रव्यत्वमाह—

एव भिन्नपदगतत्वेऽपि ।

उदाहरति—

यथा—‘शुभ ! करोषि कथं विजने रुचिम्’ इत्यादी ।

पृथक्पदघटकत्वेऽसकृतं स्वानन्तयस्यातिव्यञ्ज्यत्वमिति ददाति—

असकृच्चिन्नपदगतत्वे ततोऽप्यधिकम् ।

बुद्धुम बुद्धुः । पत्तल मासप । अत्र ककारद्वयस्य तकारद्वयस्य सकारद्वयस्य
सैनपदघटकस्य सहृदव्यवधानं किञ्चिदश्रव्यत्वाद् वञ्चीयमिति भावः ।

एकपदघटकानां वर्णानामसहृदनेकवारं यदि स्वानन्तयं तर्हि तदधिकं नितरामथ
श्रव्यत्वाद्वचनीयमित्याशयः ।

अत्रैकपदघटकस्य तकारस्य द्विं स्वावन्तयव्यञ्ज्यमथव्ययम् । अतो न श्रव्यं
मित्याशयः ।

एवनेकपदघटः ।

अत्र पृथक्पदघटकयोः ककारयोः सकृदानन्तयमीपन्थव्यमिति ज्ञेयम् ।

ततः पूर्वपिभयाऽप्यधिकमथव्ययम् ।

किमो स्वान् एम मे ही छेइना वाहिने, मर मे नही, स्वान्ने वा बुउ निरुचय किमो जना ह एक
वार भा यदि कोई वार् एक ही पद में लगायार दो वार अनुक हा ता वह सुनने म कुछ वा मा
लगना है, अत देमा नहीं बाला वाहिने ।

जैने—वकुमसुरभि (वृत्तं पुष्प के मवानं सुगंधिनं) विनयगात्र (विनयं अत्र ज्ञानं) और
पल्लमिवाभाति (मांसं स्या दीपतां ॥) इत्यादि श्लोको म । तत्परं यह है कि यहाँ अमर ए-व,
व-त और ए-उ है अतएव एक ही वार् में लगायार दो वार अनुक द न म वाग म मथ हां
गये है ।

इति एक ही वार् में अनेक वार एक ही अक्षर लगायार अनुक ही वार् ने भे । अत म अन्त-
दोष का ज्ञान है ।

जैने—‘वितततर’ इत्यादि मूलोक्त वाक्य में यहाँ एक ही वार् में लगायार तीन वार
तकार का प्रयोग हुआ है ।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न पदों में भी एक ही अक्षर च वार-वार मान म भा कुछ प्रतीत
होता है ।

जैने—‘शुभ ! करोषि’ इत्यादि मूलोक्त वाक्य में । यहाँ भिन्न-भिन्न पदों में वकार का एक
वार प्रयोग हुआ ।

भिन्न पदों में भी वार-वार एक अक्षर का प्रयोग और अक्षर अन्त-दीर्घ-गायतृ हां है ।

उदाहरति—

यथा—'पिक ! ककुभो मुखरीकुरु प्रकामम्' ।

इत्य स्वानन्तर्यस्याश्रव्यत्वे प्रतिपाद्य, स्ववर्गानन्तर्यस्य तत् प्रतिपादयति—
एव स्ववर्गानन्तर्यं सकृदेनपदगतत्वे किञ्चिदश्रव्यम् ।

उदाहरति—

यथा—'वितथरते मनोरथ' ।

विशेषमाह—

असकृच्चेदधिकम् ।

उदाहरति—

यथा—'वितथतर वचन तव प्रतीम' ।

भिन्नपदघटकवर्गानां सहित स्ववर्गानन्तर्यस्य किञ्चिदश्रव्यत्वमभिधत्ते—
एव भिन्नपदगतत्वे ।

उदाहरति—

यथा—'अय तस्य वच धृत्वा' इत्यादौ ।

ककुभो 'पिक' । इह भिन्नपदघटककारासकृदान्तपर्यधिकमश्रव्यम् ।

एव स्वानन्तर्यम् ।

वितथो निष्कल ।

अत्र तकार-यकारयोरेकवर्गघटकयोरेकपदगतयोरानन्तर्यं किञ्चिदश्रव्यम् ।

अनङ्ग स्ववर्गान्तर्यं वर्णानां यदि स्यात् तदा नितरा तदश्रव्यमित्यथ ।

प्रतीमो जानीम ।

इह तकार-यकार-सकाराणामेकपदस्यानामसकृदानन्तर्यपर्यधिकमश्रव्यम् ।

एवमेकपदघटकत्वम् ।

अत्र भिन्नपदघटकयोस्वकार-तकारयो मकृदानन्तर्यं किञ्चिदश्रव्यमवमेयम् ।

जैसे—'पिक ! ककुभो 'इत्यादि मूल के पदों में । वहाँ भिन्न-भिन्न पद न कवार का चार बार प्रयोग हुआ है । वाक्य का अर्थ यह है कि 'रे कोकिल ! तू, दिशाओं को देखेच्छ नदनी गूण से भर दे ।'

इसी प्रकार जिस वर्ण का अक्षर पूर्व में आ चुका हो, उसके साथ-साथ सभी वर्णों के भिन्न अक्षर का प्रयोग, यदि एक पद में और एक बार हुआ जाता है, तो वह भी वाक्यों में कुछ अश्रव्य है ।

जैसे—'वितथरते मनोरथ' (तुम्हारा मनोरथ निष्कल है) इस वाक्य में 'त' और 'थ' का । एक पद में एक वर्ण के भिन्न-भिन्न वर्णों की यदि बार-बार आवृत्ति हो तो और अधिक अश्रव्य होगा है ।

जैसे—'वितथतरम्' 'इत्यादि मूल के वाक्य में । वहाँ त-य-व का प्रयोग । वाक्य का अर्थ यह है कि 'तरे वचन को हम जल्दना मिथ्या समझने है' ।

इसी तरह भिन्न-भिन्न पदों में भी एकवर्गीय अक्षरों की एक बार लगातार आवृत्ति भी अश्रव्य होती है ।

जैसे—'अय तस्य ' इत्यादि मूलवाक्य में । वहाँ भिन्न-भिन्न पदों में लगातार एक वर्ण 'य' और 'त' का प्रयोग ।

मिन्नपदपटकत्ववर्ग्यासङ्गदानन्तर्यस्य नितरामध्व्यत्वमाह—
असङ्गद् मिन्नपदगतत्वे तु ततोऽप्यधिकम् ।

उदाहरति—

‘अथ तथा कुरु, येन सुख लभे’ ।

विशेषमाह—

एतच्च वर्गाणां प्रथमद्वितीययोस्तृतीयचतुर्थयोरानन्तर्यम् ।

तदतिरिक्तानामोपदध्व्यत्वामावष्टे—

प्रथमतृतीययो-द्वितीयतृतीयोर्वाऽऽनन्तर्यं तु तथा नात्राव्ययम्, किन्त्वीपत्,
निर्माणमार्गमैकवैद्यम् ।

असङ्गत्तदानन्तर्यस्य नितरामध्व्यत्वमाह—

एतव्यसङ्गच्छेत्, ततोऽधिकत्वात् साधारणैरपि वेद्यम् ।

वर्गोपादाहरति—

यथा—‘स्य’ कलानिधिरेव विजृम्भते ।’ ‘दति वदति द्विवानिषा स ध्वन्यः ।’

तत एकवारोपादापरि ।

इह मिन्नपदपटकनामा धकार-तकार धकाराणामसङ्गदानन्तर्यं नितरामध्व्यम् ।

वर्गाणां प्रथमद्वितीययो, तृतीयचतुर्थयोर्वा वर्णयोर्वत् सकृत्सकृद्वाऽऽनन्तर्यं, तदेव
नितरामध्व्यमित्यर्थं ।

सकृदिति शेष ।

तथा प्रथमद्वितीयानन्तर्यवदधिकम् । ईपत्वस्य विवरणं निर्माणित्यादि ।

यथा प्रथमद्वितीययो सकृदानन्तर्यमध्व्यं यथा प्रथमतृतीययोर्द्वितीयतृतीययोर्वाऽऽ-
ऽनन्तर्यं नाधिकमध्व्यम्, किन्तु निर्माणे काव्यरचनाया ये मार्गिका (निपुणतमा)
तन्मात्रवेद्यमत्यल्पमित्यर्थं । उदाहरणन्तु ‘निगदति खग शुकोऽप्यम्’ इत्यादि शेषम् ।

एतत् प्रथमतृतीययोर्द्वितीययोरानन्तर्यमपि, यद्यसङ्गत् स्थात्, तर्हि तत्राध्व्यत्व-
न्यापिवयात् साधारणनिर्माणमार्गमैकवैद्यैरपि ज्ञेयत्वं भवतीत्यर्थं ।

इह पूर्वत्र भवार-गवार-ककाराणां सर्वद्वितीय-तृतीयप्रथमाणामसङ्गदानन्तर्यान्,
परम ध दवार-तवार-दकाराणां वर्णतृतीय-प्रथम-तृतीयानामसङ्गदानन्तर्यादपिका-
ध्व्यत्वम् ।

मिन्न पदों में भी बार-बार देना होने पर और अधिक अशुभ हो जाता है ।

उदा—इत्यादि ‘स्य तथा’ इत्यादि मूल की शैली में । यहाँ ‘व-न-व’ का प्रयोग ।

यद्यत्क वर्णों के वर्णों का सह-प्रयोग प्रथम के बाद द्वितीय का और तृतीय के बाद चतुर्थ का हो,
तभी अशुभ होता है ।

एकांगीय प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और तृतीय व्यंजनों का सह-प्रयोग तो उनना अशुभ नहीं
होना—बहुत कम होता है, निम्नो रचना—प्रसन्न जन ही समझ सकते हैं ।

यद्य (प्रथम-तृतीय और द्वितीय-तृतीय का सह-प्रयोग) भी यदि बार-बार हो, तब उसे साधारण
शिक्षित भी समझ सकते हैं ।

उदा—‘स्य’ कला ‘...’ इत्यादि और ‘दति वदति द्विवानिषा’ ‘...’ इत्यादि मूलरिचिन्द्र

वगपञ्चमवर्णान्त्वविषये विशेषमाह—
पञ्चमाना मधुरत्वेन स्ववर्णानन्तर्येण तथा ।

उदाहरणि—

यथा—‘तनुत तनुता तनौ ।

विशपममिदधाति—

स्वानन्तर्यं त्वक्षयमेव ।

उदाहरणि—

यथा—‘मम महती मनसि व्यथाऽविरासीत् ।’

प्राप्तुकानामपवादमाह—

एतानि चाश्रयत्वानि गुरुव्यवायेनापाद्यन्ते ।

उदाहरणि—

सञ्जायता कथङ्कार काके केका-कल्म्वन ।’

वगपञ्चमस्य ये पञ्चमा शकारादयो वणा तथा स्ववर्णं सहानन्तर्य मधुरत्वान् तथाश्रय्य न भवतीत्यथ ।

अथ नकारस्य नकारेण सहामहृदानन्तर्य नैवाश्रय्य मधुरत्वान् ।

वगपञ्चमानामपि स्वानन्तर्यमश्रय्यमव न तु मधुरत्वं स्ववगषट्स्वाम्यान्तर्य स्यैव मधुरत्वान् ।

इह नकारस्य नकारेणैवामहृदानन्तर्यमश्रय्यम् ।

गुरुव्यवायेन गुरुव्यवायेवधानम् । अपोदान् वाध्यन् ।

प्राग्मानन्तर्यश्रय्यत्वानि कथितानि तत्र सवत्र यदि गुरुव्यवाया व्यवधानं प्रदेय तदाश्रय्यत्वबोधोपपन्नं बाधं स्यात् ।

इह गुरभिराकारंकाराकारव्यवधानान् क्वारन्त्यासकृन् स्वानन्तर्यमपि नाश्रय्यम् ।

वाक्फो मं । इहाँ प्रथम वक्त्व में र-ग-क हर वर्णों के द्विग-तृतीय और प्रथम अर्णों का अनेक बार मधुरत्वेण द, एत द्वितीय वाक्य में र-ग-व' रूप वग के तृतीय प्रथम और फिर तृतीय का अनेक बार मधुरत्वेण हुआ है ।

पार्श्वों वर्णों के पठन अर्थात् जमडगल मधुर है, अत वजन से किमी भा वर्णों का अदने-अदने वा से किमी भी मित्र अक्षर के साथ प्रयोग अवश्य मला होला

‘ते—‘तनुवे तनुता तनौ’ अर्थात् ‘रार में वृत्तग वा विचार करता है’ इस वाक्य में मधुर का वजन के साथ अनेक बार अव्यवधानेन प्रयोग हुआ है, फिर भी अव्यवधान नहीं हुई ।

‘मममान’ इन पठन वर्णों में भा किमी एक हा व' का साथ ही साथ बार बार प्रयोग तो अवश्य होता ही है ।

तेने—‘मम महती मनसि स्वथाऽविरासीत्’ अर्थात् ‘मेरे सब म नवी अन्ता र-व हुई’ इस वाक्य में मधुर का प्रयोग ।

पूर्व में बिनती अव्यवधाने कही गयी है, ये सब तब दूर हो जाती हैं, अब दो अप्रथम अक्षरों के बीच में गुरु हर रख दिया जाता है ।

तेने—‘सञ्जायता कथङ्कार काके केकाकलम्वन’—अर्थात् ‘होवे में मधुर-व’ सा मधुर

दाह्याय पुनरुदाहरति—

यथा वा—

नायक परामृशति—

‘यथा यथा तामरसायतेक्षणा, मथा सराय नितरा निवेदिता ।

तथा तथा तत्त्वकथेव सर्वतो, विवृष्य मामेकरसं चकार सा ॥’

तदाह—

इदन्तु दीर्घव्यवाये ।

येषा पुनरुदाहरणमपि मयोगपरकत्वेनाभिदेशितं गृह्यते तद्व्यवधानमुदाहरति—

सयोगपरव्यवाये तु—

‘सश जयानुषङ्गाणामङ्गानां सङ्गरस्यल्हम् ।

रङ्गाङ्गणमिवाभाति, तत्तत्तुरगताण्डव ॥’

काकेति प्रथमान्तपाठे सम्बोधनम्, त्वेत्यप्याहारः । यत्तु टीकायां सप्तम्यन्तपाठस्यैव युक्तत्वमभिहितम्, तच्चिन्त्यम्, प्रथमान्तपाठे काकेति सर्गसमुदायावुत्स्या यमकस्य सामान्यं पठ्यन्तुरपाङ्गीकारे तवेयम्याहारानपेक्षणात् ।

सा शतशोऽभुभूता प्रतिष्ठा वा तामरसायतेक्षणा सरोजदीपनयना, मथा, सराय सप्रणय नितरात्मन्त, यथा यथा येन येन प्रकारेण, निवेदिता परिवारिता भावितोप-
शुक्ता वा, तथा तथा तेन तेन प्रकारेण तत्त्वकथा पुराणवृत्तोपदेशमणितिरिच, माम्
सर्वतः सर्वेभ्यो विषयेभ्यः, विवृष्याहृत्य, एकरस स्वमात्रसत्त्वनाशित प्रकारेत्यर्थः ।

अत्र ‘था-ता’ ‘था त’ इत्यशेषु धकारस्य स्वव्यञ्जेण तकारेणानन्तर्गते दीर्घाकार-
गुह्यव्यवधानाद्भाष्यम् । एक ‘मा मे’ इत्यशेषे स्वानन्तर्गते दीर्घव्यवायावभ्रम्यत्वा-
मावो बोध्यः ।

दीपत्वाद् येषां गुरुत्वं तद्व्यवधानस्यमुदाहरणम् ।

यथा मत्तन, ज्येष्ठपुण्ड्रं सम्बन्धो येषां, यद्वा जय एवानुदङ्गं ज्ञानुदङ्गकथन
येषां, तयानूतानाम्, अङ्गानां गङ्गादक्षिणतटस्यदक्षिणोपाणां तद्राजिनां वा,

इत्यत्र जैने हो’ इस वाक्य में यद्यपि उकार का लगातार अनेक बार प्रयोग हुआ है, तथापि वह अशुद्ध नहीं लगता, क्योंकि ऊँच-नीच में अकार आदि गुरु स्वर आ गये हैं ।

अथवा जैने—‘यथा यथा’ इत्यादि पद्य में । इसका अर्थ है—जहाँ जैने जिस से कहता है अथवा इस मोचना है कि—जैने उक्त चमत्कवली नापिकर का प्रेनपूर्वक पदों—ज्यों पू’या श्रेयस विद्या, स्वो-स्यो जमने मुझे, तत्त्वकथा (गुरुप्रदत्त जज्ञे परदेश) की तरह सब अर्थ में ही, एक-रस कर दिया—मार्थ जैने अज्ञानों का सर्वत्र ज्ञान ही केवल दीव्य पदना है, जैसे मुझे भी सब चार्ड वही जगिन्द्र शिवाई देते छाते हैं । यहाँ ‘य-या’ ‘य-य’ इत्यं श्रेयो के अकार का लगातार प्रयोग ने माध अर्थव्यवधानेन प्रयोग, दीर्घ अकार-स्वर के मध्य में रख देने से अशुद्ध नहीं हुआ ।

गुरु स्वर ही प्रकार के होते हैं—दीर्घ और ह्रस्व, जिनके अर्थ में संयुक्त अकार होता है । उनमें से पूर्वोक्त उदाहरणों में दीर्घ होने के जाने गुरु स्वरों के मध्य में आ जाने के कारण अशुद्धता निवृत्त हो गई—यह दिखता यथा है ।

जब ह्रस्व होने पर भी जो स्वर आगे में संयुक्त अकार के रहने से गुरु हो गये हैं, वसके मध्य

उक्तापवादे विशेषमभिधत्ते—

इदन्तु वोच्यम्—गुर्ल्ययोर्व्यवधायकस्तयोरेव वर्णयोरानन्तर्यकृतमश्रव्यत्व-
मपवदति, तेनात्र [थकारस्तकारानन्तर्यकृतदोषापवादेऽपि] तत्कारवकारान्तर्य-
कृतमश्रव्यत्वमनपनोदितमेव ।

अश्रव्यान्तर वदति—

एव आदीना सयोगोऽपि प्रायेणाश्रव्य ।

अङ्गस्यनगुह्यमानम् तत्तत्तुरगताण्डवैभतेषा तेषा तुरगाणामश्रवना ताण्यवैर्भुक्तुमण्डला-
कारसञ्चारणरूपोदतन्वस्य रङ्गाङ्गणमिव नृत्वशालाग्रस्वलयमिव आभ्रानि शोभन
रूपम् ।

अत्र चतुर्ध्वरणे ह्रस्वस्य सयोगपरकत्वप्राप्तगुह्यत्वस्यावर्णस्य व्यवहृते स्वानन्तर्य
तत्कारस्य नाश्रव्यम् ।

अपवदति वाचते । अत्र 'यथा यथा' इत्यादिपद्ये । अनपनोदितमनिरस्त विद्यमान-
मेवेति यावत् ।

यद्योर्वर्णयोर्मध्यपाती गुरु, तयोरेव वर्णयोरानन्तर्यस्याश्रव्यत्व व्यपीर्यति, स तु
तदुत्तरस्यस्यापि, तस्माद्यथेत्यादिपद्ये गुर्वाकारव्यवहितयोस्यातेति पादेति थकारा
कारयोरेवानन्तर्यस्याश्रव्यत्व व्यपीर्यत्तु तथेति तथेति तत्कारवकारयोऽपि, ततस्त
दशोऽश्रव्यताप्रत्येवेत्याद्यम् ।

एवमुक्तस्पतकत् आदीना निग्रभृतीना (यथाया चतुर्णां वा) वर्णाना, सयोगोऽपि
प्रायेण बहुधाऽश्रव्यो भवतीत्यर्थम् । प्रायेणेति स्वकिन् यादिमयोक्तस्यापि श्रव्यत्व
ब्रूयति ।

मैं आ जाने से अश्रव्यता की निश्चिति का उदाहरण देखिये—'सहा अवाप्तु ' इत्यादि । क्वचि अत्र
देश के राजभों का वर्णन करना है कि—जब अिनका मरना आनुपञ्चिक-सामाजिक पक्ष रहा-अर्थात्
जो मरने बिना को हा पाग रह-कभी परामिष्ठ नहीं हुये, उन अत्रदेश-आन्वितों का पुत्र-स्वत इन-
वन (विच्छा) अर्थों के नृत्यों (गति-विशेषों) से साठक-पर के अत्रण म् भूमिण होता है । पण
चतुर्थ अरण में नकार वा नार नार लुगात्तर अयोग हुआ है, फिर भी अश्रव्यता नहीं, क्योंकि सगुण
अश्रव्य के आने में रहने से गुरु बना दुःख आकार बीच में आ गया है ।

यद्यप्येव वात और समझने योग्य यह है कि—जिन दो वर्णों के बीच में गुरु एत आता है,
उन दोनों वर्णों के सामोले (एक के बाद एक की स्थिति) से उत्तर अश्रव्यता की ही वह गुरु दूर
करता है, अर्थात् 'यथा—यथा सामगता ' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में 'वा-त' 'वा-न' इन अर्थ में जो
ध्वार के अन्तर तक आता है, वनका दोष दूर हो जाने पर भी तस्मै के बाद ध्वार के आने से
जो अश्रव्यता उत्पन्न होती है, वह नहीं हो रही-असकी निश्चिति नहीं हुई, क्योंकि उत्तरे मध्य में कोई
गुरु मर नहीं, अपि तु ह्रस्व अक्षर है ।

इसी प्रकार तीन अक्षर तीन से भी अधिक वर्णों का उपयोग भी प्रायः अश्रव्य होता है । वरा
प्राय-एत इन बात को सुनिश्चित करता है कि कहीं कहीं तीन-नार वर्णों का सयोग भी अश्रव्य
नहीं होता ।

उदाहरणमहरति—

'गङ्गे तवोद्गमः परितश्चरन्ति' इत्येवमादय श्रुतिकाटवभेदा अन्येऽप्यनु-
भवानुसारेण बोध्या ।

एतरथस्यान्तरमाचष्टे—

अथ दीर्घानन्तरं मयोगस्य मित्तपदगतस्य मङ्गदप्यश्रवणम्, असकृत् तु
मृतराम् ।

उदाहरति—

'हरिणीप्रेक्षणा यत्र गृहिणी न विलोक्यते ।

मेधित मवंमभ्पिङ्गुति तद्भूवन वनम् ॥'

अमित्रापदवत्त्वं दीर्घानन्तरं मयोगस्य नाशव्यमित्याह—

एकपदगतस्य नु तथा नाशव्यम् ।

श्रुतिकाटव श्रुतिवदत्वम् ।

राष्ट्र इत्यत्र पकार-टकार-रेखाणां अजाणाम्, उच्छ्रय इत्यत्र च पकारमङ्गितानां
नगा चतुर्णां मयोग । अन्येऽपि श्रुतिवदत्वप्रकारा एवमूहनीया इति मारम् ।

पृथक् पदघटकस्य मयोगस्य मङ्गदपि दीर्घादिव्यवहितोत्तरत्वमश्रवणमवधि, अमङ्गन्
पुन गुणरामस्य अवनीत्यर्थम् ।

यत्र भवते, हरिणीप्रेक्षणा श्रुतिविलोकना, गृहिणी, न विलोक्यते, मयमभ्पिङ्गु
मेधितमपि तद्भूवन वनमित्यर्थम् । अत्र हरिणीपदघटकदीर्घकारानन्तरं प्रेक्षणापदावय-
वस्य प्रेतिमयोगस्य मङ्गदित्यश्रवणम् । समासार्थिहेतुपदवत्त्वेऽपि मित्तपदवत् प्रागुक्तयुक्त्या-
क्येयम् । ईदृशान्तवश्यात्क पण्डितरात्रस्यापि पथेषु—ब्रह्मविद्या-प्रपञ्च 'रम्या
भृशुरिति बहुविधा' वा प्रयागान् इत्यादियु बहूना उपलभ्यन्ते । अमङ्गदीर्घाव्यवहितो-
त्तरमयोगोदाहरण मृम्यम् ।

विश्विदप्य नु मवन्त्येवेति तथा वाम्देन मूच्यन्ते ।

वैभे—'गङ्गे तवोद्गमः परितश्चरन्ति'-अवात् 'ने गङ्गे मे उद्गमो जागे और चरती—
पिती है' इस वाक्य में एक उद्गम पदार-टकार-रेखा का और दूसरी उद्गम पदार-टकार रेखा-
पदारों का मयोग है । इसी प्रकार श्रुतिवदत्ता के अन्त अन्य वेदों का भी अनुभवं के अनुसार मया
मया चरितम् ।

पूर्व पर के अन्त में दीर्घ स्वर हो और उसके ऊपर दूसरे वद में मदीय हो, तो उष्का एक बार
भी मयोग प्रभाव्य होता है और यदि अनेक बार हो, तब तो बहुत ही अधिक प्रभाव्य होता है । यहाँ
एक बात यह समझ लेनी चाहिये कि—यह दोष संभ्रान्त में ही होता है, हिन्दी में नहीं, क्योंकि यहाँ
मित्र वद में मयोग के रखने पर भी पूर्व-पर के स्वर का गुण जैसा उच्चारण करने को रीति मान
नहीं है ।

वैभे—'हरिणीप्रेक्षणा यत्र - ' इत्यादि । मदीय-उर्दा मृगी को धरत और दिटल मदीयों
वाली गृहिणी (पर को मारिकिन) इतिगोचर नहीं होती, वह गृह सब सम्बन्धियों में मया पूरा
होने पर भी बन है—मित्रान वन के पञ्चानुवास जैसा ही यहाँ का वास मनहूम होता है । यहाँ पूर्व-
पर 'हरिणी' इन्द्र के आगे पकार और रेखा का मयोग है ।

यदि दीर्घतर और उसके आगे का मयोग एक ही वद में हो, तब वैसी सम्भवता नहीं होती ।

उदाहरति—

यथा—‘जाग्रता विचित’ पन्था, शात्रवाणा वृथोद्यमः ।

सयागान्तरे विशेषमभिधत्ते—

परसवर्णकृतस्य तु सयोगस्य सर्वथा दीर्घाद् भिन्नपदगतत्वाभावात्प्रथमधुर-
त्वाच्चानन्तर्यं न मनागप्यध्वव्यम् ।

उदाहरति—

यथा—‘तान्तमानतस्कान्ति-’ इत्यादिपद्ये ।

इह ‘तान्ते ति नोङ्कामिनि सयोगस्य दीर्घानन्तर्यं भिन्नपदगतत्वाभावात्प्रथमध्व-
मित्याह—

अत्र ‘ता’मित्यत्र ‘नो’मित्यत्र च परसवर्णस्य पूर्वपदभक्तत्वात् न मयोगो-
भिन्नपद’त ।

ननु ‘हलोऽनन्तरा सयाग’ इति सूत्रमाख्ये प्रत्येक हत्वणाना सयोगसंज्ञया अपि
व्यवस्थापनासात्पक्षे तान्ते’त्यादौ सयोगस्य भिन्नपदघटकत्वमस्यैवेति चेत्, उच्यते—
तथा सति नकारस्य पूर्वपदावयवत्वाभावात् तेन अवहिनस्य मयोगस्य न दीर्घाव्यव-
हितपरत्वमिति न दोष इत्याह—

प्रत्येक मयोगसंज्ञति पक्षेऽपि भिन्नपदगत सयोगो न दीर्घाव्यवहितपर ।

वृथा व्यय उद्यमो यत्र, तादृश शात्रवाणा शत्रूणा पन्था, जाग्रता विचिताऽन्विष्ट
इत्यर्थः । इह जाग्रतेत्यकपदघटकत्व दीर्घानन्तर्यं प्रतिसयोगस्य तु तवा नाश्रय्यम् ।

परमवर्णनिष्पन्नो हि सयाग पूर्वपदावयवत्वान् सर्वथा भिन्नपदघटक एरूपदाघटका
न, मधुर सुश्रवश्च भवतीति तस्य दीर्घानन्तर्यं नेपदप्यध्वव्य भवतीत्यर्थः ।

पूर्वमुदाहृत ।

भक्तत्वमवयवत्वम् ।

जैने—‘जाग्रता *’ इत्यादि—अध्व-व्यर्थ सयोग वात् शत्रुणो के मार्ग को जैने सावधानता-
पूर्वक न अ निराला । यहाँ ‘जाग्रता’ इस एक पद में ‘जा’ के आगे ‘ग-र’ का सयोग करना अशक्य
नहीं होता ।

पर-सवर्ण से जने हुए सयोग का दीर्घ स्वर के अनन्तर विद्यमान होना, नाममात्र भी अशक्य नहीं
होगा, क्योंकि वह सयोग सर्वथा भिन्न पद-यत्न नहीं होता और मधुर भी होता है ।

जैने—‘तान्तमाल तह कान्ति-रहितनीम् *’ इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में ।

उक्त श्लोक के ‘तान्त और नीङ्क’ इन दोनों स्थानों में जो परसवर्ण हुआ है, वह पूर्व-पद का अर्थ
है, अतः यह सयोग भिन्न-पद में करने वाला नहीं कहा जा सकता है ।

यदि अब कहें कि ‘आकरा-नाथ’ के कर्त्त पणञ्जि ने प्रत्येक सयोगान्ता-अध्व-भद्रक
व्ययनों में प्रत्येक व्ययन को वृष्त् वृष्त् सयोग कहना चाहिये यह पक्ष भी माना है, तदनुसार तो
उक्त स्थान में ‘न’ और ‘त’ आदि दोनों अलग अलग सयोग कहे जायेंगे, फिर ‘त’ रूप सयोग परान्त
वृत्त्यादात्, इसका उत्तर यह है कि उक्त गीति से ‘न’ रूप सयोग भिन्न पदगत अवश्य हुआ, परन्तु वह
दायं स्वर से अव्ययित अधिम वर्ण हा नहीं हुआ, क्योंकि मय में ‘नकार’ व्यवहित है । माराश यह
दिख हुआ कि मनुदाय को सयोगमंडल मानिये, चाहे प्रत्येक को, यहाँ अप्र-व्यय नहीं हो सकती ।

नन्वेवमपि 'नव-अम्बुद-' इत्यत्र दीर्घकादेशस्य पूर्वापरपदद्वयावयवत्वे निर्णयि, परपदगतस्य म्बु इति सवोगस्य, पूर्वपदावयवदोषकारादानन्तर्ग्वं भिन्नपदघटकत्व चास्त्येवेत्यश्रव्यत्वं दुष्परिहरमिति चेत्, न, भिन्नपदगतत्वमित्यस्वीकपदाघटकत्वपरत्वात्, प्रकृते दीर्घकादेशस्य पूर्वपदस्याप्यवयवत्वेन सवोगघटितपरपदघटकत्वादेकपदाघटकत्वस्यानावाज दोष इत्याह—

'नवाम्बुदे-' इत्यत्र त्वेकादेशस्य पदद्वयभक्ततया दीर्घाद्भिन्नपदगतत्वे मत्स्य-व्यवहितोत्तरत्व यद्यपि परसवर्णकृतसयोगस्य भवति, तथाप्यत्र भिन्नपदगतत्व-मेकपदगतभिन्नत्व विवक्षितमित्यदोष ।

इस्य दोषादनन्तरस्य परसवर्णानिष्पन्नस्य भिन्नपदघटकत्वस्य सयोगस्य महदपि प्रयोगश्रव्यत्वं चेत्, तदा विमुतासकृतप्रयोग इत्याख्याति—

असकृत्तु मुतराम् ।

उदाहरति—

यथा—'एषा प्रिया मे क गता त्रपाकुल' ।

नन्वेवनाश्रव्यत्वेन नाव्यस्य वा क्षनिरिन्त्याकाङ्क्षायाभिसिद्धानि—

इय चाश्रव्यत्वं नाव्यस्य पङ्गुत्वमिव प्रतीयते ।

अश्रव्यान्तरमाचष्टे—

अथ स्वेच्छया सन्ध्यकरण सकृदप्यश्रव्यम् ।

अश्रव्यमिति शेष ।

इह 'प्रति चेति सयोगयोर्भिन्नपदगतयोर्दीर्घाकारानन्तर्गत दोष ।

पङ्गुत्व खड्गता ।

पङ्गुत्व क्षरीरत्वनाश्रव्यत्वं नाव्यस्यापकर्षमित्येव क्षनिरिन्त्याकाङ्क्षा ।

स्वेच्छयत्यनेन प्रकृतिभाव्यवच्छेद । सन्धि सन्धिराये यथादि ।

इमी 'एषा क 'नवाम्बुद' पद मे 'नव' इत्यनेन अन्विप ररर 'अ' और 'न' इत्यनेन आदि म्बु 'अ' के स्थान में 'आ' दीर्घ हुआ है, उस आकारण के नियमानुसार एकादेश क, अतः वह व्याकरण अन्वित्वात् सत्र के बल में दोनों पदों का अवयव माना जाता है, दुर्गटिय मत्र वर पूर्व पद वा अवयव माना जायगा, तत्र 'म्बु' में अे संयोग है, यह दधपि भिन्न-पद-गत है, तत्र मे अयोग है, तथा हमने बीच में कोई व्यवधान भी नहीं है, अतः एव यहाँ अश्रव्यता दोष हो सकता था । तथापि यहाँ 'भिन्न-पद-गत' संयोग उसे ही माना गया है, जो किसी एक पद के अन्तर्गत न हो, अतः कुछ दोष नहीं होता । मारास यह है कि 'नव' और 'अम्बुद' पद यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि समाग हो जाने के कारण 'नवाम्बुद' रूप एक पद हो गया है, अतः अश्रव्यता का अवसर नहीं रहा ।

परोक्ष भिन्न-पद-गत संयोग यदि बार-बार आवे, तब और अधिक बर्बर हो जाता है ।

ने—'एषा प्रिया मे क गता त्रपाकुल'—अर्थात्—'यह मेरी प्रियी लज्जा से व्याकुल होकर आई है' इतना वाक्य है । यहाँ एक प्रकार का संयोग बार-बार आया है—अर्थात् 'अ' और 'न' इन दो स्थानों पर है ।

एक अश्रव्यता के वाक्य को सुझा (संज्ञान) जैसी लगती है—अर्थात् इन अश्रव्यताओं के कारण वाक्य की सरल धारा में रुकावट पैदा हो जाती है, अतः इनका परिहार करना निम्नान भाग्यकर है ।

उदाहरति—

यथा—'रम्याणि इन्दुमुखि । ते विकिञ्चितानि ।'

प्रगृह्यसत्ताया प्रकृतिभावे सृष्ट्वा सन्धिकार्याकरण नाश्रयत्वम्, असकृत्वश्रयस्त्व-
मेवेत्याह—

प्रगृह्यताप्रयुक्तं त्वसृष्टदत्तम् ।

उदाहरति—

'अहो अमी इन्दुमुखीविलासा ।'

एव 'लोप-शास्त्रस्य इति सूत्रेण य-वयोर्लोपस्यासिद्धताप्रयुक्तमसकृद् विश्लेष-
रूप सन्धिकार्यानिनुष्ठानमप्यश्रयमित्युपदिशति—

एवमेव च य-व-लोपप्रयुक्तम् ।

उदाहरेति—

'अपर इषव एते कामिनीना दृगन्ता ।'

स्वकीयकाव्य एतद्विद्यमानं रूप परिहरति—

कथं तर्हि—

सूत्रोपेक्षया सृष्टदपि यदि सन्धिकार्यं न क्रियेत, तदप्यश्रयस्यावित्यर्थः ।

विकिञ्चितानि 'स्मितशुण्डरदित-हसित-वास-शेष-थमादीनाम् । साङ्ख्यं विकि-
किञ्चित्तममीप्सवसङ्गमादिजाडयान् ॥ इत्युत्तमक्षणम् । अनेकारण्यस्य सूत्रप्राप्तोऽपि
सर्वणदीर्घं उपेक्षित इत्यश्रयन्त्या ।

सृष्टन सन्धिकारणस्य दुष्कृते तु विधायकनाश्रयवैषम्यं प्रयज्यते ।

अत्र द्विरवादेनदीर्घरूपसन्धिकार्याकरणं प्रगृह्यसत्ताप्रकृतिभावप्रयुक्तमित्युच्यते ।

अत्रासकृद्यलोपस्यासिद्धत्वाद् गुणवृद्धिरूपसन्धिकार्यानिनुष्ठानादश्रयत्वम् । वस्तुत-
स्त्वेन सन्धिकार्यानिनुष्ठानादोपः । 'इषव इत्यत्र 'इव त' इति पाठान्तरम् ।

अत्र सन्धि के नियमों के सम्बन्ध में सुनिषे । अगली इच्छा से (न कि व्याकरण के नियम से
एक बार भी सन्धि का नहीं करना अवश्य होगा है ।

जैसे—'रम्याणि ' इत्यादि-अर्थात् 'हे चन्द्रवदने ! तुम्हारे वे विकिञ्चितानि (अर्थात् अत्र
मगम आदि इतुओं से उत्पन्न हर्ष के कारण होने वाले ईषव-हास्य, शुष्क-रोदन, कोप, मय और अम
आदि भावों का मिश्रण) बड़े रमणीय हैं' । यहाँ 'रम्याणि' पद का अन्तिम और 'इन्दुमुखि' पद का
आदिम इकार का ऐच्छिक सन्धि-विरह अवश्य है ।

प्रगृह्यसत्ता के कारण जो सन्धि नहीं की जाती वह बार-बार आवे, तथा अवश्य होती है, केवल
एक बार आने से नहीं ।

जैसे—'अहो अमी ' इत्यादि-अर्थात् 'चन्द्रमुखी नदिया के ये विशाल आश्चर्यजनक हैं' ।
यहाँ ओ + अ और ई + इ में ।

इसी तरह 'य' और 'व' के लोप हो जाने के कारण जो सन्धि नहीं की जाती, वह या यदि बार-
बार आवे तो कर्त्तव्य प्रतीत होता है, अथ—'अपर इषव ' ' इत्यादि-अर्थात् 'अग्निनीचों के
ये बड़ा ही दूरे जाते हैं' अ + इ और अ + य में ।

नाटुकारो नृपमाचष्टे—

‘भुजगाहितप्रकृतयो गारुडमन्त्रा इवावनीरमण ! ।

तारा इव, तुरगा इव, सुखलीना मन्त्रिणो भवत ॥’

इति भवदीय काव्यमिति चेद्, अकृत्वैव यत्नेन पाठाञ्च दोष ।

अथव्यान्तराणि सङ्गृह्य वक्ति—

एव रोरुत्वम्य, हलि लोपस्य, ‘यण्-गुणवृद्धि-मवर्णदीर्घं-पूर्वरूपादीना
नैव टर्धेन बाहुल्यमश्रव्यताहेतु’ ।

उपमरुति—

एवमिमे सर्वेऽप्यश्रव्यभेदा काव्यसामान्ये वर्जनीया ।

हृ अवनीरमण ! भूपत ! भवती मन्त्रिणोऽमात्या गरुडदेवताया गारुडा मन्त्रा इव भुजगाना सपाङ्ग निवारकत्वादहिता प्रकृति स्वभावो येषा तादृशा, पक्षे भुजगाना विद्वाना निरोधकत्वादहिता प्रकृतियेषा यदा—भूर्जर्वाहिता अधिष्ठिता प्रकृतय प्रजा यैस्तादृशा सन्ति । तथा तारा उडव इव, तुरगा अश्वा इव च, गोमते वे नमसि लीना पक्ष मुष्टु खनीत ऋविना यथा तादृशा, मन्त्रपक्ष सुप्त लीट्ये लीना निमाना ऋनीति श्लोकार्थं ।

इह दोषमिम जानताऽपि भवता स्वकाव्य मन्त्रा इव ‘तुरगा इव इत्यत्र भिद्यन्तो-पप्रयुक्ता विश्लेष कथ कृत इति दाह्याया—यलोपस्य संकल्पितत्वेन मन्त्रा भिद्यन्त्यादि-यकारपठितपाठे विश्लेषविरहात् दाप इति समाधानम् ।

इत्य धीरो बरो नरो याति इत्यादी रोरुत्वम्य, इमा निशा गता व्यथम इत्यादी हलिदलोपस्य तक्करिप्रपदमवेद्य इत्यादी एण रममामजानोरगा इत्यादी गुणस्य, प्रीटनूर्वापनीत्रोत्रा इत्यादी चुड, ‘अचाट्रीऽपिपुदम इत्यादी सवणदीपस्य, पदत्र पूर्वरूपपररूपप्रभृतीना विकटतया प्रयागप्राच्यमश्रव्यताया कारणमित्यथ । एतान्येव सुताह्ननिमगतादिसोरूपणान्यत्र विरूपितानि ।

इत्यमिमे प्रागुक्ता सर्वेऽपि वर्णस्वानन्तमप्रभृतयोऽश्रव्यतरदोषप्रकारा काव्य सामान्य न तु श्रुतिकटुत्वादिवन् काव्यविभय एव, वर्जनीया नित्यदोषत्वान् परिहरणीया इत्यथ ।

वक्त प्रमत्त पर यदि कोई पूरा—भुजगाहित, इत्यादि काव्य, जिम्हा अर्थात् इ—ह राजन्, भारते मन्त्री गण्ड मन्त्री की तरह’ ‘भुजगाहित—वृद्धि इ—भवत् गारुड मन्त्रो च मन्त्रवर्णं भुजगो-मन्त्री के लिये अहित जान है । वैम सुखो-पूर्व के लिये मन्त्रिणो च स्वप्नर अहित है, अथवा सुखो-बाहुओं से गाहित-अधिष्ठा मन्त्रि-आजन् व है और भारत का तात्पर्य यही है जैसे सुखलिन है—अथवा गण सुखदर र-अकृत्वम एतान् इ, धीर सु-गुणर एतान्-एतान् कर्त्त है और मन्त्री सुख-अन्तर्गत लीन-मन्त्र है—वैम वन्ता ट.रा अथ न-वर्णो तो दलोप-सुख संधिवा अन्तर्गत-भार हुआ है । इत्यादि उक्त यह है कि एव र मा ल र न मन्त्र पदत्र सु दोष नहीं है म, अथवा—‘मन्त्रा पिर’ ‘लघु दित्र’ ‘तुरगा दित्र’ इत्यादि कारणों का अर्थ है ।

इमो प्रकार ‘र’ के ‘उ’ ह्वात् ‘रु’ ‘व’ के लोप, य्, गु, वृद्धि, मन्त्र-दीर्घ और पूर्व-पाठिकों का समा-सम व में अर्थ है इत्यादि भी अश्रव्यता का कारण है ।

अथ रसविशेषानुसारं काव्यविशेषे वर्जनीयान् दोषान् वक्तुमुपक्रमते—

अथ विशेषतो वर्जनीयाः । तत्र मधुररसेषु ये विशेषतो वर्जनीया अनुपद वक्ष्यन्ते त एवौजस्विष्वन्तुक्ला, ये चानुकूलतयोक्ता, ते प्रतिकूला इति सामान्यतो निणयः ।

मधुररसेषु प्रतिकूलतया वर्जनीयान् गण्यन्नादानसकृद्योग एव रूपकान् ब्रवीन्—
मधुररसेषु दोषसमास भ्रूयघटितसयोगपरह्रस्वस्य, विसर्जनीयादशसकार-
जिह्वामूलीयो-पध्मानीयाना टदगं—झया, रेफ—हकारान्यतरघटितमयागम्य,
ह्ला ल-म-न भिन्नाना स्वारमना सयोगस्य, भ्रूयघटितसयागर च असकृत्
प्रयोग नैकट्येन वर्जयेत् ।

इदमिहावगन्म्यम्—श्रुतिकटुत्व कठोरवणघटितत्वेन श्रवणोद्भक्तत्वं मधुररस-
प्रतिकूलभोजस्विरसानुकूलमित्यनित्यदोष काव्यविशेष एव परिहारमहति । अत्रव्यक्त
त्वनेकविद्य कोमलवणघटितत्वेनापि वणस्वानन्तर्यादिमूलक श्रवणानहृत्त्वत्प सवरस-
प्रतिकूलतया नित्यदोषता विभ्रन काव्यसामान्य परिहरणायमित्युभयोर्वैजात्यम् ।

तत्र तेषां मध्ये । मधुररसेषु माधुयगुणाश्रयणं शृणार-करण-ज्ञान्तरसपु । अनुपद
'दीर्घसमास मित्यादिना वक्ष्यन्ते । भोजस्विष्वजागुणाश्रयणं वीर-ब्राम्म-रीद्वरसपु ।
अनुकूला उपकारकत्वादवर्जनीया । अनुकूलतयाक्ता मधुररसमिविति शप न्वगवजिन
स्यादिना पूव कथिता । प्रतिकूला विरोधिन भोजस्विरसोष्वजि शप ।

मधुररसापकारका भोजस्विरसोपकारका, भोजस्विरसापकारकाश्च मधुररसोप
कारका भवन्तीति साधारणतया निणयोप्रतीत्यथ ।

मधुरेषु न एवौजस्विषु रसेषु व्यग्येषु दीर्घसमास मयादिना इतिपाद्याना नैकट्ये

ये ऊपर कह गये अश्रव्यों के सभा भेट सभा काव्यो म वर्जनय ह, यह किना रस का वर्जित हो,
इन अश्रव्यताओं का परिहार करने हा समुचित ह । यहा यह विषय समझना चाहिये कि 'श्रुति
कटुत्व' और यह 'अश्रव्यत्व' दो दोष ह, एक नहीं, क्योंकि श्रुतिकटुत्व का अर्थ ह 'कठोर-वर्ण-
युक्त रचना का काम न उद्देश्य वैदा करना' जो मधुर-रसों का प्रतिकूल और भोजस्वी रसों का
अनुकूल है, अतः अश्रव्य दोष है और काव्य-विशेष (मधुर-रस का काव्य) म हा त्याग है ।
परन्तु पूर्वोक्त अनेकविध अश्रव्यत्व का सामान्य अर्थ है 'उन-उन वर्णों के अनन्तर उन-उन वर्णों
के आगमन आदि अनेक कारणों से रचना का सुनने शीघ्र न होना, यह वह कामल वर्णों से हा
क्यों न बना ह' यह दोष सब रसों का प्रतिकूल हो ह, अतएव नित्य ह और सभी प्रकार के काव्यों
में स्थान्य है ।

अथ विशेषतया वर्जनीयो (अर्थात् जो रस-विशेष के अनुसार काव्य-विशेष में हा स्थान्य है, सब
काव्यों में नहीं) का निश्चय किया जाता है । उनमें से जो दोष मधुर-रसों में विशेष रस में निहित
है और जिनका प्रतिपादन सभी विधा जा-ग, न भोजस्वी रसों में अनुकूल होन है—अर्थात् वहाँ
उनका रहना उचित नहा आवश्यक भी है और जो दोष मधुर-रसों में अनुकूल नहे गये ह, वे
भोजस्वी रसों में प्रतिकूल होते ह, अतः उन दोषों से उन रसों को बचना चाहिये । यह एक माध-
रस नियम है ।

अब मधुर-रसों के प्रतिकूल वस्तुओं को गिनाने है—'मधुर' इत्यादि । उन्हे सामान्य, जिनके
१८ २० ग०

अथ सकृदसकृच्च प्रयोगो ययोर्वर्जनीयो, तावाह—
सवर्णशयद्बध्बदितसयोगस्य, शर्मिभ्रमहाप्राणघटितसयोगस्य सकृदपीति
सक्षेपः ।

अथ वर्जनीयानुदाहरन्नुद्देशक्रमेण प्रथम दीर्घसमासमुदाहरति—
दीर्घसमासा यथा—

अभितारिका वर्णंपति—

'लोलालकावलि बलप्रयनारविन्द—

लीलावर्णशब्दितलोकविलोचनायाः ।

सायाहान प्रणयिनो भवन व्रजन्त्या—

क्षेतो न कस्य हस्ते गतिरङ्गनायाः ॥'

मासहृत्प्रयोग च वर्जयेदित्यभय । पञ्चमवर्णातिरिक्ता वर्णपञ्चकघटका विद्यतिवर्णा
सप्तसञ्ज्ञका, सप्तघटित सयोग परो यस्मात् तादृशस्य ह्रस्वस्य, विसर्जनीयो
विसर्गस्तत्स्यानिवादेशभूतसकारस्य, अच—परस्य कषाभ्या पूर्वस्वार्धविसर्गाकारस्य
त्रिह्राम्बुलीयस्य, अच—परस्य पफाम्या पूर्वस्वार्धविसर्गाकारस्योपघ्मानीयस्य च
विसर्जनीयादेशस्य टवर्गस्य, सय (असप्तकस्य), रेफहृत्कारयोरेव्यनरेण घटितस्य
सयोगस्य, लकार-मकार-नकारातिरिक्ताना ह्ला व्यञ्जनवर्णाना स्वारमना घटितस्य
सयोगस्य च नैकद्वयेनासहृत् प्रयोग दीर्घसमास च वर्जयेदित्यर्थ ।

सवर्ण प्राप्तसवर्णसञ्ज्ञाक यज्जयत्रयाहारघटक वर्णद्वय तेन घटितस्य सयोगस्य,
तथा शर्मिन् शषसातिरिक्तनैर्माप्राणप्रयत्नवद्भ्रुवर्णपञ्चकघटकद्वितीय वतुपंनर्णघटितस्य
सयोगस्य नैकद्वयेन, सहृदपि किमुतासहृत्, प्रयोग मधुररस्सेषु वर्जयेदित्यर्थ ।

सौताया पतिवशाच्चपलाया अलकायतेरपूर्वकुत्तलयेभ्या, वनतीरस्थकृया
चञ्चारीभवतोर्नयनारविन्दयोश्च लीलाया विनासेन, यदा लीलालकावल्या बलनी
सप्तम्यमानयोर्नयनारविन्दयोर्भौलया, वर्णशब्दितानि स्वाधीनीकृतानि लोचाना वर्णक-

भागे षष्ठ प्रत्याहार के वर्ण—अर्धवर्ण के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अक्षरों—ये संयोग
हैं—ऐसे ह्रस्वस्वर, विसर्ग, विगर्ण के स्थान में अक्षर-द्वारा आये हुए मकार, त्रिभ्रुलीय, उपघ्मा-
नीय, टवर्ग के वर्ण, प्रत्येक वर्ण के आष चार अक्षर, रेफ अक्षर हृत्-द्वारा बने हुए मयोग, छ, म
और ङ के अनिश्चित अन्य व्यञ्जनों के वर्णों के साथ संयोग—अर्धवर्ण उनके द्वितीय और वर्णों के प्रथम
से लेकर चतुर्थ वर्ण के वर्णों में से किन्हीं दो वर्णों के संयोग, इन अक्षरों के मकार-मनीय में मार-
कार प्रयोगों को मधुर-रसों में छोड़ना चाहिये ।

मधुर—अर्धवर्ण अक्षरों के स्थान पर प्रत्येक एक में हों—ऐसे वर्णों के प्रथम से चतुर्थ तक के वर्णों
से बने हुए संयोग और ङ-व-म के अनिश्चित किसी महात्वा अक्षर के द्वारा बने हुए संयोग का
एक बार भी प्रयोग मधुर-रसों में नहीं करना चाहिये । यह मन्दिरेण मधुर-रसों में वर्जनीयों का
विरण दिया गया है ।

अब इनमें से प्रत्येक के उदाहरण सुनिये । छन्दा सप्तम ज्ये—'लोलालक ...' इत्यादि ।
अभितारिका का वर्ण है कि—चहृत् वेणु-हृत्कार और चहृत् वेणु-हृत्कारों को छोड़ से दर्शक जन

द्वितीयमुदाहरण—

भयघटितयोगपर-ह्रस्वाना प्राचुर्यं नैकटघेन यथा—

तलनाजन विलोकयन् वीर्यं विभ्रसति—

'हीर-स्फुरददनशुभ्रिमशीभि किञ्च,

सान्द्रामृत वदनमणविलोचनायाः ।

वेधा विधाय पुनरुक्तमिवेन्दुबिम्ब,

दूरीकरोति न कय विदुषा वरेण्य ॥'

उपपादयति—

अत्र भ्रिशब्दपर्यन्त शृङ्गारानुगुणम्, शिष्टान्तु रमणीयम् । उत्तरार्धे ककार-तकाररूपभयद्वयसयोगस्य सत्त्वेऽपि, प्राचुर्याभावात्त दोषः । यदि तु 'दन्ताशुकान्तमरविन्दरमापहारि, सान्द्रामृतम्' इत्यादि क्रियते, तदा सर्वमेव रमणीयम् ।

मुक्तावा विलोचनानि यथा, नादृश्या, प्रणयिनो बल्लभस्य भवन सायाहनि सायसन्ध्यासमय व्रजगत्या, अङ्गनाया चरवर्णिन्या, गति, कस्य चेतो न हरत इत्यर्थः ।

अत्र पूर्वांशे दीघसमासस्य प्रयोग शृङ्गाररमप्रतिकूलत्वाद् वर्जनीय ।

हीरा वक्ष्यमणय द्वय शुक्लतया स्फुरन्त शोभमाना य वदना दन्तास्तेषां शुभ्रिण्या स्वच्छतया शोभि घोभनघोषम, किञ्च सान्द्र धनममृत (मण्डलेश्वरे च) यत्र साधुना, एणविलोचनाया मृगनयनाया, वदन मुख विधाय विरचय्य, विदुषा वरेण्य श्रेयान्, (न त्वनभिज्ञ) वेधा ब्रह्मा, पुनरुक्तमिव पुनरुच्चारितपदमिव निप्रयोजन, चन्द्रबिम्बमिन्दुमण्डल, च य न दूरीकरोति कुतो न दूरे निक्षिपतीति न जाने, यद्वा नृकाववा दूरीनरोत्यवेत्यर्थः ।

इह क्रमो प-द मरुपेकमात्रसमवृत्ततात् स्फु-द-भि- रूपमयोगप्रयात् पूर्व-वतिना मकारयोक्तकारम्य च ह्रस्वाना प्राचुर्यं शृङ्गाररमस्यानुपकारकम् । सिद्धं तद्विनिरक्त तु दोषराहित्यात् मुन्दरम । उत्तरार्धे कौतिककारतकारयो सन्नपि

के नयनों की वशीभूत कर देने वाले, हाथ मलय में अपने प्रेमी के घर जाती हुई नायिका की बात किमकर चित्त नहीं चुरानी ? इस श्लोक में शृङ्गार-रम ने प्रतिकूल ठन्वा समास पूर्व के दो चरणों में किया गया है ।

जिनके आगे इय् प्रत्याहार के वा ने मंजोय हों—पेते हम् एतौ का समोर-ममीय में अधिक प्रयोग, जैसे—'हीर-स्फुरददन' * इत्यादि । नायिक के मुख को देखना हुआ कोई अपने मन में सोचना है कि—हीरो ने समान चक्रवर्त हुए दोनों की स्वच्छता ने शोभित और मयन अमृत (अक्षर-विस्मय) से युक्त मृग-जदनी नदिका के मुख को बनाकर विदुषों में श्रेष्ठ विभाज्य पुनरुक्त के समान (निरर्थक) चन्द्र-बिम्ब को क्यों नहीं हरा देना—अब भी गगन में उसे क्यों उगा रखा है !

पूर्वांक पद्य में 'भि' शब्द पर्यन्त को रचना शृङ्गार-रम के प्रतिरूठ है, क्योंकि यहाँ क्रम से

तृतीयमनाहरति—

विमलप्राचुर्यं यथा—

नायनी विभावयति—

सानुरागास्सानुकम्पाप्रतुषाशीलशोतला ।

हेर्गति हृदय हत । कान्तावास्स्वान्तवृत्तय ॥

उपपादयति—

अत्र शकारद्वयसयोगान्त पूर्वघि माधुप्रतिननुगुणम् ।

विमलतायादेजिह्वापूलाय प्राच्यमनाहरति—

जिह्वामूलीयप्रातुप यथा—

प्राच्यविरहात् प्रथमं यदि न प्रथमचरणं कान्तानामशक्तिं विरलं कान्तमनोहरम
अरविदस्य पञ्चम्य रमाया विराज्यन्ति एवञ्च दलित्य विपठान्तर क्रियते तर्हि
तादृशसयोगपरह्रस्वामावान मवभेद मुत्तरमिषय

इहोदाहरणानुरोधाद् विमलपत् नस्यानिकयो मन्तरन्नु ३ नित्यप्रकाराऽप्य
बोधम् ।

अत्र राग सहिता सानुरागा नुकम्पाया रूपया ममेना सानुकम्प चतुरा
परकीयारण्यताला पीनम कितपासर्गात्तदवृत्तन गानया कायाशील्यपरिना
सन्तापहारका वा वातत्रा स्वातवृत्तयो ग्नाख्यापारा हन्त इत । म हृदय
हरन्ति वाीकुवलीयय ।

इह विसगस्यानिकसकारस्य तस्यानिककारस्य गकारद्वयसयोगाम्य च
शी ति पयल पूर्वार्धे प्राच्यमात्रविरमानुपलत्वा मधुररसप्रतिपूलमिति वजनीयम
वियन्त्यागविक्रमे पूर्वाघ प्रयुक्त पूर्वार्धे दोषवय माधुयाब्धश्च तदारक्ष्यरसप
सादाधिक ।

एतन्महत्त्वं सन्ने दुये एतन्मि हत मयोगे दुर्गे न स्थित अकारद्वय तथा एवम एव
स्वर्गे की अथिना मनी-मनीय म है । अर्दि ३ ग म्य एष वा मुत्तर ६—गार के अनु
है । एपने वर्णार्धे के पुत्रक व म केराय अ कय का म्पय ह न पि एने मनी रा
अथिना म्हा रहने के कारण एकेय वद मया ह न ए के एके मनी एष के एयन एग का
'दन्ताशुक्रान्त' एकाये शून्यक रूप न एकेय का गिग ३३ ए म नू ए म्पिनेय
ए म् ए ग म्पय ह ए वने ए का अ ए ए म्पिनेय ए म्पिनेय ए म्पिनेय ए म्पिनेय
और कल का एकेय का एकेय (३)

विमल—अवृत्तिमि व म्पिनेय ए म्पिनेय ए म्पिनेय ए म्पिनेय ए म्पिनेय

मन्तरन्नु ह वि—मुत्तरयो व म्पिनेय ए म्पिनेय ए म्पिनेय ए म्पिनेय

६ म्पिनेय ए म्पिनेय ए म्पिनेय ए म्पिनेय ए म्पिनेय

पूर्वघट न म्पिनेय के म्पिनेय ए म्पिनेय ए म्पिनेय ए म्पिनेय

मिहोदाहरण के अर्थवय ३

विपोगिनी मन्त्री ब्रूते—

'कलितकुलिशघाता ॥ केऽपि खेलन्ति वाता ॥
 कुशल्मिह कथं वा जायता जीविते मे ।
 अयमपि वत ! गुह्यत्रालि ! माकन्दमौली,
 चुनुक्यति मदीया चेतना चञ्चरीक ॥'

२५९, इयति—

अत्र त्रितीयजिह्वात्-तृतीयप्रन्तमननुगुण माधुर्यस्य । यदि च—'कथय कथ-
 मिनाशा जायता जीविते मे, मलयभुजगवान्ता वान्ति वाता' कृतान्तः ।' इति
 निधीयते, तदा नाप दोष ।

त्रिनगस्यानिकोपस्थानोयप्राचुर्यमुदाहरति—

उपस्थानीयप्राचुर्यं यथा—

निर्विषय परामृशति—

'जलका ॥ फणिशावतुन्यशीला-नयनान्ता ॥ परिपूर्तिहेतुपु लीला ।
 चपलापमिना खलु स्वप्न या, तत ! लोके गुह्यमाधन कथं सा ॥'

ह आति ! कथय, यत क्वचित् कुत्रिसाम्य वक्ष्यम्य घात इव घातो यैस्ते सद्यः—
 प्राणहारका, केऽपि विजयेण वर्णयितुमशक्या, वाता मलयानिला, खेलन्ति सतानि
 श्रंखल इव वदन्ति । अपि च—अयं पुरम्य, माकन्दमौली रमालपिच्छरे, गुह्यन्
 निम्बनन, चञ्चरीको मधुकर मदीया चेतना सज्ञा वत ! चुनुक्यति चुनुक्यस्य-
 नितमिव निशाचीकराति तस्मान्मम मम जीविते जीवनं कुशल कल्याण कथमिह वा
 जायताम न कथमपिण्यथ ।

इह प्रथमचरण जिह्वामात्राव्यय द्विम्पात्तस्य प्राचुर्यं गृणारस्य प्रतिभूतत्वाद्भ्रंजी-
 यम् । मन्दाचलम्वर्षमुपनिष्कृत्या विरहिणामन्ताका वाता वान्तीरधर्मकपाठान्तरकरणे
 तु जिह्वामौलीमाभावाद्दोषामाव । वान्तिपदस्य नाक्षयिकत्वाच्च नाशलीलता ।

यस्या विरया अलकाश्चक्रकुन्तना फणिशावतुन्यशीला सर्वदागुमदुपकुटिता

विरहिणी लयिका मन्त्री मन्त्री है—वक्र के ममान अज्ञान करने बाव न जाने कौन से वातु
 (मन्दाचल) पर २६ है—एक ओर व नाथ सख्त से व २६ है, विर, मन्त्री ! मेरे जीवन में
 कल्याण कैसे उत्पन्न है? स्वर्गा और हे मन्त्री ! मन्त्रे कभी मन्त्र को वत न दए है कि अम के शिखरों
 पर गुजरा हुआ पर अमर न मेरी चम्पा (चम्प-शक्ति) को चुनुक्यति न रहा है—जन्त करना
 जा रहा है

उक्त श्लोक में त्रिनाय त्रिदमूनीय परान का भाग मादुर्य के अनुकूल नग है । यदि यहाँ पर
 'कथय कथमिवाशा' 'शुभ्यति मूठक के रूप में प्रथम और द्वितीय चरणों को परिचित
 कर दिया जय नव दह दण नहा रहना । परिवर्तित षष्ठक अर्थ (२ पूर्व षष्ठ में नहीं था) यह
 होगा कि 'मन्त्र-चक्र पर रहने वाले मन्त्री में वान (उनके मुख न निकलें हुए) विरहिणी के
 शिखर वृत्त रूप वातु बहन है' ।

उपस्थानीयों का अधिकता, जैसे —

कोई दुःखी बन अपने मन में मोनना है कि—शिशुके केच सर्पके बन्धों के हुन्य रतन

उत्तरादि—

अत्र द्वाद्वादशानामिदं न शान्तिपुस्तकम् ।

द्वयं च मया व शान्तिपुस्तकम्—

द्वयं च मया प्राक्तनं यथा—

नक्तरो नामको नामिदं पुस्तकम्—

‘दशने तत्र यत्र नाशुती =, हृदि प्रदीप्यता व कोनसेज्जुम् ।

अधुना हरिणासि । वा कथं दा, कृता तत्र कठोरता विनामीम् ॥’

अत्र वदन्तस्त्वं नमो देवे परित्यजि—

‘अधुना सति । तत्र हा कथ वा, गतिगन्धर्व विनेकते पुनानाम् ।’ इति
स्वपुस्तकम् ।

स्वनावा सति, एका यस्या नयनाया कठोरता परित्यजिते पुनानामिदं पुस्तकम्—
दीना इव सीता देवा गङ्गास्योत्पत्त्या इति विदुः वा मया तनु वरणा
विदुःपदयोनिप्राप्तिसम्बन्धि, वा इति, तत्रे नय हा । इत्यत्र नोक्तम्
हास्य सम्बन्धि वा इति—

अत्र इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—
इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—

विदुःपदयोनिप्राप्तिसम्बन्धि, वा इति, तत्रे नय हा । इत्यत्र नोक्तम्
हास्य सम्बन्धि वा इति—

हास्य सम्बन्धि वा इति—

हृदिणासि । अत्र तत्र कोनसे देवने नाशुतुर्वा नाशुती कोनसे हृदि प्रदी
प्यता व नाशुती इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—

अत्रोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—
इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—

इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—

इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—
इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—

इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—
इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—

इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—

इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—
इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—

इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—, इति केनोपानात्पुस्तकम्—

रेफघटितमयोगस्य प्राचुर्यमुदाहरति—
रेफघटितमयोग यासकृत् प्रयोगो यथा—

अनुपमम्भन्वामन्याऽप्रिघत्ते—

‘तुलामनालोक्ष्य निजामखर्वं, गौराङ्गि ! गर्वं न कदापि कुर्या ।
लसन्ति नानाफलमारवत्यो-रुत्ता कियत्यो गहनान्तरेषु ॥’

पाठपरिवर्तनेन दोष परिहरति—

यदि तु ‘तुलामनालोक्ष्य महीतलेऽस्मिन्’ इति निर्भीयते, तदा साधु ।

लकार-मकार नकारभिः नाना व्यञ्जनवर्णानां स्वैर्नैव सयोगस्य प्राचुर्यमुदाहरति—
ह्ला ल-म-न-भित्ताना स्वात्मना सयोगस्यासकृत् प्रयोगो यथा—

खण्डिता नायकमुपासमने—

‘विगणय्य मे निकार्य, तामभुयातोऽसि, नैव तन्न्याय्यम् ।’

तत्स्थाने कटुत्वादीनामुपलम्भादित्यर्थाकोत्तरार्धपाठपरिवर्तने तु टवर्गाघनावाहो-
षामाव ।

हे गौराङ्गि ! प्रतिवेद्युवतीषु निजा तुला स्वकीयोगमाम्, अनालोक्ष्य, अखर्वं
विभुल गर्वंकमुपमत्वाभिमान, कदापि न कुर्या यतो गहनान्तरेषु काननप्रवेशेषु,
नानाफलानां मारोऽस्त्यास्विति नानाफलमारवत्य कियत्यो भूपस्य, सता
(सादृश्य) लसन्ति शोभन्त इत्यर्थः ।

अत्र रेफघटितसयोगप्राचुर्यं शृंगाररसप्रतिकूलम् ।

पाठपरिवृत्तावेकस्य रेफसयोगस्याभावात्तत्र दोष इत्याक्षय । किन्तु तथापि रेफ-
घटितसयोगइयस्य तादवस्थ्यात् कथं न प्राचुर्यमिति विभावनीयम् । इह हकारघटित-
सयोगप्राचुर्योदाहरणमुत्प्रेरितस्तु—‘चिरमिलितावुपगुह्यं प्रगणयिजनौ गुह्यमक्रम वदत’
इत्यनेन कथञ्चन विधेया ।

हे शठ ! मे मम निकार्य भवन, विगणय्य विहाय, तामन्या प्रियसीम्, यत त्वम्

बदल दिया था, तब मधुरतम विप्रलम्भ शृंगार के अनुकूल ही जायगा । बदले हुए पाठ के अनुसार
अर्थ यह होगा कि ‘हे सखि ! अब जहाँ दीनों में गुणों की गति दूसरी ही क्यों इतिगोचर होती है ।’
रेफों के द्वारा बने हुये संयोग का बार-बार प्रयोग जैसे :-

अपने को अनुपम मानने वाली किसी नायिका से कोई दूसरी नायिका कहती है कि—‘हे गौरी
अज्ञो बली ! अपनी हुटना न देख कर तुझे अत्यधिक गर्व नहीं करना चाहिये । वनों के मध्य में
विविध पत्तों के मार ॥ सुकी हुई किन्तनी लतायें शोभित हो रही हैं । यद्य रेफों के द्वारा बने हुये
सयोगों का बार-बार प्रयोग हुआ है, जो शृंगार-रस के अधिकृत है ।

इस पद्य के प्रथम चरण की वदत में ‘तुलामनालोक्ष्य’ इत्यादि सूत्रोक्त रीति से पाठ-
परिवर्तन कर दिया था, उस ठीक हो जाय । परिवर्तित अंश का अर्थ यह होगा, कि—‘इस पृथ्वी
पर समानता न देख कर

ठ, म और न से ल व्यञ्जनों का जहाँ व्यञ्जनों के साथ संयोग का बार-बार प्रयोग, जैसे—
खण्डिता नायिका खण्डित से कहती है कि—‘मेरे घर को अवदेहना करके (त्) वस (सपत्नी)

नकारादिवर्णत्रयव्यवच्छेदकारण भवति—

ल-म-नाना त्वात्मना संयोगस्तु न तथा पाह्यमावहति ।

उदाहरति—

यथा—

नमिना नापिनामालि पृच्छति—

इयमुल्लसिता मुखस्य शोभा, परिफुल्ल नयनाम्बुजद्वयं ते ।

जलदालिभय जगद् वितम्बन्, कस्त्रि क्षपि किमालि । नीलमेघ ॥'

ममद्वयसंयोगमुदाहरति—

भ्रूधटितसंयोगस्य यथा—

नायको मानिनी ब्रवीति—

'आसाम् सलिलभरे, सवितारमुपास्य सादर तपसा ।

अधुनाऽञ्जेन मनाक् तव मानिनि । तुलना मुखस्याप्ता ॥'

अनुपातोऽनुगतोऽसि तन्नेव म्याम्बमुषितमस्तीत्यर्थं । अत्र अकारस्यात्कृण स्वसंयोगो विप्रलम्भप्रतिकूलत्वाद्दोषः ।

आवहति जनयति । ल-म-नमिनाना हना स्वात्मना 'संयोगो यथाऽभ्यस्यता जनयति तथा ल-म-नाना नेति तद्भिन्नत्व हला निवेशितमिति भावः ।

हे आलि ! इयं ते मुखस्य शोभा थी, उल्लसिता नितराम्बुजुम्भिता यदस्ति, यच्च ते नयनाम्बुजद्वयं परिफुल्लं परितो विकसितमस्ति, तथा, जलदालिभयं वपुः-प्रमया नीरदशैगीमयं जगद्दिवं वितम्बन् मीलमेघस्तत्त्वेनाध्यवसितं—तुलनाम्, किं न्वापि कसितो विसोक्तितां मिलितां वाऽभूत् ? । अन्यथेदुद्योस्तानासासम्भवदित्यर्थः ।

अत्र लकारद्वयसंयोगस्य द्वि प्रयोगेऽपि नाध्यव्यत्यन्तम् । एव अकारद्वय-नकारद्वय-संयोगेऽपि हेतवः । तदुदाहरणानु मृग्यमेव ।

मधुरविप्रलम्भप्रतिकूलनयाऽध्यव्यत्यमिति शेषः ।

अपि मानिनि । आसाम् सायम-ध्यानयेन सलिलभरे, वारिपूरे, सवितार सूर्यं सादरमुपास्य, पूजयित्वा, तपसा तद्भूतपस्यया, अञ्जेन कर्मणेन, मधुना तद्द्वितीय-त्रिने मानावसरे एव मुखस्य तुलना समाप्ता, मनामीयन्, आसाम् सूर्येत्यर्थः ।

के पीठे लगा फिरता, वह न्यायोक्ति नहीं है । यहाँ अकार का कार-वार संयोग, विप्रलम्भ अत्रार ने प्रतिष्ठित होने से दोष है ।

ल म और न का जो अने भाष के साथ संयोग होता है, वह हलना कठोर नहीं होता ।

ब्रजे—सभी छविनापीषी से कह रही है कि—हे सतिग ! हेरे मुख भी पर शोभा इच्छात मुक्त रा रही है और नः दोनों नेत्र-कमल पूरे शिष्ट रहे हैं, व कपो ! कण्ठ, कर्ण, सम्पूर्ण मंगार को रूप मण्टा मय बनाने वाला नील मेघ (मगधान् कृष्ण) गिष्ठ गया था ! यहाँ अकार-लकार का संयोग दो बार आया है ' फिर भी अध्यव्यता श्लोक नहीं होना ।

॥ वृत्त्याहारान्तरां न को का कार-वार संयोग, जेते —

दूती अथवा सखी कि वा नायक मानिनी नायिका से कहते हैं, कि—हे मानिनी ! सख्या काट

उपपादयति—

अत्र द्वितीयार्थमरम्यम् ।

तत्परिहाराय पाठ परिवर्तयति—

‘सरसिजकुलेन सम्प्रति, भामिनि । ते मुखतुलाऽवियता ।’ इति तु साधु ।

अप्यद्वयसयोगस्तत्त्वसङ्घट्टेण सवर्णअप्यद्वयमयोगस्तु सङ्घट्टेण दुष्ट इत्युदाहरणात्—

सवर्णअप्यद्वयघटितसयोगस्य सकृत्प्रयोगस्य यथा—

नायको भानिनीमनुनयन् ब्रूते—

‘अयि ! मन्दस्मिन्मधुर वदन सन्वद्भि । यदि मनाक्कुरपे ।

अधुनैव कल्प्य शमित, राकारमणस्य हन्त । सात्राज्यम् ॥

सवर्णअप्यद्वयघटितसयोगन्येषस्य निषेधान्तरैशतार्थवन्नागद्वय निरस्यति—

मन्वत्र ककारद्वयसयोगस्य ह-घटितस्वान्मस्त्वं वनैव निषेधान्, क ख सयोगस्य महाप्राणस्य गनिषेधविषयत्वान् नृतीयमवागस्य चामम्भवात् सव

अप्यद्वयसयोगाभावादिनि तु साधु मध्यक । इह पुरीयचरणाद्यस्य भामिनीति मन्वोद्यतपदस्याविद्यमानवद्भावात् तवेत्यस्य न जादेशो दुर्लभ इति तवेत्येव तन्म्याने पठनीयम्, अन्यथा च्युतसम्भारता म्यात् ।

अयि तन्वद्भि कोमलावयव । त्व यदि वदन मन्दस्मिन्नाव्यक्तहृमिनेन मधुर मनीहर, मनागीपदपि कुरपे तर्हि अधुनैव न तु कालान्तर राकारमणस्य पूर्णिमा चन्द्रस्य, सात्राज्य सुपमैकाधिपत्य हन्त । (हर्ष) शमित निवर्तित कलय जातीहीत्यर्थ ।

इह ‘मनाक्कुरपे’ इत्यत्र सवर्णककारद्वयघटितसयोगस्य सकृदपि मत्वाद्योप ।

तक गहरे अन् में रहकर आदर-पर्वक मूर्ख भगवान् का उपमाना करने के बाद उन्नी तदन्मा के मठ में अब कमल ने तेरे मुँह की किञ्चिन्मात्र शोभा प्राप्त की है ।

यहाँ उत्तरार्थ रमणीय नहा है, क्योंकि बनार-लकार और पकार-लकार-रूप शप् का मयोग दो बार आ गया है, जो दोष है

यदि ‘सरसिजकुलेन *’ इत्यादि मूलोक्त-रूप में उत्तरार्थ की परिचयित कर देना जाय, तब दोष के हट जाने से पद्य रमणीय हो जाय । परिचयित पाठ का यह अर्थ होगा कि—‘ह भानिनि । अब जाकर कमल-कुल में तेरे मुँह की तुल्यता प्राप्त की है । यहाँ परिचयित पाठ में ‘न’ का प्रयोग ठीक नहा है, क्योंकि वसने पूर्व ‘भानिनि’ यह मन्वोद्यत पद है, जिसको व्यकरण के अनुसार अधिक-यमानवद्भाव ही जायागा, फिर पद में पर नहा होने के कारण ‘न’ आदेश होगा ही नहीं, अतः ‘नव’ ऐसा ही पाठ मानना चाहिये, अन्यथा च्युतसम्भारता नामक अम्बुद्वार दोष हो जायगा ।

मवर्ण शप् से बने हुये मयोग का एक बार प्रयोग जैसे —

मवर्ण भानिनी मायिका से अनुनयभरी बात कहना है कि—‘इ ऊरुगि । यदि तू मरने मुझ को, धोना भी मन्द-हाम से मनोहर बना ल, तब हर्ष की बात होगी कि रजनीपति चन्द्रमा का माताज्य (शोभा के विषय में एकाधिल्य) अभी-अभी शान्त हो जायगा, ऐसा तू निश्चिन्त ममज्ञ । यहाँ ‘मनाक्कुरपे’ इस अर्थ में दो मवर्ण शप् रूप ककार का संयोग एक बार भी प्रयुक्त होने से अशक्य हो गया है ।

र्णभ्रूयद्भयसयोगनिषेधो निरवकाश इति चेत्, न सकृत्प्रयोगविषयत्वेनास्य पार्थक्यात् । अन्यथा 'मनावकुक्ष्ये' इति निर्दोष स्यात् ।

महाप्राणप्रपल्लवर्णघटितमयोगमुदाहरति—

महाप्राणघटितसयोगो यथा—

'अधि मृगमद्बिन्दुं चेद्भाले बाले समातनुषे । उत्तरार्धं तु प्राचीनमेव ।

इह ककारद्वय, क सप्तयोगश्चेति द्वावेव सवर्णभ्रूयद्भयसयोग सम्भवति, न तु तृतीय कश्चिन्, तथा च-चकारद्वयसयोगस्य ह्रस्वव्याप्तमयोगनिषेधेनेव, क-खसयोगस्य तु महाप्राणघटितसयोगनिषेधेनेव निषिद्धत्वात् सवर्णभ्रूयद्भयसयोगनिषेधो यदत्र विशिष्य विधीयते तन्निरपेक्षमेवति पूर्वपक्षे—

ह्रस्वव्याप्तमयोग-महाप्राणघटितसयोगयोरसकृत्प्रयोग एव दुष्टतया निषेध, सवर्ण-भ्रूयद्भयसयोगस्य तु सकृत् प्रयोगेऽपि दुष्टतया निषेध पृथग्वक्षित एव, न तु ततो गतार्थ । पृथगेन निषेधात्प्राप्तत्वात् नु 'मनावकुक्ष्ये' इत्यन्तगृह्यन् मयोगमादाद् बोधाभावात् प्रसज्येतेत्युक्तम् । क-खसयोगस्तु 'सम्यक् क्षेपसि 'मनाक् पिपयते' इत्यादावहनीय ।

अत्र महाप्राणप्रपल्लवता भ्रकारण घटित सयोगो दुष्ट । भाषापूर्तावपि, चेच्छ-भ्रदस्य प्राडिनवेशन सम्भवन्ती छन्द-कलशुद्धि प्रायो महाप्राणसयोगदर्शनायनेवो-पेक्षिता । अधुनेव महाप्राणसयोगनिषेधस्यासकृत् प्रयोगविषयता व्यवस्थाप्य, तत्सकृत्प्रयोगे पुनरेतदुदाहरणप्रदर्शनं बध सङ्गच्छत इति विन्यम् । इह पद्ये चरणद्वय-मुपात्त प्राचीनस्य 'अधि मन्दस्मितमधुर मित्यादिपद्यस्य पूर्वार्धं विधाय श्लोकपूर्ति-विधेया ।

सर्वं शब्द का संयोग दो हा प्रकार का हो सकता है, एक प्रकार-बकार का, दूसरा प्रकार-सकार का, तृतीय प्रकार का सवर्ण शब्द का संयोग सम्भव ही नहीं है, अतः यह शक्य ही सकती है कि सवर्ण ही शब्दों का संयोग जो पद्यके निषिद्ध माना गया है, वह व्यर्थ है—उसका कहीं भवना ही नहीं रह जाय, क्योंकि सकारद्वय संयोग (जो एक पद्य में आया है) का निषेध तो—व्यक्तियों का या अपने आपके साथ संयोग निषिद्ध माना गया है—उन्हीं से ही जना है और जहाँ कन्वय सवाग रहेगा, वहाँ महाप्राणों के संयोग का जो निषेध किया गया है, उन्हीं से यह गतार्थ ही जायगा । इसका उत्तर यह है कि व्यक्तियों का अपने आपके साथ संयोग भवना महाप्राणों का संयोग बार-बार प्रयुक्त होने पर ही दुष्ट होता है, अतः व्यक्त संयोग ही जहाँ स्थिति में किया गया है और सवर्ण शब्द का संयोग एक बार भी प्रयुक्त होने पर दुष्ट है, अतः संज्ञा निषेध पूर्व निषेध से गतार्थ नहीं हो सकता—अर्थात् ये तीन दोष भिन्न-भिन्न हैं, फिर अलग-अलग इनका निषेध करना भी आवश्यक ही है । यदि सवर्ण शब्द का संयोग भी बार-बार आने पर ही दुष्ट माना जाय, तब 'मनाक् कुक्ष्ये' यह निर्दोष हो ही जायगा, क्योंकि बार-बार यहाँ एक संयोग नहीं है ।

महाप्राण प्रपल्ल वार्ते वार्ते से बने हुये संयोग का प्रयोग जेते—पूर्वोक्त 'अधि मन्दस्मित' इत्यादि श्लोक के पूर्वार्ध को 'अधि मृगमद्बिन्दुम्' इस मूलश्लोक के रूप में परिवर्तित कर देने पर । परा महाप्राण भ्रकार के साथ दकार का संयोग दापयुक्त है । अर्थात् परिवर्तित शब्द का यह है कि 'हे बाले' यदि छटार पर बन्दूरी बिन्दो लगा लीगी, तब ' ' । उत्तरार्ध को बारी रहेगा, त्रिपदा अर्थ परसे ठिकता जा नुप्रा है । यहाँ एक बात विचारने की यह है कि जब मन्दस्मित ने पूर्व में यह सिद्धान्त बर दिया है कि महाप्राण वार्ते से बने हुये संयोग बार बार प्रयुक्त होने पर ही दुष्ट है, तब

अथ मधुररसेषु व्यञ्जनीयेषु वर्जनीयान्तराणि प्रतिपादयन्—

एव त्वप्रत्यय, यदन्तानि, यदनुगन्तान्यन्तानि च शाब्दिकप्रियाप्यपि मधुररसे न प्रयुञ्जीत ।

अथ ध्वनिकारानुभवानि मधुररसेषु वर्जनीयान्ताह—

एव व्यञ्ज्यचर्चणातिरिक्तयाजनाविश्रपापेक्षा-नत्पानतार्जिक-नम कारिणा-
ऽनुप्रा-प्रवन्धान् यमकादीश्च सम्भवतोऽपि क्वचित् निवध्नीयात् ।

तथा वर्ज्यताया निमित्तमनिदृष्टे—

यथा हि ते रसचर्चणाग्रामननभवंन्त सहृदयहृदय स्वानिमुख विदधाना
रसपराङ्मुख विदधीरन् ।

एवमन्तमयोवन् क्वचिन्नावायक त्वप्रत्यय यदन्तयऽनुगन्तानि पराणि चक्षानि
हृत्तद्धितानानि शाब्दिकप्रियाणि न प्रयुञ्जीतस्य । अथ निषधो विमुक्तलक्ष्यानुप्राशब्द
सहृदयमोयविषयक एव, सहृदययो तथा दुष्स्वाभावान् । अत एव 'अलमानवपत्-
त्वात् स्वप्नमापीयमत्वात्' इत्याद्यवन्त्यन दुरन्तवन्नेवाशाहुवन् । त्वाशीनामसहृदययो
क्वंचित्त्व स्तुमेव ।

य व्यञ्ज्यधरसादिचर्चणाया अनिरिक्त यत्नविश्रयरूप योजनाविशेषमप्यन्त तान्
आपाननन्तात्काल एव (न तु परिणामे) चमत्कारिण परिणविषमकारनुच्छान्त
अनुप्रासवमर-सहृदयलेद-विश्रप्रभेदानतिकुपमान वाचकाभङ्गुरान् प्रतिमाप्रभावेण
मप्यन्त सम्भवितोऽपि, रमाद्यास्वादस्य पृथग्यत्ननिर्गन्तवेन प्रतियोगवान् क्वचिन्नु-
रसव्यञ्जन प्रस्तुते, न प्रयुञ्जीतेत्यर्थ । अत एवाक्य ध्वनिहृता— रमासिन्दया यस्य
वच रस्यश्रियो भवेत् । अपृथग्यत्ननिवय मोहनङ्कारो ध्वनो मत ॥ इति ।

अनुप्रासादीना प्रतीते स्वईचिन्विशापण रमाद्यास्वादान्नावाभावान तथा
रमास्वादीरपरायणस्य सहृदयस्य स्वानिमुखाकरान रमाद्यास्वादपराङ्मुखीरणस्य
क्वचित् सम्भवान्, त मधुररसेषु वर्जनीया इत्यर्थ ।

रि र मगमगैज मयोग का 'अधि सुगमद् ' इत्यादि 'दाहा' कैने विना कौके
दा कशा'रैज सयोग का प्रयोग एक ही बार हुआ है, वर-वर्ग नह

जैने उक्त अक्षरों का मधुर-रस प्रधान रूपों में तथा कारण अवश्यक है बना प्रका 'त्'
प्रत्यय, रन्त, इच्छान्त तथा अन्य इमो प्रकार के प्रयोग (कृत्त, तद्विधान् आदि) दक्षि वैदाकण
टीकों के प्रिय होते हैं, तथापि मधुर-रस में उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

अर्थों के अन्वयन कारणों के लिये जो दत्त करना इच्छा है, उपर्यं पृथक् दत्त इनके समर्थ
में अर्पित हो गये, ऐसे, ऊपर्यं तौर में (न कि यही इच्छि म दिवार करने पर) अधिक चमत्कार-
जनक भी प्रतीत होने का अनुप्रास के समूहों तथा दम्भादिचौं का, दक्षि वे कृते के मा य ही,
तथापि मनावेश न करना चाहिये, यह कृते के लिये ध्यान देने योग्य परामर्श है ।

रस-प्रधान वाक्य में अनुप्रास आदि के निबन्ध नहीं करने का आज यह है कि यदि वे अधिक
और प्रधान हो जायेंगे, तो उनका मनावेश रस के अन्वयन में न हो सकेगा और वे मधुररस के
रूप के अन्तों और बीच लेंगे, इस कारण रस से विमुक्त कर देंगे—अर्थात् मधुररस उन उनके
चमत्कार के प्रकार में प्रकार रमास्वाद् से वञ्चित हो रह जायेंगे ।

'विप्रलम्भे विशेषत' इत्युक्त विप्रलम्भशृङ्गारध्वनी विशेषेण तन्निषेधमाह—

विप्रलम्भे तु सुतराम् ।

तत्र हेतु प्रतिपादयति—

गतो मधुरतमत्वेनास्य निर्मलसितानिर्मितपानकरसस्यैव, तनोयानपि स्वातन्त्र्यमावहन् पदार्थं, सहृदयहृदयास्तुदतया न सर्वथा सामानाधिकरण्यमहंति ।

एतदघट्टकोक्तमर्थं प्रमापयति—

यदाहु —

ध्वनिकारा इति शेष —

'ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिवेशनम् ।

शक्तावपि प्रमादित्व, विप्रलम्भे विशेषत ॥'

निषेधप्रतिप्रसवमाख्याति—

ये तु पुनरविलुप्तयाऽनुन्नतस्वन्धतया च न पृथग्भावनामपेक्षन्ते, किन्तु रमचर्चणायामेव सुमुक्तं गोचरीकर्तुं शक्या, न तेषामनुप्रासादीना त्यागो युक्त ।

ते वर्जनीया इति शेष ।

सामानाधिकरण्यमेकत्र वृत्ति ।

यतोऽप्य विप्रलम्भस्य सम्भोगाद्यपेक्षयाऽधिकमधुरत्वात् तदास्वादे विलक्षणपानकरमात्वाद् इव स्वतन्त्रास्वादकस्य वस्त्वन्तरस्य लक्षणोऽपि सम्पकं सर्वथा सहृदय-हृदयोद्वेजव स्यात्, तस्मात्क्षेन सहानुप्रासादीना समावेशो न विधेय इत्याशय ।

इदं शृङ्गारपद मधुररममाप्रपरम् । आदिपदेन स्वतन्त्रप्रयत्नापेक्षलङ्घान्तरप-
रिग्रह । सत्तो प्रतिपाद्या सत्यामपि प्रमादित्व कवेरवचसावना शेष । विप्रलम्भस्य
मधुरतमत्वात्तत्र विशेषेण तेषा निषेध ।

अविलुप्तयाऽकठिनप्रयत्ननिष्पाद्यता । अनुन्नतस्वच्छत्वमनुत्कटत्वम् । सुमुक्तमि-
मुनेनानायासमिति यावत् ।

विप्रलम्भ-शृङ्गार में तो रामका अनुपम आदि के समावेश का प्रयास नहीं करना चाहिये ।

विप्रलम्भ-शृङ्गार में अनुप्रास आदि ने प्रथम नहीं करने के सम्बन्ध में अधिक मानधान रहने का कारण यह है कि विप्रलम्भ-शृङ्गार सब रसों से अधिक मधुर माना गया है और हमी काग, उमे सुन्दरीनी के बनाये हुए शरबन का उपमा ही गई है, उममें यदि थोड़ी मात्रा में भी कोई ऐसी चीज मिल जाय, किमका स्वाद कान्ती स्वतन्त्र मत्वा रचना हो, तो वह सहृदयगतो ने हृदय में बड़ी मार्मिक पोषा पहुंचानी है, विप्रलम्भ शृङ्गार में अनुप्रास आदि ठोक बौनी ही चीजें हैं, अत उमने साथ टन्त्र रहना सर्वथा अनुचित है ।

जैसा कि ध्वनिकार अलन्वधनाचार्य ने भी कहा है—'ध्वन्यात्मभूते ...' इत्यादि—
अर्थात् यदि कवि ने ऐसी शक्ति है कि ध्वनि-काव्य में अनायास यमक आदि को रचना कर सके, तब भी जैसा ध्वनि-काव्य को अलम्ब शृङ्गार रस है, उममें यदि कवि पैसा (यमक आदि का निवेश) कर तो रहना चाहिये कि उमका अपावधानता है जो उसने उन्हें (यमकादिकों को) शृङ्गार प्र ल काव्य में आ जाने दिया और यदि विप्रलम्भ शृङ्गार प्रधान काव्य में वे (यमक आदि) आ गये, तब तो विप्रलम्भ में कवि को अम्बवधानता समझी जायगी ।

मधुररमानुकूलमनुप्रासमुदाहरति—
यथा

सखी नायिका व्याहरति—

कस्मूरिकातिलकमालि । विधाय साय,
स्मेरानना मपदि शीलय्य सौवमौलिम् ।
प्रीतिं भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा—
मृन्नासन्तु परितो हरितो मृग्वानि ॥'

माधुर्यगुणाद्यपरमव्यञ्जकरचन।दोषप्रदशंनमुपसहरति—

इत्यमेने प्रसङ्गतो मधुररमाभिव्यञ्जिकाया रचनाया मक्षेपेण निरूपता दोषा

ये पुनरनुप्रासादोऽप्यपृथग्यत्ननिष्पाद्या अपृथग्भावनाविषयीभावयोग्याश्च, एव
प्रतिकूलत्वाभावात्तेषा नैव निषेध इति तात्पर्यम् ।

हे जालि ! साय कस्मूरिकातिलक माले विधाय, स्मेराननेपद्मापतसुखी, एव
सौवस्य मुषा (शुक्तिचूर्णलेपे) धवलप्रासादस्य, मौलिं शिखर, सपदि शीत, नाग
याध्याम्ब, तथा च तेन कुमुदानि मुदामुदारा प्रीतिमतिनायितोन्लाम भजन्
प्राप्नुवन्तु, हरितो विद्याश्च परितो विष्वक् मुवान्यप्रभागाम् उन्नासयन्तुदुभाग-
नित्यपर्यम् ।

अत्र वृत्तानुप्रास शृङ्गाररसापृथग्गतनिष्पन्नवादनून एवेति न निषिद्ध ।

इहीजस्वि-प्रमत्त-रमाभिव्यञ्जकरचनयावञ्जनीयानामनभिधानान्मूनना न इ-
नीया, 'मधुररूपेण येऽनुकूला त एवीजस्विरनेषु प्रतिकूला इति प्रागेवो-म्बि-
प्रतिकूलाता सामान्येणभिधानात्, प्रसादगुणस्य सर्वरसगुणतासाधारण्येन तद्व्यञ्ज-
चताया वञ्जनीयत्वाभावात् ।

जो अनुप्रास आदि क्लिष्ट और विवृण न होने के कारण पक्ष (रमनिवेश प्रत्यय) बन् ज
कैसे नहीं रहने और न रसमन्त्र से प्रकृत अन्वय का ही अन्वयका रहने, किन्तु रम-
के लिये जो प्रत्यय किया जाय, उनी में बन् न मक्ते हैं, उन अनुप्रासिकों को ही देना नो
कल्पित नहीं ।

उत्तरे—'कस्मूरिकातिलक' इत्यादि । सखी नायिका में कहती है—हे मालि ।
मानवान में कस्मूरी का तिलक लगाकर शाय मन्द मन्द ठम्मो हुई अगरी पर चला जा, किन्तु
कुनुर भय है को प्राप्त कर लें—अर्थात् शूल में विकसित हो लें और दिशों अपने कुनुर
पुलित उलमिन बना लें—उन्के प्रारम्भिक भाग कस्मूरी तरह प्रकाशमय हो जाई । यहाँ अनु-
प्रास करने उन्के लिए उन्के प्रत्यय किया है, ऐसा प्रत्यय नही होता, कस्मूरी हल-
वि-शुद्धगम दो लिये जो कस्मूरी का प्रत्यय है, उनी में अनुप्रासों का प्रयोग ही है ।
अनुप्रासों का अन्वयन या रस दे अन्वयन के माध्य ही हो जाता है, अन्वयने अनुप्रास को
रसों में नो प्राप्त है ।

इस तरह प्रत्यय आ जाने के कारण मधुर-रसों को अभिव्यक्त करने वाली रचना में उन्के
इन दोषों का निरूपण मक्षेप में कर दिया गया है ।

प्रमङ्गाद् वैदर्भी रीति निरूपयति—

‘एभिर्विशेषविषयै, सामान्यैरपि च रूपणै रहिता ।

माधुर्यंभारभङ्गुर-मुन्दर-पद-वर्णविन्यासा ॥

व्युत्पत्तिमुद्दिगन्ती, निर्मातुर्या प्रसादयुता ।

ता विद्युत्वा वैदर्भी, वदन्ति वृत्ति गृहीतपरिपाकाम् ॥’

अस्या प्रनिद्धि दस्यति—

अस्यामुदाहृतान्येव कियन्ति पद्यानि ।

तथापि सहृदयविनोदायोदाहरति—

यथा वा—

मागिनीनाति प्रेषान् वा बोधयति—

‘आद्यानैव निष्ठा, निशापतिकरै कोणं दिशामन्तर

भामिन्यो भवनेषु भूषणनर्णरल्लामयन्ति श्रियम् ।

वामे ! मानमपाकरोपि न मनागद्यापि रोपेण ते

हा हा ॥ वास्मृणाल्तोऽप्यतितमा तन्वी तनुस्ताम्भति ॥’

एभिर्वर्णैः सामान्यैर्विशेषैश्च रूपणै रहिता, माधुर्यंभारेण भङ्गुराणामनिमगुराणामन एव मुन्दराणा पदाणा वर्णना च विन्यासो मत्र, सा, वा निर्माणु कवे श्रुत्यति वाव्यशास्त्रादिनिपुणतामुद्दिगन्ती सूक्ष्मन्ती प्रसादेन गुणेन व्यञ्जकतया युता, ता गृहीत परिपाको रमान्वादपरिनिष्ठा यस्या, सादृशी वैदर्भी वृत्ति रीति, विद्युत्वा वाव्याप्यंभावनाशुनला वदन्तीत्यर्थ । अस्या एवोपनागरिकावृत्तिरिति नामान्तर बोध्यम् ।

अस्या वैदर्भी रीति, उदाहृतानि शृंगाररस-माधुर्यगुणोदाहरणतयोक्तानि, कियन्त्यनल्पानि पद्यान्येवोदाहरणानीति तदपेक्षेत्यामय ।

हे वामे मानग्रहिते ! निष्ठा आयाता प्राप्तेव (न तु निष्कारभे विलम्ब) दिशामन्तर मध्य निशानरस्य करै किरणं कोणं व्याप्तमुद्गाक्षितमिति यावत्, भामिन्योऽपरामानकवयश्च, विलामोचितकालमासोच्य, भवनेषु बोधावासेषु, भूषणगणै परिश्रितासङ्कारनिकरै, श्रिय शोभासुन्दरामयन्ति वक्ष्यन्ति, स्व पुनरदायीदानीमपि

अथ प्रमङ्ग-प्रम वैदर्भी रीति वा निष्ठा करने हैं—‘पुमि’ इत्यादि विदग्धन उम रचना-विशेष को ‘वैदर्भीरीति’ कहते हैं, जे एक विशेष और साधारण-रीतों प्रसार जे दोषों में रहित हो, जिनमें माधुर्य-प्राप्ति के अरु में अने रूप अल्प सुन्दर पदों और वर्णों का विन्यास हो, जिनमें बनाने वाले (कवि) को श्रुत्यति एकदमि होनी हो, जे प्रसाद गुण में युक्त हो और जिनमें रस वा पूर्ण परिष्क हुआ हो । इसी रीति को कुछ जेय उपनागरिका वृत्ति के नाम से पुकारते हैं ।

हम गति जे उदाहरण ही मन्ने वात् जिनने ही पद्य पूर्व में बदे जा चुके हैं ।

नदक नदिवा से बह रहा है—प्रेम में अब रात आधी गई, टनके आने में धोखा भी विश्व नहीं है, विश्राम न हो लगे देव निदरान्ध-नन्ददेव को निरर्णों से शिवाओं जे अन्तराल व्याप्त हो चुके हैं और मागिनी शिवा मान छेकर आभूषणों से कौशल-मदिरों में शोभा को बना रही है । हे वामे ! प्रेम भर से विस्तीर्ण हो आचरण करने वाली ! तू अब भी मान को विश्व भी कम नहीं

एतद्रचनाया स्खलनपरिहाराय कवेरवधानातिशयस्यापेक्षा प्रतिपादयति—
अस्याश्च रीतेर्निग्रणि कविना नितरामवहितेन भाव्यम् । अन्यथा तु परि-
पाकमङ्गलं स्यात् ।

ऋमरककवेरवधाननोपहित परिपाकमङ्गमुदाहरति—

यथाऽमरकविपद्ये—

मुग्धावृत वगंयति—

‘शून्य वासगृह विलोक्य, शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनं—

निद्राभ्याजमुपागतस्य मुचिर निर्वाण्यं पत्युर्मुसम् ।

वित्तमथ परिचुम्ब्य, जातपुलकामालोक्य गण्डस्थली

लज्जानम्रमुखी प्रियेण हयता बाला चिर चुम्बिता ॥’

मान न अपाकरोषि न स्वजसि, तेन रापेण बालान्मृणानावपि, अतितमा नितमा
तन्वी कोमला, ते तनुस्ताम्यनि क्लाम्यतीत्यर्थे । अप्रोक्तलक्षणा वैदर्भी रीति ।
अतितमामित्यत्र तकारस्य स्वानन्तर्यादयव्यत्य विभावनीयम् ।

अन्यथाऽवधानामावे ।

वामगृह क्रीडागार, शून्य प्रियानिरिक्तलोकरहित विरोक्ष्य निनीनसहृषरी-
सङ्कावसन्देहाद् कितोपेण वृष्टा वयमान तल्पान, किञ्चिदीपदेव (तावत् पार्श्वपरि-
वर्तनोपन्यासेनाप्यपलपितु शक्यत्वात्) क्षनैर्वंशा भूवणक्षणत्कारो न भवेत् तथा मन्दम्,
अपरक्षयेनैवोत्थाय, निद्राभ्याजमनुरागजिज्ञासया कृतकनिद्राविडम्बनम् उपागतस्य
पत्युः, पत्यु स्वामिनो न तु परिचयप्राचुर्यविरहात् बहलमस्य, मुख मुचिर
जागरणशङ्कया सुदीर्घकाल, निर्वाण्यं निद्रानिर्णवाय निश्चोपमवेद्य, वित्तमथ सविश्वासं
यथा स्वान् तथा गाढ, परिचुम्ब्य परित कपोल—नयनादियु चुम्बित्वा, तेन जानपुल-
कामुञ्जिन्नरीमाञ्चा, गण्डस्थली कपोलपालिम, आलोक्य, लज्जा सापत्रपा, अत एव
नम्रमुखी ननानना, बाला षोडशवर्षिकी (मुग्धा), हसता स्वामीष्ठानादासनामहेतु-
कहातभुजा, प्रियेण, चिर लज्जाऽपगमपर्यन्त चुम्बिताऽभूदित्यर्थे ।

कर रही है । हाय ! हाय ! देख तो बनीन मृणाल मे भी उलटल दुबल वह तेरा शरीर तेरे ही रोप
के कारण म्लान हो रहा है । जने ३ यदि मेरे स्पर्श दया नहीं करती, तो मगफर, परन्तु अपने ह्म
सुकोमल शरीर पर तो दयाकर । दहा वैदर्भीरीति के एक साथे लक्षण घट्य है ।

इस रीति के निर्माण करने में कवि ने मन्द्यन माकडनी से बरतना चाहिये, अन्यथा परिपाक
का मङ्गल हो जायगा—रस में जिनका भाषुरी आनी चाहिये, वनी नही आ मवेगी ।

रैना कि अमरक कवि के पद्य में हुआ है —

कोई मुग्धा नायिका के अचरणों का कानं करना है कि—बाला (मुग्धा नायिका) क्रीडागृह
को जनों से शून्य देखकर—शिश्यापीड—मग्न हो बग पाकर धीरे-धीरे शून्या से कुछ उठो और निद्रा
वा भ्याज यिये हुए (न कि वस्तुतः भोये हुये) पति के मुख को चित्काल तक निहार कर (पति के
निद्रा—मन हो जाने के विश्वास से) हाथी उसके मुख को अच्छी तरह चूमने, पर चूमने के बाद जब
उभने देना कि पति के कपोल—प्रदेश रोमाञ्चयुक्त हो उठे है, तब लज्जा के मारे कमका मुख नीचा

उपपादयति—

अत्र 'उत्थाय किञ्चिच्छनैः' इत्यत्र सवर्णभ्यद्वयसयोगः, तत्रापि नैकटघेन सुतरामश्रव्यः। एव भ्यधटितसयोगपरह्रस्वस्यापि। तथा 'शनैर्निद्रा' इत्यत्र 'निर्वर्ण्यं पत्युर्मुखम्' इत्यत्र च रेफघटितसयोगस्य, भ्यधटितसयोगपरह्रस्वस्य च प्राचुरम्। 'विस्रब्धम्' इत्यत्र महाप्राणघटितस्य, 'लज्जा' इत्यत्र स्वात्मसवर्ण भ्यद्वयघटितस्य, 'मुखी प्रियेण' इत्यत्र भिन्नपदगतदीर्घान्तरस्य सयोगस्य, तथा क्त्वाप्रत्ययस्य पञ्चकृत्व, लोकोत्तेश्च द्वि-प्रयोग' कवेनिर्माणसामग्र्यादारिद्र्य प्रकाशयति।

'महीयसा दोषोद्धोपणमारमन एव दूषण भवतीत्यभिव्युक्तौलि स्मरस्तता विरमति—

इत्थल परकीयकाव्यविमर्शनेन।

समानकर्तृक-प्राक्कालिककियाया क्तो विधानात्तदर्थमिह पचाधजन्तलज्जापद-
पार्थक्यमवहेयम्।

'उत्थाय किञ्चिच्छनैः' इत्यत्र तययोश्चछयोश्च सवर्णस्यो सामीप्येन सयोग एक, भ्यद्वयघटितसयोगद्वयान् पूर्वमोह्रस्वोकारेकारयो सत्त्वादपरश्च दोष, 'निद्रा' इत्यत्र पत्यु इत्यत्र च शमस इकार-तकाररूपभ्यधटितसयोगत पूर्ववतिन इकारोकाररूप-ह्रस्वस्य प्राचुर्यं, 'शनैर्निद्रा' 'निर्वर्ण्यं पत्युर्मुखम्' इत्यत्र रेफघटितसयोगस्य प्राचुर्यं च दोष, 'विस्रब्धम्' इत्यत्र घकाररूपमहाप्राणघटितसयोगस्य प्रयोगो दोष 'लज्जा' इत्यत्र जया जकारस्य स्वात्मना सवर्णपया सयोगस्य प्रयोगो दोष मुखी प्रियेण इत्यत्र घृण-पदघटकस्य दीर्घकारान्तर-पकाररेफसयोगस्य प्रयोगो दोष, विलोक्य उत्थाय निर्वर्ण्यं' परिचुम्ब्य आमोक्य इति पञ्चवारान् क्त्वाप्रत्ययस्य प्रयोगो दोष, विलोक्य' आलोक्य' इति द्विनोदृपाता प्रयोगो दोषश्च कवे रचयितु निर्माणसामग्रीदारिद्र्य वाच्यरचनावारणीभूताया भुत्यत्पुद्गावितप्रतिभाया राहित्य-महत्त्व या प्रकाशयति बोधयतीति कविनिर्वेदमोरीतिनिर्माणे सावधानं प्राव्य-मिति भावः।

ही गया, एते के सामने लसका दृष्टि टिक न सकी। फिर क्या था? प्रतिमहाशय ठट बैठ और हैम-
हैन कर घाँटी दुग्धा लली की चुम्बने रहे।

किस वय में 'उत्थाय' और 'किञ्चिच्छनैः' इन दो स्थानों पर दं-नी सवर्ण स्यो (स्वर-स्वर और चकार-उत्तर) का संयोग है और वह भा ममीव ममीव में, लय अनिश्चय ममम्य है। इसी तरह इसी स्थान पर एक हावो के द्वारा बने हुए संयोग जिन्के आग है, उन हस्यो (उत्तर और उत्तर) का भा प्रयोग हुआ है। तथा 'शनैर्निद्रा' और 'पत्युर्मुखम्' इन दो जगहों पर रेफ के द्वारा बन हुए मय का और हस्यो के द्वारा बने हुए मयोग जिन्के आग है, उन हस्यो की अस्तिता है। परन्तु 'विस्रब्धम्' इन जगह महा प्राणों के द्वारा बना हुआ संयोग, 'लज्जा' इन जगह दो मयों हावों का आग का भा मयोग और 'मुखी प्रियेण' इन जगह भिन्न पदगमा दीर्घ के बाद का संयोग है। इसी प्रकार क्त-प्रत्यय का बीच बार (विलोक्य, उत्थाय, निर्वर्ण्यं, परिचुम्ब्य और आलोक्य, इन एते में) और 'लोक्य' धातु का दो बार (विलोक्य और आलोक्य में) संयोग किया गया है, जिसमें कवि के मन रचना की सामग्री की कमी सूचित होती है।

प्रकान्त सविशेषरसनिरूपणमुपसहरति—

इति सङ्क्षेपेण निरूपिता रसा ।

रसध्वनितिरूपणावन्तर प्राप्तावसरतया भावध्वनि निरूपयितुमाचष्टे—

अथ भावध्वनिनिरूप्यते—

प्रथम भावस्य ज्ञानाय लक्षणं वृष्ट्वा परोक्तं तत् स्रष्टवति—

अथ किं भावत्वम् ? विभावानुभावभिन्नत्वे सति, रमव्यञ्जकत्वमिति चेत्, रसकाव्यवाक्येऽतिव्याप्त्यापत्तेः ।

ननु शब्दस्य व्यञ्जकत्वविरहान् कुतोऽतिव्याप्तिरत आह—

अर्थद्वारा शब्दस्यापि व्यञ्जकत्वात् ।

परकीयकाव्यदोषाद्यालोचनेनात्मम् 'परस्वभावकर्माणि न प्रससेत्त गृहयेत् इति भगवद्वादरायणोक्तेरित्यर्थः ।

रसाना प्रकारानगत्याद् विस्तरेण वर्णयितुमशक्यत्वम् ।

रसव्यञ्जके काव्यवाक्ये विभावानुभावभिन्नत्वस्य रमव्यञ्जकत्वस्य च सत्त्वाद् भावलक्षणातिव्याप्तेरिदं लक्षणं न सम्यगित्यभिसन्धिः ।

साक्षादव्यञ्जकत्वेऽर्थद्वारेण परम्परया शब्दस्यापि व्यञ्जकत्वात् । तदुक्तम्— 'शब्दबोधो ध्वनित्यर्थः । शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः । एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ॥' इति । इत्य सहकारिव्यञ्जकत्वाच्छब्दस्यातिव्याप्तिस्तदवस्यैवेत्याशयः । वस्तुतस्तु गीतवाद्यादिशब्दानां वाच्यार्थाप्रत्यायनत्वेऽपि रसव्यञ्जकत्वस्य ध्वनिकारादि-निर्निर्णयनेन न शब्दस्वार्थद्वारेण व्यञ्जकत्वम् । तथा च नाग्रिमतिवेशस्यावसरः ।

पर, जाने दीजिये, दूसरों के काव्यों को आलोचना करना व्यर्थ है ।

इस प्रकार रसों का संक्षेप से निरूपण समाप्त हुआ ।

अथ भाव-ध्वनि का निरूपण करत हैं —

यहाँ सर्वप्रथम विचारणीय वस्तु यह है कि 'भाव' किसको कहते हैं ? उनका लक्षण क्या है ? यदि कोई कहे कि 'विभावों और अनुभावों के अतिरिक्त जो रसों के व्यञ्जक हों—जिनसे रम व्यक्त हों, ज्यों की 'भाव' कहते हैं, तो यह समुचित नहीं, क्योंकि रसों के प्रतिपादक काव्य की पदावली में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है—अर्थात् रस-प्रतिपादक काव्य के वाक्य विभावों और अनुभावों से अतिरिक्त हैं और रस-व्यञ्जक भी हैं, अतः उनको भी 'भाव' कहना पड़ेगा ।

यदि वारो कहे कि रस के व्यञ्जक तो अर्थ होते हैं, शब्द नहीं, फिर शब्द-समूह-रूप वाक्य में एक लक्षण की अतिव्याप्ति कैसे होगी, तो हमका उत्तर यह है कि साक्षात् रस व्यञ्जक अर्थ ही अर्थ हों पर इन अर्थों के द्वारा शब्द भी रम-व्यञ्जक माने जाते हैं, अतएव विद्वानों का कथन है कि 'शब्द-बोधो ध्वनित्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः' । एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता—अर्थात् 'अर्थ' शब्दों के द्वारा अवगत होकर व्यञ्जक होता है, और शब्द भी अर्थों का आश्रय-वाचक हो कर ही (न कि निरर्थक) व्यञ्जक होता है, अतः एक के साक्षात् व्यञ्जक होने पर दूसरा सहकारी होता है । वस्तुतः ध्वनिकार आदि ने शब्दों की भी साक्षात् व्यञ्जक माना है, तदनुसार अर्थद्वारा वाक्य की व्यञ्जक मानने का आवश्यकता भी नहीं है ।

साम्यं साक्षाद्भवञ्जकत्वमबुद्ध्या दोषवारणाय लक्षणे निवेश विषय निरस्यति-
द्वारान्तरनिरपेक्षत्वेन व्यञ्जकत्वे विशेषिते त्वसम्भवः प्रसज्येत, भावस्यापि
भावनाद्वारव व्यञ्जकत्वात्, भावनायामतिव्याप्यापत्तेः ।

ननु कान्यवानपेक्षितव्याप्तिं वारयितुं शब्दमित्येव सतीत्यपि लक्षणे प्रवेशयानि-
त्युक्तिं निराकरोति—

अत एव च [विभावानुभावमिन्नत्वस्येव] शब्दमिन्नत्वस्यापि तद्विशेषणत्वे
न निस्तारः । प्रधानध्वन्यमानभावे रसव्यञ्जकताऽभावादव्याप्यापत्तेः ।

भावध्वनाव्याप्तिमात्रवारणमाद्यकृष्यं शब्दपति—

न च तत्रापि प्रान्ते रसोऽभिप्रेय्यत एवेति वाच्यम्, भावध्वनिविलोप-
प्रसङ्गात् ।

विभावादिभिन्नत्वे सति साक्षाद्भवञ्जकत्वमिति लक्षणं तु दोषद्वयं स्यात्, रसस्य
पुनः—पुनरनुमन्धानत्पामा भावनाया एव साक्षाद्भवञ्जकत्वं भावस्य तु भावनाद्वारव
रसव्यञ्जकत्वमस्तीति साक्षाद्भवञ्जकत्वस्य भावेऽप्यभावादसम्भन एकः, साक्षाद्भव-
व्यञ्जिकाया भावनायामतिव्याप्तिश्च द्वितीयो दोष इत्यतन्निवेशोऽभ्युक्त इत्यभिप्रायः ।

निस्तारो निर्वाहः ।

अत एव—भावनाया साक्षाद्भवञ्जकत्वाच्छब्दमिन्नत्वाच्च तत्र भावलक्षणावि-
ध्याप्तौरेव, एव भावध्वनी भावस्य प्राधान्येन व्यव्यमानतया रसव्यञ्जकत्पानावाद्
भावलक्षणाव्यापत्तेः शब्दमिन्नत्वनिवेधेनापि न निर्वाह इति सारम् ।

तत्र भावध्वनावपि प्रान्ते भावध्वनानन्तरमन्ते भावेन रसस्य व्यञ्जनं भवत्येव,
तत्र भावस्यापि रसव्यञ्जकत्वात्प्राव्याप्तिरिति वक्तुं नैव शक्यम यतो भावध्वनावपि
यदि पर्यन्ते रसप्रतीतिं स्वीक्रियेत, तर्हि तत्रापि रसस्यैव प्राधान्याद् रसध्वनित्वमेव

बादी कह लखने है कि दूमी लम्हा में 'जो किमी को द्वार न बना कर रसों का व्यञ्जक हो'
इस तरह व्यञ्जक में एक विशेषता और लम्हा देंगे, तब ही वाक्य में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि
वह अर्थ ही द्वार बना कर व्यञ्जक है, वस्तु सिद्ध करने पर लम्हा में अन्यथा दोष ही आ जायगा—
अर्थात् यह अर्थ का लम्हा बादी भी संपत्ति नहीं हो सकेगा, क्योंकि विशेषण ही लक्षण भाव जानने
है, वे ही भावना (वार-वार अनुमन्थन) के द्वारा ही व्यञ्जक मानने हैं । दूमी, भावना में अति-
व्याप्ति भी हो जायगी, क्योंकि बिना किमी के द्वार बनाये वही रसों की व्यञ्जिका होगी है । वस्तुतः
तो उक्त रीति से शब्द भी बिना किमी को द्वार बनाकर व्यञ्जक होगा ही है, अतः वहाँ तब भावना
में उक्त लम्हा की अतिव्याप्ति ही होगी—सम्भव नहीं ।

दूमी शिरे व्यञ्जक में 'शब्दमिन्न' विशेषण देने पर भी 'द्वार नहीं हो सकेगा—अर्थात् यदि
'विभावों और अनुभावों से अनिश्चित तब शब्द से भिन्न से रसों का व्यञ्जक हा, वर 'भाव' है'
ऐसा भी लम्हा बनावे, तब भी संचार नहीं, क्योंकि भावना (जो शब्द से भिन्न है) में अतिव्याप्ति
रहगी ही । एवम भाव-ध्वनि-रस में जो भाव प्रधानता अभिव्यक्त हाय है, वह रसों का व्यञ्जक
नहीं होता, अतः हममें लम्हा की अतिव्याप्ति भी होगी—अर्थात् हम भाव में लम्हा संपत्ति नहीं होगा ।

यदि बादी यह ठहराकर कहें कि उदा भावही ध्वनि प्रधान होती है, वहाँ भी ध्वनि-ध्वनि
के द्वार अन्त में रस की ध्वनि होती ही है, अतः उस तरह के रसों में रस-व्यञ्जकता है ही । इत्यत्र

पुनरिहाशङ्क्य समादधाति—

भावचमत्कारप्रकर्षाद् भावध्वनित्वम्, रसस्तु तत्र व्यञ्जमानोऽप्यचम-
स्कारित्वान्न ध्वनिव्यपदेशहेतुरित्यपि न शक्य वदितुम्, चमत्काररहितरस-
व्यक्ती मानाभावात् ।

तदेव समर्थयति—

रसे हि धर्मिप्राहकमानेनानन्दाशाविनाभावस्य प्रागेवावेदनात् ।

इदानीं भावध्वनी पार्यन्तिकी रसाभिव्यक्तिमभ्युपगत्यापि तद्भावतक्षणं रूपयति—
अस्तु वा प्राधान्येन ध्वन्यमानस्यापि भावस्य प्राप्ते रसाभिव्यक्तकत्वम्,
तथापि देश-काल-वयोऽवस्थादिनासापदार्यघटिते पद्यवाक्यार्थे तथाप्यति-
ध्यासि; तस्य विभावानुभावभिन्नत्वे सति 'साभिव्यक्तकत्वात्' ।

स्यान्न तु भावध्वनित्वमिति भावध्वनेर्विषोप एव भवेदतो न तत्र पार्यन्तिकी रसप्रती-
तिरङ्गीकार्येति तात्पर्यम् ।

ननु भावध्वनिस्थले प्रथमं भावप्रतीति, पश्चाद्रसप्रतीतिश्च भवति, किन्तु तत्र
रसप्रतीतिश्चमत्कारकत्वाभावात् रसध्वनिव्यवहार, अपि तु भावप्रतीतिश्चमत्कारितया
भावध्वनिव्यवहार एव स्यादिति चेत्, न 'लोकोत्तरचमत्कारप्राण' 'रसे सारश्चम-
त्कार सर्वत्राप्यनुभूयते' इत्याद्युक्तेरनुभवाच्च चमत्काररहिताया रसप्रतीतिरङ्गीकृता
मानाभावादिति भावः ।

येन सहृदयसमवेतप्रत्यक्षरूपप्रमाणेनात्र धर्मिणी रसस्य ग्रहणं ज्ञानं साधनं वा
भवति तद्विमप्राहकं मानम्, तेन यतः सच्चिदानन्दमयो ब्रह्मसनामिरेव रसो ज्ञापितः ।
तस्मात् तस्य रसस्य चमत्कारविधानन्दं विनाऽभावाद् रसाभिव्यक्तिश्चमत्कारित्वेव,
न तु कदापि तद्ग्रहिता, स्वीक्रियत इति प्राग् रमनिरूपणेऽपि प्रतिपादितमित्यर्थः ।

तथापि भावध्वनावव्याप्त्यापत्तिवारणेऽपि । तथापि विभावानुभावभिन्नत्वे सति,

समाधानं यह है कि यदि भावध्वनि-स्थल में भी अन्त में रस की अभिव्यक्ति मान लेंगे, तब तो वहाँ
भी रस की ही प्रधानता हो जाने से रस-ध्वनि का ही व्यवहार होने लगेगा, फलतः 'भाव-ध्वनि'
का साहित्य जगत् में कच्चे ही हो जायगा, अन्तः भाव-ध्वनि-स्थल में रस को ध्वनि नहीं माननी
चाहिये ।

यदि इस पर भी वादी यह कहे कि 'भाव-ध्वनि' स्थल में भी भाव की अभिव्यक्ति के बाद अन्त
में रस की अभिव्यक्ति यद्यपि व्यक्त होती है, तथापि वहाँ 'रस-ध्वनि' का व्यवहार इसलिये नहीं
होता कि रसाभिव्यक्ति में वहाँ कोई चमत्कार नहीं रहता और भाव की अभिव्यक्ति में चमत्कार
रहता है अन्तः 'भाव-ध्वनि' का व्यवहार होना है, परन्तु यह कथन भी वादियों का ठोक नहीं, क्योंकि
चमत्कार-हीन रस की अभिव्यक्ति में कोई प्रमाण नहीं—रस चमत्कार-हीन होगा ही नहीं ।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि जिस सहृदयानुभव-रूप प्रमाण से रस पदार्थ की सिद्धि
होनी है, उसी प्रमाण से यह भी सिद्ध है कि रसमें आनन्द (चमत्कार) भंग का अविनाभाव
(अनके विना न होना) है—अर्थात् रस चमत्कार स्वरूप ही जब है, तब चमत्कार-रहित रस की
सत्ता कैसे हो सकती है ।

अब यदि वादी कहे कि रस की अणु भाव के गीण होने पर भी वाच्य की अंश प्रधान होने

पुनर्लक्षणान्तरमुपक्षिप्य निरस्यति—

नापि रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयवित्तवृत्तित्व तत्त्वम्, भावादिवर्चवर्णायामतिप्रसङ्गवारणाय चर्वणाविषयेति चित्तवृत्तिविशेषणमिति वाच्यम् ।

‘कालागुरुद्रव सा, हालहल्वद् विजानती नितराम् ।

अपि नीलोत्पलमाला, वाला द्यालवलि विलामनुते ।’

इत्यत्र हालाहलसदृशप्रकाररञ्जनेऽतिव्याप्त, तस्य निप्रलम्भानुभावत्वेन रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयत्वात्, चित्तवृत्तित्वात् ।

शब्दभिन्नत्वे सति रसाभिव्यञ्जकत्वमिति नयनेऽपि । इत्थं तथापि द्वयसमावयस्य वाचनम् विभावानुभावमिन्नत्वे सतीति शब्दभिन्नत्वे सतीत्यस्याप्युपमलक्षणम् ।

अथवा भावध्वनावपि चरमदशाया रसाभिव्यक्तिरन्तु तथापि न तदृष्टमिद्वि, यतो ध्वन्यमानभावस्य रसाभिव्यञ्जकत्वाङ्गीकारेण तन्नोत्पूर्वाया भावलक्षणाव्याप्तर्वा रणोऽपि, काव्यवाक्यायस्य देवकासाद्यनेकपदाद्यप्रतिरस्य विभावानुभावमिन्नत्वेन शब्दभिन्नत्वेन रसाभिव्यञ्जकत्वेन च, तत्र भावलक्षणातिव्याप्तैर्जाशक्तत्वादित्यागम् । इह न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रमवञ्जित इत्यभिमतेननभ्रान्धनावपि विवाह-प्रवृत्तभृत्यानुपनराजवद् रसस्य प्रतीतिरल्पजन्मत्कारा भवन्ती राजानुगतविवाहप्रवृत्त-भृत्यवद् भावस्य प्रतीतिजन्मत्कारोत्पत्तिवद् घन प्राद्या य न विद्यानुमहृतीत्यवाम्नु-पगमपक्षस्य निदानम् ।

ननु रसाभिव्यञ्जकत्वे सति चर्वणाविषयीभूतत्वे च सति, चित्तवृत्तित्वमेव भावस्य लक्षणमस्तु रसाभिव्यञ्जनरूपमात्रविशेषण भावचर्वणायासतिव्याप्तर्वारणाय चर्वणा-विषयीभूतत्वमपि चित्तवृत्तिविशेषणमुपात्तम् तथा च भावादिवर्चवर्णाय चर्वणाविषयत्वा-भावाभातिव्याप्तिरिति पूर्वपक्षः ।

के कारण, अथवा विवाह में दूल्हे बने हुए दोमान आदि नीकर व पीठे चरने हुए राजा की तरह (क्योंकि बड़ा राजा की अनेक दुल्हा की प्रधानता रहती है) रम का अर्थ भाव की प्रधानता होने के कारण शब्द में ‘भाव-व्यक्ति’ का व्यरहार हो सकता है, जो इस प्रधानता प्रकृत होने वाले भाव की भी प्रधानता में रस-व्यञ्जक मान लेंगे है परन्तु तब भी भाव का उक्त लक्षण ठीक नहीं माना जा सकता क्योंकि देश-काल, आस्था, और स्थिति आदि (जो विभाग अनुभाव से भिन्न है) अनेक प्रकारों से बने हुए श्लोक के वाक्यार्थ में व्यतिव्याप्ति हो सकती क्योंकि वह विभाग और अनुभाव से अतिरिक्त भी है और रम का व्यञ्जक भी है । सारांश यह है कि वह लभ्या किसी भी प्रकार से मङ्गल नहीं हो सकता ।

अब यदि कोई यह लक्षण बतावे कि ‘रम चित्तवृत्ति’ का ‘भाव’ कहना है, जो रमको अभिव्यक्त करनेवाली चर्वणा (अर्थात्) का विषय हो—अब अर्थात् में आ जाती हो वही ‘रसाभिव्यञ्जक चित्तवृत्ति’ का नाम भाव है’ इतना ही लक्षण करने पर अर्थों की चर्वणा (अर्थात्) में व्यतिव्यक्ति हा जायगी, क्योंकि वह भी रम को अभिव्यक्त करती है और चित्तवृत्ति रूप भी है, अब ‘चर्वणा-विषय’ यह विशेषण चित्तवृत्ति में लगाया गया, जिससे शक व्यतिव्यक्ति का कारण हो गया, क्योंकि चर्वणा, चर्वण का विषय नहीं होती, वह समझना चाहिये । परन्तु यह लक्षण भी ठीक नहीं, क्योंकि—‘मगर-काष्ठ की बहर के समान समझने बाँटो यह बाला (मूल मुरे के हान से शक्य नहीं

गत्यन्तरविरहाद् भावत्वमखण्डोपाधि मन्यमानाना भवतमपाकरोति—
नाप्यखण्डम्, तत्त्वे मानाभावात् ।

इत्थ परकीयलक्षणानि प्रतिक्षिप्य, स्वकीय लक्षणमुपक्षिपति—
अत्रोच्यते—

विभावादिभ्यर्ज्यमान-हर्षाद्यन्यतमत्वं तत्त्वम् ।

‘सा दयनीयदशापन्नत्वेन प्रमिद्धा, बाला सदसद्विवेकविधुरा मम सखी, कालागुरु-
द्रव कृष्णागुरुरसमपि हाहाहलक्ष्म परलतुल्य विज्ञानती, नीलोत्पलानां कुवलयानां,
मालामपि, व्यालार्वात् कृष्णसर्पश्रेणीम्, ग्रामनुते सर्वथा मन्यते, इत्यपेके नायक
प्रति विदोगिन्या सहयोवते ‘काले’त्यादिपद्ये, नायिकानिष्ठस्य कालागुरुद्रवाधिष्ठा-
निकस्य हाहाहलसादृश्यप्रकारचित्तवृत्तिविशेषरूपस्य ज्ञानस्य विप्रलम्भशृंगाररसा-
नुभावात्वाद् रसामिष्यञ्जकतया चर्वणागोचरतया च तत्रातिव्याप्ति स्यादतो मेव लक्षण
युक्तमित्युत्तरयत् ।

नागेशमदृष्टान्तु—लक्षणेऽस्मिन्ननुभावमिन्नत्वमपि निवेश्यातिप्रसङ्गं वारयन्ति ।

भावरमिदखण्डमेव, तेन नास्य लक्षणनिर्देशापेक्षेत्यपि निषेधितुं न शक्यम्, भाव-
त्वस्याखण्डोपाधित्वाङ्गीकारेऽनुगतप्रतीत्यादिज्ञापकमानामावाद्, भावत्वस्यान्यथाऽपि
निर्बन्तुं शक्यत्वाच्च ।

विभावादिभ्यर्ज्यमानत्वे सति, हर्षाद्यन्यतमत्वं भावत्वम् । हर्षादयमनुस्तिरसा-

सखी) नील-कमलों की माला हो भी, मार्गों, सर्पों की शक्ति मानती है’ एतदर्थक, नायक के प्रति
विरहिणी की सखी के द्वारा कहे गये ‘कालागुरुद्रव सा ’ इत्यादि पद्य में जो ‘कालागुरु
(अगर) को जहर के समान मद्रक्षत्री है’ इत्याकारक नायिका के ज्ञान का वर्णन किया गया है, उस
ज्ञान में अतिव्याप्ति ही जायगी, क्योंकि वह ज्ञान विप्रलम्भ शृंगार का अनुभाव है—विदोगकालिक
प्रेम के चलते ही उत्पन्न हुआ है, अतः उसका आस्वाद होता है और वह आस्वाद रस का व्यञ्जन
भी होता है, इस तरह वह ज्ञान रसामिष्यञ्जक चर्वणा का विषय है और चित्तवृत्ति रूप भी, क्योंकि
ज्ञान चित्तवृत्ति रूप ही माना जाता है । नागेश भू उक्त लक्षण में ‘अनुभावमिन्नत्व’ यह एक और
विशेषण जोड़ कर अतिव्याप्ति का वारण करते हैं । यहाँ हिन्दी रसगङ्गाधर के निर्माता पुरुषोत्तम शर्मा
चतुर्वेदीजी लिखते हैं कि—‘इस स्थान पर, महदयभावक को, जो जहर की बराबरी का ज्ञान ही
रहा है, समझें लक्षण की अतिव्याप्ति ही जायगी । वह ज्ञान विप्रलम्भ शृंगार का अनुभाव है—उसके
द्वारा उत्पन्न हुआ है इत्यादि’ परन्तु चतुर्वेदी जी का यह कथन सन्नत नहीं अचता, क्योंकि—सहृदय
भावक को जहर की बराबरी का ज्ञान कैसे होगा ? उस ज्ञान की उत्पत्ति तो विदोगकालिक प्रेम से
होती है, और सहृदय विमुक्त प्रेमी नहीं रहना, हाँ, नायिकानिष्ठ उक्त ज्ञान का ज्ञान सहृदय को
भवस्य होता है । परन्तु वह ज्ञान-ज्ञान, न अनुभाव ही है न रस-व्यञ्जक ही ।

यदि वादी कहें कि भावत्व अखण्ड व्याधि है, अतः उसके लक्षण करने की कोई आवश्यकता
नहीं, तो भी उचित नहीं, क्योंकि—भावत्व को अखण्ड व्याधि मानने में अनुगत प्रतीति आदि जो
शापक प्रमाण हो सकता है, वह नहीं है, उसे अखण्ड व्याधि बिना भावे भी निर्वाह हो सकता है,
फिर वैसा मानना निरर्थक भी है ।

वक्त रीति से परकीय भाव लक्षणों का उल्लेख करके अतः स्व-सम्मत सिद्धान्तयुक्त ‘भाव’ का लक्षण

स्वतक्षण प्राचीनोक्त्या इदमिति—

यदाहुः—

‘व्याभिचार्यश्चितो भावः’ इति ।

अधुना हर्षादिभावानामभिव्यक्ति मत्प्रयभेदेन क्रमात् त्रिविधा दर्शयन् प्रथमं सिद्धान्तमतेन दर्शयति—

हर्षादीनां च सामाजिकगतानामेव स्थायिभावव्यायेनाभिव्यक्तिः ।

द्वितीयं मत्माचष्टे—

साऽपि रसव्यायेनेति केचित् ।

नन्तर निरूपयिष्यन्ते । विशेषज्ञानुक्तौ वाच्यहर्षादिषु विरोध्यानुक्तौ च रसादिव्यक्ति-
व्याप्तिः । अन्यतमत्वस्य सक्षणकुक्षिप्रवेशे गौरव, सत्परिहरण च मया प्रागेनोपन्यस्त-
ममसेपम् ।

यश्चित्तोऽभिव्यक्तिविषयीभूतो व्यभिचारी भावः स्यादिति तदर्थं । अन्यत्र तु
प्राधान्ये नाभिव्यक्तौ व्यभिचारी, अपुष्ट स्यायी च भावः कथितः ।

व्याप्तस्तुल्यता ।

शास्त्राक्षरेण सामाजिकगता हृदये स्थितानां काव्यनाट्ययोपरस्थापितैरविहृद्भिः
भावेरनभिभूतानां स्वाभिव्यक्तिसामग्र्या यथा स्थायिभावानां स्थिराऽभिव्यक्तिः, तथैव
प्राधान्यमुपलब्धवता हर्षादीनामपि स्थिरैवाभिव्यक्तिरिति रसनिरूपणे प्रागुपन्यस्त
प्रथमं सिद्धान्तमस्तम् ।

साऽभिव्यक्तिः ।

सामाजिकगता हृदये स्वभावतो विद्यमानोऽपि पिहितो विभावाद्यभिव्यक्तिमा-
मग्रया सत्त्वोद्रेकेण पिधानस्य निवर्तने स्थायिभावोपहितो भग्नावरणभ्रिदानन्द एव
यथा रसत्वेनाभिव्यज्यते, तथैव विभावाद्यभिव्यक्तिसामग्र्या सत्त्वोद्रेकेण भग्नावर-
णविद्विष्टा हर्षादीनां भावा अपि सामाजिकहृदयेऽभिव्यज्यन्ते इति रसनिरूपणे केचि-
द्विष्यनेनोपन्यस्तं द्वितीयं मत्म् ।

कहते हैं—‘अधोऽव्ययते’ इत्यादि । किमान् आदि से ध्वनिता किये जाने वाले हर्ष आदिकों (जिनकी
गणना आगे की जायगी) में से एक एक का नाम ‘भाव’ है ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—‘व्यभिचार्य’ इत्यादि । अर्थात् ध्वनित होने वाले व्यभि-
चारी-भाव को ‘भाव’ कहते हैं ।

भाव किस तरह ध्वनित होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में भिन्न भिन्न विद्वानों ने तीन तरीके बत-
लाये हैं, जब प्रत्यक्षर वही तीनों तरीकों का क्रमशः प्रदर्शन करने के क्रम में सर्व-प्रथम सिद्धान्त-
मूल तरीके का उल्लेख करते हैं—‘हर्षादीनाम्’ इत्यादि । सामाजिकों नाट्यादि के देखनेवालों और
काव्य के पढ़ने करने वालों में गहनात्मक ॥ जो हर्षादिक रहते हैं, वही जो स्थायीभावों की तरह
अभिव्यक्ति होती है—अर्थात् वासनारूप से सामाजिकों में रहने वाले और काव्य अधरा नाटक से
उत्पन्न किये गये अनुवृत्त तथा प्रतिवृत्त सभी तरह के भावों से नहीं बचाने योग्य स्थायीभावों की
जैसे अपनी अभिव्यक्ति सामग्री ॥ स्थिर अभिव्यक्ति होती है, धनी आधार प्रधान बने हुए हर्ष आदि
भावों की भी स्थिर अभिव्यक्ति होती है ।

कुछ विद्वानों का कथन है कि अर्थों को अभिव्यक्ति रस की तरह होगी है अर्थात् जैसे, सामा-

तृतीय मतमुपादत्ते—

व्यङ्गचान्तरन्यायेनेत्यपरे मन्यन्ते ।

वर्षेया भावानामानव्यक्तौ कारण परीक्षते—

विभावानुभावो चात्र व्यङ्गकौ, न त्वेवस्मिन् व्यभिचारिणि ध्वन्यमाने, व्यभिचार्यन्तर व्यङ्गकतयाऽवश्यमपेक्ष्यते, तस्यैव प्राधान्यामते ।

प्रकरणादीना तात्पर्यनिवामकत्वेन व्यभिचार्यन्तरस्य व्यङ्गकतयाऽभ्युपगमेऽपि न प्राधान्यापत्ते सम्भव इति व्यभिचार्यन्तरस्यापि व्यङ्गकत्वमभ्युपगमेवेति सिद्धा-
न्तपसमाह—

वस्तुतस्तु—प्रकरणादिवशात् प्राधान्यमनुभवति कस्मिंश्चिद्भावे, तदीय-
साधनप्रोव्यङ्ग्यत्वेन ननुतरीयकतया तन्निमानभावहृत्तौ व्यभिचार्यन्तरस्याङ्गत्वेऽपि
न क्षति । यथा गर्वादावमर्षस्य, अमर्षादौ वा गर्वस्य ।

व्यङ्ग्यपास्तर रसभिन्न वस्तुस्वप्नलङ्कारस्य च ।

वाचकमन्दाद् वाच्योपस्थिताकपि चतुकोट्यप्याद्विर्विद्युत्के सत्यनुरणन्यायेन
यथा वस्तुलङ्कारकयो व्यङ्ग्योऽर्थे श्रोतृणा हृदयेऽभिव्यज्यते, तथैव विभावादिवाच-
कतस्तच्छब्दप्रत्ययानन्तरमनुरणनन्यायेन हर्षादयो भावा अपि श्रोतृणा हृदयेऽभिव्यज्यन्ते
इति रसनिरूपणैपर इत्यनेनोपन्यस्त तृतीय मतम् ।

अत्र नाव्यङ्ग्ये विभावानुभावेव व्यङ्गकौ, न तु स्वाविरिक्तौ व्यभिचारिभावो
व्यङ्गकः, अन्यस्य व्यभिचारिणोऽभिव्यक्तिकुटिप्रवेशे कदाचित् तस्यैव प्राधान्यस्य
सम्भव इति व्यभिचार्यन्तरस्य व्यङ्गकत्वमत्र गाङ्गीस्मित इत्याकृतम् ।

प्रकरणादिवशात् कस्मिंश्चिद्भावे प्रधाने क्षति, तद्भावस्य व्यङ्गिका या साधनी,
तस्यैवाविभावावित्त्वेन यतो व्यङ्ग्यमानोऽपरो भावो भवति तस्मात् स्वल्पतया नास-

क्तिर्ते स्वभावन रहने कथा भी आत्मानन्द अविधा से इच्छा रहता है, पर वाक्यगत अष्टौकिक
व्यापार से इस अविचारमक आवरण की विगृप्ति हो जाने पर वह आत्मानन्द प्रकटित हो उठता है
और इसी वाक्यगत स्वामीभाव से अद्वैत विद्वानन्द की रस कक्ष जाता है, जनी तरह वाक्यगुण
विद्युत्विशित हर्ष आदि भाव भी सामानिक के हृदय में अभिव्यक्त होते हैं ।

अन्य विद्वानों का यह भी मत है कि अन्य व्यङ्ग्यों की तरह भावों की अभिव्यक्ति होती है—
अर्थात् जैसे काव्य तथा नाटक के शब्दों से वाक्यांशों की उपस्थिति हो जाने के बाद वरुण एवं वीरव्य
आदि के ज्ञान-द्राया वस्तु अठवारस्य सञ्जयमव्यहय अर्थ सहदर्शों के हृदय में अभिव्यक्त होत है
इसी प्रकार हर्ष आदि भाव भी सत्यदृश्यव्यहय के रूप में ही अभिव्यक्त होते हैं ।

अब इस भागों के व्यङ्गक कौन हो सकत है ? इस बात की परीक्षा करत है—'विभावानुभावों'
इत्यादि । विभाव और अनुभाव ये दो भावों के व्यङ्गक हैं, व्यभिचारीभाव नहीं, यदि एक व्यभि-
चारी (जिसकी प्रधान व्यङ्ग्य होने के माने भाव कहते हैं) के ध्वनित करने में दूसरे व्यभिचारी की
व्यङ्गक मानना आवश्यक सम्भवा अन्यथा, तब नहीं (व्यङ्गक व्यभिचारीमत्र हो) प्रधान हो जायगा ।
कारण यह है कि जैसे यह (भाव माना जाने वाला) व्यभिचारीभाव अभिव्यक्त होता है वैसे ही वह
(व्यङ्गक माना जाने वाला) भी अभिव्यक्त होता है और व्यङ्गकता उसमें अधिक है । अतः भावों के
दो ही (विभाव और अनुभाव) व्यङ्गक मानना उचित है ।

नन्वेकस्मिन् चावेगङ्गिनि परस्य भावस्याङ्गत्वे, गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वे, न तु भाव
ध्वनित्वे तत्र स्यादित्यादादुप समादधाति—

न चैव सति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिः पृथग्विभावानुभावानिव्यक्तस्यैव
(भावस्य) गुणीभूतव्यङ्ग्यध्व्यपदेशहेतुत्वात् ।

उक्तमर्थं समर्थयति—

अत एव नान्तरीयकस्य भावस्य ध्वननं भवति । अन्यथा गर्वादिध्वनेऽच्छेद
एव भवेत् ।

मानोऽपि परोव्यभिचारिभाव प्रधानभावस्याङ्गमेव भवति, न त्वङ्गीति विभावा-
नुभाववद् व्यभिचार्यन्तरस्य भावव्यञ्जकताङ्गीकारे न तत्प्राधान्यापत्तिः । अत एव
गर्वादीं चावेगङ्गिनि, व्यभिचार्यन्तरस्यामर्थस्य, मगर्पादीं चाङ्गिति गर्वस्याङ्गत्व न
विरुद्धमित्यभिप्रायः ।

यत्र प्रधानभावव्यञ्जिकाया विभावानुभावरूपसामग्र्या मिश्रया सामग्रया भावा-
न्तरमभिव्यज्यते, तत्रैव तस्य भावान्तरस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यध्व्यवहारकारणत्वम, न
त्वङ्गत्वेनैव । प्रकृते तूमयोरेवैव सामग्री व्यञ्जिका, तस्माद्भावा गुणीभूतत्व
सम्भवतीति भावः ।

अत एवामिश्रसामग्रीव्यङ्ग्यत्वादेव नान्तरीयकयोर्नित्यसम्बन्धयोर्भावयोर्गुणप्रधान-
भावभावः । अन्यथा—तत्रापि गुणप्रधानभावाम्पुपयमे गर्वादिभावध्वनाव्यमर्पादि-
भावानामभिप्रमामग्रीव्यङ्ग्यत्वात् इत्याद् गुणीभूतव्यपदेशो सर्वत्र प्रयुज्ये, भावध्वनिव्य-
पदेशस्य सर्वथा तोष एव स्यादित्यर्थः ।

रामुन तो एक प्रकण आदि के बल से कोई एक भाव प्रधान हो जयगा, तब हमको व्यभि-
चारने वाली मानसी के द्वारा, अन्यथाव से रहित केवल प्रधान भाव व्यभि ही नहीं हो सकना, इस
कारण यदि कोई अन्य भाव व्यभि हो गी जय और वह प्रकण प्रम भाव को अदेशा दुबल होने के
कारण हमका अत्र बन्धन रहे तो कोई हानि नहीं—अर्थात् प्रकण आदि को सहायता से प्रधान बना
दुआ एक भाव एक प्रधान हो जयगा, तब दूसरा भाव अन्यथासिद्ध के रूप में अभिव्यक्त होकर भी
दुबल रहना, अत प्रधान हा नहीं सकना, इसलिये यदि विभाव की तरह व्यभिचारीभाव की भी
अर्थों का व्यञ्ज माना जय ता किसी हानि की संभारना नहीं है । जैसे कि गर्व ने प्रधानता
व्यञ्ज्य होने पर अमर्थ अर्थ और 'अमर्थ' के प्रधान व्यञ्ज्य होने पर गर्व अर्थ होगा है ।

अदि आप कहें कि इस तरह भाव-व्यभि-स्थल में एक भाव को अङ्गीकार में और दूसरे भाव को
अर्थ रूप में व्यञ्ज्य मानने पर वह काव्य 'गुणीभूत व्यञ्ज्य' कहलायेगा 'भाव-व्यभि' नहीं, ता इसके
उत्तर में अन्तःकार का बल दे कि ऐसा नहीं हो सकना, क्योंकि प्रधान भाव की व्यञ्ज करने वाले
विभाव और अनुभाव में अतिरिक्त विभाव और अनुभाव से जो गी भाव व्यञ्ज होगा है, अत एव
प्रधान भाव के व्यञ्ज्य होने पर मिश्र व्यञ्ज्य होगा व्यञ्ज्य नहीं, अदि तु अङ्गीकार है, वहाँ काव्य
न गुणीभूत व्यञ्ज्यव्यवहार का कारण होगा है, भाव-व्यभिस्थल में तो अङ्गीकार भाव या वहाँ
विभाव-अनुभावी से अभिव्यक्त हुआ रहना है, अिनमे अङ्गीकार व्यभि होना है, अत वहाँ का
अङ्गीकार भाव-व्यञ्ज्य, गुणीभूत-व्यञ्ज्यता का नित्यमक नहीं बन सकता ।

अिच्छेदे एक ही ही से अङ्गीकार भाव ही अङ्गीकार होने पर गुणीभूत व्यञ्ज्यता का कारण
होना है, इसलिये व्यञ्ज्यनित्यत्व में प्रधान भाव से निरुपनी भाव भी व्यभि होना है, जो नान्त-

विभावस्य भावे निमित्तकारणता वक्ति—

विभावम्वत्र व्यभिचारिणो निमित्तकारणमाप्तान्यम्, न तु रसस्यैव मव-
येनालम्बनोद्दीपने अपेक्षित ।

विशेषमाह—

यदि तु कश्चित् सम्भव, तदा न वायेते ।

भावरूपना प्राप्तान हपादीन् रूपेणोद्दिशति—

हर्षादयस्तु—

हर्ष-न्मृति-ग्रीडा-मोह-घृति--शङ्का-ग्लानि-दैन्य-चिन्ता-मद-ध्रम-
गर्व-निद्रा-मति-व्याधि-श्राम-सुप्त-विवोध-ऽमर्षा-ऽग्रहित्योग्रतोन्माद-
मरण-वितर्क--विषादोत्सुक्याऽऽवेग-जडता-ऽऽलस्य--ऽसूया-ऽपस्मार-
चपलताः । प्रतिपक्षकृतधिकारादिजन्मा निर्वेदश्चेति त्रयस्त्रिंशद् व्यभि-
चारिणः । गुरुदेव-चूप-पुत्रादिविषया रतिश्चेति चतुस्त्रिंशत् ।

अत्र भावध्वनौ । यथा रसे व्यञ्जनीये विभावम्यालम्बनतयोद्दीपनतया वपेक्षा
भवति, तथा व्यभिचारिभावे व्यञ्जनीये न भवति, किन्तु व्यभिचारिभाव प्रति विभा-
वस्य निमित्तकारणतैव सामान्यत इत्यथ ।

एवञ्चिद् कस्मिंश्चिद् भावे व्यञ्जनीय मति जालम्बनविभाववदुद्दीपनविभावम्यापि
यदि मन्भव स्यात्, तदा ते ज्ञानम्बनोद्दीपन न वायेते । अत एवाग्रे रमाभासादाह-
रणप्रसङ्ग उद्दीपनम्याप्युपादान नासङ्गतम् ।

भावानामिहोपदेशमत्र प्राचीनग्रन्थप्रतिकूल ।

हर्षप्रभृतयन्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिभावा गुर्वादिविषयहरतिश्चेति चतुस्त्रिंशद्
भावा कल्पनीयम् ।

रीषक रहता है—प्रधान भाव के ध्वनि होने पर जिनका ध्वनि होना आवश्यक होता है—अर्थात्
जो प्रधान भाव-व्यञ्जमानता में हो व्यक्त हुआ रहता है । तात्पर्य यह है कि भाव-ध्वनि ध्वनि में
प्रधान भाव में निश्चय इस भाव का ध्वनि कहा होता, फिरवा प्रधान-भाव-ध्वनि के साथ ध्वनि
होना निश्चित नहीं है । अन्यथा (यदि प्रधान भाव-ध्वनि के साथ निवभवा ध्वनि होने का
कदमून भाव भी गुणाभूत व्यञ्जयत्व-व्यवहार के कारण हो, तब) यथादिभावन्यत्रि का ऐंय ही हो
जाय, कारण यह कि गर्वादि-प्रधान-भाव-ध्वनि-रस में अद्वयमे निवभवा ध्वनि होने वाले
अमर्ष आदि को तेज गुणाभूत व्यञ्जय काव्य वा व्यवहार ही मन्व हो जायगा ।

विभाववत् ते यदा व्यभिचारिभाव के साधारण निमित्तकारण वा ग्रहण सम्पन्नता चक्षि, न कि
रस की तरह उनका सर्वथा अलम्बन और उदापन होना अपेक्षित है ।

यदि कहीं किसी रस भाव की ध्वनि में विभाव का अलम्बन और उद्दीपन होना भी सम्भव
हो, तो हमका निश्चय भी नहीं करजा है । अत एव आगे रमाभास के उदाहरण-प्रसङ्ग में अलम्बन
के जैसे उदापन की भी की गई धर्वा अमगत कहा होती है ।

अब भावों का परिणाम करने हैं—'हर्षादयस्तु' इत्यादि । भावों को कुल सत्ता २४ है । उनमें

उदाहरण—

यथा—

नायको विमृशति—

‘तन्मञ्जु मन्दहसित श्रुतितानि तानि,
सा वै कलङ्कविधुरा मधुराऽऽननधो ।
अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति क्रन्त !,
सायन्तनाम्बुजनहोदरलोचनाया ॥’

विभावादि प्रतिपाद्यति—

विन्ताविशेषोऽत्र विभाव, भ्रूश्रुति-गात्रनिश्चलत्वादेव आक्षेपगम्या अनु-
भावा ।

इहोदाहरणे विप्रलम्बध्वनित्वासाङ्गुप निरस्यति—

यद्यप्यत्राम्या एव स्मृते मञ्जारिण्याः, नायिकारूपस्य विभावस्य, हस्तापद-
गम्यस्य हृदयवैकल्यरूपानुभावस्य यद्योनाइ विप्रलम्बरसाभिव्यक्तौ रसध्वनित्वं
शक्यते वक्तुम्, तथापि स्मृतेरेवात्र पुरस्फूर्तिकत्वात्प्रमत्वारित्वाच्च तद्वध्वनित्व-
मुक्तम् ।

द्वितीयधरणात्ते समुच्चयायं कञ्चनार आक्षेप्य, अथवा—‘गामश्व पुरप पशुम्’-
इत्यनेव सद्यप्रतीतिर्दोष्या ।

मायलनाम्बुजस्य निमीलनत्वमस्य सुहोदर मधुर तांशुन यस्या सा तादृशी,
तस्या विसासश्रमेण वस्तुतस्त्वानन्दानिन्देण निमीलनयनाया प्रेयस्या, तन् पूर्वानुन-
वैकलोचरीभूत मञ्जु मुग्ध मन्दहसित सिन्दूरम्, तानि श्रुतितानि धमादिद्वन्द्वभ्राना,
सा कलङ्कविधुरा निधत्तङ्गाज एव पूर्णानुपभावेनमार्गि मधुरा मनोहरा, मानन-
श्रीवन्दनयोना च (स्मर्यमाणाणि) हन्त ! वत !, मे मय हृदय मानसम्, अधुनाऽ-
साप्रिध्वकालेऽपि, उगमदण्डानुप्रतीकुर्वन्तीत्यर्थम् ।

चिन्ताविशेषस्य भावनास्वरकारस्वस्य स्मृती निमित्ततया विभावत्वम्, अनुक्त-
त्वादाक्षेपदोष्याना भ्रूश्रुतिप्रभृतीना च कर्तृत्वादनुभावत्वमाकलनीयम् ।

विभावस्यातन्म्वनस्य । पुरोऽपि स्फूर्ति प्रतीतिर्यस्या सा पुरस्फूर्तिवा, तस्या
भावस्तत्त्वम् । तद्वध्वनित्व स्फूर्तिध्वनित्वम् ।

माना वा मङ्गला, इमलिये अनुभव-अन-नन्दार से एख्य शान को स्मरण करा गया है, यह विशेष
वहाँ समझना चाहिये ।

उत्ते —

नायक अपने मन में सोचता है अथवा किती मित से कहता है कि—मर्यादातिक्रमकों ने
मनान, अर्थ—मुद्रित नदनों वाली देवती का वह सुन्दर मन्द हास, मे श्म, यह निष्कल ह
हृदय की उंगल, हास ! अथवा मेरे हृदय को चकल बना रही है ।

वहाँ एक तरह की पिन्दा विभव है, प्र-उत्था का उदयन, उदर का निष्कलीमन-अदि को
कल्प नहीं है, फिर भी आक्षेप से समझ में आ जाती है—अनुभव है ।

यदि वहाँ नायिकाएँ विचार “हन्त” अथवा “वत” यह से व्यक्त होने वाला हृदय को दिखत-

ननु तच्छब्दस्य बुद्धिविषयीभूतायंवाचकत्वाद् बुद्धिविशेषरूपाया स्मृतेरपि तद्वा-
च्यतया कथमिह स्मृतिध्वनित्वमित्याशङ्क्य मतद्वयेन समादधाति—

तदादेर्बुद्धिस्थप्रकारावच्छिन्ने शक्तिरिति नये बुद्धे शक्यताऽवच्छेदकानु-
गमकतया न वाच्यतासस्पर्शः । बुद्धिस्थत्व शक्यताऽवच्छेदकमिति नयेऽपि
स्मृतिध्वनेन स्मृतेर्बुक्तिवेद्यतैव ।

नन्वस्मिन्नुदाहरणे नायिकास्पातम्बनविभावस्य, हन्तपदस्यङ्गघृहदयैकत्वरूपा-
नुभावस्य, स्मृतिरूपव्यभिचारिभावस्य च नायकनिष्ठरती सम्बन्धाद् विप्रलम्भध्वनि-
रेवेति शङ्काया — पञ्चाङ्गवन्त्यामल्पचमत्काराया सत्यामपीह विप्रलम्भप्रतीती, पुरो
भावित्वादाधिकचमत्कारवत्त्वाच्च स्मृतिप्रतीते, स्मृतिभावध्वनित्वमेवात्रेति
समाधातम् ।

तच्छब्दस्य प्रकरणवशाद् घटपटादिनानाऽयंबोधकत्वस्य दर्शनाद्व्यापिपदवन्नानार्थ-
कत्वापत्तेर्वारणाय बुद्धिविषयताऽवच्छेदकत्वोपलक्षितं तत्तदर्थवच्छिन्ने शक्तिः । न च
तथापि शक्यताऽवच्छेदकभेदाच्छक्तिभेदः, शक्यताऽवच्छेदकानां नानात्वेऽपि, तेषामनु-
गमकस्य बुद्धिविषयताऽवच्छेदकत्वरूपस्योपलक्षणधर्मस्यैक्याच्छक्तेरैक्यमेव, न तु
नानात्वम इत्यस्मिन् प्रथममते बुद्धे शक्यताऽवच्छेदकानुगमकधर्मकुक्षिप्रवेशोऽनुपसम्प-
त्तया वाच्यत्वाभावाद् ध्वन्यमानत्वमजनमेव । तच्छब्दस्य बुद्धिविषयत्वावच्छिन्ने
शक्तिरिति मतेऽपि, बुद्धित्वेण सामान्यधर्मण स्मृतेर्वाच्यतायासपि स्मृतिरूपेणासाधारण
धर्मणावाच्यत्वाद् ध्वनित्वे न किञ्चिद्वाच्यकमिति द्वितीयमतेऽपि दोषाभावे बोध्यः ।

एव अनुभाव और स्मृतिरूप मञ्जारीभाव के संयोग से विप्रलम्भ—श्रृंगार—रस की अभिव्यक्ति होती है,
अतः वहा रस—अनि है ऐसा कहा जा सकता है, तथापि भाव—अनि इत्यदि वही गई कि वह
स्मृति की ही प्रतीति होगी है और चमत्कारिणी भी है, हा ! पश्चात् उक्त रस भा ध्वनित हो सकता
है, तो हा, पर धर्मों वचना चमत्कार नहीं होगा ।

यहाँ एक शङ्का यह होती है कि जब तत्पद का वाच्य 'बुद्धि-विषयोभूत अर्थ' है, तब तो बुद्धि भी
वचनके वाच्य की श्रेणी में आ गई और स्मृति भी एक प्रकार की बुद्धि (ज्ञान) ही है, अतः स्मृति
यहाँ वाच्य कैसे होगी ? क्योंकि वाच्य अर्थ का आलङ्कारिक लोप व्यवहृत नहीं मानते, इसी शङ्का
का उत्तर चमत्कार देते हैं—'तद्वादे' इत्यादि । अत्रिप्राय यह दे कि तत्पद के घट-पटा आदि अनेक
अर्थ हैं, फिर हरिप्रभृति पद के जैसे वह (तत्पद) भी नानार्थक क्यों नहीं माना जाय ? यह प्रश्न
जब उठा, तब सभी दार्शनिकों ने एक स्वर से समाधान किया कि अर्थ के अनेक होने से कोई पद
नानार्थक नहीं होता, वरन् किसी पद में अनेक अर्थ निरूपित अनेक शक्ति मानने से वह पद नाना-
र्थक होता है, यदि किसी पद में अनेक अर्थ निरूपित होकर भी शक्ति एक ही हो, तब वह पद एक-
र्थक ही कहलाता है और शक्ति के एक होने के नियम वे हैं कि यदि शक्य एक हो, तब शक्ति एक,
यदि शक्य अनेक भी हों और शक्यतावच्छेदक एक हो, तब भी शक्ति एक, यदि वह भी अनेक ही हों,
तब भी शक्यतावच्छेदकानुगमक के एक होने पर शक्ति एक ही होती है, सारांश यह कि शक्य के
पीछे यदि कहीं कोई अनुगमन एक अर्थ हो, तो शक्ति एक होती है । इस पर प्रश्न उठा कि तत्पद में
शक्ति एक है ? या अनेक ? इसका उत्तर जो सबों ने समझ ही दिया कि—एक । इसके बाद यह
प्रश्न सामने आया कि—क्यों ? अर्थात् अगर जो शक्ति को एक बनाने वाले अनेक नियम बतलाये गये

ननु द्वितीयमत्रे बुद्धित्वेनाभिधया बोध्यमानाया एव स्मृते स्मृतिरिति व्यङ्ग्यता-
ङ्गीकारे 'शयिता सविधे' इत्यादौ प्रागुपासत्य 'व्यङ्ग्यस्य कथमपि वाच्यवृत्त्यनातिङ्गि-
तस्यैव चमत्कारित्वादित्यालङ्कारिकसमय' इति स्वकीयग्रन्थस्य विरोध स्फुट एवेति
चेत्, उच्यते—वाच्यताऽवच्छेदको व्यङ्ग्यताऽवच्छेदकश्च प्रतीतिविषयो जातिरूपस्व-
दन्यो वा मत्रेक एव धर्मो भवति, तत्रैव तदर्थस्य न व्यङ्ग्यता चमत्कारिता वा, यत्र
तु सामान्यविशेषभावादिनाऽपि तदर्थयोस्तन्नीयानपि भेद, तत्र नम नियम, नया च
'शयिते त्यादौ वाच्यताऽवच्छेदकस्य मनोरयत्वस्य व्यङ्ग्यताऽवच्छेदकस्येच्छारवस्य च
घटत्व-कतघटत्ववर्द्धनयम इह तु बुद्धित्व-स्मृतिर्योगुणत्वज्ञानत्ववत् सामान्यविशेष-
भावाद् भेदस्तस्मान्न दोष इति व्याख्यातार ।

हे, मनमें से यहा कौन स नियम लागू होता है ? इसके उत्तर में दार्शनिकों के दो मत हो गये ।
कुछ लोगों का मत है कि बुद्धित्व जो प्रकार (भेदक विशेषण) तदपच्छिन्न अर्थात् तद्विशिष्ट में तत्पर
की शक्ति है । जैसे—घटत्व-घटत्व आदि प्रकार (भेदक विशेषण) को बुद्धित्व कर लेने पर तद्विशिष्ट
घट-घट आदि में तत्पर का शक्ति होती है । इस मत के अनुसार तत्पर से घट-घटादि का बोध
अनाधारण अर्थात् घटघटादिरूप में ही होता है । इसी बात को कुछ लोग 'बुद्धि विशेषणावच्छेदकत्वो-
पलक्षणपरमापच्छिन्न में तत्पर की शक्ति है' इस रूप से भी कहते हैं, तत्पर एक ही है । इस तरह से
शक्ति मानने पर घटपि तत्पर के शक्य घट-घट आदि अनेक होते हैं, शक्यतावच्छेदक (वक्त प्रकार)—
घटत्व घटत्व आदि भी अनेक ही होते हैं, तथापि शक्यतावच्छेदक पर्यन्तियों का अनुगम करने वाला,
शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक बुद्धित्वत्व अथवा बुद्धिरूप अवलोक्यक धर्म एक है, अतः शक्ति एक ही होगी
और तत्पर नानार्थक नहीं होगा । अन्य लोगों का मत हमसे कुछ भिन्न है, उनका कथन यह है कि—
तत्पर की शक्ति बुद्धित्वपर्यापच्छिन्न में है, इस मत के अनुसार तत्पर से घट आदि का बोध अनाधा-
रण घट आदि के रूप से नहीं होता, अपि तु साधारण बुद्धित्व के रूप में । इस प्रकार शक्ति मानने
पर तत्पर के शक्य घटादि तो अनेक हुए, पर शक्यतावच्छेदक बुद्धित्वत्व एक ही हुआ और अनुगम
भी, यत्र इस मत में भी अनेक अर्थ निहित एक ही शक्ति तत्पर को सिद्ध हुई, इस मत में शक्य-
तावच्छेदकतावच्छेदक पर्यन्त, अनुगम के लिए अनुधावन नहीं करना पड़ता, यह तात्पर्य है । परन्तु
इस मत के अनुसार भी तत्पर नानार्थक नहीं कहा सकता । अतः, ये ती दुये दार्शनिकों के मतों के ।
अब प्रश्न में विचार यह करना है कि एक दोनों मतों में से किसी भी मत के अनुसार स्मृति
(नियमों अर्थात् यहाँ मानते हैं) तत्पर का वाच्य होती है या नहीं ? उत्तर यह है कि—नहीं, क्योंकि
प्रथम मत के अनुसार तत्पर ने अर्थ में बुद्धि का स्थान हीमरे दने—अर्थात् शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक
में है और किसी भी घट की वाच्यता शक्य और शक्यतावच्छेदक तक ही सीमित रहनी है अर्थात्
शक्य और शक्यतावच्छेदक ही घट के वाच्य होते हैं, उनके आगे शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक नहीं
वाच्य होता, दूसरी बात यह कि बुद्धि यहाँ शक्यतावच्छेदकों का अनुगम करने के लिए अवलोक्य
मान है, विशेषण नहीं, फिर वह वाच्य हो भी कैसे सकता है ? द्वितीय मत के अनुसार यद्यपि बुद्धि
शक्यतावच्छेदक है और विशेषण भी अवलोक्य नहीं, अतः वह तत्पर का वाच्य-र्थ अर्थ हो गया
और स्मृति भी बुद्धित्व होने में वाच्य हो गई, तथापि बुद्धित्व इस सामान्यरूप से ही स्मृति वाच्य
हुई, स्मृतिरूप से तो स्मृति व्यह्वय ही होगी और इस रूपभेद के कारण स्मृति में व्यह्वय होने में
कोई बाधा भी नहीं होगी । वादी यदि वदें कि—घटने मात्र यह आवे ही कि वही अर्थ व्यह्वय हो
सकता है, जिसमें किसी भी तरह वाच्य-शक्ति (अभिधा) का स्थान न हो, अतः पर अपने 'द्वितीय
परिधि' 'दुयादि वष में अनेकानुसूया वाच्य वन कुतो बुद्धित्वेच्छ को व्यह्वय नहीं माना
है, फिर यहाँ मात्र बुद्धित्वेन रूपेण वाच्य वनी हुई स्मृति को व्यह्वय कैसे मानन है ? यह तो शारद्री

स्मृतेरिह पदप्रकाश्यत्व व्यवस्थापयति—

तस्याभ्रात्र वाक्यवेद्यत्वेऽपि पदस्यैव कुर्वद्रूपत्वात् पदध्वनिविषयत्वम् ।
एतेन भावना पदव्यङ्ग्यत्वे न वैचित्र्यमिति परारतम् ।

प्रसङ्गादत्र पद्ये पदान्तरव्यङ्ग्य प्रकाशयति—

सायन्तनाम्बुजोपमानेन नयनपोरुत्तरोत्तराधिकनिमीलनोन्मुखत्वध्वननद्वारा
तस्या आनन्दमग्नताप्रकाश ।

प्रसुदाहरणमाह—

‘दरानमत्कन्धरबन्धमीपस्त्रिभोलितस्त्रिगधविलोचनाब्जम् ।

अनल्पनिरश्वासभरालसाङ्ग स्मरामि सङ्ग चिरमङ्गनाया ॥

तस्या स्मृते । वाक्येन तन्मञ्जिवत्यादिना । पदस्य तच्छब्दस्य (कुर्वद्रूपत्ववैल-
क्षण्यमपूर्वशक्तिरिति यावन् एतेन पदप्रकाश्यव्यङ्ग्यत्वापि चमत्कारित्वाति-
शयानुभवान् ।

स्मृत्येव्यङ्ग्यक मद्यपि समस्तमेव वाक्यमिदम्, किन्तु तच्चमत्कारापेक्षयाऽधिकस्व-
माकारस्तत्पदव्यङ्ग्यभस्मृतेरेवानुभूयत इति प्राधान्यात् पदप्रकाश्यध्वनित्वमेवात्र प्रसि-
द्धम् । एतद्वता भावना पदप्रकाश्यत्वे नैव चमत्कारी भवतीति वदन्त प्रसुक्ता,
तत्रापि चमत्कारानुभविकत्वात् विच्छित्तिसोमिनेकेन भ्रूषणेनैव कामिनी । पदघो-
र्येन मुक्येध्वनिना भाति भारती ॥ इति ध्वनिकारानुमतत्वाच्च ।

नेत्रयो सायङ्कालिककमलोपमया प्राक् क्रमिकनिमीलनोन्मुखत्व, पश्चात्प्रायि-
काया आनन्दमग्नत्व च व्यज्यत इत्याशय ।

दरमीपदानमन् नम्रीमवन् कन्धराबन्धो शीवाभागो यत्र, तम निमीलिते आन-

परस्पर विरुद्ध भावों होती है, इसका समाधान यह है कि वाक्यभावच्छेदक और व्यङ्ग्यभावच्छेदक
(चाहे वह आतिरूप हो या अन्य कोई) धर्म जहाँ एक ही रहता है वहाँ वह अर्थ व्यक्त नहीं होता
और चमत्कारी भी नहीं, जैसे ‘शयिता ’ इत्यादि पद्य में मनोरमत्व और दृष्टात्व जो क्रमशः
वाक्यभावच्छेदक और व्यङ्ग्यभावच्छेदक है—एक ही जाति है—अर्थात् जैसे वदत्व और वदशत्व में
कोई भेद नहीं है, वैसे इन दोनों में भी भेद नहीं है, अतः मनोरमत्वरूप से वाक्य हो जाने पर
दृष्टात्वरूप से व्यङ्ग्य नहीं होगा ।

पर यहाँ प्रेमी बात नहीं है—अर्थात् बुद्धित्व और स्तुतित्व एक नहीं है, इन दोनों में सामान्य-
विरोधभाव है, अतः गुणत्व और ज्ञानत्व के जैसे ये दोनों दो, धर्म हैं, फिर बुद्धित्वेन रूपेण वाक्य
होने पर भी स्तुतित्वेन व्यङ्ग्य होने में क्या अपत्ति हो सकती है ? किन्तु विरोध वैसे होगा ? अर्थात्
न कोई आपत्ति होगी, न कोई विरोध होगा ।

यद्यपि यहाँ सम्पूर्ण वाक्य में ही स्मृति अवगत होती है, तथापि तत्पद सा कुर्वन्त्य है—अर्थात्
यह पद पर ही स्मृति को ध्वनित करने में अग्रसर है, अतः यह ‘पदध्वनि’ वा ही दृश्य माना जाता
है । इससे लोगों को जो यह धारणा है कि—भाव यदि ‘पद’ के द्वारा ध्वनित हों, तो उनमें कुछ
शिक्षितना (चमत्कार) नहीं होंगे, उसे नष्ट हो जाना चाहिए ।

यहाँ नेत्रों को जो सायकालिक कमलों की उपमा दी गई है, उससे यह अभिव्यक्त होता है कि
नेत्र वक्षोत्तर (आगे) अधिक मुखित होने लगे रहे हैं, जिनमें नायिका की आनन्द मग्नता ध्वनित
होती है ।

वशाहृति—

मया—

नामको मुष्वाइत मन्वाय आहृति—

‘कुचकञ्जमुष्वाइतनामकोन नन्वाहुं,
मपुल्लवतनु मन्द मन्दमालोकमना ।
विनिहितवदनं मा वीर्यं वाच मवासे,
चकितननताङ्गी सप्त रुद्धो विवेग ॥’

वशाहृति—

अत्र प्रियम् दगंनम्, तेन नादिकाकृतृष्टतन्नुषालवतिप्रियनवप्रतावणे-
कनजन्-हृदविदकतलुष्कादेदंमनं च विभाव । सप्त मदनप्रवेगोऽनुनाव ।

पुनश्चाहृति—

मया वा—

परामतो वैरिहृत । वैश्वर्यं वर्यन्मयाऽनाव । पुण्यनुवाववोकनादितम्
स्त्रीवृत्ति, प्रस्त्रिज्ञानङ्गादिजल्पम् पुवपुष्पिवैरगांदिजवकक्रियवृत्तिविवेयो वीडा
मन्त्रेण्यर्थ । तदुक्तम्—‘सद्भोवमेवमा इडा वैश्वर्यानुवृत्त्यर्थ ।’ इति ।

वाचा मुष्वा, कुषावेव पृथुनन्वादुजपन्वाच्य कनगौ नवपुंरुम्य पुष्पम्यालवये,
मानकीन मया कृत वाग्मन्मन्त्रित नन्वाहु नक्षत्रिहृत्, (रहनि) मनुचकतनु हृयो-
वृष्णरोमावाचिभगरीर मया म्यां तथा, मन्द मन्द वर्यंकरं मावोकनता
पयम्यां, मवासे तद्वर्मानाहुंवन्मदन विनिहितवदन म्याविनमृत (परमन्) मा
वीर्य, चकितान्मवाचयेव, नन्ननानि नन्ननानि च नन्ननान्नाङ्गावि यन्म्यान्नाङ्गां,
सपन्नात्कानि, सप्त वर्यंगुह विवेगेण्यर्थ ।

तेन विवेग ।

ताम्या विभावानुनावास्या प्राज्ञान्वेन मन्वाय अद्भुतान्मन्वाचयेतिवदु-
वाहरणम् ।

अत्र श्रेय (लज्जा) का लक्षण वक्त है—‘श्रेयशात्’ इत्यादि । यिनो में पुन-पुन-दगंन
कादि से और पुनो में प्रस्त्रि-म्य वष वर्यन्म्य अदि से लज्ज होने लगी और विवर्ण्य पर मया-
नन्वा आदि अनुभावों को वक्ष्य करते वटा को पर मन्द की विवृत्ति है, एवम्क नाम ‘श्रेय’ है ।

उत्ते—जायत्र अदरे मित्र = कष्टण है कि—कष्टों के मन्त्र विप्राप्त म्य वन्ना दोनो वर्यो-
के मया में मरे क्षार हो किते नय-स्य के विद्व को पुष्टिप्राप्ती होकर वी-वने देवो पुष्ट वन
मुष्वा वाचिशा ने ज्यों ही शत्रुवे में पुन उन्न हुने (अपने और देवन हुने) होने देवा, वी ही वर
चकित होकर अपने वर्यो को निर्वाहण हुई व में म्या रुई ।

वर्ष नन्दिक को प्रियम वा विपदुं देना और वर्यो लटो में यि के नवम्य के देवने न
तन्ना हुने हर्ष की सुखना देने वाले होव व आदि का प्रियम को दीव मन्त्र विनय है मया पुन
पर में मया जाया अनुभाव है । इन दोनों विनय-दुनको ही प्रवृत्त लज्जा अन्वित होने है,
आ वर्य वर ‘माद-म्यनि’ का वर्यम मुष्वा ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वाताया मोहावस्थाव्यापार वर्णयति—

‘विरहेण विकलहृदया विलपन्ती दयित । दयितेति ।

अगतमपि त सविधे परिचयहीनेन वीक्षते बाल ॥’

अत्र विभावानुभावो द्ययति—

अत्र कान्तवियोगो विभाव, इन्द्रियवैकल्य लज्जाधभावश्चानुभाव ।

पुनरुदाहरति—

‘शुण्डादण्ड कुण्डलोक्त्य कूले, कल्लोलिन्या किञ्चिदाकुञ्चिताक्षः ।

नैवाकर्षत्यम्बु, नैवाम्बुजालि कान्तापेन कृत्यशून्यो गजेन्द्र ॥’

सा चिन्ताख्या वक्ष्यमाणं वस्तुतत्त्वानवधारणरूपमवस्थान्तर यदा चित्तशू रेव तथा मोहाख्येति तु नव्या वक्ष्यन्तीत्यर्थं ।

विरहेण विकलहृदया व्याकुलमना, अत एव दयित । दयि क्वासीति विलपन्ती, सा बाला, सविध ममीये अगतमपि न, दयित परिचयहीनाऽनज्जात-परिचयेद, वीक्षते पश्यति, न तु किमपि कथयतीत्यर्थं ।

इन्द्रियाणा वैकल्य प्राज्ञाग्राहणम नञ्चात्र परिचितचरस्य पत्युश्चक्षुषा विषयीकरणेऽपि परिषयाभावान्, लज्जाऽभावश्च वातात्वेऽपि पुरम्यस्य पत्युस्तथादर्शनादव-गती विभावानुभावो नायिकाया माहुरूप भाव व्यङ्क्त ।

कान्ताया प्रियहृस्तिन्या अप्रेतो विरहित कल्लोलिन्या सरित, कूले तटे, शुण्डादण्ड शुण्डा हस्त एव दीघबाहृण्डस्त कुण्डलीकृत्य लम्बमपि वर्तुल विधाय, कृत्यशून्य स्वविषयज्ञानविधुर, गजेन्द्रो हन्तिराज, अम्बु नद्या जन, दिनान्तरवन्, नैवाकर्षति करेण नैव पिबति अम्बुजालि सरमिजश्रेणी चापि प्राग्गत, नैवाकर्षति नैव गृह्णातीत्यर्थं ।

नवान विद्वानो वा मत्त है कि चिन्ता नाम का निम्न चित्त-वृत्ति का वर्णन आगे किया जावे वही अब एक एवम अवस्था तक पहुच जाना न तब मोह नाम मे पुष्करी गयी है—अर्थात् चिन्ता कर इस दशा को पहुच गयी है कि सुखना-अममना मय दन्द हो जाय, तब तमे मोह करने हैं मन चिन्ता मे पुष्क उमवा (मोह की) गगन नहीं करनी चाहिये ।

अब मोह का उदाहरण देखिये —

एक मत्त एवम मरी से कहना है कि—प्यारे-प्यारे की रट र जाती हुई उम मुग्धा नायिका का हृदय विरह मे कृन्त करार हो गया व कि राम में आये हुए भी पिय को इस तरह देखती रह गयी है, नैन उनके माथ उमना कमा वा कोई परिचय ही न ही ।

उक्त पद में पिय का विरह विभाव है और इन्द्रियों (चक्षु आदि) को विकलता (झान-शक्ति का ह्रास) तथा लज्जा आदि वा अभाव अनुभाव है । लज्जा का अभाव यदा इस दान मे प्रतीत होता है कि नायिका काञ्च होकर भा पये के सामने मे (जब बाला को लज्जा-उत्ता प्रतिद है) अपरिचित मा देखती रह जाती है । उक्त विभाव और अनुभावों से मोहभाव की धनि होती है ।

अथा, त्रैमे—‘शुण्डादण्डम् ’ इत्यादि पद में कोई दर्शक कहना है कि—हफ्ती से

धृति निरूपयति—

लोभशोकभयादिजनितोपप्लवनिवारणकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो धृतिः ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

घोर परामृशति—

‘सन्तापयामि हृदय, घाव घाव घरातले किमहम् ।

अस्ति मम शिरसि सतत, नन्दकुमार प्रभ परम ॥’

विभावानुभावावाह—

अत्र विवेकभ्रुतसम्पत्त्यादिविभाव, चापलाद्युपशमोऽनुभाव ।

शङ्कते—

ननु चोत्तरार्धे विन्ना नास्तीति वस्तुनोऽभिव्यक्ते कथमस्य धृतिभावध्व-
नित्वमिति चेत् ।

अत्र कान्तावियोगो विभाव, चरित्तटेऽपि सलिलाद्यनाकपणमनुभावश्च वस्तुतत्वा-
नवधारणरूप मोहमवब्रजयत । ‘कृत्वशून्य’ इति विगेषणैनाभिहितप्रायो मोह इत्य-
स्मात्पूर्वमेवोदाहरण रुचिर प्रतिभाति ।

‘लोभ-शोक-भयादिजनितस्य, उपप्लवस्य पित्तघोभरूपोपद्रवस्य निवारण-
कारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो धृतिरित्यर्थं । तदुक्तम्—‘अभीष्टार्थस्य सम्प्राप्ती स्पृहा—
पर्याप्तता धृति । सौहित्य-वदनोल्लास-सहासवचनादिवृत्त ॥ इति ।

मह (लोभेनाभिभूत) सतत घरातले (इतस्तत) घाव घाव घावित्वा
घावित्वा, हृदय मन कि कुत सन्तापयामि पीडयामि । यत परम सर्वोत्कृष्ट,
प्रभु सर्वं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं समर्थं, नन्दकुमार इच्छन्चन्द्र, मम शिरस्य-
स्त्वेतेत्यर्थं ।

इह नन्दकुमारस्य शिरस्थत्वकथनेन बारभूतत्वप्रतीतेर्भासनाहानिरिति ‘अस्ति
ममाद्ये’ इति पाठ समीचीन प्रतिभाति ।

ध्रुतसम्पत्ति शास्त्रज्ञानसम्पत्ति । धैर्यं विवेकाद्युद्भूत चापलमुपरामयति ।

विद्युत् क्षापी निश्चेष्ट होकर, सृष्ट की बर्तुलाकार बना कर और नेत्रों को कुछ कुछ सिकोच कर नदी
के तट पर लडा तो है, परन्तु न अल को सींचना है और न कण्टों की परिक्रि को । यदा कान्ता वा
वियोग विभाव है और नदी के तट पर रहकर भी जन्म तथा ममताओं को न सींचना अनुभाव है,
निमित्त मोह व्यक्त होता है ।

अत्र ‘धृति’ का निरूपण करते हैं—‘लोभ’ इत्यादि । उन चित्त-वृत्ति का नाम ‘धृति’ है,
त्रिमके कारण लोभ, शोक और भय आदि से उत्पन्न होने का उदाहरण जान हो जाने है ।

किन्ती धैर्य-शाही पुस्तक का मानसिक विचार है कि—मैं मर्या भूत पर इधर-उधर दौड़-दौड़
कर अपने हृदय को क्यों सतत कर रहा हूँ । मेरे शिर पर प्रभुवर नन्दनन्दन सर्वदा विराजमान हैं—
मुझे चिन्त कराने की क्या आवश्यकता ? वे स्वयं मम चित्तों की व्याख्या कर ही देंगे ।

उन पद में विवेक और शास्त्र-ज्ञान-रूप-सम्पत्ति आदि विभाव है तथा अग्रजना आदि की
निर्धृति अनुभाव है ।

उत्तरयति—

तस्य धृत्युपयोगितयेवामिव्यक्तेः ।

शङ्का निरूपयति—

किमनिष्टं मम भविष्यतीत्याकारश्चित्तवृत्तिविशेषः शङ्का ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

ईवप्रतिबद्धा मद्भवेनस्थल गन्तुमशक्ता स्वामिष्य शङ्कामाया नायिवा
सखी भाषते—

‘विधिवच्चितया मया न यात, सखि ! सङ्केतनिकेतन प्रियस्य ।

अधुना वत ! किं विधातुकामो मयि कामो नृपतिः । पुनर्न जाने ॥’

उपपादयति—

अत्र राजापराधो विभाव मुखबंधर्ण्यादय आक्षेप्या अनुभावा ।

‘का चिन्ता मम जीवने यदि हरिविष्वम्भरो गोपते’ इत्यादौ वाच्य इव चिन्ताऽभाव उत्तरार्धेऽस्तीत्यादौ वस्तुम्पो व्यङ्ग्य इति नाय भावध्वनिः, किन्तु वस्तु-
ध्वनिरेवेति शङ्का ।

तस्य चिन्ताऽभावहूपव्यङ्ग्यस्य ।

भाष्यनिश्चिताकारकम्बानिष्टचिन्तनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषश्चङ्केत्यर्थः । तदुक्तम्—

परक्रीयात्मदोषादे शङ्काऽनिष्टस्य चिन्तनम् ।

ईवर्ष्यं—कम्प—ईस्वर्यं—पार्श्वलोका—स्यगोपकृत् । इति ।

चिन्तन सम्भावनम् । परक्रीयादिबिभावी ईवर्ष्याविधानुभाव शङ्काया ।

हे सखि ! विधिवच्चितया ईवनेन विप्रलब्धया, मया, वत ! हन्त ! प्रियस्य
प्रणयपारस्वेनापरिहायानुरोधस्य, सङ्केतनिकेतन सङ्केतीकृतगृह, न यात नैव गतम्;
अधुना ईवप्रेरणया न तु स्वेच्छयाऽस्मिन्नपराधं मया कृते सति, नृपतिः प्रकृत्यैव क्रूर
भातामङ्गान् कुडो मुक्जनाना शासकत्वाद् राजा, कामो मगम, मयि कृतागसि,
पुन, किं विधातुकाम किं चिकीर्षुंरस्तीति न जाने नावगच्छामीत्यर्थः ।

मुखबंधर्ण्यादीना साक्षाच्छब्दानुक्तत्वादाक्षेप्यत्वम् ।

यथा यह शङ्का होती है वस्तु एष के उत्तरार्ध से तो ‘मुझे चिन्ता नहीं है’ यह वस्तु अनिष्ट होती
है, फिर इस एष को धृति—भाव—धनि वा उदाहरण कैसे करते हैं ?

वस्तु शङ्का वा उत्तर यह है कि ‘मुझे चिन्ता नहीं है’ इस वस्तु को ध्वनि यहाँ प्रधान रूप से
नहीं होती, वरन्, धृति—भाव ने बोधरूप में ही, अर्थात् चिन्ता का अभाव भय में उद्योगी है, अन्
हमका ध्वनि होना धृति की ध्वनि में सहायक ही होता है, बाधक नहीं ।

‘मेरा क्या अनिष्ट होगा’ इस तरह को चित्तवृत्ति का नाम ‘शङ्का’ है ।

उदाहरण लीजिये । ईववश से संवेत—स्थल पर जाने में असमर्थ बनी हुई नादिका स्व—मनोगत
कनिष्ठ—शङ्का का बर्णन मञ्जी से करती है —हे सखि ! विधाता ने मुझे धोखा दिया, जिससे मैं प्रिय
के संवेत—स्थान पर न जा सकी । अतः मय है कि न जाने, महाराज कामदेव मेरे विषय में क्या करण
वाहते हैं ।

अत्रोदाहरणे अमध्वनिमाद्यङ्घ्र निरस्यति—

न चात्र श्रमः शङ्खुघ, कारणाभावात् ।

ग्लाने परकीय लक्षणमुपन्यस्य निराकरोति—

केचित्तु—व्याध्यादिप्रभव—बलनाश ग्लानिमाहु, तेषां मते चित्तवृत्त्यात्म-
केषु भावेषु, नाशरूपाया ग्लाने. कथं समावेश इति ध्येयम् ।

परकीयलक्षण मरतोक्तलक्षणसवादात् सङ्गतिमाद्यङ्घ्र सङ्घयति—

यद्यपि—‘वलस्यापचयो ग्लानिराधिव्याधिसमुद्भव ।’ इति लक्षणवाक्या-
दपचयशब्देन नाश एव प्रतीयते, तथापि प्रागुक्तानुपपत्त्या बलनाशजन्य दुःखमेव
बलापचयशब्देन विवक्षितम् ।

दैन्य निरूपयति—

दुःख—दारिद्र्या—पराधादिजनितः स्वापरुर्षगापणादिहेतुश्चित्त-
वृत्तिविशेषो दैन्यम् ।

इह प्रियविरहपदं तज्जन्याधिसम्भूतव्रतहानिपरं सन्दर्भगुण्यनुपपत्तौघात ।
निवृत्तिरभावः ।

इह श्रमः प्राधान्येन ध्वन्यत इति न शङ्कनीयम्, बहुतरङ्गरीव्यापारस्य सत्कारण-
त्वेन बध्यमाणस्य प्रवृत्ते सत्त्वादित्यर्थः ।

व्याध्यादिजन्यबलाभावा एव ग्लानिरिति केषांचिन्यतममुक्तं अभावरूपत्वाङ्गीकारे
ग्लानेरपमत्कारकत्वात्, चित्तवृत्तिरूपत्वाभावेन भावत्वाभावाच्चेत्प्राप्तम् ।

भरतमुनिलक्षणे बलापचयस्यैव ग्लानित्वप्रतिपादनान् प्रामाणिकं ग्लानेरभाव-
रूपत्वं यच्चयस्ति, किन्तु भावानां चित्तवृत्तिरूपत्वस्य प्रतिपादिकाया भरतमुनेरेव
प्रागुक्तेस्तास्यनुपपत्तेरत्रापचयपदस्य तज्जन्यदुःखविशेषे लक्षणया पूर्वापरसङ्गति-
विशेषेत्यभिप्रेतम् ।

अत्र पद्ये प्रियतम का विरह विभाव है और 'मधुरवीशर' यहाँ के एवकार से हान करार
गई, स्थागत के टिपे सामने जाने, प्रणाम करने और आलिङ्गन करने आदि की निवृत्ति अनुभाव है ।
यहाँ श्रम—श्रम ही प्रधानतया ध्वनि होता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि श्रम के
शे कारण अधिक शरीर—व्यागार आदि वर्जित किये जायेंगे, उनका यहाँ अभाव है—मर्यादा शारीरिक
श्रम का पंगन यहाँ नहीं है, फिर क्लेशरण श्रम की प्रतीति हो, तो कैसे ?

कुछ लोग 'रोगादि से होने वाले बल—नाश (बल का अभाव) को ही 'ग्लानि' कहते हैं ।
परन्तु इनके मन में यह बात विचाराणीय है कि जब सभी मात्र चित्त—वृत्तिरूप माने जाते हैं, तब इन
शब्दों में इस नाश (अभाव जो चित्तवृत्तिरूप नहीं हो सकता) रूप ग्लानि का समावेश कैसे होगा ?
मर्यादा नहीं हो सकता, अत्र उनका कथन असंगत है ।

यद्यपि प्राचीनों के 'आधि (मनोव्यथा) और व्याधि (रोग) में उत्पन्न होने वाला बल का
अपचय ग्लानि है' इस लक्ष्य—वाक्य में जो अपचय पद आया है, उसमें बल का नाश ही प्रतीत होता
है तथा पूर्वोक्त अनुपपत्ति के कारण बल के नाश से उत्पन्न होने वाला दुःख ही यहाँ 'बलापचय' पद
से बला का विवक्षित है, ऐसी कल्पना करनी चाहिये ।

उदाहरण—

उदाहरणम्—

वंदेही विवाह्य रामचन्द्रोऽनुतपति—

'हृतकेन मया वनान्तरे, वनजाक्षी सहसा विवासिता ।

अधुना मम कुत्र सा सती, पतितस्येव परा सरस्वती ॥'

प्रकरणादि दर्शयति—

सीता परित्यक्तवती भगवतः श्रीरामचन्द्रस्येयमुक्तिः । अत्र सीतापरित्याग-
रूपोऽपराधस्तत्रैव दुःख वा विभाव', पतितसाम्यरूप-स्वापकर्षभाषणमनुभावः ।

प्राचीनसम्मत्या स्वीकृति इवयति—

यदाहुः—

'चित्तोत्सुक्यान्मनस्तापाद् दौर्गत्याच्च विभावतः ।

अनुभावान्तु शिरसोऽभ्यावृत्तेर्गत्रिगौरवान् ॥

देहोपस्करणत्यागाद् दैन्यभावं विभावयेत् ॥' इति ॥

'दौर्गत्यादेरनौजस्य दैन्य मलिनताऽऽदिकृत् ॥' इति च ।

दुःखादिजन्य स्वापकर्षभाषणादिजनकचित्तबुद्धिविशेषो दैन्यमित्यर्थः ।

हृतकेन हृतमायेन दिनष्टोचितोविचारेण वा, मया रामेण सहसा मपदि
(अविचार्यैव) वनान्तरे काननमध्ये, विवासिता, वनजाक्षी मलिनमयता (कोमला-
ज्जतया स्वय प्रतिवर्तुमलमा) सती पतितवता (कथमपि पत्यन्तरानज्जीकारिणी)
सीता, अधुना सम्प्रति पतितस्य पातित्यप्रयोजकपापाधरणाद् भ्रष्टस्य द्विजस्य, परा
स्मृत्यादिसकलशास्त्रमूलत्वात् सर्वोत्कृष्टा, सरस्वती श्रुतिवाणीव, मम साऽनुभूतपूर्वा,
कुत्र ? क्व ? मिलिष्यतीत्यर्थः ।

तज्जन्मपराधसमुद्भूतम् । अपराधदुःखयोर्विभावत्वे विवल्पस्य बीज विनि-
यमनाविरहः ।

दौर्गत्य दारिद्र्यम् । शिरसोऽभ्यावृत्ति पुन पुनर्धूर्णनम् । यात्राणामज्ज्ञाना गौरव
गुरव मन्दमन्थाएवम् । देहोपस्करण प्रसाधनम् । विभावत ज्ञानम् । अनौजस्य-
मौजोहीनता ? मनस्तापादिजन्य शिरसोऽभ्यावृत्त्यादिजनक चित्तबुद्धिविषय दैन्य
जानीमावित्यर्थः ।

यत्र 'दैन्य-भावं' का निरूपण करते हैं—'दुःख' इत्यादि । शिरी प्रकार के दुःख, दारिद्र्य तथा
अपराध आदि कारणों से उत्पन्न होकर जो चित्तबुद्धि आने आदि विषय में हीन अन्ध-प्रयोग आदि का
कारण होती है, वही चित्तबुद्धि को 'दैन्य' कहते हैं ।

उदाहरण टीकामें—'हृतकेन' " " इत्यादि । हृतमाय होने से मैंने पहले शिम कमल-जयती
(मोग) को वन में निर्वासित कर दिया, पतिव पुरुष को बेइ-नामी की तरह, यह पतिव्रता भव
दुःखें क्या मिल सकती है ?

मोगा को वन में निर्वासित कर देने के बाद भगवान रामचन्द्र को यह अनुतापोति है । यहाँ
मोगा का परित्याग अथवा परित्याग-जन्य दुःख विभाव है और अन्य विषय में 'पतिव के समान' यह
हीन कथन अनुभाष है, जिसमें 'दैन्य' व्यक्त होता है ।

दैन्य भाव के विषय में प्राचीनों ने भी लिखा है कि 'चित्तबुद्धि उत्कृष्टा, मानवित्वात् शेर

इहोपमालङ्कारस्य दैन्यभावोपकारकत्वं प्रतिपादयति—

अत्र हतकेन मया विवासिता, न तु विधिनेत्यस्यार्थस्य पतितोपमयैव परि-
पोष, न तु शूद्राद्युपमया, यत् शूद्रस्य जात्यैव श्रुतिदोषेभ्य विधिना कृतम्,
पतितस्य तु ब्राह्मणादेर्विधिना श्रुतिमुलभत्वे स्वभावेन कृतेऽपि, तेनैव, तथा-
विष पापमाचरता म्वतः श्रुतिदूरीकृतेति तस्य पतितेन साम्यम्, तस्याश्च श्रुत्ये-
त्युपमालङ्कारो दैन्यमेवालङ्कृते ।

दैन्योपकारकद्वय दर्शयति—

तथा मयेति सेति चोपादानलक्षणामूलध्वनिभ्या कृतघ्नत्वकृतहात्व-निर्दं-
यत्व-वयावतीत्याद्यनेकधर्मप्रकाशनद्वारा तदेव परिपोष्यते, सेतिस्मृत्या च लेशतः
प्रतीयमानया ।

'सर्वं बाध सापघारण भवती'ति सिद्धान्तेन भवेति कथनात् न तु विधिनेत्यस्य
प्रतीति । शूद्रोपमया 'वृषलस्येव' इति पाठकल्पनलभ्यया । जात्यैव शूद्रत्वेनैव जन्मनैव
वा 'न श्नीशूद्रो वेदमधीयाताम्' इत्यादिश्रवणात् । स्वभावेन निसर्गेण जात्या जन्मना
वा । तेन ब्राह्मणादिना । तथाविध पातित्प्रयोजकम् । तस्य रामस्य । तस्या
सीताया । यथा पतितो द्विजो जन्मना सुलभामपि श्रुति पातकाचरणान् स्वयं
दूरीकरोति, तथैव जात्या सुलभामपि सीतामहं स्वाविवेकाद् दूरीकृतवानितिवादिनि
रामे पतितद्विजसादृश्यमेवोचितम्, न तु शूद्रसादृश्यम् शूद्रस्य जात्या श्रुतिमुलभताया
असम्भवान् । तथा च रामे पतितसादृश्य सीताया च श्रुतिसादृश्यमेवोपमालङ्कारोऽत्र
वाच्यो व्याय स्वापकर्षमापणजनक दैन्यमुपस्करोति न तूपमा स्मृतिर्वा प्रघानीभवतीति
न गुणीभूतभ्यङ्गपत्वतन्त्रेह इति सारम् ।

अत्र नयेत्यस्मच्छब्दस्य कृतघ्नत्व-निर्दयत्वादिधर्मविसिद्धस्वार्थे मेतिनच्छब्दस्य च

दक्षिणा इन विभावो से तथा शिर का कार-कार द्वितान्, शारीरक-असाधनो का परिस्थान और
आँ के आरोपन इन अनुभावो से 'दैव भाव' को पहचानना न-रिये । और यह भी लिखा है कि
हुगति आदि के कारण को ओन्नयिता नष्ट हो जाती है—उसका नशाव हो जाना है, वसा का नाम
'दैव' है । यह नास्तिक्य आदि का जन्क होता है ।

यहाँ हवभास्य मैने सीता को निराश्रित दिया है—'न कि विधाता मे'—इस अर्थ की पुष्टि 'पतिन'
को उपमा से ही होती है, शूद्रादिक को उपमा से नहीं, क्योंकि शूद्रादिक के लिये तो विधाता मे
शूद्र भाति मे जन्म देकर ही श्रुति (वेद) दुर्लभ कर दी है ('न श्नी शूद्रो वेदमधीयाताम्' अर्थात्
को और शूद्र वेद न पद', यह शालीयवचन उक्त कथन का मूल है) परन्तु ब्राह्मणादिक जो पतिन ही
माने हैं उनके लिये तो विधाता मे स्वभावतः श्रुति सुलभ कर दी थी—अर्थात् ब्राह्मणादि क्वच बुद्ध
में जन्म देकर वेद पढ़ने का अधिकार दे दिया था पर उन्होंने वैसा पाप करके स्वयं श्रुति को दूर कर
दिया अर्थात् वे स्वयं पतित बनकर वेद पढ़ने ॥ अधिकार से वञ्चित हो गये । इसलिये रामचन्द्र को
पतिन से समानता और सीता की श्रुति मे समानता, यह जो वाच्य उपमा अलङ्कार है, वह दैन्य भाव
का ही अलङ्कार करता है अर्थात् उपमा अलङ्कार वह दैन्य का बोधक है—अहं है । अतः यहाँ 'उपमा
अलङ्कार हो प्रधान है' इस तरह का शङ्का का अन्तर नहीं है ।

'हतकेन ' इत्यादि श्लोक में 'मया' और 'सा इन दोनों पदों में प्रयोजनमूला उपादान
रूप' है, जिससे 'मया' का 'जिसे छसने अत्यन्त कष्टवस्था में भी नहीं छोड़ा, उस 'मैने' पर और

चिन्ता निरूपयति—

इष्टाशाप्त्यनिष्टप्राप्त्यादिजनितो ध्यानापरपर्यायो वैवर्ण्य-भूलेख-
नाधोमुखत्वादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषश्चिन्ता ।

प्राचीनमम्मति दशयति—

यदाहुः—

‘विभावा यत्र दारिद्र्यमभ्यर्थभ्रशन तथा ।

इष्टार्थापहृतिः शश्वच्छ्वाभोच्छ्वासावधोमुत्सम् ॥

रान्नाप रमरण चैव कार्थ्यं देहानुपसृति ।

अधृतिश्रानुभावा स्युः, सा चिन्ता परिकीर्तिता ॥ इति ।

विनर्कोऽपि क्षणे पूर्वं पाश्चात्त्वे वोपजायते ।’ इति ।

‘ध्यान चिन्ता हितानाप्ये सन्तापादिकरी मता ।’ इति च ।

कृतज्ञात्वं-रूपावनीत्वादियमविशिष्टत्वात् च तत्तद्वतिनपत्रोद्यनस्यप्रयोजनवत्याः
स्वार्थस्याप्युपादानादुपादानलक्षणाया सत्त्वात् प्रतीयमानोऽर्थोऽपि दैन्यमुपस्वरति,
पूर्वानुभूताद्येन सेतितच्छब्देन परिपोषकसामग्रीविरहान् सूक्ष्मतया प्रतीयमाना
स्मृतिरपि दैन्यमेवोपस्करोक्तानि सारम् ।

इष्टत्याग्रातिरितिष्य च प्राप्तिश्चिन्ताया कारणम् । ध्यानामपरपर्यायो यस्य स ।
भूलेखनमधोमुखत्व च चिन्ताया कार्यम् । अस्या कम्पाद्यजनकतया राङ्गाती भेद ।
चित्तवृत्तिविशेषस्य विशेषणतया विशेषणपदाना एवमेवोचितमिति पाठ परिवर्तित ।

दारिद्र्यमभ्यर्थभ्रशनयो पृथगुपादानाद्दारिद्र्य जन्मभिद्धमभ्यर्थभ्रशन च पश्चाद्
भ्रममवसेयम् । रमरण नष्टाद्यर्थानाम् । विनर्को भावो दक्षयमाण । अस्याश्चिन्ताया ।
पूर्वं क्षणे पाश्चात्त्वे वरम्मिन् क्षणे वा ।

‘स्य’ का ‘वन वाम जी महचरी ‘उने’ रर वाप्यार्थ,मिभित् एद्वार्थ होता है, जिनमे राम की कृतकता
तथा निर्दयता एवं माता की कृतघना तथा दयालुता आदि अनेक धर्म धनित हाकर दैन्य-भाव को
ही पुष्ट करते हैं । इसी तरह अनुभूतार्थक ‘मा’ इस शब्द मे जो स्मृति की थोड़ा सी (प्रचुर मामग्री
के अभाव से पुष्ट नहीं) प्रतीति हन्ती है, इससे जो दैन्य-भजन को हा पुष्टि होती है । वन’ यहा
दैन्यभाव ही प्रधान व्यक्त है । कृतकता आदि प्रतीभूत रहे । इनलिसे वह एक दैन्य-भाव धनित
का उदाहरण हुआ ।

अब ‘चिन्ता-भाव’ का निरूपण करने हैं—‘इष्टा’ इत्यादि । अभिष्टचित्त वस्तु का प्राप्त न होना
और अनभिष्टचित्त वस्तु का प्राप्त हो जना आदि कारणों में उत्पन्न होने वाली तथा विवर्तिता, भूमि
का छिपना और मुख का नीचा हो जाना आदि अनुभूतियों को उत्पन्न करने वाली एक तरह की
चित्तवृत्ति को ‘चिन्ता-भाव’ कहते हैं । इसी चिन्तात्मक चित्तवृत्ति को ‘ध्यान’ भी कहते हैं ।

प्राचीनों ने भी ‘चिन्ता’ की परिभाषा इसी तरह की-ही है । जैसे-‘चिन्ता’ इत्यादि-अर्थान्
जिन चित्तवृत्तियों में इच्छा, हेतुत्व (राग्य आदि) में श्रुत हो जाना और इष्ट वस्तु का
अवसरण विनाश (उदाहरण करण) हो, और वास्तव्य स्वाम तथा वच्छ्राम, नीचा मुख, सन्ताप,
रमरण, वृत्त्या, दह को स्मिन्त न करना और धैर्य का अभाव ये अनुभव (उदाहरण कार्य) हैं, उसे
‘चिन्ता’ कहते हैं । इसके पहिले जगता चिन्ते ह्य मे विनर्क (जिनका परिभाषा आगे की अर्पणी)

उदाहरण—

उदाहरणम्—

नायिकावलोक्य नायकं चिन्तयति—

‘अधरद्युतिस्तपस्त्वा, मुखशामा शशिकान्तर्लङ्घिनी ।

भङ्गप्रतिमा तनुः कृता, विधिना कस्य कृते मृगीटश ॥’

विभावादि प्रतिपादयति—

अत्र तदप्रतिविभाव, अनुतापादय आक्षेप्या अनुभावा ।

भ्रौत्सुक्यञ्चनिमग्नान्दुःख निराकरोति—

न चात्रो मुखध्वनिरिति वाच्यम्, कस्य कृते’ इत्यनिर्घा-तध्वनिभ्र-
नान्वाश्रित्या एव प्रतीयमानतया सनीञ्-भ्रौत्सुक्यस्त्वाद्वाक्येन प्राधान्ये-
नावोधनात् ।

मृगीटशी नायिकाया, अस्त कान्त्या निजित पन्तव क्लिप्तय मया तादृशी,
अधरस्य द्युति, शशिकान्तस्य कान्ते सुपमाया लङ्घिनी विजयिनी मुखस्य शोभा
श्री, भङ्गताजतिहिता प्रतिभा तुल्याकृतिर्यस्यास्तादृशी तनुवत्, कस्य कस्यस्य वून कृतं
प्रयोजनाय, विधिना विधाया कृता रचिताऽभूदित्यर्थः ।

तस्या पूर्ववर्णितनायिकाया अप्राप्तिश्चिन्ताया कारणतया विभाव अनुताप-
शावच्छवामोच्छ्वासप्रभृतयश्च चन्दानुत्त्वेऽपि कार्यतया गम्यमाना अनुभावा अत्र
सन्तीत्यर्थः ।

इह नायिकाया अप्राप्तत्वात्तस्यातिविषयकोत्कट-जालस्यैवौत्सुक्यस्य प्राधान्येन
भ्रङ्गनात्तद्व्यगित्वमेवेति पूर्ववक्ष्यम्— कस्य कृत इत्यनेन क खलु पुवा धन्य
क्षयादिवत्, अनिर्धारितमनिश्चित भोक्तार धमिण विषयतयाऽलभ्यमानापरिचिन्ताया
एवान् प्रथम प्राधान्येन प्रतीते, औत्सुक्यस्य तु पश्चादगगतया च प्रतीतेर्न तद्व्यनि-
त्वनिनि समाधानम् ।

कल्पेन दुभा कृता है। कुछ लोगों ने ऐसा भी कहा है कि—‘दिलेसु की अप्राप्ति ने जो ध्यान
(विचार-वृत्ति) डोली है, उमक नाम चिन्ता है, वह मन्त्राप अदि का उत्पन्न होता है ।

उदाहरण देखिये। किमी सुन्दरी की टोकर छोड़ नायक अपने मन में सोचता है कि विधान
ने किम (धन्य तुम्हें) के छिने हुए मृगान्त्यनी जादिका से, अथा-कानि को, पत्तनों की जीने-
रली, सुन-शभा को चन्द्र-कला को भाग देने वाली आर शरीर का बहुत-प्रतिम-महान्-दिलीय
रहित-अन्धकार अनुभव, बनना ।

यहाँ नायिका की अप्राप्ति विभाव है और अशेष के द्वारा ज्ञान होने का अनुभाव भादि
अनुभाव है ।

नायिका व। अप्राप्ति से उमकी प्राप्ति के विषय में होने वाला उत्कट उत्सुक्य-भाव
ही यहाँ प्रधानता धरित होता है, ऐसी छद्मा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ‘कस्य कृत-अन्धकार किमक
छिने’ इन शब्द-व्यञ्ज से किमी अभिविचन पुरुष के विषय में होना पत्नी चिन्ता हा धरित होगा है,
अन्य यद्यपि कला में उस नायिका के लिये उत्सुकता है अथवा, तथापि वह इन वाक्य में प्रधानता
नहीं धरित होती। तात्पर्य यह है कि यदि उक्त पद्य में ‘कस्य कृत ..’ इत्यदि अश क इह कर
वस्तुको जगह ‘धन्यजन्य हैते’ ।

मद निष्परति—

मद्याद्युपयोगञ्जन्मा, उल्लासाख्यः, शयनहसितदिहेतुश्चिचवृत्ति-
विशेषो मदः ।

तस्यै प्राचीनसम्प्रति दशयति—

यदाहु —

‘सम्माहानन्दसन्दोहो मदो मद्योपयोगजा । इति ।

प्रहृतिभेदेनानुभावभेद प्रतिपादयति—

तत्रातमे पुरे स्त्रापोऽनुभाव । मध्यमे हसितगाने । नीचे तु रोदन-
पटावत्यादि ।

मद विधा विनय्य उतास्वरूप दशयति—

अथ च मदस्तिविध —तरणमध्यमाजमभेदात् । अन्यत्तासङ्गतवाक्ये मधु-
मारस्त्वल्गुत्वा च योजिमनीयते न आद्य । भुजाक्षेप-स्त्वन्ति-पूर्णिनादिभि-
मध्यमः । गतिमङ्ग-म्नूतिनाम हिक्का च्छर्त्वादिभिरथम ।

उपनाग सुवनम् । उल्लासाख्य उल्लासापरपर्याय ।

व्यामाहात्मन मग्नाहस्यानन्दस्य सन्दोह समवाय समेदो मदस्तत्रानयोर-
नुभवात् ।

एतद्—अमुना चोत्तम इत मध्यमो हसति यायति । अथमप्रहृतिश्चापि पुष्य
वक्ति रोदिनि ॥ इति उपनानुरूपमपि उत्तमतत्त्व प्रहृति, यायति तद्वच्च
मध्यमप्रहृति । परपक्वनामिधायी इत रादिभ्यश्चमसत्त्व ॥ इति प्रदीपस्य तु प्रवि-
कूलमवति ज्ञेयम् ।

हो, पानु हम पर के रहने पर तो किन्ना ही खान्ना से व्यक्त होती है, वैसे यदि उत्तम का
गोला से व्यक्त होना, तो होती रह, वह जनि मध्य-स्वरूप का कारण नहीं हो सकते । पल्ल
का ‘मिना-नक-यनि का ही व्यहार हुआ उचित है ।

अथ मद-रूप का निरूपण करत है—‘मद्याद्युपयोग’ इत्यादि । अथ अर्थात् उल्लास से उत्तम होने
होने और शयन-रोदन आदि अनुभवों का उत्पन्न करने वाली उल्लास नन्द के एक विशेष-
है अथवा ‘मद’ कहते हैं

यैना कि मधीनी ने भी कहा है—‘सम्माहो ... इत्यादि, सर्वत्र मद्य के उत्पन्न से उत्पन्न होने
का सम्बन्ध और अन्तर् के भिन्ना का नाम मद है ।

मद के उत्पन्न होने पर उत्तम अनुभव (कार्य) उत्तम पुल में स्वर होता है—प्रदत्त मद
(मद) से उत्तम पुल में उत्पन्न है, मध्यम कोटि का पुल हैमना और उत्तम है और नीचे पुल
उत्तम उभय गली-गली बचना है । यद्यपि यह कथन ‘अध्य-प्रदीप’ के उत्पन्न-प्रसंगे, मद्यदि
(उत्तम मध्यम-प्रदीप) । उत्तम-वचनामिधायी होने से दिख्यमानस्य । अर्थात् मद के कारण उत्तम-व्यवहार
बना पुल हैमना है, मध्यम-व्यवहार बड़ा पुल गाना है और अथम-व्यवहार बड़ा पुल गली
देना है, मद्य है और गीत है । इस बचन में विश्व है, मद्यदि, अनुभव ‘रसगङ्गाधर’ के ही मत
में मद्य होता है, और ‘दर-प्रकार’ भी दुर्बल के मत में सम्प्रति दिये हैं, क्योंकि उन्होंने लिखा है—
‘अनुभव उत्तम होने मध्य हसति मद्यदि । अथम-प्रदीप-विषय वरि वरि रोदिनि ॥ सर्व उत्तम वही
है, जो रसगङ्गाधर के कथन का है ।

मध्यमपुरुषगत तरुणमदमुदाहरति—

उदाहरणम्—

मनवृत्त नगंयति—

‘मधुरतरं स्मयमान, स्वस्मिन्नेवाल्पज्ञानं किमपि ।

कोकनदयसिलोकी—मालम्बनशून्यमीक्षते क्षीबं ॥’

विभावानुभावो दशयति—

अथ मादकद्रव्यसेवन विभाव, अव्यक्तालानाद्यनुभाव ।

इत् स्वभावोक्त्यलङ्कार प्राधान्यमाह दूष निरस्यति—

अत्र मतस्वभाववर्णनस्य तद्विभ्रमद्वयज्ञानात्त्वन्मदभाव एव प्रधानमिति न स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य प्राधान्यम्, अपि तु तद्व्यव्युत्पत्कारकत्वमेव ।

अव्यक्तं रम्फुटाभरं रत्नज्जतं रमन्वडापकं श्रु वाक्यं मुकुमाराशुद्धा स्वतन्त्री मन्त्र मध्ये नृग्रन्ती चासौ गति मुकुमारस्वतद्गति नया । योगिनीदत्त इत्यभ्याश्रित-
शास्त्रद्वयसि सन्ध्व । हिका ‘हिकी’ इति भाषाया प्रसिद्धा । छदिर्यमनम ।

श्रीको मत, मधुरतरमतिमुन्दर स्मयमान ईषदभव स्वस्मिन्नेवा नगनभव
किमप्यसम्बद्धम्, धर्ममन्दमव्यक्तम् आलपन् प्रलपन्, तथा परितो विनीकनन मदारण-
नोवनरुषाश्रितोको लोकरय, कोकनदयन् रत्ताम्बुजवदरपीडुवन्, आलम्बन-
निर्णय यया स्यात् तदेषने परयतीत्यर्थ ।

मादकद्रव्याणा मरैमविनयादीना सेवन पापम् ।

‘स्वभावोक्तिस्तु हिम्मादे स्वाक्रिया—स्ववर्णनम् इत्यलपकस्य स्वभावोक्त्य-
लङ्कारस्य, श्रीब्रह्मवृत्तिनायास्वर्णनाविह प्राधान्यमिति वाक्येण —मत्स्वभाववर्णन-
मत्र मतनिष्ठमदभावस्य व्यञ्जनार्थमेव कृतमिति स्वभाववर्णनस्य मद्भाववर्णन-
त्वेनैव, न तु प्राधान्यमित्युत्तरम् बोध्यम् ।

इस मर के तीन भेद हैं—तल्प, मध्यम और अथम । उतने से बिकरा अभिनय (इन्द्र)
अस्य अक्षर होने और अमथम अथं बाल वाक्यों, तथा अथम मनुष्य एवं विमलनी हुई बल से
किया जाता है, वह तल्प—मर कहलाता है । बिकरा अभिनय वादुओं के छपर—अथर देकते, विमल
पक्षे और धूमने अदि से किया गया है वह मध्यम—मर कहलाता है । एमी तरह बिकरा अभिनय
गति के रूप जाने, स्तुति के न हो जाने और बिकरा तथा अथम अथे में किया गया है, वह अथम
मर होता है ।

उदाहरण देखिये । किसी नयेबान क वर्णन है कि—मरमत्त मनुष्य अथम इन्द्र कोके से
मन्द—मन्द हैमना हुआ और अपने अथ धरे—धरे पुत्र को म कला हुआ, तथा मर के कला अथ
नयन—अन्ति से बिकरी को रत्न कलम मा बनत हुआ इत्ये ही और देख रहे है—मर मर
देवने का छोड़ लक्ष्य नहीं है ।

यहां मरक परार्थ का सेवन विभव है और अस्य गोलना अदि अनुभव है ।

यहां मत—तल्प के स्वभाव वर्णन होने के कारण ‘स्वभावोक्ति’ अलङ्कार की प्रथमता, मर
रक्षा नहीं करती चाहिये, क्योंकि मत्त—मभाव का वर्णन यहाँ सेवत उनके मर को अभिव्यक्त करने
के लिये किया गया है, अथ घटित होने वाला ‘मरमत्त’ ही प्रथम और वाच्यस्वभावोक्ति अलङ्कार
वचन देकर है ।

अनु तथापि नह मद्भवति सम्भवति, प्राधान्येन व्यज्यमानस्यापि मद्स्य मदास्कु-
न्दितमत्यथकेन क्षीवपदेनामित्याऽपि बोधनात्, कथमपि वाच्यवृत्त्यनातिङ्गितत्वेन
व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वम् इति प्राक् प्रतिपादनात्, अत स्वभावोक्त्यलङ्कार एव
चमत्कारिताया प्रधान न तु मद्भाव इत्यस्नेग्दाहरणान्तर दर्शयति—

इद वा पुनरुदाहरणम्—

मत्त प्रिया धूते—

मधुरसान्मधुर हि तवाधर, तरुणि ! मद्दत्ने विनिवेशय ।

मम गृहाण करेण कराम्बुज, पपपतामि हहा ! भमभूतले ॥'

उपपादयति—

अत्रापि स एव विभाव', अधिकवर्णोच्चारणादिरनुभाव' । पूर्वाधंगता
याम्प्रोक्ति', उत्तरार्धे च तरुणीकरेऽम्बुजोपमेयतया निरूपणीये, स्वकरस्य
तदुपमेयतया निरूपण च मद्भवेव पोषयत ।

ध्रम निरूपयति—

बहुतरशरीरव्यापारजन्मा निश्शयासा—ङ्गसम्मर्द—निद्रादिकारणी-
भूतः स्नेदनिशेषः ध्रमः ।

हे तरुणि ! यन्मत्तव अधर। मधुरसादपि मधुरोऽस्ति अतस्त मद्दत्ने विनिवेशय,
किञ्च यत्—हहा हा ! हन् । ममभूतले भूतले पपपतामि पतामि अत करेण मम
कराम्बुज गृहाण ममाम्बुजमेवयव ।

स एव मादकद्रव्यगवनरूप एव । अधिकवर्णोच्चारण चतुर्थचरणे । आदिपदेन
प्रथमतृतीयचरणासङ्गतायैकाक्षरग्रहणम् । श्रम्योक्तिद्वितीयचरणे— अधर मद्दत्ने
विनिवेशय इति ग्राम्यजननपदुक्ति तृतीयचरणे तरुणीकरस्य समुचित कमलोपमेयत्वेन
प्रतिपादन विहाय स्वकरस्यैव तथा कथनमित्यसङ्गतिश्चोभे सम्भूय मद्स्यैवोपकारिके
इति मद्भवतिरिह ज्ञेय ।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि, यद्यपि व्यज्यमान मद् स्वभावोक्ति अलङ्कार से प्रधान है, तथापि
मद्-भवति नहीं बतौ जा सकता, क्योंकि 'क्षीव' शब्द का अर्थ 'मत्त' है, अत हममें विशेषण रूप से
मद् ही आ जाता है, और इदं यह मिथ्या सर्व-सम्भवि से स्वीकृत हो चुका है कि किसी भी
प्रकार से जिसमें वाच्य-मुक्ति का स्थान न हो, वहाँ व्यङ्ग्य चमत्कारी होता है', फिर तो अगत्या वाच्य
स्वभावोक्ति अलङ्कार के चमत्कार में हा तक वष का वाच्य मानना पड़ेगा, अर्थात् यह पद 'मद्-
भाव-भवति का उदाहरण नहीं होगा, इसी अभिप्राय से दूसरा उदाहरण दिग्गमन है—'इदं वा
उदाहरणम्' अथवा, यह उदाहरण छात्रिने क्त नायक शरीर केवलो में कहा है कि—इ तरुणि !
अनु के रम से भी अधि मधुर अत अधर का भेरे सुग मे रम दे और मर कर-कमल को अपने
हाथ में पकड़, देन तो न-ज-जमान पर नि-मि-गिरना कर रहा हू ।

यहाँ भी वही (मद्दत्त-स्नेद-मेवम् हा) विभाव है और अधिक वर्णों का उच्चारण आदि अनु-
भाव है । पूर्वाधंग का अर्थ (नरे सुग में आने उपर के धर, यद्) वजन और उत्तरार्ध में स्त्री के
हाथों का कमल का उदाहरण वही अर्थ अने इत्थं वं उपर उदाहरण देना भी 'मद्-भवति' का ही
पुनरुदाहरण है ।

प्राचीनसम्प्रति दर्शयति—

यदाहु—

‘अथ—व्यायाम—सेवाद्यविभावरनुभावने ।

यात्रसवाहने—रास्यसङ्कीचे—रङ्गमोटनं ।

निश्चवासंजृम्भनेमन्दं पादोत्क्षेपे श्रमो मतः ।’ इति ।

‘श्रमं सेदोऽध्वगत्यादेर्निद्राश्वासादिकृन्मतः ॥’ इति ष ।

अनलान्योमदमाचष्टे—

अथ च सत्यपि बले जायते, शारीरव्यापारादेव जायते, न तु क्लान्ति,
अतोग्लाने श्रमस्य च भेदः ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायको विपरीतसुरतकृत् सखाय कथयति—

‘विधाय सा मद्बदनानुकूल, कपोलमूल हृदये शयाना ।

चिराय चित्ते लिखितेव तन्वी, न स्पन्दितु मन्दमपि क्षमाऽऽसीत् ॥’

शारीरव्यापारो दूरगमन—बहुगारवर्तनादि श्रमस्य कारणतया विभाव, निश्वा-
सावयश्च कार्यतयाऽनुभावाः । सेदो दुःखामिश्रितवृत्तिविशेष एव ।

अथा च व्यायामश्च मेवा चाथा येषा तंविभावं, यात्रसवाहनादिभिरनुभावंश्च
श्रमो श्रेयः । अथपद तत्र गमनवदम् । सवाहन श्रमापनयनाय पीडनमर्तनादि ।
अङ्गाना मोदन तदर्थं नमनम् ।

ग्लानेराधिभ्याधिजन्मवतहानिजन्यत्वान् श्रमस्य च बलसद्भावेऽपि शारीरविपु-
लव्यापारजन्यत्वान्मिषो वैसल्यमिति सारम् ।

सा तन्वी, कपोलस्य मूल पद्मदनानुकूल मदीयमुखसमीपयोग्य विधाय, हृदये
ममोरसि शयाना सती (श्रमेण) चित्ते लिखिता इव, मन्दमीपवपि स्पन्दितु चनितु
क्षमा समर्था नासीदित्यर्थः ।

अथ ‘श्रम-भाव’ का निरूपणा करने हैं—बहुतर’ इत्यादि । खेद नामक श्रम चित्त-वृत्तिविशेष
को ‘श्रम’ कहते हैं, जो अत्यधिक शारीरिक कार्य करने से उत्पन्न होता है और निश्चान, अक्काई
रथा निद्रा आदि अनुभावों को उत्पत्ति में कारण होता है ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—‘अथ—व्यायाम’ इत्यादि—अर्थात् मार्ग-गमन,
व्यायाम—करण और खेल आदि विधानों से न. शरीर दबवन्ना, सुव पा भिडुन जना, अंगरुद्ध
लेना, निश्वास रोचना, जग्मा वा अना—इन सब अनुभावों से श्रम का ज्ञान होता है । कुछ लोगों
ने ऐसा भी कहा है कि—‘श्रम-सेदो’ इत्यादि अर्थात् मार्ग-गमन आदि से उत्पन्न होने वाले
और निद्रा तथा निश्चान आदि को उत्पन्न करने वाले खेद को श्रम कहते हैं ।

श्रम और क्लान्ति में परस्पर दृढ़ भेद है कि श्रम बल के रहने पर भी अत्यधिक शारीरिक व्यापार
करने से उत्पन्न होता है और क्लान्ति-अधि-व्याधि जाति न बल की हानि होने पर उत्पन्न होती है ।

अथ ‘श्रम-भाव’ का उदाहरण देयिते —नायक अपने मित्र को विरगैव-रनि के बाद की स्थिति
पर रहा है कि—वह कृशशी अपने बनेल-मूत्र माग को मेरे मुख के स्थाने बरके नर वष्टुस्थ
पर तो गई और चित्रलेखिनी की तरह, बहुत देर तक, बोधी भी नहीं बैठ सकी ।

विभाषादिदर्शयति—

अत्र विपरीतसुरतरूपं शारीरव्यापारो विभावः, स्पन्दराहित्य-शयना-
दयोऽनुभावाः ।

इह निद्राध्वनित्वमागच्छुष निराकरोति—

न चात्र निद्राभावध्वननेन गतायतेति शङ्क्यम्, सुषुप्ती हि ज्ञानराहित्येनैव
यत्नराहित्यान्मन्दमपि स्पन्दितु न क्षमाऽऽमीदित्यस्थानति प्रयोजनकत्वापत्तेः,
शीडार्ज-निहिततया तस्या व्यङ्ग्यत्वानुपपत्तेः । अत्र त्वानुगुण्यमुचितम् ।

गवं निरूपयति—

रूप-धन-विद्यादिप्रयुक्तात्मोत्कर्षज्ञानाधीनपरावहेलनं गर्वः ।

स्फुटम् ।

चित्रलिखितत्वोपमयी, व्यज्यमाना निद्रायात्र प्रधानमिति निद्राध्वनिरेवात्र न तु
ध्रमध्वनिरिति पूर्वपक्ष—चित्रलिखितत्वदृष्टान्तन सुषुप्तिरूपनिद्राया एव व्यञ्जनात्,
सुषुप्तोश्चज्ञानसामान्यधूम्यत्वादात्मानिरिक्तविषयकज्ञानधूम्यत्वादा ज्ञानराहित्ययत्नर-
हितत्वे सुषुप्तपगतु योग्ये, तेन यत्नराहित्यप्रतीत्यर्थं चतुर्ध्वनयोपादानस्य वैषम्यं
स्यात् । तस्य स्पष्टावगमार्थकत्वाङ्गीकारेऽपि, यद्यपानेतिशीघ्रातुना निद्राया प्रकार-
तयाऽभिधातोध्यत्वेन व्यङ्ग्यत्वमाभावाद् ध्वनित्वं न स्वादिति नैव निद्राध्वनिरभ्ये-
त्तरूपकारण शोध्य । अत्रे प्राधान्येन व्यङ्ग्ये तु तदर्थस्य ध्रमव्यञ्जनोपकारकत्वमेवेति
न दोष इत्यागम ।

रूपादिप्रयोज्यो य आत्मन उत्कर्षंस्वज्ञानजन्य यत्परेषामवहेलन तिरस्कारात्मिका
चित्रवृत्ति सैव गवं अवहेलनस्य भावत्वमप्यतये चित्तवृत्तिप्रसूतानुधावनम् ।
स्फुटम्—

यहाँ विपरीत-रति-रूप शारीरिक कर्ष विभव और हिल न सकना, तथा सो जाना आदि
अनुभाव हैं ।

परि 'ध्रम-भाव' के लक्षण उक्त (विषय "इत्यादि) श्लोक और अन्य भी इसी तरह के श्लोक
ही हैं, तब 'ध्रम-भाव-ध्वनि' मानना व्यर्थ है, क्योंकि वर 'निद्रा-भाव-ध्वनि' में ही गताय हो
जायगा तब 'विषय " " इत्यादि पक्ष में 'चित्र-लिखित की तरह' हम उम्मा से निद्रा-भाव ध्वनि
होता है, यह उद्घा नहीं करनी या हवे, क्योंकि यदि यहाँ निद्राभाव को प्रधान व्यक्त्य मानेंगे, तब,
'शोभा भा नहीं हिल सकी' वह कथन निष्प्रयोजन हो जायगा, कारण यह कि निद्रावस्था में ज्ञान की
नियमन न होने में धरन का न होना निश्चिन्त हा है । यदि आप वहाँ कि निद्रा की धार में विदित
होने वाले धरन-राहित्य को और अधिक स्पष्ट करने में ठिये यदि किसी शब्द में कर भी दिया गया,
तथापि निद्रा को व्यङ्ग्य मानने में कोई बाधा थोड़े हा होती है ? हम पर में कहना है कि हाँ, माई !
उसमें बाधा नहीं होती, ठीक है, पर शीघ्र धार में जो निद्रा की वाच्य बना दिया गए, उससे तो
उसके व्यङ्ग्य होने में बाधा उत्पन्न होगी, क्योंकि वाच्य-वृत्ति से अनृष्ट अर्थ को ही व्यङ्ग्य माना
जाता है । मन यहाँ 'ध्रम-भाव-ध्वनि' का स्वीकार ही लयित है और जब यहाँ 'ध्रम-भाव' को प्रधान
व्यक्त्य मान लेते हैं, तब उसमें अनुभाव होने के जाने आदि का वाच्य रूप में वर्णन अनुबल ही
होता है ।

अब 'ध्रम-भाव' का निरुद्ध करने है—'रूपधन' इत्यादि । रू, धन और विषय आदि के धारण

उदाहरति

उदाहरणम्—

विद्यागवितो ब्रवीति—

'आमूलाद् रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलान् पयोधे-
र्यावन्त सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्क वदन्तु ।
मृद्रीकामध्य-निर्यन्मसृणरसभरीमाधुरीभाग्यभाजां,
वाचामाचार्यसायाः पदमनुभवितु कोऽस्ति घन्यो मदन्यः ॥'

विभावानुमावौ दर्शयति—

अत्र स्वकीयकविताया अनन्यसाधारणताज्ञान विभाव पराधिक्षेपपरंताह-
शावाक्यप्रयोगोऽनुभावः ।

इह प्रतीयमानाधूयाया गर्वपोषकत्वमाह—

इमं चासूयाऽपि लेखत पुण्याति ।

'गर्वो मद प्रभाव-श्री-विद्या-सत्कृत-जन्मनि ।

अवज्ञा-सविलासाङ्गदराना-विनयादिकृत् ॥' इति ।

रत्नसानो सुमेरो 'सर्वेषामेव वर्षाणा मेरुरुत्तरन स्वित इत्यभिधानाद् आमूला-
मूलमभिधाय, मलयेन अन्दनगिरिणा वलयिताद्वेष्टितान् पयोधेर्दक्षिणसमुद्रस्य आकू-
लाच्च उदमभिधाय च, यावन्त काव्यस्य प्रणयने निर्माणे पटवो निपुणा सन्ति, ॥
विशङ्क निस्सन्देह यथा स्वास्तया, मृद्रीकानां परिपक्वद्रासाया अध्यान्, निर्यन्ती
निस्सरन्ती मधुणा घना च या रसस्य क्षरी निर्झर (प्रवाह) तस्या माधुरी मधुर-
तैव भाग्य मजन्तीति तद्भाज, तादृशीना वाचामाचार्यसाया पद प्रतिष्ठाम्, अनुम-
वितुमधिगन्तु मदन्य, घन्य पुण्यवान् कोऽस्तीति वदन्त्वित्यर्थः ।

अन्यसाधारणताऽनुल्यता रावोत्कृष्टेति यावन् । पराधिक्षेपपरस्याम्पतिरस्कार-
तात्पर्यकस्य एतादृशस्य 'आमूला'दित्यादिरूपस्य ।

अत्र वदयमाणसल्लणाधूया पराधिक्षेपेण किञ्चिन् प्रतीयमानाऽपि गर्वस्योपकारि-
तयाऽङ्गमेवेत्यर्थः ।

अने उत्कर्ष का ज्ञान होने से जो दूसरी की अवहेलना (निरस्कार) करने का मनोभाव पैदा होता
है, वही मनोभाव (अवहेलनारमक चित्तवृत्ति) को 'गर्व' कहते हैं ।

उदाहरण देखिये । पश्चिमराज की हा उक्ति है कि—सुमेरु पर्वत की तरह ही से लेकर मलयाचल
से शिरे डूबे समुद्र के तट तक, जिन्ने मान्य-निर्माण में निपुण बन है, वे निरश्चय होकर कहे कि—
दावों के अन्दर में निकटो हुई चिक्नी रम-धार की मधुरता वा मन्थ तिल्ले प्राप्त है—जो उनके
समान मधुर है, उन उचनों के आचार्य-पद का अनुभव करने के लिये मुझमें भिन्न कौन पुरुष धन्य है,
यह सौभाग्य और किन्नी को प्राप्त हो सक्य है ? तात्पर्य यह कि मुझ जैसा मधुर वचन बोलने वाला,
सब कविना करने वाला मैं ही हूँ, दूसरा नहीं ।

यहां अना कृपिणों में सर्वोत्कृष्टता का ज्ञान विभाव है और अन्य कवियों का निरस्कार करने
के लिये इन तरह के वाक्य का प्रयोग करना अनुभव है ।

'आमूलात्' 'इत्यादि पद्य में अभिव्यक्त होने वाले 'गर्व' को शरतिरस्कार के द्वारा किञ्चिन्

वीररसध्वनि-गर्वध्वन्योर्मदं दचंयति—

उत्साहप्रधानो गूढगर्वो हि वीररसध्वनिः, अयन्तु गर्वप्रधान इति तस्मादस्य विशेषः ।

तदेवोपपादयति—

तथाहि—

वीररसप्रसङ्गे प्रागुदाहृते 'अपि वक्ति' इत्यादिपद्ये गी पतिना गिरामधिदेव-
स्याऽपि साकमहं वदिष्यामीति वचनेनाभिव्यक्तस्योत्साहस्य परिपोषकतया
स्थित सर्वेभ्यः पण्डितेभ्योऽहमधिक इति गर्वः, न तु प्रकृतपद्य इव नास्त्येव
महीतले मदस्य इति स्फुटोदितेन सोल्लुण्ठवचनेनानुभावेन प्राधान्येन प्रती-
यमानः ।

निद्रा निरूपयति—

श्रमादिप्रयोज्यं चेतस्सम्मीलनं निद्रा ।

वीररसध्वनावुत्साहस्य स्थापित्वेन प्राधान्यम्, गर्वस्य तु व्यभिचारितया
कादाचित्कत्वम्, गर्वध्वनी तूत्साहस्याप्रत्ययात् प्रत्यये वाऽङ्गत्वाद्गर्वस्यैव प्राधान्य-
मित्युपयोर्मद इत्यर्थं ।

पूर्वपाठानुरोधत् 'यदि वक्ति' इत्यत्र 'अपि वक्ति' इति पठितम् ।

'अपि वक्ति' इत्यादि प्रागुक्तपाण्डित्यवीरोदाहरणपद्ये गी पत्यादिनाऽपि सह कथा
वरिष्यामीत्युक्त्या प्राधान्येनोत्साहो व्यङ्ग्य, तत्तत्र स्वपितयाऽहमुत्सृष्ट इति
गर्वमनुपकारकत्वेनैव व्यज्यत इति वीररसध्वनि । 'आमृतात्' इत्यादिपद्ये तु 'मदन्य'
कोऽस्ति' इति सौत्राणोक्त्या प्राधान्येन गर्वस्यैव व्यङ्गनात् गर्वध्वनिरिव न वीररस-
ध्वनिरित्याशयः ।

चेतस्सम्मीलनं पुरीतप्राडोप्रवेशाभिरन्त्रियप्रवेशावस्थानम् । तदुक्तम्—

'चेतस्सम्मीलनं निद्रा श्रमक्लममदादिजा ।

जुम्भाऽक्षिमौननोच्छ्वास-गात्रमङ्गारिकारणम् ।' इति ।

प्रतीयमानं भगवा भी पुष्ट हो करती है अर्थात् अस्वागर्व का अह हो हो सकती है, नहीं नहीं ।

वीर-रस की ध्वनि में उत्साह प्रधान रहता है, अतः एक प्रकार की, और गर्व गुप्त रहता है, अतः
एक अरधान में, और गर्व-भाव-ध्वनि में गर्व ही प्रधान तथा प्रकट होता है, उत्साह की प्रतीति
इसमें होती ही नहीं, यदि होती भी है तो गौणरूप से । यही वीर-रस-ध्वनि से गर्व-भाव-ध्वनि में
विशेष भेद है ।

अतः जो वीररस और गर्वभाव की ध्वनियों में विशेष बराबरी गणा दे, उन्को का अर्थ उत्साहन
परने है—'तथाहि' इत्यादि से—अर्थात् वीर-रस के प्रमद में जो 'अपि वक्ति गिरां पति स्वयम्' ।
एक उदाहरण दिया गया है, जसमें 'बुद्धयः' वीर कायदेवी सरस्वती के साथ भी मैं वाद करेगा, इस
कथन से जो उत्साह ध्वनि होगा है, उसको 'अव ध्वितो से मैं अधिक हूँ' इस रूप में ध्वनि देने
वाला गर्व पुष्ट करता है, न कि 'अमृतात्' इत्यादि रूप का उत्साह 'भूजेद में मुझ से भिन्न नहीं
ही है' इस प्रकार स्पष्ट बन्धि विज्ञाने वाच वचन रूप अनुभाव से प्रधानता प्रतीत होता है ।

श्रमादिविभावस्योक्तत्वादनुक्ताननुभावानेवाह—

नेत्रनिमीलन-गात्रनिष्क्रियत्वादयोऽस्या अनुभावाः ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

भायको ब्रवीति—

‘सा मदागमनवृत्ततोषा, जागरेण गमिताखिलदोषा ।

बोधिताऽपि बुबुधे मधुपर्नं, प्रातरान्नजसोरमनुष्वैः ॥

विभावानुभावी ब्रूते—

रात्रिजागरणश्रमोऽत्र विभाव, मधुपर्नबोधामावोऽनुभावः ।

मतिं निरूपयति—

शास्त्रादिविचारजन्यमर्थनिर्द्धारणं मतिः ।

विभावस्य लक्षण एवोक्तत्वात् केवलाननुभावान् वक्ति—

अत्र निशङ्कतदर्पानुष्ठान-सशयोच्छेदादयानुभावा ।

श्रमस्य लक्षणकण्ठे निद्राजनकरवैनीषादानात् प्रयोभ्यत्वमिह जन्मत्वमेवावसेयम् ।

अत एवानुपद श्रम निद्राया विभाव वक्ष्यति ।

अस्या निद्राया ।

मदागमनेन प्रवासान्ममागमनेन वृत्तितो बद्धिनस्नीय आह्लासो यस्यास्तादृशी, तथा जागरेण विपुलालापविलासप्रयुक्तनिद्राऽभावेन गमिन यापितमखिल समन्त दोषा रात्रियंया, तादृशी, प्रातः प्रनाने, आतनजे मुखजन्य मीरभे सुगन्धो लुब्धेलीतुर्पं, मधुपर्नंमरं, बोधिता जागरिताऽपि, सा, न बुबुधे नाचिचेतदित्यर्थं ।

शास्त्राणां लोच्युक्तादीनां च विचारेणोत्पन्नमर्थन्य वस्तुनो निर्धारणं निरूपण-चित्तवृत्तिर्भतिरित्यर्थं । तदुक्तम्—

‘नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः ।

स्मेरता घृतिसन्तोषी बहुमानश्च तद्भ्रवा ॥’ इति ।

अत्र मती । तदयस्य निर्णीतार्थस्यानुष्ठान विधानम् ।

अत्र ‘निद्रा-भाष’ का निरूपणं करन हे—‘श्रमादि’ इत्यादि । श्रम-अदि के कारण होने वाले चित्त-संगीतन अर्थात् पुरीतत् नामक नाडी में चित्त के प्रवेश को ‘निद्रा’ कहते हैं ।

आँसुओं का मुदित हो जाना, अश्रुओं का निश्चेष्ट हो जाना आदि इनके अनुभाव हैं ।

उदाहरण देखिये । नाटक विभी से कहना है कि—मेरा आगमन से उसकी प्रमत्तता बहुत बढ़ गई और हमने जग कर सम्पूर्ण रात बिना सो, प्रातःकाल में (जब वह निद्रित हो गई थी) मुझ के सुप्त के लोभी भ्रमों से जगने पर भी वह नहीं जग सकी ।

दशा रात्रि-जागरण-जन्य श्रम विभव है और भ्रमों के जगने पर भी न जगना अनुभाव है ।

अब ‘मति-अर्थ’ का उल्लेख करन है—‘शास्त्रादि’ इत्यादि । शक्य तदा लौकिक वृत्तान्तों के विचार से थे किसी वस्तु के विषय में निर्यात्मक चित्त-वृत्ति कल्प होतो है उसे ‘मति’ कहते हैं ।

निशङ्क होकर निर्णीत काम को करना और सदेह का विनाश आदि इनमें (मति में) अनु-भाव होने हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

उद्भूतमतिं कश्चिद्विभावयति—

‘निखिलं जगदेव नश्वरं, पुनरस्मिन् नितरा कलेवरम् ।

अथ तस्य कृते क्रियानयं, क्रियते हन्त । मया परिश्रमः ॥

विभावानुभाषी वक्ति—

‘शरीरमेतन्नलकुद्बुदोपमम्’ इत्यादिशास्त्रपर्यालोचनमत्र विभावः हन्तपद-
गम्या स्वनिन्दा राजसेवादिविरतिवितृष्णता चानुभावः ।

नन्वत्र शान्तरसध्वनिरेव न कथमित्यत्र आह—

भ्रुगिति मतेरेव चमत्काराद् ध्वनिव्यपदेशहेतुता, न शान्तस्य, विलम्बेन
प्रतीतेः ।

व्याधिं निरूपयति—

रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः ।

यदा, निखिल समस्त, जगद् विश्वमेव नश्वरं नामणीयमस्मिन्, अस्मिन् जगदि,
कलेवर शरीर पुनरनितरा नश्वरमस्ति अथ तदा तस्यानितनश्वरकलेवरस्य कृते
षोपपानिमित्ताय, हन्त । मया, अथ क्रियान् परिश्रमं क्रियत इत्यर्थः । मूढवग्मम
विनश्वरतमवस्तुषोपणाय परिश्रमस्य कारणमिति निर्णयान्मनिरिहावसेया ।

विरतिनिवृत्तिः ।

यतोऽत्र क्वचित् प्रतीयमाना मतिरेव नितरा चकारिणी शान्तरसस्तु
विलम्बेताम्बाधमानोऽप्यपमत्कारकम्, ततो मनिष्वनिग्याय न शान्तरसध्वनि-
रित्याद्यम् ।

व्याधिरोगयोरभेदेऽप्यत्र प्रसिद्धे चित्तवृत्तिरूपत्वामभनवान् तज्जन्यमनस्तापोत्पत्तेः ।

उदाहरण देखिये । कोई विरक्त व्यक्ति कहता है कि—जब दर मग्मम संसार ही नश्वरान् है—
जहां इममें किसी वस्तु की स्थिरता नहीं और फिर इम संसार में भू कइ शरीर कल्पन ही नाश-
वान् है—‘उद्भूतम् ॥ अनानि विभागा कि विषस्वनि’ के अनुसार दर एग के बाद इम शरीर का
क्या गति होगी, कुछ भी पता नहीं, हाथ । तब भी मैं इम शान्तुर शरीर के उदिये विष्णु परेकम
कहा हूँ ।

यदा ‘शरीरमेतद् बलकुद्बुदोपमम्’ (कहाँ दर शरीर तब के कुत्तुर ए मग्मम है ।
इत्यादि शास्त्र का पर्यालोचन विभाव (पुन पुन विचार) है और ‘हन्त’ दर से मग्मम है ते वटा
मदनी निन्दा राज-सेवा आदि से निवृत्ति तथा गुणरहित होने आदे अनुभव है ।

त्रिगुणिये दशौं प्रतीपनान मति-भाव का चमत्कार अर्थ है और शान्त-रम का अर्थ
विलम्ब से होता है, अतएव अपेशकृत समका चमत्कार का अर्थ है, इमलिये मति-भाव-मति ही
तक एव कइ कल्प-कोटि में छाती है, शान्-रम-मति नहीं कइतू शान्-रम-मति दशौं प्रती
होती, मति-भाव-मति ही होती है ।

अब ‘व्याधि-भाव’ का अर्थ क्या करते हैं—‘रोग’ इत्यादि । रोग और विषेण कइमेतएव

पञ्चा एव विभावान्तरनुभावान् बलि—
गात्रशैथिल्य-आसादयोऽनानुभावा ।

प्रचीनसम्भति प्रतिपादयति—

यदाहुः—

‘एकैकशो द्वन्द्वशा वा त्रयाणा वा प्रकीपत ।
वातपित्तकफाना स्युर्व्याधयो ये ज्वरादयः ॥
इह त प्रभवो भावो व्याविरित्त्वभिधीयते ।’

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विद्योग-विद्या नायिका कथयति—

‘हृदये कृतशैबलानुपङ्गा मुहुरङ्गानि यतस्तत् सिपन्ती ।
तदुदन्तपरे मुखे सखीना-मतिदीनाभियनादघाति दृष्टिम् ॥’

अत्र पद्य व्यार्थविभावानुभावो दृश्यति—

विच्छोभ विभाव अङ्गधेनादिरनुभाव ।

शोके वातपित्तकफाना मध्य प्रत्येक इयोद्वयोत्तरयाया त्रयाणा वा बीबाणा प्रकीपाद् ये ज्वरादयो भवन्ति इह साहित्ये उत्पद्यवत्युत्पन्नो मन्स्तापविषतद्वृत्ति-विशेषा व्याधिभाव उच्यते इत्यर्थः ।

इय विद्योगिणी हृदय वसति कृत शैबलत्वानुपङ्ग सन्मुखी बन्धा मना वा, ताङ्गा, तथा मुहुरवार वार यतस्तत् इत्यन्त अङ्गानि सिपन्ती, तदुदन्तपरे नायक-वृत्तान्तकथनपरायणे सखीना मुखे अनिदीना दृष्टिमादघाति निक्षिपन्तीत्यर्थः ।

मुख इत्येकवचनन उच्यते। अत्रमध्य वृत्तस्य कथन सूच्यते ।

धारसत्त्वानां मयनकप्रतिना दानात् स्फूर्जयोर्व्यनिययोवत्य धवधात्व जन्ना स्तितिरस्य, ताङ्गा मीरा कानरस्य चित्तवृत्तिविशेषस्त्रास इत्यर्थः ।

शोके वात मन के कारणे व्याधि कहते हैं । शोक और व्याधि अंतर बरबरे हैं, पर वात प्रतिक्रिया है, फिर शोक को व्याधि न कहकर शैबल मानसिक रूप को व्याधित्व कहने का कारण यह है कि—‘मनो मन विष-वृत्ति-स्थान है, इन निरन्तर के स्फूर्ज से पित्त-वृत्तयत्नक मन्त्रान को ही व्याधि-भाव माना जा सकता है वात शोक को नहीं यह विदोष वही समझना चाहिये ।

शोको का शिथिलता और शोक जन्मि व्याधि-भाव में अनुमान होते हैं ।

जैसा कि प्रचीनों ने भी लिखा है कि ‘दृष्टैकस्य’ इत्यादि । अर्थात् वात, पित्त और कफ नामक दोषों में से एक-एक, दो-दो अथवा तीनों के प्रकोप से जो अन्तर्जन्मि शोक उत्पन्न होते हैं, इनसे उत्पन्न हुई चित्त-वृत्ति को साहित्य शास्त्र में ‘व्याधि’ कहते हैं ।

निरह-नैवेदिता नायिका का मन है कि—निरदिनी नदिच्छ होकर पर पती है, सखियों ने निरह-त्व को दान्य करने के उद्देश्य से उनके वक्ष पर सेतलों को रख छोड़ा है, फिर भी वह निरह-वात्कार अज्ञी को इधर उधर दण्ड रही है, अब बेचाठी सखियाँ बन कर, कुछ कथन नहीं छुपाने, भक्ति सब सखियाँ निरह कर हमके दिल के सम्मुख की बातें करने लगीं, ठा बीबा के निरह-व्यवस्था सखियों के कृत पर कठोर दृष्टि करने लगी ।

मान निरूपयति—

भीरोघोरसत्त्वदर्शन—स्फूर्जथुश्रवणादिजन्मा चित्तवृत्तिविशेषत्वासः ।

अनुभावानाह—

अनुभावान् रोमाञ्च-चम्प-स्तम्भ-भ्रमादयः ।

प्राचीनसम्पत्तिं दर्शयति—

यदाहु—

‘श्रौत्यातिकेर्गन क्षोपत्वास कम्पादिकारकः ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायक मत्तय वक्ति—

‘आलीपु केलीरभसेन बाला, मुहुर्ममालापमुपालपन्ती ।

आरादुपाकर्ण्य गिर मदीया सौदामनीया मृद्यमामयाभीत् ॥’

विभाषानुभाषी दर्शयति—

अत्र पत्या स्ववचनाकर्णन विभाव, पलायनमनुभाव ।

स्तम्भरक्षेष्टाप्रतीपान । विभावद्वय तु लक्षण एवोक्तम् ।

अप्यातसुश्रुतश्रौत्यातिकेर्गोरमत्त्वदर्शनादिभिर्जन्यो मनसः क्षोपश्चपलात्मर-

श्रुतिविशेषः ।

आलीपु सद्योना मध्ये, केलीरभसेन श्रीद्वारकीतुरेन मम सम्बन्धितमालाप मुहुः
उपामपन्ती विदधती, बाला मुग्धा, आराद दूरे मदीया गिरम् वाचमुपाकर्ण्य निराभ्य,
सौदामनीया आगोदय्यादचित्तप्रमत्तया अपनासम्बन्धिनी, मुपमाम अपातीत् विद्युत्वि
सद्यस्तिरोभूदित्यम् । ‘आलापमुपालपन्ती इत्यत्र ‘वाचमुवाच कीत्स’ इत्यत्रे-
वाधिरपदत्वम् ।

‘शब्दानामनुगामनमाचार्येण’ इत्यत्रेव पत्येति कर्तरि श्रुतीया । इह स्वशब्देन
नायिकापरामर्शोऽभिप्रेतः किन्तु निजस्वात्मादिशब्दानां प्रधानोभूतक्रियावर्तुपरामर्शि-
त्वम् इति व्युत्पत्तिविरोधाप्रोचितः ।

मतो बालापदोपर्यापित्तव बाल्येनैव नायिकाया लज्जाया असम्भव, प्रासस्य च

यदा विरह विभाव है और लज्जा का पटकना आदि अनुभाव है ।

कद ‘अन’ का निम्न करण है—‘भीरो’ इत्यादि । भीरु (टारोक) व्यक्ति के हृदय में
स्वप्न आदि भयानक भावों के दर्शन और बिजली का चक्कन व आग आदि से जो एव तरह का
चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है उन्मत्ता नाम ‘अस’ है ।

रामाश्र, कथ, निश्चय और धम आदि नाम-भाव के अनुभव ह न है ।

प्राचीनों ने भी कहा है कि—उत्पन्नकारक वस्तुओं से होने वाले मन के विशेष को ‘अन’ कहना
है और वह मन्य आदि का अन्वय होता है ।

उदाहरण देखिये । नायक अपने मित्र से कहता है कि—मुग्धा नायिका धन के वेग में सड़ियों
के बीच में भरी सज्ज की बालें बह रही थी, पल्लु दूर से ज्यों ही गरी आवाज सुनी, ल्यो ही
बिजली की झोका को प्राप्त कर गई—अर्थात् देखा ही भाग गई ।

लज्जाघ्ननिमग्राशङ्कघ्न निरस्यति—

न चात्र लज्जाया व्यङ्ग्यत्वमाशङ्कनीयम्, शंशयेनेव तस्या निरासात् ।

ननु 'प्रथमावतीर्णपीवनमदनविकारा रती वामा । बधिता मृदुश्च माम समपि-
कलज्जावती मुग्धा ॥' इत्यन्यत्र लक्षिता नुग्धवात्र वातापवक्रोष्मा, न तु गिनु ।

तथा च लज्जायास्तस्यामाघ्निकत्वाद् व्यङ्ग्यत्वमक्षतमेवैव्यस्वेष्टदाहरणान्तरमाह—

इदं वा विविक्तमुदाहरणम्—

विलम्ब्य गृहमागत कृद्धाया मातुस्वाङ्गनोद्यम दृष्ट्वा तस्तो बालकृष्णो मातर
व्रवीति—

'मा कुरु कशा कराब्जे, करुणावति ! कम्पते मम स्वान्तम् ।

खेलन् न जानु गोपे—रम्ब ! विलम्ब करिष्यामि ॥

प्रसङ्ग प्रतिपादयति—

एषा [भगवतो] लीलागोपकिशोरस्योक्ति ।

स्वप्नरूप मुक्त निरूपयति—

निद्राविभावोत्थज्ञानं सुप्तम् ।

सम्भव सूचित, तस्मात्तिरोधानेन नाम लज्जा व्यज्यते, अपितु प्राप्त एवेति भाव ।

विविक्त लज्जाऽलङ्कीर्णनासव्यञ्जकम् ।

हे करुणावति ! अम्ब ! कराब्जे निजकरकमले, कशा ताडनरज्जु, मा कुरु मा
ब्रह्मी, मे मम स्वान्त हृदय कम्पते, पुनरत पर जानु कदापिन्, गोपे पशुपालबाल
सह खेलन् अह विलम्ब न करिष्यामीत्यर्थ ।

लीलाया लीलायै वा गोपकिशोरस्य वस्तुत परमेश्वरस्य श्रीकृष्णस्य मातर प्रत्यु-
क्तिरेषा । इह प्राप्तस्य कशोत्तोलन विभाव, कम्पमानुभाव । भावान्तरेणासङ्कीर्ण-
स्वाशोऽन ध्वस्यते ।

यहाँ पति के द्वारा स्वकीय बचन का अलग करना विभाव और भाव जाना अनुभाव है ।

'कालीपु . . .' इत्यादि वच में 'लज्जा व्यङ्ग्य है' यह शब्द जहाँ कभी पाविये, क्योंकि 'बाला'
का से नादिका का बचन बोधित हुआ है, जिससे लज्जा की निवृत्ति हो जाती है—अर्थात् बचन
में लज्जा नहीं होगी, श्रम होता है ।

यदि यह बात कही जाय कि यहाँ 'बाला' पद से बच्ची नहीं विवक्षित है, अपितु 'मुग्धा' श्रिमके
छाया में 'समधिकल-ज्जावता' अर्थात् 'अधिक लज्जावती', कहा गया है, अतः लज्जा ही प्रधान
स्वरूप होगी, तो मैं कहूँगा कि यह कल्पना आपका ठीक है, इसी अर्थ को हृदय में रखकर प्रत्येक
दूसरा उदाहरण दे रहे हूँ—'इदं वा विविक्तमुदाहरणम्'—अर्थात् अथवा यह विस्तृत उदाहरण
प्राप्त का लीलायै—

अयि ! दयावति ! तू अपने कर-कमल में (मुझे मारने के लिये) कोय भय ले, मेरा मन बँट
रहा है । मा ! गोपटी के साथ खेलते हुये अब कभी विलम्ब नहीं करूँगा ।

यह टीका से गोप किशोर बने हुये श्रीकृष्ण भगवान को बलि है । यहाँ माँ का कोय दाह में
लेना श्रम में विभाव और कल्प अनुभाव है ।

निद्राया विभाव्येभ्यश्चमादिभ्य उत्पत्त्युत्पन्नं ज्ञानं विद्ययाभासः, स्वप्न एव सुप्त-
नाय इत्यर्थः । तदाह—

स्वप्न इति यावत् ।

श्रमादेविभावस्य निद्राविभावत्वेनैवोक्तत्वात्तदनुभावमानं वक्ति—
अस्यानुभावः प्रत्यापादि ।

तनु श्रमादयो विभावा इव नेत्रनिमीलनादयोऽनुभावा अपि निद्राया एवास्य
कथं नोच्यन्ते इत्यावाह्या व्यपोहते—

नेत्रनिमीलनादयस्तु निद्राया [एव] अनुभावा, न त्वस्य, अतिद्वन्द्वन्यस्त्वान् ।
प्राचीनोक्तिं वृण्वति—

यत् प्राचीनैः—'अस्यानुभावा निभृतगात्रनेत्रनिमीलनम्' इत्याद्युक्तम्,
तदन्यथा सिद्धानामपि तेषामेतद्भावव्यापकत्वादिति ध्येयम् ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

अस्य स्वप्नभावस्य । प्रतापोऽन्यकभावणम् । आरिना रोदनहसनादिस्वान्ध्या-
पारगद्ग्रहः ।

नेत्रनिमीलनादीनां हि निद्राजन्यत्वं न तु स्वप्नजन्यत्वमिति नेत्रनिमीलनादयो
न स्वप्नस्यानुभावाः । इत्यस्वप्नस्य निद्रायाश्च कारणैक्येऽपि कायभेदाद् भेदो
विभावनीयः ।

अस्या-सिद्धानि कारणान्तरादेवात्सङ्घानि । नेत्रनिमीलनादयो हि निद्रयैव (न
तु स्वप्न) जनितानि स्वप्न यावत् तिष्ठन्तीति स्वप्नसमयेऽपि तदुपलम्भाद् अनेन
स्वप्नजन्यत्वं तेषां प्रतिपादितमित्याकृतम् । उक्तवान्यत्र—'स्वप्नो निद्रासुपेतस्य
विषयानुभवस्तु यः । नोपावेगबभूवतानि—सुखदुःखादिकारकः ॥ इति ।

अथ 'सुप्त' का निरूपणं करते हैं—'निद्रा' इत्यादि । निद्रा-एव विभाव (कारण) से उत्पन्न हुए
ज्ञान का नाम 'सुप्त' है । जिनसे स्वप्न कहते हैं ।

वृद्धशाना आदि इनके अनुभाव हैं ।

आँसों का मीचना आदि तो निद्रा के ही अनुभाव हैं, सुप्त के नहीं, क्योंकि वे स्वप्न से उत्पन्न
नहीं होते ।

प्राचीनों ने 'सुप्त' के अनुभाव आँसों की निश्चेष्टता और आँसों का मीचना है' ऐसा जो लिया है,
उमरुआशय यह है कि यद्यपि इन अनुभावों के प्रति स्वप्न कारण नहीं है, स्वप्न के लिये ये सब
अवधानिद्रा है—अर्थात् स्वप्न के अभाव में भी ये अनुभाव निद्रा से उत्पन्न होने वाले हैं, तथापि वे
अनुभाव स्वप्न के अर्थात् कारण हैं—अर्थात् स्वप्न-वस्तु में जो इनका रहना निश्चित है । सारांश
यह हुआ कि स्वप्न ही अवस्था में भी इन (नेत्र-निमीलनादि) अनुभावों को निकलना रहत देखकर
प्राचीनों को प्रमत्त हो गया कि वे स्वप्न के ही कारण हैं, ज्योंही ऐसा ठिक लिया । वस्तुतः इनका
कारण नहीं है ।

स्वप्नानुभूतप्रियासमायमो नायको निद्रा वदति—

'अकरण ! मृषामायासिन्धो ! विमुञ्च ममाञ्चल,
तव परिचित स्नेह' सम्यङ् मयेत्यनुभाषिणीम् ।
अविरलमालद्वाप्या तन्वी निररतविभूषणा,
क इह भवती भद्रे ! निद्रे ! विना विनिवेदयेत् ॥'

प्रकरणमाह—

एषा प्रवासगतस्य स्वप्नेऽपि प्रियामेवभाषिणी दृष्टवतो निद्रा प्रति
कस्यचिदुक्तिः ।

ननु वस्तुनो रसस्य चापि व्यङ्ग्यत्वादिह कथं भावध्वनिरेव व्यपदिश्यत इत्यत
आह—

'यद्यप्येवम्भूताया प्रियतमावस्थाया निवेदनं निद्रे ! मम अत्रत्या महानुप-
कारं कृतं' इति वस्तु, विप्रलम्भशृङ्गारश्चात्र प्रतीतिपपमवतरति, तथापि पुर-
स्फूर्तिकतया स्वप्नध्वनतमभोदाहृतं न प्रान्ते तयोऽङ्गनं निरोद्धुमोष्टे ।

हे मद्रे कल्याणकारिणि ! निद्रे स्वप्नदशे ! भवती विना क इह—'हे अकरण
निर्दय ! मृषामायासिन्धो सर्वदा मिथ्याभाषिन् ! मम अञ्चल वसनात्प मुञ्च त्यज,
तव स्नेहं प्रणयं परिचितं मया तव 'कपटप्रमा सुविदितं' इति वाक्यानि, धनुमा-
पिणी वदन्तीम्, अविरलमालद्वाप्या निरन्तरच्यवमानाश्रुधाराम्, निवस्तविभूषण
निष्कासितालङ्काराम्, तन्वी प्रियसी, विनिवेदयेत् समर्पयेद्दशयिदित्यर्थः ।

अपिरत्राप्रयोजनं प्रतिभाति ।

अभोदाहरणे निद्राकर्तृकप्रियतमानिवेदतरूपमहोपकारविधानात्मकवस्तुन शृङ्गार-
रसस्य च व्यङ्ग्यत्वाद् वस्तुध्वनि-रसध्वनयोरपि यद्यपि सद्भाव, किन्तु तयोः पश्चात्
प्रतीतिरिति साम्यामङ्गभूताभ्यां सह पूर्वप्रतीतिकत्वान् प्रधानस्य स्वप्नभावध्वनेः
साहचर्यमिति तदुध्वनिव्यपदेश एवेति सारम् ।

निद्रानाशयस्य भावत्वाभावाद् बोध इति, बोधस्य चान्यथाऽपि सम्भवाभिद्रेत्यादि
च लक्षणे निवेदानम् । तदुक्तम्—'निद्राप्रणयहेतुभ्यो विबोधश्चेतनायम । जृम्भाऽ-
जृमङ्गनयनमीतनाङ्गावलोककृत् ॥' इति ।

अथ 'स्व-भाव' का उदाहरणं लीजिते । 'हे निर्दय ! हे मिथ्याभाषी के समुद्र ! मेरे अञ्चल छो
दे, मुझे तेरे प्रेम का अथवा परिचय प्रदान हो चुका है' इम तरह करती हुई और लगानार आँसु
बहाती हुई आभूषणविहीन कुशाहरी को, हे कल्याणकारिणि ! निद्रे ! तेरे बिना कौन छाकार व्यस्तित
कर सकता है ? हे देवि ! इस तरह प्रिया-समायम कहा देने का सीमायम केवल तुझे ही प्राप्त है ।

यह एक पौटि से करती हुई प्रियतमा को स्वप्न में भी देखने वाले किमी प्रवामी नायक
की वक्ति है ।

यद्यपि 'हे निद्रे ! तू ने प्रिया को क्षणभङ्ग दशा (पल्य मायण, रोदन और आभूषण-त्याग आदि)
का ज्ञान धराकर मेरा महानु उपकार किया है' इम वस्तु तथा विप्रलम्भ शृङ्गार दोनों की प्रतीति यहाँ
देवी है, तथापि पहले स्वप्न की ही स्फूर्ति (प्रतीति) होती है, अत इम वच को स्वप्न-भाव-ध्वनि
का ही उदाहरण कहा गया है, परन्तु अन्त में उक्त वस्तु और रस भी ध्वनित होंगे, स्वप्न-भाव-ध्वनि,
उन्ने एक नहीं सकती ।

‘नष्टो मोह स्मृतिर्लब्धा, त्वत्प्रसादाभ्याऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देह, करिष्ये वचन तव ॥’

इति गीतापद्यमुदाहर्यम् ।

मिहावलोकनन्यायेन पूर्वोदाहरणश्रुत्याध्वनिमाशङ्क्य निरस्यति—

न नु वारिवाहविषयाया असूयाया एवात्र वाक्यार्थतेति शङ्क्यम्, विबोध-
प्रतीती हि मत्या तस्मिन्नौचित्यावगमे सन्यनुचितविबोधजनकत्वेन वारिवा
हेऽसूयाया विलम्बेन प्रतीते, परमुखनिरीक्षकत्वात् ।

उक्तार्थं समर्थयितुमसूयाया विषय विदादीकरोति—

स्यादपि तस्या अपि प्राधान्यम्, यदि वारिवाहे निष्करुणत्वादिवोधक
केचिदपि स्यात् ।

विबोधभाव गम्यन्ते तेषा मते— हे अच्युत गाविन्द । त्वत्प्रसादात् तत्त्वोपदेशनात्मक
वदनुग्रहान् मम मोहो देहात्मभ्रमो नष्ट मया स्मृतिरात्मस्मरण च लब्धा पुनरवाप्ता
पाम्प्रत गतसन्देह कर्तव्याकर्तव्यसशयरहित । स्थितोऽस्मि । तेन तव वचन करिष्ये
वदादेश पालयिष्यामी—स्पर्शक नष्टो मोह इत्यादिभगवद्गीतापद्यमत्रोदाहरणीयम्
त्राविद्याध्वसजयविबोधस्य सत्त्वादित्यर्थं ।

वाक्याधत्ता वाक्यार्थबोधप्राधान्यम् । तस्मिन् विद्योने । परमुखनिरीक्षकत्वमस्
माया पराधीनप्रतीतिकत्वम् ।

‘नितरा’मित्याद्युदाहरणे परमोपकारकनिद्रामञ्जक—भेषविषयकानूयाया इव
नाधान्यन व्यङ्ग्यपत्त्रादसूयाध्वनिरेवेति तु न शङ्कनीयम् इहामूयाप्रतीते परसापेक्ष-
कत्वेन प्रथममुत्पत्तमशक्तत्वात् तथाहि—प्रथममिह विबोधस्यैव प्रतीतिर्जायते तदनु
स्वप्नस्य सुखकरत्वेन विबोधानौचित्यस्य प्रतीति तदनन्तरमनुचितविवाधकारणग
र्जितविधायकत्वेन भेषविषयकानूयाया प्रतीतिरिति विलम्बेन भवन्ती परमापेक्षाऽमूया
इ प्राधान्यमर्हतीति सारम् ।

तस्या—असूयाया ।

कुछ लोग ‘विबोध’ को अधिष्ठा के नाश से उत्पन्न होने वाला भी मानते हैं, उनके मन के अनु
सार ‘नष्टो मोह’ इत्यादि गीता के श्लोक को ‘विबोध’—‘भ्रम’—‘भ्रमि’ का उदाहरण समझना
काहिये । उक्त गीता श्लोक का अर्थ यह है कि—‘हे भगवन्’ आपकी अनुकम्पा से मेरा म ह नष्ट हो गया
और मुझ मति प्राप्ति प्राप्त हो गई अर्थात् जिन सत्तों को मैं भूल रहा था, व मुझ पुन मग्न में आ
ये । अब मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूँ, आपके कर्म का अन्तरा पापन करना यह महाभावन
पुरु में भगव—प्रसा मजुन का अर्थ है तुम जने वे बाद मग्नान् इत्यादि के अति उक्त है

‘नितरा’ इति या ... इत्यादि पूर्वोक्त पत्र का प्रधान वाक्यार्थ भेष के विषय में ह न वत्
अध्या ह, व शङ्का कर्म समन्विता नहीं, क्योंकि जब वह विषय भाव का प्रतीति है जादो नव
उक्त विद न अनौचित्य का—अनवसर में होने का—ज्ञान हाग और उक्त बाद अन्त में विद न
ह उत्पन्न व न शक्त भेष में अध्या होयी । जब वह श्रुत्या परनुगपति—अध न म् इत्यादि
विबोध का नव जोहने वाली है, इमीलिये उक्त प्रतीति भी विन्मद में ही हो । न न
वाक्यार्थ वन हो सकती है ।

स्वप्नध्वनिराद्यमपि निरावरोति—

नापि स्वप्नध्वनि, वारिवाहनादेन तन्नाशस्यैव प्रतिपत्तौ ।

अथ जीवनाहरणकर्तृत्वावगमनस्य वारिवाहपदस्य, कोपनप्रकृतिरुत्थावगमनस्य त्रिपादस्य वा सत्त्वादसूयाध्वनि, स्वप्नभावस्य प्रसामेन भावदान्तिध्वनि च पर्यवेस्य, ताम्या सहासूयाध्वने याद्वयंमभ्युपगच्छति—

अस्तु वा स्वप्नभावप्रशमेनास्यया च सहास्य सङ्करः ।

व्युत्पत्तिदाहपांय प्रत्युदाहरति—

इदंनु नोदाहार्यम्—

'गाढमालिङ्गघ सकना. यामिनी सहृतस्युपीम् ।

निद्रा विहाय स प्रात-राल्लिङ्गाय चेतनाम् ॥'

यद्यह वचंरपि 'प्रातः' तावद्दृष्टेन विभिना निद्रादरिद्रिदृष्ट' इत्यादी विषे गटत्वमिदं, मेघस्य निरदयत्वादि विमप्यसूयाव्यञ्जक विशेषणमुपास्य स्यात्, तदंवासू-
पाया प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्व स्यात्, न च तथा तस्मान्नासूयाध्वनिरिति भावः ।

यतो मेघस्य गर्जितेन स्वप्ननाशस्यैव प्रतीतिरथ भवति, अतः स्वप्नध्वनिरपि न सम्भवतीत्यर्थः । नष्टत्वेन प्रतीयमानस्य स्वप्नस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वासम्भवा-
दित्याशयः ।

साद्वयंस्पङ्गिता विषोषध्वनेरेवेत्वाप्तम् ।

स प्रदान्त पुमान्, गाढ दृढमालिङ्गघ समाहितस्य सकना सम्पूर्णा यामिनीम-
त्रिव्याप्य, सहृतस्युपी साक स्थितवती, निद्रामेका नायिकामिव, प्रातः प्रमाते,
विहा', अथ चेतना नञ्ज्ञामपरा नायिकामिव आलितिसङ्गैत्यर्थः ।

उक्त एव मे अस्या क्रीं भी प्रथमता ही सकनी भी, यदि 'भावप्यादरई' उठेन विभिना निद्रा-
दरिद्रिदृष्ट'—कर्मोद्दे भाई' तव उक्त उक्त विषयता के मेरी निद्रा को मन्त कर दिया' यहाँ जैसे
विधाता को उक्त कहा गया है, उना तरह यहाँ भी मेघ के विषय में निरदयता आदि का बंध कराने
बाड़ी कुछ बातें कर्ति रहतीं । परन्तु उन तरह की एक भी बात यहाँ कर्ति नहीं है, जग यहाँ
अस्या जनि नहीं ही सकनी ।

उक्त एव मे स्वप्न-भाव की ध्वनि है, यह बात भी नहीं करी का सकनी, क्योंकि मेघ के उठने
से उसके (स्वप्न के) नाश को ही प्रतीति होती है, फिर विनष्ट रूप से बात होने बाध यह स्वप्न-
प्रधान अज्ञान के उ हो सकनी ।

यदि कर्ते कि 'निद्रा' शिवा -- 'इस एव मे मेघ के शिष्य 'वारिवाह' पर का प्रयोग किया
गया है और वारिवाह पद का उक्त होने बाधा (एनमत) भी एक अर्थ होता है, अथ इस प्रकार के
होन शब्द के प्रयोग से मेघ के प्रति अज्ञान व्यक्त हो सकनी है और मेघ-गर्जन से स्वप्न-नाश की
बात तो अतः स्वप्न-कार कह आवे है, अतः स्वप्न-भाव प्रत्यय की ध्वनि आने के दिनार से भी होती
ही है, तो इस पर प्रत्यक्ष कहते हैं कि—ठीक है, इस तरह यहाँ इन दोनों ध्वनियों के साथ
विषोष-भाव-ध्वनि का सङ्कर ही रहे । अभिगम्य कह दे कि—इस तरह सङ्कर मान लेने पर भी अही
विषोष-ध्वनि ही होगी । और उक्त दोनों ध्वनियों उक्त के अर्थ होकर रहेंगे ।

अथ पाठ्यो के शान को इद कर्ते के उद्देश्य से विषोष-भाव का प्रत्युदाहरण-भी दिख्यते
है—'इदंनु नोदाहार्यम्'—अर्थात् यह उदाहरण नहीं देना चाहिए । जो मुख्य बात का साथ रहने

कुतो नेदमुदाहरणीयमित्याह—

विबोधस्य चेतनापदवाच्यत्वात् ।

अपि तु समासोक्त्यलङ्कार एवान्न चमत्कारक इति प्रतिपादयति—

यथा कश्चित् सत्यप्रतिज्ञो द्वाभ्या नायिकाभ्या द्वौ कालवुपभोगार्थं दत्त्वा यथोचिते काल एकामुपभुज्य, कालान्तरे प्रवृत्ते तां विहायापरा भुङ्क्ते, तथैवाय रात्रौ निद्रा. प्रातश्चेतनामिति समासोक्तेरेवेह प्रकाशनात् ।

अमर्षं निरूपयति—

परकृतावज्ञादि-नानापराधजन्यो मौनवाक्यपारुष्यादिकारणीभूत-
श्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्षः ।

विभावाननुमावाञ्च दशयति—

प्राग्वत् कारणाना कार्याणा च क्रमेण विभावानुभावत्वम् ।

चेतना विबोधयोरभेदादिह चेतनापदेनाभिधीयमानस्य विबोधस्य व्यङ्ग्यपदवैर्गपि प्रागुक्तरीत्या न चमत्कारिता ।

इह प्रस्तुतेन विबुद्धपुरुषेणाप्रस्तुतस्य द्विपत्नीकृत्यप्रतिज्ञपुरुषस्य व्यङ्ग्यतात्ममासौ कल्पलङ्कारस्येदमुदाहरण, न तु विबोधध्वनेरित्यभिप्राय ।

शनुकृतास्तिरस्कारप्रभृतयो ये नानापराधास्तज्जन्य, सूक्तोभाव-कठोरभाषणादि जनकभ्रामिनिविष्टस्वरूपश्चित्तविशेषोऽमर्ष इत्यर्थः । तदन्तम्— निन्दाक्षेपापमानादेर-मर्षोऽमिनिविष्टता । नेत्रराश-शिर कम्प-भ्रू मङ्ग-नर्जनादिभ्यः ॥ इति ।

अमर्षस्य परकृतावज्ञादीनि कारणानि विभावा, मौनादीनि कार्याणि चानुमावा-ज्ञेया इति सारम् ।

बाली (एक नायिका के समान) निद्रा का प्रातः आलिङ्गन करके रसा, वही प्रातःकाल में इस (निद्रा) को छोड़कर (दूसरी नायिका के समान) चेतना-संज्ञा-का आलिङ्गन कर लिया ।

दोनों विरोध चेतनापद में शक्य ही हो गया है, अत्र दृष्ट पद्य विबोध-भाव-ध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता ।

‘गाढनालिङ्गज’ इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में वर्तित, रात में निद्रा का और प्रातःकाल में चेतना का आलिङ्गन करने वाले प्रस्तुत पुरुष में उन अस्तित्व तथा सत्य-प्रतिज्ञ पुरुष का व्यवहार आरोपित है, जो दो नायिकाओं को उभयों के लिए दो पृथक्-पृथक् समय देकर, यथोचित समय पर एक नायिका को भोगने के बाद, दूसरे समय में, उसे छोड़कर, दूसरी नायिका को भोगता है । अत्र दृष्टो समाम्बुक्ति अलङ्कार प्रधान—चमत्कारोऽह । भव-ध्वनि तो यहाँ है ही नहीं ।

अत्र ‘अमर्ष=भाव’ का नरूपान्तर करत है—‘परकृता’ इत्यादि । उन चित्त-वृत्ति का नाम ‘अमर्ष’ है, जो दूसरे के लिए हुए अमान आदि अनेक अपराधों से उत्पन्न होती और मौन (कुपो) तथा कट्टेर-भाषा आदि को उत्पन्न करता है ।

परन्तु ही की तरह यहाँ भी कारणों (परकृत अमान आदि अनेक अपराधों) का चित्तवृत्ति और कुपो (मौन आदि) को अनुभव समझ देना चाहिये ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

मानिनीवृत्त वनंपति—

‘वक्षोजाग्र पाणिनाऽऽश्रुं दूरे, यातस्य द्रागान्नाब्जं प्रियस्य ।

शोणाग्राभ्या भामिनी, श्लोचनाभ्या, जोष जोष जोषमेवावतस्थे ॥

शिखावादि प्रकाशयति—

इह त्वाकस्मिकस्तनाप्रस्पर्शो विभावः, नयनारुप्यनिर्निमेपनिरीक्षणो
अनुभावो ।

ननु क्रोधामर्षयो स्यादिव्यभिचारिणो कार्यकारणक्ये मिथ इय भेद इत्यत
आह—

ननु क्रोधामर्षयो स्याद्वि-मञ्चारिणोर्भावयो किं भेदकमिति चेत्, विषय-
तावैलक्षण्यमेवेति गृह्यते ।

ननुमयोविषयताभेद इयमवधार्यत इत्यतोऽभिघते—

तत्र तु गमक भट्टित परत्रिनाशादो प्रवृत्तिर्वचनवैमुख्यादिक चेति कार्य-
वैलक्षण्यम् ।

वधाजाघ दुषनट, महता, पाणिना करेण, आश्रुष्य सस्पृश्य (मन्थिनी ताड-
नादिमम्मवात्) द्राग् इटिति, दूरे यातस्य गनस्य, प्रियस्य कृतागतो बल्लनस्य,
भाननाञ्ज मुपकमनम्, भामिनी नोपना नाभिका, शोणाग्राभ्या रक्तशोणाम्या, जोष-
नाभ्या जोष जोष निनिमेप दृष्ट्वा दृष्ट्वा, जोष तूष्णीमेव, अवतस्थेऽस्यादित्यर्थं ।
इहाप्रसन्दो द्विरपात्त ।

लक्षणपटवादिपदशब्दविनावानुभावसद्भावसूचकस्तुताब्द । निनिमेपनिरीक्ष-
णमिह भेदन-वीप्सायंभाम्या जुपनिणमुभ्या प्रवृत्तिप्रत्ययाम्या सूच्यते । निनिमेप-
निरीक्षण मीनस्याप्युपलक्षणम् ।

विषयताया वस्तुनीरमयोरवस्थाया वैलक्षण्यमेव भेदकं जानीहीत्यर्थं ।

तत्र विषयतावैलक्षण्ये तु । यन्तस्मैव भावस्योन्वटावस्थाया श्रेष्ठरूपतया पर-
त्रिनाशादो प्रवृत्ति कार्यं भवति, अनुन्वटावस्थायान्त्वमपेक्षतया वचनवैमुख्यादिक
कार्यं नयनीति क्रोधामर्षयो कार्यवैलक्षण्यमेव विषयतावैलक्षण्यज्ञापारमित्यर्थं ।

उदाहरणं देहिन् । मुञ्चो के अग्रभाग की दृष्टि से मलकर दूर गये हुए शिखर के मुक्त-कमल
की-पुनः ललित-लाल-लाल-लालों से देगकर ही चुन रहे हैं ।

यहाँ अग्रभाग में वे अग्रभागों के पुनः शिखर के और नेशों की लला तथा लला
लला देगना अनुभव है ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि इन्दी-आर जोष और व्यभिचारी अर अनर्थ में क्या भेद है ?
इसका उत्तर यह है कि वे भेद कुछ नहीं है, फिर भी दोनों (जोष और अनर्थ) की विषयता
की-पुनः अग्रभाग में वे वैलक्षण्य-भेद है, यहाँ जोष अनर्थ परस्पर का भेदक होता है ।

अवहित्य निरूपयति—

त्रीडादिभिर्निमित्तैर्हर्षाद्यनुभावानां गोपनाय जनितो भावविशेषो-
ऽवहित्यम् ।

प्राचीनसम्प्रति दर्शयति—

तदुक्तम्—

‘अनुभावपिधानार्थेऽवहित्य भाव उच्यते ।

तद्विभाव्य भय-त्रीडा-धाष्ट्य-कौटिल्य-गौरवं ॥’

उदाहरति—

यथा—

कुलाङ्गनावहित्य वर्णयति—

‘प्रसङ्गे गोपानां गुणेषु महिमानं यदुपते-

रुपाकर्ष्यं स्वच्छत्पुलकितकपोला कुलवधू ।

हर्षाद्यनुभावानां ‘हर्षस्त्विष्टावापेर्मन प्रसादोऽश्रुवद्गदादिकर, इत्युक्तेरश्रुप्र-
भृतीनां हर्षादिकार्याणां, गोपनायापह्नवाय, त्रीडादिभिः त्रीडा-भय-धाष्ट्य-
कौटिल्य-गौरवं, निमित्तै-ह्येति जनित उत्पादित, भावविशेषप्रतिबुद्धिविशेषोऽ-
वहित्यमित्यर्थः ।

पिधानं गोपनम् । विभाव्यमुत्पादनीय, तदवहित्यम् । धाष्ट्यं प्रयत्नता गौरवं
महत्त्वम् ।

गुणेषु गुरुजनसमीपे, गोपानां प्रसङ्गे कालियदमनादिकथाप्रस्तावे, यदुपते,
श्रीकृष्णस्य, महिमानमुत्कर्ष्यम्, उपाकर्ष्यं श्रुत्वा, स्वच्छन्तो धममाजीपुलकितौ जात
रोमाञ्चौ च कपोलौ यस्यास्तादृशी, कुलवधू कुलीनाङ्गुलटा वधुगोपाङ्गना, प्रणय-
पत्न्येदरोमाञ्चापह्नवाय, विपञ्जालानां जात समुदाय, सगिति सत्वर धमतो मुखस-
तामिष्कासवत्, पद्मगपते कालियनागस्य, पणाय, (तस्य) ताण्डवविधिमुद्धत-

श्लेष और अमर्ष को अवस्था में जो वैलक्षण्य (भेद) है, बसक्य ज्ञान दोनों के बाद-वैलक्षण्य
अर्थात् भिन्न-भिन्न तरह के कार्यों से करना चाहिये । साधर्म्य यह कि श्लेष का अर्थ जोम दूसरों के
विनाश में प्रवृत्ति होना है और अमर्ष का कार्य केवल चुप रह जाना आदि होता है । साधर्म्य यह
मिद दुआ कि एक ही भाव जब कोमलावस्था में रहता है, तब अमर्ष कहलाता है और जब उत्कण्ठ-
वस्था को प्राप्त कर लेता है, तब श्लेष कहलाता है ।

अत्र ‘अवहित्य नामक भाव’ का निरूपण करने हैं—‘त्रीडा’ इत्यादि । हर्ष आदि भावों के जो
अभ्यन्त आदि अनुभाव (कारण) होते हैं, उनकी छिपाने के लिये लज्जा आदि कारणों से उत्पन्न
होने वाली चित्त-वृत्ति को ‘अवहित्य’ कहते हैं ।

इस बात को प्राचीनों ने भी कहा है, जैसे—‘अनुभावपिधानार्थे’ इत्यादि । अर्थात्
अनुभावों को छिपाने के लिये जो भाव उत्पन्न होता है, उसे ‘अवहित्य’ कहते हैं । वह भय, लज्जा,
धृष्टता, बुद्धिहीनता और गौरव सब कारणों से उत्पन्न किया जाया है ।

ऐसे—गोपदन्तो ने प्रसन्न-वश, गुरुदन्तों के शब्द में, कृष्ण ही महत्ता का बर्णन किया निम्नको
निकट में रहने वाली किन्ती कुलवधुना ने भी इस छिपा, निमित्तों उसके एतेको वं प्रेम के कारण

विषज्वालाजालं भगिति वमतः पन्नगपतेः,

कमाया साध्वर्यं कथयतितरा ताण्डवविधिम् ॥'

विभावानुभावावमिषत्ते—

अत्र श्रीडा विभाव', ताटशकालिकयाप्रसङ्गोऽनुभावः ।

इत्य श्रीडाप्रयोज्यमवहित्यमुदाहृत्य भवादिप्रयोज्यस्य तस्योदाहरणानामुह्य-
त्वमाचष्टे—

एव भयादिप्रयोज्यमप्युदाहार्यम् ।

उग्रता निरूपयति—

अधिक्षेपापमानादिप्रभवा किमस्य करोमीत्याघाकारा वित्तवृत्तिरुग्रता ।

प्राचीनसम्प्रति दशयति—

यदाहुः—'नृपापराधोऽसह्योपकीर्त्तनं चौरधारणम् ।

विभावा स्यु-रपो घन्थो यघस्ताडनभर्त्सने ॥

एते यत्रानुभावास्तदोप्रघ निदंयतात्मकम् ।' इति ।

नृत्यविद्यान, साध्वर्येण सहित, कथयतितरा मुहुर्वदतीत्यर्थ । इह श्रीडया प्रणयजत्वे-
दरोमाञ्चयोर्गोपनम् ।

तादृशस्य विषज्वालाजालवमनकारिण । प्रणयजन्वी स्वेदरोमाञ्चौ सज्जाया-
ऽऽध्वर्यजन्यरवेणःपल्लती ।

अवहित्यमिति श्लेष ।

अधिक्षेपो निन्दा, अपमानस्तिरस्कार, आदिपदेन राजापराधस्य, अनिष्टमान-
दोषोद्धोषस्य, चौरग्रहणस्य च परामर्शं । निन्दादिजन्यो अणुवयादिजनक कूरता-
रूपश्चित्तवृत्तिविशेष उग्रनेत्यर्थ ।

उग्रताया नृपापराधादयो हेतवो विभावा, अन्धादीनि चार्माणि चानुभावा । अस्य
वि करोमीत्याकारा वित्तवृत्ति कूरत्व निदंयत्वमित्यनर्मान्तरम् ।

सात्त्विक भाव के विह्वलना और रोमाञ्च उत्पन्न हो गये । कुल्लरपू ने देखा कि अर तो मेरा कृपा
के प्रति प्रेम होगी पर प्रवृत्त होना चाहता है, वम उसने अर से विष-आश के समूह को छगाकार
छगलने हुये अदिराज काठिय के पणों पर कृष्ण के नृत्य का आश्चर्य-गतिन बर्नन करना प्रारम्भ कर
दिया, जिसने छोग समान छे कि यह स्वेद और रोमाञ्च कृष्ण से प्रेम के कारण नहीं, अपितु उनके
परक्रम के बर्नन के कारण हुये हैं ।

यहाँ उज्जा विभाव है और अश्रुर काठिय नाग के पणों पर ताण्डव करने की कथा का प्रसङ्ग
अनुभाव है ।

इस प्रकार अम आदि के द्वारा उत्पन्न होने वाले अवहित्य-भाव का भी उदाहरण समझ लेना
चाहिये ।

अब 'उग्रता-मत्र' का निरूपण करते हैं—'अधिक्षेप' इत्यादि । निन्दा और अरमान आदि में
उत्पन्न होने वाली 'इमवाक्या कर टालूँ' इस तरह की चित्त-वृत्ति को 'उग्रता' कहते हैं ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी शिखा है—'नृपापराध' इत्यादि । अर्थात् राजा का अरताप,
छुड़े दोषों का बर्नन और करने जोरों को रार लेना ये जिसमें विश्व हो और बर्नना, मारना,
दोष और धमकाना ये अनुभाव हैं, उसे 'उग्रता' कहनी चाहिये, निदंयता त्रिकल दूतरा रूप है ।

उदाहरति—

यथा—

गाण्डोवनिन्दयोप्रतामापन्नोऽर्जुनो युधिष्ठिर तर्जयति—

‘अवाप्य मङ्ग सलु सङ्गराङ्गणे, नितान्तमङ्गाधिपतेरमङ्गलम् ।

परप्रभाव मम गाण्डिव धनु—र्विनिन्दतस्ते हृदय न कम्पते ॥’

प्रकरणमाचष्टे—

एषा कर्णेन पराभूत, गाण्डिव निन्दन्त, युधिष्ठिर प्रति धनञ्जयस्योक्ति ।

विभावानुभावो प्रकाशयति—

युधिष्ठिरकर्तृका गाण्डिवनिन्दाऽङ्ग विभाव, वषेच्छाऽनुभाव ।

अमयादुप्रताया अभेदमाशङ्क्य निरस्यति—

न चामयोप्रतयोर्नास्ति भेद इति वाच्यम्, प्रामुदाहृतेऽमर्षध्वनादुप्रताया
अप्रतीतिः ।

तर्हि शौघोप्रतयोरेवैक्यमास्तामित्याशङ्क्यायामाह—

नाप्यसौ क्रोध, तस्य स्यादित्वेन, अस्या सञ्चारिणीत्वेन भेदात् ।

हे युधिष्ठिर ! सङ्गराङ्गणे युद्धस्यसे, अङ्गाधिपनरङ्गदेवास्वामिन कर्णान्,
नितान्तमत्पन्तम्, अमङ्गल वीराणा कृतेऽनुभम्, मङ्ग (पराक्रमहीनत्वस्वरूपत्वदोषान्)
पराजयम्, अवाप्य मङ्गवा, ममानिर्बन्धनीयविक्रमस्यानुनस्य, परप्रभावमुत्कृष्टानुभाव
गाण्डिव, तदाह्य धनुःश्याप विशेषेण निन्दतोऽधिपितव, ते तव, हृदय न कम्पते ?
इत्यर्थः ।

विकीर्णयुग युधिष्ठिरस्य । गाण्डीवराज्यो हृस्वमध्योऽपि द्विरूपकोशोऽनुशिष्ट ।
धनञ्जयोऽर्जुन ।

निर्दोषस्य गाण्डिवस्य निन्दा विभाव, युधिष्ठिरकमन्वषेच्छा चानुभावोऽङ्ग बोध्यः ।
पूर्वोक्ते ‘वशोजाग्रम्’ इत्याद्यमपध्वन्युदाहरणे वषेच्छारूपानुभावप्रतीतेरभावाद्दुप्र-
ताया अप्रतीति, इह तु वषेच्छाप्रत्ययास्तत्प्रतीतिरपीति वषेच्छारूपानुभावभेद एवा-
मयादुप्रताया भेदको ज्ञेय इति सारम् ।

क्रोधो हि गुह्यधुवध्यादुत्पन्न उत्कटावस्यो रौद्ररसस्य स्यायीभाव, असावुप्रता तु

भेदो—समर भूमि म अङ्गराज कथ से अत्यन्त अमङ्गल (वरों के लिये अशोभन) पराजय को
प्राप्त करके, आज तु मेरे परम प्रभावशाली गाण्डीव धनुष को निन्दा करता है ! तब हृदय कम्पित
नहीं होता !

यह कौ से पराजित और गाण्डीव को निन्दा करते हुये युधिष्ठिर के प्रति अर्जुन को वक्ति है ।
यहां युधिष्ठिर के शत्रु को गई गाण्डीव की निन्दा विभाव है और मारने की इच्छा
अनुभाव है ।

‘अमर्ष और उग्रता में कुछ भेद नहीं है’ देसी बान नहीं कहनी चाहिये, क्योंकि पूर्व में जो
अमर्ष—ध्वनि का उदाहरण (वशोजाग्रम् इत्यादि पद्य) दिया गया है, उसने उग्रता की प्रतीति
नहीं होती और यहाँ होती है, इस बात का परिचय अफसो दोनों उदाहरणों को मिलाकर देखने
पर मिल सकता है । सत्य यह कि अमर्ष निर्दयत्वरूप नहीं और उग्रता तद्रूप होती है ।

उन्माद निरूपयति—

विप्रलम्भ महापत्ति-परमानन्दादिजन्माऽन्यस्मिन्नन्याश्रमास उन्मादः ।

उन्मादलक्षणस्य भ्रान्तिमान्देविव्याप्ति वारयितु विशेषण जन्मान्तमुपात्तम्, सर्वेषां
भ्रमाणा साधारण्यमंबद्धमिज्ञानादिप्रतिमितहेतुजन्यत्वेन विप्रलम्भाद्यजन्त्यादित्याह—
शुक्तिरजतादिज्ञानव्यावृत्तये जन्मान्तम् ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विप्रयोगोन्मत्तवृत्त द्रुती निवेदयति—

‘अकरुणहृदय ! प्रियतम ! मुञ्चामि त्वामितः परं नाहम् ।

इत्यालपति कराम्बुज-मादायास्त्रीजनस्य विकल्प सा ॥’

बाणपराप्रन्नयत्कान् कोषापेक्षयाऽन्यमान्यव्यभिचारिभाव इत्युपवीदिभावभेदाद् भेद
इत्यभिसन्धिः ।

विप्रलम्भान् प्रियजनविषोगाल्, महापत्तयेहत्या विपत्ते, परमानन्दादेरुत्कृष्टाह्लाद-
प्रभुनेत्र जन्मोत्पत्तिर्यस्य, स, अन्यस्मिन्, वस्तुनि, अन्यस्य वस्तुनोऽश्रमासत्तदभाव-
वशिरोभ्यक्तप्रकारवज्ज्ञान भ्रमात्मकव्यतिवृत्तिविषये जन्मादो भाव इत्यर्थः ।

विषोपगमुपात्तमिति शेषः ।

शुक्तिर्घामिकरजतत्वप्रकारवभ्रमात्मकज्ञाणस्य विप्रलम्भाद्यजन्त्यात्वेन नोन्माद-
त्वमित्याशयः ।

‘हे अकरुणहृदय प्रियतम ! त्वामितः परं न मुञ्चामि’ इति (वाक्य) विकला
विप्रलम्भेनोद्दिग्नाहृदया सा मामिष्य, कास्त्रीजनस्य सखीसमुपागत्य, कराम्बुज हस्त-
कमल प्रियतमप्रयाणप्रयाद् आदाय गृहीत्वा, आलपति व्याहरतीत्यर्थः ।

उपमा को कोषण्य भी नहीं कह सकते, क्योंकि कोष स्थायीभाव है और उपमा सञ्चारीभाव,
जहाँ दोनों में भेद स्पष्ट है । स्पष्ट बात यह है कि एक ही पिच्छ-वृत्ति जब शुक्-बन्धु-रथादि महान्
अपराधी से उत्पन्न होती है, तब कोष बहलाकर रौद्ररस का स्थायीभाव बनती है । और जब मिथ्या
आदि साधारण दानिक अवस्था से वही पिच्छवृत्ति उत्पन्न होती है, तब उपमा नामक सञ्चारीभाव
बहलती है ।

अब ‘उन्माद-भाव’ का निरूपण करते हैं—‘विप्रलम्भम्’ इत्यादि । शिव-विषोग प्रसरदियति
और परम आनन्द आदि कारणों से जो अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का भ्रम उत्पन्न होता है, वही प्रमा-
त्मक पिच्छ-वृत्ति को ‘उन्माद’ कहते हैं ।

मनो भ्रमों में उन्माद का उद्भवा न पष्टा आय, दुर्गलिये अन्वयाम (भ्रम) में ‘जन्मान्’ विशेषण
उत्पन्नर विप्रलम्भ आदि कारणों का निर्देश दिया गया है, जिससे शुक्ति आदि में जो रज्जु आदि का
भ्रम इत्यन्वयव्यभिचारि दोषों से होगा है, उनमें उन्माद उद्भवा की अठिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि
यह भ्रम विशेषण आदि कारणों से उत्पन्न नहीं होगा ।

उदाहरण देखिये । वह, मत्ती के कर्-वमल को पकड़ कर ‘हे दयाहीन-हृदय जाने प्रियतम !
मैं (जो छेक चुकी मौ छेक चुकी) अब इनके बाद तुझे छोड़ती ही नहीं !’ इस तरह विकल होकर
बतें करती रहती है ।

प्रकरण-विभाव्यानुभावान् प्रतिपादयति—

एषा प्रवासगत स्वनाथिकावृत्तान्त पृच्छन्त [नायक] प्रति कस्याञ्चित् सन्देशहारिण्या उक्ति । प्रियविरहोऽय विभावः, असम्बद्धोक्तिरनुभावः ।

उन्मादस्य व्याध्यन्तमविऽपि पृथगुपादानस्य प्रबोधन प्रकाशयति—

उन्मादस्य व्याध्यन्तमवि सम्भवत्यपि, पृथगुपादानं व्याध्यन्तरापेक्षया वैचित्र्यविशेषस्फोरणाय ।

मरणं निरूपयति—

रोगादिजन्या मूर्च्छारूपा मरणप्रागवस्था मरणम् ।

मनु प्राणनिष्क्रमणरूप मरण कुतो न गृह्यत इत्याशङ्क्यं निरस्पति—

न चान्न प्राणवियोगात्मकं मुस्य मरणमुचितं ग्रहीतुम्, वित्तदृत्पात्मकेषु भावेषु तस्याप्रसक्तैः ।

मुह्यमरणे भावत्वामावस्य हेतुमाह—

भावेषु च सर्वेषु कार्यसहवर्तितया शरीरप्राणसंयोगस्य हेतुत्वात् ।

सन्देशहारिण्या हूत्या । प्रियमनेन सखी प्रत्युपादानादुत्तरेसम्बद्धता ।

स्फीरण प्रकाशनम् ।

उन्मादोऽपि व्याधिरेव, किन्त्वस्य व्याध्यन्तरापेक्षया अधिक चमत्कारकत्वमिति सूक्ष्मित् पृथक्कथनमित्याशय ।

आदिपदेन विग्रहसम्मप्रभृतिपरामर्शं । मरणाग्जीवोद्गमनान् प्रागवस्था पूर्वका-
तिकल्पयति । तदुक्त प्रचीपे—

‘जीवस्योद्गमनारम्भो मरणं वारकीतितम ।

सम्मोहेन्द्रियसहलानि—गात्रविक्षेपणादिकृन् ॥’ इति ।

इन्द्रियाणां सम्मग्नानिर्विषयग्रहणासमता ।

मुह्यमरणस्य शरीरप्राणसम्बन्धव्यवस्थितत्वात्तत्पुनरारम्भकत्वाद्भावादत्वाभावात्
ग्रहणम् ।

सर्वेषु हर्षादिभावेषु कार्यसहवर्तितया तत्तन्निवृत्तिसंस्मृत्वापारानुकूलत्वेन, यतः

॥॥ अपनी नायिका के समाचार पढ़ने हुये किसी प्रवासी के प्रति सहिष्णु केसर जाने वाली स्त्री को बचि है । प्रिय का विरह यहाँ विभाव और असम्बद्ध वाक्यांश अनुभाव है ।

यद्यपि व्याधि-भाव में ही उन्माद का भी जननभाव हो सकता है, तथापि अन्य व्याधियों की अपेक्षा इस उन्माद-व्याधि में कुछ विशेषण विचित्रता है यह दिखलाने के लिये इसका पृथक् धारण किया गया है ।

अब ‘मरण-भाव’ का निरूपण करते हैं—‘रोगादि’ इत्यादि : रोग आदि से उत्पन्न होने वाली जो मरण के पहिले को मूर्च्छारूप अवस्था है, उसको मरण कहते हैं ।

‘मरण-भाव’ में प्राण-वियोगात्मक (प्राणों का छूट जाना रूप) मुख्य मरण का धारण करना उचित नहीं, क्योंकि भावों को जब चित्तवृत्ति रूप भावने है, तब उनमें मुख्य मरण का धारण नहीं आता, कारण यह है कि वह चित्त-वृत्ति रूप नहीं है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

मुमुक्षुर्नापिवापत्ता कर्षयति—

'दयितस्य गुधाननुस्मग्न्ती, घयने सम्प्रति या विलोकिताऽऽनीत् ।

अधुना खलु हन्त ! सा कृमाङ्गी, गिरमङ्गीकुल्ले न भाषिताऽपि ॥'

विभावानुभावादिदधाति—

प्रियविरहोऽत्र विभाव, वचनविरामोऽनुभाव* ।

इह मरणध्वन पदप्रवापना दधयति—

हन्तपदस्यान्तरगतमुपकारकत्वाद् वाक्यव्यङ्ग्योऽप्यम भावः, पदव्यङ्ग्य-
तामावहति ।

परकीयमन निरस्यति—

एतेन भावस्य पदव्यङ्ग्यताया नात्यन्त र्वचिन्त्यनिति पराप्तम् ।

शरीरप्रागस्योगी हेतुः । अतो मुख्य मरण न भाव इत्यर्थं । प्राणवियोगोत्तर विलुप्त-
शरीरभावात् तस्य तत्त्वनिश्चायः ।

या हृद्यङ्गी वियोगव्यथादुर्बलावयवा एवमिति इत् विश्वित्वाग्नेव पूर्वं दयितस्य
प्रियतमस्य, गुधान्, अनुस्मग्न्ती, घयने तत्त्वे विलोकिता दृष्टाऽनीदधुम् । हन्त !
अधुनाऽस्मिन् सगे, सा, भाषिता मधीनि विश्वित्वाऽपि, गिर माङ्गीकुले सञ्ज्ञा-
दुस्यतया न प्रतिवर्त्तीत्यर्थं ।

वचनविरामो भाषणवृत्तिनिवृत्तिः ।

अत्र पद्ये, यद्यपि सम्पूर्ण वाक्येन मरणभावो व्यज्यते तथापि हृत्तरदस्य दुष्वा-
निरिक्त्वोपवृत्तया पदान्तरापेक्षयाऽत्यन्त तत्रोपकारकत्वान् पदव्यङ्ग्यप एवात्र च भाव
उच्यते, प्राधान्येन व्यपदेशादित्यर्थः ।

एतेन पदव्यङ्ग्यपस्यापि मरणभावस्याभातिवत्कारणतया अनुपपन्नमात्रेण ।

मुख्य मरण का भावी में प्रत्येक नहीं करने का दूसरा कारण यह भी है कि हर्ष का ही सही अर्थों
के प्रति शरीर-मा-मदोग कारण है और कारण भी ऐसा नहीं कि बदौलत के पूर्व ही में हो
रहे, अर्थात् ऐसा कि जो कर्ष के भाषण-भाव को वर्णन रहे । इस विधि में मुख्य मरण को मरण
कहे का या लक्षण ? क्योंकि उनके साथ शरीर-मा-मदोग का रहना सम्भव है ।

अब 'मरण-भाव' का उदाहरण देखिये । एक मरी दुसरी सती से कहती है कि—जिसके, अना
प्रियजन के दुःख का कारण बन दुःख, दुःख पर देगा, हर्ष, हर्ष का हर्ष ही, इस समय दुःखने पर
भी नहीं बोलती, अर्थात् वन्द्यते नष्ट हो गई है ।

दुःख का विवेक या विचार और वन्द्यते का नष्ट हो जाना अनुभव है ।

इस वच में यद्यपि सम्पूर्ण वाक्य से मरण-भाव व्यक्त हुआ है, तथापि यह (मरण-भाव) पद-
व्यङ्ग्य ही प्रकृत है, क्योंकि 'हन्त' पद ही दुःख-भाव से बोधक होने के कारण एतन्वी वचिन्त्य-
ने प्रकृत है ।

इसमें (अत्र) के वच में मरण-भाव को हन्त-पद-व्यङ्ग्य चिह्न का देने से) 'अत्र एतन्वी' पद से
व्यङ्ग्य है, ता अपने बोधक विचिन्त्य नहीं रहती' यह कल्प प्रमाण हो गया है ।

विप्रलम्भध्वने करुणध्वनेर्वाऽपि कुतो न व्यपदेश इत्याशङ्का निवारयति—

‘दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती’त्यनेन व्यज्यमान ‘चरमावस्थायामपि तस्या दप्रितगुणविस्मरण नाभू’दिति वस्तु, विप्रलम्भस्य शोकस्य वा चरममभिव्यक्तस्य पोषकम् ।

मरणभावस्य विप्रलम्भ—करुणयोरपि पोषकत्व विषयभेदेन दशयति—

अथ च भव स्वव्यञ्जकवाक्योत्तरवर्तिना वाक्यान्तरेण सन्दर्भघटकेन नायिकादे प्रत्युज्जीवनवर्णने विप्रलम्भस्य, अन्यथा नु करुणस्य पोषक इति विवेक ।

व्यज्यमानमिति वस्तुविशेषणम् । प्रकृते इदिति प्रत्युज्जीवनासम्भवाद् विप्रलम्भासम्भव इति करुणस्यायिसोकोपादानम् ।

इह व्यप्येन वस्तुना पोषितस्य विप्रलम्भस्य, वस्तुतः शोकस्याधिककरुणस्य पार्यान्तिकप्रतीतिविषयत्वेन न प्राधान्यम्, मरणभावस्य प्राथमिकचमत्कारिप्रतीतिविषयतया तत्त्वमिति तदध्वनिव्यपदेश एव, न तु रसध्वने, न वा वस्तुध्वनेर्ब्यपदेश इत्याशय ।

अथ मरणरूपो भाव । चस्त्वर्थे । स्व मरणम् । सन्दर्भे प्रबन्धो महावाक्यमिति यावत् । प्रत्युज्जीवन पुनर्ज्जीवनम् । अन्यथा प्रत्युज्जीवनाभावे ।

अथ मरणभाव एकस्मिन् प्रबन्धे स्वव्यञ्जक यद्वाक्य, तदुत्तरवर्तिना वाक्यशेषरूपेण यदि केनापि वाक्यान्तरेण नायिकाद्यालम्बनस्य पुनरुज्जीवन प्रतिपादित भवति, तदा रसविच्छेदाद् विप्रलम्भमृगारस्य पोषको भवति, पुनरुज्जीवनस्य वर्णनाभावे तु रतिविच्छेदाद् करुणस्य पोषक इति विषयभेदादस्य तदुभयपोषकत्वमिति सारम् ।

एक वच में ‘दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती’-अर्थात् प्रियतम के गुणों का स्मरण करती हुई इस कथन से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि ‘इस नायिका को अनिमन अवस्था में भी प्रियतम के गुणों का विस्मरण नहीं हुआ’ और इस व्यज्यमान वस्तु से एक वच के द्वारा सर से मन में अभिव्यक्त होने वाले विप्रलम्भ-शृङ्गार अथवा करुण-रस की सृष्टि होती है । तात्पर्य यह है कि वैशे तो प्रायः भाव-ध्वनि-स्थल में सर्वत्र मन में किमी न किमी रस की भी ध्वनि होती ही है, परन्तु आसकर मरण-भाव-ध्वनि-स्थल में विप्रलम्भ शृङ्गार अथवा करुण-रस की ध्वनि अन्त में निदमता होती है, अतः वहाँ भी मन में एक दोनों रसों में से किमी एक की अभिव्यक्ति होगी और साथ-साथ वहाँ एक वस्तु भी ध्वनित हुई है, फिर भी व्यवहार वहाँ भाव-ध्वनि का ही होगा, क्योंकि पहले वही का चमत्कार सङ्घर्षों को आकृष्ट करता है ।

एकर को यह कश ग्या है कि मरण-भाव-ध्वनि-स्थल में शृङ्गार अथवा करुण अन्त में अवश्य ध्वनित होता है, उससे क्या यह सम्भवा जाय कि दोनों रस ध्वनित होते हैं ? या एक ? इनका उत्तर यद्यपि यह अनयात दिया जा सकता है कि-‘एक’, क्योंकि दोनों का एक अगह ध्वनित होना असम्भव है, परन्तु ‘एक’ के निर्गम हो जाने पर भी यह सन्देह बना ही रहता कि यह एक कौन ? शृङ्गार अथवा करुण ? यदि परिस्थिति भेद से दोनों ही रस ‘एक’ में जा सकते हैं, यह प्रश्न का तात्पर्य समझा जाय, तब यह जिज्ञासा स्वभावतः उत्पन्न होती है कि ‘यह परिस्थिति-भेद’ क्या है ? अर्थात् किस परिस्थिति में विप्रलम्भ ध्वनित होगा और किस परिस्थिति में करुण ? इस जिज्ञासा को शान्ति के लिये यह विवेक करना चाहिये कि—मरण-भाव, सन्दर्भ में, इस वाक्य (मरण-भाव-ध्वनिक

मुख्यमरणानुदाहरणकारण मणति—

कवयः पुनरमुं प्राधान्येन न वर्षयन्ति, अमङ्गलप्रायत्वात् ।

वितर्कं निरूपयति—

सन्देहाद्यनन्तरं जायमान उद्दो वितर्कः ।

चिन्तादिव्यावृत्तये वदति—

स च निश्चयानुकूलः ।

उदाहरति—

'यदि सा मियिलेन्द्रनन्दिनी, नितरामेव न विद्यते भुवि ।

अथ मे कयमस्ति जोवित, न विनाऽऽत्मन्वनाश्रितस्थिति ॥'

पुनराशब्दस्त्वर्थकः । न वर्षयन्ति, शृणार इति शेषः । तदुक्तम्— 'रसविच्छेदहेतु-
त्वान्मरणेनैव वर्षयन्ते ।' इति । कश्चेत् तु तद्वर्णनमपीष्टमेव यथा-रघुवशेऽष्टमसर्गे ।

सन्देहात् सध्यान, आदिपदेन विपर्ययाच्चानन्तरं जायमान उद्दोऽप्याहारश्रित-
वृत्तिविशेषो वितर्क इत्यर्थः । तदुक्तम्— 'तर्को विचार सन्देहाद् भ्रूशितोऽद्गुलिन-
तर्कः' इति ।

प्राक् सन्देहो विपर्ययो वा, मध्ये सम्भावनारूपो वितर्कः, अन्ते च निश्चय इति
शब्दे वितर्कस्त्वर्थ निश्चयजनकरव, न तु चिन्तादेरिति स्फुटम् ।

सा मियिलेन्द्रनन्दिनी जानकी, यदि नितरामेव भुवि न विद्यते सर्वथा परलोक-
नेवामात्, अथ तदा, मम रामस्य, जोवित जोवनं कथं केन प्रकारेणास्ति, यतः—
आत्मन्वनाश्रित विना, आश्रितस्वापेयस्य, स्थिति क्वापि न भवतीत्यर्थः ।

जानकीजीवनं विना मज्जीवनासम्भवान्मज्जीवनेनैव जानकीजीवनं सम्भावनीय-
मिति धारम् ।

वाक्य) के अनन्तर जाने वाले दूसरे वाक्य से बहिः नायिका आदि के पुनर्जीवन का वर्णन किया गया
है, तब विच्छेद का अन्वय कल्याण का शीघ्र होता है—अर्थात् मरण-भाव-अज्ञान वाक्य को मरणा
सन्दर्भगत अधिन वाक्य से नायिका आदि के पुनर्जीवन के वर्णन होने पर विच्छेद-मार्ग अन्त में
स्थित होता है और यदि अधिन वाक्य से नायिका आदि के पुनर्जीवन का वर्णन हो, तब कल्याण-रत
स्थित होता है ।

कवि छोग इस मरण-भाव का प्रधानता वर्णन नहीं करते, क्योंकि यह भय एक तरह से अन्याय
सा है । वह निरर्थक शृणार रस के निषेध में ही समयना चाहिये, कल्याण में नहीं अतः एव 'रघुवंश' के
अन्त सर्ग में काठियास ने कल्याण की पुष्टि के लिये इस यात्र का वर्णन किया है, शृणार में ही यह
निषेध अनुचित भी जान पड़ता है, क्योंकि 'रस-विच्छेदहेतुत्वात् मरणं नैव वर्षयन्ते—अर्थात् रस-विच्छेद
का हेतु हो जाने के कारण मरण का वर्णन नहीं किया जाता है' के द्वारा जो मरण-वर्णन-निषेध का
शीघ्र (रस-विच्छेद) विच्छेदन गया है, वह शृणार में ही संघटित होता है वर्णन में नहीं—अर्थात्
मरण-वर्णन से शृणार रस का ही विच्छेद सम्भव है, कल्याण का नहीं ।

अथ 'विच्छेद' का अर्थ करने है—'सन्देहात्' इत्यादि । सन्देह आदि के अनन्तर उत्पन्न होने-
वाला जो कथं (एक प्रकार का विचार) है, उसे 'वितर्क' कहते हैं ।

विच्छेद निषेध का धनक होता है—अर्थात् वितर्क के बाद निश्चयारम्भकान् उत्पन्न होता है ।

अथ इस 'वितर्क-मण' का उदाहरण लीजिये । यदि जनकनन्दिनी (सीता) पृथिवी पर सर्वथ

प्रसङ्ग-विभावानुभावानाह—

स्वात्मनि भगवतो रामस्यैवोक्तिः । भुवि सीताऽस्ति न वेति सन्देहोऽत्र विभावः । भ्रूक्षेप-शिरोऽङ्गुलिनर्तनमाक्षिप्तमनुभावः ।

चिन्तैव कुतो न वितर्कं इत्याशङ्क्य निरस्यति—

न चासौ चिन्तेति शक्यं वदितुम्, चिन्ताया नियमेन निश्चयः प्रत्यप्रयोजकत्वात् ।

वितर्कलक्षणे नियमेनेत्यस्यानुत्प्रेषात्तदनिवेशे प्रसक्तं पुनस्तयोरेक्यं निवारयति—

किं भविष्यति' 'कथं भविष्यति' इत्याद्याकारायाश्चिन्तायाः 'इदमित्य भवितुमर्हति प्रायशः' इत्याकारस्य वितर्कस्य विषयवैलक्षण्याच्च ।

स्वात्मनि स्वगतं वितर्कणम् । शिरोनर्तनमङ्गुलिनर्तनं वितर्काज्जायते । आक्षिप्तत्वं शब्दानुक्तत्वात् ।

यत्तच्चिन्ताया कदाचिदेव निश्चयो जायते, वितर्कं तु सवदा नियमेन निश्चयो भवतीति चिन्ताया नियतपूर्ववर्तित्वविरहाभिश्चयावगणकत्वाद्विषयकाद् भेदो बोध्य इत्यभिप्रायः ।

किं भविष्यतीत्याद्याकारकल्पानुरूपचिन्ताया अनिर्धारितो विषय-इदमित्य भविष्यति प्रायशः इत्याकारकस्योत्कटिकक्रोडिकशङ्कात्मकसम्भावनारूपस्य वितर्कस्य तु किञ्चिन्निर्धारितो विषय इत्युभयोर्विषयभेदाद् भेद इत्यभिसन्धिः ।

है ही नहीं—अर्थात् परलोक चली गई, तब फिर मेरा जीवन किन तरह वर्तमान है, क्योंकि आभार के बिना आशेय (आभार में रहने वाला पदार्थ) की स्थिति नहीं रहती । अभिप्राय यह कि ज्ञानकी ही मेरे जीवन का आधार है, उसके नहीं रहने पर मेरे जीवन का नहीं रहना भी निश्चिन है । एतावता यह सिद्ध हो गया कि जब मेरा जीवन है, तो जानकी भी कहीं अवश्य जीवित है ।

यह भगवान् रामचन्द्र की अपने मन में शक्ति है । यहाँ सीता पृथ्वीपर है कदा नहीं यह सन्देह विभाव है और यद्यपि वे वर्णित न होने पर भी आशेय के द्वारा ज्ञात होने वाले भ्रू-चालन और मस्तक तथा अङ्गुलियों का नर्तन अनुभाव है ।

'उक्तं यद्यपि चिन्ता-भाव ही ध्वनित होता है' यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चिन्ता नियमतः निश्चय का जनक नहीं होती—अर्थात् चिन्ता से कदाचित् नहीं निश्चयात्मक ज्ञान की उत्पत्ति मने ही हो जाय, परन्तु यह नियम नहीं है कि चिन्ता से सदा सर्वत्र निश्चयात्मक ज्ञान का उदय होगा ही और वितर्क से नियमतः निश्चय की उत्पत्ति होती ही है, यही चिन्ता तथा वितर्क में भेद है, अतः प्रकृत यद्यपि वितर्क ही ध्वनित होता है, इस बात को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये ।

यदि आप कहे कि उक्त वितर्क-स्थणु में 'नियमतः' शब्द का निवेश तो नहीं किया गया, फिर जो भेद इन दोनों में उभर दिखलाया गया है, वह कैसे सिद्ध होगा ? इसका उत्तर यह है कि जाने दीजिये, यदि उस प्रकार भेद सिद्ध नहीं हो सकता, तो न हो, इन दोनों में विषय के भेद से भेद सिद्ध है । विषय-भेद इस प्रकार है कि चिन्ता का आकार होता है 'किं भविष्यति' 'कथं भविष्यति'—अर्थात् 'क्या होगा' 'कैसे होगा' इत्यादि, जब चिन्ता का विषय अनिर्णीत रहता है और वितर्क का आकार होता है 'इदमित्य भवितुमर्हति प्रायशः'—अर्थात् 'प्रायः यह ऐसा हो सकता है' यह सम्भावनात्मक, अतः वितर्क का विषय कुछ निर्णीत सा रहता है ।

नन्वन चरमचरणेष्वन्तरन्यासानङ्कारप्रतीती कथं भावध्वनित्वमित्यत आह—
'न विने'त्यादिनोक्तोऽर्थांतरन्यासोऽप्यस्मिन्नेवानुकूलः ।

विपाद निरूपयति—

इष्टासिद्धि-राजगुर्वाद्यपराधादिजन्योऽनुत्तापो विपादः ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

कर्णं धृते युद्धविजयाधिराशो दुर्बोधन स्वजोषित व्याहरति—

'भास्करसूनावस्त, यति जाते च पाण्डवोत्कर्षे ।

दुर्बोधनस्य जोषित । कथमिव नाद्यापि निर्यासि ॥'

साध्यायेन विशेषसमर्पणरूपोऽर्थांतरन्यासासङ्कारोऽपि प्रतीयमानोऽस्मिन् वितर्क-
भाव एवोपकारकत्वादनुकूलो न तु चिन्ताया, तेन नासङ्कारस्य न च चिन्ताया
प्राधान्यं सम्मर्षोत्पत्त्याय ।

महता प्रदासेनाप्यमोष्टस्य सिद्धं राज्ञो गुरुनामन्येषां महीयसामपराधाभ्यन्वोत्पन्न
किमिव वृत्तमिति पश्चात्तापरूपश्चित्तवृत्तिविशेषो भाव इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'उपायाभावजन्मा तु विपादः सत्त्वतद्दृशय ।

निष्वाप्तोऽप्युवाचहृताप-सहायान्येपपादिकृत् ॥' इति ।

हे दुर्बोधनस्य कर्मकप्रामास्य दत्ताधिकारहीनपतिवन्दितस्य प्रबलप्रतापपराभूत-
पाण्डवस्य वा मम जोषित । भास्करसूनी सूत्रगुते कर्णं, अस्त यातोऽन्त प्राप्ये सति,
पाण्डवानां युद्ध उत्कर्षं आधिक्ये च जाते सति, अघापीदानीमपि, कथमिव कुतो हेतोः,
न निर्यासि त्वं नैव निर्गच्छसीत्यर्थः ।

इह भास्करसूनुत्वेनास्ताञ्जमनीचित्य सूच्यते । स्वोच्चारितस्य दुर्बोधनपदस्य
कर्मकप्रामास्यदिग्भ्रमताडवच्छेदकविशिष्टे त्ववाच्ये ससपथया दुष्प्रतिपाद्यव्यञ्जकत्वा-
दर्थांतरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिः । इवसम्बन्ध-सत्त्वादिवद् वाच्यवामद्वारे श्रेयः ।

इत एव मे 'न विनाऽस्मन्माभित-स्थिति'—अर्थात् 'विना आहार के आनेप की स्थिति नहीं
रही' इस कथन के द्वारा भी अर्थान्तरन्यास अलङ्कार काव्य होता है, यह भी विद्वक्तों में ही अनुभूत
पद्य है, चिन्ता ही नहीं । तात्पर्य यह है कि सामान्य (आहार के बिना आनेप की स्थिति का
समर्थन-कथन) से विशेष (जननी के जीवन के बिना राम के जीवन का सम्मर्पण-बर्णन) का
समर्थन करना ही तो वहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है, जिससे प्रतिपाद्य वस्तु का निर्माण रोग है, ही
विद्वक्तों का विषय है, चिन्ता का विषय ही अनिर्णीत ही रहता है, फिर उसके समर्थन की भावप्रकृता
ही नहीं होती ।

अब 'विपाद-भाव' का निरूपण करने है—'इष्टासिद्धि' इत्यादि । वस्तु प्रदान करने पर भी
अर्थात् कर्म के सिद्ध न होने से तब राजा और गुण आदि पूज्य जनों के अरपण आदि के करने से
घटन होने वाली 'दह क्या हुआ' अर्थात् 'मैंने दह क्या किया' इत्यादिप्रकृत वधात्पत्त्यवर विच-दृष्टि
को 'विपाद' करने है ।

आहारण दैवित्ये : कर्णों के मर जाने के बाद विजय से निराश बने हुए दुर्बोधन का करने बीरन
के प्रति यह कथन है कि—एत-पुत्र कर्णों के मरने से जाने पर (दह) एत-पुत्र पर ही कर्ण का शेष

विभावानुवादी प्रतिपादयति—

अत्र स्वापकार्य-परोत्कर्षयोर्दंशनं विभावः, जीविषेनिर्वाणप्रशसा, तदाक्षिप्तं वदनमनादि चानुभावः ।

विपादध्वनि प्रकृते द्रढयितुमर्थान्तरध्वनेरङ्गत्वमाचष्टे—

अस्मिन्नेव च विपादध्वनी दुर्योधनस्येत्यर्थान्तरसङ्क्रामितावाध्वनि-
रनुग्राहकः ।

त्रासध्वनिमात्रं ह्यत्र निरस्यति—

न चात्र त्रामभावध्वनित्वं शङ्क्यम्, परवीरस्य दुर्योधनस्य त्रासलेशस्या-
प्ययोगात् ।

चिन्ताध्वनित्वमप्याशङ्क्यं निरस्यति—

नापि चिन्ताध्वनित्वम्, युद्धवा मरिष्यामोनि तस्य व्यवसायात् ।

दैन्यध्वनित्वमप्याशङ्क्यं निरस्यति—

नापि दैन्यध्वनित्वम्, सफलमन्यस्येऽपि विपदमतेनागणनात् ।

आशसा कामना । तयाऽऽक्षिप्तं सहचरत्वेनागूरितम् । आदिना । निध्नमत्वादि ।

व हेतौ । अनुग्राहको दुस्सातिशयावगमत्वाद्दुपस्कारको न तु प्रधानम् ।

परवीरस्योत्कृष्टवीरस्य ।

युद्धवा न स्वस्त्रादि त्यक्त्वा । व्यवसायान्निर्धारणान् । चिन्ताया न निश्चय ।

यतो दुर्योधनेन विपदो न गणितास्तस्माद् दुस्सादिदैन्यविभावभावान्न दैन्यध्वनिर-
पीति भावः ।

कराने से उनके अलगपन का औचित्य सूचित होता है) और पाण्डवों के उत्कर्ष (विजय) की भी निम्ति हो जाने पर, हे कर्ण को ही अपना प्राण समझने वाले, अर्थात् स्यारह महीदिगियों के नायकों से बन्दिन होने वाले, कि वा अपने एकल-पराक्रमों से अनेक बार पाण्डवों के ध्वंसे हुएनेवाले दुर्योधन के जीवन ! आज भी तू क्यों नहीं निकल रहा है ? क्या अब भी कोई दुःख देवना देख है ?

यहाँ अपने उत्कर्ष और शत्रुओं के उत्कर्ष का देवना विभाव है और प्राण के निकलने की कामना काना तथा हमके द्वारा मादित होने वाला मुन का नष्ट होना यदि अनुमान है ।

इस पद्य में यद्यपि 'दुर्योधनस्य' इस दृष्टिकोण से (उत्कर्ष का स्वल्प ऊपर में श्लोकाय चिन्ते समय लिखा जा चुका है) 'अर्षान्तरङ्गमिदवाच्य' नाम की दुस्सातिशय-ध्वनि भी होती है, तथापि यह प्रधान नहीं है, अपि तु उक्त विपाद-ध्वनि का पोषक माध है ।

इस पद्य में त्राम-भाव की ध्वनि है, यह शङ्का तो किमा भी तरह नहीं की जा सकती, क्योंकि वस्तुतः वीर नायक दुर्योधन में ऐश्वर्येऽपि त्राम का होना सम्भव है ।

चिन्ता-भाव की ध्वनि भी यहाँ नहीं कही जा सकती, क्योंकि दुर्योधन का यह दृष्ट निश्चय है कि युद्ध करके ही मर्हणा, अन्ध-त्याग करके नहीं । तात्पर्य है कि यदि यहाँ चिन्ता होगी, तो उक्त निश्चय नहीं हो सकता, कारण यह कि चिन्ता से किसी प्रकार का निश्चय नहीं होता यह बात पहले भी प्रस्तावना लिखी जा चुकी है ।

दैन्य-भाव की ध्वनि मानना भी यहाँ ठीक नहीं, क्योंकि दुर्योधन उस कोटि का मनुष्य ही नहीं था, कि कभी दैन्य का अनुभव करे, अब उसके समय सीनेको का विनाश हो चुका, तब भी उसने विरति को नहीं गिना ।

वीररसध्वनित्वमप्याशङ्क्य निरस्यति—

न वा वीररसध्वनित्वम्, मरणस्य शरणीकरणे
स्याभावात् ।

दाह्याय प्रत्युदाहरति -

इद पुनरत्र नोदाहार्यम्—

अस्त उत्तर सारमिर्मर्जुन कथयति—

'अयि पवनरयाणा निदंयाना ह्याना

श्लथय गतिमह नो मङ्गर द्रष्टुमीहे ।

श्रुतिविपरममो मे दारयति प्रकृष्यद्-

भुजगनिमभुजाना वाहुजाना निनादा ॥'

उपपाद्यति -

अत्र प्राप्तस्यैव प्रतीयमानत्वेन विपादस्याप्रतीते ।

नवतृतीययुद्धोद्यमापराधजानुनापरूपस्य विपादस्यापि प्रतीतिरत्र दुरपत्तयेत्या-
शङ्क्यायामाह—

लेशतया प्रतीतो वा प्राप्त एवानुगुण्योचित्येन ध्वनिव्यपदेशायोप्यवात् ।

परस्य परिपत्तिनोऽपकर्षो जीवित प्रथान यस्य, तादृशीत्साहस्य सर्वथा स्वाप-
रंनिर्गमे मरणमेव शरणीमिदानीमिति निर्धारणदशायामसम्भवात्तत्र वीररसध्वनिरिति
शरम् ।

अयि शरथे ! पवनरयाणा वायुतुल्यवेगाना निदंयाना क्रूराना ह्यानामश्वाना
गति श्लथय मन्दीकुरु, अह सङ्गर युद्ध द्रष्टु नेहे नच्छामि, यत् प्रकृष्यन्तीगतिप्रुष्यन्तो
मे भुजगा सर्पास्तन्निमास्तरसदृशा भुजा बाहवो येषा तथाभूताना वाहुजाना शक्तिमा-
शाम्, अनी श्रूयमाणाना निनादा वीरगजितहन्ता, मे मम श्रुतिविपर कर्षयति दारयन्ति
पाटयन्तीत्यर्थ । अय 'ममी मे' इति स्वसहृदयश्रुतिर्न तोमते ।

उत्तरस्य मौख्यप्रकाशेन प्राप्त एवात्र प्राधान्येन प्रतीयते, न तु विपाद इति न
विपादध्वनिरियम् ।

वीर-रस की ध्वनि भी यहाँ मानने योग्य नहीं, क्योंकि वीर-रस का स्थायी भाव को करता है,
व्यथा माण है, शत्रुओं का अन्वर्ध—अर्थात् जब तक शत्रुओं से जगते से अन्वर्धना का ध्यान रहता है,
तभी तक करता है और यहाँ तो दुर्बोधन से शत्रु की शरण ले ली है, जिससे वह मिट
हो जाता है कि उतने अत्र शत्रुओं को जगते से अन्वर्ध समझ लिया है, फिर उतने जगता का रहना
असम्भव है और करता है (स्थायीभाव) के अभाव में वीर-रस-ध्वनि सर्वथा असम्भव है ।

'अयि पवनरयाणाम् . ' इत्यादि वच को विषय-ध्वनि के उदाहरण में नहीं रहना
चाहिये, जिसका अर्थ यों है—अयि शरथे ! तू पवन के समान वेगवाले इन शत्रुओं की गति को मन्द
कर दे, मैं युद्ध देखना नहीं चाहता । शत्रु शत्रु के समान वायु वाले इन श्रुतियों के नाद में शत्रुओं
के श्रुतियों को श्रुतियों कर रहे हैं—उन्हें युद्ध-श्रुत कर में शत्रुओं के श्रुतियों पड़े जा रहे हैं । वह शरथ
विपार-पुत्र 'उत्तर' को अपने शरथि दृष्टव्य-नेत्र-शरीर मर्जुन के प्रति कहते हैं ।

यहाँ प्राप्त-भाव ही प्रधानतया प्रतीय हो रहा है, न कि विपाद-भाव की प्रतीति नहीं हो
सकती ।

बोत्सुक्य निरूपयति—

अधुनैवास्य लाभो ममास्त्वतीच्छा, औत्सुक्यम् ।

विभावमनुभावाभ्राह—

इष्टविरहादिरत्र विभाव, त्वराचिन्तादयोऽनुभावा ।

प्राचीनसम्प्रति दर्शयति—

यदाहु—

सञ्जातमिष्टविरहादुद्दीप्त प्रियसस्मृते ।

निद्रया तन्द्रया गात्रगोरवेण च चिन्तया ॥

अनुभावितमान्यातमौत्सुक्य भावकोविदं । इति ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

प्रवासाभिर्बर्तमानो नायक कामयते—

'निपतद्वाप्यसरोध-मुक्तचाञ्चल्यतारकम् ।

कदा नयननीलाब्जमालोकेय मृगीदृश ॥'

सूक्ष्मतरा प्रतीयमानस्याप्यत्र विषादस्य प्रधानस्य दूषणकारोपरकारकत्वमेव, न तु ध्वनिव्यवहारस्य योग्यता ।

'अधुनैव न तु विसम्भवेन, अस्य वस्तुनो लाभो ममास्तु' इत्याकारिकोक्तकेच्छैव, औत्सुक्यमित्यर्थः । तदुक्तम्—

'इष्टानवाप्येरोत्सुक्य कालक्षेपसहिष्णुता ।

चिततापरवरास्वेद-दीर्घनिश्चिततादिहृत् ॥' इति ।

प्रियसम्भरणरूपोद्दीपनविभावदर्शनमिह नवीनम् । अनुभावितमनुभावन्यापारकमौकृतम् ।

निपततो निर्गलतो वाप्यस्याश्रुण सराधेन सस्तम्भेन मुसल त्यक्त चाक्षय्य गान्धा

यदि कहे कि वरु ने जा गुदोघोगरुम अपराध किया, तत्रन्व अनुभाव (विषाद) का समनें वरुप हीना स्वाभाविक है, अन विषाद को प्रणति यहाँ अवश्य होती है, तो मै कहेगा कि-हाँ ! अधुमात्र में विषाद को प्रणति यहाँ होती है, यह बात ठीक है, परन्तु प्रधानतया अभिप्रेत होने वाले प्राप्त को पीपक होना ही उसके लिये उचित है, अन वह (विषाद) इन दोष्य नहीं है कि समको लेकर इस रूप में ध्वनि का व्यवहार किया जा सके ।

अब 'औत्सुक्य-भाव' का निरूपण करते हैं—'अधुना' इत्यादि । किन्ती वस्तु के विषय में जो इस तरह की इच्छा होती है कि 'अमुक वस्तु मुझे अभी प्राप्त हो गये' वत्त (इच्छा) को 'औत्सुक्य' करते हैं ।

अभीष्ट वस्तु का अभाव आदि यहाँ विभाव और शीघ्रता एवम् चिन्ता आदि अनुभाव होने हैं ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—'सञ्जात' इत्यादि-अर्थात्-अभीष्ट वस्तु के अभाव से उत्पन्न प्रिय के स्मरण से उत्पन्न और निद्रा, तन्द्रा, अज्ञो का मापीन, एवम् चिन्ता ही अनुभावित भाव को भाव-विशेषकों ने 'औत्सुक्य' कहा है ।

आवेग निरूपयति—

अनर्थातिशयजनिता चित्तस्य मम्प्रमाख्या वृत्तिरावेगः ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

रामे मुद्गार्थनागने रावणनामोद्धिना स्वगत बन्धि—

‘नीलया विहितसिन्धुबन्धनः, नोज्यमेति रघुवहनन्दन ।

दपंदुर्विलसितो दधानन, कुत्र यानि ? निकटे कुलक्षयः ॥’

नादृश्यो तारके कनीतिके दन्ध तपाभूतम्, मृगोद्गुण नपनवोताद्व नैत्रेदीवरम्, कदा कन्मिन् क्षणे, आलोकेय परदेयनित्यं ।

अत्र प्रियानपनदसंनोत्कटेच्छास्वीभुक्तस्य प्राधान्येन प्रतीयमानतया ध्वनिव्यप-
देगहेतुत्वम् ।

अत्रविनात्मनिष्ठपदानात्केनानपातिशयनेनोपादिता मन्प्रमाख्या स्वरूपेण
चित्तवृत्तिरद्वेषापरस्पर्याय आवेग इत्यर्थः । दपंदे तु हर्षबोध्यावेग उत्पन्नपाहि—
जावेग मन्प्रमत्तम हर्षके विनिश्चिताङ्गता । तत्सावये सत्तदाङ्गे, दृमापाभुनता-
मित्रे हे रावविद्वज्जादेभ्यु मन्प्रतापादिनोत्तमम् । दवादे स्तम्भकम्पादि, पाम्वापा-
भुनताप्रतिताम् ॥’ इति ।

मीलया न त्वापातेन विहित सिन्धोर्बन्धन येन, तादृश, ॥ कालिदाद्यादिनरात्म-
प्रसिद्ध, अथ पुरो लज्यमाण । रघुवहनन्दन क्षीराक्षर, एत्यामञ्जलि, न त्वाग्नि-
ध्वति, दधानतो रावणो कन्पतिरथ दपंदुर्विलसितः स्वरोदयवोचरितरघुव्यंघार उरुटा-
दिमानो वाज्स्तीति कुत्र यानि विनतरीकापादं क्व दच्छामि ? कुतस्त वगत्य न
त्वेवस्य इमो नापी निकटे छिन्नावस्तीत्यर्थः ।

उदाहरण देसिये । प्रथम से छोट्टेगएल नदक अने मन से कानना काना है कि—(प्रथम
के छिटे नेरी कान के समर कानतुन के मः से) जिसकी दुखी ने गिंते हुए कानुमें के छेकने से
कानना छेक ही थी—मिर ही रही थी, क्योंकि यदि वह दोरी की रिल्ली से समर का कि कान
रि वः, कानुं के लः नदकपर नोत्तमन को कर देकान ।

अथ ‘अवेग’ का निरूपण करते हैं—‘अनर्था’ इत्यदि । अत्यधिक अर्थों के कारण उत्पन्न होने
वाली चित्त की संश्रम नामक वृत्ति को ‘अवेग’ कहते हैं, जिसका उदय ही अन्त पर्यंत है । दपं-
कार ने ही अवेग को ही—अन्त ही माना है, जैसे—उद्धेने कहा है—‘अवेग उत्पन्नमथ हर्षे
निरेष्टकम् । त्वावये समरहे—’ इत्यदि—अर्थात् अवेग समथ को कहते हैं, वह ही अन्त
का होता है, वह हर्ष, दूयण उत्पन्न । हर्ष अवेग में अर्थों की सिम्पन होती है और उत्पन्न
में अर्थों की विच्छिन्ना ।” इत्यदि ।

उदाहरण देसिये—छोट्टे से छुट्टे में छेप्टे छेदर का देवे बडे बे-बन्धि कानि का वः काने से
प्रसिद्ध—छुट्टेनूण उमकद की म रहे हैं, न कि अवेग और उपा-नेप छिटे-रे दपं-
कानुंकांय का विदर नहीं करते बन्धि-छिटी की दरिद्विदि से नव नरी काने कानः, अ नै
कां काने, कुत का विनःत्र निरः का वः—का का कौई भी कान रिखई नहीं पता ।

प्रकरणविभावानुभावानाह—

एषा स्वात्मनि मन्दोदर्या उक्ति, रघुनन्दनागमनमत्र विभाव कुत्र यामो
त्येतद्व्यङ्ग्यं स्वर्गभावोऽनुभावः ।

चिन्नाध्वनित्वमत्रासाङ्ग्य निराकरोति—

न चात्र चिन्ता प्राधान्येन व्यज्यत इति शक्यते वक्तुम्, कुत्र यामोति
स्फुट प्रतीतेन स्वर्गभावोद्देशस्येव चिन्ताया अप्रत्यायनात् । परन्त्वावेगचव
पाया तत्परिपोषकतया गुणत्वेन चिन्ताऽपि विषयीभवति ।

जडता निरूपयति—

चिन्तो-कण्ठा-भय-विरहे-ष्टानिष्टदर्शनश्रयणादिजन्यावश्यकर्तव्या-
र्थप्रतिसन्धान-विकला चित्तवृत्तिर्जडता ।

जडताया मोहात् प्राक् पञ्चाध्वोत्पत्तिमाह—

इय च मोहात् पूर्वं परतश्च जायत ।

तत्र प्राचीनसम्मति दशयति—

यदाहु —

‘कार्याविवेका जडता, पश्यत श्रृण्वतोऽपि वा ।

तद्विभावा प्रियानिष्टदर्शनश्रवणे हजा ॥

स्वर्गभावश्चाह्वयम् ।

गुणत्वेनाङ्गत्वेन । विषयीभवति प्रतीतिगोचरीभवति । यतोऽत्र कुत्र यामोत्युक्त्वा
स्पष्ट बोध्यमानचाह्वयव्यक्तोऽनुभाव आदेगस्यैव न तु चिन्ताया प्राधान्येन व्यञ्जक
तस्मान्न चिन्नाध्वनि, किन्तु प्रधानोभूतावेवप्रत्ययोपकारकत्वाच्चिन्ताऽपि तत्रैव
भासत इति सारम् ।

‘चिन्तोत्कर्षं’ इति पाठान्तरम् । इष्टानिष्टयो प्रियाप्रिययोर्दर्शनं श्रवणं च ।
प्रतिसन्धानमनुसृतिनिर्धारणं वा । चिन्तादिजन्याऽवश्यकर्तव्यार्थानुसन्धानसूच्या चित्त
वृत्तिर्जडतेत्यर्थः ।

इय जडता मोहान् पूर्वा परा च चित्तस्य वृत्तिरित्यर्थः ।

यह मन्दोदरी की आत्मगत उक्ति है । रामचन्द्र का आगमन यहाँ विभाव है और ‘कुत्र यामो—
अर्थात् कहीं कहीं इस उक्ति से व्यक्त होने वाला मिरता वा अभाव (चञ्चलता) अनुभाव है ।

‘एतेन’ इत्यादि पद में चिन्ता ही प्रधान व्यञ्जक है यह श्रुता नहीं करनी चाहिये,
‘कुत्र यामो—कहीं कहीं इस कथन के द्वारा प्रतीत होने वाली चञ्चलता से बिना तरह उदात्त श्रुतना
है, उस तरह चिन्ता नहीं । हाँ, इतनी बात अवश्य है कि ‘आवग-भाव’ के अन्तर्गत में उनके पश्यक
होने के मान गौरव में चिन्ता भी विषय होती है ।

अब ‘जडता का निरूपण करने हैं—‘चिन्ता’ इत्यादि । उन चित्त-वृत्ति को ‘जडता’ कहना है,
जिनका मन चिन्ता, दत्तक, भय, विरह और भिन्न-जन के अन्ति देवने-सुनने आदि से हुआ है,
एवम् चित्त (चित्तवृत्ति) में अवश्य करने दोष्य कथों का स्मरण अथवा निश्चय न होने पाने ।

यद् जडता मोह से पड़ने तथा पीछे भी हुआ करती है ।

अनुभावास्त्वमी तृष्णीम्भाव-विस्मरणादयः ।
स पूर्वं पगतो वा स्यान्मोहादिति विदा मतम् ॥'

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विरहिणी महचरिं व्याहरति—

'यदवधि दधितो विलोचनाम्या, सहचरि । देवबशेन दूरतोऽभूत् ।
तदवधि शिपिलीकृतो मदीयं-रथ करणं प्रणयो निजक्रियामु ॥'

विभावाणुभावो प्रतिपादयति—

प्रियविरहोऽत्र विभाव, करणं ब्रह्मसुखवणादिभिः क्रियामु तत्तत्प्रमितिषु
प्रणयस्य शिपिलीकरणमनुभावः ।

मोहाज्जटताया वैलक्षण्यं दत्तं पति—

मोहे चक्षुरादिभिश्चालुपादेरजननम्, इह तु प्रचारविशेषवैशिष्ट्येन बाह्यत्वे-
नाजननमिति सम्भादस्य विशेषः ।

बाह्यत्वं तनुच्चयार्थकं । विदा स्यात्वात्वाद्दुःखसंज्ञानाम् ।

हे सहचरि । देवबशेन भाग्यविपर्ययेण, यदवधि, दधित' प्रिय', विनीषनाम्या
दूरतोऽभूत् परीक्षनमाणु, तदवधि मदीये चरणैश्चक्रपादिभिः, निजक्रियामु स्वस्व-
प्रमोत्यादकस्यापारेणु, प्रणय आसक्ति', शिपिलीकृतो न्यूनीकृत इत्यर्थं । इहाप्यज्जटोऽ-
नुभासमात्रप्रमोजनव । 'प्रणयो निज' इत्यत्र सन्भावशरीरत्वम् ।

तत्तत्प्रमितिषु चाक्षुपादिप्रत्यक्षक्रियामु ।

प्रचारविशेषवैशिष्ट्येन समुचिततत्प्रचारस्वरूपेण । बाह्यत्वेन भ्रून्तु, तेन स्वदि-
दुषितप्रचारकप्रतीतिजननमनुभवत्वे । मोहे चक्षुरादीना मर्त्या व्यापारविनाम्या-
क्षुपादिप्रत्यक्षाणामनुत्पत्तिरेव, जटताया तु चक्षुरादीना व्यापारस्य संदिग्धान्तु

जैसा कि प्राचीनी के भी कहा है 'क्याप्यविवेको ...' इत्यादि-अर्थान् देखते तथा इनके दुबे
नो बर्तन का विवेक न होना जटता कहलानी है । प्रिय अथवा प्रिय के अन्तिमों का देखना-सुगना,
तथा किसी प्रकार की दुस्मह वीटा से टपके विचार है, और जुर हो जगत् भूट जगत् आदि अनुभाव
है । वह मोह से बरहे चले भी जगत् हुआ करता है । वह विदो का मन है ।

उदाहरण लीजिये । कोई विरहिणी मनी से कहती है कि—दे मना मय रहने वाली मनी ।
दुमांस-यह जब से प्रियतम आँसों से आसक्त हुये, तब से मेरी इन्द्रियों ने अपने व्यापारों से प्रेम
करना छोड़ दिया—अर्थात् तब से न दुःख आँसों से सुसप्त, न आँसों से झुनई पटना, न स्वयं से
सारी का बोध होता, न एक से किसी चीज की रत्न का वत्न चट्टा और न जिन्दा से किसी रस का
स्वाद ही प्राप्त में आता है । हायर्ष वह कि मनी इन्द्रियों बेकार हो गई है ।

वहाँ प्रिय का विरह विचार है और आँसू-जन आँसू इन्द्रियों का करते-भरने व्यापारों-अर्थात्
हारी में प्रेम दिग्भित कर देना-अर्थ आदि से स्वयं आदि का जैसा कहिये वैसा बर्तन न होना
अनुभाव है ।

मेरे और जगत् में वह भेद है कि-मेरे से चक्षुदि इन्द्रियों सर्व्व व्यापारीन हो जाती है,
जिससे चक्षु आँसू आँसों को चक्षु ही नहीं होती, जगत् जगत् में किसी काज नहीं होता-अर्थात्

उक्त समर्थयति—

अत एवोदाहरणे—‘शिशिलीकृतः’ इत्युक्त, न तु ‘त्यक्त’ इति ।

आलस्य निरूपयति—

**अतिवृत्ति-गर्भ-व्याधि-श्रमादिजन्या चेतसः क्रियाऽनुन्मुखताऽऽ-
रुस्यम् ।**

पुनर्जडता-ग्लानिम्यामानस्य व्यतिरेचयति—

अत्र च नासामर्थ्यम्, नापि कार्याकार्यविवेकशून्यत्वम् । तेन कार्याकरण-
रूपस्यानुभावस्य तुल्यत्वेऽपि, ग्लानेर्जडतायाश्चास्य भेदः ।

विरामात्, चाक्षुषादिप्रत्यक्षाणां समुचितं प्रकारंरनुत्पत्तिं स्वमुचितं प्रकारंरनु-
त्पत्तिं, क्वचित्कचित्तेनापि प्रकारेषोत्पत्तिरिति मोहजडतयोः कार्यभेदाद्भेद इत्याशयः ।

अत एव जडताया चक्षुषादिभिः स्वव्यापारत्वात्प्रादेव ।

अत्र क्रियानुन्मुखता यदि व्यापारविषयकप्रवृत्तिप्रयोजकत्वात्माव, तदाऽभाव-
रुपाऽऽलस्य भावो न भवेत्, तस्माज्जाड्यविशेषात्मक क्रियामान्यर्थमेवालस्यम् ।
तदुक्तम्—‘आलस्य भ्रमवर्मावीर्जाह्य जृम्भाऽसितारिकृन्’ इति । न चैव जडतया
सहाभेदापत्तिः, जडतया प्रकारव्यत्यासेन चाक्षुषादिज्ञानजनकत्वम्, अस्य तु समुचिते-
नैव प्रकारेणेति कार्यभेदेनोन्नयोर्भेदस्य जागरणत्वादिति विभावनीयम् ।

ग्लानी जडतायागास्ये च कार्याकरणरूपोऽनुभाव एक एवेति तेषामभेदो न
शङ्कनीयः, ग्लानावसामर्थ्यं नालस्य शून्यं ग्लानितो भेदस्य, जडताया कार्याकार्यविवेक-
शून्यत्व नालस्य इति जडतायाश्च भेदस्य स्फुटत्वादिति तात्पर्यम् ।

उत्तमं चक्षुषादि इन्द्रियों का व्यापार सर्वथा नष्ट नहीं होता, वरन् शिथिलमात्र पत्र जाता है, जिन से
चाक्षुषादि प्रत्ययों की उत्पत्ति तो होती है, किन्तु समुचित प्रकार से नहीं होती । तात्पर्य यह कि मोह
में आँवों से दृश्या ही नहीं और जडता में दृश्या तो है, पर विशेषरूप से परिचय नहीं हो पाता ।
इसी तरह अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये । महा मूल में ‘बाहुस्तेन’ पद आया है,
जिनका अभिप्राय है कि अट्टा में कभी-कभी इन्द्रियों से समुचित ज्ञान भी हो जाता है, पर मोह में
कभी भी वैसा नहीं होता ।

जिस लिए अट्टा में इन्द्रियों के व्यापार सर्वथा नष्ट नहीं होते, किन्तु शिथिलमात्र पड़ते हैं, अतः
एव ‘यदन्धि . . .’ इत्यादि उदाहरण में ‘शिशिलीकृत’ अर्थात् ‘शिशिल’ का दिया’ ऐसा ही कहा
गया है, ‘त्यक्त’ अर्थात् ‘छोड़ दिया’ ऐसा नहीं कहा गया ।

अब आलस्य का निरूपण करने हैं—‘अतिवृत्ति’ इत्यादि । अल्पन वृत्ति, गर्भ, रोग और
परिधम आदि के कारण निच वर करन्व—क्रियाओं के प्रति उन्मुत्त न होना ही ‘आलस्य’ है ।

ग्लानि, जटता और आलस्य इन तीनों ही भावों में ‘भावों का न करना’ रूप अनुभाव समान है
अर्थात् उक्त तीनों भावों की स्थिति में मनुष्य व्यापारहीन हो जाता है, अतः इन तीनों भावों में भेद
को—अर्थात् ये तीनों भाव एक ही हैं, भिन्न नहीं, इस तरह को शङ्का नहीं करना चाहिये, क्योंकि
ग्लानि में कार्य करने की शक्ति नहीं रह जाती और आलस्य में वह रहती है, अतः ग्लानि से पूर्व
अट्टा में कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नष्ट हो जाता है और आलस्य में वह नष्ट नहीं होता, अतः जडता
से भी ‘आलस्य’ भिन्न ही है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

रजनीवृत्तं मुहुं पृच्छन्तीं उखीमत्तना वदति—

‘निखिला रजनी प्रियेण दूरा-दुपयातेन विवोचिता क्यामिः ।
अधिकं न हि पारयामि वक्तुं, सखि ! मा जल्प तवायसी रसज्ञा ॥’

अत्र ह्य प्रतिपादयति—

एषा हि प्रियागमनद्वितीयदिने मुहुनिशावृत्तान्तं पृच्छती सखीं प्रति रज-
निजागरणजनितालस्यायां वक्ष्यामिदुक्तिः ।

विभावावुभावो प्रकाशयति—

अत्र रजनिजागरण विभाव, भाषकसम्भाषणभावोऽनुभावः ।

अहतायां आत्मस्यैवंतमप्यान्तरं दशयति—

जटताया मोहान् पूर्ववर्तित्वमुत्तरवर्तित्वं वा नियतम्, न त्वत्रैत्यपरो
विशेषः ।

हे सखि ! दूरादिमहद्वेसाद् उपयातनापागतं, प्रियेण, क्यामिबिबिषवाता-
सायै (हुनि) सीतामिर्बा, निखिला समन्ता रजनीमिख्याप्य, विवोचिता
जागरिताऽन्मोहस्य सम्प्रत्यधिकं बहु वक्तुं न पारयामि न शक्नोमि, त्वं मा जल्प
मुहुनां प्राप्ती, त्वं रसज्ञा विद्वान्, आत्मस्यै तौहनिमित्ताऽस्ति, यदेव जल्पनेऽपि न
शाम्यतीत्यर्थः ।

त्वद्गमनादि यथायसी रसज्ञा स्वान्, तदेव शक्यतदस्मानामुत्तरं वक्तुं शक्युपा-
दिति भावः ।

यस्मिन् दिने प्रियं जागृतस्तस्माद् द्वितीयस्मिन् दिने ।

यथादिनेन मोहान् पूर्वं परं वात्तच्छते, न त्वापत्यमित्युभयोर्मोहोऽगमनि बोध्य
इत्याद्यर्थः ।

उदाहरणं दृष्टिदे—द्विदिने दूरं स जाये च, एवम् ‘दूरं एव दृष्टिं दृष्टव्यं दूरी का ही वाच्य
है, एतन्मन्त्रना वर कटकृत दूरी का ही शब्द हीन है—अर्थात् ‘दूरं स जाये चे’ इत्यर्थमे
वह वाच्य होता है कि ‘दृष्टिं स जाये च’) व, एतत्कथं चै-विषय वाग्यतो चै-वात्र भव
जाये रहे । अत्र नै क्वचि वाट नहीं मन्त्रा नू वात्र न क्व, मन्त्रन पराग है नती रसज्ञा (रसज्ञा-
विद्या) दृष्टि की जाती है, वह वाग्य म्नी है कि वह रस का ज्ञान करने के लिये ही वा-वर प्रदान
कर रही है, फिर भी उस लिये ही को वा-वर मन्त्रन करने में कुछ भी तो बर्जना चाहिये, पर वह
तो बर्जनी ही नहीं ।

वह, एते के अन्तर्गत के द्विदिने दिन में, पुनः पुनः रात्रि का मन्त्रन करने में ही के मन्त्रि,
एतन्मन्त्रना में अन्तर्गत ही किनी लक्षिका का बर्जना है ।

वाग्यमन्त्र का अन्तर्गत विषय और क्वचि वाग्य का अन्तर्गत अन्तर्गत है ।

‘अज्ञान-मोह’ के निमित्त में वह निमित्त है कि वह मोह से पहले अथवा एते हीन का भाव है पर
अन्तर्गत में हीन निमित्त नहीं है अर्थात् ‘अज्ञान-मोह’ के पूर्व अथवा एतन्मोह का भाव अन्तर्गत
नहीं है, पर मोह का हीन अन्तर्गत में हीन है । इस हीन का हीन अन्तर्गत का हीन के हीन
में हीन हीन चाहिये, अत्र एतद् उदाहरण दिग्दर्शन के बाद हीन विषय की वक्तुं ही हीन है ।

ननु मुरतलीलानामविगोप्यत्वात् तत्रैव कथासन्दस्य जहत्स्वार्पणतक्षणायाम् व्यङ्ग्य-
श्रमातिशय एव प्रधानमिह स्यादित्याशङ्कामशतोऽभ्युपगमेन निरस्यति—

गोपनीयविपयत्वाद् यदि कथाभिरित्यविवक्षितवाच्यम्, तदा श्रमोऽस्तु
परिपोषक, श्रमजन्ये ह्यालस्ये श्रमस्य पोषकताया अवार्यत्वात् ।

इह कथाभिरित्यत्र तक्षणामुत्पद्यन्तया श्रमस्य बोध्यत्वमभ्युपगम्यते, किन्तु
श्रमस्य व्यङ्ग्यत्वोपि, जनकत्वेनालस्यपोषकतयाऽङ्गत्वमेव, न प्राधान्यमती न श्रम-
ध्यनिरित्यमिसन्धिः ।

यहाँ एक और भी बहुत ही मार्मिक श्लोक एवं समझ देने योग्य विचार यह है कि—क्या
'नित्यं रजनीम्' इत्यादि पूर्वोक्त पद में 'कथाभि' वह पद वाच्य वार्ताकारण अर्थ का बोध करा
कर इत्यर्थ ही जाता है ? कमी नहीं, वरपि आगे की व्याख्यानोक्ति हम अर्थ से भी इत्यत्र ही छगनी
है तथापि जागरण की वार्ताकारणेतुक्त वरपि आशुको के हृदय में रमती नहीं, रमना तो दूर रहे, वन
व्यपत्ति के मूठ में तथ्य का बंध ही ही नहीं, अत एव वह उत्पत्ति बाधित है—विरक्तान् पर मित्
हुये रजनी वारों में ही रात बिता देंगे, क्या यह सम्भव है ? नहीं, किन्तुवन विनोद के बिना हममें
प्रमोद अनुभव है । बोलने वाली नायिका का भी 'कथाभि' पद से मुरत-सम्भोग का बोध करना ही
बुद्धेय है, हाँ, वाच्य-श्रुत्या एव गोपनीय अर्थ का बोध कराकर वह निर्लज्ज नहीं बनना चाहते,
अत एव 'छोलाभि' न कह कर हमने 'कथाभि' कहा, किमिहा वाच्य (वार्ताकारण) अर्थ अविवक्षित
है—अर्थात् वह पद मुरतरूप अर्थ में दृष्टांतिक है, इस तरह वाच्यार्थ-ज्ञान की शक्ति से कुछ अधिक
शक्ति अर्पित करने वाले सद्बुद्ध अर्थ ही उस पद के दृष्टार्थ (सम्भोग) को समझें, पर वक्त्री
नायिका, एकल साधारण अनो से दी जाने वाली 'निर्लज्जा' वरपि से तो बच ही गई । एक बात
और, वह यह कि उक्त प्रकार से 'कथाभि' पद को सम्भोगरूप अर्थ में दृष्टांतिक मान लेने पर हम
पद का इतिहास निम्नलिखित अर्थ को अंग भी मुझे प्रतीत हुआ है । सरस मनवपन्ना सखी, चिर-
मिच्छित शिष्यम के साथ, रात बिना कर प्रातःकाल मिठी हुई मला से, रात्रिकृत-सम्भोग-सुख की
बात, हौद-हौद कर, पूछ रही है । परन्तु मष्टान् नायिका साध-साध वह बात करना नहीं चाहती
और इतर-वधर की बातें बता कर उस बात का आशय करा देने पर भी अपनी माननी नहीं, नायिक
आशय आकर नायिका हमने कहती है कि—कह तो दिया, दूर से आये हुये शिष्य के साथ क्या करने
में रात भर जगो रहो, अल्पिक बोल डुलवा कर तह मन करो, मैं मन्मथी ले हूँ कि—तुम्हारे माक
शब्दों में कुछ कहलाना चाहती है, पर मैं इमने अधिक कुछ न कहूँगी, वह भी नहीं सकनी, बोलने
में 'मलम्' हो रहा है और साध-साध करने में रस भी नहीं आता, तुम्हो अपनी बात साध-साध
छोड़ो से कहनी पिरती है, वह तो इसलिये कि तेरी जिज्ञा नाममात्र की रमना है, वस्तुतः वह लोह-
निर्मित पट्टिका है, अतः सहस्र कथन में रस का अनुभव नहीं कर सकी । इस तरह श्रीम को लौहमय
कह कर उस जीम काठी पर भी वह आश्रय किया गया कि नूटोहे की बनी है, तैरा इदम एते का
बना है, नहीं तो, इस तरह क्यों पूछनी ? मेरे 'कथा' पद का दृष्टार्थ भी क्यों नहीं समझती ?

यद्यपि इस तरह की व्याख्या किमी ने अभी तक नहीं लिखी नहीं, पर मेरे मन में लगा कि यह
व्याख्या भी हो सकती है, बस रखनी ने कन्त्रो वचन पर उधार दिया, अब हमका निर्णय सदस्य
विवेक पाठक ही करेगे । अस्तु, प्रकृत में अन्वयार ना कथन है कि यदि एक रीति से 'कथाभि' पद
को अविवक्षितवाच्य (दृष्टांतिक) मानना युक्तिसङ्गत है, तब तो उक्त दृष्टार्थिक पद के दृष्टार्थ
(सम्भोग) से 'श्रम-भाव' मने में व्यङ्ग्य होगा, फिर भी वही की वरपि वहाँ क्यों नहीं मानते ?
इसका उत्तर यह है कि—अब मलम् की वरपि में अर्थ को एक पक्ष कारण करा गया है, तब ले

ननु अ.। तस्यो सर्वत्र सञ्जीर्णविषयत्वे विभावभेदोक्तिरपि स्यादित्याशङ्क्या-
मपनयति -

अतिनृप्यादिजनिते त्वालस्ये श्रमाद् विविक्तविषयत्वं बोध्यम् ।

असूया निरूपयति—

परोत्कर्षदर्शनादिजन्यः परनिन्दादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिनिशेषोऽसूया ।

असूयायाः सञ्ज्ञान्तरमाह—

इमामवासहनादिशब्देर्व्यवहरन्ति ।

उदाहरति—

यथा—

रामोत्कर्षमसहमाना राजानो वदन्ति—

‘बुत्र शैव धनुरिदं, क चाय प्राकृतः शिशुः ।

भङ्गस्तु सर्वसहर्षा, कालेनैव विनिमित्त ॥’

आदिना गर्भादिग्रहणम् । अमजन्य एवास्ये त्रमसञ्जीर्णविषयता, गर्भादिजन्ये तु
विविक्तविषयताया एव सत्त्वात् विभावभेदोक्तेर्वैषम्यमिति भावः ।

असूयायाः परोत्कर्षदर्शनादयो विभावः परनिन्दादयश्चानुभावाः । तदुक्तम्—

असूयाऽयगुणद्वीनामीदृत्वादसहिष्णुता ।

शोरोदघोष-भ्रूविभेदानज्ञा-श्लेषेऽङ्गिवादिभूत ॥ इति ।

श्लेषेऽङ्गितानि निजाघरदशादीनि ।

इमामसूयान् । असहनमसहिष्णुता ।

इदं शैव शिवसम्बन्धिं धनुः कुत्र?, अयं प्राकृतो मानवः शिशुर्वानो रामस्य
क्यास्ति, तदुत्तमोर्षटनाया असम्मवात्, धनुषो भङ्गस्तु, सर्वेषां स्वावरजङ्गमाना सहर्षा
विनाशकेन कालेनैव, ननु रामेण विनिमित्तं कृतोऽभूदित्यर्थः । विनिमित्तं रचनायानेव
प्रयोगः कविमप्रदायतिद्वीशीहान्यवाकृत इत्यालोचनीयम् ।

धनञ्जय-अठस्य-शब्दं मे उत्तरी शक्तिः होगी ही, पर, विदुस्त्वानीय बोधे के जो पुत्रत्वानीय काठस्य
क शेषकल्प मे ही । अत्र अम से शक्तिवित्त काठस्यमात्र को प्रयत्नप्रथा च्छित्त होने में कोई बाधा
नहीं, क्योंकि शेषक अम गौण वह मात्र है ।

यदि अममान से अतिवित्त काठस्यमात्र का अघरण कहाँ होगा, वह समझना पारें, तो-अति-
गुक्ति आदि कारणों से अथवा ‘अठस्य’ से शक्तिवित्ते ।

अथ ‘असूया-अठ’ का निष्ठा करते हैं—‘परोत्कर्ष’ इत्यादि । उस चित्त-वृत्ति का नाम
‘असूया’ है, जिसके विभाव (कारण) दूसरे का उत्कर्ष देना आदि हैं और धनुष्य (कार्य)
दूसरे को निन्दा आदि हैं ।

इसी अमया को ‘असहन’ अथवा ‘असहिष्णुता’ आदि शब्दों से भी करते हैं ।

देते—कहाँ यह धनुष का अघरण और कहाँ यह सघरण मात्र काठस्य, इत्यत्र यह तो अमन के
अमन पराधीन का अघरण करनेवत्त काठस्य मे ही कर दिया । तात्पर्य यह है कि परोत्कर्ष एक परे
रहने के कारण, वह धनुष अमन का ही शक्ति ही गया था अन्यथा इसका अर्थ करना अमन
इत्येवमात्र-अमन के अर्थ का नहीं है ।

प्रकरण-विभादानुभावात् दर्शयति—

एषा भग्नहरकामुकस्य रामस्य पराक्रममसहमानानां तत्रत्यानां राज्ञामुक्तिः ।
अथ च श्रीमद्दाशरथिवलस्य सर्वोत्कृष्टताया दर्शनं विभावः, प्राकृतशिशु-
पदगम्या निन्दाऽनुभाव ।

शुद्धामसूयामुदाहृत्यामर्षसङ्कीर्णामुदाहरति—

‘तृष्णालोलविलोचने कल्पति प्राची चकोरखजे,
मौन मुञ्चति किञ्च करवकुले कामे धनुर्धुन्वति ।

माने मानवती जनस्य सपदि प्रस्यानुकामेऽधुना,
घात ! किं नु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडम्बरः ॥’

अत्रापि यद्यपि तदीयोच्छृङ्खलादि [दर्शन] जग्या, अनुचितकारित्वरूप
निन्दाप्रकाशानुभाविता, कविगता, विद्यानालम्बनाऽसूया व्यज्यत इति शक्यते
वक्तुम्, तथापि कार्यकारणयोस्तुल्यत्वादिभिरव्यक्तैरामर्षेण शबलितैवामौ न
विविक्ततया प्रतीयते ।

तत्रस्थाना सीतापरिषदनाथंमुपस्थितानाम् ।

उभयमेव चन्द्रमम्बुद्वैराच्छन्नमुदीक्ष्य सबलगतनासम्पादक विधातार कश्चिदाक्रो-
धति हे घातारिने ! अधुना रजनीमुखे चन्द्रोदयावसरे, तृणया पद्मिन्कापिपासया लोभे
विलोचने यस्य तादृशे, चकोरखजे जीवज्जीवममूहे, प्राची दिश कल्पयति परमपि सति,
किञ्च करवकुले कुमुदसमुदये, मौन दंनिकमुद्रण मुञ्चति त्यजति सति तथा कामे मन्मथे
सहायमम्पस्या विजयाय धनुर्धुन्वति बाणमारोपयितुमधिगम्य कुर्वति कल्पयति वा
सति, अपि च भातवतीजनस्य मामिनीनिकरस्य माने प्रणयकोषे, स्वावस्थानासम्मा-
वनामानीष्य सपदि क्षीम, प्रस्यानुकामे प्रमियासति सति, विधौ चन्द्रे, धाराधरा-
डम्बरो मेघाच्छादन, किं तु त्वया विधातुमुचितो युक्त ? कथमपि नोदित इत्यर्थः ।

तदीया विधातुसम्बन्धिनी, उच्छृङ्खलता रवच्छन्दाचारिता । प्रकाश प्रत्यय

यह, शिशु-धनुष को तोड़ने वाला रामचन्द्र के पराक्रम को न सहे हुए-बस लज्जा में इस्तिन
राजाओं का कथन है । और यहाँ श्रीमान् दशरथजनय रामचन्द्रजी के कल में सर्वोत्कृष्टता का भाव
विभाव ॥ और ‘प्राकृतशिशु-साधारण बालक’ इस पद से व्यक्त होने वाली रच को निन्दा अनु-
भाव है ।

अत्र असूयामान का एक ऐसा उदाहरण उल्लिखित करते हैं, जिनमें अर्धरात्रि का निमग्न हुआ
है—रदीयमान चन्द्र को अरुणमात् धन-वय से आच्छन्न होते हुए देखकर कोई सहृदय जुल विषया
को कोमल है कि—दे रिणे ! अश्री-जव ॥ चन्द्र-ज्योत्स्ना-धान-खीलुङ्क चकोर-वय, पूर्य दिवा
को अोर आशा-भरी अण हव चण्डल नर्यों में देग रहा है, कुमुद-कुल-दिगमङ्गल सुरण को छेड़
रहा है—विकसित हो रहा है, कामदेव आने धनुष को पुन रखा है—कौन-कौन का टुटार उभय कर
रहा है, और मामिनीको का मान जोष आगने ही बाध है—अरुणमात् इन तरह चन्द्रमा पर मेघ
का आवरण डाल देना क्या तेरा समुचित है ! नहीं नहीं, यह अपने बहुत कुछ काम किया ।

यहाँ भी विधाता के शिष्य में कवि को अन्या अभिव्यक्त होनी है किमिच्छ विभव यहाँ एव में

ननु 'कुत्र रोमम्' इत्यादावप्यमर्षेण सङ्कीर्णवासूया प्रतीयत इत्युदाहरणद्वयस्य तुल्यतेवेत्यत आह—

नहि विद्यातुरपरराघ इव भगवतो रामस्यापराधोऽस्ति, येन कवेरिव वीराणामप्यमर्षोऽभिध्यज्येत ।

ननु तत्रापि रामस्य शैबघनुर्मञ्जनमेवापराध इत्यतोऽभिधत्ते—

स्वभावो हि महोन्नतक्रियानिष्पादन वीराणाम् ।

नन्वन वस्तुनो ध्वननाभासूयाध्वनिरित्याद्यङ्का भवादधानि—

अत्राप्रस्तुतचन्द्रवृत्तान्तेन प्रस्तुतराजकुमारादिवृत्तान्तस्य ध्वननाभासूयाध्वनित्वमिति तु न वाच्यम्, एकध्वनेध्वन्यन्तराधिरोपित्वान् ।

विधात्रालम्बना विद्यातृविषयिका । कार्यकारणयोस्तुन्यत्वादसूयाऽमर्षयोस्तुभावविभावयोस्तुन्यकालोपस्विनत्वान् ।

'तृष्णे'त्याद्युदाहरणे यद्यप्यसूया प्रतीयते, किन्तु साऽमर्षेण सङ्कीर्णतया न शुद्धा, तस्मादेव शुद्धासूयोदाहरणमिति तात्पर्यम् ।

यथाऽत्र विद्यातुरपरराघान् तस्मिन् कवेरमर्षं, न तथा तत्र रामस्यापराधोऽस्ति, येन वीराणां राज्ञाममर्षं प्रतीयेत, तस्मात्त्रामर्षप्रतीतें शुद्धोदाहरणमेव तदित्याशयः ।

यतोऽप्रवृत्तकार्यकारण वीराणां स्वभाव एव नेन शैबघनुर्मञ्जन रामस्य स्वभाव एव नत्वपराध इत्यर्थः ।

अन्तोदयानिरिक्तदिनादिवाने तादृशचन्द्रवृत्तान्तस्याभ्युत्थनम् वास्मिन्निर्वाहकुमारेऽप्युत्पन्नमवलम्बमान एवावस्मिन्नविषयापानन्वयवृत्तान्तस्य च विवक्षितत्वान् प्रस्तुतत्वम् । इहाप्रस्तुताभिधानेन प्रस्तुतव्यञ्जनाद् वाच्योऽस्तुनप्रधानालङ्कारस्तयो-

बलिष्ठ विधाता की उच्छृङ्खलता है और अमुभाव है, प्रतीति—एष मे अनेकानी अनुचितकारितास्य विरुद्धा का निन्दा, वह मान कपि नदी जा सकती है, तथापि इदंन आस्य मानना पडेगा कि वहाँ कुछ अय्या की प्रकृति नदी होती, वरन्, अय्या के जो अनुभाव—विगत (कार्य कारण) है, वहाँ से अभिव्यक्त होने बाद अनर्ष—भाव से मिथिल जल्ला की ही प्रतीति होती है । एतच्च यह हुआ कि वहाँ एक (अय्या और अमर्ष) भाव—द्वय—अनिर्दोष का संकर है, वही करना समुचित है ।

'तृष्णदोष' — 'इत्यादि एष मे जैसे विधाता के अग्राधी होन से कारण उनम कश्चि का कर्म अक होता है, वैसे 'कुत्र रोमम्' — 'इत्यादि प्रथम अय्या—भाव है उदाहरण में वहाँ का राम के प्रति अमर्ष अक नहीं हो सकता, क्योंकि राम अग्राधी नहीं है, अतः वह उदा का जा सकती है कि, वह उदाहरण ही अमर्ष—मिथिल अय्या का है । तत्पर्यं वह कि एष उदाहरण को शुद्ध अय्या—भाव का समस्तता पारिषे ।

यदि कहे कि शिरनी के अमुच की तीव्र राशना क्या राम का अग्राधी नहीं है ? न, इसका उत्तर यह होगा कि नहीं, क्योंकि अय्या एतच्च (अमर्षो दुमरे न कर मके, देने) कर्तों का अन्त रा—पुष्पो का स्वभाव है—वे किसी को दुःखी बनाने की अग्राधी से पैदा नहीं करत, अतः शिर—अमुंन का अन्त रामचन्द्रकी के स्वभाव में आ जाता है, इसको उनके अग्राधी में नहीं िन मकत ।

यदि कहे कहे कि वहाँ अय्या अय्या का अय्या प्रसङ्गनाम नहीं है, अतः वह मानना पडेगा कि अमर्षो एतच्च अमर्ष—भाव राशुमादिर्को वा अय्या अमर्षो अमर्षो है, तत्पर्यं यह है कि

विरोधाङ्गीकारे दोष इत्यपि—

अन्यथा महाबाहो चनेरवान्तरव्याकथयन्निभि, तेषां च पदध्वनिभिः सह सामानाधिकरण्यं तु चापि न स्यात् ।

अपस्मार निरूपयति—

वियोग श्लोक-मय-जुगुप्सादीनामतिशयाद् ग्रहावेशादेश्चोत्पन्नो व्याधिविशेषोऽपस्मारः ।

पिनन्दु वस्तुध्वनि । जान्तामिह कथ्युष्वनिरपि, न तेनासुग्राह्येनेर्हानि यतो नैकस्य ध्वनेरपरेण ध्वनिना मह विरोध, अपि तु मिय सापसत्त्वादिषु साङ्ख्यम्, तैरेत्ये तु सृष्टिरित्याद्यम् ।

इदं तु चिन्तनीयम्—

अप्रस्तुतप्रसङ्गाया व्यञ्जयामस्य वस्तुनो वाच्योपस्कारकत्वेन गुणीभावेऽपि कथं वस्तुध्वनिरिति ।

महाबाहो ध्वनि समस्तप्रवच्यप्रधानव्यङ्ग्यम् । अन्तान्तरध्वनपस्तदन्तर्गतवाक्य-प्रदानव्यङ्ग्यम् । तेषामन्तान्तरवाक्यध्वनीनाम् । ध्वनिद्वयस्य विरोधाभ्युपगमे सामानाधिकरण्यासम्भवात् नङ्कुरससृष्टियवहारविशेष प्रसज्येतेति भावः ।

मनसापस्वनाया व्याधीनामन्तर्गतस्यापस्मारस्य चित्तवृत्तिविशेषकतया भाव-स्वम् ननुक्तम्—'मनः' अपस्मरपस्मारो ग्रहाणावेयनादिव । भूपात-कम्प-प्रसवेद फल-सात्तादिकारण ॥ इति । मनसा भाहोविशेषनिवेशेन ध्वनिं मनः'क्षेपा । प्रहा पूननादयः ।

'द्वन्द्व' - 'द्वन्द्व' इत्येकं चन्द्रादय म निभ से कथं नै वस रात्र-कुमार को लक्ष्य करके कहा गया है, जो वह रात्र में लक्ष्मि का ही रहा था, तब तक अपस्मार उसके ऊपर विरसि का प्रहाप टट परा । हम मियि में वह रात्रकुमार के वृत्तान्त को ध्वनित करने के लिये ही मन्-वृत्तान्त का ध्वनि किना गया है, वह रात्र प्रवच्य मनको प्रवच्य और इन तरह से 'अप्रस्तुत से प्रस्तुत का शान' रूप अपस्मारप्रदान ही प्रस्तुत ही वाच्य हीका ही प्रवच्य है, अर्थात् अपस्मार-ध्वनि ध्वनि ही नहीं । हमारा उदाहरण यह है कि यदि यदा सत्त्वानि मे प्रस्तुत रात्रकुमारविषय-वृत्तान्त ध्वनि होता है, तो, हो, हमने अपस्मार-भाव का ध्वनि होने में बाधा नहीं होती, क्योंकि वह ध्वनि का ध्वनि ध्वनि का विशेष होना छोड़ मिथ्या नियम नहीं है ।

यदि एक ध्वनि दूसरा ध्वनि का विरोध करे—अर्थात् एक ध्वनि दूसरी ध्वनि के साथ एक स्थान पर नहीं रह सकती यदि मिथ्या ध्वनि मन काय, तब कहें, भै, महाबाहो को ध्वनितो का भाग्यत्त वस्तु का ध्वनितो के साथ रहना और अस्मान् वस्तुओं की ध्वनितों का ध्वनितों के साथ रहना सदा ही न हो । अर्थात् यह ध्वनि ध्वनि का उच्च अपस्मारिकों को अस्मिता वस्तु है । भा वल ध्वनि में भी दो ध्वनितों का सम्भव अनुचित नहीं है ।

अप 'आन्तर-वच' का निरूपण करत है । 'वियोग' इत्यदि । वियोग, श्लोक, अथ तदा यथा मन्दि को अतिरिक्त ध्वनि ध्वनि का ध्वनि से अलग होने का ध्वनितो का ध्वनि-विरोध-ध्वनि 'अपस्मार' कहत है ।

व्याघ्रिणाभ्यान्योपादानेनैव गताथंवेऽपरस्मा रस्य पृथगुपादाने प्रयोजन प्रतिपादयति—
व्याघ्रिणेनास्य कथनेऽपि, विशेषाकारेण पुन कथन बीभत्स-भयानकयो-
रस्यैव व्याघ्ररङ्गत्व, नान्यस्येति स्फोरणाय ।

विप्रलम्भे विशेषमाह—

विप्रलम्भे तु व्याध्यन्तरस्यापि च ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

श्रीकृष्णागमनश्रवणाश्रितचित्तस्य कसस्य युत वणंयति—

‘हरिमागतमाकर्ष्य, मपुरामन्तकान्तकम् ।

कम्पमान श्वसन् वसो निपपात महीतले ॥’

विभावमनुभावाश्चाह—

अत्र भय विभाव, कम्प-श्वस-पतनादयोऽनुभावा ।

चपलता निरूपयति—

अमर्षादिजन्या वाक्पारुष्यादिकारणीभूता चित्तवृत्तिश्चपलता ।

विशेषाकारेणापस्मारत्वेन विशेषधर्मेण । स्फोरणाय प्रकाशनाय । बीभत्समयानक-
रसयोर्रङ्गत्वमपस्मारस्यैव न तु व्याध्यन्तरस्वनि शैलधष्य शोधयितु पृथगुपादान-
नित्याद्यय ।

अङ्गत्वमिति शेष । विप्रलम्भेऽप्येषा व्याघ्रिणाभ्यामपस्मारस्य चाङ्गत्वमित्यर्थ ।

कसो भोजयति, अन्तकस्य सर्वत्रहारकस्याप्यन्तक सहारक, हरि श्रीकृष्ण, मपुरा
स्ववद्यार्थमागतम्, आकर्ष्य मयेन, कम्पमान श्वसन् महीतले निपपातेत्यर्थ ।

अत्रामर्षादिजन्यवागित्यादि वाठरतु विशेषणद्वयस्य ‘गुणानां च परार्पत्वादसम्बन्ध
समत्वात्’ इति श्रीमासकसिद्धाभतेनाभ्यधासम्भवात् समासस्य दुर्पटवयोपेक्षित । अम-
र्षादिजन्या वाक्पारुष्यादिकारणिका च चित्तवृत्तिश्चपलतेत्यर्थ ।

एषवि पूर्व में श्री सामान्यतः ‘व्याधि-भाव’ का निरूपण किया जा चुका है, अभी से हम अत्रमार
नामक व्याधि का भी बदन हो जाया है, तथापि विशेष रूप से हम (अत्र-र) का कथन हम उभिये
कृष्ण है कि ‘श्रीकृष्ण’ और ‘अदानक’ रस में दही (अत्रमार) व्याधि आह हो मरगो है, कस्य नहीं,
दह काउ हट हो, अय ।

विप्रलम्भ गृह्यार रस में ली तथा अत्रमार, क्या अन्य, मया व्याधि का अह ह महीती है ।
व्याहरण देतिये । कसि, कृष्ण के आगमन को सुनकर विदेह दुये कस्य के गुणान का वर्णन
करता है कि—कसक (दहराज) का श्री कस्य करने काउ भावन् कृ—रुद्र का मपुरा में बने कष
के उभिये आगत हुनकर, कस कसिये दुका तथा आस हांयता कृष्ण दुधो न हिये दया ।
वही मय विभव है और कसिना, कस, सोधन, नद शिगन आदि अनुभव है ।
अम ‘चपलता’ का निरूपण करते हैं—‘अमर्षा’ इत्यादि अमर्षादि विभावों से उत्पन्न होने
वाली और कटु-रस आदि अनुभवों को उत्पन्न करने वाला चित्त-वृत्ति ‘चपलता’ कहलता है ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

‘अमर्षं-प्रातिकूल्येष्व्या-राग-द्वेषाश्च मत्सर ।
इति यत्र विभावा स्युरनुभावस्तु भर्त्सनम् ॥
वाक्पारुष्य प्रहारश्च, ताडन वध-बन्धने ।
तच्चापलमनालोच्य कार्यकारित्वमुच्यते ॥’ इति ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

हिरण्यकशिपु प्रह्लाद वदति—

‘अहितव्रत ! पापात्मन् ! मव मे दर्शयाननम् ।
आत्मानं हन्तुमिच्छामि, येन त्वमसि भावित ॥’

प्रसङ्गविभावानुभावानाह—

एषा भगवदनुक्तिविषयतनोपायमपश्यतः, प्रह्लादं प्रति, हिरण्यकशिपो-
रुक्तिः । भगवद्द्वेषोत्थापितः पुत्रद्वेषोऽत्र विभावः, आत्मवधेच्छा परध्वजन
चानुभावः ।

अमर्षध्वनित्वमाद्यक्षुध स्रग्जयति—

न चामर्ष एवात्र व्यज्यत इति वाच्यम्, सर्वैव भगवदनुरागिणि प्रह्लादे

प्रातिकूल्य विरुद्धाचरणम् । अकारो मितक्रम प्रहारोऽस्त्रादिभिः । ताडन हस्त-
पादादिभिः । अनालोच्य मुक्तामुक्ताविचारमकृत्वा कार्यकारित्वम् ।

अहित मरुपकारक भगवद्दास्यमेव व्रत नियतविषय यस्य, तत्सम्बुद्धौ हे अहित-
व्रत ! मित्रपकाराक्षरणादेव हे पापात्मन् ! प्रह्लाद ! त्व मे मरुन्, एष घृष्टत्वं सस्मि-
तम् मानन मुख, मा दर्शय, दूर गच्छ, येन मदीयेनारमना शरीरेण, त्व भावित उत्पा-
दितोऽसि, त दुष्टोत्पादकमात्मानं त्व, हन्तुमिच्छामीत्यर्थः ।

पुत्रे स्वतो द्वेषात्प्रभवद् द्वेषाधीनद्वेषोपादानम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—‘अमर्षं-प्रातिकूल्येष्व्या-राग-द्वेषाश्च मत्सर । इत्यादि । अर्षात् मित्र-
विच्छिन्नादि में अमर्ष, प्रतिवृत्ता, ईर्ष्या, प्रेम, द्वेष और अस्वहिण्णा ये विभाव हो और धमकाव, बधन को कठोरता, चीट पहुँचाना, पीटना, वध करना और बन्धन में बाँध देना ये अनुभाव हैं, हम को ‘चरुता’ कहते हैं, जिसके आप ‘बिना सोचे-समझे कार्य कर बैठना’ समझिये ।

उदाहरण देखिये—हे अहितव्रत ! (भगवान् की दाम्नारूप मेरे अतिदुःख नियम का शासन करने वाला) पापात्मन् ! (पितृविरोध रूप पाप का अचरण करने वाला) प्रह्लाद ! तू घृष्ट के जैसे अल्प-
हैसता बेहरा मन दिख ! दुष्टे तो मैं त्रास उत्पन्न करूँ और न सुधार सकूँ और न मार हो सकूँ ।
अब मैं अरुण-हत्या ही करना चाहता हूँ, क्योंकि तुझ को पैदा करने का अरुण तो मैंने ही किया है ।

यह प्रसङ्ग के प्रति हिरण्यकशिपु की उस समय में उक्ति है, जब उसकी मरुपद्रुक्ति को विषयित करने का कोई उपाय उसे नहीं सूझ रहा था । भगवान् में द्वेष रहने के कारण भगवत्पशुता पुत्र में भी होने लगी द्वेष दर्श-विभाव है और अरुण-हत्या करने की इच्छा और कठोर बधन अनुभाव है ।

हिरण्यकशिपोरमर्षस्य चिरवाल्सम्भृतत्वेनात्मवधेच्छया इदम्प्रथमतानुपपत्तेः, इदम्प्रथमकार्यस्य चेदम्प्रथमकारणप्रयोज्यतया प्राचीनचित्तवृत्तिलक्षणया एव ज्मलताख्यचित्तवृत्ते सिद्धे ।

पुनरपराशास्त्रद्वय निराकरोति—

न चामर्षप्रकर्षं एवात्मवधेच्छादिवारणमभिव्यज्यतामिति वाच्यम्, प्रकर्षस्यापि स्वाभाविकविलक्षणलक्षणताया आवश्यकतया तत्सर्वं चपलतापदा-
र्थत्वात् ।

अत्र हिरण्यकशिपुवृत्तेरमर्षसर्वं प्रधानव्यङ्ग्यत्वं न सम्भवति, यत् प्रह्लादस्य भगवद्गुणगो नात्तत्र एव, किन्तु चिरकालिक इति तज्जन्योऽप्येव चिरसञ्चित एव भवेत्, ततस्तज्जन्याया हिरण्यकशिपोरात्मवधेच्छाया इय प्रथमा यस्यां सैदम्प्र-
थमा, तस्यां भावतता प्रथमोत्तिरेया न युज्यते । किञ्च यथात्मवधेच्छारूपस्य पूर्वतो विलक्षणस्य कार्यस्य कारण पूर्वतो विलक्षणा चित्तवृत्ति वाच्यमन्यते, तदा हीवापूर्वां चित्तवृत्तिभ्रमलता सिद्धयति, तस्मात्प्रथममर्षध्वनिः, यपि तु चपलताध्वनि-
रेवेत्यभिप्रायः ।

स्वाभाविकाद् विलक्षण लक्षण यस्या सा स्वाभाविकविलक्षणलक्षणा तस्या-
भावतता । प्रकृतस्यामर्षसंवात्मवधेच्छारूपकार्यस्य कारणत्वेन व्यञ्जनमिहास्त्वामि-
त्यपि वक्तुं न शक्यम्, यत् साधारणमपि स्यात् प्रकृतस्यामर्षस्य विलक्षणताऽवश्यं
स्वीकार्या, अन्यथाऽऽत्मवधेच्छारूपविलक्षणकार्यस्यासम्भवः, तथा च स कारणनिष्ठो
विलक्षणरूपः प्रकर्षं एव चपलताऽस्तीति सर्वथा चपलताया सिद्धिरिति भावः ।

यदा हिरण्यकशिपुवृत्ति अमर्ष-अत्र ही प्रधान एव से व्यक्त होता है वह इच्छा नहीं करनी
चाहिये, क्योंकि तदा से ही भावना के साथ प्रेम करने बात प्रकृत के प्रति हिरण्यकशिपु का अमर्ष
भी नहीं करनी यदि तु प्रथमा ए, चिर इति इस अमर्ष को ही समझी कारण-वधेच्छा का कारण
माना जाय, तब ही इस कारण-वधेच्छा का प्रथम-प्रथम होना नहीं सिद्ध होगा कारण यह कि अमर्ष-
रूप कारण के रहने भी रहने से एक वधेच्छारूप कार्य का भी रहने होना सम्भवित है, और यह
कारणवधेच्छा का कार्य ही रहा है अत्र यह प्रकृत, अत्र अमर्ष कारण भी कोई नहीं-अत्र ही हीन
बाद अमर्ष होना चाहिये । अतः एक वधेच्छा के कारणस्य में प्राचीन अमर्षमर्षवृत्ति से
विलक्षण लक्षण नामक चित्तवृत्ति की सिद्धि हो जाती है ।

यदि मार कहें कि 'हिरण्यकशिपु के मन में अमर्ष-वध को इच्छा कर अत्र यह एतत् एतत् ही
रही है, तब अमर्ष कारण भी कोई नहीं अत्र का लुप्त है, यह भाव या भावना रहेगा, क्योंकि यदि
प्राचीन अमर्ष ही अमर्ष की इच्छा ही मर्ष, तो रहने ही होगी' ये सब तर्क ठीक हैं, तदपि इस
नवीन अमर्षवधेच्छा का कार्य को जन्म देने के लिए एक अमर्ष-वधेच्छा-वृत्ति की कल्पना
करना सर्व है, क्योंकि वही प्रथमी अमर्षवध-वृत्ति में कारण एक नवीन अमर्ष का कल्पना कर
ने से काम बन जाता है अर्थात् हम यह कहेंगे कि अमर्ष एक एक कारण का, एक एक कारण का
की इच्छा नहीं हुई, पर अब वही अमर्ष विलक्षणवृत्त होने से अत्र इच्छा (वधेच्छा) का भाव, तब
एक इच्छा हुई । परन्तु इस अर्थ को से ही अमर्ष अमर्ष सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि विलक्षण
नहीं बननी रहे, यही ही अमर्ष कारण है, जिसकी वृत्ति जन्म एतत् से बात बनने पर भी सम्भव

निर्वेद निरूपयति—

नीचपुरुषेष्वामोशनाधिकक्षेप-व्याधि-ताडन-दारिद्र्येष्टविरहपरसम्प-
द्दर्शनादिभिः, उत्तमेषु त्ववज्ञादिभिर्जनिता विषयविद्वेषाख्या, रोदन-
दीर्घश्वास-दीनमुखतादिकारिणी चिचष्टुत्तिर्निर्वेदः ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वैदेहीविरही श्रीरामो लक्ष्मण भवति—

‘यदि लक्ष्मण ! सा भृगेक्षणा, न मदीक्षासरणि समेष्यति ।

अमुना जडजीवितेन मे, जगता वा विफलेन किं फलम् ॥’

आक्रोशनाधिकक्षेपयोः सामान्याविशेषभावाद् ब्राह्मणवशिष्याभ्याम् पृथगुपादानम् ।
उत्तमेषु पुरुषेष्विति शेषः ।

अधमपुरुषेष्वामोशनादिजन्त्या, उत्तमपुरुषेष्ववज्ञादिजन्त्या, रोदनादिजनिका च
विषयविद्वेषभावात् चित्तवृत्तिरेव निर्वेद इत्यर्थः । यन्म स्यापिनिर्वेदाद् भेदमनुभव इत्यति ।

हे लक्ष्मण ! सा भृगेक्षणा सीता, यदि मदीक्षासरणि मद्दृष्टिपथ, न समेष्यति
नाममिष्यति, तदा, अमुना विफलेन विपरीतफलजनकेन, जडजीवितेन हतजीवनेन
जगता विश्वेन वा, मे मम किं फलं स्यान्न किमपि फलमित्यर्थः ।

तद्दर्शन एव मे जीवनं जगत्स्य सफलमिति भावः । इह प्रियाविरहो विभावः,
जीवनजगत्प्रतिफलत्वामिष्टानुभवात् । ‘किं फलमि’त्यनेन पीनरक्तपवारणात् विफले-
नैत्यस्य विपरीतफलजनकेनेति व्याख्यानेऽपि फलपदस्य द्विरुपादानात् कथितपदत्व
दुष्परिहरमेव । उक्तवाक्ये तच्छब्दानुपादानमविमृष्टविधेयतामावहति ।

नहीं, कारण यह कि स्वाभाविक अमर्ष से उत्पन्न प्रकृत का कुछ विलक्षण ही लक्षण करना पड़ेगा,
अन्यथा फिर विलक्षण कार्य असम्भव ही रह जायगा और जब अमर्ष में विलक्षण प्रकृत मान लेंगे तब
तो चरलता सिद्ध ही ही जायगी अर्थात् हम वही विलक्षण प्रकृत को चरलता मान लेंगे ।

अथ ‘निर्वेद’ का निरूपण करते हैं—‘नीच-पुरुषेषु’ इत्यादि बालम्बन-भेद से निर्वेद दो
प्रकार का होता है, एक नीच पुरुष में होने वाला और दूसरा उत्तम-पुरुष में होने वाला । अतः
नीच पुरुष-गत ‘निर्वेद’ का चित्तवृत्ति को कहते हैं, जिसको उत्पत्ति, गाली गलौन, निरस्कार, रोग,
भार खाना, दर्दि होना, अमीष्ट वस्तु को अज्ञप्ति और दूसरों की सम्पत्ति का दर्शन आदि में होती है
और उत्तम-पुरुष-गत ‘निर्वेद’ उस चित्तवृत्ति का नाम है, जिसको उत्पत्ति अज्ञप्ति आदि से होती है,
अनुभाव दोनों ‘निर्वेदों’ के एक से—रोदन, और जोर में आत्मग्रहण, मुख पर दैन्य-ये सब होने हैं ।
इस निर्वेदात्मक चित्त-वृत्ति का दूसरा नाम विषयो मे द्वेष भी है । स्पष्ट मतलब यह समझिये कि
नीच पुरुष को गाली आदि देने से जैसे क्रोध होता है और नत्मयुक्त को विकार हममें उत्पन्न होने हैं,
ठीक वैसे ही क्रोध और तज्जन्य विकार उत्तम पुरुष में मायावर्ण अज्ञप्ति आदि में होते हैं ।

अथ उदाहरण देखिये । वैदेही-विरह-कारण रामचन्द्रको टटनना से काट रह है कि—हे लक्ष्मण !
यदि वह मृगाशी (सीता) मेरे जयन-पथ में न आवेगी—अर्थात् यदि मुझे उसके दर्शन नहीं होंगे तब
हम जड-अर्थात् गति-हीन-जाय से अथवा विपरीत फलजनक जगत् से क्या फल है । मेरे लिए न
यह जीवन काम का है, न यह जगत्-अर्थात् सीता के दर्शन प्राप्त होते रहने पर ही मेरा जीवन

निर्वेदसद्भावेन शान्तरसध्वनिरेव न कुत इत्यत आह—

नित्यानित्यवस्तुविवेकजन्यत्वाभावात्तासौ रसपदव्यपदेशहेतु ।

इत्थमपरानुददेशक्रमेण भावान् निरूप्य देवादिविषयकरतिभावमुदाहरति—

देवादिविषया रतिर्यथा—

सक्तो भगवन्त मापते—

भवद्द्वारि क्रुष्यज्जय—विजय—दण्डाहनिदलत्—

किरीटास्ते कीटा इव विधिमहेन्द्रप्रभृतय ।

वितिष्ठन्ते युष्मन्नयनपरिपातोत्कलिकया

वराका के तत्र क्षपितमुर । नाकाधिपतय ॥'

इह वस्तुजनिराङ्कामभ्युपेत भावध्वनि स्यादयति—

अत्रापमानसहन—भगवद्द्वारनिषेवण—भगवत्कटाक्षपाताभिलाषादिभिर्ब्रह्मा-

गतोऽपी निर्वेद शान्तरसस्यायिनो निर्वेदाद् भिन्नकारणजन्यत्वात् भिन्न, तस्मान्नात्र शान्तरसध्वनिव्यवहार । कारणभेदस्तु तस्य निर्वेदस्य नित्यानित्ययोर्वस्तु-नोविवेकेन जन्यत्वात् अस्य चाश्रोतानादिना जन्यत्वात् स्फुट एव वेद्य ।

हे क्षपितमुर । मुरारे । यत्र भवद्द्वारि, क्रुष्यतोरनवसरेऽनुमतप्रवेद्यात् क्रुष्यतो, जयविजययोस्तदाक्षयद्वारपालयो, (वारणाय भुवुविधीयमानामि) दण्डाहतिभिर्वेत्ता-पातं, बलन्ति विशीर्णोभवन्ति किरीटानि शिरोमण्डनानि येषा तादृशा, विधिमहेन्द्र-प्रभृतयो ब्रह्मेन्द्रादय, कीटा इव निवार्यमाणा अपि निरुद्धेया, युष्माक नयनयो परिपातस्य सम्महनिषेपस्य उत्कलिकयोत्कण्ठया, वितिष्ठन्ते, तत्र, वराका हयनीया, नाकाधिपतय स्वर्गकदेशस्वामिन कुबेरप्रभृतय, ये ? न केऽपीत्यर्थ ।

सार्थक हो मरुता है और मेरे लिए यह संसार भी तभी सार्थक है । यहाँ शिव-रिद्ध को विनाश और जीवन तथा जगत् के निष्पत्त्यकरण को अनुभाव समझना चाहिए ।

'निर्वेद' शान्त-रस का स्थाविभाव है, अतः 'यदि छन्दस्य इत्यादि वच में शान्त रस की ध्वनि है, 'निर्वेद-भाव' की नहीं, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि नित्य और अनित्य वस्तुओं के विवेक में जिनकी उत्पत्ति होती है, वही 'निर्वेद' शान्त-रस का स्थाविभाव होता है, और जो 'निर्वेद' भावरूप होता है, उसकी उत्पत्ति ही नित्यानित्य-वस्तु-विवेक से नहीं होती, परन्तु आक्रोश आदि कारणों से होती है, जो पहले कष्ट या युष्माक है, अतः यहाँ का 'निर्वेद' शान्त-रस पद ही व्यवहार करने योग्य नहीं है ।

उक्त रीति से अन्य तैलित भावों का निरूपण कर चुकने के बाद, अब देवादिविषयक रतिभाव का (इसका दृष्टा करना यहाँ आवश्यक नहीं था, अतः) उदाहरण दिया जाता है—'देवादिविषयकर-रतिर्यथा' अर्थात् देव दिव्यपदक रतिभाव का उदाहरण, जैसे—कोई भक्त भगवान् से काता है कि-हे मुझ पिता' को धनुक जय-विजय नामधारी द्वारापत्तों के दण्ड-प्रहारों से जिनके किरीट टटे जा रहे हैं, वे मरुता और महन्द्र आदि देवता, आपके दृष्टि-यान्त्री-पदक बार अच्छी तरह देर लेने भर क्षी-कृष्णता से अपने द्वार पर सजे रहते हैं, फिर वेचारे स्वर्ग के स्वामी यम, कुबेर आदि यहाँ कौन होने हैं । अर्थात् यहाँ मरुता और इन्द्र आदि की वह दशा है, यहाँ यम-कुबेर आदि को कौन पूजना है ।

दिग्गता भगवदान्भवना रतिर्नाभिध्यज्यते, अपि तु भगवदैश्वर्यमवाद्भूमनसगोचर इति चेत्, तथापि तादृशभगवदैश्वर्यवर्णनानुभावितया क्विगतभगवदान्भवन-रत्या ध्वनित्यमक्षतमेव ।

अत्र रतिप्रतीन पश्चाद्भवनेनाप्राप्तान्याद् भावध्वनित्वव्यपदेशो दुर्घट इत्यध्वेस्ता-
हरान्तरमाचष्टे—

इद वोदाहरणम्—

मक्तो भावन् वदति—

‘न घन न च राज्यसम्पद, नहि विद्यामिदमेवमर्थये ।

मयि घेहि मनागपि प्रभो । कृष्णार्भाङ्गतरङ्गिता दृशाम् ॥’

अत्र पद्यंजमानसहनादिभिर्ष्यञ्जकैर्ब्रह्मादिनिष्ठा भगवद्विषया रतिरभिव्यज्यते इति भावध्वनिरिति वस्तु न शक्यत, यतो विपुनघनादिलाभाशयाऽपि तथा सम्भव, किन्तु भगवद्द्वारि स्वयम्भ्रूणामपि ब्रह्मादीना तथा स्यत्या भगवदैश्वर्यस्यावर्णनीयत्वम-चिन्त्यत्व च वस्तु प्राधान्येन ध्यज्यत इति वस्तुध्वनिरिति पूर्वपक्षामिप्राय, व्यज्यता प्राग् वस्तुप्राधान्येन, तथापि पर्यन्ते भगवत्स्वभावैश्वर्यवर्णनेनानुभावेन क्विनिष्ठायाम् भगवद्विषयाया रतेष्यञ्जने बाधामावाद् रतिभावध्वनिरस्त्येवेत्यु-त्तरपक्षामिप्राय ।

हे प्रभो ! अहं घन नाद्ये न शक्ते, राज्यसम्पद च कार्यये, विद्यामपि तार्यये, किन्तु ‘कृष्णार्भाङ्गतरङ्गिता दयोद्रेकोच्छतिना, दृश, त्व मयि, घेहि निक्षिप’ इतीदं केवलमेकमेव, अर्थय इत्यर्थं । अत्र घनाद्युपेक्ष्य भगवद्द्वारैर्दृशपातमावाच्यतया रति प्राधान्येन व्यज्यत इति रतिभावध्वनेरदाहरणमिदमवसेयम् ।

उक्त पद्य में जो प्रह्लादिसौ की—जमान सहना, भवान् के द्वार का सेवन करना, और वदने ध्यज्यते की इच्छा रहना इत्यादि बातें बर्णित हुई हैं, इनसे भगवान् के दिव्य में वदना (ब्रह्मादिकों का) प्रेम नहीं अभिव्यक्त होता, क्योंकि प्रेम के अभाव में भी अत्यधिक धनादि लाभ की आशा से ब्रह्मादिकों का वैसा आचरण ही मङ्गल है, अतः यह बहना चाहिए कि दशा सर्व-साधन-मन्थन ब्रह्मा आदि के धर्म तरङ्ग द्वार पर खड़े रहने से—‘भगवान् का ऐश्वर्य अर्थात् शरीर तथा अचिन्तनीय है’ यह वस्तु अक ही है इस पूर्वपक्ष के अन्त में सम्बन्ध का कथन है कि—अरन्ध्र में एक वस्तु ही प्रधानता धरने होता है, ती, होने, मुझे कोई आरति नहीं, परन्तु अन् में क्वि का अपरद्विषय प्रेम तो अवश्य अन्तर होता है, क्योंकि तम प्रकार के भगवदैश्वर्य का वर्णन करना एक प्रेम का ही पद्य (अनुभाव) है, सारांश यह है कि उक्त पद्य को देव-विषयक-रति-भाव-ध्वनि का उदाहरण मानने में किसी तरह का बाधा नहीं है ।

पूर्वपक्ष यदि कहे कि यहाँ उक्त वस्तु की अनौचित्य पडले होनी है और क्विगत रति की पक्षान्-रत प्रथम, वस्तु वक्रतायोगी और रति वदपेक्षया योगी, फिर योग रति को लेकर भाव ध्वनि का व्यवहार करना अचित नहीं, तो छोड़िये उम पद्य को, यह दूसरा उदाहरण लोडिये । एक भगवान् से कहना है कि—हे प्रभो ! मैं घन नहीं चाहता, राज्य की सम्पदा नहीं चाहता और न विद्या ही चाहता हूँ । मैं तो एक ही चीज चाहता हूँ, और यह वह कि तु मेरे ऊपर कृपा की रीति से शोभि-अन्नी मुझि श्रेणी की साठ दे ।

तदाह—

अत्र धनाद्यपेक्षानून्यस्य भगवद्दयादृगन्तपातामिलायो हि भगवत्यल्पन्तानु-
रक्ति व्यनक्ति ।

उपसहरति—

एव सङ्क्षेपेण निरूपिता भावा ।

ननुक्तातिरिक्तानामपि मात्सर्यादिभावाना लक्ष्येषु निरीक्षणान् भावाना चतुस्त्रि-
नात्यसद्व्याप्तमसङ्गतमित्यासङ्ख्य समादधाति—

अयं कथमस्य सङ्ख्यानियमः, मात्सर्योद्वेग-दम्भेर्ष्या-विवेक-निर्णय-
कलैष्य-क्षमा-कुतुकोत्कण्ठा-विनय-सशय-घाष्ट्यादीनामपि तत्र तत्र लक्ष्ये
दशनादिनि चत्, न, उत्तेष्वेवंपामन्तभविण सङ्ख्यानंतरानुपपत्तं ।

कुत्र कस्यान्मर्माव सम्भवतीति प्रतिपादयति—

अमूयातो मात्सर्यस्य, नासादुद्वेगस्य, अवहित्यारशाद्भावाद् दम्भस्य, अमर्णा-
दीर्ष्याया, मतेविवेक निर्णययो, दैव्यात् कलैष्यस्य, घृते क्षमाया, औत्सुक्यात्
कुतुकोत्कण्ठयो, एज्जाया विनयस्य, तर्कान् सशयस्य, चापलाढ्यादष्टस्य च
वस्तुतः सूदमे भेदेऽपि, नान्तरीयकतया तदनतिरिक्तस्यैवाध्यवसायात् ।

अनी रतिभावश्चनिरिति शेष ।

एवमुक्तप्रकारेण, सत्क्षेपेण भेदप्रभेदानिरूपणात्-समाप्तेन, भावाभ्युत्थितान्
निरूपिता इत्यर्थः ।

अस्येति । सामान्यान्निप्रायेणैववचनम् ।

उक्तातिरिक्तानामपि मात्सर्यादीना लक्ष्येषूपलम्भान् सङ्ख्यानियमोऽतसङ्गत इति
शङ्कामा मात्सर्यादीनामुक्तेष्वेव भावेषु यथायथमन्तर्भावान् सङ्ख्यानियमो नासङ्गत
इति समाधानम् ।

यद्यप्यसूयादितो मात्सर्यादीनामोपद्वेदोऽस्त्येव, विस्त्वसूयादीना मात्सर्यादीना च
मियो नियतसम्बन्धरूपाविनाशवादाभेदारोप, तथा च मात्सर्यादीनामसूयादिरूपतया-
वघारणात् भावाना सङ्ख्यानियमस्य सम्भव इत्यभिप्रायः ।

यहां धन आदि की अपेक्षा से रहित भक्त की भगवान् के कर-दण्डकय-धन की अभिलषा
हउने विषय में हमने अनुसाराँ की व्यक्त करती है । अतः इस वच की रति साध-भक्ति का उदाहरण
मानने में किसी की आवश्यक नहीं होनी चाहिये ।

अब संक्षेपतः भावों का निरूपण समाप्त हुआ ।

अब प्रश्न यह उद्दिष्ट होना है कि भावों की संख्या २४ ही है, वह विषय कैसे प्रिया जा
सकता ? अब कि भाव्य आदि में अनेक लक्ष्यों पर मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ (बाद), ईर्ष्या, विद्वे,
निर्णय, कलैष्य (कायरपन), क्षमा, औत्सुक्य, उत्कण्ठा, विनय, संशय और धृता आदि भाव भी इति
केचर होने हैं । इसका उत्तर यह है कि ऊपर प्रियाये गये मात्सर्य आदि भावों का भी पूर्णतः २४
भावों में ही समावेश हो जाता है, अतः पूर्वकृतकी गणना करना अयुक्त है ।

अब निश्चय अन्तर्भाव कहाँ होगा इस बात का प्रतिपादन करने है—“असूयातो” इत्यादि ।
असूय मात्सर्य अण्डा में, उद्वेग वास में, दम्भ अशक्ति में, ईर्ष्या अमर्ष में, विवेक और निर्णय मति
में, कलैष्य दैन्य में, क्षमा धृति में, औत्सुक्य और उत्कण्ठा औत्सुक्य में, विनय उज्ज्व में, संशय वर्ध में

ननु सूक्ष्मभेदे सत्यपि कथमभेदारोप इत्याशङ्क्यामाह—

मुनिवचनानुपालनस्य सम्भव उच्छृङ्खलताया अनौचित्यात् ।

अभिचारिभावत्वेन प्रसिद्धानामप्येषा कुत्रचिद् भावान्तरे विभावता, क्वचिच्चा-
नुभवता च भवतीत्युक्तव्योपपादयति—

एषु च सञ्चारिभावेषु मध्ये केचन केयाञ्चन विभावा अनुभावाश्च भवन्ति ।
तथाहि—ईर्ष्याया निर्वेदम्प्रति विभावत्वम्, असूया प्रति चानुभावत्वम् ।
चिन्ताया निद्रा प्रति विभावत्वम्, औत्सुक्य प्रति चानुभावनेत्यादि स्वयमूहम् ।

अथ धनप्राप्त रसामास निरूपयति—

अथ रसामास तत्र—

तत्र रसामासे निरूपणीये लक्षणमाह—

अनुचितविभावालम्बनत्वं रसामासत्वम् ।

यदि सूक्ष्मभेदमपि भावाना गणयित्वा सङ्ख्याधिक्यमूरीक्रियेत, तर्हि एकपञ्चा-
शद् भावा इति भरतमुनिकृता व्यवस्था भ्रम्येत, तद्व्यवस्थोत्पन्नानुचितत्वान
सूक्ष्मभेदो न गणनीय इत्याशय ।

ईर्ष्याया निर्वेदजनकत्वात्तद्विभावत्वमसूयाजन्यत्वाच्च तदनुभावत्वम्, चिन्ताया
निद्राजनकत्वात्तद्विभावता, औत्सुक्यजन्यत्वाच्च तदनुभावता, यथा भवति, तथैवान्यत्र
विभावानुभावभावो भावाना स्वयमूहनीय इत्यर्थ ।

अनुचित विभावमामम्बत इत्यनुचितविभावालम्बनस्तस्य भावस्तच्चमनुचितवि-
भावरव रसामासत्वमित्यर्थ ।

और घृणा चपलता में समाविष्ट हो जात है । कभी-कभी किन भाव का समावेश किन भाव में किया
गया है, दोनों में अर्थात् मात्सर्य आदि और अद्वेष आदि में परस्पर सूक्ष्म भेद है, तथापि वे भय एक
दूसरे के बिना रहते, अतः उन्हें बनते पृथक् नहीं माना गया । तात्पर्य यह है कि जहाँ अद्वेष रहता है,
वहाँ मात्सर्य अवश्य रहता है, फिर इन दोनों को दो भाव मानना व्यर्थ है, इसी तरह अन्य अन्यर्थात्
शौनेकान्ते स्म अन्तर्भूत करने वाले भावों के विषय में भी समझना चाहिये ।

सूक्ष्म भेद रहने पर भी उक्त भावों का एक मान लेने का कारण यह है कि उक्त तरह से उन-उन
भावों को एक मान लेने से जब कोई प्रति नहीं होता और साथ-साथ भरत मुनि के वचन की रक्षा
भी हो जाती है, तब उच्छृङ्खलता करना अनुचित है अर्थात् भरत ने भावों की संख्या १५ ही मानी
है, अतः हमको भी उनकी संख्या उतनी ही माननी चाहिये ।

पूज्योक्त सञ्चारिभावों में से कुछ भाव कहीं-कहीं दूसरे भावों के विभाव और अनुभाव भी हो जाते
हैं । जैसे—ईर्ष्याभाव निर्वेदभाव का विभाव और अत्याभाव का अनुभाव होता है, इसी तरह चिन्ता-
भाव निद्राभाव के प्रति विभाव और औत्सुक्यभाव के प्रति अनुभाव होता है । इसी प्रकार अन्यभावों
के विषय में स्वयं उह कर लेना चाहिये । यहाँ चिन्ता को निद्रा का विभाव मानना अनुभव-विरुद्ध
प्रतीत होता है ।

अथ 'रसामास' का निरूपण करते हैं—'अथ रसामास' इति—अर्थात् अब रसामास का
निरूपण आरम्भ होता है । अथा रस का अलम्बन-विभव अनुचित हो, वहाँ उसे रसामास
कहने हैं ।

अनौचित्यनिर्घञ्जन एकदेशमतमुपन्यस्यति—

विभावादावनौचित्य पुनर्लोकाना व्यवहारतो विज्ञेयम्, यत्र तेषाम् 'अनुचितम्' इति धोरिति केचित् ।

तन्मतमपास्य मतान्तरमुपन्यस्यति—

तदपरे न क्षमन्ते, मुनिपल्यादिविषयकरत्यादे सग्रहेऽपि, बहुनायक-विषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च रतेरसग्रहात् । सत्र विभावगतानौचित्यस्याभावात् । तस्मादवनौचित्येन रत्यादिविशेषणीयः । इत्थ चानुचितविभावालम्बाया बहु-नायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च सग्रह इति । अनौचित्य च प्राग्वदेव ।

यद्विभावविशेष्यमनुचितत्वप्रकारक ज्ञान सम्पन्ना जायेत, तद्विभावनिष्ठ तन्मयस मवेतानौचित्यप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वमेवानौचित्यमस्तीति वेचिदु वदन्तीति सारम् ।

इतिमंतसमाप्तिमुचक । इदमुच्यते—

अनुचितविभावकत्वमेव यदि रसाभासस्य लक्षण स्यात्, तर्हि मुनिगुरूपत्नीप्रभृति-विषयकरतेरनुचितविभावकत्वेन तत्राप्यात्वेवार्थेऽपि बहुनायकविषयाया अन्वय-मात्रनिष्ठायाश्च रतेविभावस्य सम्भारमवेतानौचित्यप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वाभावादावनौ-चित्यनिरहान् तत्राप्यासि स्यादेव । न च तत्र तत्त्वे प्रमाणाभावा, 'उपनायकसत्या-याम्' इत्यादिवक्ष्यमाणशब्दस्य सम्पन्नत्वस्य च जायकत्वात् । तस्मादनुचितविभाव-कत्वमिद्वानुचितरत्यादिकत्वमपि रसाभासत्वम् । तथा च बहुनायकविषयकानुमय-निष्ठरत्योप्यनौचित्यरसान्वाप्तिरिति न कोऽपि दोषः । अनौचित्य तु पूर्वमतवत् सम्भ-ारमवेतानौचित्यप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वमेव । रत्यादीत्यादिपदोपादानात् सर्वस्यापि-सङ्ग्रहान् कल्पनाभासादौ न दोषः ।

अहमन्त विभाव का अनौचित्य लीचिष्ठ-व्यवहार से समझना चाहिये—जहाँ जिनके विषय में लोगों की 'यह अनुचित है' इस तरह की बुद्धि हो, वही विभाव को अनुचित जनना चाहिये । यह कुछ विद्वानों का मत है ।

परन्तु रसाभास के एक अंश को हमारे लोग नहीं मानते । वे कहते हैं—जब अज्ञान से बचने मुनि-पत्नी, गुरु-पत्नी आदि के विषय में होनेवाली रति का मंत्रण हो जाता है, क्योंकि मुनिपत्नी आदि इन मनुष्य की रति के लिये अनुचित (अयोग्य) है, यह बात लोगों की बुद्धि बहुत बुरी है, तब-पि किसी नादिका का अनेक नपुंसों के विषय में जो रति होती है, और नपुंस-नायिका दोनों में से केवल एक में जो रति होती है, उनका संग्रह नहीं होगा, क्योंकि यहाँ विभाव अनुचित नहीं है अतः रसाभास के अंश में 'अनुचित' विशेषण विभाव में न लगा कर रति आदि शब्दों में से अज्ञाना चाहिये—अर्थात् यह अज्ञान बनाना चाहिये कि—जिनके रति आदि स्थाविचार अनुचित रूप में मूल दुबे हो, वे रसाभास कहलाने हैं । इस तरह से अज्ञान करने पर उन सब रतियों का संग्रह ही बना है, जो मुनिपत्नी आदि के विषय में होगी, अथवा अनेक नपुंस के विषय में होगी, बिना अज्ञान है, क्योंकि इन तीनों अज्ञानों में रति की प्रकृति अनुचित रूप से होगी है । अनौ-चित्य की परिभाषा इस मत में भी बही है—जहाँ जिन रति को अज्ञान अनुचित समझते हैं, वही अनुचित-अर्थ ही है । इसी तरह अन्य स्थानीयों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये ।

रसाभासस्य रसत्वेन भावामासस्य च भावत्वेन विरुद्धत्वविरुद्धत्व च मतभेदे-
तावच्छे—

२१ तत्र 'रसाद्याभासत्व रसत्वादिना न ममानाधिकरणम्, निर्मलम्यैव रसादि-
त्वान्, हेत्वाभासत्वमिव हेतुत्वेन' इत्येके । 'नह्यनुचितत्वेनात्महानिः, अपि तु
सदोपत्वादानासम्बन्धहारः, अश्वाभासादिव्यवहारवत्' इत्यपरे ।

रतेरनुचितविभावकत्वान् प्रथमं बहुविषयकत्वाद् द्वितीयं, अनुमतिरुत्त्वान्
तृतीयं प्रकारौ रसाभासस्य । तत्र प्रथम प्रकारमुदाहरति—

उदाहरणम्—

राजरमणीकामुकवृत्त वर्णयति—

शतेनोपायाना कथमपि मत्तं सौघशिक्षर,
मुघाफेनस्वच्छे रहमि क्षयिता पुष्पशयने ।
विवोध्य क्षामाङ्गी चक्रिननयना स्मेरवदना,
सनिश्चाम श्लिष्यत्यह्म मुकृती राजरमणीम् ॥

प्रथमेनादिपदेन भावत्व, चरमेण च मनुष्याभासादीना ग्रहणम् । निमलस्य दोष-
रहितस्य । आत्महानि स्वरूपहानिरन्वन्वमिति यावत् । एतदपरे कथयन्तीति शेषः ।

दुष्टो हेतुहेत्वाभासासतत्वस्य हेतुत्वस्य च यथैकाधिकरणावृत्तित्व विराट्प्रत्ययैव दुष्टो
रसो भावोऽपि, रसाभासो भावानामत्र, तन्वत्स्य रगन्वत्स्य भावत्वस्य च नीकत्र
स्थितिः, दोषरहितस्यैव रसत्वस्य भावत्वस्य स्वीकारादिति प्रथमं मतम् । यथाऽश्वस्य
पशुत्वादिदोषान्नाश्वत्वस्य हानिः, विन्त्वश्वानासम्बन्धहारमात्रम् तदेव रम-भावदो-
रपि दुष्टत्वे न रसत्व-भावत्वयोरभावः, किन्तु रसभास भासाभासव्यवहारमात्रमिति
द्वितीयं मतम् । तत्र प्रथममते, धूमानुमितिनिरूपितहेत्वाभासत्वस्य वाऽनुमितिनि-
रूपितहेतुत्वस्य चैकत्रैव बह्वी दर्शनाद् दृष्टान्तामिदिरवशिबीयम् ।

उपायाना घतेन बहुमिदपार्यं, कथमपि देवापि प्रकारेण, सौघशिक्षर मुक्तिवर्ग-
प्रवर्तिवप्रासादभृङ्ग, शतं प्राप्तं, मुघाफेनस्वच्छेऽमृतकन्दत्वेन, पुष्पशयनं कुसुमन्ये,

अत्र रसाभास और भावामास, रस और भाव ही हैं अर्थात् वस्तु से किन्तु इन प्रश्न का उत्तर मनु-
ष्य से देते हैं—'तत्र' इत्यादि । कुछ विद्वानों का कहना है कि रसाभास और रस व इसी तरह
भावामास और भाव समानाधिकार (एक जगह रहने वाले) भवें नहीं हैं—अर्थात् रसाभास, रस
और भावामास भाव नहीं कहला सकते—क्योंकि रस अपना भाव लोगों को कहला चाहिये, जो निर्मल
हो, जिसमें किसी तरह का अनौचित्य नहीं हो, और जब हमने अनौचित्य का उन्ध, तब तब रस का
भव नहीं कहना चाहिये, मझे ही रसाभास (रस-सा भावित होने वाला) और भावामास (भाव-
सा भावित होने वाला) कहें। इसमें दृष्टान्त की आवश्यकता हो ले, वैसे विद्वानों के हेत्वाभास
को ले सकते हैं, अर्थात् वे हेत्वाभास और हेतुत्व को समानाधिकार नहीं मानने—दोषामास को ही
नहीं कहते । दूसरे विद्वानों कहते हैं कि—रस में (रसि में) दोष का जन्म से भाव नहीं स्वरूपण
नहीं हो ही अर्थात् जैसे किडुंठ स्वादीय रस होते हैं, वही तरह मनुष्य भी रस ही है दोष का
खतरा देने के टिपे लड़े अर्थात् कहते हैं, जैसे दोषरहित अन्न को लोग अनामस कहा है, पर रस
है वह अन्न ही ।

विभावाद्याह—

अत्रालम्बनमनुचितप्रणया राजरमणी । रहो रजन्याद्युदीपनम् । साहसेन राजान्तपुरे गमनम्, प्राणेषूपेक्षा, निश्वासाश्लेषादयश्चानुभावा । शङ्का-दयश्च सञ्चारिणः ।

रसामासत्वमुपपादयति—

निषिद्धालम्बनकत्वाच्चास्या रतेरामासत्व रसस्य ।

अत्र तृतीयप्रकारोदाहरणत्वमाशङ्कते—

न चात्र 'चकितनयनाम्' इत्यनेन परपुरुषरसशंभातामिन्वयत्या रतेरनुभय-निष्ठतेत्याभासताहेतुर्वाच्यः ।

रहस्येकान्ते दायिता गुप्ता, राजरमणी नृपवत्सला, विनोध्य स्पर्शादिना जापरयित्वा, क्षामाङ्गी कृशाङ्गी, च चकितनयना बोध्य जागरयतीत्याशङ्कया चकितानी, स्मेरवद नामय मे प्रिय इति परिचये प्रमोदेन विहसन्मुखी (ताम) मुञ्चती घन्य, (स) अहह आश्रय निश्वासेन सहिन गनिश्वासेन यथा स्यात् तथा श्लिष्यत्यालिङ्गतीत्यर्थं ।

अनुचित परपुरुषविषयकत्वादयुक्त प्रणयो यस्या सा ।

अस्या अत्र प्रतीयमानाया रते, निषिद्ध परपुरुषत्वाद्गहितमालम्बन यस्या-रत्वाद् रसामासत्वमित्यर्थः । अनुचितविभावत्वप्रयुक्तो रसामासस्य प्रथम प्रकारो-प्यमित्याशयः ।

अत्र चकितनयनाम्' इति नायिकाविशेषणन परपुरुषरसशंजन्यस्य तस्यास्त्रास-स्यैव व्यज्यमानतया रते राजरमण्यवृत्तित्वे प्रतीतेरनुभवनिष्ठतया रसामासत्व, न तु रतेरनुचितविभावत्वत्वेनेति पूर्वपक्षामिप्रायः ।

उदाहरण लीलायै । यदि कहना है कि-यह पुष्पशाली पुरण भन्व है, जो मैकरीं वन्यों के द्वारा, विरम प्रकार मटलों की चाटी पर पटुधवर, एकांन में अमृत-पन के समान पवन पुष्पशल्या पर मोई हुई कृशाङ्गी राजाङ्गी की जगता है और जगने पर जब वनकी औरों एक बार वमक छटती है, तथा मुल-कमल टिछ उठता है, तब निश्चय के साथ उसका आदिहन करना है । यहाँ एक बात यह समझ लने दीज्य है कि 'रसामास' के एक लक्षण से तीन भेद रसामास के मिल जात हैं-विभाव के अनौचित्य से रति में अनौचित्य आ जाने से एक, अनेक नायकों के विषय न होने के कारण रति के अनुचित हो जाने से द्वितीय और दृष्टान्त होने के कारण रति के अनुचित हो जाने से तृतीय भेद होता है । जिनमें यह प्रथम भेद ना उदाहरण है ।

यहाँ जिसके साथ प्रेम करना अनुचित है, वह राजाङ्गीना अलम्बन-विभाव है । स्वान और रात्रि का समय आदि उदाहरण-विभाव है । चाहस करके राजा के अन्तपुर में जाना, प्राणी की परवाह न करना, मौस का जेर-जोर से चरना और आदिहन करना आदि अनुभव है, तथा रक्षा आदि सपरोन्वय है ।

यहाँ रति का अलम्बन-राजाङ्गीना-एक-नया शब्द से निषिद्ध है, अत रस सामास रूप हो गया है ।

यहाँ राजाङ्गीना का जो 'चकितनयन' विशेषण है, समझे यह प्रतीत होता है कि राजाङ्गीना जो पर-पुरु-मणों में काम हुआ है, और तब वह मिला हो जाता है कि नायिका को हम नायक से प्रेम नहीं है, अत रति के अनौचित्य (अनौचित्य) होने से जो रसामास का तृतीय भेद कहा गया है, उमकड

उत्तरयति—

अस्याश्च विराय तस्मिन्नासत्तायाः अन्तःपुरे परपुरुषागमनस्यात्यन्तम-
सम्भावनाया, च एष मा बोधयतीत्युच्यते एव त्रासः । अनन्तर च परिचयाभि-
व्यक्त्या, सोऽप्य मत्प्रियो मदर्थं प्राणानपि तृणोक्त्यागत इति ज्ञानादुत्पन्न
हर्षमभिव्यञ्जयत् 'स्मेरवदनाम्' इति विशेषण रति तदीयामपि ध्यनक्ति, परन्तु
प्राधान्य नायकनिष्ठायै एव रते. सकलवाक्यार्थत्वान् ।

द्वितीयप्रकारमुदाहरति—

यथा दा—

पृथ्वली—चरित् वर्ययति—

'भवन करणावती विशन्ती, गमनाशाल्वलाभलालसेषु ।

तूरणेषु विलोचनाञ्जमाला-भय बाला पथि पातयाम्बभूव ॥

तदीया नायिकानिष्ठामपि। सकलवाक्यार्थत्वात् सम्पूर्णवाक्यव्यञ्जयत्वान् । आदौ
परिचयाभावे नायिकाया सहसा निद्रातो जागरणतः समुच्चिता चकितेत्यादिविशेषणेन
त्रासप्रतीतिरेव, पञ्चान् परिचये सति प्रथममूलकतदीयसाहचरानुष्ठानज्ञानजम्बुहर्वव्यञ्जनेन
'स्मेरवदनाम्' इति विशेषणेन नायिकानिष्ठारति रतिरभिव्यज्यत एवेति रतेर्मानुस-
निष्ठताप्रामासत्प्रयोजिका, किन्त्वनुचितविभावतैवेति सारम् । यदीह नायिकाया
संबन्धा त्रास एव स्यात्, तर्हि हर्षव्यञ्जक वदनस्मेरव रथ स्वान् अत स्मेरत्वव्यञ्ज-
हर्षेण व्यज्यमानाया नायिकानिष्ठरतेर्न प्राधान्यम्, एकदेशव्यञ्जयत्वात्, अपि तु
सकलवाक्येन व्यज्यमानाया नायकनिष्ठरतेरेव प्राधान्यमिति च विभावनोदम् ।

कुतश्चिद्वागच्छन्ती बाला, पथि मार्गे, (स्वकीयपीपणसौन्दर्यादृष्टहृदयपरतरुणैरनु-
गम्यमाना) भवन निजगृह, विशन्ती, प्रविशन्ती, यमनस्य प्रतिनिवर्तनस्य, आज्ञात-
वस्यादेरतेशास्यापि लाभायाधिगमाय, नासमेषु, लोलुपेषु, सकलेषु सर्वेष्वनुयायिषु

यह उदाहरण है, विभाव के अनौचित्य प्रयुक्त रति के अनुचित हो जाने से होनेवाले प्रथम भेद का
नहीं, यह किसी की शक्ती है ।

इस उदा का उतर यह है कि नायिका बिरकाठ से उस नायक में दयापि क्षतत भी, तथापि
इस क्षतित अन्तःपुर में पर-पुरुष का आगमन आपना ही अमन्य है, फिर यह कौन मुस लगा रहा
है इन तरह की आपना से नायिका ने ज्ञान का उदय हुआ है, न कि पर-पुरुष-स्पर्श के स्वाट से ।
अन पत्र, बाद में परिचय प्राप्त होने पर 'यह तो मेरा वही प्रेमी है, प्राण के मोह को भी छोड़ कर
पहा तक मेरे छिये आ पहुँचा है' इस प्रकार के ज्ञान से नायिका को अत्यन्त हर्ष हुआ, इन बात को
व्यक्त करने बाटा 'स्मेरवदनां यह विशेषण 'चकितनजना' के अन्वयदिन भागे नायिका में उगाय गया
है, फिर तो वही विशेषण 'नायिका का भी प्रेम नयक में है' यह बात भी स्पष्ट व्यक्त हो जाती है,
इस इतनी बात अत्यन्त है कि प्रथमतया यहा नायकनिष्ठ रति को ही है, क्योंकि सम्पूर्ण वाक्य का
वाक्यार्थ वही है । तात्पर्य यह कि जब इस तरह से नायिका का भी प्रेम नायक में सिद्ध हो जाता है,
तब यह एकनिष्ठ रति का उदाहरण नहीं हो सकता, पच्छ यह प्रथम भेद का ही उदाहरण है यह
निर्निवार-सिद्ध है ।

अब रक्षाभास के द्वितीय भेद का उदाहरण देरिये । यदि काता है कि-गृह में प्रवेश करता हुई

तदाह—

अत्र युतश्चिदागच्छन्त्या पथि तदीयरूपयौवनगृहीतमानसैर्युवभिरनुगम्य-
मानाया कस्याश्चिद् भवनप्रवेशसमये, निजसेवासार्थं त्रयविज्ञानाय, गमना-
ज्ञापनरूपताभलालसेषु, परमत्रिश्चरमस्मरणमजातकरुणाया गमनाज्ञाननिवेद-
कस्य विलोचनाम्युजमालापरिखोऽस्यानुभावस्य वर्णनादभिव्यज्यमाना गतिबंध-
वचनेन बहुविधया गम्यत इति भवत्ययमपि रसामास ।

तृतीयप्रकारमुदाहरति—

यथा वा—

नवोदावृत्त वर्णयति—

‘भुजङ्गरे गृहीता नवपरिणीता वरेण वधू ।

तत्कालजालपनिता, मालकुरङ्गीव वेपते नितराम् ॥’

तन्मय कृष्णावती दूरानुसरणोदितवया विलोचनाम्बमाया कृतज्ञतासूचककोमल-
कटाक्षपरम्पराम्, अथ पानयाध्वभ्रूव निचिक्षेपैत्यर्थ ।

इह तादातृदिनिसेपणम्यज्यमानाया रतेस्तरुणेष्विति बहुवचनेन बहुविधयत्वावग-
मान रसामासद्वितीयप्रकारोदाहरणमिदम् ।

स्फुटम् ।

नवपरिणीता नवोदा (अनुत्पन्नप्रणया) वधू , वरेण परिणीता (न तु प्रियेण)
भुजङ्गरे पङ्क्रे गृहीता बलादधृता (गाढमालिङ्गिता) तत्काल सद्य, जाले पतितता,
बाला, ‘कुरङ्गी हरिणीव, मुवमुपायानुपलम्भात्, रतेरनुद्भवेन प्रामाण्य, नितराम-
त्यन्त वेपते वर्णयत इत्यर्थ ।

बाला ने जब देखा कि सुन से जाने की विधिनात्र-अज्ञा-आसिद्ध एवम के लोभी सुनक-प्रणह
राम पर लक्ष है, तब कणावती हम बाल के उन सुनको पर एक साथ नवन-कमलों की माछ
गिरा दी—लेहभरी चिनचन से उनकी ओर देखकर जाने की अनुमति दे दी ।

सौंद नवयौवना मादिका वहाँ से आ रही थी, उसने मैं मनचने तरुणों का एक पूरा दल उनके
पोंछे ही दिखा, होता भी क्यों नहीं, जब तम सुन्दरी ने अपने कम और दीवल से तम (दल) का
इतने-इतना कर दिया था । पर उन सुनको को मयमसुल के मित्रा और कुछ हाथ नहीं लगा, एक
बाग सुनने के लिये भी वे बेचारे तरुण ही रहे, आसिद्ध उस सुन्दरी का पर भी आ गया, वह
अपने घर में घुमने लगी, अब व सुनक क्या करने, रामने घर सटे हो गये, उनके मन में यह लालमा
उठ रही थी कि ‘यदि अब भी यह सुन्दरी और न कुछ तो न सही—कम से कम अपने धीमूत ने जाने
वां आदा भी दे दे, तो हम अपनी सेवा को सार्थक सम्य ठैं ।’ मयमसुने ममता, वन सुन्दरी के
दृश्य में उनके अन्त परिधर्मों को याद कर दशा समझ आई, अत अपने ‘मैं अत मरी वें’ जाने की
आशा देती हूँ इस अर्थ के सूचक—वचन-प्रयोग तो नहीं—अधुना-दृष्टि निजेर उनके उतर उतर किया,
(तिर मग था, वे सुनक जाने को सार्थक ममसने हुये इतर-उतर वितर गये) । वह दृष्टि-निजेरकी
अनुभव के वर्णन में लक्षित को एनि अभिव्यक्त होगी है और वह भी ‘तदातु’ एत वदुरान-प्रयोग
के द्वारा अनेक नमकों में प्रतीय होगी है, अत यह एव था रसामम (अनेक नमक विषयक रतिल
द्वितीय भेद) का उदाहरण होता है ।

आज यह सुनके नेद का भी उदाहरण देना लक्ष्य है । यह म-के दृश्य मरी ने करती है—

उपपादयति—

अत्र रतेर्नववध्वा मनागप्यस्पर्शदिनुभयनिष्ठत्वेनाभासत्वम् ।

उक्तप्रकारध्वे प्रामाणिकता दर्शयति—

तथा चोक्तम्—

‘उपनायकसंस्थाया, मुनिगुरूपत्नीगताया च ।

बहुनायकविषयाया, रतां तथानुभयनिष्ठायाम् ॥’ इति ।

उक्तघोदाहरणसङ्ग्रहार्थमभिधत्ते—

अत्र ‘मुनिगुरु’ शब्दयोरेपलक्षणपरत्तया राजादेरपि ग्रहणम् ।

रस-तदामासयोरेकत्र सशयात् पृच्छति—

अथात्र किं उद्देश्यम् ?—

‘व्यानम्राश्रलित्ताश्रव, स्फारिता परमाकुलाः ।

पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चाल्या, पतन्ति प्रथमा दृशः ॥’

नायकमात्रे तिष्ठन्ती रतिरिह नायिकायामीपदपि न तिष्ठतीत्यनुभवनिष्ठः
रसानासत्त्वं ।

भादिपदेनागम्यपत्नीमाना सिध्वादीना परिग्रहो बोध्यः ।

पाञ्चाल्या श्लेषा, प्रथमा परिचयानन्तरमाद्या, दुस्रो दृष्ट्या, पाण्डो- पुत्रेषु
युधिष्ठिरादिषु क्रमेण युधिष्ठिरे गौरवाद्घानत्या, विनता, भीमसेने प्रासाच्चलित-

नवविधैत दुष्टादिन को रति ने बाहु रूप पिण्डे में एक छिवा, मन वह देवारी ताकाळ नाठ में
कैने हुई बच्ची हरिणी को तरह काय रही है ।

उक्त पद्य से यह प्रतीत होता है कि अभी केवल नायक में ही प्रेम का आदुर्भाव हुआ है, नायिका
में प्रेम का स्पर्श भी नहीं हुआ है, इस स्थिति में वह प्रेम (रति) अनुभव-निष्ठ (एक तरफ) है,
मन यह पद्य रसानास (अनुभवनिष्ठ रतिसुख तुनीय भेद) का उदाहरण होता है ।

रसानाम के उक्त सीनों भेदों में प्राचीनों ने भी भासिना की है । उन्होंने कहा है कि यदि
नायिका को रति उपनायक (नर) में हो, अथवा नायक को रति मुनि किंवा गुरु की पत्नी के
विषय में हो, अथवा एक नायिका को रति अनेक नायकों के विषय में हो, अथवा नायक-नायिका में
एक ही तरफ में रति हो, तब तब रति रस नहीं रसानाम कहलानी है । वहाँ एक बात विचारने योग्य
यह प्रतीत होता है कि—उस प्राचीनोक्त कारिका में ‘उपनायकनिष्ठायां और ‘मुनिगुरुस्त्वौगतायां’ ये
दोनों ही पद सर्वो कहे गये हैं । दोनों पदों को अन्वय-रस-तो नहीं मानस पत्नी, क्योंकि उपनायक-
निष्ठ रति में मुनिगुरुविगत रति नो मृहीन हो जाना है, कारण वह कि मुनिपत्नी आदि में
गिमकी रति होगी, वर मुनिपत्नी का उपनायक ही होगा, फिर उन दोनों को रति उपनायक निष्ठ
कहलानगी, यदि कहाँ कि वहाँ मुनिपत्नी आदि को रति नायक में नहीं रहनी, तब मैं कर्ना कि
अनुभवनिष्ठ रति से मयह हो जाना । एक बात और वह यह कि उक्त कारिका से रसानाम के नर
भेद प्रतीत होते हैं, पर उपकार ने तो तीन ही भेद दिखलाये हैं, जो ठीक सी है, अतः इन प्राचीन
कारिका के कुछ अमगति अवश्य है ।

उक्त प्राचीन कारिका में मुनि और गुरु पद उल्लेख है, अतः उन पदों से राज शिष्य आदि का
औ प्रकाश करना चाहिये । अतः ‘शुनेनोपायानाम्’ इत्यादि प्रथम उदाहरण का उद्देश्य हो जाता है ।

विशेषणव्यङ्ग्यप्रदर्शनपुरस्सर नदी । रसामासत्त्व व्यवस्थापयति—

अत्र व्यानञ्जतया धर्मात्मताप्रयोज्य मुषिष्ठिरे सभक्तित्वम्, चलिमतया स्मूलाकारताप्रयोज्य भीमसेने सत्रासत्वम्, स्फारिततयाऽऽलौकिकशौर्यश्रवणप्रयोज्यमर्जुने सहर्षत्वम्, परमावुल्लतया परमसौन्दर्यप्रयोज्य नकुलसहदेवयोरोत्सुक्य ॥ व्यञ्जयन्तीभिर्दंभिः पाञ्चाल्या बहुविषयाया रतेरभिव्यञ्जनाद् रसामास एवेति नव्याः ।

प्राचीनमते तत्र रसत्वमेव व्यवस्थापयति—

प्राञ्चस्त्वपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे, रतेरामासतेत्याहु ।

अञ्जना, अर्जुने प्रमानोत्कर्षात् स्फारिता विकसिता, नकुलसहदेवयोश्च सौन्दर्यातिशयात् परमाकुला अत्युत्सुकाश्च, पतन्तीन्यपं ।

अत्र पद्ये रसो रसामासो वा व्यञ्जय इति प्रष्टुराकृतम् ।

अत्र द्रौपदीदृष्टिविशेषणचतुष्टयेन युधिष्ठिरादिनिष्ठ धर्मात्मताऽऽदिप्रयोज्यानि भक्ति-त्रासहर्षोत्सुरापानि व्यञ्जयमानानि, द्रौपदीनिष्ठा युधिष्ठिराद्यनेकनायकविषयकत्वाद्नु-चित्ता रतिं प्राद्यान्वेन व्यञ्जयन्तीति शृङ्गाररसामावर्ष्वनित्य नवीना मन्यत इति शारम् ।

॥ शौर्यस्यादृश्यतया यथा श्रवणपदोपन्यास, तथा धर्मात्मताया अपिती तत्रापि तदुपन्यास उचितः ।

अपरिणेतार परिणयकर्तृभिर्भा बहुकोशनेके नायका विषया यस्या संव रतीर-सामास । प्रवृत्ते द्रौपदीनिष्ठरतेर्बहुनायकविषयकत्वेऽपि, नायकाना परिणेतृत्वाद् विशेषणमावप्रयोज्यवित्तिष्टामावात्र रसामासत्वम्, अपित्वनीचित्याप्रतीत्या रसत्वमेवेति प्राचीनाना मतम् । इह प्राचीनमतस्य नरीपस्त्व पत्राभिर्दोष सूचयति । यत्त्र द्रौपदीया तुना सूचितमर्षविवोज नक्षणे परिणेतृभेदानिवेत्तादपरिणेतृबहुनायकविषयकत्व इवात्रापि रतेरनीचित्यस्य मानमुक्तम्, तत्र युक्तम्, रतेरनीचित्यावभासे लौक्यास्न-गहितत्वत्सैव हेतुमा, महाभारतप्रहृतप्रनरणपर्यालोचनया तदसम्भवत्, विशेषतः पञ्चैन्द्रोपाख्यानदर्शनेन नायकबहुत्वादिनि विभावनीयम् ।

अत्र, अथ वा विचार कीर्तिते कि 'लण्डनो' के अन्त, दीरदो को प्रथम दृष्टिवा अतिनम्र पद्यत, विदितिन और वरम व्याकुल होगी हुई गिरती है' एतदर्थक 'व्यानस्था' 'इत्यादि पद्य में क्या कह्य है ?' एत 'कथा रसाग्राम' ।

उक्त विचार के प्रामां में नवीन विद्वानों का कथन है कि यहाँ रसग्राम ॥ व्यहय है, रस नरी, क्योंकि 'अतिनम्र' इस विशेषण से धर्मात्म होने के कारण युधिष्ठिर ने विषय में भक्ति को, 'पद्य' इस विशेषण से एतद कथ होने के कारण भीमसेन के विषय में क्रम को, 'विदितित' इस विशेषण से अत्यधिक एरण को बात श्रु होने के कारण अर्जुन के विषय में हर्ष का और 'परमव्याकुल' इस विशेषण से अति दुःख होने के कारण नकुल तथा सहदेव के विषय में अयुद्ध को अभिव्यक्त करने-वाली दृष्टियों के बर्णन से द्रौपदी को अनेक नायक विषयक रति ध्वनित होती है ।

प्राचीन विद्वानों के मत से उक्त श्लोक में रस ही व्यञ्जय है, रसग्राम नहीं, क्योंकि ये विधिवत् पण्डितान न करने वाले अनेक नायक के विषय में होनेवाली रते को ही रसग्राम मानते हैं, यहाँ

रसामास विमज्जते—

तत्र शृङ्गाररस इव शृङ्गाररसामासोऽपि द्विविध—सयोगविप्रलम्भमेदात् ।
तत्र विप्रलम्भामासोदाहरणमात्रस्य न्ययमात्रत्वेन न्यूनता परिहरति—
सयोगाभासस्त्वनुपदमेवोदाहृत ।

विप्रलम्भामासमुदाहरति—

विप्रलम्भामासो यथा—

वैदेहीविरहव्याकुलस्य दगाननस्य दद्या वपयति—

‘व्यत्यस्त लपति क्षण, क्षणमयो मौन समालम्बते,
सवस्मिन् विदधाति किं च विषये दृष्टि निरालम्बनाम् ।

श्वास दीर्घमुरीकरोति, न ऋ वत्ते घृति,
वैदेहीकमनीयताकवलितो हा हन्त । लङ्केश्वर ॥’

तत्र रसामासेषु, यथा शृङ्गाररसो द्विविध तथा सयोगशृङ्गाररसामासो विप्रल-
म्भशृङ्गाररसामासश्चेति तदामासोऽपि द्विविधस्तुल्यन्यायान् । एव वीररसामासभेदा
अप्सूहनीया इत्यभिप्राय ।

नव्यमते—‘ध्यानमा इत्यादिना प्राचीनमते तु ‘भुजपञ्जर’ इत्यादिना, तेन
न्यूनता न शङ्कनीयेत्याशय ।

हा हन्त । वैदेह्या जानक्या, कमनीयता स्पृहणीयसौन्दर्येण, कवलितो बशीकृत
चेना, लङ्केश्वरो रावण क्षण व्यत्यस्तममज्जत तपति भापते (प्रतपति) अयो क्षण
मौन समालम्बते मूकीभवति किञ्च सर्वस्मिन् प्रियेऽप्रिये च विषये, निरालम्बना
एत्या, दृष्टि विदधाति करोति तथा दीर्घमायत, श्वाभम्, उरीकरोति बहति, एवम्,
अङ्गेषु स्वावयवेषु, मनागोपदपि घृति स्थिरता न घते धारपतीत्यर्थं ।

विदधातीत्यत्र निसेपायंको निदधातीति पाठोऽधिक्यो मते ।

तो पाशों पाण्डव द्रौपदी के विधिवत् पाणि-ग्रहण करने वाले ही हैं, अतः उन पाशों के दिश्य में होने
वाली द्रौपदी की रति रसामास नहीं कहला सकती, बरन छुद रस ही कहलायगी । वहाँ ‘प्राञ्जल’
इन ‘हु’ शब्द से अरुचि सूचिनी ही है, और वस्तुतः कारण यह है कि एक नरिका का अनेक नरकों
से प्रेम करना हर जगत् में अनुचिनी ही है, चाहे वे नायक विधिवत् पाणिग्रहण करके ही अर्थात्
व्यामीन । और लक्ष्मी में भी इस तरह का कोई निवेश नहीं किया गया है, जिनसे पाणिग्रहण करने
वाले अनेक नरकों के शिष्य में होनेवाली रति रसामास-संज्ञा से मुक्त की जा सके । यह है नागेश
का अभिप्राय । कुछ लोगों का यह भी कथन है कि नागेश का यह अरुचिप्रदर्शन समुचित नहीं है
क्यरन यह कि टोक और झाल से निन्दित होने से ही तो रति का अनौचित्य सिद्ध होगा है, और
महाभारत (जो धर्मग्रन्थ तथा अपने युग का इतिहास ग्रन्थ भी है) के पर्यायचरन से द्रौपदी का एवम्
पाण्डवों के साथ प्रेम करना निन्दित नहीं समझना जाना, अतः प्राचीनों का मज टोक ही है ।

जैसे सम्भोग और विप्रलम्भ भेद में शृङ्गार रस दो प्रकार के होते हैं, वही तरह शृङ्गार रसामास
भी दो प्रकार के होते हैं ।

सम्भोगशृङ्गार रसामास का उदाहरण ‘भुजपञ्जरे’ इत्यादि जगो हो कर कह जाये है ।

अर विप्रलम्भामास का उदाहरण देखिए—तीता के सौन्दर्य से बशीकृत पाश की रस अत्यन्त

उपपादयति—

अत्र सीतालम्बनेय लङ्केशयता विप्रलम्भरतिरनुभवनिष्ठतया जगद्गुरु-
पत्नीविषयवक्तव्या चाभासना यता, व्यन्यस्त लपतीत्यादिभिरक्तिभिर्यज्यमानै-
रन्मादश्रम-मोह-चिन्ता-व्याधिभिस्तर्षैवाभासता गन्तै. प्राधान्येन परिपोष्य-
माणा घ्वनिव्यपदेशहेतुः ।

शृङ्गारवद् रसान्तराणामप्यनीचित्प्रवृत्तत्वे रसानामना अवस्थापयति—

एव कल्होलकुपुत्राद्यालम्बनतया वीतरागादिनिष्ठतया च वर्णमान-
शोक, ब्रह्मविद्यानधिकारिचाण्डालादिगतत्वेन च निर्वेद, कदर्य-जातरादिगत-
त्वेन पिशाचालम्बनत्वेन वा त्रीघोत्साहौ ऐन्द्रजानिकाद्यालम्बनत्वेन च
विस्मय, गुर्वीशालम्बनतया च हाम महादौरगण-देन भयम् यक्षाक्षयशुक्ला-
ऽमृद्मासाद्यालम्बनतया वर्णमाना जुगुप्सा च रसानाम्ना ।

इह सीताविषयिकाया विप्रलम्भशृङ्गारस्याग्नि्या रत रावणमाश्रयिष्ठतया
जगद्गुरुरामचन्द्रपत्नीविषयवक्तव्या च द्विविधानीचित्याद् विप्रलम्भशृङ्गाररसाना-
सत्त्वम् । सा हि- लण व्यत्यस्त मित्यादिना व्यग्रमाननासादन, क्षामधो इत्यादिना
व्यग्रमानेन श्रमेण, 'महस्मिन् इत्यादिना व्यग्रमानेन माह्वत आम मित्यादिना
व्यग्रमानेना चिन्तया, न मना मित्यादिना व्यग्रमानेन व्यरिपता च भावेनानीचि-
त्यप्रवृत्ततया भावामनेन परिपोष्यत इति प्रधानीभूता विप्रलम्भशृङ्गाररसानामघ्वनि-
व्यपदेशस्य हेतुर्मन्तनीनि सारम् ।

यथा रतेर्मन्यादिपत्नीविषयवक्तव्यानीचित्याच्छृङ्गाररसानामना तर्षव कल्हनीलां
य कुपुत्रान्द्रिपयस्य वीतरागपुरपनिष्ठत्वे च दौर्बन्धानीचित्यात् कर्णाभामना,
ब्रह्मविद्याया विद्यानम्बानधिकारिधो ये चाण्डालादपन्नमित्त्वेन वर्णमानस्य निर्वेद-
स्यानीचित्याच्छालानामामना, कदर्यो नीब जातरो भीरुनिष्ठत्वेन वर्णमानस्य

तदुदाहरणाप्रदानकारणमाह—

विस्तृतिभयाच्चाभी नेहोदाहृता मुष्ठीभिरुभ्रेया ।

पशोपवक्तव्यविरहान समासनेव भावाभासान् निस्पयनि—

वभेयानुचितविषया भावाभासा ।

समासेनेव भावाभासमुदाहरति—

यथा—

अनुचितरति प्रवासी प्रिया स्मरन् वदति—

‘सर्वेऽपि विस्मृतपथ विषया प्रयाता

विद्याऽपि खेदकलिता दिमुत्तीव्रभूव ।

सा केवल हरिणशावकलोचना मे,

नवापयात हृदयार्दाघदेवतेष ॥’

क्रोधस्य रौद्राभासता, उत्साहस्य च वीराभासता, इन्द्रजालोपजीवक एन्द्रजालवन् द्विषयवत्त्वेन विस्मयस्माद्भुनाभामता गुरुजनादिविषयकरत्वेन हासस्य हास्याभामना महावीरनिष्ठत्वेन भयस्य भयानकाभामना यज्ञीया वध्यतया यज्ञयम्बन्धिनो ये पञ्च वस्तेषा यानि वसासृष्टमासादीनि मज्जारश्मिरेमासप्रभृतीनि तद्विषयत्वेन बन्धमानात् पुण्युत्सामात्र बीभत्साभासता च ज्ञेयेत्याशयः ।

प्रत्येकमेवामुदाहरणप्रदाने ग्रन्थविस्तार न्यादिति शृङ्गारामानादाहरणनेव मुष्ठीभिस्तद्वद् स्थालीपुत्रावन्वामेन विषय इत्यर्थः ।

एवमेव रसाभासवदेव, अनुचितविषया अनुचितालम्बनका अनुचिताभ्रपनिष्ठा वा बन्धमाना हर्षादिव पूर्वोक्ता भावा भावाभासा भवन्ति, तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिता इति प्राचीनानिष्ठानादित्यथ ।

अनुचित होने पर शृङ्गार रसाभास होता है, उन्हीं तरह अन्य रसों के स्थायीभाव या अनुचित होने पर तत्पद के आभास रूप हात है । जैसे—हरण रस का स्थायीभाव (शोक) यदि कण्डवारी कुम्भ आदि के विषय में अथवा किरक पुरव अग्नि आश्रय में वर्णित हो, शाल रस का स्थायीभाव (विष) यदि ब्रह्म-विद्या-पदन के अधिवार से वस्त्रि खाण्ड आदि आश्रय में वर्णित हो, रौद्र और वा रस के स्थायीभाव (क्रोध और उत्साह) यदि दीन अथवा कायर आश्रय में वर्णित हो, विषय न वर्णित हो, अतस्तुत रस का स्थायीभाव (विस्मय) यदि ऐन्द्रजालिक आदि के विषय में वर्णित हो, हास रस का स्थायीभाव (हास) यदि गुरु आदि पूर्वोक्त के विषय में वर्णित हो भगवन् रस का स्थायीभाव (भय) यदि विनी महावीर रूप आश्रय में वर्णित हो और बीभत्स रस का स्थायीभाव (जुगुप्सा) आदि यक्षीय क्लृ के मज्जा, शोणित तथा मास आदि के विषय में वर्णित हो तो कला बन्धरसाभास, शान्तरसाभास रौद्ररसाभास वीररसाभास, अद्रुत्तरसाभास, हास्यसाभास अन्ध रसाभास और बीभत्सरसाभास होते हैं ।

इन सब रसाभासों के अलग-अलग उदाहरण दिए जाने में यथ के अविस्मय हो देने का लक्ष्य था, यथा वे नहीं दिए जाये गये, विद्वानों को स्वयं उन्हा वह करने चाहिये ।

इसो तरह हर्ष आदि पूर्वोक्त भाव भी यदि अनुचित आलम्बन के विषय में अथवा अनुचित आश्रय में वर्णित हो, तो अनाभास कहलाने हैं ।

प्रकरण प्रदर्शयति—

गुरुकुले विद्याभ्याससमये तदीयकन्यालावण्यगृहीतमानसस्य, अग्यस्य वा कस्यचिद(ति)प्रतिपिढगमना स्मरतो देशान्तर गतस्येयमुक्तिः ।

आङ्गपस्य चानिरेकस्य स्मृत्यङ्गाव प्रतिपादयति—

अत्र च स्वात्मत्यागात्यागाम्या सकृच्चन्दनादियु विषयेषु चिरसेविताया विद्याया च वृत्तघ्नत्वम्, अस्या च लोकोत्तरत्वमभिव्यज्यमान व्यतिरेकवपुः स्मृतिमेव पुष्पातीति सैव प्रधानम् ।

(सम्प्रति प्रियाविरहे) सर्वोपि, विषयास्तत्तदिन्द्रियैरनुभवनीया पदार्था, विस्मृतिपथ प्रयाता मुहुरनुसन्धीयमाना अपि विस्मृता एवाभूवन्, (चिरसेविता) विद्याऽपि, खेवकसिता पराङ्गनाश्रयणावधारणैर्ध्यायिपायितास्येव, विमुद्योबभूव साम्मुख्यविहाय दूर जगाम केवसमेका, सा इष्टपूर्वा, हरिणसावकसोचना कुरङ्गसिमुगदना, बद्धिदेवतेव हृदयाधिष्ठातृदेवनव, मे मम हृदयान्, नैवापयानि नैव निस्मरतीत्यर्थः ।

गुरुकुले गुरोर्बुहम् । 'अप्रतिपिढगमनाय' इति शब्दे तु निपिडाताम्बनकत्वाभावाद्भावानासतैव दुर्पटा स्यादिति प्रकोष्ठपटकचन्द्र कल्पित । इह गुरुकन्या तदन्या वा काचिद्गम्याऽऽनम्बनम् विषयो यस्या सा स्मृतिरनीचितप्रवृत्तत्वाद् भावामासरूपा, व्यङ्ग्याभ्या व्यतिरेकोपमासङ्काश्यामुपस्किन्मभाषा स्मृतिबावाभासध्वनिव्यपदेशस्य बीजमवसेयम् ।

चिर सेवितैरपि सकृच्चन्दनादिविषये, चिर सेवितया विद्याया च सेवकस्य स्वात्मनस्त्याग इति तयोरेवृत्तत्वम्, अस्या नापिकायान्त्वल्पकासानुष्वाता-यामपि सतनस्मृतिवसततनाम स्यात्तमकृतभाषामपूर्वं वृत्तत्वात् च व्यज्यमान व्यतिरेका-सङ्कारस्वरूप स्मृतिभावस्यैवोपकारकमितीह भावामासध्वनिरेव, नत्वनष्टार-ध्वनितियाद्यम् ।

बैठे-समो विषय विस्मृति के भागें पर पहुँच गये-भूठ से गये और विद्या भी जितकी सेवा मैंने बिरहकत तक की थी—छिन्न होकर मुझे पराङ्गना-श्रयणी समझ कर ईर्ष्या में कुरङ्गिणहृदया होकर-विमुक्त ही गई, परन्तु वेदक वह बात शक्ति के समान नयन बाछी बाछी अधिष्ठात्री देवी के समान बनी देवी है, हृदय से कभी निष्पत्ती ही नहीं ।

विद्याभ्यास करते समय गुरु-पुत्री के छावण से मोहित बनाने पुनव की अथवा शिवाका सम्प्रेण कल्पन ही निषिद्ध ममसा बना है, यैसा किनी कर्मिणी का स्मरण करने हुए किनी अन्य की वस्तु समय में वह उक्ति है, जब वह उनसे दूर हो गया था ।

यहां चिरसेविता शब्द, चन्दन आदि विषय और चिर-नेकिन विद्या—जो इन पथ में लगाने रूप से आये हैं—में, आने को छीव देने के कारण, कृतज्ञता तथा कल्पनरहित वम शृणायी—को यहाँ हमसे रूप से आई हैं—में आने को अभी तक न छोड़ने के कारण, अदौकिक हृदयना कर्मिण्यक होने से, का वरमान से भाग्य में आधिपत्य-कर्म रूप 'व्यतिरेक' अष्टार यहाँ व्यक्त है अन्य, तदपि हम पथ को अष्टार-नरति नहीं करा आ मकता, क्योंकि यह व्यक्त 'व्यतिरेक' यहाँ वस्तु नयन 'स्मृति-नार' का ही रोचक है, जो अनुपिण प्रवृत्त होने के कारण कर्मान रूप है । अष्टार इस पथ को 'मर्यादा-नरति' ही बनाने आदि है ।

वस्तुव्यङ्ग्यचोपमाया अपि भावाभासाङ्गत्व इत्यपि—

एवं च त्यागाभावगत सार्वदिकत्व व्यञ्जयन्त्यधिदेवतोपमाऽपि ।

भावाभासत्वमुपपादयति—

एषा चानुचितविषयकत्वादनुभयनिष्ठत्वाच्च भावाभासः ।

विषयभेदादिहेतु भावध्वनित्वमप्याह—

यदि पुनरियं तत्परिणेतुरेवोक्तिः, तदा भावध्वनिरिव ।

भावनान्ति निरूपयति—

अथ भावशान्ति—

निरूपयत इति श्लेषः,

भावस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य शान्तिर्नाशः ।

विशेषमाचष्टे—

सचोत्पत्त्यवच्छिन्न एव ग्राह्यः, तस्यैव सहृदयचमत्कारित्वात् ।

यथाऽभिधात्री देवता स्वाभिष्ठान न जातु त्यजति, तथेयमङ्गनाऽपि मम हृदय न त्यजतीतिवाच्योपमाऽपि, परित्यागाभावस्य सार्वकालिकत्व व्यस्य वस्तु बोधयन्ती, चमत्कृतमत्पि स्मृतेरङ्गमेव, न प्रधानमिति भावः ।

एषा स्मृतिः । अनुचितविषयकत्वमालम्ब्य निषिद्धत्वात्, अनुभयनिष्ठत्व च नायकमात्रवृत्तित्वात् ।

नायिकाया पत्न्युरेवोक्तिरेवा यदि प्रकरणेनावधार्येत, तदा निषिद्धालम्बनकत्वानु-
भयनिष्ठत्वयोरभावात्तस्मृतिभावाभासध्वनिः, किन्तु स्मृतिभावध्वनिरिवेति भावः ।

प्रागुक्त विभावानुभावमन्यमान—हर्षाद्यन्वयतमत्व स्वरूप यस्येति बहुव्रीहि
विभावा, विष्यङ्गप्रहर्षाद्यन्वयतमनाथ एव भावशान्तिरित्यर्थः ।

यत् स भावनाया उत्पद्यमान एव (न तु स्थित्यवच्छिन्न) सहृदयाह्लादकः,
तस्मात् स एवात्र ग्राह्य इत्यर्थः ।

इसी तरह 'अधिदेवतो' इस पद से काव्य हीनेवाली तथा चमत्कारजनक होकर भी 'स्मृति-
भाव' का अर्थ ही है, प्रधान नहीं, क्योंकि इस उपाय से यह वस्तु ध्वनित होती है कि जैसे अधिधात्री
देवी अपने अधिष्ठान को कभी नहीं छोड़ती, वैसे यह गृहणी भी मेरे हृदय को कभी नहीं छोड़ती,
यह यह समझना चाहिए कि यह उपाय त्यागाभाव (न छोड़ने) में सार्वदिकता—विरत्यादिवा को
बतलाने के लिये ही केवल गयी गई है ।

यह स्मृतिभाव नहीं, भावाभास है—इसलिये कि इसका विषय शुक्लव्या अथवा अन्य कोई
अगत्या नायिका अनुचित है, और यह स्मृति अनुभवनिष्ठ भी है—अर्थात् नायिका को स्मरण करती
नहीं, अतः एक तरफा है ।

यदि मानें कि 'सर्वेऽपि ...' इत्यादि पद्य वर्णनीय नायिका के परिणता (पति) को ही बतल
है, तब इस पद्य को 'भावध्वनि' का ही उदाहरण समझना चाहिये ।

अब 'भावशान्ति' का निरूपण करते हैं । अच्छा पहले उसका उद्देश्य देखिये—जिनके स्वरूप पूर्व
में वर्णित हो चुके हैं, उन हर्ष आदि भावों में से किसी भाव के नाश को 'भावशान्ति' कहते हैं ।

यह भाव—नाश उत्पत्त्यवच्छिन्न (उत्पत्ति—काटिक) ही लेना चाहिये—अर्थात् भाव के उत्पन्न होते

उदाहरति—

उदाहरणम्—

मानिन्या सद्योऽप्यध्वस वषयति—

‘मुञ्चसि नाद्यापि एव भामिनि ! मुदिरानिर्हृदियाय !

इति तन्व्या पतिवचनरूपायि नयनाब्जकोणशोणरुचि ॥

विभानुभावाद् दग्यति—

इह तादृशप्रियवचनश्रवण विभाव नयनकोणगत-शाणरुचर्नाश, तद-
भिष्यक्त प्रमादा वाऽनुभाव ।

उपपादयति—

उत्पत्तिकान्तावच्छिन्नो रोपनाशो व्यङ्ग्य ।

भावोदय निरूपयति—

तथा—

भावोदयो भानस्योत्पत्तिः ।

हे भामिनि ! वापन ! अद्यापि तानाद्यपि एव कोप मान न मुञ्चसि एव त्यजति,
(पश्य) मुदिरानिर्हृदियाना उदियायोनिताऽभूत इति पतिवचनं तन्व्या
कृपाङ्गपा (मानिन्या) नयनाब्जकोणयोर्नयनरुचमन्प्रान्तयो दोगर्दचितोपहिता
रक्तच्छवि भयायि व्यनागीशय । मानिनी परयोद्दीपनकादम्बिनीसन्नाहृधवणान
राद्य प्रससादेति भाव ।

तादृश मुदिगा-वदयवोपकम । प्रियवचनश्रवणस्यामपभावगान्तिजनकरवन
विभावत्वम् । नयनकोणगाणगचिनागम्य सासादमपनसाजन्मत्वादिवाप ।

रोपोऽप्यस्तनाश्रामपभावगान्तिध्वनिरिति सारम् ।

पूर्वोक्ततन्वयस्य ध्वन्यविद्भावावस्योदय उत्पत्तिरास्वादपदवी गतो भावोदयो
भवतीत्यर्थः ।

ही इससे नाश का ज्ञान हुआ चाहिये, उससे शम कर चुकने व बाद का नहीं क्योंकि काली
कालीन भावनाय ही कालीनों को नमस्कार करना है ।

उदाहरण छीजिये— अथ कोपमयि ! भव भो नू रोप का त्याग नहीं करनी, देरा तो एन-
मय पिर आई इम गहृ एति ने वचनों ने कृपाङ्गी के जयन-कमल के कान मे जो रक्त छवि भा,
उसे पो टिया-बद रान्त जाने के साथ ही समाप्त हो गई ।

यहाँ निदयम की एन-मय काटी बायों का मुनना विभाव है और नेत्र-रूप की एन-ध्वि वर
नग्य अनुभाव है । यहाँ कह कि नेत्र की टानी क्य नाश ता एव-नाश का साक्षात् कार्य नहीं हा
मकना-अर्थात् रोप-नाश से प्रमत्तना होगी और प्रमत्तना से कोपमूलक नेत्र-रक्षण का नाश हागा,
तो मे कहुना कि टोट है, तब नेत्ररक्षण के विनाश के अधिपत्यक प्रमत्तना को ही अनुभाव
सन्निधे ।

रक्त विभाव और अनुभवों से कल्पित के मन्त्र में ही एव का एव हा जाना व्यङ्ग्य है ।

अब 'भावोदय' का निरूपण करना है । वहाँ उमद्य एव्य दसिय—पूर्वोक्त हर्ष कदि में ए
दिमी भी भव की कल्पित को 'एव दय' कहते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

प्रियापराघबोधान् सद्यो मानिन्या वृत्त वणयति—

'वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनी-हारलक्ष्म दयितस्य भागिनी ।

असदेशवल्यो कृता क्षणादाचर्ये निजवाहुवल्गरीम् ॥

विभावमनुभाव व्यहस्य च प्रणिपादयति—

अत्रापि दयितवक्षोगत-विपक्षकामिनीहारलक्ष्मदृशं विभाव, प्रियामदेश
वल्यो कृतनिजवाहुलताऽऽकर्षणमनुभाव रापोदयो व्यङ्ग्य ।

भावशान्ति-भावोदयोर्विपर्ययमात्रद्वय विषयविभाग दशयति—

यद्यपि भावशान्तौ भावान्तरोदयस्य, भावादये वा पूर्वं भावशान्तरावश्य
क्त्वाप्रान्तयोर्विविक्तो व्यवहारस्य विषय, तथापि द्वयोरेकत्र चमत्कारविरहान्
चमत्काराधीनत्वाच्च व्यवहारस्य, अस्ति विषयविभाग ।

(कालिङ्गनी काचिन्) दयितस्य वरलभस्य, वक्षसि हृदय विपक्षकामिन्या
शत्रुपमुक्तप्रतिनायिकाया, हारलक्ष्म गाढानिङ्गनोदगनमुक्तामालाचिह्न वीक्ष्य
विरोधेण दृष्ट्वा, (अपराघनिष्ठयान्) भागिनी रोपयती मती असद्वगयोर्दयितमन्त्र-
प्रान्तयो, वलयीकृता मण्डलाकारेण सयोजिता, निजवाहुवल्गरी स्वभजनताम सद्य
भाषक्यं-अमर्षोदयादावृत्तादित्ययं ।

इहापि रोपपदमर्षबोधकम्, तेनामर्षभावोदयध्वनिर्वोध्य ।

मर्षकभावस्य शान्ति, तथापरभावस्योदय आवश्यक यत्र पुनरेवभावस्योदय
तत्र पूर्वमपरभावस्य शान्तिरवश्यमपश्यत इति भावशान्ति-भावोदयया मन्त्र सङ्कीर्ण
त्वं स्वतन्त्रो व्यवहारस्य विषयो न सम्भवतीति शङ्काया—तद्येकत्रैव तत्रभावस्य
शान्तिरुदयस्य च चमत्कारिता, तथा चमत्कारिता व्यवहारप्रवृत्तिरिति निषेधे, यत्र
भावशान्तिचमत्कार, तत्र भावशान्तिव्यवहार, यत्र तु भावोदयचमत्कार, तत्र
भावोदयव्यवहारो भवतीति तयोर्व्यवहारस्य विषय परसाङ्ग्ये नन्यपि स्वतन्त्र एवेति
यनाधानम् ।

उदाहरण दैतिदे—कोई कामिनी एकानस्थित प्रियतम के दोनों कंधों पर हाथ रखकर गल
मिल रही थी, तब तब अकस्मात् उसकी दृष्टि प्रियतम के वक्षस्थल में पड़ गइ मीन के हार-पिह
पर पड़ी, फिर क्या भा, दुरत वह कामिनी ने भागिनी (कपेता) बन गयी और कंधे पर से अपनी
बाहुला को रींच लिया ।

यद्यपि भा प्रियतम के वक्षस्थल पर सौन के हार का चिह्न देखना विभाव और उसके कंधे पर से
लियी हुई मुस्कता का सौंच देना अनुभाव है, निम्नसे रोष-मर्ष का उदय व्यङ्ग्य होता है ।

यद्यपि यह निश्चित है कि जहाँ किमा मर्ष की शान्ति होती है, वहाँ किमी दूसरे भाव का उदय
भा होता ही है, इसी तरह जहाँ किमा भाव का उदय होता है, वहाँ हमसे पहले किमा अनिश्च
भाव की शान्ति अवश्य हुई रहती है, फिर तो भावशान्ति और भावउदय के एक दूसरे से अभिन्न
दर्शों का मिलना अनन्वय है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों के अन्त-अन्त
परस्पर होने दोष्य लक्ष्य नहीं है, क्योंकि एक जगह दोनों चमत्कारी नहीं होने अथवा भावशान्ति

भावमन्वि निरूपयति—

एवम्—

भाससन्धि-रन्योन्यानभिभूतयो रन्योन्याभिभवनयोग्ययोः सामानाधिकरण्यम् ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

व्यस्तन्धिमास्त्रुद्धाया अनूद्धाया सीताया रामचन्द्रे प्रथम दृश्यात् वर्णयति—

'यौवनोद्गमनितान्तशङ्कित', शीलशौर्यवल्कान्तिभ्रिता ।

सद्बुचन्ति विकसन्ति राघवे, जानकीनयननीरजश्रिय ॥'

अन्योन्य परस्परमनभिभूतयोरबाधितप्रतीतिचमत्कारयो, अन्यान्यामिभवनयोग्य-योमिष—प्रतीतिचमत्कारबाधनसमर्थयो (अविच्छेद्योस्तुल्यवलयो) द्वयोर्भावयो, सामानाधिकरण्यमेकदेशेककालावच्छिन्नचमत्कारप्रतीतिविषयवत् भावमन्धिरित्यर्थं ।

मुन्दोपमुन्दन्यायेन मियोवाधने प्रतीतिचमत्कारमात्रात्, तादस्ये परस्परबाधना-पनयोस्तु सन्धिप्रयोग्यविजातीयचमत्कारसमतिरस्कृष्टपत्कारविरहाच्च क्रमेण विशेषणद्वयगौरवस्यम् । तदुक्तम्—'भावयो सन्धिरभयसामशोषोणेन परस्परविमर्द' इति । मन्धिरैव काममेव मुन्दकलशयोरास्वाद इति च ।

यौवनस्वोद्गमनेनारम्भेण नितान्त शङ्कित मुवदधने नवाद्बुचरितयौवनश्रीजातिस्व-भावादुत्पन्नाद्वा (राघवस्य) वीर्येण सद्बुक्तेन, शौर्येण विधनेन, बलेन घारी-रिक्तसामर्थ्येन कान्त्या भावव्यप्रमया च (प्रत्यक्षविषयेण) शोभिता उत्पादितलो-भास्य, जानक्या सीताया नयने एव नीरजे क्रमते, तयो धिय' राघवे रामचन्द्रे

को बगह में आशान्तर का उद्वेग निमित्तक रह कर भी चमत्कारों नहीं रहता, इसी तरह भावोदय की आह में प्राक्कनभाव की शक्ति निवमन रहने पर भी चमत्कार जबक नहीं होती और व्यवहार चमत्कार के अर्थ में है—अर्थात् जिनमें चमत्कार रहता है, वही वा व्यवहार होता है, जिन इन दोनों के एक-दूसरे व्यवहार हो सकते हैं ।

अब 'भाव-मन्धि' का निरूपण करते हैं । सर्वप्रथम समझ लक्षण देगिने—एक दूसरे से दवे हुए न हो, हा एक दूसरे को दवाने की योग्यता रखत हो, ऐसे दो भावों के सामानाधिकरण्य (एक वा-ह रहने) को 'भाव-मन्धि' कहते हैं । अतएव यह हुआ कि जिन दो भावों में से कोई एक दूसरे की प्रतीति और चमत्कार को बाधित करने की क्षमता हो, परन्तु बाधित कते नहीं, ऐसे—नवाद्-मन्धिस्व और मुन्दरठ दो भावों की महामन्धि को भावमन्धि कहने हैं । वहाँ परिल लक्षण में "दूसरे से दवे हुए न हो" यह पूर्व अंश नहीं कहा था, अब उन दो भावों की महामन्धि में अतिव्यक्ति हो आसगी, जो परस्पर बाधक होने के कारण अशक्यमान अब एव चमत्कारहान होकर एतन्व बने दवे रहत है । इसी तरह यदि 'एक दूसरे को दवाने की योग्यता रखते हो पर द्वितीय अंश लक्षण में न रहा था, अब उन अशाशक्यताय दो भावों की सह-रिचि में अतिव्यक्ति हो आसगी, जिनको सह-रिचि से कोई साम चमत्कार नहीं चलन्य होता, अतः दोनों अंशों का निवय मार्बक है वेदा यनप्रना करिदे ।

उदाहरण देकिवे । एक सखी दूसरी से चरती है—दोनों में (सीता तथा राम में) नीरज

विभावाद्याह—

अत्र भगवद्वाशरधिगेतस्य लोकोत्तरयौवनोद्गमस्य, तादृशस्यैव शीलशौर्या
देश्च दर्शन विभाव, नयनगत-सङ्कोचविकासावनुभाव, त्रीडोत्सुक्ययो सन्धि-
व्यङ्ग्य ।

भावशबलत्व निरूपयति—

तथा—

भावशबलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावभापन्नानामुदासीनानां
या व्यामिश्रणम् ।

तथा तादृशत्व विदुषोति—

एकचमत्कृतिजनकज्ञानगोचरत्वमिति यावत् ।

(पतन्त्य) सङ्कुचन्ति लज्जया निमीलन्ति, विकसन्ति—औत्सुक्येनोन्मीलन्ति
वेत्यर्थं इह यौवनोद्गमस्योद्गमत्वान्वय, उन्मीलननिमीलनयोश्च कालातिलाघवेन
योग्यपद्यव्यवहार ।

तादृशस्य लोकोत्तरस्य । नयनयुते सङ्कोचेन शोभा, विकासेन औत्सुक्यमिह सम
कलतयाऽऽस्वाद्यते इति भावसन्धिष्वनि ।

विह्वलत्वान्निधोवाध्यबाधकभाव प्रातानात्, अथवाऽविकसत्वात् तदस्थाना भावाना
व्यामिश्रण स्वस्वव्यङ्गकपृथग्—वाक्यप्रतीतिविषयत्वपूर्वकं कमहावाक्यजग्यचमत्कारक
वैपञ्जनिक-प्रतीतिविषयत्व शबलत्वमित्यर्थं ।

एक महावाक्यजन्य चमत्कृतिजनक यद्वैपञ्जनिकज्ञान, तद्विषयत्वमित्यर्थं ।

संकुचित हो जाने के कारण मत्स्य उद्धातुक और राम की सच्चरित्रता, शूरता, शारीरिक बल और
शक्ति के कारण ल मत्स्य कुमारी साता के नेत्र-कमलों की शोभाएँ, एतन्मय रामचन्द्र के विषय में,
सङ्कुचित और विकसित हो रही हैं । भावार्थ यह है कि नवाकुचित सीताजी ने जब प्रथम प्रथम
यौवनोन्मुख, सच्चरित्र, वीर, बलिष्ठ और सुन्दर रामचन्द्रजी को देखा, तब उनकी भाँपे-वर्णों देखने
में कुछ संकुचित हो रही थी क्योंकि उनके हृदय में उस समय एक तरह की गूहा भाँवरस्थित था,
जो किमो नव युवक को देखते समय किसी भी अकुरयौवना के लिये स्वाभाविक है । और कुछ
विकसित भी हो रही थी, क्योंकि उस विदग्ध यौवनोन्मुख रामजी के प्रति उनके मन में एतन्न भी
था । इसी बात का वर्णन एक सखी दूसरी सखी से कर रही है ।

यथा भगवान् रामचन्द्रजी में लोकोत्तर यौवन की उत्पत्ति का तथा उमरे नरक के लोकोत्तर
चरित्र-वीरता आदि का दर्शन विभाव है और आँतों का संकुचित होना तथा विकसित होना
अनुभाव है । निनसे लज्जा और औत्सुक्य इन दो भावों की सन्धि व्यङ्ग्य होती है—अर्थात् नेत्र-
सन्धि से लज्जा और नेत्र-विकास से औत्सुक्य समान रूप से ध्वनित होते हैं, अतः यह वच 'मात्र-
सन्धि-ध्वनि' का उदाहरण होता है ।

जो परस्पर विरोधा होने के कारण एक दूसरे का नाशक हों, अथवा जो उदासीन-मर्थत्व न परस्पर
बाधक न परस्पर महादक हों, ऐसे अनेक भावों के मिश्रण को 'भाव श्वलत्वा' कहते हैं ।

मिश्रण शब्द का अर्थ यहाँ यह है कि यद्यपि मित्र-भिन्न वाक्य से मित्र-भिन्न भाव अभिव्यक्त
होते हैं, तथापि उन सब वाक्यों को मिलाकर जो एक सम्पूर्ण स्वरूप महावाक्य बने, वस्तु जो एक
व्यङ्गना वृत्ति के सहारे चमत्कारी शब्द हों, उसमें उन सब भावों का मासित हो जाना ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

सीता विदास्थानुप्रधान श्रीरामविचक्षणवति—

'पापं हन्त मया हतेन विहितं, सीताऽपि यद्यापिता,
सा मामिन्दुमुखी विना वत् वने किं जीवितं ध्यास्यति ? ।
आलोकेय कथं भूयानि वृत्तिः । किं नैवदिप्यन्ति मा,
राज्यं यत्तु रसातलं पुनरिदं, न प्राणितुं कामये ॥'

उपमाद्वयति—

अत्र मत्पत्न्या विषाद-मृत्पि-वितकं-श्रीराम-गङ्गा-निर्वेदानां प्रागुक्तस्ववि-
भावजन्मना शङ्कना ।

(यत्र भूमिसमुद्रयोश्च वस्त्रपरोक्षितयोश्च) सीताऽपि (शुद्धापवादमिवा) यथा,
यापिता राजधान्या निवास्य वनं गमिता, इति 'हतेन दुष्टेन दुर्दोषहृतमुद्रिना
मया, ननु सीतानिर्वासनं पापं हन्तमविधेयं विहितम् । सा शतशः सुपरीक्षितपथा,
इन्दुमुखी सीता, मा विना (एवाश्रितो) वने, वत् 'जीवितं किं ध्यास्यति ?
नैव धारयिष्यति । हतेनादुनापापकमदृष्टं वृत्तिना प्राज्ञजनानां मुञ्चानि, कथम्, आलो-
केयं सज्जया पश्येद्यम्' ते वृत्तिन (पारित) मा, किं वदिष्यन्ति किं कथदि-
प्यन्ति ? । यदर्थं नयैतदुद्दिष्टं नन्दे राज्यं, पुनः, रसातलं यानुं किन्वितुं । अहं
प्राणितुमत्र परं जीवितुं, न कामते तच्छामि दुःखदुर्बोधैरघाज्जीवनाम्बरणस्मैश्च
श्रेयस्त्वादित्यथ ।

इह 'पापं'मित्यादिना व्यज्यमानाया मने, 'हतेने'त्यादिना व्यज्यमानाया स्ववि-
पयकामूपाया, 'सीताऽपि'त्यादिना व्यज्यमानस्य विषादस्य, 'मे'त्यनेन व्यज्यमानाया
मृते, 'मामिन्दुमुखा'त्यादिना व्यज्यमानस्य वितकस्य, 'आलोकेये'त्यादिना व्यज्य-
मानाया शोकाया, 'रि न' इत्यादिना व्यज्यमानाया रादुःखाया, 'राज्यं'मित्यादिना
व्यज्यमानस्य निर्वेदस्य च मानस्य शब्दत्वमेव महाबाहवयज्जैवैरुक्तिरचमत्पारजन-
प्रतीतिविषयव्यवमनीत्यर्थः ।

उदाहरणम् इति— सीता उवाच वत् वने किं जीवितं कथं ध्यास्यति । इति राम उवाच किं मया
दुष्टेन हतेन मया हतेन विहितं । इति सीता उवाच सीताऽपि यद्यापिता । इति राम उवाच
सा मामिन्दुमुखी विना वत् वने किं जीवितं ध्यास्यति । इति सीता उवाच आलोकेयं कथं
भूयानि वृत्तिः । इति राम उवाच किं नैवदिप्यन्ति मा । इति सीता उवाच राज्यं यत्तु रसातलं
पुनरिदं । इति राम उवाच न प्राणितुं कामये ॥ इति राम उवाच उपमाद्वयति ।

उदाहरणम् इति— सीता उवाच वत् वने किं जीवितं कथं ध्यास्यति । इति राम उवाच किं मया
दुष्टेन हतेन मया हतेन विहितं । इति सीता उवाच सीताऽपि यद्यापिता । इति राम उवाच
सा मामिन्दुमुखी विना वत् वने किं जीवितं ध्यास्यति । इति सीता उवाच आलोकेयं कथं
भूयानि वृत्तिः । इति राम उवाच किं नैवदिप्यन्ति मा । इति सीता उवाच राज्यं यत्तु रसातलं
पुनरिदं । इति राम उवाच न प्राणितुं कामये ॥ इति राम उवाच उपमाद्वयति ।

काव्यप्रकाशव्याख्याख्यातृकृत भावशबलत्वलक्षणमुपन्यस्य निरस्यति—

यत्तु काव्यप्रकाशटीकाकारं—'उत्तरोत्तरेण भावेन पूवपूर्वभावोपमर्दः शबलता' इत्यभ्यधीयत तन्न, 'पश्यत् कश्चिच्चल चपलरे । का त्वराऽह कुमारी, हस्तालम्ब वितर, हहहा । व्युत्क्रम कासि यासि ।' इत्यन शङ्खाऽमूया-धृति-स्मृति-श्रम-दैन्य-मत्यौ-सुख्यानामुपमदलेशशून्यत्वेऽपि शबलताया राजस्तु-तिगुणत्वेन पञ्चमोपलक्षे मूलकृतेव निरूपणात् ।

'इत्य पृथ्वीपरिवृह । मन्वद्विद्विपोऽरण्यवृते कन्वा कश्चिन् फनक्सिलयान्वाद्-ददानाऽभिद्यते ॥' इति काव्यप्रकाशोद्धृतपद्यस्यान्तिम चरणद्वयम् । तत्र 'पश्येत् कश्चिदित्यनेन शङ्खायः, 'चल चपल रे इत्यनेनासूयाया का त्वरा इत्यनेन धृते, 'अह कुमारी' इत्यनेन स्मृते, 'हस्तालम्ब वितर इत्यनेन श्रमस्य 'हहा इत्यनेन दैन्यस्य, 'व्युत्क्रम' इत्यनेन मते, 'कासि यासि इत्यनेनीसुखस्य च भावस्य व्यज्यमानतया व्यामिश्रणाद् भावशबलताया वर्षनीयराजविषयकरतिभावेऽङ्गतया भावशबलतालङ्कार ।

तत्र काव्यप्रकाशव्याख्याकारेण भावशबलता लक्षणा-उत्तरोत्तरेण-उत्तरोत्तर-मन्विष्यक्तिविषयण भावेन पूवपूर्वमन्विष्यक्तस्य भावस्य, उपमर्दोऽभिभव शबलत्वम्' इति यदुक्तम्, तदसङ्गतम् यतस्तन्मते बाध्यबाधकभावापन्नानामेव भावानामुपमर्दस्य सम्भवे शबलताया स्वीकारे पश्येत् कश्चिदित्यादावुदासीनानामेव शङ्खादिभावाना व्यामिश्रणाच्छबलताया कथ्यराजरातिभावाङ्गतया भावशबलता शङ्खारोदाहरणत्वेन काव्यप्रकाशपञ्चमोपलक्षे गुणीभूतव्यङ्ग्योदाहरणप्रसङ्ग नैव यदुन्निवृत्त, तद्विरुद्ध स्यात् शङ्खादिभावाना मिथो बाध्यबाधकत्वाभावात् । स्यानामपि भावाना व्यामिश्रण शबलत्वमिति, सम्भवे तु न कोऽपि तद्विरोध इति मन्प्रतिभूला टीका-कृतुक्तिर्होषैत्यानूनम् ।

काव्य प्रकाश के टीकाकार ने जो यह लिखा है कि अधिम-अधिम-अर न पूर्व पूव भाव के उपमर्द (दबा दिये जाने) का नाम, शबलता है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि पश्यत् कश्चिच्चल चपलरे इत्यादि पद्य में पश्येत् 'पश्येत् कश्चित्' चल चपल रे' का त्वरा, अह कुमारी इत्यादि पद्य में 'हहहा', 'व्युत्क्रम' और 'कासि यासि' इन वाक्यांशों से क्रमशः अधिम-अधिम-अर शब्दों का धृति स्मृति, श्रम, दैन्य, मति और भी सुख इत आँ कें मिश्रण का उदाहरण है । पश्येत् कश्चित् विषयक स्मृति-अर्थात् कविनिष्ठ राजविषयक उन्निवृत्त भाव का अर्थ है 'अह कुमारी' अर्थात् भावशबलता धरति यहाँ नहीं बहला मन्वी-अर्थात् धरति यहाँ कविनिष्ठ भाव की 'अह कुमारी' ने अलङ्कार है यह कथा मूलकार-अर्थात् न ही पद्यम उल्लाम म गुणीभूतव्यङ्ग्य उदाहरण प्रसङ्ग पर नहीं है । तात्पर्य यह कि यदि टीकाकारों ने अनुपम उदाहरण भाव में पूव-पूव भाव के उदाहरण का उदाहरण माना जाय, तब पूर्वोक्त रत्नि में 'भावशबलता यदा राम्नुते का अर्थ है 'यदा राम्नुते का कथन अन्वय हो जाय, क्यों कि उक्त भाव एक दूसरे का एक भाव भी उदाहरण नही करे, अतः उनके हिमाय में दहा उदाहरण ठीक ही नहीं, फिर उभय अर्थ होना कौन सम्भव हो सकेगा ? पश्येत् कश्चित् के काल में ही विरुद्ध होने के कारण टीकाकार का उक्त कथन सर्वथा अमान्य है

नन्वात्मविशेषगुणानां स्वोत्तरविशेषगुणवाच्यत्वस्य ताविवैरङ्गीकरणाच्चित्तवृत्ति-
विशेषाणां भावानामिच्छादिबलात्मविशेषगुणत्वादुत्तरोत्तरभावस्य पूर्वपूर्वभावाभिवाच-
कत्वेन 'परये' दित्वादावपि शब्दादीनां मिथस्तादस्त्वस्याभावादेवकालिकामिथ्यक्य-
सम्भवाच्च न च शबलत्व स्यादिति भूतविरोधस्तुत्य एवेति शब्दा निराकरोति—

स्वोत्तरविशेषगुणेन जायमानस्तु नाशो न व्यङ्ग्यः, नवोपमर्दपदवाच्यः,
नापि चमत्कारो ।

निर्यत्तितमाह—

तस्मात्—

'नारिकेलजन-क्षीर-सिता-कदलमिश्रणे ।

विरक्षणो यथाऽऽस्वादो-भावानां सृष्टौ तथा ॥'

भादरान्यादिष्वनिचतुष्टयस्य भावध्वनिता व्यवस्थापर्यायि—

अत्रेदं बोध्यम्—

य एते भावशान्त्युदयमन्विशबलताध्वनय उदाहृता, तेषुपि भावध्वनय
एव, निर्यमानतत्रा चर्च्यमाणत्वाच्च, उत्पत्त्यवच्छिन्नत्व-विनश्यदवस्थत्व-सन्धी-
यमानत्वपरस्परसामानाधिकरणत्वं प्रकारंभ्रञ्च्यमाणेषु भावेष्वेव प्राधान्यस्यौ-
चित्यात्, चमत्कृतेस्तत्रैव विश्रान्तः ।

न तुल्य, शब्दादीनामात्मविशेषगुणत्वेन स्वोत्तरविशेषगुणजन्यनाशस्य व्यङ्ग्या-
वृत्त्यबोध्यत्वाद् विलक्षणसुयोगार्थकोपमर्दपदवाच्यत्वाभावाच्चमत्कारजनकत्वविरहाच्च
भावराजत्वरूपतासम्भवात्, तथा च त्वन्मत एव भूतविरोध इत्याशयः ।

नारिकेलजलस्य, क्षीरस्य दुग्धस्य, सितायां श्वेतधर्मायां, कदमस्य रम्भा-
फलस्य च मिश्रणे मिथः मयोत्रे, यद्येन वस्तुना बल्वन्तरास्वादम्योपमर्दो न श्रियते,
किन्वात्वादावैतलस्यमेव विधीयते, तथैव भावानां ध्वननरूपरसहृतावपि नोपमर्दं
चित्वात्वादावैतलस्यमेवेत्यर्थः ।

यदि अत्र कहे कि विरक्तवृत्ति रूप भावों का निरादिहो के सिद्धान्त के अनुसार इच्छा यदि
विशेष गुणों में समावेश होता है और 'अन्यवृत्ति विशेष गुणों का स्मरण' विशेष गुणों से नाश
ही जाया जाता है' यह नियम है, अतः पूर्व अत्र का नाश हुये बिना उत्तर भाव ही उत्पत्ति ही हो
नहीं सकती, तो मैं कहूंगा कि उक्त सिद्धान्त अपनी अगह पर ठीक है, परन्तु यहाँ हमने काम नहीं
लिया था सकता, क्योंकि अग्रिम विशेष गुण से होनेवाला पूर्व गुण का नाश अग्रिम नहीं हो सकता
अर्थात् अग्रिमवृत्ति से अग्रिम शोध होना सम्भव नहीं, यदि हम नाश को अग्रिम मान ही लिया अत्र,
तो टीकाकार के 'अमर्द' पद का यह वाच्य नहीं होता, क्योंकि अमर्द पद का वाच्य विरक्तता संयोग
है, यदि अग्रिम उक्त नाश को अमर्द पद का वाच्य भी मान लें, तो हम नाश में कोई अमर्द
नहीं है, अतः यह अग्रिमवृत्ति रूप नहीं हो सकता ।

अतः यह अमर्द शब्दों के कि अर्थ नारिकेल के अत्र, दूध, पीनी और बेटी के मिश्रण में उत्पन्न
स्वाद अमर्द ही अमर्द है, यही अमर्द भावों के सिद्धान्त में भी होता है । अतः अत्र कि—पूर्वोक्त
नारिकेल के अत्र, दूध यदि मिलने पर एक दूसरे का स्वाद नष्ट नहीं करता, किन्तु सब मिश्रण,
अमर्द स्वाद एतत् दूध, एक नया स्वाद भी उत्पन्न कर देता है, यही अमर्द भाव भी अमर्द अमर्द
अमर्द अमर्द अमर्द दूध एक नया अमर्द भी उत्पन्न कर देता है ।

यद्यप्युत्पत्ति-विनाश-सन्धि-शबलताना तत्सम्बन्धिना भावाना च समानाया चर्चणाविययताया, न प्राधान्य विनिगन्तु शक्यते, तथापि स्थितौ भावेपु प्रधानताया क्लृप्तत्वाद् भावशान्त्यादिष्वपि तेष्वेव शान्तिप्रतियोगित्वादिभिर्व्यंज्यमानेषु तस्या कल्पयितुमोचित्यान् ।

एते भावशान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलताध्वनयो वेदोदाहृता, ते सर्वेऽपि भावध्वनय एव बांढव्या, यतो विद्यमानावस्थापन्नत्वेनास्व मानेषु भावेपु यथा भावानामेव धर्मितया प्राधान्य न तु धर्मस्य विद्यमानावस्थापन्नत्वस्य तथैव भावोदय-वभावुत्पत्त्यवस्थापन्नत्वेन, भावशान्तिध्वनौ विनश्यदवस्थापन्नत्वेन भावसन्धिध्वनौ सन्धीयमानावस्थापन्नत्वेन, भावशबलताध्वनौ परस्परसमानाधिकरणावस्थापन्नत्वेन च विशेषणीभूतधर्म प्रकारैरास्वाद्यमाने भावेषु धर्मिणा भावानामेव प्राधान्य, न तूत्पत्त्याद्यवस्थापन्नत्वादिधर्मिणाम् प्राधान्यमुचितम यतश्चमरकारमूलकमेव प्राधान्य निर्णीतमिति भावानामेव प्राधान्यमित्याशयः ।

विनिगन्तु विधारयितुम् । इह भावशान्त्युदयोपादानक्रमविपर्ययमूल चिन्त्यम् । स्थितौ विद्यमानावस्थापन्नत्वावशिष्टभावध्वनौ । तदु भावेपु । शान्त प्रतियोगिता सम्बन्धिता वैशिष्ट्यमिति यावत् । उत्पत्त्याद्यवस्थाविशिष्टाना भावानामवस्थादे भावानामेव प्राधान्य, न तूत्परवाद्यवस्थावमिति विधारण यद्यपि दुष्करम्, तथापि 'एकत्र निर्णीतं चास्त्रायोऽपरत्रापि सन्दरति' इति रीत्या भावध्वनौ विद्यमानावस्थाया भावस्य कैकास्वाद्यविययत्वेऽपि चमत्कारानुभावाद्भावस्यैव प्राधान्य यथाऽवधार्यते, तथैवोदयावस्था-प्रधान्यवस्था-सन्धीयमानावस्था-समानाधिकरणावस्थामि सहान्येकास्वाद्यविययत्वे भावानामेव प्राधान्यमुचितत्वादवधारणीयमित्यभिप्रायः ।

अब भाव-शान्ति आदि ध्वनियों भी भाव-ध्वनियों ही हैं, अपरिच्छिन्न नहीं, इन स्वकीय सिद्धान्त की व्यवस्था करत हैं—'अत्रेद् बोध्यम्' इत्यादि । वे जो ऊपर भाव-शान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाव-शबलता की ध्वनियों उदाहरणों के द्वारा दिखलाइ गई हैं, वे भी भाव-ध्वनियों ही हैं । कारण यह—कि जहाँ भाव, हम-समा भावध्वनियों मानत हैं अर्थात् भावों का आस्वादन करने हैं, वहाँ भी तो भावों की एक अवस्था-विद्यमानता रहनी है, फिर भी बिना तरह वहाँ भावों का ही प्राधान्य माना जाता है, उन विद्यमानता अवस्था का नहीं, उनी तरह जहाँ भाव शान्ति आदि की ध्वनियों मानत हैं, वहाँ भी यही मानना चाहिए कि किन्तु होने हुए, उत्पन्न होत हुए, एक हमारे से उत्पन्न हुए और एक साथ रहत हुए भावों का ही आस्वादन होता है, उन वहाँ भी भावों का ही प्राधान्य है, उन विनाश, उत्पत्ति, सन्धि, शबलता (मिश्रण) रूप अवस्थाओं का नहीं, क्योंकि चमत्कार का विश्राम भाव का चञ्चला (आस्त'द) में ही जाकर होता है केवल अवस्था मात्र में नहीं, और साहित्य में प्राधान्य की चमत्कार-मूलक माना गया है ।

यदि उत्पत्ति, विनाश, सन्धि और शबलता का तथा इन अवस्थाओं से सम्बन्ध रखनेवाले भावों का-दोनों का-आस्वादन समान रूप में होता है-अर्थात् भाव और ध्वनी वे अवस्थाओं समान रूप से आस्वादन (चर्चा) के विषय होत हैं, उन कौन प्रधान है और कौन अग्रधान-अर्थात् भावप्रधान है या उनकी वक्त अवस्थाओं यह निर्णय होना असम्भव है, तथापि जब स्थिति (विद्यमानता) की

अन्यथाऽनुपपन्न्यापि तत्र भावप्राधान्य निर्धारयति—

किञ्च यदि भावशान्तसादो भावो न प्रधानम्, किन्तु तदुपसर्जनकशान्त्या-
दिरिवेद्यभ्युपेयने, तदा व्यज्यमानभावेऽपि निहिततत्प्रथमादिषु वाच्येषु भावप्रथ-
मादिष्वनित्वं न स्यात् ।

तदेवोपपादयन्नादौ तादृश भावश्च निमुदाहरति—

तथा हि—

यदि तावत्त वचंयति—

‘उपसि प्रतिपक्षनायिका-सदनादन्तिकमञ्चति प्रिये ।

मुदृशो नयनाब्जकोशयोरुदियाय त्वरयाऽरुणद्युति ॥’

अत्र काव्येऽनपेक्षमावस्योदयो पक्षप्युत्पूर्वकेणैषा तुलाऽभिहितः, किन्त्वमपेक्षमावो
अङ्गप एवेति मन्वायेकामपेक्षमावोदयश्च निमित्तपदेशः, मन्वन्ते तूदयस्यैव प्रधानरूप
वाच्यत्वात् स न स्यादित्याह—

अत्रोत्पूर्वकेर्पनिना भावोदयस्य वाच्यतयैव प्रत्यायनात् ।

स भाव उपसर्जनप्रधान यत्र, स तदुपसर्जनक । यदिति भावशान्त्यादिष्वनो
शान्त्यादेरेव, ननु भावस्य प्राधान्य स्वीयते, तर्हि यत्र काव्येषु भावस्य व्यङ्ग्यता,
शान्त्यादस्य वाच्यता, तत्र भावशान्त्यादिष्वनित्वव्यवहारो भवति भावप्राधान्यात्,
मन्वन्ति शान्त्यादेरेव प्राधान्याभ्युपगमे स नैव श्यात्, शान्त्यादेरेवाव्यवत्वात्, तस्माद्भा-
वप्राधान्यमप्युपेयमित्याशयः ।

उपसि प्रमाने, प्रिये वस्तुभे, प्रतिपक्षनायिकासदनात् मपत्नीगृहात्, अन्तिक
मनीषम् अन्तःप्रागच्छति सति, मुदृशो नादिकाया, नयनाब्जकोशयोरुदियाय त्वरयाऽरुण-
द्युति, मरुद्युतिरमपेक्षया रुक्यान्ति त्वरया इति उदियायोप्यह इत्यर्थः ।

आह— भावो वा ही-न कि भाव्या ही-प्रधानता एतद्वत् ही चुकी है, तब भाव-शान्ति आदि
न भा शान्तिरिदि-न आदि रूप में अर्थान् शान्तिरिदि-न, तस्मादिति-न, और शरणा-
पे-न न कल्प अन्तिक होने वाले उपसर्जनो की ही प्रधानता मन्वन्ति उचित है, क्योंकि ‘रुक्म
ये न कल्प’ बाधकभाव-प्रकारण मन्वन्ति अर्थात् ‘एव जगह निर्णय किया गया किन्तु, किमी
नम बाध के न रहने पर, दूसरी जगह भी मन्वन्ति उचित है’ यह सिद्धान्त है ।

एतद्वत् ही चुकी है कि भावशान्ति आदि में भाव प्रधान नहीं है, अपि तु ही ही—मन्वन्ति
मन्वन्ति अर्थात् मन्वन्ति है । प्रधान है किन्तु किन्तु रूप से वहाँ भाव रहने है, तब ही भावशान्ति
रुक्म और मन्वन्ति शान्ति आदि अर्थार्थे वाच्य रहने है, वहाँ ही के शान्ति में मन्वन्ति आदि
न मन्वन्ति नहीं हो मन्वन्ति ।

एतद्वत् ही चुकी मन्वन्ति में वदता है कि-नर विद्वत् एव कल्प में शान्तिरिदि-न आदि
मन्वन्ति) + पर में मन्वन्ति पर मन्वन्ति, तब सुन्दर कल्पशाली आदि मन्वन्ति मन्वन्ति मन्वन्ति में ही
मन्वन्ति मन्वन्ति ही मन्वन्ति ।

एतद्वत् ही चुकी ही मन्वन्ति मन्वन्ति मन्वन्ति ही चुकी ही मन्वन्ति मन्वन्ति ही चुकी ही मन्वन्ति
मन्वन्ति ही चुकी ही मन्वन्ति मन्वन्ति ही चुकी ही मन्वन्ति मन्वन्ति ही चुकी ही मन्वन्ति ही चुकी ही मन्वन्ति

अप्रधानप्रयुक्तामेव व्यवहारोपपत्तिमाशङ्क्य निराकरोति—

(ननु) उदयस्य वाच्यत्वेऽपि भावस्थावाच्यत्वाद् ध्वनित्वं सुस्थमिति चेत्, प्रधानस्य व्यपदेशानौपयिकत्वेऽप्रधानकृतव्यपदेशस्थानुपपत्तौ ।

स्वमतेऽनुपपत्त्यभावं दर्शयति—

अस्मिन्मते तूत्पत्तेर्वाच्यत्वेऽप्युत्पत्त्यवच्छिन्नामर्षस्य प्रधानस्यावाच्यत्वाद् युक्त एव भावोदयध्वनिव्यपदेशः ।

भावप्राधान्यान्युपगमे भावशान्तिध्वनित्वानुपपत्तिमपि दर्शयति—

एव व्यज्यमानभावप्रतियोगिकस्य प्रथमस्य वाच्यत्वे भावशान्तिध्वनित्वं न स्यात् ।

तदुदाहरति—

यथा—

मानिन्या अमर्षभावशान्तिं वर्णयति—

‘क्षमापणैकपदयोः, पदयोः पतति प्रिये ।

शामु’ सरोजनयना—नयनास्नकान्तयः ॥’

औपयिकत्व प्रयोजकत्वम् ।

ननुदयोऽत्र यद्यपि वाच्य, किन्त्वमर्षो भावस्तु व्यङ्ग्य एवास्तीति तमादादेव भावध्वनिव्यवहार उपपद्येतेति शङ्कामाम्, ‘प्रघावेन व्यपदेशा भवन्ति’ इति सिद्धान्तेन प्रधानस्योदयस्य वाच्यत्वेन ध्वनित्वाप्रयोजकत्वेऽप्रधानस्यामर्षभावस्य व्यङ्ग्यत्वापि प्राधान्याभावाद् ध्वनित्वप्रयोजकत्वाम्भवादिनि समाधानम् ।

भावस्यैव तत्र प्राधान्यमन्युपगच्छन्नामस्माकं मते स्वच्छेदकनयाऽप्रधानस्योदयस्य वाच्यत्वेऽपि, प्रधानस्य व्यङ्ग्यत्वेन ध्वनित्वमुपपत्त्येवेत्याकृतम् ।

एव भावोदयवद् व्यज्यमानो भाव प्रतियोगी यस्य तादृशस्य प्रथमस्य भावशान्तेः । यत्र काव्ये भावो व्यङ्ग्यत्वं लच्छान्तिस्तु वाच्योऽस्ति, तत्र भावशान्तिध्वनिव्यवहारो भवति, स इदानीं न स्यात्, त्वन्मते प्रधानीभूताया शान्तेर्वाच्यत्वादिति सारम् ।

प्रिये दयिते, क्षमापणस्य स्वकृतापराधमर्षणस्य, एकपदयोरन्तारागस्थानयोः,

यदि आप कहें कि उद्य के वाच्य हो जाने पर भी अमर्षभाव तो वाच्य नहीं होता, अतः यहाँ अमर्षभावोदय का ध्वनि मानने में कोई बाधा नहीं, तो यह भी सत्य नहीं, क्योंकि आके हिसाब से तो भावोदय आदि ध्वनिमय में उदय यदि ही प्रधान होने हैं, अतः अब प्रधान (उदय) ही वाच्य हो जाने के कारण ध्वनि उदय से व्यवहृत होने योग्य नहीं रहा, अब अप्रधान (अमर्षभाव) प्रयुक्त ध्वनि का व्यवहार करना समुचित नहीं ।

हाँ ! हमारे मन को अनुपपत्ति दूर करने के लिए अमर्ष-ध्वनि का व्यवहार करना ही सही है, क्योंकि हम भावोदय आदि में भी भाव ही प्रधान मानते हैं, उदय आदि को नहीं, अतः अप्रधान उदय के वाच्य हो जाने पर भी प्रधान भाव (अमर्ष) के वाच्य नहीं—व्यवहृत होने के कारण भावोदय-ध्वनि मानने में कोई बाधा नहीं होती है ।

इसी तरह आपके मन में अज्ञान (नाश) का प्रतियोगी—अर्थात् जिसकी शान्ति वर्णनीय है, वह भावव्यवहार है और शान्ति वाच्य है, वहाँ भावशान्ति को ध्वनि नहीं होगी ।

दान्यादिप्राधान्यवादी पुनश्चद्वेते—

ननु शब्दवाच्यानां प्रशमादीनामरुणकान्त्यैवान्वयादरुणकान्तिप्रशमादेरेव वाच्यत्व पर्यवसितम्, न तु तादृशप्रशमादिव्यङ्ग्यस्य रोपप्रशमादे, व्यङ्ग्यव्यञ्जकभेदस्यावश्यकत्वात् ।

स्वरूपप्रसदाख्यापितवान्तरदाङ्गा विधाय निरस्यन्ति—

न चारुण्यव्यङ्ग्यभरोपस्यैव वाच्यीभूतप्रशमाचन्वय इति वाच्यम्, वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योरानुपूर्व्येण सिद्धतया, वाच्यान्वयबोधवेलाया वाच्यं सह व्यङ्ग्यधान्वयानुपपत्तेः ।

पदयोश्चरणयो, पतति तति, सरोजनयनाया पद्याशया नयनयोरमर्षजनिता, अरुणकान्तयोरस्तद्युतय, श्रेयुविनेशुरित्यर्थं । अत्र नेत्रारुणकान्तिसान्निपात्यमर्षमावो व्यङ्ग्य, तच्छान्तिस्तु वाच्येति भावशान्तिध्वनित्व सिद्धम्, इदानीं भावप्राधान्यान्भ्युपगमे शान्तेर्वाच्यत्वान्तर सिध्येत्, तस्माद्भावस्यैव प्राधान्यगम्भुपेयमित्याशयः । इह क्षमतरादन्तात्प्राधान्यान् पुनो टीलम्ब्यन क्षमापणपदमाद्या नामघातुप्रतिपत्त्या कथञ्चन विधेयम् ।

नन्यत्र शेषु-रिति पदेन वाच्योपि शान्तिर्यतोऽरुणकार्त्यैवावेति, तस्मादरुणकार्त्यान्तिशान्तिरेवापि वाच्या नत्वरुणकान्तिसान्तिव्यङ्ग्या रोपणपामर्षशान्तिरपि, व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जक (वाच्य) स्य च पृथक्ताया आवश्यकत्वाद्भावशान्तिध्वनित्वेन विमपि न बाधयामिति पूपात्तात्पर्यम् ।

आनुपूर्व्यं चम् ।

ननु 'शेषु' रित्येतत्पदामिहिताया शान्ते, वाच्यया मयनारुणकार्त्या, व्यञ्जमानेन रोपेण (अमर्षेण) सहैवाच्य इति भावशान्तेर्वाच्यत्वात् पुनरपि ध्वनित्वमिह दुर्घटमेवेत्याशेषस्य, वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्यो वाच्यकारणभावात् नमित्त्वस्यावश्यकतया

शेष—एक सती दूसरी सती से बहती है वि-क्षमा करवाने से एक (मर्ष प्रपन्न) स्थान चरणों पर पति के गिरने ही सुरक्षित के समान नयनवादी मादिका के नयनों का अरुण कान्तिदा शान्त हो गई । वहाँ शान्ति के साथ शान्ति पर भी उस शान्ति का प्रतिबन्धी अमर्षभार नेत्रजन अरुणकान्ति के कारण रूप से व्यङ्ग्य है, अतः वहाँ भावशान्ति ध्वनि होती है, अर्थात् दिवाक म वह नहीं होगी ।

यदि आप कहें कि भावशान्तिरूप्य में शान्ति अर्थात् ही ही प्रपन्न मयन पर ही, उपरि प्रीतिप्रपन्न ' इत्यदि तथा ' एतन्मर्षः... ' इत्यदि पदों में अमर्षशान्ति- ध्वनि मयनी या सखी है, क्योंकि—एक दोनो पदों में जो उदय और शान्ति वाच्य है, उन्वा अन्य अरुणकान्ति और अरुणकान्ति के साथ है, अतः अरुणकान्ति का उदय तथा अरुणकान्ति ही शान्ति मर्ष ही वाच्य है अथवा, परन्तु प्रथम पद म अरुणकान्ति के उदय से अरुणकान्ति होने के कारण अमर्षभार का उदय तथा शान्ति में अरुणकान्ति ही शान्ति मर्ष अर्थात् ही होने के कारण अमर्षभार का उदय तथा शान्ति में अरुणकान्ति ही शान्ति वाच्य नहीं होने । कारण, अथवा अरुणकान्ति (वाच्य) पृथक्-पृथक् ही है—एक मानना आवश्यक है । तत्पर्यं यह कि अरुणकान्ति में उदय और अरुणकान्ति ही शान्ति वाच्य होने पर या अमर्ष का उदय और रोप (अमर्ष) ही शान्ति अथवा ही रहे, क्योंकि अरुणकान्ति का उदय और अरुणकान्ति ही शान्ति अथवा है और अमर्ष-उदय तथा अमर्षशान्ति ही अथवा ।

उक्त समर्थयति—

अन्यथा 'सुदृशो नयनाब्जकोणयो' इत्यस्यान्वयो न स्यात् ।

उत्तरयति—

मैवम् ।

भावप्राधान्यसमर्थनायापत्तिप्रवृत्तक स्यलान्तरमाचष्टे—

एवमपि—

अननुनयेऽपि मानापगम वर्णयन्ति—

'निर्वासयन्ती धृतिमङ्गनाना, शोभा हरेरेणदृशो घयन्त्याः ।

चिरापराधस्मृतिमासलोऽपि, रोप' क्षणप्राधुणिको वभूव ॥'

योगपथासम्भवाद् व्यङ्ग्यस्य रोपस्यात्र वाच्यया शान्त्या सह वाच्यार्थबोधानसरे व्यङ्ग्यार्थानुपस्थितेरन्वयासम्भवाद् व्यङ्ग्यरोपस्य वाच्यशान्त्याऽन्वयभावत्वाद् भाव-
शान्तिध्वनित्व स्यादेवेति समाधानम् ।

अन्यथा वाच्यव्यङ्ग्यधोरपि निधोऽन्वयाङ्गीकारे, 'सुदृश' इत्यादी वाच्यस्य नायिकायाः सुदृशत्वस्य नयनारणकत्वपुद्गलव्यवस्थेन रोपोदयेन सहात्म्यो वाधितत्वात् स्यात्, तस्मान्तनु शब्दारब्धाभावप्राधान्यनिरसनशङ्का मूर्खवेत्याशयः ।

एव 'क्षमे'—स्याद्युदाहरणे वाच्यव्यङ्ग्यधोरन्वयाभावानुपपत्तिविरहाद् भावस्य भावशान्त्यादावप्राधान्य, मा नैवेत्यर्थः ।

उक्तोदाहरणयोरनुपपत्त्यभावेऽपि ।

यदि हम कहें कि—वाच्य नयनालम्कान्ति से व्याप्य होने वाले अमर्ष का ही वाच्य उदय तथा शान्ति ॥ साथ अन्य है—अर्थात् हम व्यङ्ग्य वा ॥ वाच्य के साथ अन्य मान लेते हैं, तात्पर्य यह कि इस तरह मान लेने पर भावोदय तथा भावशान्ति में वाच्यता ही जादगी, तो भाव कहेंगे, यह ब्युक्त है । क्योंकि वह जानी हुई बात है कि पहले वाच्य की प्रतीति (जो कारण) होती है, फिर व्यङ्ग्य की (जो कार्य है), अतः यह मानना पड़ेगा कि—जिस समय वाच्यों का अन्य होता है, उस समय व्यङ्ग्य उपस्थित ही नहीं हो सकता, फिर बताइये वाच्यों के भाव व्यङ्ग्यों का अन्य कैसा ?

यदि वाच्य और व्यङ्ग्य का अन्य मान लिया जाय, तब 'उपसि' इत्यादि प्रथम पद्य में 'दुन्दर नयनवाही नायिका के नेत्र कमलों के कोने में' यह जो अधिकृत कारक है, उसका अन्य नहीं हो सकेगा, क्योंकि अधिकृत कारक वा कर्ता अथवा कर्म के द्वारा हो किया में अन्य होता है और यहाँ तक रीति से 'उदियाव' इस क्रिया का कर्ता मान लिया गया व्यङ्ग्य अमर्ष, वाच्य अरण्युति नहीं, फिर कहिये, कैसे उस अमर्ष रस कर्ता में तथा उसके द्वारा उदय क्रिया में तक अधिकृत का अन्य होगा—अर्थात् अमर्ष—धित की धृति है, नयन में वह आवेग कहाँ से ? पटल' उक्त पद्य में अनन्वितार्थक—अधगत—हो आगता, अतः वाच्यशान्ति आदि का अरुणकान्ति आदि के साथ ही अन्य मानना ठीक है, मारांश यह कि इन पद्यों में भावशान्ति आदि वाच्य नहीं हो सकते । और अब वह वाच्य नहीं होगी, तब भावशान्ति आदि वाच्य नहीं हो सकते । और अब वह वाच्य नहीं होगी, तब भावशान्ति आदि वाच्यध्वनियों में भावों को अप्रधानता और उ नि आदि को ही प्रधानता मान लेने पर भी कोई दोष नहीं होगा ।

पर ऐसा नहीं कह सकते—अर्थात् भावशान्ति आदि को ध्वनियों में भावों को अप्रधानता और शान्ति आदि की प्रधानता नहीं मान सकते ।

क्योंकि उक्त दोनों श्लोकों में उक्त रीति से किसी तरह की अनुपपत्ति नहीं होने पर भी ।—

भाषति प्रतिपादयति—

इत्यादावपि भावप्रशमध्वनित्वापत्ते, भावस्य वाच्यत्वेऽपि प्रधानस्य तत्प्रशमस्य व्यङ्ग्यत्वात् ।

तत्रैव पुनराशङ्क्य समाधत्ते—

उभयोरप्यवाच्यत्वमपेक्षितमिति चेत्, प्रागुक्तपद्यद्वय शमत्वोदयत्वाभ्यां शमोदययोर्वाच्यत्वादानुदाहरणत्वापत्ते ।

तु मा भूत तदुदाहरणद्वये ध्वनित्वमित्यत आह—

दृष्टापत्तिस्तु महद्दयानामनुचितैव ।

अङ्गनाना गोपनितम्बिनीना धृति धैर्यं, निर्वासयन्ती हूर गमयन्ती हरगोविन्दस्य, शोभा श्रिय धयत्या नयनाभ्या विबन्त्या, एणदन्ती मृगास्य मानिन्या विरापरा-
घस्मृत्या दीघकालवृतापराधस्मरणन मासस्य पुष्टोऽपि रापोऽस्य क्षणप्रापुणिकोऽवि-
रत्याव्यतिषिबभूवत्यथ ।

अनुनयानादेऽपि हरितोभेक्षणाक्षितचित्ता सा सद्यः प्रमसादति सारम् ।

निर्वासयन्ती मित्यादिपद्योऽपि भावाप्राधान्यवादिमत्त भावातिध्वनित्वमापद्येत्,
रूपभावस्याप्रधानस्य वाच्यत्वमपि प्रधानीभूतायास्तच्छात क्षणप्रापुणिकीमवतव्यत्वात्-
तायाः सङ्कावान् । भावप्राधान्यवादिनो तु रापस्य वाच्यत्वात्तत्र तत्त्वापत्ति-
रिति भावः ।

भावस्य तच्छान्त्यादेः वाच्यत्वाभाव एव भावशास्त्र्यादिध्वनित्वमिति स्वीकार
तु 'निर्वासयन्ती मित्यादी भावस्य वाच्यत्वादापत्तिवारण स्यादिति न वाच्यम यत्-
स्तथा स्वीकारे उपतीत्यादी 'शमे'रयादी च त्रमणोदयस्य शान्त्ये वाच्यत्वाद् ध्वनि-
त्वमिष्टमपि नोपपद्यत इति तात्पर्यम् ।

एक सती हूरी मन्त्री स बहनी इ कि—छिबो क धैर्यं का निरासिन बरना दुद अद्यु निकाल
वैतनी दुई मगनाम् मृगाकञ्ज की रोमा को जमी मानिनी मृगाक्षी न विद्या—गान्तर दय, तमी
बहुन दिनों तक लगातार दिवे गये अग्रधी न स्वरस्य से हरिपुत्र बना दुःख या रोष (भयर्ष) पर
क्षी भर का महान्त हो गया—नहीं टहर सरा ।

इतः श्लोक में अर्थ के मत से आक्षेपानि की ध्वनि हो जायगी, कारण यह कि अर्थ के हिसाब
से अर्थजनसार (रोष-अमर्ष) के वाच्य होने पर भी प्रथम ध्वनि वाच्य नहीं, अपितु 'द्वन्द्व-
श्रिय' अर्थ 'हृ-मर' व महान्त पर से स्पष्ट ही है ।

बहि अर्थ यह कि प्रधान और अर्थजन दोनों की अशास्त्र्या-अर्थ्य अङ्गना अश्रिय इ तात्पर्य
यह कि यहाँ मात्र और तन्त्र दानि आदि दोनों ही व्यङ्ग्य रहें, यद्यपि अश्रिय का ध्वनि
मार्गेण, अत उक्त वचन में 'न' के व्यङ्ग्य रहने पर भी मात्र (रोष) के वाच्य होने जाने में मात्र-
दानि-अश्रिय की अश्रिय नहीं है अन्वये, तब से कहना है कि मात्र तन्त्र दोनों पर यहाँ त-
अर्थ्य का शान्त हो जायगा तब तु पूर्वोक्त दोनों वली (श्रिय अर्थ्य और अश्रिय-
द्वन्द्व) में तन्त्रमय अर्थ्य (फिर यह अमर्ष का ही अर्थ अश्रियिक) और हूरी तन्त्र अश्रिय
है म अश्रिय (फिर यह रोष भी हो पाए अश्रियिक) वाच्य है अर्थ्य, अतः वचन दोनों
परिसे व अश्रिय नहीं हो सकेगा ।

निगमयति—

तस्माद्भावप्रशमादिष्वपि प्राधान्येन भावानामेव चमत्कारित्वम् प्रशमादेस्तूपमर्जनत्वम्, अतो न तस्य वाच्यतादोषः ।

नन्वेव वैलक्षण्यमावाह्याने भावध्वनेर्भावशान्त्यादिभ्यः पृथगुपादानस्य निष्प्रयोजनकत्वापत्तिरतो वैलक्षण्यं प्रदर्शयति—

इदं पुनर्भावध्वनिभ्यो भावशान्त्यादिध्वनीनां चमत्कारवैलक्षण्ये निदानम्— यदेकत्र चर्वणाया भावेषु स्थित्यवच्छिन्नामर्षादित्वम्, अमर्षादित्वमेव वा प्रकारः, अन्यत्र तु प्रशमावस्थात्वादिरपीति ।

साहित्ये सहृदयानुभवस्यैव प्रधानप्रामाण्याङ्गीकरात् सहृदयैः स दोषोऽनुभवविरोधान् सोढुं न शक्यत इत्यभिप्रेक्ष्य ।

अपिशब्दो भावस्थितिमगुच्चायकः ।

तस्माद् यथा भावस्थितौ भावानामेव प्राधान्यं स्थितेस्त्वप्राधान्यं, तथैव भावशान्त्यादिष्वपि भावानामेव प्राधान्यं, शान्त्यादेस्त्वप्राधान्यं स्वीकार्यम् । तथाचाप्रधानाता शान्त्यादीनां वाच्यत्वं न ध्वनित्वमपि विघटकमिति सारम् ।

भावध्वनेर्भावस्थितिध्वनेश्चैकरूपतया पृथगुपादानस्याभावो बोध्यः ।

निदानं मूलम् । एकत्र शुद्धभावध्वनिषु । स्थित्यवच्छिन्नत्वं स्थितिविशिष्टत्वम् । अमर्षस्यैवात्र प्रकृतत्वादुल्लेखः । विशेषणस्याव्यावर्तकतया विशेष्यमात्रस्य चमत्कारकत्वाद् 'अमर्षादित्वमेव वा' इति द्वितीयकारपोपादानम् । अन्यत्र भावशान्त्यादिध्वनिषु । इतिनिदानसमाप्तिसूचकः ।

भावध्वनिषु स्थित्यवस्थापन्नत्वविशिष्टस्यामर्षादित्वस्य, वस्तुतः केवलामर्षादित्वस्य प्रकारतयाऽमर्षादित्वप्रकारकचर्वणैः, चमत्कारिणो, भावशान्त्यादिध्वनिषु तु प्रशाम्यदवस्थापन्नत्वादिविशिष्टामर्षादित्वस्य प्रकारतया प्रशाम्यदवस्थापन्नत्वादिविशिष्टामर्षादित्वप्रकारकचर्वणायाश्चमत्कारित्वमिति चमत्कारकचर्वणाया भावध्वनिध्वन्यैवादिनाऽमर्षादीनामेव मानम्, भावशान्त्यादिध्वनिषु तु प्रशाम्यदवस्थापन्नत्वादिविशिष्टाशान्त्यवस्थापन्नत्वादिनाऽमर्षादीनां मानमित्येष विशेष इत्यभिप्रायः ।

उक्तं ज पति का स्वाकार वर राजा-कह देना-कि हम ही इन्हें भावीद्वय और भावशान्ति का धनिया मानन है नहीं, सहृदयों के लिए अनुचित है—अर्थात् साहित्य जगत में अनुभवनिष्ठ वचन का अन्वयण कम से कम सहृदयों को नहीं करना चाहिये ।

अन्य यह सिद्ध होता है कि भावशान्ति आदि की ध्वनिषु में भी भाव ही प्रधान रहन है और चमत्कारी भी, शान्ति आदि तो उपमर्जेन अर्थात् गौण ही रहते हैं, अथवा शान्ति आदि का वाच्य ही जाना भी कोई दोष नहीं, माराश यह कि शान्ति आदि के वाच्य ही जाने पर भी यदि भावशान्ति नहीं होगे—अथवा होते रहेंगे, तब भावशान्त्यादि की ध्वनिया माना जा सकता है ।

अब यहाँ यह शब्दा उपस्थित होती हैं कि यदि अन्तरात् से भावध्वनि और भावशान्त्यादि ध्वनि में समानता सिद्ध कर देन है—अर्थात् उन दोनों में कोई वैलक्षण्य नहीं मानते, तब भावध्वनि = पृथक् भावशान्त्यादि ध्वनि का अन्वयण व्यर्थ है, इस शब्दा के उत्तर में अन्वयण उक्त समानता के रहन

तु मावसान्यादिषु रसचान्त्यादीना निरूपणं तुल्यो न कृतमित्यत आह-
रसस्य तु स्याद्विभूतकत्वान् प्रथमादेरसम्भवः, सम्भवे वा न चमत्कार इति
ए न विचार्यते ।

अथ 'उपपादमित्यने च स्याद्यादीनामपि सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम्' इति प्राग्
प्रतिज्ञाना रसादीना सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वतामपि व्यवस्थापयति—
सोऽयं निगदित सर्वोऽपि रसादित्क्षणो व्यङ्ग्यप्रपञ्चः स्फुटप्रकरणे, भगिति

रसाना अहमूढन्यायेनाधारतया भूतभूतेषु स्याद्विभावेषु प्रसाम्यदन्त्यादिमन्त्र
नक्षत्रेषु तेषा स्थायित्वत्वेन विमोपप्रसङ्गात् नदवस्थासम्बन्धे मन्त्रकनि, यदित्वमि-
धकनेरन्धिरत्परादिद्वयसाम्यदायवचनवायेव रवेज्वरौष्य भौणो रमनाभ्यादिव्यवहार
सम्भवात्पुञ्जने, तथा ननञ्चमत्कारो न स्याद, आरोपस्य चमत्काराजनकत्वात्,
तस्माद्रमनान्वाहयो न निम्नोऽन्य इत्यर्थः ।

पर भी मन दोनों में सिद्ध तरह के वैकल्पिक का प्रतिपादन करने हैं—'इदं पुन' इत्यादि । अथ
कानिचो को अनेक आरम्भकविशेषितो के समकार (आशय) में विनयनना है और मम रिक्त-
हाना का कारण यह है कि आरम्भकियों में यहाँ को चरित्र (आशय) स्थितिक एक का-प-
सिद्धि अर्थ आदि के रूप में होती है और आशयान्यादि धारिणों में स्थलिक से शानि, उदर
आदि अनेक आशयविहित भावों आदि यहाँ को चरित्र होती है, अन्तर ही आरम्भकियों में नरक
अर्थ आदि के रूप में हो यहाँ को चरित्र होती है यहाँ कलावा बाहिये, क्योंकि उहाँ स्थितिक
अश्या को जेहना अर्थ है कारण यह कि विद्वेक किलो मन्त्रतोव के कारण के त्रिदे लगाव जाना
है—जैसे 'रवेन अह' यहाँ रवेन-विद्वेक एवम अत्र के कारण के हिये जाना है—यहाँ तो
'विन्द्यामन्त्र' इन विद्वेका ने किमी का कारण कही लेता, क्योंकि आरम्भकियों में मनी भाव
विन्द्यामन्त्र रहने है । अथिवा यह कुछ कि आरम्भकियों में होने काले चरित्र में केरत यहाँ
(अन्तरिक) का ही मल होता है मम मन्त्रम चमत्कार सुद यथाभ्याद अन्य आशयदस्य
परमनिदं कुछ, और आरम्भकविशेषितो में होकेवाली चरित्र में शानि-उदर आदि मन्त्रा हीन
अन्तरिक भावों का भाव होता है, मम मन्त्रम चमत्कार शानि-उदर आदि मन्त्रि भावत्पादनम
आशय रूप कथित होता है । एत शब्द में ही यह सकते हैं कि कल्पे आश के आशय है । एतत्र
होने कले और वसे आम के आशय से उत्पन्न होने काले आशयो में वस्तु के दृक होने पर भी
येका अन्तर है, उँक मीना ही अन्तर सुद यथाभ्यादस्य और आशयमन्त्रा पहिल आशयदस्य
चमत्कार में है ।

मम मन के जैसे एकी के भी उदर शानि आदि की कानिचो काले नहीं होती इतना विचार
करने है—'रसस्य तु' इत्यादि । अथिवा यह है कि एकी को उदर-शानि आदि अन्तरिक नहीं ही
कहनी, क्योंकि उन्मत् मूढ में स्थलीमन्त्र, और यदि उन्मत् ही कल्पित मन्त्र-शानि आदि अवस्थाने
होने छाती, मम ही उन्मत् स्थानिक ही नष्ट हो जाय, आदि में अन्तरिक 'सर्व' न्याय में उन्मत्
कला रहना ही तो उन्मत् स्थानिक है, यदि यहाँ न रहे, मम उन्मत् और आशय भावों में उदर ही
कला (इत्यं) यदि कहे कि स्थलीमन्त्र के सिद्ध एकी पर भी काले अन्तरिक तो मन्त्र रहनेवाली
और नहीं है, मम उन्मत् कल्पि-विनाश ही हो सकते हैं, फिर कभी कल्पि-विद्वेक को इतने
काले कहे गीत उन्मत् आदि का व्यवहार ही मन्त्रा है, मम उन्मत् उन्मत् यह है कि आरोप
अन्तरिक नहीं होता, अन्तरिक होने के कारण हो उन्मत् आदि की कानिचो नहीं जानी
रही है ।

प्रतीतेषु विभावानुभावव्यभिचारिषु, सहृदयतमेन प्रमात्रा, सूक्ष्मेणैव समयेन प्रतीयत इति हेतुहेतुमतो. पौर्वापर्यक्रमस्यालक्षणादलक्ष्यक्रमो व्यर्पदिश्यते । यत्र तु विचारवेद्यं प्रकरणम्, उन्नेया वा विभावादयमत्र सामग्रीविलम्बाधीनं चमत्कृतेर्मान्यर्यमिति सलक्ष्यक्रमोऽप्येष भवति ।

‘देव स्थल पश्यति—

थया—

‘तल्पगताऽपि च मुतनु’ इति प्रागुदाहने पद्ये सम्प्रति इत्येतदर्थान्वगति-
विलम्बेन ।

हेतुहेतुमतो कारणकार्ययोर्व्यभिचारिणादि-पञ्चधरमादिप्रतीत्यो पौर्वापर्यं पूर्वा-
पर्याभाव । अलक्षणमज्ञानम् मान्यर्यं विलम्ब । निवृत्तितो रमनिरपणादेतत्पर्यन्त
निरपित सर्वोऽप्यय रस्यादिलक्षणो व्यङ्ग्यप्रपञ्चो व्यङ्ग्यसमुदाय , प्रकरणे प्रसङ्गे,
स्पृष्ट स्पष्टवेद्ये सति, अत एव विभावानुभाव-व्यभिचारिभावेषु अगि यत्रिलम्बेन प्रतीतेषु
जातेषु ससु, सहृदयतमेनातिमावकेन, प्रमात्राऽऽश्वादर्कपुण्येण, सूक्ष्मेणाल्पिच्छेनैव
सायैव, प्रतीयत आस्वाद्यत इति वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीतिक्रमस्य श्रव्येण सम्यगलक्षणा-
दलक्ष्यक्रमान्यङ्ग्य इति व्यवहार । यत्र पुन प्रकरणमभ्युत्तया विचारेण वेद्यम्
कश्चित् प्रहरणस्य स्पृष्टत्वेऽपि विभावादय उन्नेया अनुन्वाद्दूरीया एव मन्ति, तत्र
व्यकरणस्य प्रकरणविभावादिप्रत्ययस्य विलम्बेन, कार्यस्य रमादिप्रत्ययस्य विलम्ब
जीपपत्तिक एवेति क्वचित्साद्वास्यले रसादि-प्रतीते सगन्धक्रमत्वस्यापि व्यवहार
यादाय ।

एतत्प्रथमपदस्य सम्प्रतीतिपदस्य ‘प्राह्नवोटात्वेन तस्या सङ्घोषोऽन्यविष
भासीत्, अथुना प्रियप्रवासपूर्वरजन्या तु सङ्काचोऽपि सकुचित इवामू’ दित्यादेरर्थस्या-
गम पूर्वापरसन्दर्भाधानुसन्धानादेव सम्य इति व्यङ्ग्यमन्य रतिभावस्य सगन्धक्रम-
नैवेति भाव ।

‘उदाहरिष्ये च श्वाद्यदोनामपि सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम्’ अर्थात् ‘व्याधीभाव आदि-रम भाव
आदि-भो सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होत है, इस बात का उदाहरण अगे कहेंगा’ इस तरह की प्रतिष्ठा
ग्रन्थकार से पहले को आ चुकी है, तदनुसार रमादेवों की सलक्ष्यक्रमता की व्यवस्था करने हैं—
‘सोऽप्यम्’ इत्यादि, यह जो पूर्वोक्त रस-भाव आदि व्यङ्ग्यों का समुदाय है, यह जहाँ प्रकरण स्पष्ट
हो, वहाँ विभाव, अनुभाव और सञ्चारभाव की प्रतीति शोभ हो जाने से अन्तिमपद पुर्यों को बटुन
ही थोड़े समय में प्रतीत हो जाता है अत अनुभवकर्ता महदव को कारण और कार्य को पूर्वपरता
का क्रम स्पष्ट नहीं होता, इसलिये यह (रमभावादि) अलक्ष्यक्रम कहा जाता है । परन्तु जहाँ
प्रकरण विचार करने के बाद समझने योग्य हो और जहाँ प्रकरण के स्पष्ट रहने पर भी विभाव आदि
का वर्णन न होने के कारण छह कला पड़े, वहाँ सामग्रीमन्धान के विलम्ब प्रयुक्त चमत्कार में
भी कुछ मन्परता व्य जाता है—अत वैसी जगह में रमभाव आदि तक व्यङ्ग्यों का समूह सलक्ष्यक्रम
भी होता है ।

जैसे—‘तल्पगताऽपि च मुतनु’ इत्यादि उदाहरण पद्य में ‘मन्थने’ पद का अर्थ विलम्ब
से प्राप्त होता है—अर्थात् ‘पहले जन्तोटा होने के जाने नाशिका में स्कोच नो माया अधिक थी,

ननु रसादीनामसन्ध्यप्रमव्यङ्गजनाया सावंत्रिकी प्रसिद्धिरेतावता विन्ध्यती-
त्यत आह—

न खलु घर्मिग्राहकमानसिद्ध रत्यादिध्वनेरलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम् ।

उक्त समयपरि—

अत एव रक्ष्यक्रमप्रसङ्गे—

विवाहवार्ताश्रवणसलज्जपावंतीवृत्त वर्णयनि—

'एववादिनि देवर्षी, पार्श्वे पितुरघामुखी ।

श्लोकाकमल्पप्राणि, गणयामास पावती ॥' इति ।

येन प्रमाणेन घर्मिण विद्धिर्मवनि, तद्धर्मिग्राहक मानमुच्यते, तच्छान रसादी
सहृदपहृदयानुभव एव ।

रसादिध्वनेरसन्ध्यप्रमव्यङ्ग्यपमात्रत्वस्य ज्ञापक घर्मिग्राहक यदि किमपि मान-
मुपलभ्येत, तर्हि तदवश्यमनिच्छताऽप्यभ्युपेय स्यात्, तस्यानुपलम्भे तु सलक्ष्यप्रमव्य-
ङ्ग्यत्वस्यापि स्वीकारे न किमपि बाधनमित्याशय ।

कुमारसम्भवप्रसंगपट्टक पद्यमिदम्, पार्श्वतीविवाहनिर्णयपय हिमवदलिक सिधेन
प्रहितोऽङ्गिरा हिमवन्त यदा तद्वृत्तमतिश्रवन्तात्वालिक्स्थितिवर्णनपरम् ।

देवर्षीर्वाङ्गारि, एववादिनि प्राट्निदिष्टसिधसन्देश वदति सति, पितुर्हिमावतस्य
पार्श्वे पार्श्वममीप भिन्या पावंती, अधोमुखी कुमारीजवमुलमस्वविवाहवृत्तश्रवणजल-
पजया नतानता, नीनाकमलस्य स्वहस्तस्थितपद्यस्य, पत्राणि दलानि,
गणयामासेत्यर्थ ।

परन्तु अब विषयमन का पूर्वाभि में आकी विराह के खान के कारण वह मनुज कुछ शिथिल पद गया,
इत्यादि अर्थ की प्रतीति प्रकरण के विचार कर लेने के बाद हो होती है। अब यहाँ गङ्गाधरम
संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही है ।

रिणि आदि की प्रति की अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता घर्मिग्राहक मान से सिद्ध नहीं है—अर्थात् अलक्ष्य-
क्रमव्यङ्ग्यपनात्म धर्म का धर्म (आशय) जो रम आदि है, समका ग्राहक (उमको मिद करदेवाला)
मान (प्रमाण) सद्द्रव्यो का अनुभव है, समने उनकी अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता सिद्ध नहीं होगी, तात्पर्य
यह है कि सद्द्रव्यो का अनुभव यह नहीं कहना कि रमादि अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही हो, वही वही
संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप में जो रमादिको का अनुभव सद्द्रव्यमन करने है ।

निमित्तिरे रसाधर आदि का प्रतिषा ना संलक्ष्यक्रम होगी है, अब दर एवममो के प्रमत्त मे
'एववादिनि देवर्षी ' इत्यादि पद्य की आनन्दवर्षनचार्य ने धन्वालेक मे उद्घरण रूप मे
उद्धृत किया है। यह पद्य कुमारसम्भव का है। इसका पूर्व प्रमत्त तथा अर्थ यह है—पार्वती का
अधोमुख्य हो प्रमत्त कर शिष्टा ने एव एवमे के रूप में करिष्ठार करने का करण दिष्ट,
मदननर एकराणि के निर्वर्षी विराह ने अत्रिग श्रुति को पार्वती को मंगनी के लिये हिमालय
के पाम भेजा। उस देवर्षी या हिमालय मे पार्वती ने विराह सम्बन्धी बाने कर रहे थे, तब का वात
कवि यह रहा है कि—एवधि जब इस तरह बाने करने लगे, तब विना के काम बैठा हुई पार्वती गणना
मुग करके गोलने के लिये रंगे दुबे कदमों ने दने को गिनने लगी ।

उपपादयति—

‘अत्र कुमारीस्वाभाव्यादप्यधोमुसत्वविशिष्टस्य लीलाकमलपत्रगणनस्यो-
पपत्या मनाविलम्बेन नारदकृतविवाहादिप्रसङ्गविज्ञानोत्तर व्रीडायाश्चमत्कार-
णालक्ष्यक्रमोऽयं ध्वनिः’ इति प्राहुरानन्दवर्धनाचार्या । रसभावादिरथो ध्वन्य-
मान एव, न वाच्य, तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः ।’ इति चाभिनवगुप्त-
पादाचार्याः ।

रसादीना मलक्ष्यक्रमत्वाङ्गीकारे दोषमाशङ्कते—

स्यादेतत्—

यद्यपि रसादि सलक्ष्यक्रमस्य विषय स्यात्,—अनुरणनभेदगणनप्रस्तावे
‘अर्थशक्तिमूलस्य द्वादश भेदा’ इत्यभिनवगुप्तोक्तिः, तेनायं द्वादशात्मकः
इति मम्मटोक्तिश्च न सङ्गच्छेत, वस्त्वलङ्कारात्मना द्विविधे वाच्येन
स्वतस्मम्भवित्त्व—कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्व—कविनिबद्धवस्तुप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वैस्ति—

देवर्षिरहाङ्गिरा न तु नारद ‘अयाङ्गिरसमग्रगण्यमुदाहरणवस्तुषु । ऋषयो नोद-
यामासु, प्रसुवाच स भूधरम् ।’ इत्यनेन तत्राप्येन तत्र पूर्वेषु षष्ठेन, देवर्षाङ्गिरसि
इति मल्लिनाथवृत्तद्विवरणेन च तस्यैवावधारणात्, विवाहवर्षायां शिवप्रहितेषुऽपि
नारदस्यानुल्लेखाच्च । अत्र हि पावंत्या वदनममन लीलाकमलवर्णनं च कुमारीस्व-
भावादि सन्नवतीति न सटित्येव तद्व्यापारद्वयं लज्जाया भावयोपनरूपावहित्याय
वा व्यञ्जने क्षमम्, किन्तु इदं व्यापारद्वयमस्या स्वाभाविकम्, उत भवान्तरप्रयुक्तम्
इति जिज्ञासायां विवाहवृत्तान्तवर्णनात्मकप्रकरणपर्यालोचनया किञ्चिद्विलम्बेनेऽपि
लज्जाञ्जलित्या वा व्यभिचारिभावोऽत्र सलक्ष्यक्रमव्यञ्जय एव, क्रमस्य स्फुटं प्रतीय-
मानत्वादित्मानन्दवर्धनाचार्योक्तिरपि रसादीनां क्वचित् सलक्ष्यक्रमव्यञ्जयनाया प्रमा-
णम् । तथा ‘रसभावादिरथो रसादिरूपं पदार्थं (यद्यपि) ध्वन्यमानो व्यज्यमान
एवास्ति, न तु वाच्य, तथापि (व्यज्यमानत्वेऽपि) स सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्यैव न
विषयः, (किन्त्वस्फुटे प्रकरणादो) क्वचित् सलक्ष्यक्रमस्यापि विषयः’ इति लोचन-
अभिनवगुप्ताचार्योक्तिरपीह प्रमाणमिति सारम् ।

उक्त पद्य की रचना करने के बाद आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है कि—रहां जो पार्वती वा
अयोधुष होकर लीला—कमल—पत्र—गिनने की बात वर्णित है, यह तो बालिकाजन—सुनभ—स्वभाव व
कारण भी हो सकती है, जन्म गुरु गुरु में लज्जा की प्रतीति नहीं होती, किन्तु जब ‘अङ्गिरावृषि
की हिमालय से पार्वती के विवाह का बात हो रही थी’ इस प्रसंग का ज्ञान कुछ नितम्ब से होता है
तब लज्जा शब्दकी है जन्म लज्जा रूप सञ्चारीभाव यहाँ सलक्ष्यक्रमव्यञ्जय है । यद्यपि मूल में ‘देवर्षि’
पद का अर्थ नारद मान कर व्याख्या की गई है, परन्तु उक्त पद्य के पूर्व अन्वये द्रुपे कुमारमन्त्र के पद्य
और मल्लिनाथ की टीका के देखने से अङ्गिरा ही देवर्षिपद का अर्थ सयन प्रणीत होता है । अभिनव
गुप्ताचार्य (ध्वन्यलोक की टीका लोचन के निर्माण) का भी यह कथन है कि ‘रसभाव आदि रसार्थ
व्यञ्जन ही होते हैं, वाच्य नहीं, तथापि सभी रस भाव आदि अर्थलक्ष्यक्रमव्यञ्जय के लक्षण नहीं होने
अर्थात् वे सलक्ष्यक्रम भी होते हैं ।’

भिरुपाधिभिर्न विच्यमाणनेन पडात्मना वस्त्वल्ङ्कारयोरिव रसादेरप्यभिव्यञ्जनादष्टादशत्वप्रसङ्गान् ।

समाहपाति—

अनोच्यते—

प्रवर्तविभावानुभावव्यभिचारिभिरलक्ष्यक्रमतयैव व्यज्यमानो रत्यादिः स्यादिति भावा रसीभवति, न मलक्ष्यक्रमतया । रसोभावो हि नाम भ्रमिति जायमानालोकिवचमत्कारविषयस्यायित्वम् । मलक्ष्यक्रमतया व्यज्यमानस्य रत्यादेस्तु वस्तुमायनैव न रसादित्वमिति तेषामाशयस्य वणनन न तदुत्तीना विगत ।

रसादीना मलयत्रमतव यदि स्वीक्रियत तर्हि सलक्ष्यक्रमस्य वस्तुत्पस्यालङ्कारत्वस्य च ध्वन्युपास्य व्यञ्जरा यो वाच्यार्थो वस्तुत्पुोऽङ्काररूपत्वेति द्विविध, नस्य स्यात्सम्भ्रमदिवन कविप्रोडोक्तिनिष्पन्नत्वेन कविनिबद्धवस्तुप्रोडोक्तिनिष्पन्नत्वेन च प्रकृत्या प्रत्यङ्क वैविध्यान पटप्रकारा वस्तुध्वनय पटप्रकाराश्चालङ्कारध्वनय - नि भिन्ना द्वाऽङ्गप्रकारा मलक्ष्यक्रमा अर्थवस्तुपुन्यध्वनयो यया भवन्ति तयैवेदानीं रसादिव्यनशादि पडविप्रवाच्यव्यङ्ग्यपनया पडविषयान्तोऽशिका स्यु, तयाच मङ्गलतादणदाविषयै मलयत्रमतध्वनयसंज्ञाकल्पयुक्तस्य अतिनवगुताचार्यमम्मटमट्ट-श्लोकम द्वादाविषय प्रवाराधिक्याद् विदुः स्यात्, तस्माद्दसादीना सलक्ष्यक्रमता नाङ्गीकर्तव्येति भाव ।

अवच्छेदापनैवकारण न मलयत्रमतयेति लभ्यत । रसीभरत्यरसो रस सम्पद्यत । शक्तिनि जायमानस्यालोकिवचमत्कारस्य विषय कारणत्वेन तोचर स्यादी स्यापिभावो यस्य च नादुत्पत्तस्य नावस्तवम् । तयामतिनवगुनादीनामाशयस्य वर्णनन चाग्यातन । प्रवर्त स्तुप्रतीजमानैविभावादिभिः, अलक्ष्यक्रमतयैव (नतु तल हरवमत्वेन) व्यज्यमाना रत्यादि स्यादिति भावो रसीभरत्योरपि लोकोत्तरत्वमत्या-रजनवत्वेन रस सम्पद्यत यता शक्तिनिजायमाना लोकिवचमत्कारविषयत्वादित्वमेव रसीभावोऽस्ति, विभावादीनामस्तुत्वेन सलक्ष्यक्रमतया व्यज्यमानस्तु रत्यादितं रस-

अथ रसो एक बहुन वदो ष्ट्या यह होती है कि यदि रसमय अदि क भी मलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य मयन है, तो मलक्ष्यक्रमध्वनियों को जानना करना मयव को 'अर्थवस्तुपुन्यध्वनिय के कारण भेद है' यह अतिनवगुन को और 'इस तरह अर्थवस्तुपुन्यध्वनिय कारण अंतर के है' यह मयमट को लखि रैने सलक्ष्य ध्वनी, स्वीदि, व्यञ्जक अर्थ व दो भेद है—एक वस्तुत्पत्त और दूसरा अलङ्काररूप और उन दोनों भेदों में से एक के सम्भ्रममता (अर्थवस्तुमयार में मिष्ट मङ्गले वणो) कविप्रोडोक्ति-मिष्ट (अर्थवस्तु कविप्रोडोक्ति ध्वनमय म मिष्ट) और शक्तिनिबद्धवस्तुप्रोडोक्तिमिष्ट (अर्थवस्तु के अलङ्कार वस्तु को प्रोडोक्ति मय में मिष्ट) इन दोनों मयन, लक्षियों म मयन मयन भेद जाने हैं, इस तरह म व्यञ्जकाव्य अर्थ व अलक्ष्य क हो जाते हैं, उनमें व्यङ्ग्य व भी वस्तु अलङ्कार दोनों वान है, अलक्ष्य कारण भेद हीन व, अथ लो वस्तु अलङ्कार के जैसे रस अदि भी छो व्यञ्जको से व्यञ्जक होत, फिर अर्थवस्तुमय लक्ष्य ध्वनियों के भेद कारण को अलक्ष्य कारण हो जायेगी ।

सवत्रासलक्ष्यमत्वन प्रमिद्धस्य रत्यादेरिहोक्तमलस्यत्रमत्व वयमुपपद्यता वत्या
सद्भाषामाह—
उपपत्तिस्त्वर्थेऽस्मिन् विचारणीया ।

स्तादृशचमत्कारजननत्वाभावात् किन्तु वस्तुमात्र केवल व्यङ्ग्यवस्तु भवनाभ्ययमवा
र्थोऽस्मिन्वगुप्तादीना तात्पर्यविषयो वक्ष्यते चेत् तर्हि सलक्ष्यक्रमस्य रत्याद रसत्वाभावात्
दस्त्वन्तर्मावाच्च वस्तुध्वनिप्रकारैरेवंतत्प्रकाराणामपि तावतया न प्रकाराधिक्यप्र
यक्त पूर्वाचायमतविरोध इत्याशय ।

रत्यादीना सलक्ष्यक्रममाया रसादित्वस्यैवामावात् रसादिप्रकाराधिक्यप्रयक्त
प्राचीनोक्तिविरोध इति सारम् ।

अत्र रत्यादीना सलक्ष्यक्रमत्वस्य स्वीकारेऽर्थे उपपत्ति सद्भाषितसु विचारणाया
सहृदयैश्चिन्तनीयेत्यर्थः ।

तथा चाहुनागगभृदा — विभावादिप्रताते रसप्रगान्ध मूकमकानान्तरम्बरूपस्य
क्रमस्य सहृदयनाकलनन, तस्य विगलितवद्यान्तरत्वानापत्या रसत्वमङ्गापत्ति । विग
लितवेद्यान्तरत्व च भवत्सहृदयानुभवमाश्लिषमिति तत्रापि सम्मनमान नदुपपत्ति
शोधा । नव्यास्तु — वक्तृवैशिष्ट्यप्रकरणदिज्ञानसहितम्बैव व्यङ्ग्यवान तत्पश्चिन्विना
वादिज्ञानोत्तर जायमानरसप्रतीतेविभावादिनानापत्या विद्यमानरमालक्षणत चालभ्य
क्रमत्वम् । तच्च प्रकरणादिज्ञानविलम्बन विभावादिज्ञानविलम्बजपि पूर्वोदाहरणम्भन
मेव नहि विभावादिज्ञानस्य तज्जनकस्य च क्रममादायालक्ष्यक्रमत्वम् अपि तज्ज
न्यस्य, एतदेवामिप्रत्य अघाक्तिमूलस्य द्वादशभेदा इत्यभिनवगुमासिमित्किञ्चिद्वा
ध्यायापेक्षया क्रमापि गह्यत् इत्यमिप्रत्य लक्ष्यक्रमत्वोक्तियथाकवञ्चित्रया नहि विभा
वादिप्रतीतिरहितस्यन्किञ्चिद्वाध्यायमात्रप्रतीती विगलितवद्यान्तरना सहृदयान्भवमा
श्लिका । येन तत्क्रमग्रहणसि रसत्वहानि म्यादित्याह ।

एतद् शङ्का वा उत्तर यह है कि 'नो रति आदि स्थायीभाव म्भ्य प्रपन्न हाने वात् विभाव, अनु
भाव और अभिचारीभावों के द्वारा अनलक्ष्यक्रम के रूप न व्यक्त होता है, वा एत रूप होता है
और जो रत्यादि सलक्ष्यक्रम के रूप न अनलक्ष्य हाना है वह रसरूप नहीं होगा । क्योंकि रसत्व
होने का अर्थ ही यह है कि वायव्य रु हाने वात् अतीविक वनत्कार का शीघ्र कारणम्भ से म्यादा
भाव विषय बन जाय—अर्थात् स्थायीभाव के अनुभव से होने वात् अहद का प्राप्त होना हा स्था
भाव का रम हाना कहलाता है । इस तरह से यह निश्च दुष्ण कि सलक्ष्यक्रम = रूप न अनि न होने
वाला स्थायीभाव (रति आदि) रम विंग रूप नहीं होता किन्तु वस्तुमात्र रहता है' म्भे इस तरह
मे अभिनवगुप्त आदि व अभिप्राय का लक्षण कर दिया जाय, तब उक्त आशय नहा होनी तात्पर्य यह
कि इस तरह से अनल अभिप्राय का बानि का देने पर अर्थशक्तिमूल ध्वनियों के बारह भेद है
इत्यादि लक्ष्यों का विरोध नहीं होता, क्योंकि सलक्ष्यक्रम के रूप न अनि होनेवात् रति आदि
को वस्तुमात्र मान लन पर वस्तुव्यय के नै ६ भेद होत है, उन्हीं न व भी आ लन है, फिर
तत्प्रयुक्त ६ रुत्वा और न जाने मे उक्त ध्वनियों की सरवा अठारह तक श्रुच करने को कोई
मन्मावना ही नहीं रह जाती ।

अलक्ष्यक्रम रूप से व्यङ्ग्य होने पर ही रत्यादि रस तथा भाव है, अन्वथा वस्तुमात्र इस अर्थ में

ननु रत्यादीनां सत्त्वप्रमत्तायां रसत्याभावो यद्यभिनवगुतादीनामभिमत स्यात्, तर्हि तेन 'रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव' इत्यत्र सत्त्वप्रमत्तरत्यादिनात्पर्येण रसपर-
स्योपादनं न स्यादित्यादाद्यापामभिधत्ते—

'रसभावादिरर्थः' इत्यत्र रसादिशब्दो रत्यादिपरः ।

अभिनवगुतोत्तवाक्यषट्को रसादिशब्दो लक्षणया रत्यादिवोधक एव तन्मतेऽसल
ध्वन्यप्रमत्तायामेव रसत्वस्याहोकारात् । उच्यते प्रकृते न कश्चिद विरोध
इत्यनिसिद्धिः ।

युक्ति कया हो सकती है यह विचारने की बात है । नागेन्द्रादयः यहाँ अपनी टीका में यह युक्ति बनलाने
हैं कि रस आदि को (जिनको अलंकारकमन्वयत्व माना जाता है) सभी अलंकारिक 'विभाषादिशब्-
द'—अर्थात् 'स' (रसादि) शब्द के समान किसी भी अन्य अल्पव्यय पदार्थों का सम्यक् न रसने वाट '
मानने हैं, अतः पण्डितपण को भी यह आन्य होगा । सद्दर्शों का अनुभव भी हमसे मानने में
नाही है । फिर विभाव आदि की प्रतीति और रति आदि की प्रतीति में जो एक दूसरे का अन्तर
होता है, जिसे क्रम कहा जाता है, उसको प्रतीति कहाँ सद्दर्शों को हो जाती है, यहाँ विभाव आदि की
के और रति आदि के पृथक् पृथक् प्रतीति होने के कारण, रति आदि की प्रतीति के समय में भी
विभाव आदि की प्रतीति पृथक् बनी रहेगी और अब यह बनी रहेगी तब विभाषादिशब्दों
रहेगी यह बात स्पष्ट है और भाव ही यह भी स्पष्ट है कि हम हलन् में रसादि रसादि रूप नहीं है
सकता, अतः अलंकारकमन्वय से अन्वय होने पर रसादि अनुभाव है, रसादि कहा यह कथन युक्ति-
योग्य सिद्ध हो जाता है ।

यहाँ आप यह कह सकते हैं कि यदि 'अभिनवगुण' का यह अभिमत होना कि अलंकारकमन्वय
से अन्वय होने पर रति आदि अनुभाव है, रसादि नहीं, तब यह कैसे करन कि 'रसभाव' आदि
अर्थ कथन अन्वय ही होने हैं, कथ्य नहीं, तबकि सभी अलंकारकमन्वय व ही विपर नहीं हैं ।
अर्थात् इस कथन में तो यह सिद्ध हो जाता है कि अलंकारकमन्वय से अन्वय होने वाले रसादि का
भी वे रसादिरूप मानते हैं । इसका उदाहरण यह है कि अभिनवगुण को हम लक्ष्मि में रस और भावपर
रति और अभिधारी भावपरक है अर्थात् रस आदि पर का अर्थ यहाँ रति आदि ही समझना चाहिये ।
नागेन्द्र अहं अपनी टीका में इस मन्त्र पर एक और जरीन बात करन है, जो बहुत मार्मिक तथा गंजन
प्रतीत होती है । उनके कथन का अर्थ यह है कि कोई पर अन्वय अर्थात् कथ्य अन्वय की विभाषा
और प्रमाण आदि का साथ होने पर ही अन्वय होगा है, अतः यह सिद्ध होगा है कि अन्वयिन
विभाव आदि की अन्वय होने के अन्तर रस आदि की प्रतीति होगा है, अतः विभाव आदि के अन्वय
यथा रस आदि का प्रतीति व मन्वय में होनेवाला क्रम (पूर्वदर्शनकार) के अनुश्रुति न होने के कारण
रसादिपरिणत का अलंकारकमन्वय कहा जाता है अतः प्रमाण अन्वय के अन्वय में विभाषा होने से विभाव
आदि के अन्वय में विभाषा का अर्थ, यद्यपि 'अन्वय' इति च श्रुतुं । अन्वयि उपाहरण म
अलंकारकमन्वय से कोई बाधा नहीं होती । क्योंकि विभाव आदि के अन्वय और रस व अन्वय करन का
प्रकार अन्वय के अन्वय से क्रम का अन्वय अलंकारकमन्वय नहीं जानी जाती, अन्वयि विभाव आदि के अन्वय
यथा अन्वय अन्वय होने का अर्थ रस आदि के अन्वय से क्रम का अन्वय नहीं जानी है । अतः इस विभाषा
व अनुभाव— अ अन्वय अन्वय परने के कारण अन्वय होने हैं इस अन्वयि व अन्वय में कोई विभाव
नहीं है, तब ही अभिनवगुण की वह लक्ष्मि, अन्वयि कहा अन्वय है कि अन्वयि में मन्वय अन्वय
अन्वय व अन्वय अन्वय है—अ. = कोई कोई अन्वय का भी विपर होगा है । उपाहरण अन्वय
यथा अन्वय अन्वय कि किसी विभाव—अ. व विभाव अन्वय से अन्वय अन्वय अन्वय के अन्वय और
रसादि व अन्वय अन्वय अन्वय व अन्वय है यदि कोई कि किसी भी अन्वय व अन्वय का अन्वय

कर लेने पर विगलितवेदान्तरता का अभाव उक्त रीति से क्यों नहीं हो जायगा, तो इसका उत्तर यह है कि विभावादि ज्ञान के बिना अन्य किसी वाच्यार्थ के ज्ञान होने पर भी विगलितवेदान्तरता होती है इस बात में सहृदयों का अनुभव गवाही नहीं देता,—अर्थात् विगलितवेदान्तरता वा मूल तन्मयता है और यह तन्मयता रसादि के रूप में परिणत होने वाले विभावादिज्ञान से ही होती है यह बात अनुभवसिद्ध है, अब विभावादि के ज्ञान के बिना अन्य किसी वाच्यार्थ के ज्ञान होने पर विगलित-वेदान्तरता का न होना ही स्वाभाविक है. फिर उसमें रस आदि के रसत्वादि को ज्ञान होने का कोई प्रबन्ध ही नहीं उठ सकता। यही है नागेश्वर की नवीन बात, इसकी प्रामाणिकता पाठक स्वयं समझेंगे। उक्त प्रसङ्ग ऐसा है, जिसमें भिन्न भिन्न वाच्यार्थों के मर्मों का विचित्र तरह से समिश्रण हो गया है, अतः मैं जिज्ञासुजनों की अपाहा का अनुभव करता हुआ उन मर्मों का मक्षेप में कुछ विस्फेपण कर रहा हूँ। पण्डितराज जगन्नाथ (प्रकृत ग्रन्थ के निर्माता) अमलस्यक्रम रहने पर ही, रसादि रसादि हैं और सलक्ष्यक्रम हो जाने पर वस्तुमात्र इस सिद्धान्त को युक्ति-विहीन मानकर रसादि-ध्वनि-ध्वनि को असलक्ष्यक्रम तथा सलक्ष्यक्रम दोनों ही मानते हैं, जिसकी पुष्टि करने के लिये, अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के उदाहरण में 'एव वादिनि ' इत्यादि कुमारसम्भव के पद्य को उद्धृत करने वाले आनन्दवर्धनानाचार्य को और इसी उदाहरण पर ही आनन्द नामक ध्वन्यालोक की टीका में 'ममी ध्वनितमात्र होने वाले रसमावादि अर्थ असलक्ष्यक्रम ही नहीं होते, एतदर्थक वाक्य लिखने वाले अभिनवगुप्तानाचार्य को भी साझी बनाने हैं और युक्ति यह बतलाने हैं कि प्रकरणादि ज्ञान में किम। भी कारण से विलम्ब हो जाने पर रसादि की प्रतीति में भी विलम्ब होगा, अतः वैसे स्थलों पर रस-प्रतीति का क्रम लक्षित हो जायगा। इसके बाद अपने पद्य में-प्रभावरूप से उक्त अभिनवगुप्त के पूर्वोक्तिवित्त वाक्य के अर्थ में उनकी को 'अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बावद् भेद है' इन उक्ति से विरोध दिखला कर इनकी हयने के लिये उनके आशय का बर्णन करने हैं कि वे (अभिनवगुप्त) क्रम को लक्षित हो जाने पर रसादि को वस्तुमात्र मानते हैं—रस नहीं। परन्तु हम आप सब सोचें कि यदि अभिनवगुप्त का उक्त आशय है, तब पण्डितराज के 'रसादि सलक्ष्यक्रम भी हैं' इन सिद्धान्त की पुष्टि उनके मत से कैसे हुई। क्योंकि वे तो सलक्ष्यक्रम मध्य में रसादि को रस मानते ही नहीं, रहा ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन का 'एव वादिनि ' यह उदाहरण, वस्तु विचार करने पर यह भी पण्डितराज के पद्य में साक्षी होने योग्य नहीं अचला, क्योंकि उनके नाम से जिन पद्य-कृतियों (कुमारसम्भवानाम्नात् ' ' इत्यादि) को पण्डितराज उद्धृत करने हैं, वे पद्य-कृतियाँ ध्वन्यालोक में नहीं मिलती हैं, उनके अभिप्राय का बर्णन करते हैं यह भी कहा जा सकता, कारण यह कि मेरे विचार से उनका ऐसा अभिप्राय नहीं, हाँ, हो भी कैसे सकता है, जब कि 'रसभावददामाम-भावशक्त्यादिरकम्'—अर्थात् 'रसभाव आदि अक्षयव्यञ्जक है' लिखकर, वे अपना अभिप्राय (जो पण्डितराजवर्णित अभिप्राय से सर्वथा विरुद्ध है) प्रकट कर चुके हैं। आप कहेंगे—मलक्ष्यक्रम-अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के प्रसङ्ग में 'एव वादिनि ' यह उदाहरण देकर इतना ही उन्होंने अवश्य लिखा है कि 'अत्र हि लोलाकनलप्रगण्यन्मुरमर्णीकृत—स्वरूप शब्दव्यापार विनैवाशयान्तर न्य मचारिभिरलक्षणा प्रकाशयति'—अर्थात् यहाँ लोलाकनलप्रगण्यन्मुरमर्णीकृत अर्थ अपने को गौण बनाकर अभिप्राय की सहायता के बिना ही वाच्य में भिन्न व्यञ्जकाराम्नात् (लक्षणा) रूप अर्थ को प्रकाशित करता है' क्या यह भावध्वनि को मलक्ष्यक्रम मानने में और समान न्याय से अलक्ष्यक्रम ध्वनिमात्र को स्थिति विरोध में मलक्ष्यक्रम मानने में प्रमाण नहीं होता? मैं कहूँगा नहीं, क्योंकि उन्होंने यह नहीं लिखा है कि यहाँ भावध्वनि है। मैं समझता हूँ कि पण्डितराज ने जाने में लज्जा को वस्तुमात्र मानकर उन्होंने भी उमकी ध्वनि कही है, किमवा भवर्ष्यन उनके आगे पीछे के ग्रन्थों में भी होता है। दसिये—जिन कारिका के बाद यह उदाहरण दिया गया है, उनमें आप इन्द्रों में वे लिखते हैं कि 'ध्वन्यालयैष वस्तुवन्द्य न्यनक्त्युक्ति विना स्वतः'—अर्थात् 'ॐ' अर्थ तात्पर्यद्वारा

अथ रसादिध्वनेव्यञ्जकानुपदिशन्नादौ प्राचीनमतमुपन्यस्यति—

तद्विदथ निरूपितस्यास्य रसादिध्वनिप्रपञ्चस्य पद-वर्ण-रचना-वाक्य-
प्रबन्धे पदेकदेशंरवर्णात्मके रसादिभिर्वाभिव्यक्तमामनन्ति ।

शब्द को रसिक के बिना भा सर्व दूसरी (वाच्य से भिन्न) वस्तु—ज कि रसादि को व्यक्त करता है । अत एव अल्हार ध्वनि वा निरूपण 'अर्थरकरलङ्कारो यथाप्यन्य प्रतीयते' इत्यादिसे भाग अलग किया गया है यदि नइ कि एवं वादिनि ' इत्यादि उदाहरण देने के अन्वयहित बाद में जो 'नचाद्यमलदपकमव्यञ्जकध्वने ध्वन निरूप्य ' इत्यादि ग्रन्थ आया है, निम्नका आशय यह है कि एवं वादिनि ' इत्यादि पद्य अन्वयकमव्यञ्जक ध्वनि का ही उल्लेख है यह नहीं कह सकते, क्योंकि अलक्ष्यकमव्यञ्जक ध्वनि का उल्लेख वहाँ होना है, वहाँ उल्लेख के द्वारा सौभित विभवादिषो स साक्षात् रसादि की प्रतीति होती है, इस ग्रन्थ से दो साफ प्रकृतक है कि एवं वादिनि ' इत्यादि पद्य को व सन्देहकमव्यञ्जक अर्थ का ध्वनि का उदाहरण मानते हैं, तो मैं बतूँगा कि ऐसी बात नहीं है इस ग्रन्थ का अभिप्राय यह है कि एवं वादिनि ' इस पद्य में अन्त में महापव के प्रति पार्वता की रति भा तो प्रताप होता है, फिर इस पद्य को रस ध्वनि का ही उदाहरण क्यों नहीं माना इस शब्दा का उच्चार उक्त ग्रन्थ में किया गया है, अत एव आगे आनन्दवर्षेण लिखते है कि इह तु सामर्थ्याधिष्ठयभिव्यक्तिरनुपमरसप्रतीति अथवा वहाँ मध्य में व्यभिचारीभाव (लक्ष्यकम वस्तु) का व्यञ्जक हो जाने से उसने द्वारा रस न अभिव्यक्त होने वाले रस की प्रतीति (लक्ष्यकम) है । यदि लक्ष्यकम भावध्वनि के विषय में उक्त रस सामाधान किये गये होते, तब यह (इह ॥ इत्यादि) वदिक अमंगल हो जाता है अत नि कय यह निकलता है कि पण्डितराज का यहाँ ठीक नहीं है बसकं ठीक न होने से और भा अंगण है । जैसे—पण्डितराज के हिमाव से जब रसादिध्वनि सलक्ष्यकम तथा अलक्ष्यकम दोनों हैं, तब अर्थरक्तिमूलक ध्वनि के अन्तर भेद हो जायेंगे, फिर बारह ही बौधे बदे यह न आपत्ति उन्होंने स्वयं परमत् में दी है, वह अपने मन में क्यों नहीं सोचो ? वे भी तो अर्थरक्तिमूलक ध्वनि के आठ ही भेद माने हैं, उनको तो अपने सिद्धान्त के अनुसार संलक्ष्यकम अलक्ष्यकम रसादि को लक्ष्य वार भेद और मानना चाहिये, यह बात दूसरी है कि ध्वनिनिबद्धरसप्रतीतिरिति नामक वेद का महा मानने के कारण तत्सूत्रक वार भेदों को वे नहीं मानते । रसादि का सलक्ष्यकम अलक्ष्यकम वार भेद मानने को सुक्ति दी है, उसका भी सुन्दर और विद्वानों को दीयत बोध्य लक्ष्यकम नागण ने का िया है, जिससे मैं पूरे में दिखला चुका हूँ । अब यह सम्मत्, व अन्ती समझ का टोच है, क्योंकि व फिर प्रसिद्धि के अनुसार रसादि ध्वनिों का अलक्ष्यकम व्यञ्जक मात्र मानना है, और ऐसा बात नहीं भा उन्होंने नहीं लिखी, जिससे हम मान्यता में विरोध करना है । पण्डितराज न अपने मन से अनुसार अभिनवगुप्त के साम उनका उक्ति में भी विरोध दिखला कर हमने आशय का वाम अत उक्त से हम प्रसन्न पर किये हैं, यह तो निरर्थक ही मान्य वरता है । आशय उक्त ने इस प्रसन्न पर भा उक्त कहा है वह उनको भली थीव है, जिसमें पण्डितराज ने मन या तो उक्त का ही उक्त है साथ-साथ अन्त्यालोचकार के मत में भी यह प्रसन्न उक्त साफ होना है कि यदि व 'एव वादिनि ' इत्यादि पद्य में उन्मत्तक व्यभिचारी को संलक्ष्यकम का जाने से अलक्ष्यकम मात्र मानने व अन्त पण्डितराज के कल्पानुसार लक्ष्यकम मात्र का मानना है का बने ? क्योंकि नामशक रीति से यहाँ भी संलक्ष्यकम नहीं जाती । अभिनवगुप्त का मन भी नागण की रीति से अमंगल ही हो जाय है । क्योंकि नागण ने उनके मन को संगण बनाने का प्रयास किया है, परन्तु यह प्रयास अर्थिनवगुप्त की वृत्ति के सामाधिक स्वार्थ्य ने अनुपलब्ध नहीं मान्य वरता । सम्मत् नागण की वनौथी पर भी खरे बनते हैं, हो मकता है कि नागण ने भी अपने उद्योग में सम्मत् के उद्वेग का ही व्यक्त किया हो ।

ननु रवं चानयादेव रसाद्यमिव्यक्तिदर्शनात् कथमेकस्य तद्धटकपदस्य व्यञ्जक-
तोच्यत—इत्याशङ्का मनसि निघायागिदधाति—

तत्र वाक्यगताना पदाना सर्वेषामपि स्वार्थोपस्थितिद्वारा वाक्यार्थज्ञानो-
पायत्वे समानेऽपि कुर्वद्रूपतया चमत्कारायोगव्यवच्छिन्नत्वेन कस्यचिदेव ध्वनि-
व्यपदेशहेतुत्वम् ।

पदस्य रसव्यञ्जकतामित्य व्यवस्थाप्योदाहरति—

यथा—

‘मन्दमाक्षिपति’ इत्यत्र ‘मन्द’मित्यस्य ।

इत्यनेन निरूपितस्य सञ्ज्ञाणोदाहरणादिमिबिबिचितस्य, अस्य, रसादिष्वने प्रप-
ञ्चस्य समूहस्य, पदे सुनिन्दन्तैरनन्विनैकार्यबोधकप्रयोगाहंवरुपै, वर्णरकाराद्यक्षरै
रक्षनाभिर्बन्धनंपदगुम्फलक्षणामि, वाक्यैर्योग्यताऽऽकाऽऽसाऽऽमत्तिमत्पदकदम्बै, प्रवर्धम-
हावाक्यस्वरूपै, पदैकदशै प्रकृतिप्रत्ययादिरूपपदावयवै, अवर्णात्मकैर्ध्वनिरूपैर्गीत
वाद्यादिमन्बन्धिमी रागै आदिपदग्राह्यामिशेषामिन्न, अभिव्यक्ति शब्दानाम, आग्ननि
प्रतिपाद्यग्नि प्राञ्च इति ज्ञेय ।

उपायत्व कारणत्व प्रयोजनत्व वा । कुर्वद्रूपता विलक्षणशक्तिमत्ता । चमत्कारा
योगव्यवच्छिन्नत्व नियतचमत्कारसाहित्यम् ।

यद्यपि वाक्यावबोधो पदार्थोपस्थिते कारणतया । वाक्यपटकाना सर्वेषामेव
पदाना स्वस्वार्थोपस्थापनन तुल्येव वाक्यावबोधोपयोगिता मयतीत्येकस्य कस्यचिन्
तद्धटकपदस्य रसादिव्यञ्जकत्वासम्भव, किन्तु लक्ष्यपर्यवेक्षणतः क्वचिदेकस्यापि
पदस्य विलक्षणशक्तिमत्तया नियतचमत्कारसाहित्येन रसादिव्यञ्जकताया दशानान
पदानामपि रसादिव्यञ्जकत्वमङ्गीक्रियत इति तात्पर्यम् ।

उत्तमात्मकाव्यत्वेन पूर्वमुदाहृते ‘तल्पगताऽपि च सुतनु’ इत्यादिपदो सर्वेषामेव
पदाना व्यञ्जकत्वे तुल्येऽपि शनै स्वस्थानप्रापणार्थोपस्थापनद्वारा मन्दमापस्य पद-
स्येतरवैलक्षण्येन रनिव्यञ्जकतेति सारम् ।

अत्र उक्तं रम आदि की ध्वनियों का व्यञ्जक क्या क्या हो सकता है, इन विचार के प्रसङ्ग में पहले
प्राधान्य का मन धिरलान है—‘तदित्यम्’ इत्यादि । पूर्वोक्त गीति से निम्न रसादि-ध्वनि-मनु
ना निरूपण किया गया है, उसकी अभिव्यक्ति पदों, वर्णों, रक्षनाओं, वाक्यों, प्रबन्धों (प्रन्धों) और
पद के अर्थों एवं जो अक्षर रूप नहीं है, उन रागादिकों से मानने है—अर्थात् स्पष्टभेद से ये सभी
रसादि ध्वनियों के व्यञ्जक होन है ।

यद्यपि वाक्य के अन्दर मिलने पद रहते हैं, वे सभी अपने अपने अर्थ को दर्शाते हैं, ममान
रूप से ही वाक्यार्थ के ज्ञान का कारण होते हैं, अतः वाक्यार्थ ज्ञानोत्तर होने वाली ध्वनिरी वा
निमित्त (व्यञ्जक) पद समूहमन्क वाक्य ही सिद्ध होता है, अर्थात् एक पद नहीं, फिर ‘परन्तु
इस व्यवहार में क्या युक्ति है ? यह है यहाँ शङ्का, और उत्तर यह है कि शङ्का के उदगदन में वही
गई बातें सही है, तथापि वाक्यव्यवस्था पदों में से कोई एक ही पद कुर्वद्रूप-अर्थात् काम कर जाने वाक्य
(विच्छिन्न शक्तिशाली) बड़ा रहता है, वही वही पद चमत्कारायोगव्यवच्छिन्न-अर्थात् नियतचमत्कार
विशिष्ट होता है, तात्पर्य यह कि और पद ऐसे रहने हैं, जिनमें चमत्कार का योग नियतन नहीं
रहता, अतः वैसी जगह में वह पद ही वाक्य के ध्वनिज्ञान्य कदम्बने का कारण होता है ।

रचनाना वर्णाना च स्यात्तन्व्यणार्थबोधकत्वविरहेऽपि रसादिव्यञ्जकत्व
प्राचीनमतनाह—

रचनावर्णाना पदवाक्यान्तर्गतत्वेन व्यञ्जयताञ्चच्छेदककोटिप्रविष्टत्वमेव,
न तु व्यञ्जकत्वमिति यद्यपि सुवचम्, तथापि पदवाक्यविशिष्टरचनात्वेन
रचनाविशिष्टपदवाक्यत्वेन वा व्यञ्जकत्वमिति विनिगमनाविरहेण घटादी दण्ड
चत्रादे कारणत्वस्यैव प्रत्येकमेव व्यञ्जकताया सिद्धिरिति प्राञ्च ।

तत्र नवीनमतमभिपत्ते—

वर्णरचनाविशेषाणा माधुर्यादिगुणान्निव्यञ्जकत्वमेव, न तु रसाभिव्यञ्जक
त्वम् गौरवान्मानाभावाच्च ।

अभ्यहितत्वाद्भचनात्पदस्य पूर्वप्रयोग ।

रचनाना वर्णाना च स्यात्तन्व्यण व्यञ्जकत्व नास्ति किन्तु पदाना वाक्याना वा
पदवत्त्वेनैवेति पदवाक्यनिष्ठा वा रसादिव्यञ्जकता तदाश्रयपदवत्त्वेन विशेषणीभावात्
तदवच्छेदकोटी प्रविष्टत्व नतु व्यञ्जकत्वमिति यद्यपि सुवचम् वस्तु शक्यम् तथापि यथा
पदप्रति दण्डविशिष्टचत्रादे कारणत्वम आलोच्य चत्रादिविशिष्टदण्डादयेत्येकतरपण
पानियुक्तेरमावाद् दण्ड चक्रादी च प्रत्येक पयापर्येक पदतिरूपितकारणता स्वीक्रियत
नर्षक प्रकृते पदवाक्यविशिष्टरचनात्वेन रसव्यञ्जकता उत रचनाविशिष्टपदवाक्यत्वेनेति
महाये विनिगमनाविरहात् प्रत्येकमेव पदत्वेन वपत्वेन रचनात्वादिना च रसादिव्यञ्ज
कताऽभ्युपगम्यन् इत्येव वर्णाना रचनादीना च रसादिव्यञ्जकत्व सिद्धमिति प्राचीना
पदन्तीत्वर्थ ।

वर्णविशेषा रचनाविशेषाश्च माधुर्यगुणस्यैव व्यञ्जका, न पुनर्माधुर्यगुणाश्रयाणा,
रसादीनाम् एत वस्तुनाधिकरसादिव्यञ्जकाङ्गीकारे व्यञ्जनसङ्घाऽऽपि कथयितव्यं एत

जेने पूर्वादाह (४२ पृष्ठ में) 'तथानाऽपि 'इत्यादि एव मे 'मन्द' एव अर्थात् एषपि एक
एव के समी एव शब्द एव एवनि मे मन्त्रेण एव से महाशक्त है, तथापि 'मन्दम्' एव एव मे कल्प
एने की लक्षणा कुछ विवक्ष्यता है और यह यह है कि 'धी' धीरे श्रिय कर का इत्यादि' हम मार्मिक
मर्ष का लक्ष्मि इनी से होती है, उन वहाँ एव-एवनि का व्यवहार होता है ।

रचना और वर्ण, एने और शब्दों के अन्तर्गत होकर ही व्यञ्जक हो सकते हैं अतः यद्यपि यह
कहा जा सकता है कि रचना तथा वर्ण से युक्त एव और वाक्य ही व्यञ्जक हैं, स्वतन्त्रता वर्ण और
रचना नहीं, वे व्यञ्जकता के लक्ष्ण-कोटि-प्रविष्ट अर्थात् व्यञ्जक के विद्येणों की श्रेणी में रहने का
मात्र है, तथापि रचना और वर्ण से युक्त एव-वाक्य व्यञ्जक हैं अथवा एव और वाक्य से युक्त रचना
और वाक्यव्यञ्जक हैं इन दोनों वर्णों में से किसी एक एव को प्रमाणित करने वाली कोई युक्ति यह
नहीं है, तब रचना वर्ण और वाक्य में प्रत्येक की व्यञ्जकता सिद्ध हो जाती है । जेने कि पद का
कारण शक्यमिति दण्ड माना जाय अथवा दण्डविशिष्ट चक्र, इनमें एव एव का प्रमाणित करने की
अन कोई युक्ति नहीं है, तब-एव और दण्ड दोनों एव-एव-कारण मान लिये जाते हैं । तदर्थ
एव कि वर्ण और रचना का भी एव-एव-कारण व्यञ्जक मानना अनुचित नहीं है, ऐसा प्राचीन
विद्वानों का मत है ।

नवीन विद्वानों का मत उल्लिखित है । वे कहते हैं कि वर्णविशेष और रचनाविशेष (३२वीं
पृष्ठ) माधुर्य अदि गुणों के ही व्यञ्जक होते हैं, उन गुणों के अन्तर्गत रसों के नहीं, क्योंकि

ननु यदि वर्णादिय माधुर्यव्यञ्जकताऽस्ति, तर्हि तदाश्रयरसादिव्यञ्जकताऽप्यस्त्येव, यतो गुणिनो व्यञ्जकता विना गुणाना व्यञ्जकता न सम्भवतीत्यासाञ्चातिराकरोति—

न हि गुणप्रभिव्यञ्जन विना गुणामिव्यञ्जकत्व नास्तीत्यस्ति नियम, इन्द्रियत्रये व्यभिचारान् ।

गुणादिव्यक्तिव्यवस्थादानीं स्वपक्षे दोष परिहरन नवीनमनमुपसहरति—

इत्थं च स्वस्वव्यञ्जकोपनीनाना गुणिना गुणानामुदासीनाना च यथा परस्परपक्षलेपेणोदासीन्येन वा तत्तत्प्रमितिगोचरता, तथा रसाना तद्गुणाना चाभिव्यक्तिविषयतेति तु नञ्या ।

गौरवम्, वर्णरचनाना रसादिव्यञ्जकत्वे प्रमाणवैधुय च, तस्मान् वर्णाना रचनाना च रसादिव्यञ्जकत्व नास्तीत्यभिप्राय ।

गुणामिव्यञ्जकास्तदाश्रयव्यञ्जका भवेयुरेवेति नास्ति नियम यतो घ्राण-रसन-श्रोत्ररूपेन्द्रियत्रये तस्य व्यभिचारो दृश्यत नयाहि—घ्राणन्द्रिय गन्धस्य गुणस्य व्यञ्जक न तु तदाश्रयस्य पृथिव्या, रसनेन्द्रिय रसस्य व्यञ्जक, ननु रसवतो जलस्य, श्रोत्रन्द्रिय च वायुस्य व्यञ्जक, न तु वायुवायुरस्य गणनस्य । इत्थं च माधुर्यव्यञ्जकताऽप्यस्याऽनुपपत्त्या वर्णादीना रसामिव्यञ्जकताकल्पन नैव सम्भवतीति विभावनीयम् ।

स्वस्वव्यञ्जकैवंपादिभि, उपनीनाना बोधिताना, गुणिना पृथिव्यादीना, गुणाना गन्धादीनाम, उदासीनाना गुणगुणिभावेन मियोऽसम्बद्धाना पदार्थाना च प्रमिति गोचरता प्रमात्मकप्रत्यक्षविषयता कदाचिद् उपश्लेषेण गुणाना गुणिना मियत्सम्बद्धत्वेन, कदाचित् पुनरोदासीन्येन मियोऽसम्बद्धत्वेन च यथा भवति, तथा गुणिना रसाना, गुणाना माधुर्यादीना चाभिव्यक्तिविषयताऽऽस्वाद्यगोचरता, कदाचिन्मिदित्त्वेन, कदाचिच्च पार्थक्येन भवतीति व्यवस्थया, रसाद्यव्यञ्जकत्वेऽपि माधुर्यादिव्यञ्जकता वर्णादीना नासम्भवतीति तु नञ्या वदन्तीत्यर्थ ।

ऐसा मानने में एक ले अर्थ रसादिकों के व्यञ्जकों का मन्ना बढती है, दूसरे हमने कोई प्रमाण भी नहीं है ।

यदि कोई कहे कि वर्ण और रचना को माधुर्य आदि गुणों के व्यञ्जक मानने पर गुण के आश्रय रस आदि की भी व्यञ्जक मानना ही एतन्ना क्योंकि जो गुणी (गुण के आश्रय) का व्यञ्जक नहीं, वह गुणों का व्यञ्जक हो ही नहीं सकता—अर्थात् गुणों के आश्रयों का अभिव्यक्ति के विना गुणों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, तो मैं कहूँगा—यह कथन सगन नहीं है क्योंकि 'गुणों की अभिव्यक्ति के विना गुणों की अभिव्यक्ति नहीं होनी' यह निदम नाक, जीभ, कान इन तीनों इन्द्रियों में व्यभिचारित होते देखा गया है—अर्थात् इन तीनों इन्द्रियों से गुणों की अभिव्यक्ति के विना भी गुणों की अभिव्यक्ति होती है । जैसे—नाक से रस (गुण) की अभिव्यक्ति होती है और उनके अन्तर्गत पृथ्वी की नहीं, जीभ से रस की अभिव्यक्ति होती है और रसाश्रय अन्न आदि की नहीं वरन् अन्न से शब्द की प्रतीति होती है और शब्दाश्रय आकाश की नहीं ।

इन तरह जैसे अपने-अपने व्यञ्जकों—अर्थात् पांचो ज्ञानेन्द्रियों में अभिव्यक्त कराये गये गुण, गुण और उदरिक्त तन्मय पदार्थ कभी परस्पर समिष्टिन रूप से, कभी वरामीन रूप से उन उन पदार्थ ज्ञानों के विषय होते हैं, वैसे ही रस (गुण) और गुण (माधुर्यादि) भी अभिव्यक्ति के विषय

रचनाया रसादिव्यञ्जकतामुदाहरति—

उदाहरणन्तु—

'तान्तमाल'- इत्यादि प्रागुक्तमेव ।

वाक्यस्य रसादिव्यञ्जकतामुदाहरति—

वाक्यस्य षडञ्जकतायामपि 'आविर्भूता यदवधि-' इत्यादि च ।

प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकतामुदाहरति—

प्रबन्धस्य तु 'योगवाशिष्ठ रामायणे' शान्त-ऋषणयो, रत्नावल्यादीनि च

शृङ्गारस्य व्यञ्जकत्वान्निदर्शनानि प्रसिद्धानि ।

प्रबन्धस्य भावव्यञ्जकतामुदाहरति—

मन्निर्मिताश्च पञ्चलहर्षो भावस्य ।

असतस्यैवमध्वन प्रबन्ध-वाक्य-पद-तदस-वर्ण-रचनाव्यञ्जकत्वेन गङ्गाधर स्वीकृतं प्राचीनवर्णविशिष्टानां रचनाविशिष्टानामेव च पदवाक्यादीनां रसादिव्यञ्जकताया, सत्त्वोद्देशादप्यञ्जकताञ्चच्छेदकतया तद्व्यञ्जकत्वामात्रापि विशिष्टव्यञ्जकत्वञ्जकभावकल्पने विनिगमनाविरहेण गौरवाद् दण्डादिषु घटादिकारणतैव प्रत्येक रसादिव्यञ्जकता कल्प्यते ।

नवीनैस्तु दृष्टिविरोधिभिः पृथगपि गुणगुणित्वा प्रतीति मन्वयमानैर्वर्णादिषु माधुर्यादिगुणमात्र-व्यञ्जकताऽङ्गीक्रियते, रसादिव्यञ्जकता तु गौरव-प्रमाणाभावावि-प्रदर्शनेन निराक्रियते इति सारम् ।

अत्र मतवद्विषयकरतिभावद्वारा शान्तरसस्य तथिष्टमाधुर्यगुणस्य च व्यञ्जिका रचनेति इति रचनाया गुणव्यञ्जकतानिरूपणप्रसङ्गेन प्रागुक्तमनुमन्नेयम् ।

प्रागुक्तेऽस्मिन् पद्ये समस्तमेव वाक्य विप्रत्ययशृङ्गाररसस्य व्यञ्जकम् ।

योगवाशिष्ठ प्रबन्ध शान्तरसस्य, रामायण प्रबन्ध ऋषणरसस्य, रत्नावलीप्रभृत-यश्च प्रवर्णा शृङ्गाररसस्य स्वञ्जका इति प्रबन्धव्यञ्जकतामुदाहरणानि बोध्यानि ।

गङ्गातहरीप्रभृतय पञ्च लह्यं प्रबन्धा गङ्गादिविषयकरतिभावस्य व्यञ्जका इत्यर्थं ।

इति—अर्थात् पृथक् पृथक् व्यञ्जको (वाक्य पद आदि और रचना आदि) से उपस्थित विधि जान है, और फिर कभी अभिव्यक्ति के लिये कभी उपायान रूप से सूची (शान्) होते हैं । तात्पर्य यह कि वर्ण और रचनाओं का रसों का व्यञ्जक मानना समुचित नहीं उन्हें केवल माधुर्यादि गुणों का व्यञ्जक मानना चाहिये ।

कौ. तथा रचनाओं के द्वारा गुणों को अभिव्यक्ति का उदाहरण 'तौ तयात्पुत्रव्यञ्जितेऽपेक्षीम्

-- 'दण्डदि ५८ (५० २३४) कहें ही चके हैं ।

वाक्य वर्णों व्यञ्जक हुआ हो, वेन उदाहरण मा 'आविर्भूता यदवधि मधुरयन्दिनी तद्-सूने' -- 'दण्डादि (५० २४१) कहें ही या चुके हैं ।

अतः पद (शान्) वर्णों व्यञ्जक होना है, वेने उदाहरण देखिये-मार्तुं वंगाराशिष्ठ प्रत्य से रत्नावली और रामायण आदि प्रत्य से ऋषणरस अभिव्यक्त होते हैं, इसी तरह रत्नावली आदि पद पद रस के व्यञ्जक हैं वे के लिये प्रसिद्ध ही हैं ।

पदावयवस्य रसव्यञ्जकतामुदाहरति—

पदैकदशस्य च 'निखिलमिदं जगदण्डकं बहामि' इति करुणतद्धितो वीर-
रसस्य प्रागेवोदाहृतः ।

अवर्णात्मकरागादीनां व्यञ्जकता सहृदयानुभवसिद्धेवेति प्रतिपादयति—

एव रागादिभिरपि व्यञ्ज्यत्वे सहृदयमेव प्रमाणम् ।

उपसहरति—

एवमेवा रसादीनां प्राधान्येन निरूपितान्मुदाहरणानि ।

गुणीभूतव्यञ्ज्यत्वे रसादीनामुदाहरणापेक्षायामाह—

गुणीभावे तु वक्ष्यन्ते, नामानि च ।

तत्र विशेषमाचष्टे—

तत्र प्राधान्य एवंपा रसादित्वम्, अन्यथा तु रत्यादित्वमेव ।

वतवीररसोदाहरणप्रसङ्गेन प्रागेवोदाहृतेऽत्र पद्ये 'जगदण्डक'मिति पदावयव-
करुणतद्धितप्रत्ययो ब्रह्माण्डस्य शोदिष्ठता द्वारोद्गत्योत्साहस्वायिर्बलवीररसस्य
व्यञ्जकइत्यर्थः ।

व्यञ्ज्यत्वे रसादीनामिति शेषः । रागादिव्यञ्जकता सहृदयानुभवसाक्षिकैवेति-
तदुदाहरणं न प्रदर्शितमित्यर्थः ।

एवमुक्तरीत्या, एषा रसादीनां प्राधान्येन ध्वनितया प्राह् निरूपितानामुदाहर-
णानि निरूपितानि ज्ञेयानीत्यर्थः ।

रसादीनां गुणीभावेऽप्राधान्ये गुणीभूतव्यञ्ज्यत्वायामुदाहरणानि रसवत्प्रयोज्यत्वा-
दीनि नामानि चालङ्कारप्रकरणे वक्ष्यन्ते प्रतिपादयिष्यन्त इत्यर्थः ।

एषा रसादीनां प्राधान्य एव विगलितवेद्यान्तरसस्त्विदानन्दस्वरूपतासम्पत्ते-
रसादित्वं भवति अन्यथाऽप्राधान्ये तु ताद्रूपताविरहात् स्वायिमात्रात्मकत्वाद् रत्या-
दित्वं केवलं भवतीत्यर्थः ।

पश्चितराज रचितं शंकीं छहरिणी (कल्लहरी, गगलहरी आदि) भवन-व्यञ्जकता के
उदाहरण होती है ।

'निखिलमिदं' जगदण्डकं बहामि यथा करुण तद्धित (पदैकदेश) वीररसव्यञ्जक है यह भी
पद्ये (५० १६३ में) कहा जा चुका है ।

इसी तरह अर्थात्मक राग आदि भी रसादि के व्यञ्जक होते हैं—इतने उदाहरणों के द्वारा
ही प्रमाण है ।

इस तरह से प्रथम रहने के कारण ध्वनिश्च रसादिकों के उदाहरण निरूपित हो चुके यह
समयना चाहिये ।

अब ये रस आदि गीत-अप्रधान-हो जाने हैं, तब उनके क्या क्या नाम रहते हैं और उनके
उदाहरण क्या हो सकते हैं, ये सब बातें आगे कही जायगी—अर्थात् रस आदि के गीत हो जाने
पर 'रसवत्' श्रेय और कर्त्तव्य इन नामों के अलंकार होते हैं, यह बात तथा उनके उदाहरण
अलंकार प्रकरण (द्वितीय आनन) में कही जायेंगे । (स्रोत यह है कि पश्चितराज की यह प्रतिज्ञा
पूर्ति नहीं हो सकी। यह ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध होता है और बिना भाग अलम्ब है, वतमें यह
विचार नहीं आ सकता है)

ननु गुणीभावे यदि रसादित्वाभावो भवेत्, तर्हि गुणीमूतरसस्य रसवदलद्वारेति नाम्नि रसपद कथमुपात्तमित्याशङ्क्यामाह—

नामनि रसपद तु रत्यादिपरमित्येके । अस्त्येव रसादित्वं, किन्तु न ध्वनि-
व्यपदेशहेतुत्वमित्यपरे ।

इति तैलज्जपण्डितराजश्रीब्रजश्रावविरचिते रसगङ्गाधरे प्रथमभाषने सम्पूर्णम् ।

रसवदलद्वारेति नामघटक-रसपदस्य रसत्वयोम्यरत्यादिस्वाभिभावेषु लक्षणैति प्रागुक्तनियमाङ्गीकर्तुंया केपाञ्चिन्मतम् । अन्येषां तु-रसादीनामप्राधान्ये न रसादि-
त्वस्य विलोप, किन्तु प्राधान्यविरहात् ध्वनिव्यवहारस्य कारणत्वमिति मतम् । तत्र पूर्वमत एव लक्षणापेक्षा, नतूत्तरमन इति बोध्यम् ।

विद्यानामिकेतन-मिषिसाञ्ज-पातिसरिसवधामे ।

विद्यानायमुतश्रीवदरीनाथेन निमिता कुतुकात् ॥ १ ॥

रासाञ्जुतपदनघविषु-समपिता चन्द्रिका सेवम् ।

तमता रसगङ्गाधर-ससक्ता शान्धती सुपमाम् ॥ २ ॥

आशानसहित (२०१०) विक्रम-समासह-पूर्णमासुष्ये ।

रसगङ्गाधर-विबुतिर्वाणीवृषयाञ्जयत् पूतिम् ॥ ३ ॥

चिन्ताजरादि-पण्डीवृषपण्डास्यापि मे नृतम् ।

साहसमेव विवरण, पण्डितराजातिगूढमणितीनाम् ॥ ४ ॥

उपकृतिरितोऽपि तामन्, किन्तु मवदेव केपाञ्चिन् ।

मदपि न्यूनमनीनामिति प्रतीते समाश्रयिमि ॥ ५ ॥

इति मैथिलधोत्रिजपण्डितश्रीवदरीनाथसमनिमिताया रसगङ्गाधर-
चन्द्रिकाया प्रथमभाषने सम्पूर्णम् ।

यहाँ भी विद्वानों में मतभेद है । कुछ विद्वानों का कथन है कि ये रस आदि प्रधान रहने पर ही रसादि हैं और गीत ही जाने पर रत्यादिमात्र अर्थात् बलुमात्र होते हैं ।

यदि कहें कि जब गीत ही जाने पर ये रसक्य नहीं होते, तब उग्र अरसा के 'रसरत्' इत्यादि नामों में रस आदि पदों का प्रयोग कसे होता है ? हमका उत्तर यह है कि जब नामों में रसादि पर रत्यादि का ही बोधक है । यहाँ दूसरे विद्वानों का कथन इससे मिले है, वे कहते हैं कि गीत ही जाने पर भी उनमें रसरत् अथवा भास्व रहने ही हैं, केवल गीत ही जाने के कारण वे कस्य में ध्वनि व्यवहार के हेतु नहीं होते ।

इति दरमङ्गामण्डलान्तर्गतं मरानी द्वायनिशासी, मैथिलज्जपण्डितश्रावविरचनप्याकरण-

न्याय-शास्त्रिणाचार्य, मुजबब-रपुरस्य राजकीय संसत्त पदाविपाद्य प्रथम-

सहित्याचार्यक '५० श्रीमदनमोहन शा' द्वारा निर्मित रसगङ्गाधर

(प्रथम भाषन) की हिन्दी व्याख्या समाप्त हुई ।